आचार्य अमितगति प्रणीता

मरणकण्डिका

(हिन्दी टीका तथा प्रश्नोत्तर सहित)

卐

मङ्गलभावना

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री वर्धमानसागरजी महाराज

❋

टीकाकर्त्री

आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी

❋

सम्पादक

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

卐

प्रकाशक

श्रुतोदय ट्रस्ट

श्री क्षेत्र सिद्धान्त तीर्थ संस्थान, नन्दनवन

धरियावद-३१३ ६०५, जिला-उदयपुर (राजस्थान)

मरणकण्डिका

रचयिता : आचार्य अमितगति

हिन्दी टीका एवं
प्रश्नोत्तर लेखन : आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी

सम्पादक : डॉ चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्राप्तिस्थान : १ श्री क्षेत्र सिद्धान्त तीर्थ सस्थान
नन्दनवन, धरियावद-३१३६०५
२ श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा कार्यालय
नन्दीश्वर फ्लोर मिल्स, ऐश बाग, लखनऊ - २२६ ००४
३ श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन सस्थान, श्रीशान्तिवीरनगर,
श्रीमहावीरजी- ३२२ २२१

संस्करण : प्रथम, १००० प्रतियाँ

प्रकाशन तिथि : २२ जनवरी, २००४

मूल्य : १५१) रुपये

सकल्पना : निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर ☎ २४४०५७८

मुद्रक : हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस, जोधपुर ☎ २४३३३४५

परम पूज्य तपस्वी, अध्यात्मवेत्ता, चारित्रशिरोमणि, सिद्धान्तसंरक्षक

१०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज
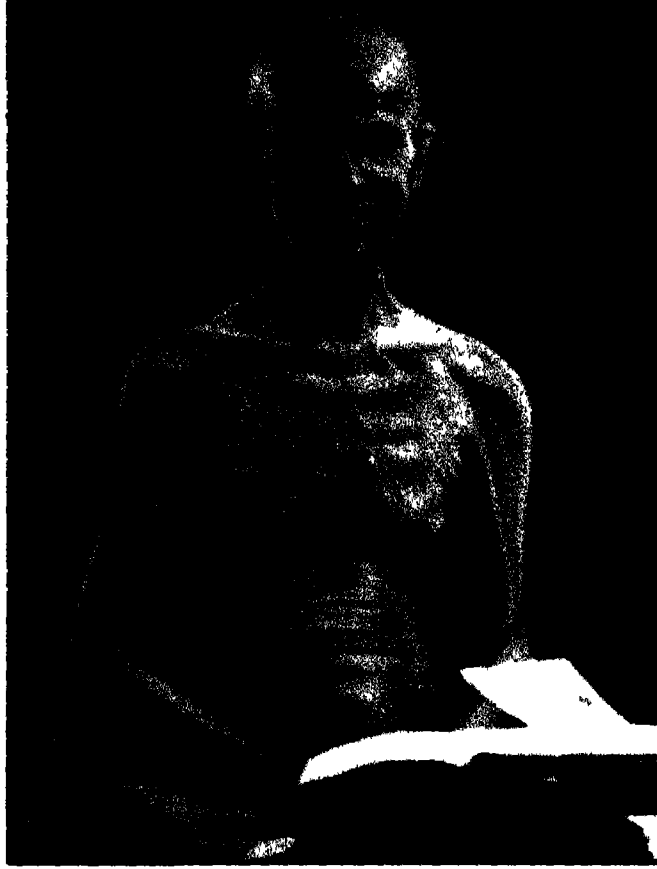
स्याद्वादवारिधिविवर्धनपूर्णचन्द्र, भव्याब्जबोधनविधौ दिननाथतुल्यम्।
भक्त्या नमामि शिवसागरनामधेयमाचार्यवर्यमिह साम्यसुधानिधानम्॥

जन्म	क्षुल्लकदीक्षा	मुनिदीक्षा	समाधि
वि स १९५८	वि स २००१	वि स २००६	फाल्गुन अमावस्या
अडगाम (महाराष्ट्र)	सिद्धवरकूट	नागौर (राज)	वि स २०२५ श्रीमहावीरजी

卐 समर्पण 卐

जिनके विशिष्ट आशीर्वाद से

सल्लेखना-काल मे इस महान् ग्रन्थ के

लेखन की शक्ति प्राप्त हुई,

उन निर्यापकाचार्य गुरुवर

वर्तमान पट्टाधीश

परम पूज्य, वात्सल्यमूर्ति

आचार्य वर्धमानसागरजी महाराज

के कर-कमलो मे

श्रद्धा एव भक्तिपूर्वक

सविनय समर्पित

— आर्यिका विशुद्धमती

प.पू. १०८ आचार्य श्री वर्धमानसागरजी महाराज

कालें कलौ विषमभोग-गतम्पृह सन्, श्रीजैनशासनप्रभावनतत्परो य ।
सिद्धान्ततर्कनिपुणो महितो मनोज्ञ , भक्त्या नमामि तमह **गणिवर्धमानम्**॥

卐 मङ्गल भावना 卐

जन्म और मरण जीवन के दो ध्रुव हैं। अनादि काल से दिन और रात्रि के समान क्रम से जन्म के बाद मरण और मरण के बाद जन्म को यह आत्मा इस ससार में सतत प्राप्त करता रहता है। मोही प्राणी जन्म को अच्छा मानता है तथा मृत्यु से भयभीत रहता है जबकि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्यभावी है। ससारचक्र में यही तो सब कुछ होता है। जन्म और मृत्यु दोनो ही दुखद हैं अत इन दोनो दु खो के साथ ससार के अन्य सभी दु·खो से छूटने के लिए मृत्युजयी पुरुषार्थ करना नितान्त अपेक्षित है।

ससार मे अनेक कलाएँ हैं और उन सबको सीखने-सिखाने के अनेक उपाय हैं, उसी प्रकार मरण भी एक कला है। मरण की कला से अभिप्राय है "सम्यग्दर्शन पूर्वक, व्रत-सयम-तपपूर्वक जीवन जीते हुए अन्त मे रत्नत्रय दीप के तेज सहित अपने प्राणो का विसर्जन करना।" मरण की इस कला को सल्लेखना विधि कहते हैं जिसमे कषाय और शरीर को भली प्रकार आत्मविशुद्धि पूर्वक कृश किया जाता है।

शिवकोटि आचार्यदेव ने '**भगवती आराधना**' मे इस सल्लेखना विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। मिथ्यात्वसेवन के साथ अव्रतपूर्वक तो इस जीव ने सदा ही मरण किया है, किन्तु सम्यग्दर्शन सहित सल्लेखना करने वाला प्राणी अधिक-से-अधिक सात-आठ भव तक ससार मे रह सकता है, फिर तो निश्चित ही मोक्षसुख प्राप्त करता है।

'**भगवती आराधना**' गाथासूत्रो मे रचित ग्रन्थ है। उसका प्रकाशन बहुत वर्षो पूर्व शास्त्राकार पन्नो मे दो सस्कृत टीकाओ सहित 'मूलाराधना' नाम से हुआ था। उसी ग्रन्थ के गाथासूत्रो के नीचे अमितगति आचार्यदेव विरचित सस्कृत श्लोक भी प्रकाशित हैं। बस! वही सस्कृत श्लोकरूप रचना 'मरणकण्डिका' के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त ग्रन्थ है।

परमपूज्य अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी **आचार्यरत्न श्री अजितसागरजी महाराज** ने एक कॉपी मे मरणकण्डिका के श्लोको को लिख लिया था। उन्होने **आर्यिका जिनमतीजी** से उनकी हिन्दी टीका लिखवायी थी और उसका प्रकाशन भी आचार्यदेव की महती कृपा से उनके जीवनकाल मे हो गया था।

ईस्वी सन् १९९० में **आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी** ने परमपूज्य आचार्यरत्न अजितसागरजी से१२ वर्षीय उत्कृष्ट सल्लेखना विधि को ग्रहण किया था। उसे सम्पन्न करने के उद्देश्य से उन्होने इन १२ वर्षों मे भगवती आराधना और मरणकण्डिका ग्रन्थों का अधिक स्वाध्याय करते हुए अपने मन को विशुद्धतम और सुदृढ करने का सफलतम परम पुरुषार्थ किया था। यही पुरुषार्थ करते हुए उनके मन मे भावना जगी कि इस समय प्रश्नोत्तर पद्धति से ग्रन्थ के रहस्य और सार को समझने का रिवाज चल गया है जोकि समयानुकूल है। अत अनेक ग्रन्थो की टीकाकर्त्री एव सृजनकर्त्री विदुषी आर्यिका विशुद्धमती माताजी ने '**मरणकण्डिका**' **की प्रश्नोत्तरी टीका** लिखना प्रारम्भ किया और सल्लेखना सम्पन्न होने के कुछ माह पूर्व ही उस टीका को पूर्ण भी किया। उसका प्रकाशन सम्पादन-कलामर्मज्ञ, सद्गृहस्थ **डॉ चेतनप्रकाशजी पाटनी** के सम्पादकत्व मे हो रहा है।

जीवन के अन्तिम क्षणो तक श्रुताराधनारत आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी ने अपनी वर्तमान पर्याय मे आगमोक्त विधि से समाधिसाधना का पुरुषार्थ किया था। उनका वह पुरुषार्थ और श्रुताराधना उनके ससार की सन्निकटता का निमित्त बनेगे, ऐसी हम मगल भावना करते हैं। अनेक ग्रन्थो के समान ही इस ग्रन्थ का सम्पादन करने मे अपने मनोयोग को लगाने वाले डॉ चेतनप्रकाशजी पाटनी भी अपनी इस वर्तमान पर्याय को सकल सयम धारण कर पडितमरण रूप समाधिसाधना से ससार को अति सन्निकट करने का पुरुषार्थ करने मे सक्षम हो, उनके लिए यही मगल आशीर्वाद है।

इति भद्र भूयात्।

अक्षय तृतीया, 2060
बावनगजा सिद्धक्षेत्र

आचार्य वर्धमानसागर

॥ सम्पादकीय ॥

जैन साहित्य मे नि·सङ्गयोगिराज अमितगति योगसारप्राभृतकार अमितगति (प्रथम) के रूप मे ख्यात हैं। ये देवसेनसूरि के शिष्य और नेमिषेण के गुरु हैं। इनका समय वि सं १००० माना जाता है। इनकी दो पीढी के बाद 'सुभाषितरत्नसन्दोह' आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता अमितगति (द्वितीय) हुए जिनका समय वि सं १०५० है। इन अमितगति ने प्रथम अमितगति को 'त्यक्तनि:शेषसङ्ग.' विशेषण देकर अपने को उनसे पृथक् सिद्ध किया है और अपने ग्रन्थों में इनके महान् गुणो की स्तुति की है।

अमितगति द्वितीय ने अपनी 'धर्मपरीक्षा' मे जो प्रशस्ति दी है, उससे इनकी गुरुपरम्परा पर प्रकाश पडता है - वीरसेन - देवसेन - योगसारप्राभृतकार अमितगति प्रथम - नेमिषेण - माधवसेन - धर्मपरीक्षादिप्रणेता अमितगति (द्वितीय)। वि स की ११ वीं सदी के इन आचार्य को इतिहासज्ञ प विश्वेश्वरनाथ रेउ ने वाक्पतिराज मुञ्ज की सभा के एक रत्न के रूप में स्वीकार किया है।

निर्विवाद रूप से बहुश्रुतज्ञ आचार्यदेव अमितगति की प्रणीत रचनाएँ निम्नलिखित है १ सुभाषित-रत्नसन्दोह २ धर्मपरीक्षा ३ उपासकाचार (अमितगति श्रावकाचार) ४ पञ्चसग्रह ५ आराधना ६ भावना द्वात्रिंशतिका।

इन प्रसिद्ध ग्रथो के अतिरिक्त लघु एव वृहत् सामायिक पाठ, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ग्रन्थ भी इनके द्वारा रचित माने जाते हैं। सामायिक पाठ मे १२० पद्य हैं। शेष चार ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही है।

मरणकण्डिका : 'आराधना' ('मरणकण्डिका' रूप मे ख्यात) शिवार्यकृत प्राकृत आराधना का सस्कृत रूपान्तर है। आचार्य अमितगति ने मगलाचरण रूप प्रथम श्लोक मे पचपरमेष्ठियो को नमस्कार कर चार आराधनाओ और उनका फल कहने की प्रतिज्ञा की है। अनन्तर कहा है कि आगम मे विस्तारपूर्वक सत्तरह प्रकार के मरणो का वर्णन पाया जाता है, मै केवल पॉच प्रकार के मरणो का सक्षेप से इस ग्रन्थ मे वर्णन करता हूँ। सम्भवत मरणो का वर्णन होने के कारण ही यह सस्कृत रूपान्तर 'मरणकण्डिका' के रूप मे प्रसिद्धि पा गया है अन्यथा अद्यावधि प्राप्त हस्तलिखित प्रतियो मे ग्रन्थ के प्रारम्भ मे यह नाम नहीं मिलता है, अन्त मे 'मरणकडिका नक्खत्तगणनया सम्मत्ता' ऐसा उल्लेख मिलता है। प्रशस्ति मे भी भगवती आराधना (श्लोक ५), आराधना (श्लोक ६), भगवती (श्लोक ८) आदि का ही उल्लेख हुआ है।

आचार्यदेव ने प्राकृत गाथाओ का सस्कृत रूपान्तर प्राय अनुष्टुप् छन्द मे किया है। यो ११ मात्रा से लेकर २१ मात्रा तक के २७ विविध छन्दो मे भी रचना हुई है। पर इन छन्दो की सख्या अत्यल्प है। २२४० श्लोको की विशालकाय रचना में केवल १३६ श्लोक ही अन्य छन्दो मे है। शेष अनुष्टुप् हैं।

जिन पाँच मरणो को आचार्यदेव ने अपने वर्णन का विषय बनाया है, वे हैं–बालमरण, बालबालमरण, बालपण्डितमरण, पण्डितमरण और पण्डित पण्डितमरण। व्रतरहित सम्यग्दृष्टि के मरण को बालमरण कहते हैं, मिथ्यादृष्टि के मरण को बालबालमरण कहते हैं। अणुव्रती तथा आर्यिका, क्षुल्लक आदि का बालपण्डितमरण होता है। छठे गुणस्थान से ११ वे गुणस्थानवर्ती मुनिराजों का मरण पण्डितमरण कहलाता है और १४वे गुणस्थानवर्ती अर्हन्त देव का निर्वाण पण्डित पण्डितमरण है। पण्डितमरण के तीन भेद हैं भक्तप्रत्याख्यान, इगिनी

और प्रायोपगमन। ग्रन्थ मे मुख्यतया भक्तप्रत्याख्यान मरण का वर्णन है। इस वर्णन के चालीस अधिकार हैं, कोई छोटा है तो कोई बड़ा। अत अधिकारो के समूह बनाकर यहाँ उन्हे बारह अधिकारो मे विभक्त किया गया है। विषयानुक्रमणिका से यह विस्तृत जानकारी मिल जाती है। इगिनी और प्रायोपगमन का वर्णन कुल ६६ श्लोको मे है। प्रसगवश जैनधर्म के प्राय सभी प्रमेय इसमे समाविष्ट हैं।

अत मे, बालपण्डितमरण के वर्णन के १० श्लोक हैं और पण्डित-पण्डितमरण के ६५ श्लोक। सिद्धो के सुख का सुन्दर वर्णन आचार्यदेव ने किया है।

ग्रन्थसमाप्ति के बाद ३२ श्लोको मे आराधना स्तवन है और प्राकृत गद्य मे नक्खत्तवण्णणा। आचार्यदेव ने प्रशस्ति के भी सुन्दर ८ श्लोक लिखे है।

प्रस्तुत सस्करण शिवकोटि आचार्यप्रणीत मूलाराधना अपरनाम भगवती आराधना पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ है जिसमे प्राकृत भाषाबद्ध २२७९ गाथाएँ हैं। पूज्य माताजी ने जिस प्रति को आधार बनाया है वह प्रति नवम्बर, १९३५ मे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र गजपथाजी कार्यालय म्हसरूल जिला नासिक से श्री श्री १०८ श्री देवेन्द्रकीर्ति ग्रन्थमाला के दूसरे पुष्प के रूप मे प्रकाशित है। प्रस्तावना और अनुक्रम के १७ पृष्ठो के अतिरिक्त मूल ग्रन्थ के १८७८ पृष्ठ है। प्रकाशन का क्रम इस प्रकार है – पहले मूल प्राकृत गाथा (आ शिवकोटि), फिर अमितगति आचार्य का समानार्थक सस्कृत श्लोक, फिर अपराजितसूरि की सस्कृत विजयोदया टीका, अनन्तर आशाधरजी की मूलाराधनादर्पण पजिका, फिर शिवजीलाल की भावार्थदीपिका टीका और अनन्तर प जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले कृत हिन्दी अनुवाद। इसके अतिरिक्त भी अन्य मुद्रित सस्करण सस्कृत टीकाओ से रहित भी और सहित भी उपलब्ध है। परन्तु अमितगति आचार्य कृत समानार्थक सस्कृत श्लोको का 'मरणकण्डिका' के रूप मे स्वतत्र प्रकाशन पहली बार सन् १९८९ मे पूज्य आचार्य अजितसागर जी महाराज की प्रेरणा से आर्यिका जिनमतीजी कृत हिन्दी अनुवाद सहित हुआ। तब से इसके स्वतत्रस्वाध्याय का क्रम भी चल निकला।

पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी ने अपनी बारह वर्ष की सल्लेखना अवधि मे अपने मार्गदर्शन हेतु इस ग्रन्थ का स्वाध्याय किया ओर उनकी भावना इसके श्लोको के भावो को प्रश्नोत्तर रूप मे विशद करने की बनी। इसी भावना स्वरूप मरणकण्डिका के इस सस्करण का उद्भव हुआ। 'अन्तर्ध्वनि' मे उन्होने लिखा है, "इस ग्रन्थ के लेखनकार्य से मुझे अत्यधिक सम्बल मिला। अनेक बार तो ऐसा अनुभव हुआ कि परमपूज्य निर्यापकाचार्य गुरु समक्ष बैठकर ही मानो मागर्दशन कर रहे हैं। शास्त्र-लेखन का जो यथार्थ मूल्य है, वह तो मुझे लेखनकार्य करते समय ही अनेक बार प्राप्त हो चुका है क्याकि परिणामो की निर्मलता और कर्त्तव्यनिष्ठा की जो अनुभूति उस समय हुई वह अमूल्य तथा वचनातीत है।"

पूज्य माताजी ने ग्रन्थ के सस्कृत श्लोको का अर्थ भी लिखा है, फिर प्रत्येक श्लोक मे उल्लिखित विषय पर उत्पन्न होने वाली जिज्ञासा का प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से समाधान किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने लाक्षणिक पारिभाषिक शब्दावली को तो परिभाषित किया ही है, साथ ही प्रसगवश अधुना प्रचलित जैन आचार-विचार की भी सहजभाव से समीक्षा की है। व्याख्या और प्रश्नोत्तर के साथ ही प्रत्येक श्लोक को एक शीर्षक भी दिया है जो विषय की सूचना देने मे सक्षम है।

आभार

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री वर्धमानसागर जी महाराज की मंगलभावना प्रेरणा के लेखन-प्रकाशन में हमारी प्रेरक रही है। मैं आपके श्रीचरणों में सविनय सादर नमन करता हुआ आपके स्वस्थ दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

प्रश्नोत्तर रूप भाष्यकर्त्री पूज्य **आर्यिका विशुद्धमती** माताजी का मैं अतिशय कृतज्ञ हूँ जिन्होने मुझ पर अनुग्रह कर इस ग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन का गुरुतर उत्तरदायित्व मुझे सौंपा। जो कुछ बन पड़ा है वह सब पूज्य माताजी के ही ज्ञान और श्रम का मधुर फल है। पूज्य माताजी रत्नत्रय से विभूषित हो २२ जनवरी २००२ को नन्दनवन (धरियावद-राज.) में समाधिस्थ हुईं। त्रिलोकसार, सिद्धान्तसारदीपक, तिलोयपण्णत्ती, क्षपणासार, योगसारप्राभृत, मरणकण्डिका आदि भाष्यग्रन्थों एव अनेक सकलित-सम्पादित कृतियों के रूप मे आपका अवदान चिरस्थायी रहेगा। मैं यही कामना करता हूँ कि पूज्य माताजी की पुनीत आत्मा स्वर्गिक सुखो के उपभोग के अनन्तर नर पर्याय धारण कर 'मुक्तिसुख की स्वामिनी बने'।

पूज्य **आर्यिका प्रशान्तमती माताजी** अपनी ब्रह्मचारिणी अवस्था से पूज्य माताजी के सान्निध्य में रही हैं और उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप आर्यिका व्रतों का सम्यक् रीत्या पालन कर रही हैं। वे माताजी की चतुर्विध आराधना और सारस्वताराधना की साक्षी और सहयोगिनी रही हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ के लिए दो शब्द लिखे हैं, एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु अर्थसहयोग किया है जिनधर्मानुरागी **श्रीमान् सुमतिलालजी डागरिया** पारसोला निवासी ने। विगत दस वर्षों से आप सर्वऋतु विलास, उदयपुर में निवास कर 'वर्द्धमान ट्रेडर्स' नाम से सूर्या लाइटिंग डिवीजन का व्यवसाय सँभाल रहे हैं। यो बीस वर्षों से 'ग्रीन फ्लेग ट्रेडिंग कम्पनी' के नाम से कुवैत में आपका इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का व्यवसाय चल रहा है। आपके परिवार में चार सुयोग्य पुत्र—विजय, सदीप, हितेश, शीतल और एक पुत्री सुलोचना – सभी विवाहित है। सहधर्मिणी श्रीमती कान्ताजी की जिनधर्म मे अटूट श्रद्धा है। सच्चे देवशास्त्रगुरु की भक्ति मे सलग्न रहने वाले इस परिवार की धर्मनिष्ठा निरन्तर वृद्धिगत होती रहे, यही कामना है।

श्रुतोदय ट्रस्ट ने ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। मैं ट्रस्ट के नियामक **श्रीयुत हँसमुख जैन** का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और श्रुताराधना व श्रुतसेवा के लिए उन्हे साधुवाद देता हूँ।

त्वरित और शुद्ध एव सुन्दर प्रकाशन के लिए **निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर के श्री क्षेमंकर पाटनी** एव **हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस** के कर्मचारियो को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

पुन इन सभी श्रमशील पुण्यात्माओ के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ और सम्पादन-प्रकाशन मे रही कमियो के लिए सविनय क्षमा चाहता हूँ।

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
सम्पादक
२५-१२-२००३

'अविरल'
५४-५५, इन्द्रा विहार
सेक्शन ७ विस्तार योजना
न्यू पावर हाउस रोड, जोधपुर

卐 अन्तर्ध्वनि 卐

भगवान जिनेन्द्र के मुखारविन्द से नि.सृत दिव्यवाणी का ग्रन्थन गणधरदेव ने बारह अगों में किया है। इनमे **सर्वप्रथम** अग का नाम **आचारांग** है जिसका श्रुत अठारह हजार पद प्रमाण है। अनेकानेक आचार्यों की परम्परा से आगत यह अनुपम श्रुत अद्यावधि प्रवाहित है। ईसा की प्रथम शताब्दी में **आचार्य समन्तभद्र** के शिष्य **शिवकोटि आचार्य** हुए हैं। आपने परम्परागत आगम के आधार पर **मूलाराधना** अपरनाम **भगवती आराधना** की रचना की, यह सोलापुर से प्रकाशित हुई है, जिसमे प्राकृत भाषा बद्ध २२७९ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ मे **श्री अपराजित सूरि** कृत एव **पण्डितप्रवर आशाधर जी** कृत सस्कृत टीकाएँ तथा मूल गाथाओ की प्रतिच्छाया स्वरूप **अमितगति आचार्य** कृत सस्कृत श्लोक छपे हैं। इन श्लोकों की सख्या २२४० है। ये श्लोक **मरणकण्डिका** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

मरणकण्डिका : सन् १९८९ के पूर्व तक तो यह ग्रन्थ पृथक्रूपेण अप्रकाशित ही था और **भगवती आराधना** की प्रारम्भिक उन्नीस गाथाओं तक इसके उन्नीस श्लोक भी अनुपलब्ध थे।

परमपूज्य अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी **आचार्य श्री अजितसागर जी महाराज** अनुपलब्ध एव त्रुटित गाथाओ आदि को पूर्ण करने मे सदा सलग्न रहते थे। आप पुराने शास्त्र-भण्डारो के देखने मे और उपयोगी सामग्री का सग्रह करने मे अत्यधिक रुचि रखते थे। आप विहार करते हुए नागौर पहुँचे। वहाँ का शास्त्र-भण्डार बहुत विशाल है, आपने कई दिनो तक शास्त्र भण्डार देखा, उसमे अमितगति आचार्य कृत **मरणकण्डिका** की एक पूर्ण प्रति प्राप्त हो गई। आपने वह पूरा ग्रन्थ अपनी कॉपी मे लिख लिया। पूर्ण प्रति प्राप्त होते ही आपके मन मे ग्रन्थ के अनुवाद की एव उसके प्रकाशन की भावना उत्पन्न हो गई।

परम पूज्य परम तपस्वी आचार्य शिवसागर जी महाराज की सुयोग्य एव विदुषी शिष्या **आर्यिकारत्न १०५ जिनमती माताजी** सस्कृत की विदुषी थी अत गुरुभाई आचार्य अजितसागरजी महाराज ने विदुषी आर्यिका माताजी को ग्रन्थ के अनुवाद की प्रेरणा दी, जिसे पूज्य माताजी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और मात्र ढाई मास मे पूरे ग्रन्थ का अनुवाद कर दिया, जिसका प्रकाशन सन् १९८९ मे हो चुका है।

परम पूज्य आचार्यरत्न अजितसागर जी महाराज से मैंने सन् १९९० मे बारह वर्ष की सल्लेखना धारण की थी। समय समीप आता जा रहा था और मेरे निर्यापकाचार्य गुरु पूज्य आचार्य वर्धमानसागरजी दूर प्रदेश मे अर्थात् जयपुर की ओर विराज रहे थे अत: मैंने अपनी सल्लेखना के मार्गदर्शन हेतु ग्रन्थ का स्वय स्वाध्याय किया और प्रतिष्ठाचार्य श्री हँसमुख जी को भी स्वाध्याय कराया। पश्चात् प्रश्नोत्तर रूप मे इसे लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसके लेखन मे मुझे मस्तिष्क का कोई विशेष परिश्रम नही करना पडा, क्योंकि सस्कृत श्लोक मूलाराधना से, अर्थ में अधिकाधिक सहयोग पूज्य १०५ आर्यिका जिनमती माताजी द्वारा अनूदित मरणकण्डिका से और प्रश्नोत्तर मरणकण्डिका एव भगवती आराधना के विशेषार्थों का सहयोग लेकर लिखे हैं। इस प्रकार वि. स २०५८ वैशाख कृष्ण प्रतिपदा सोमवार, दिनाक ९ ४ २००१ को प्रात:काल ग्रन्थलेखन पूर्ण हुआ।

इस ग्रन्थ के लेखन-कार्य से मुझे अत्यधिक सम्बल मिला। अनेक बार तो ऐसा अनुभव हुआ कि परम पूज्य निर्यापकाचार्य गुरु समक्ष बैठकर ही मानों मार्गदर्शन कर रहे हैं। शास्त्रलेखन का जो यथार्थ मूल्य है वह तो मुझे लेखनकार्य करते समय ही अनेक बार प्राप्त हो चुका है क्योकि परिणामो की निर्मलता और कर्त्तव्यनिष्ठा की जो अनुभूति उस समय हुई वह अमूल्य तथा वचनातीत है।

ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय की संक्षिप्त सूचना :

मरणकण्डिका ग्रन्थ में आचार्यदेव ने सर्व प्रथम २७ श्लोकों द्वारा पीठिका लिखी है, जिसमें मंगलाचरण, आराधना का लक्षण, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप के भेद से आराधना के चार प्रकार, इन चारो का दो आराधनाओ मे समावेश तथा इन आराधनाओ की सिद्धि के लिए द्योतन, मिश्रण, सिद्धि, व्यूढि एव निर्व्यूढि ये पाँच हेतु कहे है।

१. बाल-मरणाधिकार : इस अधिकार के प्रारम्भ मे ही कहा गया है कि आगम में सत्रह प्रकार के मरण कहे गये है, उनमे से मैं यहाँ १. पण्डित-पण्डित मरण अर्थात् निर्वाणप्राप्ति, २ पण्डितमरण, ३ बालपण्डित मरण, ४ बाल मरण और ५. बाल-बाल मरण, इन पाँच मरणो का सक्षिप्त वर्णन करूँगा।

१ आवीचिमरण	८ बालपण्डित मरण	१५ प्रायोपगमनमरण
२ तद्भवमरण	९ सशल्यमरण	१६ इगिनी मरण
३ अवधि मरण	१० बलाका मरण	१७ पण्डित-पण्डित मरण या केवली मरण
४ आदि-अन्तमरण	११ वोसट्ट मरण	
५ बाल मरण	१२. विप्पाणस मरण	
६. पण्डित मरण	१३ गिद्धपुट्ठ मरण	
७ अवसन्न मरण	१४ भक्तप्रत्याख्यान मरण	

इन सत्रह प्रकार के मरणो मे से बाल मरण, बाल पण्डित मरण, पण्डित मरण और पण्डित-पण्डित मरण इन चार का ग्रहण किया गया है। बाल-बाल मरण का बालमरण मे ही अन्तर्भाव हो जाता है अत· उसका नाम सत्रह मे नहीं आया है।

इस अधिकार मे पाँच प्रकार के मरणो के स्वामी, पण्डित मरण के तीन भेद और सम्यक्त्व आराधना का वर्णन किया गया है।

२. बाल-बाल मरणाधिकार - इस अधिकार में दश श्लोको के द्वारा इस मरण के लक्षणादि कहे गये हैं।

३. भक्तप्रत्याख्यानमरणाधिकार - इस अधिकार मे अर्ह, लिंग तथा शिक्षा आदि चालीस अधिकारों का वर्णन है। इन चालीस अधिकारो को कतिपय अधिकारो का समूह बना कर कुल सात अधिकारों में विभक्त कर दिया गया है।

यथा : (१) अर्ह-अधिकार : इस अधिकार मे अर्ह[१], लिंग[२], शिक्षा[३], विनय[४], समाधि[५], अनियत विहार[६], परिणाम[७], उपधित्याग[८], श्रिति[९] और भावना[१०] इन दश अधिकारो का समावेश है।

४. (२) सल्लेखना आदि अधिकार : इस अधिकार में ११ से लेकर १६ पर्यन्त अर्थात् छह अधिकारों का समावेश है। यथा - सल्लेखना[११], दिशा[१२], क्षमण[१३], अनुशिष्टि[१४], परगणचर्या[१५] और मार्गणा[१६]।

५. (३) सुस्थितादि अधिकार - इस अधिकार में सुस्थित[१७], उत्सर्पण[१८], परीक्षा[१९], निरूपण[२०], पृच्छा[२१], एकसग्रह[२२], आलोचना[२३], गुण-दोष[२४], शय्या[२५] और सस्तर[२६] इन दस अधिकारो का समावेश है।

६. (४) निर्यापकादि अधिकार - इस अधिकार में निर्यापक[२७], प्रकाशन[२८], हानि[२९], प्रत्याख्यान[३०], क्षामण[३१] और क्षपण[३२] इन छह अधिकारों का समावेश है।

७ (५) अनुशिष्टि महाधिकार - अनुशिष्टि नाम का यह ३३ वॉ अधिकार स्वय मे अत्यधिक विशाल है। यह श्लोक ७५१ से प्रारम्भ हो १५६८ पर अर्थात् ८१८ श्लोको मे पूर्ण हुआ है अत इसे महाधिकार सज्ञा दी गई है। भक्तप्रत्याख्यान के अर्हादि ४० अधिकारो मे १४वे अधिकार का नाम भी अनुशिष्टि अधिकार है जो मात्र ११२ श्लोक प्रमाण है। इस अधिकार से उसे भिन्न दर्शाने हेतु भी सम्भवत उसे महाधिकार सज्ञा दी गई है। इस महाधिकार के प्रारम्भ मे ही आचार्यश्री ने दो श्लोको द्वारा इस अधिकार के प्रतिपाद्य विषय को सूचित कर दिया है। यथा-

मिथ्यात्व-वमनं दृष्टिं, भावनां भक्तिमुत्तमाम्।
रतिं भाव-नमस्कारे, ज्ञानाभ्यासे कुरूद्यमम्॥७५४॥

यह श्लोक सूचना रूप है। मिथ्यात्ववमन, सम्यक्त्व भावना, उत्तम भक्ति, पच नमस्कार मे रति और ज्ञानाभ्यास इन विषयो का वर्णन ५३ श्लोको मे किया गया है।

मुने ! महाव्रतं रक्ष, कुरु कोपादि-निग्रहम्।
हृषीक-निर्जयं द्वेधा, तपोमार्गे कुरूद्यमम्॥७५५॥

यह श्लोक भी सूचना रूप है। इसमे मात्र चार विषयो के विवेचन की सूचना दी गई है। इनमे पाँच महाव्रतों की रक्षा का वर्णन श्लोक ८०९ से १४२२ तक, कषायनिग्रह एव इन्द्रियविजय का वर्णन श्लोक १४२३ से १५१९ तक और तप का वर्णन १५२० से १५४७ तक किया गया है।

इस महाधिकार मे अनुमानत चालीस कथाएँ दी गई हैं। इस अधिकार का अन्त निद्रा पर विजय प्राप्त करने के उपाय बता कर एव तपस्या में सलग्न होने की प्रेरणा पूर्वक हुआ है।

८. (६) सारणादि-अधिकार : इस अधिकार में सारणा[३४], कवच[३५] और समता[३६] इन तीन अधिकारों का समावेश किया गया है।

९. (७) ध्यानादि अधिकार : इस अधिकार में ध्यान[३७], लेश्या[३८], फल[३९] एवं आराधक अंगत्याग[४०] इन चार अधिकारों का समावेश किया गया है।

१०-११. इसके पश्चात् अवीचार भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमनमरण तथा बालपण्डितमरण अधिकार कहे गये हैं। इनमें अधिकारगत निरुद्ध, निरुद्धतर और निरुद्धतम इन तीन भेदों के, इंगिनीमरण के, प्रायोपगमनमरण तथा बालपण्डितमरण के स्वरूप का तथा इनके स्वामी आदि का विवेचन ७६ श्लोकों में किया गया है। पश्चात् उपसर्गादि के निमित्त से तत्काल आराधनापूर्वक पण्डितमरण करने वाले महापुरुषों की चार कथाएँ दी गई हैं। इसके पश्चात् १२वें अधिकार में ८० श्लोको द्वारा पण्डित-पण्डित मरण का विवेचन किया गया है। पश्चात् आराधना का फल और ग्रन्थकार की लघुता का निर्देश करते हुए मरणकण्डिका ग्रन्थ पूर्ण हो गया है।

सल्लेखना की कठिन साधना के साथ-साथ इस बृहद्काय ग्रन्थ के लेखन की शक्ति परम पूज्य, परम श्रद्धेय अहर्निश-स्मरणीय सर्व पूर्वाचार्यों के मगल शुभाशीर्वाद से ही प्राप्त हो सकी है। इन परमोपकारी, गुरुजनों की आभारी मैं आप सबके पावन चरण-कमलों मे कृतिकर्म पूर्वक शतशः नमस्कार करती हूँ।

वर्तमान पट्टाधीश निर्यापकाचार्य गुरुदेव परम पूज्य, परम श्रद्धेय, **प्रातः स्मरणीय आचार्य १०८ श्री वर्धमानसागर जी महाराज** का मगल शुभाशीर्वाद ही इस लेखन का महान् सम्बल रहा है। आपके अविस्मरणीय उपकारो के प्रति मेरा अन्तस् अत्यन्त आभारी है। जर्जर नौका को पार कर किनारे तक पहुँचाने की कृपाकाक्षी मैं आपके पावन चरण-कमलो में कृतिकर्म पूर्वक शतशः नमोऽस्तु करती हुई आप के प्रति कृतज्ञ हूँ।

परम पूज्य विदुषीरत्न **आर्यिका १०५ श्री जिनमती माता जी** की कृति के आधार पर ही मैं यह महान् कार्य पूर्ण कर सकी हूँ अत. उनके प्रति मेरा मन आभारी है। आपके पावन चरणों मे बार-बार वन्दामि।

आर्यिका १०५ श्री प्रशान्तमती माताजी ने मेरी लिखी पाण्डुलिपि सलग्नता पूर्वक देखी है। उनकी यह सम्यग्ज्ञान की रति एव रत्नत्रय की निर्मलता उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहे, यही मेरी हार्दिक मगल भावना है।

जिनवाणी के परमभक्त और निर्लोभी **डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी**, परम सहयोगी **प्रतिष्ठाचार्य श्री हँसमुख जी** एवं अन्य भी सहयोगी जनों के प्रति मेरा मन आभारी है। आप सब निर्मल ज्ञान प्राप्त कर शीघ्र ही इस ससारभ्रमण से छूटें, यही मेरी हार्दिक मंगल भावना है। ॐ शान्ति। भद्र भूयात्।

वि सं २०५८ **आर्यिका विशुद्धमती**

गुरु पूर्णिमा, ५ ७.२००१

अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, आर्षमार्गपोषक

परम पू. १०५ आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

गेहुँआ वर्ण, मझोला कद, अनतिस्थूल शरीर, चौड़ा ललाट, भीतर तक झाँकती सी ऐनक धारण की हुई आँखें, हितमितप्रिय स्पष्ट बोल, सयमित सधी चाल और सौम्य मुखमुद्रा-बस, यही है उनका **अंगन्यास**।

नगे पाँव, लुचित सिर, धवल शाटिका, मयूरपिच्छिका-बस, यही है उनका **वेषविन्यास**।

विषयाशाविरक्त, ज्ञानध्यान तप जप मे सदा निरत, करुणासागर, परदु ख कातर, प्रवचनपटु, निस्पृह, समता-विनय-धैर्य और सहिष्णुता की साकारमूर्ति, भद्रपरिणामी, साहित्य-सृजनरत, साधना में वज्र से भी कठोर, वात्सल्य में नवनीत से भी मृदु, आगमनिष्ठ, गुरुभक्तिपरायण, प्रभावनाप्रिय-बस, यही है उनका **अन्तर आभास**।

जूली और जया, जानकी और जेबुन्निसा सबके जन्मो का लेखा-जोखा नगरपालिकाये रखती हैं पर कुछ ऐसी भी हैं जिनके जन्म का लेखाजोखा राष्ट्र, समाज और जातियों के इतिहास स्नेह और श्रद्धा से अपने अक मे सुरक्षित रखते हैं। वि स १९८६ की चैत्र शुक्ला तृतीया को रीठी (जबलपुर, म प्र) मे जन्मी वह बाला सुमित्रा भी ऐसी ही रही है - जो आज है आर्यिका विशुद्धमती माताजी।

इस शताब्दी के प्रसिद्ध सन्त पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी के निकट सम्पर्क से सस्कारित धार्मिक गोलापूर्व परिवार मे सद्गृहस्थ पिता श्री लक्ष्मणलालजी सिंघई एव माता सौ मथुराबाई की पाँचवीं सन्तान के रूप में सुमित्राजी का पालन-पोषण हुआ। घूटी मे ही दयाधर्म और सदाचार के सस्कार मिले। फिर थोडी पाठशाला की शिक्षा, बस, सब कुछ सामान्य, विलक्षणता का कहीं कोई चिह्न नहीं। आयु के पन्द्रह वर्ष बीतते-बीतते पास के ही गाँव बाकल मे एक घर की वधू बनकर सुमित्राजी ने पिता का घर छोडा। इतने सामान्य जीवन को लखकर तब कैसे कोई अनुमान कर लेता कि यह बालिका एक दिन ठोस आगमज्ञान प्राप्त करके स्व-पर कल्याण के पथ पर आरूढ हो स्त्रीपर्याय का उत्कृष्ट पद प्राप्त कर लेगी।

सच है, कर्मो की गति बड़ी विचित्र होती है। चन्द्रमा एव सूर्य को राहु और केतु नामक ग्रह विशेष से पीड़ा, सर्प तथा हाथी को भी मनुष्यो के द्वारा बन्धन और विद्वद्जन की दरिद्रता देखकर अनुमान लगाया जाता है कि नियति बलवान है और फिर काल ! काल तो महाक्रूर है ! 'अपने मन कछु और है विधना के कछु और' दैव दुर्विपाक से सुमित्राजी के विवाह के कुछ ही समय बाद उन्हे सदा के लिए मातृ-पितृ वियोग हुआ और विवाह के डेढ वर्ष के भीतर ही कन्या-जीवन के लिए अभिशाप स्वरूप वैधव्य ने आपको आ घेरा।

अब तो सुमित्राजी के सम्मुख समस्याओ से घिरा सुदीर्घ जीवन था। इष्टवियोग (पति और माता-पिता) से उत्पन्न हुई असहाय स्थिति बडी दारुण थी। किसके सहारे जीवन-यात्रा व्यतीत होगी? किस प्रकार निश्चित जीवन मिल सकेगा? अवशिष्ट दीर्घजीवन का निर्वाह किस विधि होगा? इत्यादि नाना प्रकार की विकल्प लतरियाँ मानस को मथने लगीं। भविष्य प्रकाशविहीन प्रतीत होने लगा। ससार में शीलव्रती स्त्रियाँ धैर्यशालिनी होती हैं,

नाना प्रकार की विपत्तियों को वे हँसते-हँसते सहन करती हैं। निर्धनता उन्हें डरा नहीं सकती, रोगशोकादि से वे विचलित नहीं होतीं परन्तु पतिवियोगसदृश दारुण दु.ख का वे प्रतिकार नहीं कर सकती हैं। यह दु ख उन्हे असह्य हो जाता है। ऐसी दु:खपूर्ण स्थिति के कारण उन्हें 'अबला' भी पुकारा जाता है। परन्तु सुमित्राजी में आत्मबल प्रगट हुआ, उनके अन्तरग में स्फुरणा हुई कि इस जीव का एक मात्र सहायक या अवलम्बन धर्म ही है। 'धर्मो रक्षति रक्षित.' । अपने विवेक से उन्होंने सारी स्थिति का विश्लेषण किया और 'शिक्षार्जन' कर स्वावलम्बी (अपने पाँवों पर खड़े) होने का सकल्प लिया। भाइयो श्री नीरजजी और श्री निर्मलजी, सतना के सहयोग से केवल दो माह पढ कर प्राइमरी की परीक्षा उत्तीर्ण की। मिडिल का त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम दो वर्ष मे पूरा किया और शिक्षकीय प्रशिक्षण प्राप्त कर अध्यापन की अर्हता अर्जित की और अनन्तर सागर के उसी महिलाश्रम में-जिसमे उनकी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ था- अध्यापिका बनकर सुमित्राजी ने स्व+अवलम्बन के अपने सकल्प का एक चरण पूर्ण किया।

सुमित्राजी ने महिलाश्रम (विधवाश्रम) का सुचारु रीत्या सचालन करते हुए करीब बारह वर्ष पर्यन्त प्रधानाध्यापिका का गुरुतर उत्तरदायित्व भी सँभाला। आपके सद्प्रयत्नो से आश्रम मे श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय की स्थापना हुई। भाषा और व्याकरण का विशेष अध्ययन कर आपने भी 'साहित्यरत्न' और 'विद्यालकार' की उपाधियाँ अर्जित की। विद्वद्शिरोमणि डॉ पन्नालालजी साहित्याचार्य का विनीत शिष्यत्व स्वीकार कर आपने 'जैन सिद्धान्त' मे प्रवेश किया और धर्मविषय मे 'शास्त्री' की परीक्षा उत्तीर्ण की। अध्यापन और शिक्षार्जन की इस सलग्नता ने सुमित्राजी के जीवनविकास के नये क्षितिजो का उद्घाटन किया। शनै शनै उनमे 'ज्ञान का फल' अकुरित होने लगा। एक सुखद सयोग ही समझिये कि सन् १९६२ में परमपूज्य परमश्रद्धेय (स्व) आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का वर्षायोग सागर मे स्थापित हुआ। आपकी परम निरपेक्षवृत्ति और शान्त सौम्य स्वभाव से सुमित्राजी अभिभूत हुई। सघस्थ प्रवर वक्ता पूज्य १०८ (स्व) श्री सन्मतिसागरजी महाराज के मार्मिक उद्बोधनो से आपको असीम बल मिला और आपने स्व+ अवलम्बन के अपने सकल्प के अगले चरण की पूर्ति के रूपमे चारित्र का मार्ग अगीकार कर सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

विक्रम सवत् २०२१, श्रावण शुक्ला सप्तमी, दि १४ अगस्त, १९६४ के दिन परम पूज्य तपस्वी, अध्यात्मवेत्ता, चारित्रशिरोमणि, दिगम्बराचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के पुनीत कर-कमलो से ब्रह्मचारिणी सुमित्राजी की आर्यिका दीक्षा अतिशय क्षेत्र पपौराजी (म प्र) में सम्पन्न हुई। अब से सुमित्राजी 'विशुद्धमती' बनीं। बुन्देलखण्ड में यह दीक्षा काफी वर्षों के अन्तराल से हुई थी अत. महती धर्मप्रभावना का कारण बनी।

आचार्यश्री के सघ मे ध्यान और अध्ययन की विशिष्ट परम्पराओ के अनुरूप नवदीक्षित आर्यिकाश्री के नियमित शास्त्राध्ययन का श्रीगणेश हुआ। सघस्थ परम पूज्य आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज ने द्रव्यानुयोग और करणानुयोग के ग्रथों मे आर्यिकाश्री का प्रवेश कराया। अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी पूज्य अजितसागरजी महाराज (बाद में पट्टाधीश आचार्य) ने न्याय, साहित्य, धर्म और व्याकरण के ग्रन्थों का अध्ययन कराया। जैन गणित के अभ्यास में और षट्खण्डागम सिद्धान्त के स्वाध्याय में (स्व) ब्र प रतनचन्द्रजी मुख्तार आपके सहायक

बने। सतत परिश्रम, अनवरत अभ्यास और सच्ची लगन के बल पर पूज्य माताजी ने विशिष्ट ज्ञानार्जन कर लिया। यहाँ इस बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि दीक्षा के प्रारम्भिक वर्षों में आहार में निरन्तर अन्तराय आने के कारण आपका शरीर अत्यन्त अशक्त और शिथिल हो चला था पर शरीर में बलवती आत्मा का निवास था। श्रावको-वृद्धो ही नहीं अच्छी आँखो वाले युवकों की लाख सावधानियों के बावजूद भी अन्तराय आहार मे बाधा पहुँचाते रहे। आर्यिकाश्री की कड़ी परीक्षा होती रही। असाता के शमन के लिए अनेक लोगों ने अनेक उपाय करने के सुझाव दिये। आचार्यश्री ने कर्मोपशमन के लिए वृहत्शातिमत्र का जाप करने का सकेत किया पर आर्यिकाश्री का विश्वास रहा है कि समताभाव से कर्मों का फल भोगकर उन्हे निर्जीर्ण करना ही मनुष्य पर्याय की सार्थकता है, ज्ञान की सार्थकता है। आपकी आत्मा उस विषम परिस्थिति में भी विचलित नहीं हुई, कालान्तर में वह उपद्रव कारण पाकर शमित हो गया। पर इस अवधि मे भी उनका अध्ययन सतत जारी रहा। आर्यिकाश्री द्वारा की गई 'त्रिलोकसार' की टीका के प्रकाशन के अवसर पर प पू आचार्य १०८ श्री अजितसागरजी महाराज ने आशीर्वाद देते हुए लिखा-

''सागर महिलाश्रम की अध्ययनशीला प्रधानाध्यापिका सुमित्राबाई ने अतिशय क्षेत्र पपौरा में आर्यिका दीक्षा धारण की थी। तत्पश्चात् कई वर्षो तक अन्तरायो के बाहुल्य के कारण शरीर से अस्वस्थ रहते हुए भी वे धर्मग्रन्थों के पठन मे प्रवृत्त रहीं। आपने चारो ही अनुयोगो के निम्नलिखित ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया है। **करणानुयोग**-सिद्धान्तशास्त्र धवल (१६ खण्ड), महाधवल (दो खण्डो का अध्ययन हो चुका है, तीसरा खण्ड चालू है।) **द्रव्यानुयोग**-समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, इष्टोपदेश, समाधिशतक, आत्मानुशासन, वृहद्द्रव्यसग्रह। **न्यायशास्त्रों** मे न्यायदीपिका, परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला। **व्याकरण** में कातन्त्ररूपमाला, कलापव्याकरण, जैनेन्द्र लघुवृत्ति, शब्दार्णवचन्द्रिका। **चरणानुयोग**-रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अनगार धर्मामृत, मूलाराधना, आचारसार, उपासकाध्ययन। **प्रथमानुयोग**-सम्यक्त्व कौमुदी, क्षत्रचूडामणि, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धरचम्पू, उत्तरपुराण, हरिवशपुराण, पद्मपुराण आदि।'' (त्रिलोकसार आद्य पृ ६)

इसप्रकार पूज्य माताजी ने इस अगाध आगम वारिधि का अवगाहन कर अपने ज्ञान को प्रौढ़ बनाया। जिसका फल हमें साहित्यसृजन के रूप मे उनसे अनवरत प्राप्त हुआ। 'जिनवाणी की सेवा' ही उनका व्रत हो गया था। उन्होने आचार्यो द्वारा प्रणीत करणानुयोग के विशालकाय प्राकृत सस्कृत ग्रथो की सचित्र सरल सुबोध भाषाटीकायें लिखीं, साथ ही सामान्य जनोपयोगी अनेक छोटी-बड़ी रचनाओं का भी प्रकाशन किया। उनके द्वारा प्रणीत साहित्य की सूची इस प्रकार है-

❖ **भाषाटीकाएँ :**

१ सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य विरचित त्रिलोकसार टीका।
२ भट्टारक सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसारदीपक टीका।
३ यतिवृषभाचार्य विरचित तिलोयपण्णत्ती की हिन्दी टीका (तीन खण्डों में)
४ क्षपणासार
५ अमितगति आचार्यविरचित योगसार-प्राभृत (प्रश्नोत्तर टीका)
६ मरणकण्डिका (प्रश्नोत्तर टीका)

❖ **मौलिक रचनाएँ :**

१. श्रुतनिकुंज के किंचित् प्रसून २. गुरु गौरव ३. श्रावक सोपान और बारह भावना
४. आनन्द की पद्धति अहिंसा ५. निर्माल्य ग्रहण पाप है

❖ **प्रश्नोत्तर लेखन :**

१. धर्मप्रवेशिका प्रश्नोत्तर माला २ धर्मोद्योत प्रश्नोत्तर माला ३ छहढाला ४ इष्टोपदेश
५ स्वरूपसम्बोधनपचविशति

❖ **संकलन-सम्पादन :**

१ वत्थुविज्जा (प्रथम खण्ड-गृहशिल्प)
२ वत्थुविज्जा (द्वितीय खण्ड-मन्दिरशिल्प)
३. श्रमणचर्या ४ समाधिदीपक ५ दीपावली पूजनविधि
६ श्रावक सुमन सचय ७ स्तोत्र सग्रह ८ श्रावक सोपान
९ आर्यिका आर्यिका है १० सस्कार ज्योति
११ पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण सामायिक विधि
१२ वृहद् सामायिक पाठ एव व्रती श्रावक प्रतिक्रमण
१३ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज का सक्षिप्त जीवनवृत्त
१४ रात्रिक/दैवसिक प्रतिक्रमण (अन्वयार्थसहित)
१५ पाक्षिकादि प्रतिक्रमण (अन्वयार्थसहित)
१६ वास्तुविज्ञान परिचय
१७ नित्यनियमपूजा एव दीपावली पूजन
१८ शान्तिधर्मप्रदीप अपरनाम दानविचार
१९ नारी बनो सदाचारी
२० महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ एक अनुशीलन
२१ ऐसे थे चारित्र चक्रवर्ती २२ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर चरित्र

आपने दीक्षा वर्ष १९६४ में पपौरा, बाद मे क्रमश. श्रीमहावीरजी, कोटा, उदयपुर, परतापगढ़, टोडारायसिंह, भीण्डर, उदयपुर, अजमेर, निवाई, रैनवाल, सवाईमाधोपुर, सीकर, रैनवाल, निवाई, निवाई, टोडारायसिंह, उदयपुर, उदयपुर, उदयपुर, भीण्डर, उदयपुर, कूण, भीलवाड़ा, उदयपुर, भीण्डर, पारसोला, अडिन्दा पार्श्वनाथ, फलासिया, ईडर, रामगढ़, गनोडा, गींगला, नन्दनवन, मुगाणा, नन्दनवन, नन्दनवन और २००१ में पुन नन्दनवन में वर्षायोग स्थापित किया। टोडारायसिंह, उदयपुर, भीण्डर, निवाई, रैनवाल, नन्दनवन में आपके क्रमश २, ६, ३, ३, २, ४ बार चातुर्मास हुए। सर्वत्र आपने महती धर्मप्रभावना की और श्रावको को सन्मार्ग में प्रवृत्त किया। श्री शान्तिवीर गुरुकुल जोबनेर को स्थायित्व प्रदान करने के लिए आपकी प्रेरणा से

श्री दि जैन महावीर चैत्यालय का नवीन निर्माण हुआ है और वेदी प्रतिष्ठा भी हुई है। जन-धन एव आवागमन आदि अन्य साधनविहीन अलयारी ग्राम स्थित जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार, नवीन जिनबिम्ब की रचना, नवीन वेदी का निर्माण एव वेदी प्रतिष्ठा आपके ही सद्प्रयत्नो का फल है। श्री दि. जैन धर्मशाला टोडारायसिंह का नवीनीकरण एव अशोकनगर उदयपुर मे नवीन जिनालय और श्री शिवसागर सरस्वती भवन का निर्माण आपके मार्गदर्शन का ही सुपरिणाम है। वास्तुशास्त्र के अनुसार कई जगह आपके मार्गदर्शन से परिवर्तन हुए हैं एव स्वाध्याय भवन आदि के निर्माण हुए हैं।

श्री ब्र सूरजबाई मु ड्योढ़ी (जयपुर) की क्षुल्लिका दीक्षा, ब्र मनफूलबाई (टोडारायसिंह) को आठवीं प्रतिमा, श्री कजोडीमल जी कामदार (जोबनेर) को दूसरी प्रतिमा, श्री सावित्री बाई रामगढ़ को पाँचवीं प्रतिमा, श्री सोहनलालजी सगावत उदयपुर वालो की धर्मपत्नी को पति-पुत्रो की उपस्थिति में गृह-त्यागपूर्वक सातवीं प्रतिमा के व्रत आपके कर-कमलो से प्रदान किये गये। कई श्रावक युगलो को आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत आपने प्रदान किया। अशुद्ध जल त्याग, रात्रिभोजन त्याग, जमीकद त्याग, हिसाजन्य सौन्दर्य-प्रसाधनो का त्याग आत्महत्या, भ्रूणहत्या करने का त्याग आदि नियम अनेक श्रावको ने आपसे ग्रहण किये। प्रतिदिन अभिषेक-पूजन, स्वाध्याय, दान (साधु प्रत्यक्ष मे न हो तो घर में एक डिब्बा रखकर साधुओ का स्मरण करके उसमे दान डालना), साधुओ के चर्यासमय को टालकर बाद मे उनके स्मरणपूर्वक भावना करना कि सब साधुओ का निरन्तराय आहार हो गया होगा, बाद मे स्वय भोजन करना, इस प्रकार अनेक सरल नियमो की प्रतिज्ञा आपके पास अनेक श्रावको ने ग्रहण की। आपकी भावना प्राय ऐसी ही रहती थी कि प्रत्येक श्रावक को कुछ-न-कुछ सयम-नियम-व्रत आदि से सयुक्त रहना चाहिए। बिना त्याग-सयम के कल्याण नहीं है। इन्द्रियविषयो को भोगने के बाद नियम कर लेना चाहिए कि जब तक दुबारा काम मे नहीं लेगे तब तक के लिए त्याग है, जो अत्यन्त सरल नियम है।

शास्त्रसमुद्र का आलोडन करने वाली पूज्य माताजी की आगम मे अटूट आस्था रही। क्षुद्र भौतिक स्वार्थों के लिए सिद्धान्तो को अपने अनुकूल तोड-मोड़ कर प्रस्तुत करने वाले आपकी दृष्टि मे अक्षम्य रहे। देव-शास्त्र-गुरु की अविनय, अवज्ञा आपके लिए असहनीय थी। आगम-सिद्धान्त में किसी प्रकार का समझौता करने के लिए आपकी आत्मा ने कभी गवाही नहीं दी। सज्जातित्व मे आपकी पूर्ण निष्ठा रही। विधवा विवाह और विजातीय विवाह आपकी दृष्टि मे कथमपि शास्त्रसम्मत नहीं रहे। **आचार्य सोमदेव** की इस उक्ति का आप पूर्ण समर्थन करती थी–

स्वकीया. परकीया: वा मर्यादालोपिनो नरा:।
नहि माननीय तेषा तपो वा श्रुतमेव च॥

अर्थात् स्वजन से वा परजन से, तपस्वी हो या विद्वान् हो किन्तु वह मर्यादाओं का लोप करने वाला है तो उसका कहना भी नहीं मानना चाहिए। (धर्मोद्योत प्रश्नोत्तरमाला, तृतीय सस्करण पृ ६६ से उद्धृत)

आगम-परम्परा और गुरु-परम्परा का आप प्राण-पण से निर्वाह करती रहीं। एक शब्द भी इनके विरुद्ध यदि आता तो आपका मन क्षुब्ध हो जाता। आप उनका उत्तर-प्रतीकार भी अवश्य करतीं ताकि मूल परम्परा की रक्षा हो।

पूज्य माताजी स्पष्ट और निर्भीक धर्मोपदेशिका रहीं। सत्य बात, चाहे कटु हो पर आगे-पीछे कहना आपके स्वभाव में नहीं रहा। उसी समय सबके सामने प्रत्यक्ष कहने मे आपकी आत्मा किंचित् भी हिचकती नहीं थी। जनानुरंजन की क्षुद्रवृत्ति को आप अपने पास फटकने भी नहीं देती थी। अपनी चर्या में 'वज्रादपि कठोराणि' थी तो दूसरों को धर्ममार्ग में लगाने के लिए 'मृदूनि कुसुमादपि'। स्वकल्याण के साथ पर-कल्याण की अति तीव्र भावना आपके भीतर थी। शारीरिक शक्ति अत्यन्त क्षीण होते हुए भी श्रावक-श्राविकाओं को आत्मकल्याण सबंधी शिक्षा के दो शब्द बताने की आपकी भावना हमेशा बनी रहती थी। ज्ञानपिपासु माताजी ज्ञानाराधना में सलग्न रहती थीं।

सयमरूपी मदिर के शिखर पर समाधि रूपी कलश चढ़ाने की भावना आपकी प्रतिक्षण बनी रहती थी। आपके समीचीन मार्गदर्शन-निर्देशन में परम पूज्य आचार्यकल्प सन्मतिसागरजी महाराजश्री, प पू महेन्द्रसागर जी महाराजश्री, पू आर्यिका विमलमती माताजी, पू आर्यिका सिद्धमती माताजी, पू आर्यिका पवित्रमती माताजी आदि एव अन्य श्रावक-श्राविकाओ की समाधि सम्पन्न हुई। समाधि सम्पन्न कराने में क्षपक की वैयावृत्य आदि करने-कराने की आत्मिक क्षमता आपमे विशेष रूप से थी। शारीरिक दुर्बलता के कारण आप प्राय यही कहती थीं कि इस काल में १२ साल की सल्लेखना नहीं लेनी चाहिए। पर आपकी आत्मा ने भीतर से एक ऐसी आवाज दी कि ६० वर्ष की वय मे ही आपने अत्यन्त साहसपूर्वक १२ साल की सल्लेखना पूज्य आचार्य अजितसागरजी महाराज से ग्रहण की। सल्लेखना धारण करते ही आपका लक्ष्य परिवर्तित हो गया। आगमसेवा के साथ अब तपश्चरण की ओर भी ध्यान बढ़ता गया। सल्लेखना के साथ ऐसा नियम लिया कि प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ वस्तुओं का त्याग करना और प्रतिवर्ष एक नया व्रत ग्रहण करना। अपनी प्रतिज्ञानुसार आपने एक रस से, नीरस से और बाद मे उपवास से व्रत प्रारम्भ किये। इस परित्याग के साथ बेला-बेला उपवास किये।

१६ जनवरी, २००२ को बारह वर्षीय सल्लेखना अवधि पूर्ण होने पर माताजी ने जीवन पर्यन्त के लिए पेय-जल का भी त्याग कर दिया। साधना क्रम में अन्न का त्याग तो बहुत पहले हो चुका था।

जलत्याग के बाद छह दिन की कठोर साधना के अनन्तर २२ जनवरी २००२ को पूज्य माताजी की पुनीत आत्मा ने प्रात साढ़े चार बजे ब्राह्ममुहूर्त मे आचार्य श्री वर्धमानसागर जी महाराज और गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती जी से पच नमस्कार मत्र सुनते हुए स्वर्ग की ओर महाप्रयाण किया।

दृढ सयमी, आर्षमार्ग की कट्टर पोषक, नि स्पृह, परम विदुषी, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, निर्भीक उपदेशक, आगममर्मस्पर्शी, मोक्षमार्ग की पथिक, स्व-पर उपकारी पूज्य माताजी की पुनीत आत्मा स्वर्गिक सुखो के लाभ के बाद नरपर्याय धारण कर मुक्तिरमा को यथाशीघ्र वरण करे, यही भावना भाता हूँ। उस पुनीत आत्मा को शत-शत वन्दन।

– डॉ चेतनप्रकाश पाटनी

卐 दो शब्द 卐

ससार की प्राय सभी धार्मिक और सास्कृतिक मान्यताओ में जीवन को सँवारने की और शान से जीने की विधियों का बार-बार वर्णन किया गया है। जीवन को एक कला माना गया है पर मृत्यु की हर जगह उपेक्षा की गई है। कलाओं की लम्बी तालिका मे मरने की कला का नाम कहीं नहीं आता। मरण जो जीवन का अनिवार्य परिणाम है, हर जगह इतना उपेक्षित रहा है कि प्राय· उसकी चर्चा भी वर्जित मानी गई है, परतु जैन जीवन पद्धति में मृत्यु को उपेक्षणीय या तिरस्करणीय नहीं बताया गया। एक सच्चाई की तरह उसका सामना करने की शिक्षा दी गई है।

ससारी मोही प्राणी जन्म के सत्य को स्वीकार कर खुशियाँ मनाते हैं और मरण के सत्य को अस्वीकार कर शोक करते हैं, यह बडा आश्चर्य है। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु:" जिसने जन्म लिया है उसका मरण अवश्यम्भावी है। आयु समाप्त होने पर मणि, मत्र, तत्र, ताबीज, औषधि कोई मरण से बचा नहीं सकते। अनन्तकाल तक इस जीव ने एकेन्द्रिय पर्याय मे एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण किया। एक अन्तर्मुहूर्त मे ६६३३६ बार लब्ध्यपर्याप्त अवस्था प्राप्त कर जन्म-मरण किया। किसी कारणवश कर्मों का लघु विपाक हुआ तो द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असैनी पचेन्द्रिय पर्यायो मे मन के बिना हित-अहित, हेय-उपादेय के विचार से शून्य आत्महित के विचारविमर्श की सभावना से रहित मरण किया। किसी पुण्य के उद्देश्य से पचेन्द्रिय हुआ तो भी मिथ्यादर्शन और पचेन्द्रियों की विषयवासना के वश होकर मरण करता रहा। इस प्रकार प्राय सभी पर्यायो मे सक्लेशपूर्वक, उद्वेगपूर्वक, आर्त्त-रौद्र ध्यान सहित सकल्प-विकल्प पूर्वक, आकुलता सहित मरण होने से जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती ही रही। जन्म-मरण की इस परम्परा को समाप्त करने का एक मात्र उपाय है जैन जीवनपद्धति मे निर्दिष्ट सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण। शाति से धर्मध्यानपूर्वक समतामय परिणामो से कषायो को कृश करते हुए स्वेच्छा से शरीर छोड़ना ही समाधिमरण, मगलमयमरण या मृत्यु महोत्सव है।

सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण अर्थात् सुमरण कैसे, किस विधि से, कौन उपायो से हो, उसका विस्तृत वर्णन हमारे आचार्यों ने बडे-बडे ग्रन्थो मे किया है। **शिवकोटि आचार्य** विरचित **भगवती आराधना** प्राकृत भाषा का इसी विषय का एक महान् ग्रन्थ है। इसके सस्कृत (छायारूप) श्लोको के माध्यम से **अमितगति आचार्य** ने **मरणकण्डिका** नामक ग्रन्थ की रचना की है। मरण का विशद वर्णन होने से इस ग्रन्थ का मरणकण्डिका नाम सार्थक है।

इस ग्रन्थ के **बारह अधिकारों** में सरलतम श्लोकों के माध्यम से आराधना से लेकर अतिम आराधना के फल निजतत्त्व की प्राप्ति तक का सपूर्ण विवेचन किया गया है।

सर्वप्रथम चार आराधनाओ का वर्णन करते हुए बताया है कि ज्ञान और दर्शन का सार यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति और यथाख्यात चारित्र का सार निर्वाण की प्राप्ति है। चिरकाल तक चारो आराधनाओ का निरतिचार पालन करने वाले मुनिराज भी मरणकाल में यदि उन आराधनाओं की विराधना करके मरते

हैं तो वे पुनः अनत ससारी होते हैं। इसलिए मरण तक चारो आराधनाओं को निरतिचार ले जाने, पालन करने और निभाने के लिए आराधक मुनिराजों को सदा ही आराधनाओं के सहायभूत परिकर में प्रयत्नशील रहना चाहिए, जिससे साधक मरणसमय रत्नत्रय धर्म से च्युत न होवें।

प्रथम अधिकार मे प्रधानभूत पाँच मरणों का विस्तृत विवेचन है एवं उनके स्वामियों का कथन है। चार आराधनाओं के अन्तर्गत दर्शन आराधना का विशेष महत्त्व श्लोक ४२ मे कहा है कि तत्त्वार्थ के प्रतिपादक अक्षर-समुदाय में से एक अक्षर का भी यदि अश्रद्धान किया जाता है तो वह व्यक्ति निश्चय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है भले ही उस शेष सारे अक्षरो का श्रद्धान हो।

तृतीय अधिकार में पडितमरण के प्रथम भेद भक्तप्रत्याख्यान मरण का ४० सूत्राधिकारों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

भावना नामक अधिकार मे भक्तप्रत्याख्यान मरण करने वाले मुनिजन पाँच प्रकार की खोटी भावनाओ का त्याग कर तपोभावना, ज्ञानभावना, सत्त्वभावना, एकत्व भावना और धृतिभावना भाते हैं। तपोभावना के भाने से मरणकाल में परीषह एव क्षुधादि वेदना सहने में समर्थ होते हैं। ज्ञानभावना अर्थात् भली प्रकार शास्त्रज्ञान मे लगे रहने से ज्ञान सदा जाग्रत रहता है। मरणकाल मे शास्त्राभ्यासी साधु की स्मृति का नाश नहीं होता है। सत्त्वभावना के बल से उपसर्ग आदि आने पर विचलित नहीं होते हैं। एकत्व भावना से काम, भोग, सघ और शरीर से निस्पृह होते हैं एव धृतिभावना से परीषह आदि पर विजय पाते हैं।

सल्लेखनादि चौथे अधिकार में कषायो को आत्मभावना द्वारा कम करना कषाय या अभ्यन्तर सल्लेखना है और शरीर को अनशनादि द्वारा कृश करना काय या बाह्य सल्लेखना कहा है।

क्षमण नामक अधिकार मे वैयावृत्य को इतना महत्त्वपूर्ण बताया है कि जिसने वैयावृत्य किया उसने विशुद्ध चित्त से सभी तीर्थंकर, सभी सिद्ध एव साधु परमेष्ठी की अर्चना की, ऐसा समझना चाहिए।

पाँच प्रकार के पार्श्वस्थ मुनियो की सगति त्याज्य बताकर कहा है कि लाखो पार्श्वस्थ मुनियों की अपेक्षा एक ही सयमी मुनि श्रेष्ठ है।

सुस्थितादि पाँचवें अधिकार मे आचार्य के ४ गुणो का वर्णन है। शास्त्र के गूढ़ सिद्धान्त का जो निर्यापक मर्मज्ञ नहीं है वह क्षपक की लोकपूजित चार आराधनाओ को नष्ट कर देता है। निर्यापक क्षपक को प्रतिसमय श्रुतरूपी पान और हितकारी शिक्षा देते हैं। पैर से ताडित करके भी क्षपक के दोषो को निकलवाते हैं।

आलोचना अधिकार में निर्यापक क्षपक को सबोधित करते हैं कि हे साधो! राग-द्वेष, कषाय, मोह, इन्द्रियविषय, सज्ञा से रहित होकर, ऋद्धि-रस-सात गारव को छोड़कर एव द्रव्य-भाव शल्य रहित होकर जो अपने दोषों की आलोचना करते हैं वे ही परम सुख को प्राप्त होते हैं।

अनुशिष्टि नामक सातवें महाधिकार में निर्यापक सर्वप्रथम क्षपक को मिथ्यात्व का वमन कराके सम्यक्त्व में दृढ़ करते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र का

अखडरीत्या पालन करने वाले मुनि के चारित्र आराधना होती है। एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावना रूप २५ भावनाओं को भाने वाला मुनि सुप्त अवस्था में भी व्रतों का घात नहीं करता है, जाग्रत्त अवस्था में तो कैसे कर सकता है ? परतु कषायो और इन्द्रियों के वश में रहने वाला मुनि सब के द्वारा दूषित होता हुआ हँसी का पात्र होता है और उसका सारा ज्ञान नष्ट होता है।

सारणादि अधिकार मे हित, मित एव प्रिय वचन बोलनेवाले निर्यापक बिना विश्राम के क्षपक को शिक्षा देते हैं, जिससे यथोक्त तप करता हुआ क्षपक कर्मों की बडी भारी निर्जरा करता है। आचार्य क्षपक को बार-बार धर्मस्नेह से सावधान करते है और व्रतादि का स्मरण दिलाते हैं। चारो गतियो के दु खो का वर्णन सुना कर वर्तमान मे थोडे से कष्ट सहने के लिए धैर्य दिलाते हैं। "आपने चारो गतियो मे परवशता से महावेदना सहन की, अब धर्मबुद्धि से अपनी स्वाधीनता पूर्वक अल्प दु ख को समता भाव से सहन करना है।" यहाँ विशेष बात कही है कि सयमी साधु का मरण हो जाना श्रेष्ठ है परतु वेदना को शात करने के लिए अप्रासुक औषधि का सेवन कदापि योग्य नहीं है।

ध्यानादि अधिकार मे नेत्रो को परवस्तु से हटाकर नासाग्र दृष्टि से मन को एकाग्र करके अपनी आत्मा मे विचार लगाकर के मुक्ति-प्राप्ति का विचार करने की शिक्षा दी है। बारह भावनाओ के वर्णन के अन्तर्गत अन्यत्व भावना मे कहा है कि ससारी मोही प्राणी एक दूसरे को दु ख से आकुलित देखकर दु खित होता है, शोक करता है। स्वय का आत्मा जन्म-मृत्यु के दु.ख से युक्त होता है, नरकादि मे दु ख पा रहा है उसका शोक क्यो नहीं करता है ? ध्यान का महत्त्व बताया है कि करोडो वर्षो मे होने वाली कर्मनिर्जरा ध्यानस्थ साधु के अन्तर्मुहूर्त मे होती है।

अत में, जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप रूप चार आराधनाओ का उत्कृष्ट रूप से सेवन करते है वे उसी भव से मुक्त होते हैं। जो मध्यम रूप से सेवन करते हैं वे तृतीय भव में तथा जघन्य रूप से आराधनाओ का सेवन करने वाले सातवे भव मे मुक्त होते हैं। इस प्रकार आराधना का माहात्म्य बताकर उसका अतिम फल बताया है।

'चारित्त खलु धम्मो' कुन्दकुन्दाचार्य के इस सूत्र को जीवन मे चरितार्थ करने की उत्कृष्ट भावना के फलस्वरूप ३५ वर्ष की अल्पवय में स्त्री पर्यायोचित उत्कृष्ट आर्यिका व्रत, ग्रहण करके पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी ने सर्वप्रथम साधु-आचार सबधी मूलाराधना ग्रथ का चिंतन-मननपूर्वक अध्ययन किया। प्रारम्भ से ही अपनी चर्या को आगमानुसार एव गुरु-आज्ञानुसार बनाने का प्रयास किया। पूज्य माताजी हमेशा यही कहते थे कि अतरग परिणामो को तो आर्त-रौद्र आदि अशुभ ध्यानों से बचाना ही है परतु हमारी बहिरग क्रिया भी आगम के विपरीत न हो जिससे धर्म और धर्ममार्ग के प्रति अश्रद्धा के भाव पैदा न हो। पूज्य माताजी की अपने अन्तरग परिणामों की ओर पैनी दृष्टि रहती थी एव उनकी बहिरग क्रिया इतनी अनुशासित थी, जो हम जैसे अज्ञानियों के लिए अनुकरणीय थी। पूज्य माताजी की चलने, बैठने, सोने, बोलने आदि की सभी क्रियाएँ गम्भीरता की सूचक थीं। सयमी जीवन के अत तक पूज्य माताजी ने अपनी सपूर्ण क्रियाओ का दृढता से पालन कर अपनी गुरुपरम्परा के गौरव को वृद्धिंगत किया।

उदयपुर में सीढ़ियों से गिर जाने से दोनों पैरों मे फ्रेक्चर हुआ। किसी प्रकार का पक्का पट्टा या प्लास्टर नहीं बँधवाया। पैर ठीक नहीं हुए, प्रारम्भ मे तो बिलकुल चलना नहीं हुआ। उस समय लगातार ३ वर्ष तक उदयपुर मे रहकर 'तिलोयपण्णत्ती' जैसे महान् ग्रथ की टीका की। बाद मे २-२, ३-३ कि मी चलकर विहार शुरू किया। चलने से पैरो में बहुत पीड़ा होती थी परतु विहार के लिए अन्य किसी साधन को उपयोग में नहीं लिया। अत तक थोड़ा-थोड़ा पैदल विहार करके ही अपनी साधना को समाप्त किया। अपने सकल्प पर दृढ़ रहे।

शरीर की कमजोरी के कारण ज्यादा उपवास आदि नहीं कर पाते थे, इससे हमेशा यही कहते थे कि १२ वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना तो मैं कभी नहीं लूगी पर ६० वर्ष की अल्पवय मे भीतर से आत्मा की ऐसी आवाज आई कि उसी समय पू माताजी ने प पू आचार्य अजितसागर जी महाराजश्री के पास १२ वर्ष की सल्लेखना को ग्रहण किया। पूज्य माताजी ने पूरे सयमी जीवन मे अपने व्रतो मे लगे हुए सपूर्ण दोषों की आलोचना अत्यन्त सरलता से बिना कुछ छिपाये यथावत् पूज्य आचार्य अजितसागर जी महाराजश्री के सामने की। प पू आचार्यश्री को इतनी विस्तृत आलोचना सुनकर प्रसन्नता हुई।

सल्लेखना ग्रहण करते ही लक्ष्य बदल जाने से दृष्टि बदल गई। त्याग-तप वृद्धि मे क्षमता बढ गई। उत्कृष्ट सल्लेखना के काल में निर्यापकाचार्य निकट नहीं होते हुए भी पूज्य माताजी अपनी साधना के प्रति सजग रहते थे। कभी कोई छोटी सी गलती हो जाती या मन मे कोई ऐसे परिणाम बन जाते तो पूज्य माताजी मुझे तुरन्त कह देते थे। मैं कहती कि माताजी मै तो बहुत छोटी हूँ, आप मुझे क्यो कहते हो? वे कहते थे कि छोटे हो या बडे, दूसरो को कह देने से मन का भार हल्का हो जाता है।

सल्लेखना के अतर्गत आत्म-सस्कार काल के अतिम वर्ष मे त्याग और तप की अभिवृद्धि के कारण शरीर अत्यन्त कमजोर हो गया था। इस समय उपयोग की एकाग्रता के लिए पू माताजी ने **योगसार प्राभृत** जैसे क्लिष्ट ग्रथ की प्रश्नोत्तर रूप मे टीका की। इसके पश्चात् **मरणकण्डिका** ग्रथ का स्वाध्याय किया, उस समय आपको ऐसा लगा कि इस ग्रंथ को प्रश्नोत्तरी टीका के रूप मे लिखने से प्रतिसमय परिणामो को सँभालने का अवसर मिलेगा। ग्रथ मे प्रतिपाद्य विषय को वर्तमान में जीवन मे उतारने का समय है। सयमरूपी मदिर के शिखर पर समाधिमरण रूपी कलश चढाते समय कहीं फिसल न जाए। इस भावना को लेकर पूज्य माताजी ने ६-७ माह पूर्व इस ग्रन्थ को 'भगवती आराधना' की विजयोदया टीका के विषय को साथ मे रखकर प्रश्नोत्तर टीका के रूप में अपने परिणामो मे अत्यन्त जागरूकता बनाये रखने के लिए लिखना प्रारम्भ किया। लिखते समय पूज्य माताजी को अत्यन्त आह्लाद का अनुभव होता था। मै तो प्रत्यक्षदर्शी थी। उनको ऐसा अनुभव आता था कि निर्यापकाचार्य ही मेरे प्रत्यक्ष बैठकर प्रति समय मेरा मार्गदर्शन कर रहे हैं, संबोधन दे रहे हैं। महापुरुषों की कथाओं के माध्यम से अपना साहस और धैर्य बढाया, बारह तपो में सबसे महान् ध्यान तप को बढाने का अभ्यास किया। दिन में लेखन और रात्रि मे अत्यन्त शात एव एकात वातावरण में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान के माध्यम से अपनी आत्मा के निकट पहुँचने का पुरुषार्थ किया। णमो मणबलीण, णमो वयबलीण, णमो कायबलीण आदि

ऋद्धिमंत्रों के माध्यम से उन-उन ऋद्धिधारी मुनिराजों का स्मरण करके अपनी आत्मिक शक्ति को वृद्धिंगत किया।

इस प्रकार समाधि के लगभग ५ माह पूर्व इस महान् ग्रंथ की प्रश्नोत्तरी टीका पूर्ण हुई। श्रुताराधना रूप लेखनी अभी भी चलती रही। प्रतिदिन के अपने अनुभव-चिन्तन को अपने प्रति ही सबोधन के रूप में लिखते रहे। इस समय पू माताजी का भीतर से इतना उत्साह और आह्लाद दिखाई देता था कि उस आनंद मे उन्होने अपने ही मृत्यु महोत्सव के उपलक्ष्य मे कई भजन बनाये। बेला-बेला, तेला-तेला उपवास होने के कारण शारीरिक कमजोरी बढ गई। शय्या ग्रहण करने के पूर्व तक अर्थात् १ माह २२ दिन पूर्व तक अनवरत जिनवाणी की सेवा में तत्पर लेखनी चलती रही। सस्तरारोहण के समय पूज्य माताजी का मृत्यु के आह्वान का अदम्य साहस और उनके भीतर का अतीव हर्ष-उल्लास अत्यन्त सराहनीय था। इस सल्लेखना के काल मे मैं पूज्य माताजी से कई बार पूछती कि माताजी ! आपको कभी ऐसा विचार नहीं आता है कि अब मेरा बहुत कम समय शेष है। पूज्य माताजी यही कहते कि जन्म के बाद मरण होना जब अकाट्य सत्य है और जिस मृत्यु को १२ वर्ष पूर्व हमने आमत्रित करके कषाय एव काय की कृशतापूर्वक तैयारी कर ली है, अब उस मरण से भय होने का प्रश्न ही नहीं है। अब तो मेरी अतिम यही भावना है कि अत तक मेरे श्वास-श्वास मे, मेरी रग-रग में जिनेन्द्र भगवान ही बसे रहे। मेरे नेत्रो से देव-शास्त्र-गुरु के दर्शन करती रहूँ। मेरे कानों से उन जिनेन्द्र भगवान की दिव्य वाणी का श्रवण करती रहूँ। मैं वचनों से अत तक जिनेन्द्र भगवान के पवित्र नाम का उच्चारण करती रहूँ, अत तक मेरा कठ अकुठित रहे।

सयमी जीवन में ज्ञानभावना, तपोभावना आदि भावनाओं को निरन्तर भाने से जीवन के अत तक आपकी स्मृति सही बनी रही। १६ जनवरी २००२ को अतिम जलग्रहण करने के दिन आहार हेतु पैदल गये। अतिम जलग्रहण करके अत्यन्त हर्षपूर्वक चारो प्रकार के आहार-जल का त्याग कर दिया। उस दिन भी २०-२५ मिनट तक पूज्य माताजी ने सबोधित किया। अतरग हृदय से पुन पुन सबसे क्षमायाचना की। अतिम पाँच दिनों में अनवरत पच परमेष्ठी के गुणानुवाद रूप स्तोत्र स्तुति आदि बराबर सुनते रहे। २२ जनवरी सन् २००२ के प्रात काल ४ २९ की घड़ी ऐसी आई कि उस घडी को पूज्य माताजी ने 'णमोकार मत्र', 'अरिहत सिद्ध' और 'सिद्धाय नम.' मत्रो का श्रवण करते हुए अपने जीवन की मगलमय घड़ी बना दी। पर वह घड़ी हम सबके लिए बड़ी असहनीय थी। वह महान् आत्मा हम सबके बीच से स्वर्गारोहण कर गई।

अंत में, स्व-पर-कल्याणरत, दृढ सकल्पी, अनुशासनप्रिय, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, निर्भीक उपदेशक, आगम एव गुरु परम्परा की रक्षा में प्राण-पण से तत्पर परम पूज्य महान् विदुषी आर्यिकारत्न विशुद्धमती माताजी को कोटि-कोटि वदन, कोटि-कोटि नमन।

१७ सितम्बर २००३ **आर्यिका प्रशान्तमती**

खूता (श्रीनगर) तहसील-धरियावद

卐 विषयानुक्रमणिका 卐

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

卐 शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण 卐

ॐ नमः सिद्धेभ्यः! ॐ नमः सिद्धेभ्य। ॐ नमः सिद्धेभ्य.।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः॥

अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम्॥

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

श्रीपरमगुरवे नम , परम्पराचार्यगुरुभ्यो नम । सकलकलुषविध्वसक, श्रेयसा परिवर्धक, धर्मसम्बन्धक, भव्यजीवमन.प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशक, पापप्रणाशकमिद शास्त्र **'मरणकण्डिका'** नामधेय अस्य मूलग्रन्थकर्तार· श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार. श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषा वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य **आचार्य श्रीअमितगति** विरचित इद शास्त्र। श्रोतार: सावधानतया शृण्वन्तु।

मङ्गल भगवान् **वीरो**, मङ्गल **गौतमो** गणी।
मङ्गल **कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु** मङ्गलम्॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्य, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधान सर्वधर्माणां, जैन जयति शासनम्॥

श्रीमदाचार्यामितगतिप्रणीता

मरणकण्डिका

(आराधना विधि)

(पीठिका-प्रारम्भ)

इस शास्त्र मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप, इन चार आराधनाओ के स्वरूप, भेद, उपाय, साधक, सहायक एव फल का कथन किया जाएगा, अत अपने द्वारा और श्रोताओ के द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य में आगत विघ्नो को दूर करने के लिए मगलाचरण करते हैं -

मङ्गलाचरण

सिद्धान् नत्वार्हदादींश्च, चतुर्धाराधना-फलम्।
क्रमेणाऽहं ध्रुवं वक्ष्ये, स्व-स्वरूपोपलब्धये ॥१॥

अर्थ - सिद्ध परमेष्ठी, अर्हन्त परमेष्ठी तथा आदि शब्द से आचार्य, उपाध्याय एव साधु परमेष्ठियो को नमस्कार करके मैं (ग्रन्थकार) क्रमश चार आराधनाओ और उनका फल अपने स्वरूप अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए निश्चय से कहता हूँ ॥१॥

प्रश्न - ग्रन्थ की आदि मे मगलाचरण क्यों किया जाता है?

उत्तर - ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति, नास्तिकता का परिहार और शिष्टाचार प्रतिपालन हेतु मगलाचरण किया जाता है।

रत्नत्रय की सिद्धि के हेतु एव आराधना का लक्षण

द्योतनं मिश्रणं सिद्धिं, व्यूढिं निर्व्यूढिमञ्जसा।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-सिद्धिहेतुं समाहिते ॥२॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सिद्धि के पाँच हेतु हैं। यथा-द्योतन, मिश्रण, सिद्धि, व्यूढ़ि एव निर्व्यूढ़ि। इन पाँचो हेतुओ से रत्नत्रय की निरतिचार परिणति होना आराधना है ॥२॥

प्रश्न - इन द्योतन आदि के दूसरे नाम क्या है तथा इनके सामान्य लक्षण क्या है?

उत्तर - द्योतन, मिश्रण, सिद्धि, व्यूढि और निर्व्यूढ़ि के दूसरे नाम क्रमश उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन एव निस्तरण हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-

१. द्योतन अथवा उद्योतन - अतिचार दूर करने को द्योतन कहते हैं।

२. मिश्रण या उद्यवन-आत्मा का बार-बार अपने विशिष्ट गुणरूप परिणत होना मिश्रण या उद्यवन है।

३. सिद्धि या निर्वहन-उपसर्ग या वेदना आदि आ जाने पर भी निराकुलता पूर्वक वहन करना सिद्धि है।

४. व्यूढि या साधन - अन्य कार्यों में उपयोग सलग्न हो जाने पर पुन पुन उपयोग को उन्हीं गुणो मे लवलीन करना व्यूढ़ि या साधन है।

५. निर्व्यूढ़ि या निस्तरण - ग्राह्य गुणो को आगामी भव पर्यन्त या मरण पर्यन्त धारण किये रहना निर्व्यूढ़ि या निस्तरण है।

प्रश्न - ये द्योतन आदि पाँचो हेतु किनके हैं ?

उत्तर - ये द्योतन आदि पाँच हेतु सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र एव तप इनमें से प्रत्येक के होते है। अर्थात् सम्यग्दर्शन की सिद्धि के ये पाँच हेतु हैं। सम्यग्ज्ञान की सिद्धि के भी यही पाँच हेतु हैं। इसी प्रकार चारित्र और तप के भी यही पाँच हेतु हैं।

तीन श्लोकों द्वारा पाँच हेतुओं के लक्षण

द्योतनं दर्शनादीनामलं मल-विसारणम्।
आत्मनो मिश्रणं सार्धं, तैरेकीकरणं मतम् ॥३॥

सम्पूर्णीकरणं सिद्धिर्व्यूढिर्वा मतिरिष्यते।
लाभ-पूजा-यशोर्थित्वं, व्यतिरेकेण योगिनः ॥४॥

परीषहोपसर्गादि, विनिपाते निराकुलम्।
पर्यन्ते प्रापणं तेषां, निर्व्यूढिर्महिता सताम् ॥५॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन-आदि के मल अर्थात् अतिचारो का निराकरण करना **द्योतन** है, तथा आत्मा के साथ उन सम्यग्दर्शनादि का एकीकरण करना **मिश्रण** है ॥३॥ सम्यग्दर्शन आदि को पूर्ण करना सिद्धि है, तथा योगियो की लाभ, पूजा एव यश की वाछा के बिना उन्हे वहन करने की जो बुद्धि है वह **व्यूढ़ि** है ॥४॥ परीषह या उपसर्ग आदि आ जाने पर भी आयु के अवसान पर्यन्त उन्हे निराकुलता पूर्वक ले जाना, सज्जनो को मान्य ऐसी **निर्व्यूढ़ि** है ॥५॥

प्रश्न - 'दर्शनादीनाम्' पद से क्या-क्या ग्रहण किया है और उनके लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - इस पद से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ग्रहण किये गये हैं। इनके सक्षिप्त लक्षण इस प्रकार हैं-

तत्त्वार्थश्रद्धान को **सम्यग्दर्शन**, स्व एव पर के निर्णयात्मक ज्ञान को **सम्यग्ज्ञान**, पापबन्ध कराने वाली क्रियाओं का त्याग **सम्यक्चारित्र** तथा इन्द्रिय और मन के नियमन को **सम्यक्तप** कहते हैं।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन आदि और सम्यक्त्वाराधना/दर्शनाराधना आदि मे क्या अन्तर है?

उत्तर - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के लक्षण ऊपर कहे गये हैं, ये प्रत्येक जब द्योतन से निर्व्यूढ़ि अथवा उद्योतन से निस्तरण पर्यन्त का मार्ग निर्दोषतया प्राप्त करने योग्य विशुद्धि को प्राप्त कर लेते हैं तब दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तप आराधना नाम प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन आदि चारो के द्योतन आदि क्या हैं?

उत्तर - (१) ❖ शका, काक्षा आदि दोष दूर करना सम्यक्त्व का द्योतन है।

❖ सशय, विपर्यय एव अनध्यवसाय आदि दोषों को दूर करना सम्यग्ज्ञान का द्योतन है।

❖ पाँच महाव्रतो की स्थिरता के लिए पच्चीस भावनाएँ कही गई हैं, इनके प्रति होने वाले उपेक्षादि रूप दोषो को दूर करना चारित्र का द्योतन है और

❖ असयमजन्य परिणाम तप के दोष है, इन्हे दूर करना तप का द्योतन है।

(२) सम्यक्त्वगुण का आत्मा के साथ बार-बार परिणत होना अथवा सम्यक्त्व गुण के साथ आत्मा की ऐक्य परिणति होना सम्यग्दर्शन का मिश्रण या उद्यवन है। इसी प्रकार ज्ञान आदि गुणो के साथ आत्मा की ऐक्य परिणति सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप का मिश्रण या उद्यवन है।

(३) सम्यक्त्व आदि चारों गुणो की पूर्णता सम्यग्दर्शन आदि चारो की सिद्धि है। अथवा निराकुलता पूर्वक इन चारो गुणो का वहन अर्थात् धारण करना इन सम्यक्त्व आदि चारों का निर्वहण है।

(४) ख्याति या पूजा या अन्य किसी लौकिक इच्छा के बिना सम्यक्त्व आदि चारो गुणों को धारण करना क्रमश सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र एव तप की व्यूढ़ि है। अथवा नित्य-नैमित्तिक कार्यों की अधिकता के कारण सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र या तप गुण से हट कर उपयोग किसी अन्य कार्य मे लग जाए तो उसे पुन उसी मे सलग्न करना प्रत्येक का साधन है।

(५) क्षुधा-तृषादिजन्य वेदना, परीषह या उपसर्ग आदि उपस्थित हो जाने पर भी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र एव तप से विचलित न होकर सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान को आगामी भव पर्यन्त ले जाना। अथवा सम्यक्त्व आदि चारो को उसी भव मे मरणपर्यन्त धारण किये रहना या मरण पर्यन्त ले जाना प्रत्येक की निर्व्यूढ़ि या निस्तरण है।

आराधना के भेद

आराधना द्विधा प्रोक्ता, संक्षेपेण जिनागमे।
दर्शनस्यादिमा तत्र, चारित्रस्यापरा पुनः ॥६॥

अर्थ - जिनागम मे सक्षेप से आराधना दो प्रकार की कही गई है। प्रथम दर्शन आराधना और द्वितीय चारित्र आराधना ॥६॥

दर्शनाराधना के साथ ज्ञानाराधना की प्रतिपत्ति का क्रम

सम्यक्त्वाराधने साधोः, ज्ञानस्याराधना मता।
ज्ञानस्याराधने भाज्या, सम्यक्त्वाराधना पुरा ॥७॥

अर्थ - सम्यक्त्व की आराधना हो जाने पर ज्ञानाराधना नियमत. होती है किन्तु ज्ञान की आराधना होने पर सम्यक्त्व की आराधना भजनीय है अर्थात् होती भी है और नहीं भी होती। अत सर्व प्रथम सम्यक्त्वाराधना कही गई है ॥७॥

प्रश्न - सम्यक्त्व आराधना के साथ ज्ञानाराधना का अविनाभाव और ज्ञानाराधना के साथ सम्यक्त्वाराधना का भजनीयपना क्यो कहा है, यहाँ अविनाभाव क्यों नहीं कहा गया ?

उत्तर - समीचीन श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा श्रद्धान अज्ञात वस्तु मे हो नहीं सकता अत श्रद्धा का ज्ञान के साथ अविनाभाव है इसलिए तत्त्वश्रद्धान की आराधना करने पर सम्यग्ज्ञान की आराधना अवश्य होती है। इसी कारण इन दोनो का अविनाभाव कहा गया है।

ज्ञान और दर्शन मे अविनाभाव नहीं है। कारण कि मिथ्याज्ञान की आराधना करने पर सम्यग्दर्शन की आराधना कदापि नहीं होती किन्तु सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक्त्व की आराधना होती है अत· उसे भजनीय कहा गया है। 'सम्यग्ज्ञान' पद में सम्यग् विशेषण सम्यक्त्व का ही बोध कराता है अत इन दोनो का अविनाभाव सम्बन्ध स्वभावत सिद्ध है।

मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान का आराधक नहीं होता

ज्ञानं मिथ्यादृशोऽज्ञानमुक्तं शुद्धनयैर्यतः।
विपरीतं ततस्तस्य, ज्ञानस्याराधना कुतः ॥८॥

अर्थ - जिस कारण से मिथ्यादृष्टि जीव का ज्ञान शुद्धनय की दृष्टि से अज्ञान कहा गया है, तब विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान वाले उस जीव के ज्ञान की आराधना कहाँ से होगी? अर्थात् नहीं होगी ॥८॥

प्रश्न - यहाँ 'शुद्ध नय' पद का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - अनन्त धर्मात्मक वस्तु के अनन्त धर्मों का निषेध न करके अपितु उन्हें गौण करके किसी एक धर्म को कहना नय है। 'जो जिस रूप नहीं है उसे उस रूप दिखाना' यह भ्रान्त ज्ञान का कार्य है। वस्तु का स्वरूप सापेक्ष है। उसे निरपेक्ष प्रदर्शित करने वाला ज्ञान भ्रान्त या मिथ्याज्ञान है। जो 'भ्रान्त' या 'मिथ्या' दोष से रहित है वह शुद्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ निरपेक्ष अर्थात् मिथ्यानय या नयाभास का निराकरण करने के लिए नय में 'शुद्ध' विशेषण लगाया गया है।

चारित्र आराधना के साथ तप आराधना की प्रतिपत्ति का क्रम

चारित्राराधने व्यक्तं, भवत्याराधनं तपः।
तपस्याराधने भाज्या, चारित्राराधना पुनः ॥९॥

अर्थ - चारित्र की आराधना हो जाने पर तप की आराधना नियमत: होती है, किन्तु तप की आराधना होने पर चारित्र की आराधना भजनीय है अर्थात् होती भी है और नहीं भी होती॥९॥

प्रश्न - यहाँ चारित्राराधना के साथ तप आराधना का अविनाभाव और तप आराधना के साथ चारित्र आराधना को भजनीय क्यों कहा गया है?

उत्तर - कर्मग्रहण मे कारणभूत अशुभ क्रियाओं के त्याग को चारित्र कहते हैं। छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अन्तरग, बारह प्रकार के ये सम्यक् तप अशुभ क्रियाओ के निरोधक हैं क्योंकि ये सब अविरति, प्रमाद और कषाय के त्याग रूप हैं, अत· जहाँ चारित्र की आराधना है वहाँ तप आराधना अवश्य है, मात्र अनशन आदि तप अर्थात् उपवास आदि करने वालो के अशुभ क्रियाओ का निरोध होता भी है और नहीं भी होता, अत. इसे भजनीय कहा है।

अव्रती का तप गुणकारी नहीं होता

महागुणमवृत्तस्य, सद्दृष्टेरपि नो तपः।
गज-स्नानमिवास्येदं, मन्थरज्जुरिवाथवा ॥१०॥

अर्थ - अविरत सम्यग्दृष्टि का तप भी महा-उपकारी नहीं होता। उसका वह तप हाथी के स्नान सदृश या मथानी की रस्सी के सदृश होता है॥१०॥

प्रश्न - यहाँ दो दृष्टान्तों द्वारा क्या समझाया जा रहा है?

उत्तर - यहाँ यह कहा जा रहा है कि - मिथ्यादृष्टि के तप की बात तो दूर, तत्त्वो की समीचीन श्रद्धा करने वाला भी यदि असयमी है अर्थात् विषयभोगो मे प्रवृत्त रहता है तो उसका तप भी मुक्ति के लिए अधिक उपकारी नहीं है। जैसे हाथी स्नान करके अपने गीले शरीर पर अपनी ही सूड द्वारा धूल डाल कर बहुत अधिक नवीन मल का सचय कर लेता है, उसी प्रकार वह तप द्वारा जितनी निर्जरा करता है, असयम द्वारा उससे अधिक कर्मबन्ध करता रहता है। दूसरे दृष्टान्त द्वारा यह दर्शाया गया है कि बन्ध सहित निर्जरा मोक्ष के लिए कार्यकारी नहीं है। छाछ बिलोते समय अर्थात् मथानी घुमाते समय जैसे एक ओर से रस्सी छूटती जाती है किन्तु साथ ही दूसरी ओर से उसी मथानी मे लिपटती भी जाती है, वैसे ही अविरत सम्यग्दृष्टि के तप द्वारा पुराने कर्म निर्जीर्ण होते जाते हैं और असयम द्वारा नवीन कर्म बँधते जाते हैं।

संक्षेप से आराधना के अन्य प्रकार

आराधने चरित्रस्य, सर्वस्याराधनाऽथवा।
शेषस्याराधना भाज्या, चारित्राराधना पुनः ॥११॥

अर्थ - अथवा चारित्र की आराधना होने पर सर्व आराधनाएँ सम्पन्न हो जाती हैं किन्तु सम्यक्त्व एव ज्ञान तथा तप की आराधना होने पर चारित्र आराधना भजनीय है अर्थात् वह होती भी है और नहीं भी होती ॥११॥

चारित्र आराधना में दर्शन एव ज्ञान आराधना होने का कारण

कृत्याकृत्ये यतो ज्ञात्वा, करोत्यादान-मोक्षणे।
अन्तर्भावः चरित्रस्य, ज्ञान-दर्शनयोस्ततः ॥१२॥

अर्थ - यह करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है, इस प्रकार जान कर ही यह जीव ग्रहण और त्याग करता है, इसलिए चारित्र की आराधना मे ज्ञान एव दर्शन की आराधना का अन्तर्भाव हो जाता है॥१२॥

प्रश्न - जहाँ चारित्र है वहाँ ज्ञान-दर्शन हैं ही, ऐसा क्यो कहा गया है?

उत्तर - **असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ती य जाण चारित्त** - अर्थात् ससार के कारणभूत, आस्रव तथा बन्ध के हेतु रूप अशुभ परिणामो का त्याग और मन, वचन, काय से सवर-निर्जरा के हेतु रूप व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा तथा परीषहजय और तप को अगीकार करने का नाम चारित्र है। इस प्रकार के हेय एव उपादेय रूप पदार्थों का त्याग तथा ग्रहण समीचीन श्रद्धा और ज्ञान के बिना नहीं होता, इसलिए कहा गया है कि जहाँ चारित्र है वहाँ ज्ञान तथा दर्शन होते ही हैं।

चारित्र आराधना में तप आराधना का अन्तर्भाव

व्यापारस्तत्र चारित्रे, मनोवाक्कायगोचरः।
यो दूरीकृत-साध्यस्य, तत्तपो गदितं जिनैः ॥१३॥

अर्थ - माया, छल आदि को दूर कर चारित्र मे मन, वचन और काय सम्बन्धी जो प्रयत्न साध्य का होता है वही तप है, ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है। अर्थात् जो छल, कपट एव माया को छोडकर चारित्र मे प्रयत्नशील होता है, सुखिया स्वभाव छोडकर उपयोगपूर्वक चारित्र मे उद्यमशील है वही उसका तप है। इसीलिए चारित्र की आराधना मे तप का अन्तर्भाव किया गया है॥१३॥

आराधना के भेदों का उपसहार एव सर्वोत्कृष्ट सार

चारित्रं पञ्चमं सारो, ज्ञान-दर्शनयोः परः।
सारस्तस्यापि निर्वाणमनुत्तरमनश्वरम् ॥१४॥

अर्थ - पाँच प्रकार के चारित्रो मे पाँचवाँ यथाख्यात चारित्र है अत कहा गया है कि ज्ञान और दर्शन का सार पाँचवाँ यथाख्यात चारित्र है और यथाख्यात-चारित्र का सार सर्वोत्कृष्ट एव अविनश्वर निर्वाण प्राप्त होना है॥१४॥

प्रश्न - चारित्र का सार निर्वाण है, ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तर - केवलज्ञान और केवलदर्शन तेरहवें गुणस्थान मे और सर्वोत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र चौदहवे गुणस्थान के अन्त मे होता है, उसके होते ही निर्वाण हो जाता है। इसलिए ज्ञान और दर्शन का सार यथाख्यात चारित्र है तथा उस साररूप चारित्र का भी सार निर्वाण कहा गया है।

दुख के कारणों को दूर करना ज्ञान का फल है

चक्षुर्दृष्टेर्मतः सारः, सर्पादीनां विवर्जनम्।
व्यर्थी भवति सा दृष्ट्वा, विवरे पततः सतः ॥१५॥

अर्थ - चक्षु से देखने का सार सर्प आदि से दूर रहना है। देखकर भी आगे विद्यमान सर्प आदि के बिल मे गिरने वाले मनुष्य की आँख व्यर्थ है॥१५॥

प्रश्न - सम्यग्दृष्टि को चारित्र और तप की आराधना क्यो आवश्यक है?

उत्तर - जैसे नेत्र से देखते हुए भी सावधानी रूप आचरण न हो तो वह व्यक्ति गर्त में गिर जाता है, वैसे ही श्रद्धा और ज्ञानरूप नेत्र होते हुए भी चारित्र रूप सावधानी न होने से जीव ससाररूप गर्त में गिर जाता है अत वे ज्ञान और श्रद्धा भी व्यर्थ हो जाते हैं, क्योकि मात्र श्रद्धा तथा ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। इससे यह सिद्ध होता है कि सम्यक्त्व तथा ज्ञान की आराधना के साथ चारित्र और तप भी अवश्य आराधनीय है॥

अव्याबाध सुख प्राप्त करने की प्रेरणा

निर्वाणस्य सुखं सारो, निर्व्याबाधं यतोऽनघम्।
चेष्टा कृत्या ततस्तस्याँ, तदर्थं स्वहितैषिणा ॥१६॥

अर्थ - निर्वाण का सार बाधारहित और निर्दोष सुख है, अत आत्मा का हित चाहने वालो को उस अव्याबाध सुख की प्राप्ति के लिए चेष्टा अर्थात् पुरुषार्थ करना चाहिए॥१६॥

आराधना ही सबका सार है

रत्नत्रये यतो यत्नः, सा साध्याराधनागमे।
आगमस्य ततः सारः, सर्वस्यैषा निरूपिता ॥१७॥

अर्थ - रत्नत्रय मे प्रयत्नशील होना चारित्र है और आगम मे चारित्र का सार आराधना कहा है, तथा सर्व आगमो का सार भी आराधना है। अर्थात् आगम का भी और चारित्र का भी सार मात्र एक आराधना है।।१७॥

मरणसमय भी आराधनाओं की विराधना अनन्त संसार का कारण है

चतुरङ्गं प्रपाल्यापि, चिरकालमदूषणम्।
विराध्य म्रियमाणानामनन्ताऽकथि संसृतिः ॥१८॥

अर्थ - चिर काल पर्यन्त सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारो - आराधनाओ का अतिचार रहित पालन करके भी यदि कोई मुनिराज मरणकाल में उन आराधनाओ की विराधना करके मरते हैं तो उनके अनन्तकाल पर्यन्त ससार-परिभ्रमण होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥१८॥

निर्दोष और सदोष चारित्र-पालन में महान् अन्तर है

समिति-गुप्ति-संज्ञान-दर्शनादि-त्रयेशिनाम्।
प्रवर्तितापवादानां, जायते महदन्तरम् ॥१९॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और समिति, गुप्ति आदि चारित्र रूप रत्नत्रय की निर्दोष प्रवृत्ति करने वाले एव अपवाद रूप अर्थात् अतिचार युक्त प्रवृत्ति करने वाले साधुओं में महान् अन्तर है ॥१९॥

प्रश्न - इस 'महदन्तर' अर्थात् महान् अन्तर के कितने अर्थ निकल सकते हैं?

उत्तर - समिति-गुप्ति रूप सम्यक् चारित्र, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्दर्शन अर्थात् रत्नत्रय की निर्दोष तथा सदोष प्रवृत्ति करने वाले साधुओ मे जो महान् अन्तर कहा गया है उस 'महान् अन्तर' के दो अर्थ हो सकते हैं। यथा-

१ रत्नत्रय मे निर्दोष प्रवृत्ति करने वाले साधु मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ तक कि उसी भव से भी मोक्ष जा सकते हैं किन्तु सदोष प्रवृत्ति करने वालो को मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। दोनो मे यह महान् अन्तर है।

२ सल्लेखना ग्रहण कर मरण काल मे जो साधु क्षुधा-तृषादि परीषहो से घबरा कर या परीषह आदि के भय से रत्नत्रय मे बार-बार दोष लगाते हुए सक्लेश परिणाम करते हैं उनका कुछ कम-अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर हो सकता है। अर्थात् मरते समय रत्नत्रय से च्युत होकर पुन उतना काल व्यतीत होने के पश्चात् ही वे रत्नत्रय प्राप्त कर सकेगे।

आराधना के फल का अतिशय

चारित्राराधने सिद्धाश्चिर-मिथ्यात्व-भाविता: ।
क्षणाद् दृष्टा यत: सूत्रे, चारित्राराधना: तत: ॥२०॥

अर्थ - जो चिर अर्थात् अनादिकाल से मिथ्यात्व से सयुक्त थे, वे भी अल्पकाल मे सम्यग्दर्शन सहित चारित्र की आराधना के प्रभाव से सिद्ध-अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इसी कारण आगम मे चारित्र की आराधना को (सारभूत) कहा है ॥२०॥

प्रश्न - चारित्र की आराधना को सब आराधनाओ का सार क्यो कहा गया है?

उत्तर - "तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्ना" भगवती आराधना गाथा १७ की टीका के इस अश से सिद्ध होता है कि भरत चक्रवर्ती के भद्र-विवर्धन आदि ९२३ पुत्र अनादिकाल से नित्यनिगोद मे मिथ्यात्व भाव से ग्रसित थे। भगवान ऋषभदेव के पादमूल मे धर्म सुनकर बोध को प्राप्त हुए तथा चारित्र को धारण कर अल्पकाल में मोक्ष चले गये, इसी कारण आगम मे चारित्र आराधना को सब आराधनाओं मे सारभूत कहा है।

(शका रूप गाथा) जब मरणकाल में ही आराधना का अतिशय प्राप्त हो जाता है तब उसके पूर्व आराधनाओं का प्रयास क्यों ?

मृतावाराधना-सारो, यदि प्रवचने मत: ।
किमिदानीं सदा यत्नश्चतुरङ्गे विधीयते ॥२१॥

अर्थ - 'मरणकाल मे आराधना का सार प्राप्त होता है', यदि आगम में ऐसा कहा गया है तब फिर चारों प्रकार की आराधनाओं मे सदा काल प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है? ॥२१॥

(समाधान रूप गाथा) शंका के अनुरूप समाधान

परिकर्म विधातव्यं, सर्वदाराधनार्थिना।
सुसाध्याराधना तेन, भावितस्य प्रजायते ॥२२॥

अर्थ - आराधना सम्पन्न करने के इच्छुक मुनिजन को आराधना की सिद्धि के लिए आराधनाओ के सहायभूत परिकर्म अर्थात् परिकर मे सर्वकाल प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि जिसने पूर्व में भली प्रकार आराधनाएँ भावित की हैं उसके मरणकाल मे वे सहज सिद्ध हो जाती हैं॥२२॥

प्रश्न - परिकर्म किसे कहते हैं और यह क्यो करना चाहिए?

उत्तर - सहायक सामग्री परिकर्म या परिकर है। कार्यसिद्धि के अनुकूल सहायक सामग्री जितनी अधिक शक्तिशाली होती है, कार्य उतनी ही सहजता से सम्पन्न हो जाता है अत· कार्य की सहज पूर्णता के इच्छुक जीवो को सहायभूत परिकर मे सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

प्रश्न - यहाँ कौनसा कार्य सिद्ध करना है और उसके परिकर्म कौन-कौन से हैं?

उत्तर - यहाँ समाधिमरण पूर्वक शरीर छोडने रूप कार्य सिद्ध करना है। इस कार्य की सिद्धि आराधनाओ से होती है अत मुनिजन को समर्थ कारणस्वरूप सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओ मे सतत उद्यमशील रहना चाहिए, जिससे मरणसमय वेदना अथवा क्षुधा-तृषादि परीषह अथवा उपसर्गादि उपस्थित हो जाने पर भी रत्नत्रय रूप धर्म अथवा गृहीत आराधनाओं से आत्मा च्युत शिथिल या विचलित न हो।

प्रश्न - यहाँ 'सर्वदा' शब्द से कौनसा काल ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर - आत्महितेच्छु भव्य जीव आराधना की सिद्धि अर्थात् समाधि-साधने हेतु ही दीक्षा ग्रहण करते है। अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे जीवनपर्यन्त प्रयत्नशील रहते है। दीक्षा से मरणपर्यन्त का जितना काल होता है, उसका दीक्षा काल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल, आत्मसस्कार काल, सल्लेखनाकाल और उत्तमार्थकाल के भेद से विभाजन किया गया है। सर्वदा पद से ये छहो काल अर्थात् दीक्षा काल से जीवनपर्यन्त इन आराधनाओ की विशुद्धि हेतु उद्यमशील रहना चाहिए।

साध्य की सिद्धि के लिए साधन रूप दृष्टान्त

राजन्यः सर्वदा योग्यां, विदधानः परिक्रियाम्।
शक्तो जित-श्रमीभूत:, समरे जायते यथा ॥२३॥

अर्थ - जैसे राजपुत्र योग्य शस्त्र-सचालन रूप युद्ध का अभ्यास सर्वदा करता रहता है, तभी वह रणागण में जाकर विजय प्राप्त करने मे समर्थ होता है॥२३॥

दृष्टान्त की योजना रूप दार्ष्टान्त

श्रामण्यं सर्वदा कुर्वन्, परिकर्म प्रजायते।
अभ्यस्त-करणः साधुर्ध्यान-शक्तो मृतौ तथा ॥२४॥

अर्थ - वैसे ही श्रामण्यरूप गुप्ति, ध्यान एव योग आदि परिकर्म का सतत अभ्यास करने वाला साधु मरणकाल की पीडा मे भी ध्यानादि करने मे समर्थ रहता है।।२४।।

प्रश्न - यहाँ श्रामण्य का क्या अर्थ है?

उत्तर - श्रामण्य का अर्थ समता है। अर्थात् जीवन-मरण मे, लाभालाभ मे, सुख-दुख में एव बन्धु और वैरी मे समान भाव रखना समता है किन्तु ऐसी समता गुप्ति, ध्यान एव योग आदि परिकर की साधना के बिना प्राप्त नहीं होती।

दृष्टान्त-दार्ष्टान्त द्वारा अभ्यास का फल

कृत-योग्य-क्रियो युद्धे, जगतीपति-देहजः।
आदत्ते विद्विषो जित्वा, बलाद्राज्य-ध्वजं यथा।।२५।।

साधुर्भावित चारित्रो, गृह्णीते संस्तराहवे।
आराधना-ध्वजं जित्वा, मिथ्यात्वादि-द्विषस्तथा।।२६।।

अर्थ - जैसे राजा का पुत्र पहले शस्त्र-सचालन आदि की योग्य क्रिया का अभ्यास करता है, पश्चात् युद्धभूमि मे जाकर तथा शत्रुओ को जीतकर बलात् उनकी राज्यध्वजा हस्तगत कर लेता है।।२५।।

वैसे ही जिसने जीवन मे उत्तम रीति से चारित्र की आराधना की है वह साधु सस्तरारोहण करके मिथ्यात्व आदि शत्रुओ को जीत कर आराधनारूपी ध्वजा को हस्तगत कर लेता है।।२६।।

बिना अभ्यास आराधना की सिद्धि हो जाने पर भी वह प्रमाणयोग्य नही है

यद्यभावित-योगोऽपि, कोप्याराधयते मृतिम्।
तत्प्रमाणं न सर्वत्र, स्थाणु-मूल-निधानवत्।।२७।।

अर्थ - ध्यान आदि परिकर का सतत अभ्यास न करने वाला भी यदि कोई मरण समय मे आराधना की सिद्धि कर ले तो वह 'स्थाणुमूलनिधानवत्' है। वह सर्वत्र प्रमाण नहीं है।।२७।।

प्रश्न - 'स्थाणुमूलनिधानवत्' इस पद का अर्थ क्या है और यह दृष्टान्त किस प्रयोजन से दिया है ?

उत्तर - इस पद का अर्थ है - ठूँठ की जड़ मे रखा हुआ धन। यह दृष्टान्त और इसका प्रयोजन इस प्रकार है-मार्ग मे गमन करने वाले किसी सूरदास का मस्तक ठूँठ से टकरा गया, उसे पीडा तो अवश्य हुई किन्तु मस्तक का विकारी रक्त निकल जाने के कारण नेत्रो में ज्योति आ गई और वह जीर्ण ठूँठ उखड जाने से उसके मूल अर्थात् जड़ मे रखा हुआ धन का घडा प्राप्त हो गया। ऐसा कार्य क्वचित् कदाचित् ही सम्भव है। सर्वत्र इसकी सम्भावना नहीं है। उसी प्रकार यदि किसी पुण्य पुरुष को ध्यानादि परिकर की सतत साधना के बिना ही आराधना की सिद्धि हो जाती है तो भी वह सब साधको के लिए सम्भव नहीं है, अत सभी को प्रमाद छोड कर आत्मसिद्धि के अनुकूल सतत साधना करनी चाहिए।

।। इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई।।

(१)

बाल-मरणाधिकार

मरण के भेद

विस्तरेणागमोक्तेषु, मध्ये सप्तदशस्वहम्।
मरणान्यत्र पञ्चैव, कथयामि समासतः ॥२८॥

अर्थ - आगम मे विस्तार से सत्तरह प्रकार के मरण कहे गये हैं। मैं (ग्रन्थकार) उनमें से केवल पाँच प्रकार के मरणों को ही यहाँ सक्षेप से कहता हूँ॥२८॥

प्रश्न - मरण किसे कहते है ? अथवा मरण क्या है ?

उत्तर - तत् पर्याय के विनाश का नाम मरण है किन्तु विनाश स्थिति के बिना नहीं होता, इसलिए मरण भी जीवनपूर्वक होता है, और जीवन जन्म-पूर्वक होता है, क्योकि जो उत्पन्न नहीं हुआ उसकी स्थिति नहीं होती। इसलिए आगम मे प्राणग्रहण को जन्म और प्राणत्याग को मरण कहा है।

प्रश्न - सत्तरह प्रकार के मरण कौन-कौन से हैं और उनके लक्षण क्या हैं?

उत्तर - **भगवती आराधना** ग्रन्थ मे उन मरणो के नाम और लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं। **यथा** -

१ **आवीचिमरण** - वीचिनाम तरग का है। यहाँ आयु कर्म के उदय को वीचि कहा है क्योकि आयु का उदय प्रति समय होता है अत प्रति समय आयु का एक-एक निषेक उदय मे आकर खिरना या समाप्त होना आवीचिमरण कहलाता है।

२ **तद्भवमरण** - भवान्तर की प्राप्तिपूर्वक वर्तमान भव का विनाश तद्भवमरण है।

३ **अवधिमरण** - वर्तमान मे जितनी और जैसी आयु भोग रहे हैं तथा वर्तमान पर्याय मे जैसा मरण प्राप्त हुआ है, आगामी भव मे उतनी, वैसी आयु एव उसी प्रकार से मरण को प्राप्त होना अवधिमरण है।

४ **आदि-अन्तमरण** - वर्तमान मरण से भावि मरण असमान होना।

५ **बालमरण** - चारित्रहीन समीचीन तत्त्वश्रद्धानी का मरण बालमरण है।

६. **पण्डितमरण** - चारित्रवान सम्यग्दृष्टि का मरण पण्डितमरण है।

७. **अवसन्न-मरण** - ऋद्धियो के प्रेमी, रस युक्त आहार में आसक्त, कषायो में सलग्न, आहारादि सज्ञाओं के आधीन, पापवर्धक शास्त्रो के अभ्यासी, तेरह प्रकार की क्रियाओ में आलसी, भोजन और उपकरणों से प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मत्र एव औषधि से आजीविका करने वाले, गुप्तियों और समितियों में उदासीन, सवेगभाव मे मन्द, गृहस्थो को रजायमान करने के मन वाले तथा उनकी वैयावृत्य करने वाले, गुणों से हीन, सदोष चारित्र वाले तथा जिन्हें सयमियो के सघ से निकाल दिया गया है ऐसे पार्श्वस्थ आदि साधुओ को अवसन्न कहते हैं और इनके मरण को अवसन्न मरण कहते हैं।

८. बालपण्डित मरण - स्थूल हिंसादि विरतिरूप देशचारित्र और सम्यक्त्व युक्त जीवों का जो मरण होता है वह बालपण्डित मरण है।

९ सशल्य मरण - मोक्षमार्ग मे दोष लगाना, रत्नत्रय मार्ग का नाश करना, मिथ्यामार्ग का कथन करना या मोक्षमार्ग का कथन न करना, मोक्षमार्गी सघ मे भेद डालना ये सब **मिथ्यादर्शनशल्य हैं**। चिरकाल तक पार्श्वस्थ आदि साधु के रूप मे विचरण करके भी गुरु से आलोचना नहीं करना **माया शल्य है** तथा 'आगामी काल मे यही होना चाहिए' इस प्रकार के मानसिक उपयोग को **निदान** कहते हैं। इस प्रकार मिथ्या, माया और निदान शल्यो से युक्त मरण सशल्य मरण है।

१०. बलाका मरण - जो विनय एव वैयावृत्त्य आदि में आदरभाव नहीं रखता, प्रशस्त योग के धारण मे आलसी है, प्रमादी है, समिति गुप्ति आदि मे अपनी शक्ति छिपाता है, धर्मचिन्तन आदि के समय निद्रा के वशीभूत जैसा रहता है तथा उपयोग न लगने से जो ध्यानादि से दूर भागता है, उनका मरण बलाका मरण है। अथवा जो नि.शल्य एव विरक्त होकर चिरकाल तक रत्नत्रय का पालन करता है किन्तु जीवन के अवसान मे सस्तर पर आरूढ होकर जो शुभोपयोग से दूर भागता है, उसका मरण बलाका या बलाय मरण है।

११ वोसट्टमरण - इन्द्रिय आदि के आधीन होकर मरण होना।

१२. विप्पासणमरण - दुर्भिक्ष मे, भयकर जगल मे, शत्रु का या राजा का या चोर आदि का भय होने पर, एकाकी सहन करने मे अशक्य ऐसे तिर्यंचकृत उपसर्ग होने या ब्रह्मचर्यव्रत का विनाश आदि रूप दूषित चारित्र होने पर ससार से विरक्त और पापो से भयभीत साधु सयम दूषित हो जाने के भय से कोई निदान नहीं करता हुआ अरहन्त के समीप आलोचना कर एव प्रायश्चित्त लेकर शुभलेश्यापूर्वक श्वास निरोध कर जो मरण करता है वह विप्पासण मरण है।

१३ गिद्धपुट्ठ मरण - उपर्युक्त कारणो से और उपर्युक्त ही आत्मविशुद्धि से युक्त जो मुनि शस्त्र द्वारा प्राणत्याग करते है, वह गृद्धपृष्ठ मरण है। इन दोनो मरणो का निषेध भी नहीं है और आज्ञा भी नहीं है।

१४ भक्तप्रत्याख्यान मरण - काय एव कषाय को कृश करते हुए विधिपूर्वक सन्यास धारण कर मरण करना या होना।

१५ इगिनीमरण - इसमे मुनिजन अपनी सेवा दूसरों से नहीं कराते। अपना कार्य स्वय करते हुए आहार-जल-त्याग पूर्वक मरण होना इगिनीमरण है।

१६ प्रायोपगमन मरण - स्व-पर सेवा से रहित आहार-जल त्याग कर वन आदि एकान्त स्थान मे अकेले रह कर काष्ठ सदृश शरीर का त्याग कर उत्तम ध्यान मे लीन रहते हुए प्राण विसर्जन या मरण करना प्रायोपगमन मरण है।

१७ केवली मरण या पण्डित-पण्डित मरण - चौदहवे गुणस्थान में केवली जिन का निर्वाण या मोक्ष होना केवली मरण या पण्डित पण्डित मरण है।

पाँच मरणों का नाम निर्देश

पण्डितं पण्डितादिस्थं, पण्डितं बालपण्डितम्।
चतुर्थं मरणं बालं, बालबालं च पञ्चमम्॥२९॥

अर्थ - (१) पण्डित-पण्डित मरण, (२) पण्डितमरण, (३) बाल-पण्डितमरण, (४) बाल मरण और (५) बाल-बालमरण, इस प्रकार मरण के पाँच भेदों के ये नाम हैं॥२९॥

इनमें तीन मरण प्रशस्त हैं

निःश्रेयस-सुखादीनां, आसन्नीकरण-क्षमम्।
आदिमं जायते तत्र, प्रशस्तं मरण-त्रयम्॥३०॥

अर्थ - पाँच प्रकार के मरणो मे से आदि के तीन मरण प्रशस्त हैं क्योंकि ये नि श्रेयस् एव अभ्युदय सुखो को सन्निकट करने मे सक्षम हैं॥३०॥

पण्डित-पण्डित और बालपण्डित मरण के स्वामी

विज्ञातव्यमयोगानां, तत्र पण्डित-पण्डितम्।
देशसंयत-जीवानां, मरणं बालपण्डितम्॥३१॥

अर्थ - चौदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन का मरण पण्डित-पण्डित मरण होता है और देशसयतजीवों के बालपण्डित मरण होता है॥३१॥

प्रश्न - पण्डित-पण्डित मरण के बाद पण्डितमरण आता है उसे छोडकर बालपण्डित मरण के स्वामी क्यो कहे गये हैं ?

उत्तर - पण्डितमरण के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहना है अत उसे छोड़ कर अल्प कथन होने के कारण बालपण्डितमरण को ग्रहण किया गया है।

पण्डितमरण के भेद

पादोपगमनं भक्तप्रतिज्ञामिङ्गिणी-मृतिम्।
वदन्ति पण्डितं त्रेधा, योगिनो युक्तिचारिणः॥३२॥

अर्थ - निर्दोष चारित्र पालन करने वाले साधुजनो का पण्डितमरण होता है, उसके तीन भेद हैं, (१) प्रायोपगमन मरण, (२) इगिनी मरण तथा (३) भक्तप्रतिज्ञा मरण॥३२॥

प्रश्न - पण्डितमरण कहाँ-कहाँ होता है और ये जीव कहाँ उत्पन्न होते हैं?

उत्तर - छठे, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों का पण्डितमरण ही होता है तथा इन गुणस्थानो मे से किसी भी गुणस्थान मे मरण करने वाले मुनिराज नियमतः वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होते हैं।

शेष दो मरणों के स्वामी

भजते मरणं बालं, सम्यग्दृष्टिरसंयतः ।
मिथ्यात्वाकुलित-स्वान्तो, बालबालमपास्तधीः ॥३३॥

अर्थ - बालमरण असयत सम्यग्दृष्टि जीवो के होता है और मिथ्यात्वकर्म के उदय से आकुलित चित्त वाले कुबुद्धि जीवो का बाल-बालमरण होता है ॥३३॥

प्रश्न - बाल-बाल, बाल और पण्डित आदि किसे कहते हैं?

उत्तर - व्यवहार मे हेयोपादेय के ज्ञान से शून्य, अज्ञानी अथवा मूर्ख बालक या शिशु को **बाल** तथा बुद्धिमान को **पण्डित** कहते है। उसी प्रकार जो समीचीन श्रद्धा एव चारित्र से हीन हैं वे **बाल-बाल** कहलाते हैं। इसी प्रकार जिनमे श्रद्धा तो पूर्ण है किन्तु चारित्र नहीं हैं वे **बाल**, श्रद्धा के साथ एकदेश चारित्र है वे **बालपण्डित** (यद्यपि वे श्रद्धावान हैं किन्तु चारित्र एकदेश है), जो श्रद्धा एव चारित्र से सम्पन्न हैं वे **पण्डित** हैं। इन्हीं गुणो के कारण उनके मरण को भी उसी नाम से कहा गया है।

प्रश्न - किस गुणस्थान मे कौनसा मरण होता है?

उत्तर - **प्रथम** गुणस्थान में बाल-बाल मरण होता है।

द्वितीय गुणस्थान मे यद्यपि मिथ्यात्व नहीं है किन्तु अनन्तानुबन्धी कषायजन्य अध्यवसाय जीवित है अत वहाँ भी बाल-बाल मरण है।

तृतीय गुणस्थान मे मरण नहीं होता।

चतुर्थ गुणस्थान मे बाल मरण है।

पंचम गुणस्थान मे बाल-पण्डित मरण है।

छठे से ग्यारहवे गुणस्थानो मे से प्रत्येक में पण्डित मरण होता है।

बारहवे और **तेरहवे** गुणस्थानो मे मरण नहीं है।

चौदहवे गुणस्थान से मुक्ति प्राप्त होती है अत. वहाँ पण्डित-पण्डितमरण कहा गया है।

प्रश्न - किस मरण से मरने वाले जीव कहाँ-कहाँ जाते हैं?

उत्तर - बाल-बाल मरण करने वाले प्रथम गुणस्थानवर्ती चारो गतियों मे जाकर जन्म ले सकते हैं।

बाल-बाल सासादन गुणस्थानवर्ती जीव नरकगति के अतिरिक्त शेष तीनों गतियो मे जा सकते हैं।

पूर्व मे नरकायु, तिर्यंचायु या मनुष्यायु को बाँध लेने वाले बद्धायुष्क चतुर्थ गुणस्थानवर्ती मनुष्य नरकगति में प्रथम नरक पर्यन्त, मनुष्यगति एव तिर्यंचगति में भोगभूमि के मनुष्य-तिर्यंच होते हैं। बाल मरण करने वाले अबद्धायुष्क मनुष्य और तिर्यंच देवगति में वैमानिक देव ही होते हैं, तथा देव और नारकी कर्मभूमिज मनुष्य ही होते हैं।

बालपण्डित मरण करने वाले पचमगुणस्थानवर्ती मनुष्य एव तिर्यंच तथा छठे गुणस्थान से ग्यारहवे गुणस्थान पर्यन्त के पण्डितमरण करने वाले मनुष्य वैमानिक देव होते हैं और पण्डितपण्डित मरण करने वाले शाश्वत सुख प्रदाता निर्वाण को प्राप्त करते है।

प्रश्न - "चतुर्धाराधनाफलं क्रमेणाऽह वक्ष्ये" पद द्वारा आचार्यदेव ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं क्रम से चारों आराधनाएँ और उनका फल कहूँगा किन्तु उसे न कह कर बाल एव पण्डित मरण के माध्यम से उनके स्वामियों का कथन क्यों किया गया है?

उत्तर - आराधक के बिना आराधना और उसके फल की प्राप्ति असम्भव है और आराधक को आराधनाओ का फल मरण के बिना प्राप्त नहीं होता अत· आराधनाओ के पूर्व मरण के माध्यम से उनके स्वामियो का कथन करना आवश्यक है। पूर्ण आराधना का क्या फल है और आराधना की विराधना का क्या फल है, यह ज्ञात हो जाने पर "आराधक अधिक सावधानी पूर्वक आराधनाओ की आराधना करेगा" इस उद्देश्य से भी बाल आदि मरणों का विवेचन आवश्यक है।

सम्यक्त्व आराधना के भेद

शामिकीं क्षायिकीं दृष्टिं, वैदकीमपि च त्रिधा।
समाराधयत: पूर्वा, सम्यक्त्वाराधनेष्यते ।।३४।।

अर्थ - पूर्व मे आराधित होने से सर्वप्रथम सम्यक्त्व आराधना कही जाती है। उपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व के भेद से वह आराधना तीन प्रकार की है।।३४।।

प्रश्न - उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व के क्या लक्षण हैं और जीव को सर्वप्रथम कौनसा सम्यक्त्व होता है?

उत्तर - अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को काललब्धि आदि की सहयोगिता से सर्व प्रथम **उपशम सम्यक्त्व** ही होता है। इसका जघन्योत्कृष्ट काल मात्र एक अन्तर्मुहूर्त ही है। इसके बाद जीव मिथ्यात्व मे भी जा सकता है और क्षयोपशम सम्यक्त्व भी कर सकता है। यह सम्यक्त्व अत्यन्त निर्मल होता है।

जैसे कतक फल के सयोग से जल का कर्दम नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है वैसे ही परिणाम विशेष से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन पॉच प्रकृतियों के अथवा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम से आत्मा में जो विशुद्धि होती है उसे **उपशम सम्यक्त्व** कहते हैं। इस सम्यक्त्व के होते ही जीव के सत्यार्थ देव मे अनन्य भक्ति, विषयो से विराग, तत्त्वो का श्रद्धान और विविध मिथ्यादृष्टियों के मतो मे असम्मोह प्रगट हो जाता है।

प्रश्न - क्षयोपशम सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर - चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावीक्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से तथा देशघाती स्पर्धक वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है उसे **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** कहते हैं।

प्रश्न - उदयाभावीक्षय और सदवस्थारूप उपशम किसे कहते हैं और मिथ्यात्वादि छहो प्रकृतियो का उदयाभावी क्षय कैसे होता है?

उत्तर - **उदयाभावी क्षय** - विवक्षित कर्म प्रकृति का उदय आने के एक समय पहले ही स्तिबुक सक्रमण द्वारा सजातीय अन्य कर्म प्रकृतिरूप होकर उदय मे आना और निर्जीर्ण होना '**उदयाभावीक्षय**' है।

अनन्तानुबन्धी कषाय के उदयकाल प्राप्त कर्म निषेको का प्रतिसमय एक-एक निषेक अप्रत्याख्यान आदि बारह कषायरूप सक्रमित होकर परमुख से उदय मे आकर निर्जीर्ण होते रहना अनन्तानुबन्धी चारों कषायो का '**उदयाभावी क्षय**' है।

इसी प्रकार मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियो का भी उसी प्रक्रिया से सम्यक्त्व प्रकृतिरूप उदय में आकर निर्जीर्ण होना, उनका अपना-अपना **उदयाभावी क्षय** है।

सदवस्थारूप उपशम - जो कर्म निषेक अभी वर्तमान मे उदयप्राप्त नहीं हैं उनको सत्ता मे ही अवस्थित रखना, असमय मे उदय मे नहीं आने देना अर्थात् उन्हे दबा कर रखना-सदवस्थारूप उपशम है। जैसे अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियों का जो द्रव्य उदय प्राप्त था उसे तो पर मे सक्रमित कर निर्जीर्ण कर दिया था। अब जो सर्वशेष द्रव्य है उसे बीच मे उदयरूप नहीं होने देना ; यही उनका सदवस्था रूप उपशम है।

क्षायिक सम्यक्त्व - दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी चार इन सात प्रकृतियो के सर्वथा क्षय हो जाने से जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व निर्मल है, नित्य है एव सर्व कर्मों के क्षय का कारण है। यह श्रद्धा भ्रष्ट करने वाले वचनो से, तर्क-कुतर्कों से, भयोत्पादक भयकर रूपो से, बीभत्स और जुगुप्सित पदार्थों से यहाँ तक कि त्रैलोक्य के द्वारा भी चलायमान नहीं होता। अर्थात् यह सम्यक्त्व मेरु सदृश निष्कम्प है।

सम्यग्दृष्टि शब्द से जो वाच्य है वह जीव इस प्रकार होता है

मन्यते दर्शितं तत्त्वं, जन्तुना शुभ-दृष्टिना।
पूर्वं ततोऽन्यथापीदमजानानेन रोच्यते।।३५।।

अर्थ - दर्शन आराधना का आराधक जीव उपदिष्ट जिनागम मे तो श्रद्धान करता ही है तथा अजानकार गुरु द्वारा अन्यथा प्रतिपादित तत्त्व पर भी 'गुरु-उपदिष्ट' मानकर श्रद्धा करता है।।३५।।

प्रश्न - आगम से विपरीत तत्त्व पर श्रद्धा करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

उत्तर - 'गुरु द्वारा प्रतिपादित यह तत्त्व आगम के विरुद्ध है' ऐसा नहीं जानते हुए जो असत्य अर्थ का श्रद्धान करता है किन्तु 'सर्वज्ञ प्रणीत आगम का अर्थ आचार्य परम्परा से जो ठीक-ठीक सुनकर अवधारित किया है वही अर्थ आचार्यदेव ने मुझे समझाया है' इस प्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा मे रुचि होने से वह सम्यग्दृष्टि है।

ऐसी विपरीत श्रद्धा करने वाला सदा सम्यग्दृष्टि नहीं रहता

दर्श्यमानं यदा सम्यक्, श्रद्दधाति न सूत्रतः।
तमर्थं स तदा जीवो, मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते।।३६।।

अर्थ - (अन्य आचार्य के द्वारा) सूत्र से समीचीन अर्थ दिखाये जाने पर भी जब वह श्रद्धा नहीं करता तब वह (सम्यग्दृष्टि जीव) उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है॥३६॥

प्रश्न - सूत्र द्वारा दर्शित अर्थ पर श्रद्धा न करने से वह उसी क्षण मिथ्यादृष्टि क्यों हो जाता है जबकि तत्त्व का अर्थ तो वही है जो पूर्व में था?

उत्तर - तत्त्व का जो विपरीत अर्थ पूर्व में था वही वर्तमान मे है किन्तु पूर्व में 'यह तत्त्व सर्वज्ञ प्रतिपादित है' इस श्रद्धा के बल पर वह आज्ञा सम्यग्दृष्टि था। अब दर्शित सूत्रार्थ अवधारण न करने से सर्वज्ञ की आज्ञा की अवहेलना कर गुरु मात्र का पक्षधर हो गया अत. तत्काल मिथ्यादृष्टि हो गया।

जो गणधरादि द्वारा रचित है, वही सूत्र है

ज्ञेयं प्रत्येक-बुद्धेन, गणेशेन निवेदितम्।
श्रुतकेवलिना सूत्रमभिन्न-दशपूर्विणा॥३७॥

अर्थ - जो गणधर द्वारा, प्रत्येकबुद्ध मुनिराज द्वारा, श्रुतकेवली द्वारा और अभिन्नदशपूर्वियो द्वारा कहा हुआ है उसे ही 'सूत्र' जानना चाहिए॥३७॥

प्रश्न - गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी किसे कहते हैं?

उत्तर - जो बारह गणो को धारण करते हैं, जिनेन्द्रोपदिष्ट अर्थ को ग्रन्थ रूप मे गूँथते हैं और सात ऋद्धियो से सम्पन्न होते हैं वे **गणधर** होते हैं। जो श्रुतज्ञानावरण कर्म प्रकृति के क्षयोपशम विशेष से परोपदेश के बिना ही ज्ञानातिशय को प्राप्त होते हुए वैराग्य सम्पन्न भी होते हैं उन्हे **प्रत्येकबुद्ध** कहते हैं, जो समस्त श्रुत के धारी होते हैं वे **श्रुतकेवली** है और जो पूर्वज्ञान प्राप्त करने में सलग्न रहते हैं, विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व का अध्ययन करते समय विद्याओ की अधिष्ठात्री देवियो के उपस्थित होने, अपनी शक्ति प्रदर्शित करने और 'हमे आप कार्य बताइये' ऐसा कहने पर भी उनके प्रलोभन मे न फँस कर अचलचित्त रहते हैं तथा जिनका ज्ञान-वैराग्य कभी खण्डित नहीं होता, उन्हे **अभिन्नदशपूर्वी** कहते हैं। इनमे से किसी भी एक के द्वारा रचा गया जो आगम है, उसे सूत्र कहते है।

निर्दोष चारित्रधारी मुनिश्रेष्ठों के वचन प्रमाण हैं

प्राप्तार्थश्चारुचारित्रः, शंक्यते न महामनाः।
शंक्यते मन्द-धर्माऽसौ, कुर्वाणस्तत्त्व-देशनाम्॥३८॥

अर्थ - जिन्होने आगम का अर्थ भली प्रकार ग्रहण किया है तथा जो दृढ एव निर्दोष चारित्र युक्त हैं उनके वचनो मे भव्य जीवों को शका नहीं करनी चाहिए (क्योंकि उनके वचन प्रामाणिक होते हैं), किन्तु जो मन्दचारित्री धर्मदेशना करते हैं उनके वचनो की प्रामाणिकता भजनीय है। अर्थात् वे वचन आगमप्रमाण हैं तो प्रामाणिक हैं और यदि आगमविरुद्ध हैं तो वे प्रामाणिक नहीं हैं॥३८॥

प्रश्न - साधुजनो में किसके वचन प्रामाणिक हैं ?

उत्तर - गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी मुनिराजों द्वारा कथित वचन तो प्रामाणिक

हैं ही; शेष जो ससार से भयभीत हैं, 'सर्वज्ञ की वाणी के विपरीत उपदेश देने से या शास्त्र लिखने से मुझे अनन्त ससार मे परिभ्रमण करना पडेगा' इस विवेक से युक्त हैं, ससार-शरीर और भोगो से पूर्णतया विरक्त हैं, लौकिक प्रयोजन से निरपेक्ष हैं, यश, पूजा, ख्याति की चाह से रहित हैं, पिण्डशुद्धि पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं, निज स्वार्थ के वशीभूत नहीं हैं, लोक को रजायमान करने के इच्छुक नहीं हैं, ज्ञान, ध्यान और तप मे अनुरक्त रह कर आत्महित के उद्यम मे प्रयत्नशील हैं, आरम्भ, परिग्रह और विषयों की आशा से दूर हैं तथा जिन्होने गुरुमुख से आगमज्ञान प्राप्त किया हैं उनके वचन भी प्रामाणिक हैं किन्तु जो उपर्युक्त गुणों में मन्द तथा निर्दोष आचरण में शिथिल हैं उनके वचन यदि आगमानुकूल हैं तो शका करने योग्य नहीं हैं, यदि वे वचन आगम के प्रतिकूल हैं तो अमान्य हैं।

आज्ञाश्रद्धानी भी सम्यक्त्व का आराधक है

धर्माधर्म-नभः काल, पुद्गलाञ्जिन-देशितान्।
आज्ञया श्रद्धानोऽपि, दर्शनाराधको मतः ॥३९॥

अर्थ - जिनोपदिष्ट धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य और पुद्गल द्रव्य को आज्ञा मात्र से श्रद्धान करने वाला भी सम्यक्त्व का आराधक होता है॥३९॥

प्रश्न - जिसे छह द्रव्यो का ज्ञान नहीं है वह श्रद्धा मात्र से सम्यक्त्व का आराधक कैसे हो सकता है?

उत्तर - श्रुतज्ञानावरण कर्म प्रकृति का मन्द क्षयोपशम होने से जो प्रमाण-नय, निक्षेप एव सत् सख्या आदि के द्वारा ऊहापोह करके छह द्रव्यों का स्वरूप स्वय नहीं जान पाते, धारणा शक्ति कमजोर होने से गुरु द्वारा पढाया हुआ स्मृति मे नहीं रख सकते, तर्कणा करके भी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते वे इन द्रव्यो का आप्त की आज्ञा मात्र से श्रद्धान कर लेते हैं तो भी सम्यक्त्वाराधना के आराधक हैं। अर्थात् इन तत्त्वों और द्रव्यो का स्वरूप या इनका अस्तित्व जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ है और जिनेन्द्र कभी अन्यथावादी होते नहीं हैं, ऐसे विश्वासपूर्वक जो आज्ञामात्र से तत्त्व मे रुचि रखते हैं, वे भी सम्यक्त्वी हैं अत दर्शनाराधना के आराधक हैं।

जीव द्रव्य का श्रद्धान भी नियम से करना चाहिए

सिद्धाः संसारिणो जीवाः, प्रयाताः सिद्धिमेकधा।
आज्ञया जिननाथाना, श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिना ॥४०॥

अर्थ - सिद्धि को प्राप्त सिद्ध जीव एक प्रकार के और ससार अवस्था को प्राप्त ससारी जीव छह प्रकार के हैं। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के बल से इन जीवों पर श्रद्धा रखने वाला भी सम्यक्त्व का आराधक है॥४०॥

प्रश्न - ससारी और सिद्ध जीव किसे कहते हैं और वे कितने प्रकार के हैं?

उत्तर - चतुर्गति-परिभ्रमण का नाम **संसार** है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से यह ससार पाँच प्रकार का है। ऐसे ससार को जो प्राप्त करता है वह **संसारी जीव** है। ससारी जीव अच्छे-बुरे शरीर को ग्रहण करने एव छोड़ने मे लगे रहते हैं। अपने मन, वचन, काय रूप योग द्वारा बाँधे गये पुण्य-पाप के उदय से होने वाले सुख-दुख को भोगने में लीन रहते हैं। त्रस और स्थावर नामकर्म के वशवर्ती हो उन्हीं में जनमते-मरते

रहते हैं। मतिज्ञानावरण कर्म प्रकृति के अनेक प्रकार के उदय एवं क्षयोपशम विशेष से एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय एव पचेन्द्रियों में ही बार-बार उत्पन्न होते हैं। पर्याप्ति-अपर्याप्ति नामकर्म के उदय से कभी पर्याप्त, कभी अपर्याप्त होते रहते हैं। आयुकर्म की मजबूत सांकल के कठोर बन्धन से निरन्तर कहीं-न-कहीं बँधे ही रहते हैं। नौ प्रकार की योनियों के आश्रयभूत शरीरों मे उनकी अति-आसक्ति रहती है। मृत्युरूपीक्रूर वज्रपात से, जिसे टालना अशक्य है, उनके चित्त सदा भयभीत रहते हैं। ऐसे ये ससारी जीव पृथ्वीकाय आदि के भेद से छह प्रकार के होते हैं।

जो अजनसिद्धि तथा पादुका आदि सिद्धियो को छोड़ कर, जो एक ही प्रकार की है ऐसी आत्मसिद्धि को प्राप्त है तथा अष्ट कर्मो से रहित हैं, ऐसे परमात्मा सिद्ध जीव हैं।

श्लोक ३९ में अजीव स्वरूप पाँच द्रव्यो की श्रद्धा करने वाले को एवं श्लोक ४० में जीव द्रव्य की श्रद्धा करने वाले को अर्थात् जीव और अजीव इन दो तत्त्वों की श्रद्धा करने वाले को दर्शनाराधक कहा गया है, अब आस्रव आदि पाँच तत्त्वों की तथा पुण्य और पाप की श्रद्धा करने वाले को दर्शनाराधक कहा जा रहा है -

आस्रवं संवरं बन्धं, निर्जरां मोक्षमञ्जसा।
पुण्यं पापं च सद्दृष्टिः, श्रद्दधाति जिनाज्ञया।।४१।।

अर्थ - आस्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन सबकी जिनेन्द्राज्ञानुसार भली प्रकार श्रद्धा करने वाला भी सम्यक्त्व का आराधक होता है।।४१।।

प्रश्न - दर्शन-आराधक को किस-किस की श्रद्धा करने के लिए प्रेरित किया गया है?

उत्तर - दर्शनाराधक को जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो की, पुण्य एव पाप सहित नौ पदार्थों की, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यो की और इनमे से काल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच अस्तिकाय द्रव्यो की जिनेन्द्राज्ञानुसार श्रद्धा करनी चाहिए।

प्रश्न - इन सबके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - उपयोग गुण वाला **जीव** तत्त्व है। जड स्वभाव वाला **अजीव** तत्त्व है। मन वचन काय रूप योग द्वारा कर्मो का आत्मा मे प्रविष्ट होना **आस्रव** है। कर्म परमाणुओ का आत्मप्रदेशों के साथ सश्लेष सम्बन्ध होना **बन्ध** है। आते हुए कर्मों का रुक जाना **संवर** है। सचित कर्मों का तप द्वारा अश-अश रूप से निर्जीर्ण होना **निर्जरा** है और सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना **मोक्ष** है। ये सात तत्त्व है। इष्ट को प्राप्त कराने वाला **पुण्य** है और अनिष्ट का सम्पादन करने वाला **पाप** है। अथवा प्रशस्त कर्म को पुण्य और अप्रशस्त कर्म को पाप कहते हैं, सात तत्त्व और पुण्य एव पाप ये नौ पदार्थ हैं।

जिसमे जानने-देखने की शक्ति है वह **जीव** द्रव्य है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण वाला **पुद्गल** द्रव्य है। जो गतिमान जीव और पुद्गल द्रव्यों की गति का उदासीन हेतु है वह **धर्म**द्रव्य है। जो ठहरे हुए इन दोनों द्रव्यों की स्थिति का उदासीन हेतु है वह **अधर्म** द्रव्य है। जो सर्व द्रव्यों को अवकाश देने की शक्ति से युक्त है वह **आकाश** द्रव्य है और जो सर्व द्रव्यो के वर्तन अर्थात् परिवर्तन का उदासीन हेतु है वह **काल** द्रव्य है, ये छह द्रव्य हैं। इनमें से काल द्रव्य के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य अस्तिस्वरूप भी हैं और बहुप्रदेशी भी हैं अत· ये पचास्तिकाय नाम से भी कहे जाते हैं।

जिनेन्द्रकथित एक अक्षर का अश्रद्धान करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है

नैकमप्यक्षरं येन, रोच्यते तत्त्वदर्शितम्।
स शेषं रोचमानोऽपि, मिथ्यादृष्टिरसंशयम्॥४२॥

अर्थ - जो तत्त्व ऊपर दर्शाये गये हैं उनमें से किसी के द्वारा मात्र एक अक्षर पर भी यदि अश्रद्धान किया जाता है तो सर्व तत्त्वों की श्रद्धा होते हुए भी वह नि सन्देह मिथ्यादृष्टि है॥४२॥

प्रश्न - एक अक्षर का तो कोई अर्थ ही नहीं निकलता फिर उस क, ख, ग आदि अक्षर का अश्रद्धानी, मिथ्यादृष्टि कैसे हो जायेगा ?

उत्तर - यहाँ एक अक्षर से अभिप्राय थोड़े-से-थोड़े अक्षरो से निष्पन्न होने वाले द्रव्यश्रुत रूप उस आगमवाक्य से है जो जिनेन्द्रकथित तत्त्व को दिखा रहा हो। इस प्रकार का आगमकथित थोडा सा भी अर्थ यदि किसी को नहीं रुचता तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। जैसे बडे कुण्ड में भरे हुए विपुल दूध को भी विष का एक कण दूषित कर देता है, उसी प्रकार अश्रद्धान का एक कण भी आत्मा को दूषित कर देता है।

मिथ्यादृष्टि जीव की परिणति इस प्रकार होती है

मोहोदयाकुलस्तत्त्वं, तथ्यमुक्तं न रोचते।
जन्तुरुक्तमनुक्त वा, विपरीतं तु रोचते॥४३॥

मिथ्यात्वं वेदयन्नंगी, न तत्त्वे कुरुते रुचिम्।
कस्मै पित्त-ज्वरार्त्ताय, रोचते मधुरो रसः॥४४॥

अर्थ - मोह अर्थात् मिथ्यात्व कर्म के उदय से आकुलित चित्तवाले मनुष्य को जिनेन्द्रप्रणीत समीचीन तत्त्व रुचिकर नहीं होता। अर्थात् उस पर उसकी श्रद्धा नहीं होती किन्तु उसको उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट विपरीत अर्थात् असमीचीन तत्त्व पर श्रद्धा हो जाती है॥४३॥

मिथ्यात्व का वेदन करने वाले अर्थात् अनुभव करने वाले जीव को जिनेन्द्रप्रणीत तत्त्व उसी प्रकार नहीं रुचता जिस प्रकार पित्तज्वर से दुखी मनुष्य को मधुर रस नहीं रुचता॥४४॥

मिथ्यात्व का फल

अनेनाश्रद्दधानेन, जिन-वाक्यमनेकशः।
बाल-बाल-मृतिः प्राप्ताः, कालेऽतीते (यतोऽङ्गिना)॥४५॥

अर्थ - जिस जीव ने जिनोपदिष्ट वचनो पर श्रद्धा नहीं की उस जीव ने अतीत काल मे अनेक बार बाल-बाल मरण किये हैं॥४५॥

प्रश्न - मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन तत्त्व पर श्रद्धान क्यों नहीं कर पाता ?

उत्तर - मिथ्यात्व प्रकृति का स्वभाव मद्य के सदृश है। जैसे मद्य अपने पीने वाले व्यक्ति की बुद्धि को मन्द, विपरीत और उच्छृखल बना देती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति का विपाक जीव की बुद्धि को मन्द, विपरीत और भ्रामक बना देता है जिससे वह ग्यारह अग का पाठी होते हुए भी जिनोपदिष्ट हितकारी वचनों पर समीचीन श्रद्धा नहीं कर पाता।

संसारभीरु भव्यों को अपनी बुद्धि इस प्रकार रखनी चाहिए

इदमेव वचो जैनमनुत्तरमकल्मषम्।
निर्ग्रन्थं मोक्ष-वर्त्मेति, विधेया धिषणा ततः ॥४६॥

अर्थ - मिथ्या श्रद्धा का बहुत कटुक फल है, ऐसा जान कर भव्य-जीवो को ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए कि ये जिनवचन ही उत्तम हैं, निर्दोष हैं, पापरहित हैं तथा निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग स्वरूप हैं॥४६॥

प्रश्न - यहाँ 'निर्ग्रन्थ' पद किस अर्थ का वाची है ?

उत्तर - जो ससार को रचते हैं और दीर्घ करते हैं उन्हें ग्रन्थ कहते हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असयम, कषाय और तीन अशुभ योगरूप परिणाम ये ग्रन्थ हैं। मिथ्यादर्शन के अभाव में सम्यक्त्व, मिथ्याज्ञान के अभाव मे सम्यग्ज्ञान और असयम, कषाय तथा तीन अशुभ योगो के हटने से सम्यक्चारित्र होता है और इन तीनों को रत्नत्रय कहते हैं, अत यहाँ 'निर्ग्रन्थ' पद रत्नत्रय का वाची है।

सम्यक्त्व के अतिचार

शंका कांक्षाचिकित्सान्यदृष्टिशंसन - संस्तवाः।
सदाचारैरतीचाराः, सम्यक्त्वस्य निवेदिताः ॥४७॥

अर्थ - सदाचारी आचार्यदेव के द्वारा सम्यक्त्व के पॉच अतिचार कहे गये हैं- शका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशसा और अन्यदृष्टि सस्तव॥४७॥

प्रश्न - शका का अर्थ सशय है और सशय, मिथ्यात्व का एक भेद है। इसके लक्षण मे कहा गया है कि "तत्त्व का निर्णय न करने वाले सशयज्ञान का सहचारी जो श्रद्धान है वह साशयिक मिथ्यात्व है" फिर उसे यहाँ अतिचार मे कैसे ग्रहण किया गया है ?

उत्तर - यहाँ सशयज्ञान का सहकारी सशय ग्रहण नहीं किया है, अपितु श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष न होने से, उपदेष्टा के अभाव से अथवा उनमे वचनो की निपुणता न होने से या निर्णयकारी शास्त्रवचन के प्राप्त न होने से या काललब्धि के अभाव से किसी विषय का निर्णय नहीं हो पाना ही यहाँ ग्राह्य है। सम्यग्दृष्टि को भी जब कभी रस्सी मे सर्प की और स्थाणु मे मनुष्य की शका हो सकती है किन्तु ऐसी शका भी सम्यक्त्व का अतिचार नहीं बनेगी।

प्रश्न - काक्षा किसे कहते हैं ? ससारी जीवो को गमनागमन, भोजनपान, स्त्री-पुत्र, अलकार आदि की एव मोक्षप्राप्ति आदि की अनेक काक्षाएँ उत्पन्न होती रहती है, इनमे कौन सी काक्षा सम्यक्त्व का अतिचार है?

उत्तर - गृद्धि या आसक्ति को काक्षा कहते हैं। सम्यक्त्व से, व्रतधारण से, तपश्चरण से, देवपूजा से तथा आहार आदि दान से जो पुण्य हुआ है उससे मुझे उत्तम कुल, रूप, धन, बल, स्त्री, पुत्र और अन्य-अन्य भोगों की प्राप्ति हो, ऐसी काक्षा करना ही सम्यक्त्व का अतिचार है।

प्रश्न - विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशसा और अन्यदृष्टि सस्तव अतिचार क्या हैं ?

उत्तर - रत्नत्रयधारियों के शारीरिक मल या कोप आदि के निमित्त से होने वाली जुगुप्सा और रत्नत्रय के महत्त्व मे अरुचि होना **विचिकित्सा** नाम का तीसरा अतिचार है।

अतत्त्वदृष्टि व्यक्तियो को मन से श्रेष्ठ मानना अन्यदृष्टि-प्रशसा है और ऐसे व्यक्तियों की वचन से प्रशसा करना **अन्यदृष्टि संस्तव** है।

सम्यक्त्व को शुद्ध करने वाले गुण

उपवृहः स्थितीकारो, वत्सलत्वं प्रभावना।
चत्वारोऽमी गुणाः प्रोक्ताः, सम्यग्दर्शन-वर्धकाः ॥४८॥

अर्थ - उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को वृद्धिंगत करने वाले हैं॥४८॥

प्रश्न - उपबृहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - कान और मन को आह्लादकारी, अग्राम्य, स्पष्ट तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप-प्रकाशन मे समर्थ धर्मोपदेश के द्वारा दूसरो की श्रद्धा को बढ़ाना, अथवा सर्वजनो को आश्चर्यकारी इन्द्रादि के द्वारा की जाने वाली पूजा के समान पूजा रचाकर अथवा दुर्धर तप और ध्यान आदि अनुष्ठान द्वारा आत्मा मे श्रद्धा को दृढ करना **उपबृहण** है। इसे **उपगूहन** भी कहते हैं। अन्य धर्मात्माओ के दोष प्रगट नहीं करना उपगूहन है।

जिनेन्द्रदेव ने जैसा कहा है प्रमेय वैसा ही है, अन्यथा नहीं है क्योकि वीतरागदेव समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानते हैं और यथार्थ ही उपदेश देते हैं। वे दयालु अन्यथा प्रतिपादन नहीं करते, इस प्रकार की भावना से रत्नत्रय मे अस्थिर को स्थिर करना **स्थितीकरण** है।

धर्मात्माओ मे गौ-वत्सवत् प्रीति रखना **वात्सल्य** है। अथवा अपने रत्नत्रय मे आदरभाव रखना वात्सल्य है तथा रत्नत्रय का एव रत्नत्रयधारियों का माहात्म्य प्रगट करना **प्रभावना** है। इनके साथ जिनेन्द्र के वचनो मे शका न होना निशकितत्व, भोगाकाक्षा का अभाव नि काक्षितत्व, धर्म और धर्मात्मा से ग्लानि नहीं करना - निर्विचिकित्सा और परमत के चमत्कार आदि देखकर मूढ नहीं होना अमूढदृष्टित्व, ये चार गुण और हैं। इस प्रकार ये सब मिल कर सम्यक्त्व के आठ अग या गुण कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन विनय

जिनेश-सिद्ध-चैत्येषु, धर्म-दर्शन-साधुषु।
आचार्येऽध्यापके संघे, श्रुते श्रुत-तपोधिके॥४९॥

भक्तिः पूजा-यशोवादौ, दोषावज्ञा-तिरस्क्रिया।
समासेनैष निर्दिष्टो, विनयो दर्शनाश्रयः॥५०॥

अर्थ - अरहन्त परमेष्ठी, अरहन्त प्रतिमा, सिद्ध परमेष्ठी, सिद्ध की प्रतिमा, जैनधर्म, रत्नत्रय, साधु, आचार्य, उपाध्याय, चतुर्विध सघ, श्रुत और जो श्रुतज्ञान में अपने से अधिक हैं, तप और जो तप में अपने से अधिक हैं, इन सबकी भक्ति करना, पूजा-सत्कार करना, यशोगान करना, धर्मात्मा के दोषों को प्रगट नहीं करना

तथा उनके दोषों को दूर करना, यह सब दर्शन के आश्रय से अर्थात् दर्शन विनय का सक्षेप से वर्णन किया गया है ॥४९-५०॥

प्रश्न - शरीर सहित आत्मा का प्रतिबिम्ब तो युक्त है, किन्तु शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी का प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है?

उत्तर - पूर्व भाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा जो आत्मा सयोगकेवली अवस्था में शरीर मे थी वही सिद्ध की आत्मा है। शरीर के आकार सदृश वह चेतन आत्मा भी आकारवान ही है। वही सम्यक्त्व आदि आठ गुणो सहित है। इस प्रकार सिद्ध की स्थापना सभव है।

प्रश्न - भक्ति और पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर - "अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति" अर्थात् अर्हन्त आदि के गुणो मे अनुराग होना भक्ति है। द्रव्य पूजा और भाव पूजा के भेद से पूजा दो प्रकार की है। अष्ट द्रव्य अर्पित करना, उनके आदर मे खड़े होना, प्रदक्षिणा देना और शरीर से प्रणाम आदि रूप क्रिया करना तथा वचन से गुणो का स्तवन करना यह **द्रव्य पूजा** है और मन से उनके गुणो का स्मरण करना **भाव पूजा** है।

प्रश्न - यशोगान किनका और कैसे किया जाता है?

उत्तर - **अर्हन्त** देव अठारह दोषो से रहित वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। इस प्रकार विद्वानो की सभा मे अर्हन्तो के गुणो का माहात्म्य बताकर उनका यशोगान करना।

कर्मरूपीलेप को जला डालने से उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्य से युक्त और अनन्तानन्त काल पर्यन्त अनन्तज्ञानरूप सुख से सतृप्त **सिद्ध** होते हैं। इस प्रकार सिद्धो का माहात्म्य प्रगट करना, उनका यशोगान है।

जैसे अपने पुत्र सदृश व्यक्ति का दिखना पुत्र की स्मृति का निमित्त है उसी प्रकार अरहन्तादि के प्रतिबिम्ब भी त्रैलोक्य के चूडामणि वीतराग अर्हन्तदेव की स्मृति अर्थात् भव्यजीवो के शुभोपयोग के निमित्त हैं, क्योकि बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से शुभाशुभ परिणाम होते हैं।

अर्हन्त-सिद्ध परमेष्ठियो के गुणो का यह स्मरण नवीन अशुभ प्रकृति के आस्रव को रोकने में, नवीन शुभ कर्म के बन्ध में, बँधे हुए शुभ कर्म के अनुभाग की वृद्धि में और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृति समूह के अनुभाग को कम करने मे समर्थ होता है, अत समस्त इष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि के कारणभूत जिनेन्द्र के प्रतिबिम्बों की उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार जिन प्रतिबिम्बो की महत्ता का प्रकाशन करना **चैत्य यशोगान** है।

श्रुतज्ञान केवलज्ञान सदृश जीवादि द्रव्यो का यथार्थ स्वरूप बताने मे समर्थ है। कर्मरूपी ताप को नष्ट करने के लिए शीतल जल के समान है। शुभध्यानरूपी चन्दन के लिए मलयपर्वत के समान है। शिष्य जनो के द्वारा अन्त·करण से प्रार्थनीय है। अशुभास्रव को रोकने मे सक्षम है। अप्रमादपना लाने में उद्यमशील है। अन्य सभी परोक्ष-प्रत्यक्ष ज्ञानो को उत्पन्न करने का बीज एव सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र मे प्रवर्तन करानेवाला है। इस प्रकार श्रुतज्ञान का माहात्म्य प्रगट करना **श्रुतज्ञान** का यशोगान है।

इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, साधु, संघ एव धर्मादि का यशोगान करना चाहिए।

प्रश्न - दोष-अवज्ञा और दोष तिरस्क्रिया किसे कहते है?

उत्तर - मिथ्या दोष नहीं लगाना। अर्थात् **अवर्णवाद** नहीं करना यह **'दोषावज्ञा'** का भाव है, किन्तु यदि कोई दोष लगा रहा है तो अपनी योग्यतानुसार उन दोषों का निराकरण करना **'दोष तिरस्क्रिया'** का भाव है। ये दोनो गुण इस प्रकार हैं-

अर्हन्त - अर्हन्त भगवान मे सर्वज्ञता और वीतरागता नहीं होती। जीव मात्र रागादि और अज्ञानता से युक्त होते हैं। ऐसा अवर्णवाद नहीं करना।

यदि कोई ऐसे दोष लगा रहा है तो दूसरे असर्वज्ञो की प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से विरुद्धता दिखाकर सर्वज्ञता आदि की सिद्धि करना दोष-तिरस्क्रिया है।

सिद्ध-सिद्ध भगवान भोजन, पान, स्त्रीभोग एव वस्त्रालकार आदि से रहित हैं अत उन्हें वहाँ कोई सुख नहीं है। वे अतीन्द्रिय है अत उन्हे कोई जान भी नहीं सकता, इत्यादि रूप से सिद्धों का अवर्णवाद नहीं करना।

यदि कोई कह रहा है तब उन्हें युक्तिपूर्वक समझाना कि ससार मे जो-जो वस्तुएँ दुख का प्रतिकार करनेवाली हैं उन्हे अज्ञानी जन सुख का साधन मान लेते हैं, यह भूल है। जैसे औषधि रोग का प्रतिकार करनेवाली है, सुख देनेवाली नहीं। इसी प्रकार अन्न, जल एव स्त्री-भोग आदि भूखादिकी वेदना को मात्र शमन करनेवाले हैं। जिनके भूख आदि की वेदना ही नहीं है उन्हे आहार-जल से और जिनके शरीर नहीं है उन्हे वस्त्रालकार आदि से क्या प्रयोजन है। अतीन्द्रिय होते हुए भी वे केवलज्ञान और श्रुतज्ञान द्वारा जाने जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्धो के प्रति **दोषतिरस्क्रिया करण** है।

चैत्य - जैसे बालिकाएँ खेल मे गुड्डा-गुड्डी आदि मे पुत्रादि की कल्पना कर रमती हैं उसी प्रकार अजीव मूर्तियो मे अर्हन्त-सिद्ध की कल्पना प्रयोजनभूत नहीं है क्योकि इनमें वे गुण नहीं हैं, इत्यादि रूप अवर्णवाद नहीं करना चैत्य की दोष अवज्ञा है।

कोई ऐसा कर रहा हो तो उसे समझाना चाहिए कि जैसे अर्हन्त देव शुभोपयोग के निमित्त हैं वैसे ही उनके बिम्ब भी शुभोपयोग मे निमित्त है। इसलिए यह मात्र बौद्धिक कल्पना नहीं है। इसी प्रकार अन्य सभी मे लगा लेना चाहिए।

असयतसम्यग्दृष्टि भी अल्पससारी होता है

मृतावाराधयन्नेवं, निश्चरित्रोऽपि दर्शनम्।
प्रकृष्ट-शुभलेश्याको, जायते स्वल्प-संसृतिः ॥५१॥

अर्थ - इस प्रकार सम्यक्त्व की आराधना करने वाला यद्यपि कोई **मरण समय असयत भी होता है,** तो भी उत्कृष्ट एव शुद्ध लेश्या वाला होने के कारण अल्प संसारी होता है॥५१॥

सम्यक्त्व के आराधक कौन-कौन होते हैं

रोचका जन्तवो भक्त्या, स्पर्शकाः प्रतिपादकाः।
आगमस्य समस्तस्य, सम्यक्त्वाराधका मताः ॥५२॥

अर्थ - समस्त आगमार्थ की रुचि वाले, भक्ति से स्पर्श करने वाले एव उस अर्थ का प्रतिपादन करने वाले जीव सम्यक्त्व के आराधक माने गये हैं ॥५२॥

सम्यक्त्व आराधना रूप परिणामों के भेद एव उनका फल

उत्कृष्टा मध्यमा हीना, सम्यक्त्वाराधना त्रिधा।
उत्कृष्ट-लेश्यया तत्र, सिद्ध्यत्युत्कृष्टया तया ॥५३॥

भवन्त्यन्ये भवाः सप्त, मध्यया मध्यलेश्यया।
संख्याता वाप्यसंख्याता, हीनया हीनलेश्यया ॥५४॥

अर्थ - उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से सम्यक्त्वाराधना तीन प्रकार की है। उत्कृष्ट शुक्ललेश्या सहित उत्कृष्ट सम्यक्त्वाराधना मे मोक्ष प्राप्त करता है ॥५३॥ मध्यम शुक्ल लेश्या के साथ मध्यम सम्यक्त्वाराधना से मात्र सात भव शेष रहते है और जघन्य लेश्या के साथ जघन्य सम्यक्त्वाराधना से सख्यात अथवा असख्यात भव अवशेष रहते हैं ॥५४॥

उपर्युक्त तीनों आराधनाओं के स्वामी

तत्र केवलिनो वर्या, मध्या सा शेषसद्दृशाम्।
असंयतस्य सदृष्टेर्हीनं संक्लिष्ट-चेतसः ॥५५॥

अर्थ - उत्कृष्ट आराधना केवलियो के होती है, मध्यम आराधना (देशचारित्र एव सकल चारित्र युक्त) शेष सम्यग्दृष्टियो के होती है और जघन्य सम्यक्त्व आराधना सक्लेश परिणामवाले अविरत सम्यग्दृष्टियो के होती है ॥५५॥

प्रश्न - सम्यक्त्वाराधना की उत्कृष्टता कैसे होती है ?

उत्तर - सम्यक्त्व के दो भेद है - (१) सराग सम्यक्त्व और (२) वीतराग सम्यक्त्व। राग के दो भेद हैं (१) प्रशस्त राग तथा (२) अप्रशस्त राग। अरहन्त-सिद्ध आदि पच परमेष्ठी एव उनके गुणों मे, आगम मे, चैत्य-चैत्यालय आदि मे होने वाला अनुराग प्रशस्तराग है। अप्रशस्तराग के दो भेद हैं - एक तो मन को प्रिय लगने वाले इन्द्रियविषयों में होने वाला राग और दूसरा मिथ्या देवो में, उनके सिद्धान्तो मे, उनके द्वारा दर्शाये गये मार्ग मे एव उनके अनुयायियों में प्रवर्तमान राग दृष्टिराग है। इनमें से प्रशस्तराग सहित जीवो का श्रद्धान सराग सम्यग्दर्शन एव सर्व राग से रहित तथा जिनका मोह और आवरण क्षीण हो गया है उनका श्रद्धान वीतराग सम्यग्दर्शन है, उनकी आराधना उत्कृष्ट है। अर्थात् सम्पूर्ण राग एव मल के अभाव से तथा त्रिकालवर्ती पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले केवलज्ञान से उस आराधना को उत्कृष्टता प्राप्त होती है।

जघन्य सम्यक्त्वाराधना का माहात्म्य

संख्यातामप्यसंख्यातामनुसृत्याथ संसृतिम्।
मृत्युकालेऽनुगच्छन्तो, जीवाः सिध्यन्ति दर्शनम्॥५६॥

अर्थ - जो सम्यक्त्व के साथ मरते हैं वे सख्यात अथवा असख्यात भव ससार-परिभ्रमण कर अवश्यमेव सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं॥५६॥

प्रश्न - जिस जीव को एक बार सम्यक्त्व हो जाता है वह तो अवश्य ही मोक्ष जाता है, फिर यहाँ सम्यक्त्व का क्या माहात्म्य दर्शाया गया है ?

उत्तर - सम्यक्त्व होने की अपेक्षा मृत्यु के समय तक सम्यक्त्व बना रहना अति दुर्लभ है, क्योकि मृत्यु के समय होने वाली वेदना एव सक्लेश के कारण सम्यक्त्व, देशसयम या सकलसंयम प्राय छूट जाते हैं। अत जीवन मे सम्यक्त्व हुआ, यह महत्त्वपूर्ण है। किन्तु मरणोपरान्त स्थित रहा, यह इससे भी अनन्तगुणा महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार जीवनभर देशव्रत या महाव्रत का पालन किया इस महत्त्व से सम्यक्त्व, सहित वह चारित्र प्राणान्त पर्यन्त बना रहे इसका महत्त्व बहुत अधिक है। विरले ही जीव सम्यक्त्व सहित मृत्यु प्राप्त कर पाते हैं तथा सम्यक्चारित्र सहित मृत्यु प्राप्त करने वाले जीव तो अति विरले है।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

मुहूर्तमपि ये लब्ध्वा, जीवा मुञ्चन्ति दर्शनम्।
नानन्तानन्तसंख्याता, तेषामद्धा भव-स्थितिः॥५७॥

॥ इति बालमरणाधिकार समाप्तम् ॥

अर्थ - जो अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर सम्यक्त्व से गिर जाते है, उन जीवो के ससार मे रहने का काल सख्या से अनन्तानन्तभव प्रमाण नहीं होता है अर्थात् अर्धपुद्गल परिवर्तन से अधिक नही होता॥५७॥

॥ इस प्रकार बालमरण का कथन समाप्त हुआ ॥

(२)

बालबाल मरणाधिकारः

सम्यक्त्व बिना मात्र बाह्य चारित्र से आराधक नहीं होता

संयतोऽसंयतो वा यो, मिथ्यात्व-कलुषी-कृतम्।
विदधात्यधमः कालं, कस्याप्याराधको न सः॥५८॥

अर्थ - जो मिथ्यात्व से कलुषित होकर मरण को प्राप्त होता है वह बाह्य से सयमी हो या असयमी हो किन्तु वह किसी भी आराधना का आराधक नहीं होता। अर्थात् आराधना सम्यक्त्व के सद्भाव में ही होती है॥५८॥

मिथ्यात्व का लक्षण और भेद

जिनैरभाणि मिथ्यात्वं, तत्त्वार्थानामरोचनम्।
इदं सांशयिकं जन्तोर्गृहीतमगृहीतकम्॥५९॥

अर्थ - तत्त्वार्थों में अरुचि होना मिथ्यात्व है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जीव का यह मिथ्या परिणाम तीन प्रकार का होता है - सांशयिक मिथ्यात्व, गृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व॥५९॥

तीनों मिथ्यात्वों के लक्षण

तत्र जीवादि-तत्त्वानां, कथितानां जिनेश्वरैः।
विनिश्चय-पराचीना, दृष्टिः सांशयिको मता॥६०॥

परोपदेश-सम्पन्नं, गृहीतमभिधीयते।
निसर्ग-सम्भवं प्राज्ञैर्मिथ्यात्वमगृहीतकम्॥६१॥

अर्थ - जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित जीवादि तत्त्वों का निश्चय नहीं होना अर्थात् जिनेन्द्रोपदिष्ट तत्त्व सत्य है या अन्य द्वारा कहा सत्य है, इस प्रकार का सशय होना **सांशयिक मिथ्यात्व** है॥६०॥

कुगुरुआदि के उपदेश एव सगति आदि से जो अतत्त्व श्रद्धा होती है वह **गृहीत मिथ्यात्व** है तथा जो स्वभाव से ही मिथ्यात्वरूप भाव होता है प्राज्ञ पुरुषो ने उसे **अगृहीत मिथ्यात्व** कहा है॥६१॥

मिथ्यात्व का प्रभाव

अहिंसादि-गुणाः सर्वे व्यर्था मिथ्यात्व-भाविते।
कटुकेऽलाबुनि क्षीरं, सफलं जायते कुतः॥६२॥

अर्थ - कड़वी तूम्बडी या तूम्बी मे रखा हुआ दूध सफल अर्थात् मधुर कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। उसी प्रकार मिथ्यात्व युक्त जीव के अहिसा आदि सर्व गुण या व्रत व्यर्थ हैं। अर्थात् वे सफल नहीं हो सकते॥६२॥

सर्वे दोषाय जायन्ते, गुणाः मिथ्यात्वदूषिताः।
किमौषधानि निघ्नन्ति, सविषाणि न जीवितम्॥६३॥

अर्थ - मिथ्यात्व से दूषित हुए अहिसा आदि सर्वगुण दोष के लिए अर्थात् दूषित हो जाते हैं। क्या विषमिश्रित औषधियाँ जीवन का नाश नहीं करती हैं? अवश्य करती हैं॥६३॥

निर्वृतिं संयमस्थोऽपि, न मिथ्यादृष्टिरश्नुते।
जवनोऽप्यन्यतो यायी, किं स्वेष्टं स्थानमृच्छति॥६४॥

अर्थ - मिथ्यादृष्टि जीव सयम में स्थित होकर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। विपरीत दिशा मे वेग से गमन करने वाला भी पथिक क्या अपने इष्ट स्थान पर पहुँच सकता है? नहीं पहुँच सकता॥६४॥

प्रश्न - वेग से चलने वाला भी पथिक इष्ट स्थान को प्राप्त क्यो नहीं कर पाता?

उत्तर - जैसे जयपुर से सम्मेदशिखर जाने की इच्छा रखने वाला पथिक यदि वेग से पश्चिम की ओर दौड रहा हो तो सम्मेदशिखर नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार मोक्ष का इष्ट और सहजमार्ग सम्यक्त्व सहित चारित्र एव तप है, उस सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि जीव कितने भी उत्कृष्ट चारित्र का पालन करे तथा कठोर तप तपे किन्तु वह रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को और मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

व्रतहीन मिथ्यादृष्टि दीर्घससारी होता है

न विद्यते व्रतं शीलं, यस्य मिथ्यादृशः पुनः।
न कथं दीर्घ-संसारमात्मानं विदधाति सः ॥६५॥

अर्थ - जिस मिथ्यादृष्टि जीव के व्रत-शील आदि कुछ भी नहीं हैं वह दीर्घससारी कैसे नहीं होगा? वह तो अवश्य ही अपनी आत्मा को दीर्घससारी बना लेता है॥६५॥

मिथ्यात्व की कणिका भी दीर्घससार का कारण है

अरोचित्वाज्जिनाख्यातं एकमप्यक्षरं मृतः।
निमज्जति भवाम्भोधौ, सर्वस्यारोचको न किम्॥६६॥

अर्थ - जिनोपदिष्ट आगम के एक अक्षर पर भी अश्रद्धा करने वाला व्यक्ति मरकर जब भवसमुद्र मे डूब जाता है तब सम्पूर्ण आगम पर अश्रद्धा करने वाले के विषय मे तो कहना ही क्या है!॥६६॥

प्रश्न - आगम के एक अक्षर पर भी श्रद्धा न होने का विषय पूर्व मे भी कहा जा चुका है, उसे पुन क्यो कहा जा रहा है?

उत्तर - श्लोक ४२ मे कहा गया था कि जिसे सम्पूर्ण आगम पर तो श्रद्धा है किन्तु यदि जिनोपदिष्ट एक अक्षर पर श्रद्धा नहीं है तो वह मिथ्यादृष्टि है, यहाँ कहा जा रहा है कि एक अक्षर पर अश्रद्धा करने वाला भी जब दीर्घससारी होता है तब सर्वागम पर अश्रद्धा करने वाले के प्रति क्या कहा जाय ? इस प्रकार दोनो के कथन मे विषयभेद है।

सख्येयाः सन्त्यसंख्येया, बाल-बालमृतौ भवाः।
भव्य-जन्तोरनन्ता वा, परस्य गणनातिगाः॥६७॥

अर्थ - बालबाल मरण से मरने वाले भव्य जीव के सख्यात, असख्यात अथवा अनन्तभव शेष रहते है और अभव्य के गणनातीत अर्थात् अनन्तानन्त भव होते हैं॥६७॥

अनन्तेनापि कालेन, प्रभज्य भव-पञ्जरम्।
सिद्ध्यन्ति भविनो भव्या, नाभव्यास्तु कदाचनम्॥६८॥

॥ इति बालबालमरणाधिकारं समाप्तम्॥

अर्थ - भव्यजीव अनन्तकाल भवभ्रमण करके भी भव-पजर का नाश कर मुक्त हो जाते है, किन्तु अभव्यजीव कदापि मोक्ष नहीं जाते। अर्थात् वे सदैव चतुर्गतियो मे ही भ्रमण करते रहते हैं॥६८॥

॥ इस प्रकार बालबालमरण का वर्णन समाप्त हुआ॥

(३)

भक्तप्रत्याख्यानमरण 'अर्ह' आदि अधिकार

पण्डितमरण के अन्तर्गत भक्तप्रत्याख्यानमरण के कथन की सूचना

भक्तत्यागः प्रशस्तेषु, मध्ये मृत्युषु वर्ण्यते।
आदावद्य-भवत्वेन, शेषवर्णनमग्रतः ॥६९॥

अर्थ - प्रशस्त मरणो में सर्वप्रथम भक्त प्रत्याख्यान का वर्णन किया जाता है क्योंकि वर्तमान काल मे यह मरण सम्भव है। शेष दो इगिनी और प्रायोपगमनमरण का वर्णन आगे करूँगा॥६९॥

भक्तप्रत्याख्यान के भेद और स्वामी

सवीचारमवीचारं, भक्तत्यागं द्विधा विदुः।
शक्यश्चिरायुषामद्यस्तत्रान्योऽन्यस्य कथ्यते॥७०॥

अर्थ - भक्तप्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है। सवीचार और अवीचार। जिसकी दीर्घ आयु है उसके सवीचार और जिसकी अल्पायु है उसके अवीचार भक्तप्रत्याख्यानमरण होता है॥७०॥

प्रश्न - यहाँ दीर्घायु और अल्प-आयु का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - जिसके अकस्मात्, तत्क्षण आयुनाश के कारण उपस्थित नहीं हुए हैं, और जिसकी अभी इतनी आयु है कि वह बुद्धिपूर्वक शनै शनै आहार आदि के त्यागपूर्वक शरीर कृश कर सकता है वह दीर्घायु है, तथा जिसके आयुनाश के कारण सहसा उपस्थित हो गये है उसे अल्पायु कहा गया है।

भक्तप्रत्याख्यान मरण के चालीस सूत्र

भक्तत्यागं सवीचारं, मृत्युं तत्र विवक्षुणा।
चत्वारिंशद्विबोध्यानि, सूत्राणीमानि धीमता॥७१॥

अर्थ - सवीचार भक्त प्रत्याख्यानमरण की विवक्षा करने के इच्छुक बुद्धिमान व्यक्ति को ये चालीस सूत्र[1] जानने। अर्थात् इस मरण को समझने के लिए चालीस प्रकरण हैं॥७१॥

प्रस्तावना - अर्ह[1], लिंग[2], शिक्षा[3], विनय[4], समाधि[5], अनियतविहार[6], परिणाम[7], उपधित्याग[8], श्रिति[9], भावना[10], सल्लेखना[11], दिक्[12], क्षमणा[13], अनुशिष्टि[14], परगणचर्या[15], मार्गणा[16], सुस्थित[17], उपसर्पण[18], निरूपण[19], प्रतिलेख[20], पृच्छा,[21], एकसग्रह[22], आलोचना[23], गुणदोष[24], शय्या[25], सस्तर[26], निर्यापक[27], प्रकाशन[28], हानि[29], प्रत्याख्यान[30], क्षामण[31], क्षपणा[32], अनुशिष्टि[33], सारणा[34], कवच[35], समता[36], ध्यान,[37], लेश्या[38], फल[39], आराधक[40], त्याग लक्षणानि चत्वारिशत्सूत्राणि॥७२॥

प्रश्न - भक्तप्रत्याख्यान मरण के उपर्युक्त चालीस अधिकारों मे से प्रत्येक के अतिसक्षिप्त लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - उपर्युक्त चालीस अधिकारों मे से प्रत्येक के सक्षिप्त लक्षण इस प्रकार हैं-

१ **अर्ह** - अर्ह का अर्थ (लिङ्ग, शिक्षा, विनय, समाधि आदि धारण करने) योग्य है। यह जीव सवीचार भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है और यह जीव योग्य नहीं है। यह प्रथम अधिकार है जो कर्ता के व्यापार से सम्बद्ध है।

२ **लिंग** - लिग शब्द चिह्न का वाची है। पिच्छिका ग्रहण, निर्ग्रन्थ मुद्रा एव तैलादि के सस्कार से रहितता इत्यादि। जैसे सर्व सामग्री के एकत्र होने पर घट तैयार होता है उसी प्रकार व्यक्ति योग्य साधन-सामग्री के होने पर सल्लेखनादि करने मे समर्थ होता है।

३ **शिक्षा** - श्रुतज्ञान का अध्ययन। इसमे कहा जायेगा कि जिनवचन कालिमा को दूर करते हैं अत उन्हे अहर्निश पढना चाहिए।

४ **विनय** - दर्शन, ज्ञान, चारित्र एव पच परमेष्ठी की मर्यादापूर्वक व्यवस्था करना विनय है। आगे ज्ञान आदि भावना की व्यवस्था ज्ञानादि की विनय के रूप मे करेगे।

५ **समाधि** - सम का अर्थ एकीभाव है। शुभोपयोग एव शुद्धोपयोग मे मन की एकाग्रता होना समाधि है।

६. **अनियत विहार** - अनियत क्षेत्र मे रहना। अथवा यत्र-तत्र विहार करना।

७. **परिणाम** - यहाँ साधु के द्वारा अपने कर्त्तव्य की आलोचना को परिणाम कहा गया हे।

८ **उपधि त्याग** - परिग्रह का त्याग।

९ **श्रिति** - श्रिति का अर्थ सोपान है। अर्थात् शुभ परिणामो की उत्तरोत्तर वृद्धि।

१० **भावना** - अभ्यास या बार-बार प्रवृत्ति करना। या सक्लिष्ट भावना का त्याग और शुभ भावना का ग्रहण।

११ **सल्लेखना** - कषाय और काय को सम्यक्रीति से कृश करना।

१२ **दिशा** - समाधि के इच्छुक आचार्य अपने स्थान पर (आचार्य पद पर) नवीन आचार्य को स्थापित कर कहते हैं कि यह आपको परलोक की दिशा दिखाते हुए मोक्षमार्ग का उपदेश देगा, यह दिशा प्रकरण का विषय है।

१३ **क्षमणा** - क्षमा ग्रहण करने को क्षमणा कहते हैं।

१४ **अनुशिष्टि** - शास्त्रानुसार शिक्षा देना।

१५. **परगणचर्या** - समाधि के लिए अपने सघ का परित्याग कर दूसरे गण मे जाना।

१६ **मार्गणा** - अपने रत्नत्रय की विशुद्धि अथवा समाधिमरण कराने मे समर्थ आचार्य की खोज करना।

१७. सुस्थित - पर के उपकार और अपने प्रयोजन में भली प्रकार स्थित-आचार्य को सुस्थित कहते है।

१८ उपसर्पण - आचार्य के पास जाना। अर्थात् समाधिमरण कराने में समर्थ आचार्य के चरणो में समर्पण कर देना।

१९. निरूपण या परीक्षा - गण, परिचारक, आराधक, उत्साह शक्ति तथा यह आराधक आहार की अभिलाषा छोड़ने मे समर्थ है या नहीं, इन सबकी परीक्षा करना निरूपण या परीक्षा है।

२०. प्रतिलेख - आराधना की सिद्धि बिना बाधा होगी या नहीं ? तथा देश, राज्य, ग्राम, नगर आदि और वहाँ का प्रधान ये सब आराधना के योग्य हैं या नहीं ?

२१. पृच्छा - जब कोई आराधक समाधिमरण के लिए आवे तब आचार्य का अपने सघ से पूछना कि हम इसे स्वीकार करे या नहीं?

२२ एकसग्रह - परिचारक मुनियों की स्वीकृति मिल जाने पर एक आचार्य एक ही क्षपक को समाधि के लिए सस्तरारूढ कराते हैं।

२३ आलोचना - दीक्षाकाल से अद्यावधि लगे हुए दोषो को गुरु के समक्ष कहना।

२४ गुणदोष - आलोचना के गुण-दोषो का कथन।

२५ शय्या - आराधक के रहने का स्थान अर्थात् वसतिका कैसी हो।

२६ सस्तर - तृण, काष्ठ आदि का सस्तर, जिस पर क्षपक लेटता है वह कैसा हो।

२७ निर्यापक - आराधक की समाधि मे सहायक आचार्य एव मुनिजन कैसे हो।

२८ प्रकाशन - आराधक के सामने अन्तिम आहार का प्रकाशन।

२९ हानि - आराधक से क्रमश आहार-जल का त्याग कराना।

३०. प्रत्याख्यान - तीनो प्रकार के आहार का त्याग करना।

३१ क्षामण - आराधक का आचार्य एव सघ से क्षमा मागना।

३२ क्षपणा - क्षपक द्वारा कर्मों की निर्जरा होने का कथन।

३३ अनुशिष्टि - निर्यापकाचार्य का क्षपक को उपदेश देना।

३४. सारणा - दुख से पीडित होकर बेहोश हुए आराधक को सचेत करना।

३५. कवच - जैसे कवच में सैकडो बाणों से होने वाले प्रहार को रोकने का सामर्थ्य है, वैसे ही निर्यापकाचार्य जो धर्मोपदेश देते हैं वह आराधक को दुखो से बचाता है अत· उसे कवच कहते हैं।

३६ समता - जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, सुख एव दुख आदि में राग-द्वेष नहीं करना, समभाव रखना, उपेक्षा बुद्धि रखना।

३७ ध्यान - धर्मध्यान आदि का सविस्तार वर्णन।

३८ लेश्या - लेश्या के लक्षण आदि एव किस लेश्या मे मरण होने पर आराधक किस गति मे जाता है? आदि का वर्णन।

३९ फल - आराधनानुसार साध्य की सिद्धि।

४०. आराधक के शरीर का त्याग - समाधि के बाद आराधक के शरीर का त्याग एव सघ का कर्तव्य।

इतने अधिकारो से भक्तप्रत्याख्यानमरण का प्रतिपादन किया जायेगा।

१. अर्ह अधिकार

अर्ह अर्थात् सन्यासमरण के योग्य कौन है

रोगो दुरुत्तरो यस्य, जरा श्रामण्यहारिणी।
तिर्यग्भिर्मानवैर्देवैरुपसर्गाः प्रवर्तिता.॥७३॥

अर्थ - जिसके दुस्साध्य व्याधि हो, या श्रमणता को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था आ गई हो या तिर्यंचकृत, मनुष्यकृत और देवकृत उपसर्ग हो वह भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना करने के योग्य है॥७३॥

अनुकूलैर्गृहीतो वा, वैरिभिर्वृत्त-हारिभिः।
योऽटव्या पतितो घोरे, दुर्भिक्षे च दुरुत्तरे॥७४॥

अर्थ - अनुकूल अर्थात् बन्धु या मित्र हो या शत्रु हो जो चारित्र का विनाश करने वाले हो, भयकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयकर जगल मे भटक गया हो तो वह भक्तप्रत्याख्यान के योग्य होता है॥७४॥

दुर्बलौ यस्य जायेते, श्रवणौ चक्षुषी तथा।
विहर्तुं न समर्थो यो, जङ्घाबलविवर्जितः॥७५॥

अर्थ - जिसके कान दुर्बल हो गये हो तथा चक्षु दुर्बल हो गये हो, या विहार करने मे जो समर्थ न हो या जिसका जघाबल हीन हो गया हो॥७५॥

प्रश्न - यहॉ कर्ण और चक्षु की दुर्बलता का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - अल्पशक्तिवाली और सूक्ष्मवस्तु को न देख सकने वाली चक्षु दुर्बल है तथा शब्द का ज्ञान कराने मे असमर्थ कर्ण दुर्बल है।

दुर्वारं कारण यस्य जायतेऽन्यदपीदृशम्।
भक्तत्यागमृतेर्योग्यः, संयतोऽसंयतोऽपि सः॥७६॥

अर्थ - उपर्युक्त कारणो के सदृश अन्य भी ऐसे दुर्निवार कारण उपस्थित हो जाने पर सयमी, (देशसयमी) एव असयमी भी भक्त-प्रत्याख्यान सन्यासमरण के योग्य होता है॥७६॥

ये भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य हैं

प्रवर्तते सुखं यस्य, श्रामण्यमपदूषणम्।
दुर्भिक्षान्न भयं योग्या, दुरापा न च सूरय: ॥७७॥

अर्थ - जिसका चारित्र बिना किसी क्लेश या अतिचार के सुख-शान्तिपूर्वक पालित हो रहा है, दुर्भिक्ष का भय नहीं है और समाधि कराने में सहायक निर्यापकाचार्य की प्राप्ति भी आगे दुर्लभ नहीं है तो ऐसे साधु भक्तप्रत्याख्यान मरण के अयोग्य हैं अर्थात् उन्हे उस समय समाधि धारण नहीं करनी चाहिए ॥७७॥

नासावर्हति संन्यासमदृष्टे पुरतो भये।
मरणं याचमानोऽसौ, निर्विण्णो वृत्तत: परम् ॥७८॥

॥ इति अर्ह: ॥

अर्थ - जिसके सामने आगामी काल में भय उपस्थित नहीं है वह साधु अनर्ह है, उसका भक्तप्रत्याख्यान योग्य नहीं है। यदि भय न होने पर भी कोई मुनि मरण की प्रार्थना करता है तो वह मुनिधर्मरूप उत्तम चारित्र से विरक्त हुआ है ऐसा समझना चाहिए ॥७८॥

॥ इस प्रकार अर्ह अधिकार पूर्ण हुआ ॥

२. लिगाधिकार

लिग के भेद

तदौत्सर्गिक-लिङ्गानां, लिङ्गमौत्सर्गिकं परम्।
अनौत्सर्गिक-लिङ्गानामपीदं वर्ण्यते जिनै: ॥७९॥

अर्थ - जिनेन्द्रदेव ने लिग के दो भेद कहे है। औत्सर्गिक लिग और अनौत्सर्गिक लिग। औत्सर्गिक लिग वालो के औत्सर्गिक लिंग होता है। इसे उत्सर्ग भी कहते हैं,यह सर्वोत्कृष्ट लिंग है। अनौत्सर्गिक लिंग वालो के अनौत्सर्गिक लिग होता है। इसे अपवाद लिग भी कहते हैं॥७९॥

प्रश्न - औत्सर्गिक और अनौत्सर्गिक लिग किसे कहते हैं और इनके स्वामी कौन हैं?

उत्तर - सकल परिग्रह के त्याग को उत्सर्ग कहते है, और इससे होने वाले निर्ग्रन्थरूप को औत्सर्गिक या उत्सर्ग लिंग कहते हैं। जो इस औत्सर्गिक लिग का धारी है और वह यदि भक्तप्रत्याख्यान मरण का इच्छुक है तो उसका वही लिग रहता है जिसे उसने पूर्व में ग्रहण किया था। अर्थात् औत्सर्गिक लिग ही रहता है। यह लिंग निर्ग्रन्थ मुनिराजो के ही होता है। परिग्रह को अपवाद कहते हैं, अत परिग्रह सहित लिंगवाले को आपवादिक या अनौत्सर्गिक कहते हैं। ये यदि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहते हैं तो उन्हे सकल परिग्रह का त्याग कर अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर निर्ग्रन्थ होना पडता है, किन्तु यह नग्नता वही धारण कर सकता है जिसका पुरुष लिंग प्रशस्त हो। अर्थात् लिग चर्म सहित हो, अति दीर्घ न हो, अति स्थूल न हो, बार-बार उत्तेजित न होता हो और अण्डकोष भी लटकते हुए लम्बे न हो। अर्थात् पुरुष लिंग अप्रशस्त न हो तो वह औत्सर्गिक लिंग धारण कर सल्लेखना ग्रहण कर सकता है।

अप्रशस्त लिग वाला भी औत्सर्गिक लिग धारण कर सकता है

यस्य त्रि-स्थानगो दोषो, दुर्निवारो विरागिणः।
लिंगमौत्सर्गिकं तस्मै, संस्तरस्थाय दीयते॥८०॥

अर्थ - जिसके लिंग और दोनो अण्डकोष इन तीन स्थानो मे कोई ऐसा दोष हो जो औषधि आदि से भी दूर नहीं हो सकता हो और वह गृहस्थ वैराग्यवान हो तो उसे वसतिका मे सस्तर ग्रहण करा देने के बाद औत्सर्गिक लिंग दिया जा सकता है॥८०॥

प्रशस्त लिग वाला भी आपवादिक लिगी होता है

समृद्धस्य सलज्जस्य, योग्यं स्थानमविंदतः।
मिथ्यादृक् प्रचुरज्ञातेरनौत्सर्गिक मिष्यते॥८१॥

अर्थ - जो महान् सम्पत्तिशाली है, या लज्जाशील है या जिसके स्वजन अर्थात् बन्धुवर्ग मिथ्यादृष्टि या विधर्मी है या लोगो के आवागमन आदि के कारण स्थान अयोग्य है तो उस गृहस्थ को आपवादिक लिंग मे अर्थात् वस्त्र सहित अवस्था मे ही यथायोग्य सल्लेखना करा देनी चाहिए॥८१॥

औत्सर्गिक लिग का स्वरूप

औत्सर्गिकमचेलत्व, लोचो व्युत्सृष्ट-देहता।
प्रतिलेखनमित्येवं, लिङ्गमुक्तं चतुर्विधम्॥८२॥

अर्थ - अचेलता अर्थात् वस्त्रमात्र का त्याग, हाथ से शिर और दाढी-मूँछ के केश उखाडना, व्युत्सृष्टदेहता अर्थात् शरीर से ममत्व त्याग तथा प्रतिलेखन अर्थात् पिच्छिका ग्रहण, औत्सर्गिक लिग मे ये चार बाते होना आवश्यक है। अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनिराजो के ये चार चिह्न महत्त्वपूर्ण है। इन चार के बिना मुनिवेष असभव है॥८२॥

उत्सर्ग लिंग के गुण

यात्रासाधन-गार्हस्थ्य-विवेकात्मस्थितिक्रिया।
परमो लोक-विश्वासो, गुणा-लिङ्गमुपेयुषः॥८३॥

अर्थ - उत्सर्ग लिंग यात्रा का साधन है, गृहस्थ से पृथक्करणरूप है, आत्मस्थितिरूप है, श्रेष्ठहै और जगत् के विश्वास का कारण है। उत्सर्ग लिंग मे ये गुण प्रमुख हैं॥८३॥

प्रश्न - इन प्रमुख गुणो का विशेष क्या है?

उत्तर - (१) यात्रा साधन - दिगम्बर मुद्रा मोक्षमार्ग की हेतु है, इसका हेतु साधु का शरीर है और शरीर स्थिति का हेतु आहार है तथा इस आहार का साधन उत्सर्ग लिग है। अर्थात् गृहस्थ आदि के वेष मे जनता गुणज्ञ नहीं मानती और उसके बिना आहार नहीं मिल सकता। ये रत्नत्रय धर्मधारी होने से मोक्षमार्ग के पथिक हैं, ऐसी श्रद्धा ही - गृहस्थ को आहारदान आदि की प्रेरक है अत उत्सर्गलिग यात्रा का साधन कहा गया है।

(२) **गृहस्थ से पृथक्करण** - गृहस्थ आरम्भ-परिग्रह से युक्त होने के कारण वस्त्रधारी होते हैं अत यह निर्ग्रन्थ लिग उन गृहस्थो से भिन्नता का द्योतक है।

(३) **आत्मस्थिति** - अपनी अस्थिर आत्मा को मोक्षमार्ग मे स्थिर करना यह आत्मस्थिति है। उत्सर्ग लिंगवाला विचार करता है कि जब मैंने वस्त्रो का ही त्याग कर दिया है तब मुझे राग, रोष, मान, माया और लोभ से क्या प्रयोजन है। लोक में सब अलकरण वस्त्रमूलक हैं, जब वस्त्रों का ही त्याग हो गया है तब मुझे राग से क्या प्रयोजन है। परिग्रह क्रोध का कारण होने से दुखदाई है। परिग्रह का त्याग करके भी यदि क्रोध नहीं छोडूगा तो सघ मेरी हँसी करेगा और यह क्रोधरूपी अग्नि, ज्ञान रूपी जल के सिंचन से फले-फूले मेरे तपोवन को नष्ट कर देने वाली है अत इससे भी मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार मान, माया एव लोभादि के प्रति चिन्तन कर वह अपनी आत्मा को रत्नत्रय मे स्थिर करता है।

(४) **जगत् के विश्वास का कारण** - सकल परिग्रह का त्याग मुक्ति का मार्ग है, इसमे यह यथाजातरूप, सहज स्वाभाविक वेष भव्य जीवो के विश्वास एव श्रद्धा में कारण होता है कि जो वस्त्रों को भी त्याग चुका है वह हमारी वस्तुएँ नहीं चुरायेगा। जो शरीर से भी निरपेक्ष है वह लोभ के वशीभूत होकर धन आदि से प्रयोजन नहीं रखेगा, निर्विकार होने से महिलाओ की ओर आकर्षित नहीं होगा, इत्यादि।

उत्सर्ग लिंग के अन्य गुण

परिकर्म-भय-ग्रन्थ-संसक्ति-प्रतिलेखना:।
लोभ-मोह-मद-क्रोधा:, समस्ता: सन्ति वर्जिता: ॥८४॥

अर्थ - उत्सर्ग लिग मे परिकर्म, भय, ग्रन्थ, ससक्ति, प्रतिलेखन, लोभ, मद, मोह और क्रोध आदि दोषो का त्याग हो जाने से अनेक गुण प्रगट हो जाते है॥८४॥

प्रश्न - इन परिकर्म आदि दोषो का नाश कैसे होता है और गुण कैसे प्रगट होते हैं?

उत्तर - निष्परिग्रही साधु को वस्त्रो की याचना, उन्हे धोना, सुखाना, उठाना एव सीना आदि परिकर्म मे समय नहीं लगाना पड़ता अत स्वाध्याय एव ध्यान आदि निराकुलतापूर्वक सम्पन्न होते हैं, अत परिकर्म नष्ट होने से गुण उत्पन्न होता है।

परिग्रह के त्याग से चोर आदि का भय नहीं होता अत निर्भयता प्रगट होती है। ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह के त्याग से आसक्ति का अभाव हो जाता है और छाती पर से मानो पहाड़ ही हट गया हो ऐसा लाघव गुण प्रगट हो जाता है।

वस्त्रो के सम्बन्ध से जूँ, लीख आदि सम्मूर्छन जीवो का ससर्ग होता रहता है, वस्त्रत्यागी के इस ससक्ति दोष का अभाव हो जाता है। कोई पदार्थ पास मे न रहने से उन्हे शोधन आदि नहीं करना पड़ता अत. अप्रतिलेखन गुण प्रगट हो जाता है। इसी परिग्रह से उत्पन्न होने वाले लोभ, मद, मोह और क्रोध आदि दोष परिग्रहत्याग के साथ ही नष्ट हो जाते है और शौच आदि गुण प्रगट हो जाते हैं।

अङ्गाक्षार्थ-सुख-त्यागो, रूपं विश्वास-कारणम्।
परीषह-सहिष्णुत्वमर्हदाकृति-धारणम्॥८५॥

अर्थ - उत्सर्ग लिग शरीरसुख, इन्द्रियसुख और विषयसुख के त्याग का कारण है, विश्वास का हेतु है, परीषह सहिष्णुता का निमित्त है एव अर्हन्त प्रभु की आकृति के अनुरूप है॥८५॥

स्ववशत्वमदोषत्वं, धैर्य-वीर्य-प्रकाशनम्।
नानाकारा भवन्त्येवमचेलत्वे महागुणाः ॥८६॥

अर्थ - इस लिंग मे स्ववशता अर्थात् स्वाधीनता रहती है; राग, मोह एव लोभादि दोष नष्ट हो जाते हैं और इस निर्ग्रन्थ वेष से आत्मा के धैर्य तथा वीर्य आदि गुण प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार अचेलत्व वेष मे नाना प्रकार के महागुण निवास करते हैं॥८६॥

सम्यक्प्रवृत्त-निःशेष-व्यापारः समितेन्द्रियः।
इत्थमुत्तिष्ठते सिद्धौ, नाग्न्य-गुप्तिमधिष्ठितः॥८७॥

अर्थ - इस प्रकार नग्नता एव गुप्ति को धारण करने वाले इस लिग मे आसन, शयन, गमन एव आहार आदि समस्त कार्य सम्यक् अर्थात् सावधानीपूर्वक होते हैं, सर्व इन्द्रियाँ सीमित अर्थात् वशीभूत हो जाती हैं और वह साधु सदैव आत्मसिद्धि के लिए उद्यमशील रहता है॥८७॥

अपवादलिंगधारी भी शुद्ध हो सकता है

आपवादिक लिङ्गोऽपि, निन्दा-गर्हा-परायणः।
जन्तुरच्छादकः शक्तेः, सङ्गत्यागी विशुद्ध्यति॥८८॥

अर्थ - अपवाद लिंग मे स्थित होते हुए भी अपनी शक्ति को न छिपाते हुए और निन्दा-गर्हा करते हुए परिग्रह का त्याग करने पर शुद्ध होता है॥८८॥

प्रश्न - अपवादलिगधारी कौन हैं और वे किसकी निन्दा-गर्हा करते है?

उत्तर - अपवादलिगधारी क्षुल्लक, क्षुल्लिका, श्रावक और श्राविका होते है। ये स्वय की निन्दा करते हैं कि मुक्ति का साक्षात् कारण तो उत्सर्ग लिग है किन्तु मैंने पूर्वजन्म मे अवश्य कोई ऐसा पाप सचय किया है जिससे आज मैं उत्सर्ग लिग धारण नहीं कर सकता। मुझ पापी ने परीषहो से डरकर ये वस्त्र आदि धारण कर रखे है, ऐसा अन्त सन्ताप करता हुआ अपनी निन्दा करता है। गुरुजनो से कह कर गर्हा करता है और शक्तिप्रमाण परिग्रह का त्याग कर वह विशुद्ध परिणामो द्वारा अपनी आत्मा का शोधन करता है।

प्रश्न - अपवाद लिग मे आर्यिका का ग्रहण क्यो नहीं किया गया?

उत्तर - क्योंकि मुनि की भाँति आर्यिका भी उत्सर्ग लिंगधारी है। मूलाराधना मे कहा है- ''परमागम मे स्त्रियो का अर्थात् आर्यिकाओ का और श्राविकाओ का जो उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग कहा है वही लिंग भक्तप्रत्याख्यान के समय समझना चाहिए अर्थात् आर्यिकाओ का भक्तप्रत्याख्यान के समय उत्सर्गलिग विविक्तस्थान में होना चाहिए अर्थात् वह भी मुनिवत् उस समय नग्नरूपता धारण करे ऐसी आगमाज्ञा है परन्तु श्राविका का उत्सर्ग लिंग भी है और अपवाद लिंग भी है। यदि वह श्राविका सपत्तिवाली अथवा लज्जावती होगी अथवा उसके बान्धवगण मिथ्यात्वी हो तो वह अपवादलिंग धारण करे अर्थात् पूर्व वेष में ही रह कर भक्तप्रत्याख्यान से मरण करे तथा जिस श्राविका ने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिकास्थान मे उत्सर्गलिग-नग्नता धारण कर सकती है।''

- मूलाराधना-भगवती आराधना पृ. २१०-११ गाथा ८१ की टीका का अनुवाद
जिनदास पार्श्वनाथ फड़कुले

॥ इस प्रकार उत्सर्ग लिग अर्थात् अचेलगुण का वर्णन समाप्त हुआ॥

दोषों के निराकरण हेतु केशलोच किया जाता है

संस्काराभावत: केशा:, सम्मूर्च्छन्ति निरन्तरम्।
विशन्त्यागन्तवो जीवा, दूरक्षा: शयनादिषु ।।८९।।

अर्थ - सस्कार के अभाव में केश जूँ, लीख आदि सम्मूर्च्छन जीवों के आधार होते हैं और वे सम्मूर्च्छन जीव शयन आदि के समय दुष्प्रतिकार होते हैं तथा अन्यत्र से आते हुए भी कीट आदि देखे जाते हैं।।८९।।

प्रश्न - केशलोच न करने मे क्या दोष हैं ?

उत्तर - साधुजन कभी पानी से बाल नहीं धोते, तेलादि का मर्दन नहीं करते एव सुगन्धित वस्तु नहीं लगाते, अत केशो में सम्मूर्च्छन जूँ एव लीखादि उत्पन्न हो जाते हैं, तब साधु के सोने पर, धूप मे जाने पर एव सिर के टकरा जाने पर उन जीवो को बाधा होती है। अर्थात् भिन्न देश, भिन्न काल एव भिन्न स्वभाव होने से अथवा खुजली आदि करने से उन जीवो को पीडा होती है। जो जीव केशो मे उत्पन्न होते हैं वे तो दुष्प्रतिकार है ही किन्तु अन्यत्र से आकर भी अनेक कीटाणु बालो मे घुस जाते हैं। यदि दिगम्बर साधुओ की केशलोच व्यवस्था न होती तो अन्य मतावलम्बियो के साधुजनो मे और इनमे भेद करना दुष्कर हो जाता। केशलोच न करने से ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं इसीलिए जिनेन्द्रदेव ने केशलोच करने की आज्ञा प्रदान की है।

संक्लेश: पीड्यमानस्य, यूका-लिक्षेण दु:सह:।
पीड्यते तच्च कण्डूतौ, यतो लोचस्ततो मत: ।।९०।।

अर्थ - जूँ और लीखो से पीडित साधु के दुस्सह सक्लेश उत्पन्न होता है। खुजाने पर वे जूँ आदि भी पीडित होते है, इस कारण यह केशलोच किया जाता है।।९०।।

केशलोच करने में अनेक गुण हैं

मुण्डत्वं कुर्वतो लोचमस्त्यतो निर्विकारता।
प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां, वीतरागमनास्तत: ।।९१।।

अर्थ - लोच करने से सिर मुण्डा हो जाता है। सिर की मुण्डता से निर्विकारता आती है,विकार रहित क्रियाशील होने से प्रकृष्ट चेष्टा अर्थात् मुक्तिमार्ग सम्बन्धी ध्यानादि क्रिया मे प्रवृत्ति हो जाती है और वीतरागभाव जाग्रत हो जाते है।।९१।।

प्रश्न - इस श्लोक का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - मैं नग्न हूँ और शिर से मुण्डित हूँ, इस वेष मे मेरा विलासपूर्ण गमन आदि देख कर लोग हँसेंगे कि नपुसक के स्त्रीविलास के सदृश इस मुण्डित साधु की विलासिता कैसी शोभती है, ऐसा विचार कर तथा शृंगार, कथा, कटाक्षयुक्त निरीक्षण आदि विकारभावों को दूर कर वह साधु केवल मुक्ति के लिए उद्यम करता है। यह इस श्लोक का अभिप्राय है।

दम्यमानस्य लोचेन, हृषीकार्थेऽस्य नाग्रह:।
स्वाधीनत्वमदोषत्वं, निर्ममत्वं च विग्रहे ।।९२।।

अर्थ - केशलोच से मन दमित हो जाता है, इन्द्रियो के विषयो मे प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है, स्वाधीनता, निर्दोषता और निर्ममत्व भाव प्रगट हो जाते हैं॥९२॥

आत्मीया दर्शिता श्रद्धा, धर्मे लोचं वितन्वता।
भावितं सकलं दुःखं, दुश्चरं चरितं तपः॥९३॥

अर्थ - केशलोच करने से आत्मा की धर्म अर्थात् चारित्र मे श्रद्धा प्रदर्शित होती है, शरीर कष्ट-सहिष्णु बनता है, दुश्चर चारित्र एव कठोर तप मे प्रवृत्ति होती है॥९३॥

प्रश्न - कष्ट-सहिष्णुता से क्या लाभ है?

उत्तर - शारीरिक कष्ट सहज मे सहन नहीं होता। बार-बार केशलोच करने से शरीर-निर्ममता और धर्म मे श्रद्धा दृढ़ हो जाती है, दृढ श्रद्धा से उपवृहण गुण वृद्धिंगत होता है, केशलोच की पीडा सहन कर लेने पर शारीरिक अन्य कष्ट सहन करने का सामर्थ्य प्रगट हो जाता है और कष्ट सहन करने से अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है।

॥ लोच प्रकरण पूर्ण ॥

व्युत्सृष्टशरीरता अर्थात् शरीर से ममत्व त्याग

न भ्रू-दन्तौष्ठ-कर्णाक्षि, नख-केशादिसंस्कृतिम्।
भजन्त्युद्वर्तनं स्नानं, नाभ्यङ्गं ब्रह्मचारिणः॥९४॥

अर्थ - ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाले साधुजन अपने भौ, दॉत, ओठ, कान, ऑख, नख एव केशादि का सस्कार नहीं करते, उबटन नहीं लगाते तथा अभ्यग स्नान नही करते है॥९४॥

प्रश्न - भौ, दॉत आदि के सस्कार किस प्रकार किये जाते हैं ?

उत्तर - विकट रूप से उठे हुए रोमो को उखाडना, उन्हे व्यवस्थित करना एव लटकती हुई भौं को ऊँचा करना भौं का सस्कार है। दॉत का मैल दूर करना, रगडना, घिसना और रगना आदि दॉतो का सस्कार है, ओठो का मल दूर करना या रगना ओठो का सस्कार है, छोटे कानो को बडा और बडे कानो को छोटे करना, मैल निकालना, रोग के बिना भी तैल डालना, इत्र लगाना कर्ण का सस्कार है, नेत्र धोना और अञ्जन आदि लगाना ऑखो का सस्कार है, काटना, छॉटना, रगड़ना और रगना नख का सस्कार है तथा शरीर मे तेल आदि का मालिश करना अभ्यग स्नान है। पापवर्धक ऐसे कोई सस्कार साधु नहीं करता।

न स्कन्धकुट्टन वासं, माल्यं धूप-विलेपनम्।
कराभ्या मलनं चूर्णं, चरणाभ्यां च मर्दनम्॥९५॥

अर्थ - कन्धो को दृढ बनाने हेतु उन्हे कूटना, मुख को सुवासित करने हेतु जातिफल आदि का प्रयोग, पुष्प, रत्न, मोती एव स्वर्ण की माला, कालागरु आदि धूप, सुगन्धित पदार्थों का विलेपन, हाथों से शरीर की मालिश करना एव पैरो से मर्दन आदि करना, इत्यादि कार्य ब्रह्मचर्य व्रत मे तत्पर साधु कदापि नहीं करते है॥९५॥

या रूक्षा लोच-बीभत्सा, सर्वाङ्गीण-मला तनुः।
सा रक्षा ब्रह्मचर्यस्य, प्ररूढ-नख-लोमिका॥९६॥

॥ व्युत्सृष्ट-देहता ॥

अर्थ - रूक्ष, लोच करने से बीभत्स, सम्पूर्ण शरीर मल से लिप्त तथा बढ़े हुए नख एव रोमो से युक्त शरीर ही ब्रह्मचर्य की रक्षा है॥९६॥

॥ इस प्रकार व्युत्सृष्टदेहता गुण का प्रकरण पूर्ण हुआ ॥

पीछी ग्रहण आवश्यक है

आसने शयने स्थाने, गमने मोक्षणे ग्रहे।
आमर्शन-परामर्श, प्रसाराकुञ्चनादिषु॥९७॥

स्वपक्षे चिह्नमालम्ब्यं, साधुना प्रतिलेखनम्।
विश्वास-संयमाधारं, साधु-लिङ्ग-समर्थनम्॥९८॥

अर्थ - आसन मे, शयन मे, स्थान मे, गमन मे, वस्तु रखने मे, ग्रहण करने मे, शरीर स्पर्श मे, परामर्श मे, अगोपाङ्ग पसारने अर्थात् फैलाने मे और सकोच करने मे पीछी से परिमार्जन करना चाहिए॥९७॥

स्वपक्ष मे अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा मे पीछी चिह्न स्वरूप है। साधु द्वारा पूर्वकथित स्थानो पर प्रतिलेखन होना चाहिए। यह पीछी दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुद्रा की समर्थक है, मनुष्यो को विश्वास कराने वाली है और सयम का आधार है॥९८॥

प्रश्न - स्वपक्ष का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - स्वपक्ष अर्थात् मै सब जीवो पर दया करूँगा, ऐसी मुनिराज द्वारा की हुई प्रतिज्ञा। यह पीछी उस प्रतिज्ञा का चिह्न अर्थात् प्रमाण है। अर्थात् यह अभयप्रदान का प्रतीक है। यह पीछी सर्व मनुष्यो मे विश्वास उत्पन्न कराती है कि जब यह साधु अतिसूक्ष्म कीट आदि जीवो की रक्षा के लिए पीछी लिये हुए है तब हमारे जैसे बडे-बडे जीवो को बाधा कैसे पहुँचायेगा ? इत्यादि।

पाँच गुण युक्त पीछी ग्रहण करनी चाहिए

लघ्वस्वेद-रजोग्राहि, सुकुमार-मृदूदितम्।
इति पञ्चगुण योग्यं, ग्रहीतुं प्रतिलेखनम्॥९९॥

॥ इति प्रतिलेखनं। इति लिग॥

अर्थ - जो लघुत्व अर्थात् हल्की है, अस्वेदत्व अर्थात् पसीना ग्रहण नहीं करती, रजो अग्रहण अर्थात् धूलि आदि को ग्रहण नहीं करती, सुकुमार अर्थात् नाजुक अगो वाली है और कोमल अर्थात् सुन्दर और मनोहर है। इस प्रकार इन पाँच गुण युक्त मयूर पख की पीछी ग्रहण करने योग्य है॥९९॥

॥ इस प्रकार प्रतिलेखन प्रकरण पूर्ण हुआ ॥

इस प्रकार अचेलत्व, केशलोच, व्युत्सृष्टशरीरता और प्रतिलेखनत्व इन चार गुणो से युक्त लिंग नाम का दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

३. शिक्षा अधिकार

जिन वचन प्रशंसा

निपुणं विपुलं शुद्धं, निकाचितमनुत्तरम्।
पापच्छेदि सदा ध्येयं, सार्वीयं वाक्यमार्हतम्॥१००॥

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान के वचन निपुण, विपुल, शुद्ध, अर्थ से परिपूर्ण, सर्वोत्कृष्ट, पापनाशक, सबका हित करने वाले और सदा ध्येय रूप है॥१००॥

प्रश्न - जिन वचन के विशेषणो का अर्थ क्या है?

उत्तर - प्रत्येक विशेषण का सक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है -

१ **निपुण** - जीवादि पदार्थों का नय एव प्रमाणानुसार विवेचन करने से निपुण हैं।

२ **विपुल** - निक्षेप, निरुक्ति एव अनुयोगद्धार आदि द्वारा जीवादि तत्त्वो का विस्तार पूर्वक निरूपण करने से विपुल हैं।

३ **शुद्ध** - पूर्वापरविरोध, पुनरुक्ततादि दोष एव राग-द्वेष से रहित होने से शुद्ध हैं।

४ **निकाचित** - अर्थ से भरपूर है।

५. **अनुत्तर** - प्रतिपक्ष रहित एव सर्वोत्कृष्ट है।

६. **पापच्छेदि** - ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूप मल एव अज्ञानादि भाव मल अथवा घातिया कर्मरूप पाप का नाश करने वाले है।

७. **सार्वीय** - सब प्राणियो के हितकारी हैं और -

८ **सदा ध्येय** - अहर्निश ध्येय रूप हैं।

गद्य - जिनवचन के अभ्यास से प्रकट होने वाले गुण

सर्वभाव-हिताहितावबोध-परिणामसंवर-प्रत्यग्रसवेग-रत्नत्रयस्थिरत्व-तपोभावना - परदेशकत्व लक्षण-गुणाः सप्त सपद्यन्ते जिनवचन-शिक्षया ॥१०१॥

अर्थ - जिनेन्द्रदेव के वचनो का अभ्यास करने से १ हिताहित का ज्ञान, २ भावसवर, ३ नवीन-नवीन सवेग, ४ रत्नत्रय मे स्थिरता, ५ तप, ६ भावना और ७ परोपदेश मे कुशलता, ये सात गुण प्रगट होते है ॥१०१॥

प्रश्न - आत्मा का हित इन्द्रिय-सुख मे है या आत्मिकसुख में?

उत्तर - इन्द्रियसुख तो आत्मा का अहित करने वाला है क्योकि वह सुख (१) मात्र दुख के प्रतिकार स्वरूप है। (२) अल्पकाल रह कर नष्ट हो जाने वाला है। (३) इन्द्रिय और पदार्थों के आधीन है। (४) रागभाव

उत्पन्न करके आत्मा को कर्मों से बद्ध करता है। (५) उसकी प्राप्ति भी दुर्लभ है। (६) दुर्गति का मार्ग है। (७) शारीरिक आयाम से उत्पन्न होता है। (८) अपवित्र शरीर से उत्पन्न होता है। (९) दुखों से मिश्रित रहता है। (१०) कर्मों के आधीन है और (११) पाप का बीज है, अत· इस इन्द्रियसुख से आत्मा का हित कदापि नहीं होता।

आत्मिक सुख कर्मों के नाश से स्वयमेव आत्मा में उत्पन्न होता है, आत्मा के साथ शाश्वत रहने वाला है और इस सुख की प्राप्ति के लिए ही हितेच्छु भव्यजन सदा प्रयत्न करते हैं क्योकि यही सुख आत्मा का हित है। जिनवचन के अभ्यास से ही हितरूप आत्मिक सुख का और अहितरूप इन्द्रियसुख का ज्ञान होता है।

प्रश्न - भावसवर आदि शेष गुणो का क्या लक्षण है?

(२) **उत्तर - परिणाम-संवर** - इसका भाव है कि जिन पाप-परिणामो से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है उन परिणामो का त्याग भाव सवर है। सरागी जीव जिनवचन के अभ्यास से ही पापपरिणामों को छोड़ते है। वीतराग मुनिराजो की अपेक्षा जिनवचन शुद्धोपयोग मे कारण हैं क्योंकि वहाँ पुण्यास्रव के कारणभूत परिणामो के त्याग रूप भावसवर होता है। जिनवचन के अभ्यास से ही आस्रव के निमित्त रूप शुभाशुभ परिणामो का त्याग होता है अत भावसवर जिनवचन का गुण है।

(३) **प्रत्यग्र संवेग** इसका अर्थ है, प्रतिदिन नवीन-नवीन सवेग। अर्थात् जिनवचन के अभ्यास से प्रतिदिन धर्म में श्रद्धा होती जायेगी और ससार के स्वरूप का ज्ञान वृद्धिगत हो जाने से ससार-भीरुता रूप नये-नये परिणाम जाग्रत होते जायेगे।

(४) **रत्नत्रय स्थिरत्व** जिनवचन के अभ्यास से रत्नत्रय मे सिद्धि एव निश्चलता प्राप्त होती है।

(५) **तप** - जिनवचन से स्वाध्याय नामक अभ्यन्तर तप की वृद्धि एव सिद्धि होती है।

(६) **भावना** - गुप्तियो मे भावना दृढ़ होती है और -

(७) **परदेशकत्व** - भव्यों को धर्मोपदेश देने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार जिनवचन के अभ्यास से आत्मा में ये सात गुण स्वयमेव स्फुरायमान होते जाते हैं।

(८) हिताहित का ज्ञान

सर्वे जीवादयो भावा, जिनशासन-शिक्षया।
तत्त्वतोऽत्रावबुध्यन्ते, परलोके हिताहिते ॥१०२॥

अर्थ - जिनशासन की शिक्षा से अर्थात् ज्ञान के प्रभाव से जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष आदि सर्व पदार्थों के सत्य स्वरूप का बोध हो जाता है, तथा इसके सामर्थ्य से इस लोक एव परलोक मे हिताहित का भी परिज्ञान हो जाता है॥१०२॥

प्रश्न - आत्महित के लिए क्या करना चाहिए और आत्मा का यथार्थ हित क्या है?

उत्तर - जैसे जगल में उत्पन्न होने वाली वनस्पति रूप औषधि रोगी का हित करती है वैसे ही इस लोक में दान एव तप आदि उत्तम कार्य आत्मा का हित करते हैं अत· इसलोक में उन्हें ही हित कहा जाता है। क्योंकि

दानदाता की कीर्ति जगत् मे चिरस्थायी रहती है। दान से वैर का नाश हो जाता है और शत्रु भी मित्र बन जाते है। इसी प्रकार जिनके पास तपरूपी धन है उन्हे चक्रवर्ती और इन्द्र आदि भी नमस्कार करते हैं।

अनन्त पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान ही सुखमय है। अर्थात् सुख ज्ञान रूप ही है अत वही आत्मा का यथार्थ हित है।

आत्मा और उसके हित का ज्ञान न होने से दोष उत्पन्न होते हैं

हिताहितमजानानो, जीवो मुह्यति सर्वथा।
मूढो गृह्णाति कर्माणि, ततो भ्राम्यति ससृतौ ॥१०३॥

अर्थ - जिसे आत्मा के हित एव अहित का ज्ञान नही हुआ वह जीव मोहित होता है और उस मोह से वह अनन्त ससार मे भ्रमण करानेवाले अशुभकर्मो का बन्ध कर लेता है॥१०३॥

आत्महित के ज्ञान का उपयोग

हितादानाहित-त्यागौ, हिताहित-विबोधने।
यतस्ततः सदा कार्यं, हिताहित-विबोधनम्॥१०४॥

अर्थ - जो भव्यजीव हित-अहित को जान लेता है, वह हित मे प्रवृत्ति और अहित का त्याग करने मे समर्थ हो जाता है, अत सदा अपनी आत्मा के हित, अहित को जानने का प्रयत्न करना चाहिए॥१०४॥

जिनवचन के अध्ययन से अशुभ भावों का सवर होता है

स्वाध्यायं पञ्चशः कुर्वंस्त्रिगुप्तः पञ्च-संवृत.।
एकाग्रो जायते योगी, विनयेन समाहितः ॥१०५॥

अर्थ - जो वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेश रूप पॉच प्रकार का स्वाध्याय करता है, उसके पॉचो इन्द्रियो का निरोध होता है और तीन गुप्तियो का पालन होता है। वह विनय युक्त साधु एकाग्रचित्त अर्थात् ध्यान के योग्य होता है और ध्यान से सवर होता है॥१०५॥

प्रश्न - स्वाध्याय से सवर कैसे होता है ?

उत्तर - गति मे पहुॅचते ही इस जीव को देह मिलता है, देह से इन्द्रियॉ बनती है, इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण होता है और उससे रागद्वेष होते हैं। अर्थात् आस्रव होता है, किन्तु जो साधु विनयपूर्वक स्वाध्याय करते है उनकी पॉचो इन्द्रियॉ सवृत हो जाती है, मन अप्रशस्त रागादि के विकारो से रहित हो जाता है, वे वचन नहीं बोलते। अर्थात् रूक्ष, कठोर, कर्कश, झूठ, स्वप्रशसा और पर निन्दा रूप वचन नहीं बोलते और शरीर से कोई भी पापरूप हिसात्मक कार्य नहीं करते अर्थात् गुप्तियो का पालन करते है। जिससे अनुप्रेक्षादि रूप स्वाध्याय मे मन एकाग्र हो जाता है अर्थात् प्रवृत्ति ध्यानरूप हो जाती है जिससे सवर होता है।

नवीन सवेग के उत्पन्न होने का क्रम

अदृष्ट-पूर्वमुच्चार्थमभ्यस्यति जिनागमम्।
यथा-यथा यतिर्धर्मे, प्रहृष्यति तथा-तथा॥१०६॥

अर्थ - अपूर्व-अपूर्व अर्थ से अर्थात् श्रेष्ठ गूढ़ अर्थ से भरे हुए जिनागम का जैसे-जैसे अभ्यास करता है, वैसे-वैसे मुनिधर्म मे विशिष्ट अनुराग वृद्धिंगत होता जाता है ॥१०६॥

प्रश्न - जिनवचन से संवेग और सवेग से आत्महित कैसे होता है?

उत्तर - जैसे आम्रफल स्वादिष्ट रस से भरा रहता है वैसे ही जिनवचन रूपी शब्दात्मक श्रुत मे अर्थरूपी सर्वोत्कृष्ट रस भरा हुआ है। अत· जिनवचन का अध्ययन करने से अपूर्व-अपूर्व अर्थात् नये-नये अर्थो का तथा प्रमेयो का बोध हो जाता है। आत्मा सहित अन्य पदार्थो के यथार्थ बोध से आत्मा मे सवेग अर्थात् ससार से भय उत्पन्न हो जाता है जिससे धार्मिक श्रद्धा दृढ हो जाती है। यह श्रद्धा मन को निरन्तर प्रफुल्लित रखती है तथा यही धार्मिक श्रद्धा-जन्य प्रफुल्लता आत्महित की साधक है।

स्वाध्याय से रत्नत्रय में निष्कम्पता आती है

शुद्ध्या निःकम्पनो भूत्वा, हेयादेय-विचक्षणः।
रत्नत्रयात्मके मार्गे, यावज्जीवं प्रवर्तते ॥१०७॥

अर्थ - शास्त्राभ्यास द्वारा जिन्हे हेय-आदेय अर्थात् हानि-लाभ को जानने की विचक्षणता प्राप्त हो गई है वे मुनिराज शुद्धि के बल से रत्नत्रयमार्ग मे निष्कम्पता पूर्वक जीवन पर्यन्त प्रवर्तन करते हैं ॥१०७॥

प्रश्न - रत्नत्रय मार्ग मे निष्कम्पता कैसे आती है?

उत्तर - शास्त्राभ्यास के बिना गुण-दोषो का ज्ञान नहीं होता, तब बिना जाने गुणो को कैसे ग्रहण किया जा सकता है और दोषो को कैसे छोडा जा सकता है।

स्वाध्याय के माध्यम से रत्नत्रय की हानि एव वृद्धि का परिज्ञान कर मुनिजनो के द्वारा हानिरूप कारणो का त्याग और वृद्धिरूप कारणो का सचय तथा अतिचारों का परिहार और दर्शन, ज्ञान, चारित्र की विनय करने से रत्नत्रय विशुद्ध होता है, इस विशुद्धि की वृद्धि मे उद्यमशील साधु ही रत्नत्रय मे निश्चलतापूर्वक प्रवर्तन कर सकते है। सम्यग्दर्शनादि की हानि-वृद्धि इस प्रकार होती है-आगमाभ्यास से सम्यग्दर्शन के नि शकितादि आठो गुण बढते हैं और अभ्यास के अभाव मे शकादि दोष बढते हैं जिससे उसकी हानि होती है।

अर्थशुद्धि, व्यजन शुद्धि एव उभयशुद्धि आदि के भेद से ज्ञानविनय आठ प्रकार की है। इस विनय के आश्रय से श्रुतज्ञान मे मन एकाग्र हो जाता है, यह सम्यग्ज्ञान की वृद्धि है। मन एकाग्र न होने से जीवादि पदार्थो का समीचीन ज्ञान नहीं हो पाता अत यह उसकी हानि है। सतत ज्ञानाभ्यास के बिना पूर्वकालीन ज्ञान भी विस्मृत या शकास्पद हो जाता है, यह भी सम्यग्ज्ञान की हानि ही है।

सयम की भावना से तप वृद्धिगत होता है, तप करने मे अपनी शक्ति न छिपाना, ज्ञानाभ्यास मे सदा तत्पर रहना, ऐहिक कार्यों मे सदा अनासक्त रहना, ये सब तपवृद्धि के कारण हैं और इनसे विपरीत होने वाली साधु की क्रियाएँ तप की हानि करती हैं।

पापक्रियाओ से विरक्त होना सयम है तथा मनोयोग, वचनयोग और काययोग की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना चारित्र है। इनमें अहिसादि पाँचों व्रतो मे से प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं, इन पच्चीस भावनाओ

के अभ्यास से चारित्र की वृद्धि होती है और इन भावनाओ की उपेक्षा करने से चारित्र की हानि होती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनादि के वृद्धिंगत होने पर ही रत्नत्रय मे निश्चलतापूर्वक प्रवर्तन हो सकता है अत: आगमाभ्यास आवश्यक है।

जिनवचन की शिक्षा तप है

तपस्यभ्यन्तरे बाह्ये, स्थिते द्वादशधा तप:।
स्वाध्यायेन समं नास्ति, न भूतं न भविष्यति ॥१०८॥

अर्थ - सर्वज्ञ प्रणीत बाह्य और अभ्यन्तर भेद सहित बारह प्रकार के तपों मे स्वाध्याय के सदृश तप न पूर्व मे था, न वर्तमान मे है और न भविष्य मे कभी होगा। अर्थात् तीनो कालो में स्वाध्याय ही सर्व-श्रेष्ठ तप है।।१०८॥

प्रश्न - बाह्य और अभ्यन्तर तप किसे कहते है ?

उत्तर - जो लोग समीचीन मार्ग से बाह्य हैं, वे भी जिन्हें जानते हैं अथवा बाह्य अर्थात् गृहस्थो द्वारा भी जिनका आचरण किया जाता है अथवा जो बाह्य जनो के दृष्टिगोचर होता है ऐसे अनशन, ऊनोदर आदि को बाह्य तप कहते है और जो सन्मार्ग अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप मुक्तिमार्ग को जानते है ऐसे मुनिजन जिनका आचरण करते हैं ऐसे विनय, स्वाध्याय एव प्रायश्चित्त आदि को अभ्यन्तर तप कहते है।

अन्य तपों की अपेक्षा स्वाध्याय तप में अतिशयता है

बह्वीभिर्भवकोटिभिर्यदज्ञानेन हन्यते।
हन्ति ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तस्तत्कर्मान्तर्मुहूर्तत: ॥१०९॥

अर्थ - सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को करोड भवो मे नष्ट करता है, उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियो से युक्त होता हुआ अन्तर्मुहूर्त मात्र मे क्षय कर देता है॥१०९॥

षष्ठाष्टमादिभि: शुद्धिरज्ञानस्यास्ति योगिन:।
ज्ञानिनो वल्भमानस्य, प्रोक्ता बहुगुणास्तत: ॥११०॥

अर्थ - सम्यग्ज्ञान रहित साधु षष्ठोपवास अर्थात् बेला एव अष्टमोपवास अर्थात् तेला आदि करके जितनी विशुद्धि प्राप्त करता है उससे बहुत गुणी विशुद्धि आहार ग्रहण करते हुए ज्ञानी के होती है॥११०॥

प्रश्न - कोटि भवो मे जो कर्मक्षय हो वह अन्तर्मुहूर्त मे हो जाय और बेला-तेला उपवास करने वाले की विशुद्धि से आहार करने वाली की विशुद्धि बहुगुणी हो, ये दोनों बातें कैसे सम्भव होती हैं?

उत्तर - सम्यग्ज्ञान रहित जीव को कर्मक्षय मे करोडों भव लगते हैं। उसका कारण है कि उसके पास समीचीन श्रद्धा और समीचीन चारित्र भी नहीं है, किन्तु उसी कर्मपटल को अन्तर्मुहूर्त में नाश करने वाला रत्नत्रयधारी है और तीन गुप्तियों का भी स्वामी है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञानी के स्वाध्याय तप मे जो सामर्थ्य है वह उसके अन्य तपो मे नहीं है।

दूसरी बात का भी यही कारण है कि सम्यग्ज्ञान रहित अनशन तप करने वाले तपस्वी की आत्मा

मिथ्यात्व मल से दूषित होने के कारण उस विशुद्धि से विशुद्ध हो ही नहीं सकती क्योंकि उसका तप समीचीन श्रद्धा और समीचीन ज्ञान पर अधिष्ठित नहीं है किन्तु आहार करनेवाले स्वाध्यायरत योगी को सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान का भी साहाय्य प्राप्त है अत उसका अल्प तप भी उसकी आत्मा को उत्तरोत्तर अधिकाधिक विशुद्ध करता जाता है। उसके कर्मबन्ध अल्प होता है और निर्जरा उत्तरोत्तर असख्यात गुणित क्रम से होती है।

रत्नत्रय की निश्चलता का कारण

स्वाध्यायेन यत: सर्वा, भाविता: सन्ति गुप्तय:।
भवत्याराधना मृत्यौ, गुप्तीनां भावने सति ॥१११॥

अर्थ - स्वाध्याय से सर्व गुप्तियाँ भावित होती हैं और गुप्तियो की भावना होने से मरण समय मे भी रत्नत्रयरूप परिणामो की आराधना मे तत्पर रहता है॥१११॥

प्रश्न - स्वाध्याय में रत साधु ही रत्नत्रय की निश्चलता प्राप्त कर पाता है, इसका अभिप्राय या कारण क्या है?

उत्तर - अनन्तकाल से मन, वचन, काय रूप इन तीन अशुभ योगो का ही अभ्यास इस जीव ने किया है और कर्मोदय ने सदा इसे इस कार्य मे बल प्रदान किया है अत इनसे अलग होना या छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। मात्र स्वाध्याय की भावना ही इनसे छुटकारा दिलाने में समर्थ है, कारण कि कर्मो को लाने मे जो समर्थ कारण मन, वचन, काय का व्यापार है वह व्यापार स्वाध्यायरत साधु का स्वभावत बन्द हो जाता है। अर्थात् तीनो गुप्तियाँ भावित हो जाती हैं, तब तीनो योगो का निरोध करने वाला योगी मरणपर्यन्त रत्नत्रय मे ही निश्चल रहता है। पवन के अभाव मे जैसे समुद्र-निस्तरग रहता है वैसे अशुभ योगों की चचलता के अभाव मे आत्मा रत्नत्रय मे निश्चल रहती है।

स्वाध्याय से धर्मोपदेश की पात्रता प्राप्त होती है

जिनाज्ञा स्व-परोत्तारा, भक्तिर्वात्सल्य-वर्धनी।
तीर्थ-प्रवर्तिका साधोर्ज्ञानत: परदेशना ॥११२॥

॥ इति शिक्षा-सूत्रम्॥

अर्थ - स्वाध्याय रत साधु जिनाज्ञापालन, स्व-पर उद्धार, भक्ति, वात्सल्य-वृद्धि, तीर्थप्रवर्तन और परदेशना अर्थात् धर्मोपदेश रूप गुणगणो को प्राप्त कर लेते हैं॥११२॥

प्रश्न - धर्मोपदेश से उत्पन्न होने वाले इन गुणो के क्या लक्षण हैं?

उत्तर - जिनाज्ञा - 'जिनमत मे प्रीति रखने वाले मोक्षेच्छु साधुओ को नियम से धर्मोपदेश करना चाहिए' ऐसी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है। धर्मोपदेशक साधु मे इस **आज्ञागुण** का द्योतन होता है। **स्व-पर-उद्धार** - धर्मोपदेश देने से जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन होता है जिससे उसका स्वय का उद्धार होता है और जिनवचन सुन कर अन्य साधु एव श्रावकजन हितमार्ग का बोध प्राप्त करते हैं, अत पर का भी उपकार होता है।

भक्ति - जिनवचन का अभ्यास करके उपदेश देनेवाले मुनिराजों का जिनमत में अनुराग प्रगट होता है, क्योकि गुणों मे अनुराग होना ही भक्ति का लक्षण है।

वात्सल्यवृद्धि - ससार के दुखी प्राणियो पर, अज्ञान अन्धकार मे भटकनेवाले अज्ञ प्राणियों पर एव साधर्मिक बान्धवो पर वात्सल्य भाव वृद्धिंगत होता है, क्योकि वात्सल्य भाव के बिना दूसरो को धर्मोपदेश देकर समीचीन मार्ग मे लगाने का पुरुषार्थ बन ही नहीं सकता।

तीर्थप्रवर्तन - रत्नत्रय का वर्णन करने मे तत्पर होने से जिनागम तीर्थ है एव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे निहित रहनेवाला मोक्षमार्ग भी तीर्थ है। धर्म रूपी उपदेशदान से श्रुत की एव मोक्षमार्ग की परम्परा सदा प्रवाहित होती रहती है।

परदेशना - सतत उपदेश देते रहने से वचन कला मे उत्कर्ष हो जाता है और समझाने की चतुरता वृद्धिंगत हो जाती है।

इस प्रकार शिक्षा प्रकरण पूर्ण हुआ ॥३॥

४. विनय अधिकार

विनय के भेद

विनयो दर्शने ज्ञाने, चारित्रे तपसि स्थित:।
उपचारे च कर्तव्य:, पञ्चधापि मनीषिभि: ॥११३॥

अर्थ - दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय, इस प्रकार बुद्धिमानो को पॉच प्रकार की विनय करनी चाहिए॥११३॥

दर्शन विनय

उपबृंहादि तात्पर्यं, भक्त्यादि-करणोद्यम:।
सम्यक्त्व-विनयो ज्ञेय:, शङ्कादीना च वर्जनम् ॥११४॥

अर्थ - शकादि दोषो का त्याग कर उपबृहण या उपगूहन आदि गुणो मे एव भक्ति आदि करने मे जो उद्यम है उसे सम्यक्त्व विनय जानो॥११४॥

प्रश्न - विनय किसे कहते हैं और सम्यक्त्व विनय क्या है?

उत्तर - "विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभ तद्विनय" अर्थात् जो अशुभ कर्मों को या अष्ट कर्मों को नष्ट करती है उसे विनय कहते हैं।

शका आदि दोषो का त्याग, अरहन्तदेव आदि की भक्ति और उपबृहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, इन गुणो को धारण करना सम्यग्दर्शन की विनय है। इससे पहले श्लोक ४८, ४९, ५० के द्वारा इन सबका कथन किया जा चुका है।

ज्ञान विनय

ज्ञानीयो विनय: काले, विनयेऽवग्रहे मत:।
बहुमानेऽनपह्नुत्यां, व्यञ्जनेऽर्थे द्वयेऽष्टधा ॥११५॥

अर्थ - **श्रुत एव श्रुतवानों की विनय, काल, अवग्रह, बहुमान, अनिह्नव, व्यजन शुद्धि, अर्थ शुद्धि और उभय शुद्धि ये आठ प्रकार की ज्ञान विनय हैं ॥११५॥**

प्रश्न - इन विनय एव काल आदि के क्या लक्षण हैं?

उत्तर - १ **विनय**-श्रुत एव श्रुतधारीजनों की भक्ति, आदर एव उनके माहात्म्य का स्तवन करना।

२ **कालशुद्धि**-सन्ध्या, पर्व, दिग्दाह, उल्कापात आदि असमय मे स्वाध्याय नहीं करना काल विनय है।

३ **अवग्रह** - 'जब तक आगम का यह अनुयोग अथवा यह शास्त्र पूर्ण नहीं होगा, तब तक मै अमुक वस्तु नहीं खाऊँगा।' इत्यादि रूप से नियम लेकर स्वाध्याय करना।

४ **बहुमान** - बहुमान का अर्थ सम्मान है। अर्थात् पवित्रता पूर्वक, दोनो हाथ जोड़ कर सादर नमस्कार पूर्वक, मन को निश्चल करके, ग्रन्थराज को लाते-ले जाते समय या विराजमान करते समय नाभि के ऊपर ही रखना, ग्रन्थ दोनो हाथ से उठाना एव शुभ मनोयोग पूर्वक पढना यह सब बहुमान विनय है।

५ **अनिह्नव** - गुरु का या ग्रन्थ का नाम नहीं छिपाना।

६ **व्यजन शुद्धि** - श्रुतज्ञान की मूल जड ककारादि व्यजन अर्थात् शब्द है, क्योकि शब्द ही द्रव्यश्रुत है, दूसरो को ज्ञान कराने मे हेतु है, अर्थशुद्धि के आधार है तथा इस शब्द श्रुत से ही वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है अत ककारादि व्यजनो का शुद्ध उच्चारण करना व्यजन शुद्धि है।

७ **अर्थ शुद्धि** - जिस शब्द का जो अर्थ है उसे वहाँ वैसे ही प्रकरण आदि के अनुसार लगाना अर्थात् शब्दो के अर्थ का अविपरीत निरूपण करना अर्थ शुद्धि है।

८ **उभय शुद्धि** - व्यजन और अर्थ की शुद्धि को तदुभय शुद्धि कहते है, अत· व्यजन शुद्धि तथा अर्थ शुद्धि पूर्वक ग्रन्थ पढना उभयशुद्धि है।

ज्ञानाभ्यास का यह आठ प्रकार का परिकर आठ प्रकार के कर्मों को दूर करने मे सहयोगी है अत इन शुद्धियो की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

चारित्र विनय

कुर्वतः समितीर्गुप्तीः, प्रणिधानस्य वर्जनम्।
चारित्र-विनयः साधोर्जायते सिद्धिसाधकः ॥११६॥

अर्थ - समिति एव गुप्तियो का पालन तथा प्रणिधान का परित्याग, यह चारित्र विनय है। यह चारित्र विनय साधुओ की सिद्धि का मूल साधक है ॥११६॥

प्रणिधान के भेद और उनके लक्षण

प्रणिधानं द्विधा प्रोक्तमिन्द्रियानिन्द्रियाश्रयम्।
शब्दादि-विषयं पूर्वं, परं मानादि-गोचरम् ॥११७॥

अर्थ - (इन्द्रिय और कषाय रूप आत्म-परिणति होना प्रणिधान है।) प्रणिधान दो प्रकार का है। इन्द्रिय प्रणिधान और अनिन्द्रिय अर्थात् मन प्रणिधान। शब्द, रस आदि विषय रूप आत्म-परिणति इन्द्रिय प्रणिधान है, तथा मान, मदादि कषाय विषयक आत्म-परिणति अनिन्द्रिय प्रणिधान है॥११७॥

उक्तं शब्दे रसे रूपे, स्पर्शे गन्धे शुभेऽशुभे -
रागद्वेष-विधानं यत्तदाद्यं प्रणिधानकम्॥११८॥

अर्थ - शुभ या अशुभ अथवा मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप, स्पर्श और गन्ध मे राग-द्वेष होना इन्द्रिय प्रणिधान है॥११८॥

मान-माया-मद-क्रोध-लोभ-मोहादि-कल्पनम्।
अनिन्द्रियाश्रयं ज्ञेयं, प्रणिधानमनेकधा॥११९॥

अर्थ - मान, माया, मद, क्रोध, लोभ एव मोहादि भाव मन में उत्पन्न होना अनिन्द्रिय अर्थात् कषाय प्रणिधान है। यह अनेक प्रकार का है॥११९॥

प्रश्न-इन्द्रिय प्रणिधान और कषाय प्रणिधान से आत्मा का अर्थात् चारित्र का क्या अविनय होता है?

उत्तर-पचेन्द्रियो के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयो मे रागद्वेष होना इन्द्रिय-प्रणिधान है, तथा आत्मा को जो कषती है अर्थात् कष्ट देती है उसे कषाय कहते है। जैसे वृक्ष की छाल का रस वस्त्र से सम्बद्ध हो जानेपर उसकी सफेदी और स्वच्छता को आच्छादित कर देता है, वस्त्र को टिकाऊ कर देता है और उसका वस्त्र से दूर हो जाना भी अशक्य होता है वैसे ही आत्मा से सम्बद्ध होनेवाली कषाय आत्मा की ज्ञान-दर्शन-रूप शक्ति को आच्छादित करती रहती है, आत्मा मे कर्मो की स्थिति को दृढ करती रहती है और आत्मा से बडे कष्ट अर्थात् प्रबल पुरुषार्थ पूर्वक छूटती है। इस प्रकार के इन दोनो प्रणिधानो मे मन की एकाग्रता होना अर्थात् रागद्वेष-निवृत्तिरूप आत्मपरिणति न होना ही चारित्र का अविनय है।

प्रश्न - पॉच महाव्रत, पॉच समिति और तीन गुप्ति ये चारित्रात्मक ही हैं, फिर यहाँ समिति तथा गुप्ति को चारित्र का विनय कह कर इन्हे चारित्र से पृथक् क्यो किया गया है? तथा इनका स्वरूप क्या है?

उत्तर - यहाँ चारित्र शब्द से पॉच महाव्रत ही ग्राह्य हैं। गुप्ति और समितियॉ तो उन व्रतो की परिकर हैं और परिकर की विनय द्वारा ही मूल वस्तु का द्योतन होता है।

समिति - जो प्रवृत्ति जीवसमूहो के स्वरूप के ज्ञान एव श्रद्धान पूर्वक की जाती है उसे सम्यक् प्रवृत्ति कहते है और इसी सम्यक् प्रवृत्ति का नाम समिति है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग के भेद से ये समितियॉ पाँच प्रकार की है।

गुप्ति - ससार के कारणो से आत्मा के गोपन को अथवा मन, वचन, काय की क्रियाओ की स्वच्छन्दता के निग्रह को गुप्ति कहते हैं। मन, वचन और काय के भेद से ये तीन प्रकार की होती हैं।

मनगुप्ति - मन का रागद्वेष आदि से प्रभावित न होना मनोगुप्ति है।

वचनगुप्ति - असत्य, कर्कश, कठोर तथा मिथ्यात्व एव असयम पोषक वचन नहीं बोलना वचनगुप्ति है।

कायगुप्ति - काय से ममत्व का त्याग अथवा उठने, बैठने, चलने, बोलने, खाने-पीने एव वस्तु को रखने-उठाने रूप शारीरिक क्रियाएँ अप्रमाद पूर्वक करना कायगुप्ति है।

समितियाँ प्रवृत्ति रूप और गुप्तियाँ निवृत्ति रूप होती है। इस प्रकार इन्द्रिय-अप्रणिधान, कषाय-अप्रणिधान, समिति एव गुप्ति रूप आत्म-परिणति चारित्र-विनय है।

तप विनय

परीषह-सहिष्णुत्वं श्रद्धोत्तरगुणोद्यमः।
योग्यावश्यक-सम्बन्धे, हान्युत्सेध-निराकृतिः ॥१२०॥

अर्थ - सम्यक् प्रकार से अर्थात् सक्लेश एव दीनता बिना परीषह सहन करना, उत्तरगुण अर्थात् सयम मे उद्यमशील रहना तथा हीनाधिकता के परिहारपूर्वक योग्य समय मे आवश्यको का पालन करना तप विनय है ॥१२०॥

प्रश्न - सयम को उत्तरगुण क्यो कहा, चारित्र क्यो नहीं कहा और तप विनय मे इसका ग्रहण क्यो किया गया है?

उत्तर - चारित्र ही सयम है और सयम ही चारित्र है। इनमे मात्र शब्दभेद है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उत्तरकाल मे चारित्र की उत्पत्ति होती है अत चारित्र या सयम को उत्तरगुण कहते हैं। श्रद्धा और ज्ञान के बिना असयम का त्याग नहीं होता और यदि कोई कर भी दे तो उसे सम्यक् चारित्र नाम प्राप्त नहीं होता। सयमरहित तपश्चरण का श्रम व्यर्थ है। सयम का उद्योत करने वाला तपश्चरण ही निर्जरा का कारण होता है, अत सयम को तप का परिकर कहा गया है। तप विनय मे सयम को ग्रहण किया गया है।

प्रश्न - तप विनय मे 'परीषह सहिष्णुत्व' पद क्यो दिया गया है और परीषह-सहिष्णु बनने के लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर - अनशन, अवमौदर्य एव रस-परित्याग आदि ये तप के भेद हैं। इन तपो के आचरण मे क्षुधा-तृषा आदि की वेदना होना स्वाभाविक है। उस वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करना, सक्लेशित नहीं होना ही परीषहजय है। यही सकेत देने हेतु श्लोक मे 'परीषहसहिष्णुत्व' पद दिया गया है।

उपवास आदि तप ग्रहण कर लेने के पश्चात् भूख-प्यास की वेदना से व्याकुल न होना कि मैं इसे कैसे सहूँगा, भोजनकथा मे आदरभाव न रखना, व्याकुलता पूर्वक यहाँ-वहाँ न घूमना, खान-पान के चिन्तन मे मन नहीं लगाना, मैं भूख-प्यास से पीड़ित हूँ ऐसी वाणी नहीं बोलना, पारणा के दिन भी याचना नहीं करना, 'उपवास से कमजोर मैं रूखा-सूखा भोजन नहीं कर सकता, मुझे दूध-घी आदि मिलना चाहिए' ऐसी याचना अथवा चिन्तन नहीं करना, दूध आदि की ओर आँख आदि से सकेत नहीं करना, दूध आदि इष्ट पदार्थ दिये जाने पर मुख प्रफुल्लित नहीं करना, न दिये जाने पर मुख पर क्रोध न लाना, 'मैं महान् तपस्वी हूँ फिर भी ये धर्मात्माजन

मेरा आदर-सम्मान नहीं करते, इन्होने एक भी दिन मेरी पूजा नहीं की या कोई प्रभावना नहीं की', इस प्रकार का कोप या सक्लेश नहीं करना। इस प्रकार समताभाव से क्षुधा, तृषा एव सत्कार-पुरस्कार आदि परीषहो को सहन करना चाहिए।

यदि **रसपरित्याग** किया है तो रसयुक्त आहार की कथा, चिन्तन या उस रस आदि मे आदर भाव न रखना, रसत्याग से उत्पन्न शरीर के सन्ताप को समता भाव से सहन करना।

आतापन योग मे धूप आदि आ जाने पर चित्त सक्लेशित नहीं करना एव उसका प्रतिकार करने वाली वस्तुओ में आदर भाव न रखना।

शून्य प्रदेश मे निवास करते हुए सर्प, सिंह, व्याघ्र एव पिशाच आदि से भयभीत नहीं होना। इस प्रकार **अरति परीषह** को जीतना।

प्रायश्चित्त करते समय "गुरु ने मेरा बलाबल नहीं देखा और मुझे महान् प्रायश्चित्त दे दिया" इस प्रकार कोप न करना अथवा प्रायश्चित्त तप से उत्पन्न श्रम मे सक्लेशित नहीं होना।

ज्ञान विनय के प्रसग मे "क्षेत्रशुद्धि एव कालशुद्धि आदि के निरीक्षण मे गुरु मुझे ही लगाते हैं" इस प्रकार कोप न करना। अथवा उससे होने वाले श्रम मे सक्लेशित न होते हुए उसे समतापूर्वक सहन करना।

दर्शन विनय के प्रसग मे 'सन्मार्ग से गिरते हुए को उठाना या स्थिर करना बडा कठिन है', 'जब अपने मन को भी सरल या सम्बोधित करना कठिन है तब दूसरो का तो कहना ही क्या?' इस प्रकार के सकल्प-विकल्प न कर उस श्रम को समतापूर्वक सहन करना।

चारित्र विनय में भी 'ईर्या आदि समितियो का पालन अति दुष्कर है, यह जगत् जीवो से भरा है, उन्हे कहाँ तक बचाया जा सकता है?' अथवा 'ईर्यापथ से चलने मे धूप आदि की बाधा अधिक सहन करनी पडती है।' 'जिस प्रकार दुर्जनो मे कृतज्ञता मिलनी कठिन है उसी प्रकार इस कलिकाल मे नौ कोटि से शुद्ध आहार मिलना कठिन है' इस प्रकार के विचार न करना चारित्र विनय है।

तप विनय मे उपवास आदि तप के अनुष्ठान मे लगे मेरे अप्रासुक जल के प्रयोग से अथवा अशुद्ध भिक्षाग्रहण आदि से लगे असयम के दोष 'मेरे इस तप से नष्ट हो जाते है' इस प्रकार का चिन्तन न कर उसे समता पूर्वक सहन करना।

उपचार विनय मे बार-बार खडे होना, उठना, पीछे जाना, प्रतिक्षण आज्ञा पालन करना, उपकरण आदि शुद्ध करना, इतना सब और इस प्रकार से कौन प्रतिदिन कर सकता है? इस प्रकार के मलिन विचार न कर प्रफुल्लता पूर्वक विनय आदि करनी चाहिए।

तप की उपकारता सम्यक् तप नवीन कर्मों को रोकता है, चिरकाल से सचित कर्मों की निर्जरा करता है, एव इन्द्र, चक्रवर्ती आदि की सम्पदाएँ देता है। सम्यक्तप के अलाभ से ही मुझे जन्म-मरण के चक्र तथा दुखों से भरे ससार-समुद्र मे भ्रमण करना पड़ा है तथा करना पड़ेगा। इस प्रकार तप के द्वारा होनेवाले उपकारों का चिन्तन कर एव तप में अनुराग कर उसी के लिए उद्यमशील रहना चाहिए।

आवश्यक

जो आत्मा में आवास कराते हैं ऐसे सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग को आवश्यक कहते हैं।

सर्व सावद्य के त्याग रूप समता परिणाम को **सामायिक** कहते हैं। वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों के गुणो को, उनके स्तवनों को ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक पढना चतुर्विंशतिस्तव है। रत्नत्रय विभूषित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और स्थविर मुनिराजों के गुणातिशयों को जानकर श्रद्धा-भक्ति से अभ्युत्थान पूर्वक उनकी विनय में प्रवृत्ति करना वन्दना आवश्यक है।

प्रश्न - अभ्युदयादि रूप विनय कौन करता है और इससे क्या लाभ हैं?

उत्तर - मान रहित, ससार से विरक्त, निरालस, सरल हृदय, दूसरो के गुणो को प्रगट करने मे तत्पर और सघप्रेमी अथवा धर्मप्रेमी ही विनय करते हैं। जिनेन्द्र देव ने विनय को प्रथम कर्तव्य कहा है क्योकि विनय से मान कषाय का विनाश होता है, गुरुजनों मे बहुमान, तीर्थंकरो की आज्ञा का पालन, श्रुतोपदिष्ट धर्म की आराधना, परिणामविशुद्धि तथा आर्जव और सन्तोषादि गुणो की प्रकर्षता होती है।

प्रश्न - जो दीक्षा मे अपने से छोटे हैं क्या उनकी भी विनय करनी चाहिए ?

उत्तर - जो रत्नत्रय एव तप मे सदा तत्पर रहते हैं, या वाचना करते हैं या अनुयोग का शिक्षण कराते हैं वे यदि "अवमरत्नत्रयस्याभ्युत्थातव्य" अपने से रत्नत्रय मे न्यून भी हों तब भी उनके पास अध्ययन करने वालों को उनके सम्मान मे उठ कर खडे होना चाहिए।

प्रश्न - प्रतिक्रमण किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं?

उत्तर - दोषो की निवृत्ति को प्रतिक्रमण कहते हैं। **नाम प्रतिक्रमण** - अयोग्य नामो का उच्चारण नहीं करना नाम प्रतिक्रमण है। **स्थापना प्रतिक्रमण** - लिखित, चित्रित, खोदी हुई या उकेरी हुई त्रस-स्थावरों की आकृतियो को नष्ट न करना, मर्दन न करना, तोड़ने-फोडने आदि रूप क्रियाये न करना तथा आप्ताभासों की अर्थात् हरि-हरादिको की प्रतिमाओ के सामने हाथजोड़ कर खड़े न होना, मस्तक न झुकाना और गन्धादि द्रव्यो से उनकी पूजन न करना **स्थापना प्रतिक्रमण** है।

द्रव्य प्रतिक्रमण - वास्तु, क्षेत्रादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रहो का त्याग करना, उद्गम- उत्पादनादि दोषयुक्त वसतिका, उपकरण एव आहार आदि पदार्थ अभिलाषा, उन्मत्तता एव सक्लेशादि परिणामो की वृद्धि के कारण हैं अत दोषयुक्त ऐसे पदार्थों को ग्रहण न करना द्रव्य प्रतिक्रमण है।

क्षेत्र प्रतिक्रमण - जहाँ ज्ञानवृद्ध या तपोवृद्धादि गुणयुक्त साधुजन नहीं रहते अथवा जिस स्थान पर रहने से रत्नत्रय की हानि होती है, अथवा जो स्थान त्रस-स्थावर जीवो से या पानी-कीचड़ आदि से व्याप्त हैं ऐसे स्थानो का त्याग करना क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

काल प्रतिक्रमण - रात्रि मे, तीनो सन्ध्याओ में, स्वाध्याय काल मे एव सामायिक आदि षड़ावश्यको के समय में यत्र-तत्र आना-जाना, गप्पाष्टक करना तथा अन्य-अन्य क्रियायें करने का त्याग करना काल प्रतिक्रमण है।

भाव प्रतिक्रमण - मिथ्यात्व, असयम, कषाय, राग, द्वेष, आहारादि चारो सज्ञाएँ, निदानबन्ध और आर्त-रौद्र आदि रूप अशुभ-परिणामो का और पुण्यास्रवभूत शुभ परिणामो का भी त्याग करना भाव प्रतिक्रमण है।

प्रश्न - प्रत्याख्यान किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - "मैं भविष्य में यह-यह कार्य नहीं करूँगा", इस प्रकार के सकल्प को प्रत्याख्यान कहते है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से इसके छह भेद हैं। यथा-

नाम प्रत्याख्यान - 'मै अयोग्य नामो का उच्चारण नहीं करूँगा' ऐसा सकल्प करना नाम प्रत्याख्यान है। इसी प्रकार स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रतिक्रमण के जो-जो लक्षण ऊपर दिये गये हैं उन्हे भविष्य मे भी नहीं करने की प्रतिज्ञा करना तद्-तद् प्रत्याख्यान का लक्षण है।

प्रश्न - कायोत्सर्ग किसे कहते है ?

उत्तर - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पॉच शरीर हैं। इनमे से सयम का, केवलज्ञान का और मोक्ष का साधन होने से जीव का सबसे बडा उपकारी यह औदारिक शरीर ही है, किन्तु अन्य शरीरो की अपेक्षा यही शरीर सबसे अधिक अपवित्र है, क्योकि इसका बीज माता-पिता का रजवीर्य है जो महा अपवित्र है। यह शरीर सप्त धातुओ से निर्मित है, जड स्वभावी है, अनित्य है, विनाशीक है, असार है, दुख का कारण है और दुख से ही धारण करने योग्य है।

कायोत्सर्ग शब्द मे काय और उत्सर्ग ये दो शब्द है। काय का अर्थ है औदारिक शरीर और उत्सर्ग का अर्थ है त्याग। अर्थात् औदारिक शरीर का त्याग यह कायोत्सर्ग का अर्थ है।

प्रश्न - औदारिक शरीर का त्याग तो मनुष्यायु समाप्त होने पर ही हो सकता है फिर इसके त्याग का उपदेश कैसे दिया गया ?

उत्तर - स्पर्शन, रसना आदि पॉचो इन्द्रियाँ इस शरीर की अवयव स्वरूप है, ये इन्द्रियॉ अपने-अपने विषय को ग्रहण कर इसे पुष्ट करती है तथा इसी औदारिक शरीर के माध्यम से जीव विषयो को भोग कर अपने को सुखी मानता है, अत उसका इस शरीर से ममत्व भाव हो रहा है, यही ममत्व भाव जीव के ससार-परिभ्रमण का कारण है, अत आचार्यदेव ने इस शरीर से ममत्वभाव छोडने का उपदेश दिया है, शरीर को छोड़ने का नहीं। अर्थात् काय से ममत्वभाव का त्याग करना, यह कायोत्सर्ग का अर्थ है।

प्रश्न - कायोत्सर्ग कैसे, कहाँ और कितने काल पर्यन्त करना चाहिए ?

उत्तर - शरीर से निस्पृह होकर, स्थाणु की तरह शरीर को सीधा करके दोनो हाथो को लटका कर अथवा पद्मासन आदि मुद्रा मे निश्चल बैठकर, शरीर को ऊँचा-नीचा न करके परीषहो और उपसर्गों को जीतते हुए अर्थात् सहन करते हुए प्रशस्त ध्यान मे लीन होकर कर्मों को नष्ट करने की अभिलाषा से जन्तुरहित एकान्त स्थान मे कायोत्सर्ग करना चाहिए।

इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल एक वर्ष प्रमाण है। सायकालीन प्रतिक्रमण में सौ उच्छ्वास प्रमाण, प्रातःकालीन प्रतिक्रमण में पचास उच्छ्वास प्रमाण, पाक्षिक प्रतिक्रमण में तीन सौ उच्छ्वास प्रमाण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण मे चार सौ उच्छ्वास प्रमाण और वार्षिक प्रतिक्रमण मे पाँच सौ उच्छ्वास प्रमाण काल पर्यन्त कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग क्रिया में यदि उच्छ्वास का या परिणाम का स्खलन हो जावे तो आठ उच्छ्वास प्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग और करना चाहिए।

तप विनय किनकी करना चाहिए

तपस्तपोऽधिके भक्तिर्यच्छेषाणामहेडनम्।
स तपो विनयोऽवाचि, ग्रन्थोक्तं चरतो यतेः ॥१२१॥

अर्थ - अनशन आदि बारह प्रकार के तपों की और जो साधुजन अपने से अधिक तपस्वी हैं उनकी भक्ति एव विनय अवश्य करनी चाहिए किन्तु जो साधुजन तप मे अपने से कम हैं किन्तु ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र सम्पन्न हैं, उनका पराभव नहीं करना भी तप विनय है। शास्त्रोक्त आचरण करने वाले साधु के इस प्रकार तप का विनय होता है॥१२१॥

प्रश्न - जो साधु तप मे अपने से कम हैं उनकी विनय क्यो करनी चाहिए ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अनुगत किया जाने वाला तप ही सम्यक्तप है। जो साधुगण ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र से सम्पन्न होने पर भी तप मे अपने से कम हैं उनका तिरस्कार नहीं करना, क्योकि उनकी अवहेलना करने से ज्ञानादि सद्गुणों का तिरस्कार होता है अर्थात् ज्ञानादि का बहुमान न होने से अपने ज्ञान मे अतिचार लगता है। अवहेलना से वात्सल्यगुण का नाश होने से अपने सम्यग्दर्शन मे दोष उत्पन्न होता है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सदोष होने पर सम्यक् चारित्र भी सदोष हो जाता है जो महा अनर्थ है, अत ज्ञान, श्रद्धान एव चारित्रसम्पन्न किन्तु तप मे अपने से हीन साधु की अवहेलना अपने अहित का ही कारण है ऐसा जान कर उनका भी सम्मानादि करना चाहिए। पूर्व गाथा (१२०) मे और इस गाथा मे कहे हुए गुणों का पालन करने से तथा शास्त्रानुसार आचरण करने से ही साधुजनो को तप विनय की प्राप्ति होती है।

उपचार विनय के भेद

कायिको वाचिकश्चैतः, पञ्चमो विनयस्त्रिधा।
सर्वोऽप्यसौ पुनर्द्वेधा, प्रत्यक्षेतर - भेदतः ॥१२२॥

अर्थ - कायिक, वाचिक और मानसिक के भेद से उपचार विनय तीन प्रकार की है तथा यह तीनो प्रकार की विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष विनय के भेद से दो-दो प्रकार की है॥१२२॥

प्रत्यक्ष कायिक विनय

संभ्रमो नमनं सूरेः, कृतिकर्माञ्जलि-क्रिया।
सम्मुखं यानमायाति, यात्यनुव्रजनं पुनः ॥१२३॥

अर्थ - आचार्य आदि गुरुजनो के आगमन के समय या प्रस्थान करते समय खड़े होना, नमस्कार करना, नम्र होना, अञ्जलि बाँध कर आचार्यभक्ति आदि विधिपूर्वक कृतिकर्म करना। आचार्य, तपोधिक या अन्य महर्षियो के आने पर सम्मुख जाना, अन्यत्र विहार कर रहे हो तो कुछ दूर तक उनके साथ जाना या स्वय भी उनके साथ विहार करना हो तो मार्ग मे उनके पीछे-पीछे चलना आदि॥१२३॥

नीचं यानमवस्थानं, नीचं शयनमासनम्।
प्रदानमवकाशस्य, विष्टरस्योपकारिणः॥१२४॥

अर्थ - नीचे गमन, नीचे खडे होना, नीचे शयन, नीचा आसन, उपकरणदान, अवकाशदान एव शय्या तथा आसनदान आदि कायिक विनय के भेद हैं॥१२४॥

प्रश्न - नीचे अवस्थान, नीचे शयनासन और अवकाशदान आदि का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - नीच यान अर्थात् **नीचा स्थान** - गुरु के स्थान से शिष्य का स्थान बिलकुल बराबरी का न हो, कुछ नीचा, कुछ पीछे और उनसे कुछ दूर हो। **नीचा अवस्थान** - गुरु के पीछे इस प्रकार बैठे कि अपने हाथ-पैर या श्वास आदि का स्पर्श गुरु को न हो। यदि सामने बैठने का अवसर प्राप्त हो तो थोड़ा हटकर और उनके वामभाग मे बैठे। **नीचे शयन** - शयन करते गुरु के नाभिप्रदेश के समकक्ष शिष्य का मस्तक हो और बाजू मे भी गुरु की शय्या से दो-पौने दो हाथ का अन्तर हो। यदि बाजू मे स्थान न हो तो नीचे उनके चरणो की ओर सिर करके सोना। **नीचा आसन** - गुरु के आसन पर विराजमान हो जाने के बाद अपना मस्तक किंचित् नम्रकर, उद्धतता रहित जमीन पर बैठना। **उपकरण दान** - जिससे ज्ञान और सयमादि गुणो का उपकार होता है उसे उपकरण कहते है। उद्गम एव उत्पादन आदि दोषो से रहित प्राप्त हुए उपकरण गुरु को प्रदान करना। अथवा गुरु के उपकरणो का सावधानीपूर्वक मार्जन करना। **आसन दान** - गुरु बैठना चाहते हैं ऐसा अभिप्राय जानकर मार्जन योग्य आसन देखना और उसे अथवा गुरु जहाँ नित्य विराजते हैं उसे कोमल पीछी से अत्यन्त धीरे-धीरे पोछना या साफ करना। **अवकाश दान** - शीत ऋतु मे अथवा शीत से पीड़ित गुरुजन को वायु रहित या उष्णता सहित स्थान देना, तथा ग्रीष्म ऋतु मे या उष्णता से पीडित को शीतल स्थान देना।

देश-काल-वयो-भाव-धर्मयोग्य-क्रियाकृतिः।
करणं प्रेषणादीनामुपधेः प्रतिलेखनम्॥१२५॥

व्यापारः क्रियते नित्यं, यः कायेनैवमादिकः।
कायिको विनयोऽवाचि, साधूनां स यथोचितः॥१२६॥

अर्थ - गुरुजनो की सेवा करते समय यह देखना योग्य है कि प्रदेश रूक्ष है या स्निग्ध है या जल बहुल है। शीत काल है या उष्ण काल है अथवा अन्य प्रकार से भी देश एव काल के अनुकूल सेवा करनी चाहिए। गुरु की वय बाल है या यौवन है या वृद्ध है या अतिवृद्ध है उसके अनुसार सेवा करनी चाहिए। उनके व्रत एव सयम मे दूषण अथवा अतिचार आदि न लगे इस प्रकार उनके ग्राह्यधर्म की रक्षा करते हुए सेवा करनी चाहिए। उनके भावो के अनुकूल अथवा जैसी उनकी भावना या इच्छा हो, उनके शरीर को अपने शरीर का स्पर्श आदि न हो इस प्रकार बैठकर सेवा करनी चाहिए। उन्होने जैसा सन्देशा अन्यत्र भेजने की आज्ञा दी हो उसे विनयपूर्वक

ग्रहण कर स्वय भेजे एव आचार्य आदि के शास्त्र, पीछी तथा कमण्डलु आदि उपकरणों का शोधन दोनों सन्ध्याओ में करना चाहिए॥१२५॥

इन भेदों को आदि करके और सभी प्रकार की उपचार विनय अपने शरीर के द्वारा साधुवर्ग में सदा यथायोग्य की जाती है। यह कायिक विनय कही गई है॥१२६॥

वाचिक विनय

पूजा-सम्पादकं वाक्यमनिष्ठुरमकर्कशम्।
अक्रिया-वर्णकं श्रव्यं, सत्यं सूत्रानुवीचिकम्॥१२७॥

अर्थ - पूजा सम्पादक, अनिष्ठुर, अकर्कश, पापारम्भ अकारक, कर्ण-प्रिय, सत्य एव आगमानुकूल वचन बोलना वाचिक विनय है॥१२७॥

उपशान्तमगार्हस्थ्यं, हितं मितमहेडनम्।
योगिनो भाषमाणस्य, विनयोऽवाचि वाचिकः॥१२८॥

अर्थ - उपशान्तवचन, जो गृहस्थों के योग्य नहीं हैं ऐसे वचन, हित वचन, मित वचन और अवज्ञा आदि न करने वाले जो वचन योगिजन द्वारा बोले जाते हैं, उन्हे वाचिक विनय कहते हैं॥१२८॥

प्रश्न - पूजा सम्पादक आदि वचनो के क्या लक्षण हैं?

उत्तर - हे स्वामिन् ! मै सुन रहा हूँ। हे भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं जाऊँ, इत्यादि रूप से आदरसूचक वचन बोलना पूजा सम्पादक वचन हैं। अनिष्ठुर अर्थात् जो वचन दूसरो के मन को दुखी न करे। अकर्कश अर्थात् मधुर वचन। अक्रिया वर्णक वचन अर्थात् असि, मसि, कृषि एव अन्य भी आरम्भ आदि मे प्रवृत्ति न करानेवाले या जीवो को बाधा न देने वाले वचन। श्रव्य अर्थात् कर्णप्रिय वचन। उपशान्त वचन अर्थात् राग-द्वेष रहित वचन। अगार्हस्थ्य वचन अर्थात् मिथ्यादृष्टि या असयमी जन जो शिष्ट वचन नहीं बोलते ऐसे वचन। हित अर्थात् उभय लोको मे हितकारी वचन। मित अर्थात् जितना बोलने से विवक्षित अर्थ का बोध हो जावे उतना वचन तथा अहेडन अर्थात् दूसरो का निरादर न करने वाले वचन। उपर्युक्त कहे अनुसार वचन बोलना वाचिक विनय है।

मानसिक विनय

हित-मित-परिणामं, विदधानस्य मानसः।
पापास्रव-परिणामं, मुञ्चतो विनयो मतः॥१२९॥

अर्थ - पाप लानेवाले अशुभ परिणामो का त्याग करना और जो गुरु को प्रिय एव हितकर हो उसी रूप परिणाम करना मानसिक विनय है॥१२९॥

प्रश्न - गुरु के प्रति किये जाने वाले कौन-कौन से परिणामो से पापास्रव होता है?

उत्तर - गुरु द्वारा अपनी स्वेच्छाचारिता का निवारण किये जाने पर, परिणामों मे क्रोध उत्पन्न हो जाने पर, शिष्य अविनयी या उद्दण्ड देखकर उसके प्रति गुरु की कृपादृष्टि उठ जाने पर, अर्थात् 'मुझे मेरे गुरु अब पूर्ववत्

नहीं पढ़ाते हैं, मुझे पूर्ववत् अपने समीप नहीं बैठाते हैं, मुझसे अब कोई वार्तालाप भी नहीं करते हैं।' इस प्रकार और अन्य-अन्य कारणो से गुरु के प्रति क्रोध, माया या मानरूप परिणाम रखने पर गुरु की विनय मे प्रमाद, अवज्ञा या अवहेलना करने पर या निन्दा करने पर या उनके विपरीत चलने पर तथा इसी प्रकार की अन्य भी कुचेष्टाएँ करने पर पापास्रव होता है जो उसके दुखसमूह को बढानेवाला ही है, अत ऐसे पापास्रव के कारणभूत परिणामो का त्याग कर देना तथा गुरु को जो प्रिय हो, जिससे स्वपर का हित हो एव रत्नत्रय की वृद्धि हो ऐसे परिणाम मानसिक विनय रूप होते है जो सदा करने चाहिए।

परोक्ष विनय

इत्ययं विनयोऽध्यक्ष:, परोक्ष: स मतो गुरो:।
अप्रत्यक्षेऽपि या वृत्तिराज्ञा-निर्देश-चर्ययो:॥१३०॥

अर्थ - इस प्रकार उपर्युक्त विवेचित सब प्रकार की विनय यदि गुरु के प्रत्यक्ष रहते की जाती है तब वह प्रत्यक्ष विनय कही जाती है और उनके प्रत्यक्ष नहीं रहते की जाती है तो वह परोक्ष विनय कही जाती है। तथा गुरु के अभाव में भी उनकी आज्ञा-निर्देश रूप आचरण करना परोक्ष विनय है॥१३०॥

गुरु के अतिरिक्त अन्य की भी विनय करनी चाहिए

संयतानां गृहस्थानां, आर्यिकाणां यथायथम्।
विनय: सर्वदा कार्य:, संसारान्तं यियासुना॥१३१॥

अर्थ - ससार-भ्रमण नष्ट करने के इच्छुक भव्य जीवो को साधुओ की विनय तो करनी ही चाहिए किन्तु जो अपने से छोटे साधु हैं उनका उनके योग्य प्रिय वचन तथा प्रिय आचरण द्वारा, आर्यिकाओ का एव गृहस्थो का शुभाशीर्वाद आदि उनके योग्य वचनो द्वारा उन्हे सन्तुष्टि प्रदान करना भी विनय की कोटि मे है जो अवश्य करना चाहिए॥१३१॥

विनय ही सब सिद्धि का कारण है

विनयेन विना शिक्षा, निष्फला सकला यते:।
विनयो हि फल तस्या:, कल्याण तस्य चिन्तितम्॥१३२॥

अर्थ - विनय के बिना अर्थात् विनयरहित साधु की सब शिक्षा व्यर्थ होती है, शिक्षा का फल विनय ही तो है। (फिर विनय का फल क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि) सर्व अभ्युदय निश्रेयसरूप कल्याण ही उसका फल है अर्थात् पचकल्याणक रूप ऐश्वर्य की प्राप्ति तथा इन्द्रिय-अनिन्द्रिय सुख की प्राप्ति ये सब विनय के सुविचारित फल हैं॥१३२॥

विमुक्ति: साध्यते येन, श्रामण्यं येन वर्ध्यते॥
सूरिराराध्यते येन, येन संघ: प्रसाद्यते॥१३३॥

विनयेन विना तेन, निर्वृतिं यो यियासति।
तरण्डे न विना मन्ये, स तितीर्षति वारिधिम्॥१३४॥

अर्थ - जिसके द्वारा मुक्ति साध्य की जाती है, जिसके द्वारा श्रमणता वृद्धिंगत होती है, जिसके द्वारा आचार्य की आराधना होती है और जिसके द्वारा सघ प्रसन्न किया जाता है, वह विनय है। अर्थात् विनयवान जीव को ये उपलब्धियाँ सहज प्राप्त हो जाती हैं ॥१३३॥ ऐसी विनय के बिना जो मोक्षसुख प्राप्त करना चाहता है, वह मानो जहाज के बिना ही समुद्र को पार करना चाहता है ॥१३४॥

विनय के माध्यम से उत्पन्न होने वाले अन्य गुण

कल्पाचार-परिज्ञानं, दीपनं मानभञ्जनम्।
आत्मशुद्धिरवैचित्त्यं, मैत्री मार्दवमार्जवम् ॥१३५॥

अर्थ - विनयवान का कल्पशास्त्र और आचारशास्त्र का परिज्ञान वृद्धिगत हो जाता है, मान कषाय नष्ट हो जाती है, आत्मशुद्धि, चित्त मे स्थिरता, सब के प्रति मैत्रीभाव, मार्दवभाव और आर्जव भाव विकसित हो जाते है ॥१३५॥

प्रश्न - कल्पशास्त्र और आचारशास्त्र किसे कहते हैं और इनका ज्ञान हो जाने से क्या लाभ होता है?

उत्तर - जो शास्त्र अपराध के अनुरूप दण्ड विधान की सयोजना का प्रकाशन करता है उसे **कल्पशास्त्र** कहते है। विनयवान साधुओ को इस शास्त्र का तलस्पर्शी ज्ञान हो जाता है। कल्पशास्त्र अविनयी साधु के लिए दण्डविधान का निर्धारण करता है, अत वह विनय का ही निरूपण करता है। उसके भय से साधुजन विनय करने मे तत्पर रहते हैं, यह इस शास्त्र का ही उपकार है।

रत्नत्रय के आचरण का कथन करने मे तत्पर होने से द्वादशाग के प्रथम अग को **आचाराग** कहते है। अर्थात् जिसमे मुनिजनो के आचरण का कथन हो वह आचार शास्त्र है। इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक विनय करने से आचाराग मे कहे गये क्रम का प्रकाशन होता है। यही कारण है कि विनय करने से श्रुत की और चारित्र की अर्थात् दोनो की आराधना हो जाती है।

भक्तिः प्रह्लादन कीर्तिर्लाघवं गुरु-गौरवम्।
जिनेन्द्राज्ञा गुण-श्रद्धा, गुणा वैनयिका मताः ॥१३६॥

अर्थ - देव, शास्त्र और गुरु मे प्रगाढ भक्ति, प्रह्लाद अर्थात् हार्दिक प्रसन्नता, यश, लाघव, गुरु के गौरव की वृद्धि, जिनेन्द्राज्ञा का पालन और गुणसमूह में श्रद्धा भाव, ये सब गुण विनय करने वाले को स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं ॥१३६॥

प्रश्न - प्रह्लाद गुण और लाघव गुण का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - प्रकृष्ट गुण को प्रह्लाद कहते हैं अर्थात् जिनकी विनय की जाती है उनका मन प्रफुल्लित हो जाता है अर्थात् उन्हे बहुत सुख होता है। इस प्रकार विनययोग्य को सुखी करना यह विनय का प्रह्लाद गुण है।

लाघव का अर्थ है लघु या भार रहित। विनीत साधु अपना भार गुरु को सौप कर हल्का या लघु हो जाता है। अर्थात् उसका मन चिन्तामुक्त हो जाता है क्योकि आचार्यदेव स्वय उसकी चिन्ता करने लगते हैं; इसकारण उसके मन पर कोई भार नहीं रहता।

विनयं न विना ज्ञानं, दर्शनं चरितं तप:।
कारणेन विना कार्यं, जायते कुत्र कथ्यताम्॥१३७॥

अर्थ - कारण बिना कार्य होना क्या सम्भव है? नहीं। जैसे कारण बिना कार्य नहीं होता उसी प्रकार विनय के बिना ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये कदापि नहीं हो सकते। अत साधुओ को विनयगुण अवश्य धारण करना चाहिए॥१३७॥

समस्ता: सम्पद: सद्यो, विधाय वशवर्तिनी:।
चिन्तामणिरिवाभीष्टं, विनय: कुरुते न किम्॥१३८॥

इति विनय:॥

अर्थ - इस प्रकार समस्त सम्पदाओ को शीघ्र ही अपने वश मे करनेवाले चिन्तामणि रत्न के समान इस अभीष्ट विनय को क्यो न किया जाय? अर्थात् विनय अवश्य ही करना चाहिए॥१३८॥

॥ इस प्रकार विनय गुण का कथन पूर्ण हुआ॥

५. समाधि अधिकार

समाहित चित्त का लक्षण और उसका फल

समाहितं मनो यस्य, वश्यं त्यक्ताशुभास्रवम्।
उह्यते तेन चारित्रमश्रान्तेनापदूषणम्॥१३९॥

अर्थ - जिसका मन अशुभास्रव के प्रवाह से रहित है और वशवर्ती है, वह मन समाहित कहा जाता है। वह समाहित मन बिना थके निरतिचार चारित्र के भार को धारण करता है॥१३९॥

तितवाविव पानीयं, चारित्रं चल-चेतस:।
वपुषा वचसा सम्यक्, कुर्वतोऽपि पलायते॥१४०॥

अर्थ - कोई साधु काय से और वचन से शास्त्रानुसार सम्यक् आचरण कर रहा है किन्तु यदि उसका चित्त चचल है तो उसका चारित्र चलनी मे रखे हुए जल के सदृश गल जाता है अर्थात् पलायमान हो जाता है॥१४०॥

प्रश्न - समाहित मन और चित्त किसे कहते हैं? यह वशवर्ती कैसे होता है और उस वशवर्तिता का ज्ञान कैसे होता है?

उत्तर - जिसका मन अशुभ परिणामो के प्रवाह को रोक देता है और जहाँ उसे लगाया जाय वहीं ठहरा रहता है वह मन समाहित कहा जाता है। मन को ही चित्त कहते हैं। जैसे नट एव नटी-नर्तकी आदि के हाव-भावो के उतार-चढ़ाव पूर्वक किया गया नृत्यादि कार्य देखकर उसी के अनुरूप प्रेम, कोप, भय एव दुखादि रूप परिणाम दर्शको की आत्मा मे उत्पन्न हो जाते हैं और उस समय उनके शरीर के रोमाच, मुख के विकास, मन्द-

मन्द हास्य, ग्लानि, भय एवं कोप आदि की चेष्टाएँ देख कर सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि दर्शको का मन इन नाट्य आदि दृश्यो के वशवर्ती हो चुका है। उसी प्रकार नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म प्रकृति के क्षयोपशम विशेष से आत्मा के नोइन्द्रिय अर्थात् भावमन होता है, वह आत्मा के वशवर्ती है। रागादि सहित और रागादि रहित के भेद से मन की यह वशवर्तिता दो प्रकार की होती है। भावमन आत्मा की इच्छा से जब किसी विषयवासना में या क्रोधादि विकारी भावों में किसी एक विषय पर एकाग्र होता अनुभव में आता है तब नवीन राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होती रहती है। यह विकारी परिणति भी पूर्व कर्मोदय के निमित्त से होती है और नवीन कर्मशृखला के बन्ध का निमित्त बनती है, अत यह सिद्ध होता है कि रागादि सहित भावमन की यह वशवर्तिता ही संसार चंक्रमण का मूल कारण है।

राग-द्वेष से अबाधित मन जब समता के वशवर्ती हो जाता है तब श्रमण के काय और वचन की सौम्यता से उसका ज्ञान हो जाता है और यही मन निर्मल चारित्र के भार को निराकुलता पूर्वक धारण करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मन की दुष्टता का निरूपण

परितो धावते चेतश्चरण्युरिव चञ्चलम्।
परमाणुरिव क्षिप्रं, दूरं यात्यनिवारितम्॥१४१॥

अर्थ - वायुवत् चचल यह मन अपने विषय के चारों ओर दौड़ता है, बिना किसी रुकावट के परमाणु के सदृश शीघ्र ही अत्यन्त दूर पहुँच जाता है॥१४१॥

वाञ्छिताभिमुख स्वान्त, निषेद्धुं केन शक्यते।
नगापगा पयो निम्ने, प्राप्तं तद्रुध्यते कथम्॥१४२॥

अर्थ - अपने इष्ट विषय के सम्मुख जाते हुए इस मन को किसके द्वारा रोका जाना शक्य है? भला, पर्वत से नीचे गिरते हुए नदी के जल को किस प्रकार रोका जा सकता है?॥१४२॥

न मूको बधिरोऽन्धो, वा ब्रूते शृणोति पश्यति।
वस्तु हेयमुपादेयं, विषयाकुलितं मनः॥१४३॥

अर्थ - जैसे गूँगा बोल नहीं सकता, बहिरा सुन नहीं सकता और अन्धा देख नहीं सकता, वैसे ही विषयो से आकुलित मन हेय-उपादेय तत्त्व को नहीं जानता॥१४३॥

विकल्पैर्विविधैर्लोकं, पूरयित्वा मलीमसैः।
मेघवृन्दमिव स्वान्तं, क्षणेनैव विनश्यति॥१४४॥

अर्थ - जैसे मेघसमूह अनेक आकार-प्रकार द्वारा आकाश को पूरित कर क्षणभर मे ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही अशुभ एव मलिन विविध-सकल्प विकल्पो द्वारा सम्पूर्ण लोक को पूरित कर यह मन शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥१४४॥

न प्रवर्तयितुं मार्गे, दुष्टो वाजीव शक्यते।
ग्रहीतुं शक्यते चेतो, न मत्स्य इव बीलनः॥१४५॥

अर्थ - जैसे दुष्ट अश्व को मार्ग पर चलाना और अति स्निग्ध बीलन मत्स्य को पकड़ना शक्य नहीं है वैसे ही मन को वश मे करना शक्य नहीं है॥१४५॥

मन के वशीभूत होनेवाले और मन को वशीभूत करने वालो का फल

यस्य दुःख-सहस्राणि, भजन्ते वशवर्तिनः।
संसार-सागरे घोरे, बंभ्रम्यन्ते शरीरिणः॥१४६॥

अर्थ - इस मन के वशीभूत होनेवाले ये ससारी प्राणी सहस्रो दुख सहते हैं और घोर ससार-सागर मे परिभ्रमण करते हैं॥१४६॥

संसार-कारिणो दोषा, राग-द्वेष-मदादयः।
जीवानां यस्य रोधेन, नश्यन्ति क्षण-मात्रतः॥१४७॥

तद् दुष्टं मानस येन, निवार्याशुभ-वृत्तितः।
प्रवृत्त-शुभ-संकल्पं, स्वाध्याये क्रियते स्थिरम्॥१४८॥

अर्थ - उपर्युक्त उस दुष्ट मन को वशीभूत कर लेने से जीवो के राग, द्वेष एव मद आदि ससार के कारणभूत समस्त दोष क्षण मात्र मे नष्ट हो जाते हैं, उस दुष्ट मन को अशुभ प्रवृत्तियो से रोक कर शुभ सकल्पो मे प्रवृत्त कर स्वाध्याय मे स्थिर किया जाता है॥१४७-१४८॥

प्रश्न - स्वाध्याय मे मन कैसे स्थिर होता है और उसका क्या फल है?

उत्तर - दुष्ट मन को विकारी भावो से हटा कर रत्नत्रय मे स्थापित करने से मन स्वाध्याय मे अर्थात् समीचीन तत्त्वचिन्तन मे स्थिर हो जाता है और स्वाध्याय मे मन स्थिर हो जाने से साधु के समता भाव जाग्रत हो जाते हैं।

मन को स्थिर करने का उपाय

अभितो धावमानं तद्विचारेण निवर्त्यते।
निगृह्य क्रियते चित्तं, दुर्वृत्त इव लज्जितम्॥१४९॥

अवशं क्रियते वश्यं, येन दास इव व्रतम्।
श्रामण्यं निश्चलं तस्य, सर्वदाप्यवतिष्ठते॥१५०॥

इति समाधिः।

अर्थ - जिस प्रकार दुराचारी कुपुत्र को दुराचरण के फलप्रदर्शन द्वारा लज्जित कर दुराचरण से विमुख किया जाता है, उसी प्रकार चारो ओर दौड़ते हुए मन को तत्त्वविचार द्वारा अपनी आत्मा की ओर लौटाना चाहिए॥१४९॥

जैसे अवश हुए स्वेच्छाचारी दास को उपायपूर्वक वशीभूत कर स्थिर किया जाता है, उसी प्रकार साधु अपने अवश मन को वशीभूत कर लेता है जिससे उसका श्रामण्य अर्थात् समता भाव निश्चल हुआ सदैव अवस्थित रहता है॥१५०॥

इस प्रकार मन को वशीभूत एव श्रामण्य को स्थिर करनेवाला समाधि अधिकार पूर्ण हुआ॥५॥

६. अनियत-विहार अधिकार

अनियत विहार के गुण

दृष्टिशुद्धि-स्थिरीकारौ, भावना शास्त्र-कौशलम्।
क्षेत्रस्य मार्गणा साधोर्गुणा नित्य-विहारिण: ॥१५१॥

अर्थ - सम्यक्त्व की शुद्धि, स्थितीकरण, भावना, शास्त्र मे अतिशय निपुणता और क्षेत्र का अन्वेषण, साधु के अनियत विहार में ये गुण हैं॥१५१॥

दर्शन शुद्धि पद का निरूपण

विशुद्धं दर्शनं साधोर्जायते पश्यतोऽर्हताम्।
जन्म-निष्क्रमण-ज्ञान-तीर्थ-चिह्न-निषिद्धिका: ॥१५२॥

अर्थ - विहार करते समय जिनेन्द्रदेव के जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति के स्थान, निर्वाण सम्बन्धी तीर्थस्थान, समवसरण के चिह्न स्वरूप मानस्तम्भ और निषीधिका स्थान देखने से साधु के सम्यग्दर्शन मे निर्मलता आ जाती है॥१५२॥

प्रश्न - जन्मकल्याणक की ऐसी क्या अतिशयता है, जिस देखकर सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है?

उत्तर - जब तीर्थंकर जन्म लेते हैं तब अनियत विहार करने वाले यतिजन तथा तीन ज्ञान के धारी स्वर्ग से अवतरित होने वाले देव विशिष्ट पूजा को प्राप्त जिनदेव का जन्माभिषेक कल्याणक देखते हैं। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घर मे छिपे हुए अन्धकार के फैलाव को नष्ट कर देता है। अमृतपान के सदृश समस्त प्राणियों को आरोग्य लाभ देता है। देवागनाओ के नृत्य के सदृश समस्त जगत् को आनन्दमयी है। यह महोत्सव प्रिय वचन के सदृश मन को प्रफुल्लित करता है। प्रशस्त पुण्यकर्म के सदृश अगणित पुण्य को देने वाला है। लक्ष्मी अपनी परिचारिकाओ के साथ इस महोत्सव को साश्चर्य देखती है। गुह्यक जाति के देव आकाश से पुष्पवृष्टि करते हैं। सतत नगारों और शखो की ध्वनि होती है। इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है, इन्द्र भेरी बजवाता है जिसके शब्द सुनकर इन्द्रादि प्रमुख और सामानिक आदि सर्व देवगण सौधर्मेन्द्र के पास आ जाते हैं। वैक्रियिक शरीर धारण कर आकाश मार्ग से जाते हुए गृहागण मे प्रवेश करते हैं। इन्द्राणी राजभवन मे जाकर बालक प्रभु को लाती है। इन्द्र उन्हे लेने के लिए अपने दोनो हाथ पसारता है, हजार नेत्रो से देखते हुए भी वह तृप्त नहीं होता। इन्द्रो का समूह शुभ चमर ढोरता है, छत्र लगाता है। इन्द्रनील मणियो से रचे सोपानो पर पैर रखकर देवों का समूह सुमेरु पर्वत की ओर आकाश मार्ग से गमन करता है। उस समय द्वारपाल देव क्षुद्र देवगणो को वहाँ से दूर करते है। हजारो आत्मरक्षक देव रक्षा का कार्य तत्परता से करते हैं। इन्द्र सहित सब देव सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। भगवान को सिंहासन पर विराजमान कर देवकुमारों की परम्परा से लाये गये क्षीरसमुद्र के जल से भरे रत्नमयी कलशों से जिन भगवान का अभिषेक करते हैं। इन्द्राणी प्रभु के अनुरूप उनका शृगार करती है। इन्द्र के सहस्रो वैतालिकदेव अर्थात् भाट देव प्रभु की स्तुति करते हैं। जन्मोत्सव के इस शुभावसर पर इन्द्र ताण्डव नृत्य करता है। ऐसे जन्माभिषेक कल्याणक को जो-जो देखते हैं उनका सम्यग्दर्शन अति निर्मल हो जाता है।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन की निर्मलता मे भगवान के अन्य कल्याणको की कौन-कौन सी अतिशयता कारण पड़ती है?

उत्तर - जन्माभिषेक के बाद इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर महाआदर के साथ योग्य और दिव्य ऐसे उबटन, वस्त्र, भोजनपान, वाहन एव अलकार आदि वस्तुओ रूपी सम्पदाएँ प्रस्तुत करते हैं। मनोनुकूल क्रीड़ा करने वाले देवकुमारों का समूह भक्तिपूर्वक प्रभु की सेवा करता है। पूर्व पुण्योदय से कितने ही जिनदेव चक्रवर्तित्व, कितने ही महामण्डलीक और कितने ही मण्डलीक आदि राजपदो की सम्पदाओं का उपभोग करते हैं।

तीर्थंकर नाम कर्मोदय से और चारित्र मोहनीय की क्षयोपशमता की प्रकर्षता से वे अनादि से आत्मा के साथ बँधे हुए स्वय के और अन्य जीवो के कर्मों को नष्ट करने हेतु कटिबद्ध हो जाते हैं। उस समय वे जिनदेव विचार करते हैं कि -

यह मोह की कैसी महत्ता है कि दुरन्त ससार समुद्र के दुखरूपी भँवरो को प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले हम जैसो को भी आरम्भ-परिग्रह मे फँसाता है। हमने चिरकाल तक अहमिन्द्रों के सुख का भोग किया है, जो अणिमादि आठ महाऋद्धियो से सम्पन्न होते हैं, आपत्ति के अविषय हैं, अभिलाषाओ से दूर हैं, अकल्पनीय हैं, वचनागोचर हैं, अन्य देवो की क्या, कुशाग्रबुद्धि इन्द्र को भी वह सुख प्राप्त नहीं होता, अर्थात् इन्द्र भी उस सुख को जानने मे असमर्थ है, अपराधीन है, जिसमे जीवन पर्यन्त न्यूनता नहीं आती ऐसा अहमिन्द्रपद का सुख चिरकाल तक भोग चुकने पर भी मनुष्य की इस क्षणिक भोगसम्पदा मे हमारी कैसी उत्कण्ठा बन रही है? मनुष्यलोक की यह भोग-सम्पदा दुष्टजन की मैत्री के सदृश दुखो की परम्परा उत्पन्न करनेवाली है, चचल है, पराधीन है, कुकवि की रचना सदृश सारहीन है, अनेक बाधाओ से युक्त है, इसे हमने अनन्त बार भोगा है, किन्तु तृप्ति कभी नहीं हुई, इत्यादि।

उसी समय शख सदृश श्वेतवस्त्रधारी लौकान्तिक देवो ने अपने अवधि चक्षु से देखा कि जिनदेव स्वय को और दूसरे भव्यजीवो को ससार-समुद्र से पार उतारने के लिए एकदम तत्पर है, भगवान ने अनेक भव्य जीवो पर अनुग्रह करनेवाले महत् कार्य पूर्ण करने का बीडा उठाया है। हमे भी इसकी अनुमोदना करनी चाहिए, क्योकि पूज्य पुरुषो की पूजा न करना भी स्वार्थ का घातक है। तत्काल आकर उन्होने भगवान के वैराग्य की स्तुति की। उसी समय इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। सिंहासन से उठ एव सात पद आगे जाकर उन्होने उसी दिशा मे समीचीन धर्मतीर्थ के प्रवर्तन करने मे उद्यत, शरणागत भव्यजीवो की रक्षा करने वाले एव अलौकिक नेत्रो से विशिष्ट जिनदेव को नमस्कार किया। पश्चात् भेरी बजवाई और नाना प्रकार के छत्र, शस्त्र, वस्त्राभूषण और वाहनो के साथ वहाँ से चले। अन्य इन्द्रो और राजाओ के साथ सौधर्मेन्द्र ने राजमहल के द्वार पर पहुँच **चमर-छत्र आदि इन्द्रत्व के सब चिह्नों को दूर कर द्वारपाल से अपने आने का समाचार निवेदन कराया। आज्ञा मिलने पर इन्द्र** तत्काल धर्मचक्र के प्रवर्तक जिनदेव के समीप पहुँचा। उसने अत्यन्त आदरपूर्वक उन्हे नमस्कार कर निवेदन किया-भगवन् ! अच्युतेन्द्र आदि समस्त इन्द्रगण आपके निष्क्रमण कल्याणक की परिचर्या करने के अभिलाषी हैं। हे प्रभो ! हम देवगुण मुक्ति का मार्ग जानते हैं और अनन्तसुख का अनुभव करने के लिए आतुर हैं तथा इन्द्रियसुख को खेदरूप जान कर उसकी उपेक्षा भी करते हैं किन्तु सयम का घात करनेवाले कर्म का क्षयोपशम हमे प्राप्त नहीं है, अत हम स्वय भी चारित्र में प्रवृत्त नहीं होते और न दूसरो को ही प्रवृत्त करना पसन्द

करते हैं। जैसे शिशु उठना चाहते हुए भी गिरता है, वैसे ही हम लोग चारित्र के अभिलाषी होते हुए भी उसे धारण करने में असमर्थ हैं।

चारित्रमोह का क्षयोपशम होने से आपके निवृत्तिरूप परिणाम हुए हैं। आप पूज्यतम हैं। आपके प्रसाद से और आपकी अनुमोदना करने से आगामी भव मे हमे भी समस्त आरम्भ-परिग्रह के त्याग की शक्ति प्राप्त हो। हे देव ! इस सुसज्जित विमान को सुशोभित करे।

इन्द्र की विज्ञप्ति के बाद भगवान ने अन्त पुर, परिवार एव ज्ञातिवर्ग को हर्ष-विषाद युक्त देखा। उन्हे नाना प्रकार से सम्बोधन दिया और कहा कि वृथा प्रमाद मत करो, ससार-समुद्र को पार करने का उद्यम करो और प्रमाद से हमारे द्वारा जो अपराध हुए हो उन्हे क्षमा करो।

पश्चात् सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलकृत हो भगवान ने मोक्षपुरी के द्वार सदृश सुसज्जित विमान मे प्रवेश किया। अपने कन्धों पर ले जाये जानेवाले विमान को देवों ने किसी रम्य प्रदेश में उतारा। उत्तर की ओर मुख कर तथा सिद्धो को नमस्कार कर भगवान ने अतरग-बहिरग परिग्रह का त्याग कर मन, वचन और काय से रत्नत्रय धारण कर लिया। इस प्रकार के निष्क्रमण कल्याणक को जो यतिजन देखते हैं उनका सम्यक्त्व विशुद्ध हो जाता है।

ज्ञान कल्याणक

जिन्होने मोहनीय कर्म का भार उतार कर फेक दिया है तथा शेष तीनो घातिया कर्मों को नष्ट कर तद्भव मे ही मोक्षफल को फलित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है उनके दर्शन से एव ज्ञानकल्याणक के दर्शन से जिनेन्द्रप्रणीत मार्ग की दृढ श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है जिससे सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है।

स्थितीकरण रूप उपकार इस प्रकार होता है

संविग्नो वृत्त-सम्पन्नः, शुद्धलेश्यस्तपोधनः।
देशान्तरातिथिः साधुः, संवेजयति तद्व्रतः ॥१५३॥

अर्थ - देश-देशान्तर का अतिथि होने वाला साधु ससार से भयभीत होता हुआ वैराग्य सम्पन्न हो जाता है। उसके व्रत, चारित्र और लेश्या की शुद्धि हो जाती है तथा तप वृद्धिंगत हो जाता है ॥१५३॥

प्रश्न - देशान्तर मे विहार करने वाले साधु के तप आदि की वृद्धि कैसे हो जाती है?

उत्तर - देश-देशान्तर मे विहार करने से परम तपस्वी, दृढ़ चारित्री, ससारभीरु, वैराग्यसम्पन्न, महात्मा एव समताधारी साधुजन का समागम प्राप्त होता रहता है। उनका उत्कृष्ट आचरण देखकर अपने मन मे विचार आता है कि-अहो ! धन्य है इन्हे ! ये कितने तपस्वी हैं ! या कितने तत्त्वज्ञ हैं, समतारूपी रस में तो मानो मज्जन ही कर रहे हैं, इनकी लेश्या-विशुद्धि कितनी अनुपम है। ये साधुजन भी तो वर्तमान काल मे इस प्रकार के निर्दोष चारित्र से सम्पन्न हैं, फिर हम लोग दृढ़ चारित्री एव लेश्या-विशुद्धिपूर्वक ऐसा तपश्चरण क्यो नहीं कर पा रहे हैं? इससे ज्ञात होता है कि हमारी आत्मा ससार के दुखों से भयभीत नहीं है। इस प्रकार विशिष्ट साधुजनों के दर्शन एव सम्पर्क से अपने में तप और वैराग्य आदि की वृद्धि होती है।

अनियत विहार से उत्पन्न अन्य गुण

प्रियधर्माशय: साधुरागमार्थ-विचक्षण:।
भ्रमन्नवद्य-वित्रस्त:, संविग्नं कुरुते परम् ॥१५४॥

अर्थ - अनियत विहार करने वाला साधु प्रियधर्मा, आगम के अर्थ मे कुशल, विहार में अभ्यस्त रहने के कारण निरालस, कष्टसहिष्णु हो जाने से निराकुल चित्त होता हुआ अपने को अतिशय रूप से वैराग्यशील करता है॥१५४॥

अवद्य-भीरु संविग्ने, प्रियधर्मतरेक्षणे।
अवद्य-भीरु: संविग्न:, प्रियधर्मतरोऽस्ति स: ॥१५५॥

अर्थ - देशान्तर मे विहार करते समय पापो से अत्यन्त भयभीत, वैराग्यवान और अतिशय धर्मप्रिय महान् साधुओ के दर्शन होते हैं। उन्हे देख कर ये विहार-रत साधु भी पापभीरु, वैराग्यसम्पन्न और धर्म मे प्रीति करने वाले बन जाते हैं॥१५५॥

प्रश्न - सविग्न , प्रियधर्मा और अवद्यभीरु किसे कहते है?

उत्तर - जो पच परावर्तन के आगमन से अत्यन्त भयभीत होते हैं वे साधु अथवा अत्यन्त वैराग्यशील साधु सविग्न होते हैं। उत्तम क्षमादि धर्मो का पालन करनेवाले प्रियधर्मा कहे जाते हैं। जो थोडा सा भी अशुभयोग नहीं होने देते अथवा जो पाप से डरते हैं वे अवद्यभीरु कहे जाते हैं।

शीतातप-क्षुधा-तृष्णा, निषद्याद्या: परीषहा:।
यतिनाटाट्य-मानेन, समस्ता: सन्ति भाविता: ॥१५६॥

अर्थ - देश-देशान्तर मे विहार करने वाले साधुओ के द्वारा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा एव निषद्या आदि समस्त परीषह सहन किये जाते हैं॥१५६॥

शृण्वतो भूरि-सूरीणां, व्याख्यां नानार्थ-दर्शिनीम्।
देशान्तरातिथे: साधोरस्ति सूत्रार्थ-कौशलम् ॥१५७॥

अर्थ - देश-देशान्तर का अतिथि होता हुआ साधु अनेक आचार्यों के द्वारा शास्त्रो की नाना प्रकार की व्याख्या सुनता है जिससे उसे सूत्र एव उनके अर्थो मे महान् कुशलता प्राप्त हो जाती है॥१५७॥

विनिष्क्रम-प्रवेशादि, समाचार-विचक्षण:।
सूरीणां बहुभेदानां, जायते पाद-सेवया ॥१५८॥

अर्थ - विहार मे बहुत भेदवाले आचार्यों के चरण-कमलों की सेवा से निकलने और प्रवेश करने रूप समाचार विधि मे अतिशय कुशलता प्राप्त हो जाती है॥१५८॥

प्रश्न - बहुत भेद वाले आचार्य कौन-कौन हैं और निकलने तथा प्रवेश रूप समाचार विधि मे किस प्रकार की कुशलता प्राप्त हो जायेगी ?

उत्तर - कुछ आचार्य शास्त्रविहित समाचार को ही जानते हैं। कोई आचार्य दूसरों के साथ आचरण करने से आचरण का क्रम जानते हैं और कोई आचार्य दोनों प्रकार से प्रबुद्ध होते हैं। इस प्रकार आचार्यों के बहुत भेद होते हैं। अनियतविहारी साधु को विहारकाल मे अनेक प्रकार के आचार्यों की चरण सेवा का सुअवसर प्राप्त होता है। अर्थात् अनेक आचार्य-सघों में रहने का सौभाग्य प्राप्त होता है। उन्हीं सब की समाचार-विधि देखकर वह साधु भी उस निष्क्रमण एव प्रवेशादि समाचार मे कुशल हो जाता है। यथा - वसतिका आदि से बाहर जाते समय अथवा प्रवेश करते समय वसतिका का स्थान अथवा शरीर शीतल हो या गर्म हो अथवा पीछी गरम या ठण्डी हो उस समय विवेकपूर्वक ऐसा मार्जन हो ताकि शीतकायिक एव उष्णकायिक जीवों को बाधा न पहुँचे।

अथवा लाल, काले तथा श्वेत रगवाली भूमियों में एक मे से निकल कर दूसरी में प्रवेश करते समय कटि भाग से नीचे सम्मार्जन करना चाहिए। अन्यथा विरुद्ध योनि के सक्रम से पृथिवीकायिक जीवो को और उस भूमि मे उत्पन्न त्रस जीवो को भी बाधा उत्पन्न होती है। जल-प्रवेश करते समय पैरो मे लगी हुई सचित्त-अचित्त धूलि का पीछी से भली प्रकार मार्जन करना चाहिए। जल से निकल कर जब तक पैर सूख न जाये तब तक जल के समीप ही ठहरना चाहिए। इसी प्रकार जिनमन्दिर में, साधुनिवास मे, आहार हेतु गृहस्थ के गृह में, नदी मे एव नौका आदि मे प्रवेश करते समय और निकलते समय क्या-क्या सावधानियाँ रखनी आवश्यक हैं, इसका ज्ञान **भगवती आराधना** गाथा १५२ की टीका से समझ कर उसी प्रकार आचरण करना चाहिए। 'मैं सब जानता हूँ' 'गुरुकुल का वासी और विद्वान् हूँ' 'मुझे दूसरो से कोई आचारक्रम नहीं सीखना है' इत्यादि, ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए।

किसी भी स्थान मे प्रवेश करते समय 'नि सही' शब्द का प्रयोग और निकलते समय 'अस्सही' शब्द का प्रयोग अवश्यमेव करना चाहिए।

शिक्षा मे अन्त-पर्यन्त उद्योग करना चाहिए

कर्त्तव्या यत्नत: शिक्षा, प्राणै: कण्ठगतैरपि।
आगमार्थं समाचार-प्रभृतीनां तपस्विना ॥१५९॥

अर्थ - प्राण कण्ठगत होने पर भी साधुजनो को आगम के अर्थ की एव समाचार-विधि सम्बन्धी शिक्षा प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करनी चाहिए॥१५९॥

सल्लेखना योग्य क्षेत्र परिमार्गणा

प्रासुकं सुलभाहारं, संयतैर्गोचरी-कृतम्।
सल्लेखनोचितं क्षेत्रं, पश्यत्यनियत-स्थिति: ॥१६०॥

अर्थ - इस क्षेत्र मे सयमी जनो को गोचरी मे प्रासुक आहार सुलभता से प्राप्त हो जाता है, अत यह क्षेत्र सल्लेखना के योग्य है, ऐसी जानकारी देशान्तर विहार करनेवाले साधुओ को सहज ही हो जाती है॥१६०॥

प्रश्न - सल्लेखना-रत साधु को तो आहार आदि का त्याग ही करना है फिर आहार की सुलभता पूर्ण क्षेत्र सल्लेखना के योग्य क्यों कहा गया है?

उत्तर - सल्लेखना-रत साधु आहार का त्याग अवश्य करते हैं किन्तु वह त्याग शनैःशनै, क्रम-पूर्वक ही होता है। इसके अतिरिक्त सल्लेखनारत साधु की सेवा मे जो परिचारक साधुजन एवं ब्रह्मचारी आदि होते हैं उन्हे यदि सुलभतापूर्वक शुद्ध आहार प्राप्त न होगा तो सल्लेखनारत साधु की वैयावृत्य मे व्यवधान पड़ेगा, अत. साधु को सल्लेखना वहीं ग्रहण करना चाहिए जहाँ के श्रावक श्रद्धावान् और विवेकी हों, तथा आहारदान आदि षडावश्यको का निष्ठापूर्वक पालन करते हो। देश-देशान्तरो मे विहार करने से ऐसे स्थानो का अन्वेषण सहज ही हो जाता है।

अनियतविहारी अप्रतिबद्ध होता है

श्रावके नगरे ग्रामे, वसतावुपधौ गणे।
सर्वत्राप्रतिबद्धोऽस्ति, योगी देशान्तरातिथिः ॥१६१॥

॥ इति अनियतविहारः ॥

अर्थ - देश-देशान्तर का अतिथि होने वाला साधु श्रावकजनो मे, नगर मे, ग्राम मे, वसतिका मे, उपकरणो मे और सघ मे सर्वत्र ही अप्रतिबद्ध होता है। अर्थात् 'यह मेरा है' इस प्रकार के सकल्प से रहित होता है॥१६१॥

॥ इस प्रकार अनियत विहार नाम का छठा अधिकार पूर्ण हुआ॥

७. परिणाम अधिकार

आत्महित चिन्तन

पर्यायरक्षितो दीर्घं, वितीर्णा वाचना मया।
शिष्या निष्पादिताः श्रेयो, विधातुमधुनोचितम्॥१६२॥

अर्थ - मैंने दीर्घकाल तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप पर्याय का पालन किया है, वाचनाएँ भी दी हैं, अर्थात् आगमानुसार निर्दोष ग्रन्थ और उनके अर्थ का दान भी दिया है तथा शिष्यो को भी व्युत्पन्न किया है। अब मुझे अपना हित करना उचित है॥१६२॥

प्रश्न - परिणाम शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर - 'अभी तक मेरा समय स्व-पर कल्याण मे व्यतीत हुआ है, किन्तु अब आज से मुझे अपना ही हित करना चाहिए' इस प्रकार के मनोभाव को यहाँ परिणाम शब्द से कहा गया है।

किमालन्दं परीहारं, भक्तत्यागमुतेङ्गिनीम्।
पादोपगमनं किं किं, जिनकल्पं श्रयाम्यहम्।।१६३।।

अर्थ - क्या मैं आत्महित करने हेतु आलन्द विधि का या परिहार-विशुद्धि चारित्र का या भक्तत्याग का या इगिनीमरण का या पादोपगमन/प्रायोपगमन का या जिनकल्प का आश्रय ग्रहण करूँ? ।।१६३।।

प्रश्न - आत्महितेच्छु साधु ने स्वहित के लिए कितने विकल्प उठाये हैं? उनके क्या लक्षण हैं?

उत्तर - आलन्द विधि, परिहार विधि, भक्तत्याग, इगिनी, प्रायोपगमन और जिनकल्प, इस प्रकार यहाँ आत्महित के लिए छह विकल्प अर्थात् सन्यास विधि के छह प्रकार कहे गये हैं। इनमें से भक्तत्याग विधि का विवेचन आचार्यदेव कर ही रहे हैं, इगिनी और प्रायोपगमन की विधियो का वर्णन इसी ग्रन्थ मे आगे किया जायेगा। शेष आलन्द विधि, परिहार विधि और जिनकल्प विधि इन तीनो का पालन इस काल मे असम्भव है। क्योकि ये तीनों अतिशयरूप से उच्चकोटि के साधु का आचार हैं जो महामुनियों की अतिश्रेष्ठ सल्लेखना के अभ्यास का साधकतम हेतु है। इनका वर्णन **भगवती आराधना गाथा १५७** की टीका मे है, जिसे अवश्यमेव पढना चाहिए।

भक्तप्रत्याख्यान के लिए प्रयत्नशीलता

सत्येव स्मृतिमाहात्म्ये, विचार्ये सति जीविते।
भक्तत्यागे मतिं धत्ते, बल-वीर्यानिगूहकः।।१६४।।

अर्थ - उपर्युक्त प्रकार से विचार कर स्मृति का माहात्म्य होने पर और आयु के अल्प रह जाने पर अपने बल एव वीर्य को न छिपाते हुए मुनिराजो को भक्तप्रत्याख्यान मे अपनी बुद्धि लगानी चाहिए।।१६४।।

प्रश्न - स्मृति-माहात्म्य का क्या आशय है?

उत्तर - जिनागम के रहस्य का उपदेश सुनने से जो उसका सस्कार रहा उसके प्रभाव में 'मैं आयु अवसान के समय अवश्य ही विधिपूर्वक सल्लेखना करूँगा' ऐसा जो सकल्प किया था, उसका स्मरण भी भक्तप्रत्याख्यान का कारण होता है। यह स्मृति-माहात्म्य का आशय है।

भक्तप्रत्याख्यान लेने का कारण

संन्यास-कारणे जाते, पूर्वोक्तान्यतमे सति।
करोति निश्चितं बुद्धिं, भक्तत्यागे तथैव सः।।१६५।।

अर्थ - पूर्व मे कहे गये सल्लेखना के कारणों मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर उसी प्रकार निश्चय से भक्तप्रत्याख्यान मे अपनी बुद्धि लगानी चाहिए।।१६५।।

आराधक के मन की दृढ़ता

योगा यावन्न हीयन्ते, यावन्नश्यति न स्मृतिः।
श्रद्धा प्रवर्तते यावद्, यावदिन्द्रिय-पाटवम्।।१६६।।

क्षेमं यावत्सुभिक्षं च, सन्ति नष्टास्त्रिगारवाः।
यावन्निर्यापका योग्या, रत्न-त्रितयसुस्थिताः ॥१६७॥

तावन्मे देहनिक्षेपः, कर्तुं युक्तो बुधे हितः।
भक्तत्यागो मतः सूत्रे, व्रत-यज्ञे ध्वजग्रहः ॥१६८॥

अर्थ - जब तक मेरे आतापन आदि योग धारण की शक्ति कम नहीं होती, जब तक स्मृति नष्ट नहीं होती, जब तक श्रद्धा यथावत् प्रवर्तन कर रही है, जब तक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयग्रहण में सजग हैं, जब तक क्षेम और सुभिक्ष है और जब तक तीन गारवो से रहित और योग्य अर्थात् समयानुकूल दर्शन, ज्ञान एव चारित्रवाले निर्यापकाचार्य अवस्थित हैं, तब तक ही मुझे शरीर के त्याग हेतु विद्वानो से स्तुत, आगम मे कही हुई आराधनारूपी पताका का ग्रहण, व्रतयज्ञ एव भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है ॥१६६-१६८॥

प्रश्न - उपर्युक्त कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - अभिप्राय यह है कि आतापन अर्थात् तपश्चरण की शक्ति नष्ट हो जाने से कर्मनिर्जरा नहीं होगी, रत्नत्रय के धारण योग्य स्मृति नष्ट होते ही रत्नत्रय सदोष हो जायेगा, श्रद्धा नष्ट होते ही मिथ्यात्व आ जावेगा, चक्षु और कर्ण आदि इन्द्रियो की शक्ति क्षीण हो जाने से असयम का परिहार नहीं हो सकेगा, देश मे क्षेम और सुभिक्ष न होने से अर्थात् देश मे शत्रु सेना के उपद्रव तथा मारी आदि रोगो का सद्भाव और दुर्भिक्ष आदि होने से वातावरण अशान्त रहेगा और यदि निर्यापकाचार्य रत्नत्रय से रहित एव ऋद्धि गारव, रस गारव तथा सात गारव से युक्त होगे तो वे क्षपक को भी असयम की ओर ले जावेगे। इन कारणो से क्षपक सल्लेखना की वेदना को सहन नहीं कर सकेगा, जिसके फल-स्वरूप वह दुर्गति का पात्र होगा और धर्म की अप्रभावना होगी, अत उपर्युक्त कारण समुदाय की सुलभता मे ही भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना धारण करना बुद्धिमानो के द्वारा हितकर कहा गया है। सिद्धान्त मे आराधना को ही पताका और व्रतयज्ञ कहा है।

'जीविताशा विनाश' गुण विज्ञापन

एवं स्मृतिपरिणामो, निश्चितो यस्य विद्यते।
तीव्रायामपि बाधायां, जीविताशास्य नश्यति ॥१६९॥

॥ इति परिणामः ॥

अर्थ - 'मै शरीर का त्याग करूँगा ही' ऐसा जो दृढ निश्चय कर लेता है वह तीव्र वेदना होने पर भी 'उसका प्रतिकार करके मैं जीवित रहूँ' ऐसी चिन्ता नहीं करता अत 'जीवन की आशा का विनाश' उसका गुण सूचित किया गया है ॥१६९॥

प्रश्न - 'जीविताशा विनष्ट' गुण अलग से क्यो कहा गया है?

उत्तर - "मैं शरीर का त्याग करूँगा ही" और रोग आदि का प्रतीकार करके 'मैं जीवित रहूँ'। ये दोनो सकल्प अग्नि और जल के स्वभाव सदृश विरोधी हैं। क्षपक में अन्य सब गुण हो किन्तु यदि 'जीविताशा' विनष्ट

न हुई हो तो सल्लेखना की सफलता कदापि नहीं हो सकती, और यदि जीविताशा विनष्ट नाम का गुण विद्यमान है तो अन्य सर्वगुण स्वयमेव प्रगट हो जाते हैं, इसलिए इस गुण का कथन अलग से किया गया है।

।। इस प्रकार परिणाम अधिकार पूर्ण हुआ ।।७।।

८. उपधित्यागअधिकार

द्रव्य परिग्रह त्याग का निर्देश

उपधिं मुञ्चतेऽशेषं मुक्त्वा संयम-साधकम्।
मुमुक्षुर्मृगयन्मुक्तिं, शुद्धलेश्यो महामनाः ।।१७०।।

अर्थ - मुक्ति की खोज करने वाला, विशुद्धलेश्याधारी महामना साधु सयम के साधन मात्र परिग्रह के अतिरिक्त शेष परिग्रह को मन, वचन, काय से त्याग देता है।।१७०।।

प्रश्न - शेष परिग्रह कौन-कौन सा है?

उत्तर - जो परिग्रह सयम की साधना मे साधकतम कारण होता है उसके अतिरिक्त जो-जो है वह सब शेष शब्द से ग्राह्य होता है। सल्लेखनारत साधु को वर्तमान मे मात्र पीछी और कमण्डलु ही साधकतम कारण हैं। अथवा शेष परिग्रह मे ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि कहे गये है, क्योकि समाधि के समय उनका उपयोग नहीं रहता। तथा दूसरी पीछी और दूसरा कमण्डलु भी उस समय सयम की सिद्धि मे कारण न होने से सयम का साधन नहीं है, अत कर्मविनाश का इच्छुक साधु एक पीछी और एक कमण्डलु के अतिरिक्त शेष परिग्रह का मन, वचन और काय से त्याग कर देता है।

साधुर्गवेषयन्मुक्तिं, शुद्धलेश्यो महामनाः।
विमुञ्चत्युपधिं सर्वमल्पानल्प-परिक्रियम् ।।१७१।।

अर्थ - मुक्ति का अन्वेषण करने वाले शुद्धलेश्या युक्त महामना साधु अल्प परिकर्मवाली और अधिक परिकर्मवाली ऐसी सर्व ही उपधि का त्याग कर देते हैं।।१७१।।

प्रश्न - उपधि किसे कहते हैं और अल्प परिकर्म तथा अधिक परिकर्म का क्या लक्षण है?

उत्तर - परिग्रह को उपधि कहते है। जिसमे देखना, शोधना, झाड़ना आदि कम करना होता है वह परिग्रह अल्पपरिकर्मवाला और जिसमे शोधन-निरीक्षण आदि अधिक करना पडे वह परिग्रह अधिक परिकर्मवाला कहा जाता है।

भाव परिग्रह त्याग का क्रम

औत्सर्गिक-पदान्वेषी, शय्या-संस्तरकादिकम्।
पञ्चधा शुद्धिमप्राप्य, ये विवेकं च पञ्चधा ।।१७२।।

अर्थ - जो औत्सर्गिक पद के अन्वेषक हैं किन्तु शय्या एव सस्तर आदि के विषय में पाँच प्रकार की शुद्धि और पाँच प्रकार के विवेक को प्राप्त नहीं करते वे मुनि समाधि को प्राप्त नहीं कर सकते ॥१७२॥

विपद्यन्ते समाधिं ते, लभन्ते न विमोहिनः।
शुद्धिं ये पञ्चधा प्राप्ता, ये विवेकं च पञ्चधा ॥१७३॥

अर्थ - जो निर्मोह साधु पाँच प्रकार की शुद्धि और पाँच प्रकार के विवेक को प्राप्त कर लेते हैं, वे समाधि को प्राप्त कर लेते हैं ॥१७३॥

शुद्धि के पाँच भेद

शुद्धिरालोचना शय्या-संस्तरोपधि-गामिनी।
वैयावृत्यकराहार-पान-जाता च पञ्चधा ॥१७४॥

अर्थ - आलोचना की, शय्या-सस्तर की, उपधि की, वैयावृत्य करनेवालों की और आहार-पान की ये पाँच प्रकार की शुद्धियॉ है ॥१७४॥

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-विनयावश्यकाश्रया।
अथवा पञ्चधा शुद्धिर्विधेया शुद्धबुद्धिना ॥१७५॥

अर्थ - अथवा शुद्ध बुद्धिवाले साधु को दर्शन शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और षड़ावश्यक शुद्धि ये पाँच प्रकार की शुद्धियॉ रखनी चाहिए ॥१७५॥

प्रश्न - इन दस प्रकार की शुद्धियो के क्या लक्षण हैं?

उत्तर - कर्मग्रहण के कारणभूत जिन-जिन पदार्थो मे जिनका आदर भाव अथवा ममत्व भाव होता है उसके लिए वह सब उपधिरूप होता है। अन्तरग परिग्रह होने से माया कषाय तो उपधिरूप है ही किन्तु कर्म-बन्ध का कारण होने से असत्य भाषण भी परिग्रह स्वरूप है।

आलोचना शुद्धि-माया कषाय और असत्य का त्याग कर आलोचना करना आलोचना शुद्धि है।

शय्या-सस्तर शुद्धि - उद्गम, उत्पादन आदि दोषों से रहित एव 'यह मेरी है' इस प्रकार के परिग्रह भाव से रहित शय्या-सस्तर अर्थात् वसतिका शुद्धि है।

उपधि शुद्धि - पीछी कमण्डलु भी उद्गम-उत्पादन दोष से रहित ही ग्रहण करने योग्य हैं, अन्यथा नहीं, क्योकि अशुद्ध उपकरण असयम के कारण है। उनमे 'ये मेरे हैं' ऐसा मूर्च्छाभाव पैदा हो जाता है अत उनका त्याग करना उपधि शुद्धि है।

वैयावृत्य करनेवालों की शुद्धि - वैयावृत्य करनेवालो का सयमी होना और वैयावृत्य के क्रम का ज्ञाता होना वैयावृत्यकारी की शुद्धि है। इस शुद्धि मे 'असयमी और क्रम को न जाननेवाले अक्रमज्ञ लोग मेरी वैयावृत्य करने वाले नहीं हैं' ऐसा स्वीकार करने पर उनका त्याग हो जाता है।

आहार-पान शुद्धि - उद्गम और उत्पादनादि दोषों से रहित आहार-पान लेना भक्तपान शुद्धि है।

दर्शन शुद्धि - नि शकित आदि गुणों के अनुरूप आत्मा की परिणति होना।

ज्ञान शुद्धि - योग्य काल में अध्ययन और गुरु तथा शास्त्र आदि का नाम नहीं छिपाना, इत्यादि गुणों के अनुकूल आत्म-परिणति होना।

चारित्र शुद्धि - प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं, इन पच्चीस भावनाओं का पालन करना चारित्र की शुद्धि है।

विनय शुद्धि - कीर्ति,यश, आदर-सत्कार आदि दृष्ट फलो की अपेक्षा न करके साधर्मी जन और गुरुजन आदि की विनय करना।

आवश्यक शुद्धि - सावद्य योग का त्याग, जिनेन्द्र के गुणो मे अनुराग, वन्द्यमान श्रुत एव आचार्यादि के गुणो का अनुसरण करना, स्व-कृत अपराधो की निन्दा करना, मन से प्रत्याख्यान करना तथा शरीर की असारता और उसके अनुपकारीपने का चिन्तन यह आवश्यक शुद्धि है। इन शुद्धियों के होने से उनके अपने-अपने दोषो का त्याग हो जाता है।

पाँच प्रकार के विवेक का कथन

विवेको भक्तपानाङ्ग-कषायाक्षोपधि-श्रितः।
पञ्चधा साधुना कार्यो, द्रव्य-भाव गतो द्विधा ॥१७६॥
सोऽथवा पञ्चधा शय्या-संस्तरोपधि-गोचरः।
वैयावृत्यकराहार-पान-विग्रह-संश्रयः ॥१७७॥

अर्थ - भक्तपान विवेक, शरीर विवेक, कषाय विवेक, इन्द्रिय विवेक और उपधि विवेक इस प्रकार साधुओ के द्वारा करने योग्य यह विवेक पॉच प्रकार का है। तथा प्रत्येक विवेक द्रव्य विवेक और भाव विवेक के भेद से दो-दो प्रकार का है॥१७६॥

अथवा शय्या-सस्तर विवेक, उपधि विवेक, वैयावृत्यकर विवेक, आहार-पान विवेक और शरीर विवेक के भेद रूप अन्यथा प्रकार से विवेक पॉच प्रकार का है॥१७७॥

प्रश्न - इन विवेको के क्या लक्षण हैं?

उत्तर - भक्तपान विवेक - शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध आहार-जल ग्रहण करना, प्राण कण्ठगत होने पर भी अयोग्य भोजन-पान ग्रहण नहीं करना यह द्रव्यरूप भक्तपान विवेक है और अयोग्य भोजनपान का मन से भी विचार नहीं करना भावरूप भक्तपान विवेक है।

शरीर विवेक - आँख मटकाना, चुटकी बजाना तथा ओष्ठ डसना आदि रूप शारीरिक कुचेष्टाएँ नहीं करना द्रव्यरूप शरीर विवेक है तथा कुचेष्टा करने के भाव ही नहीं होने देना भाव शरीर विवेक है।

अथवा - शरीर पर होने वाले किसी भी प्रकार के उपद्रव दूर नहीं करना, 'मेरे ऊपर उपद्रव मत करो' ऐसा वचन से नहीं कहना। बिच्छु, सर्प, कुत्ता, डाँस एव मच्छर आदि को हाथ से, पीछी से या अन्य किसी उपाय से दूर नहीं करना। अथवा पीछी, चटाई या छाता आदि से शरीर नहीं ढकना शरीर विवेक है।

कषाय विवेक - शरीर मे क्रोध-मान आदि के आवेश रूप प्रवृत्ति नहीं होने देना और क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के सूचक वचन नहीं बोलना द्रव्यरूप कषाय विवेक है तथा चित्त मे किसी भी कषाय रूप भाव को उत्पन्न नहीं होने देना भाव रूप कषाय विवेक है।

इन्द्रिय विवेक - पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे आदरभाव रूप या क्रोध आदि के वशीभूत होकर दुष्प्रवृत्ति नहीं करना तथा मैं मनोहर वस्तु का स्पर्श करता हूँ, रसपान करता हूँ, मुखरूपी कमल की सुगन्ध सूँघता हूँ, मनोहर रूप देखता हूँ और सावधानी पूर्वक गीतादि सुनता हूँ, ऐसे वचन नहीं बोलना द्रव्यरूप इन्द्रिय विवेक है तथा विषयों का ज्ञान हो जाने पर भी उन विषयो के अनुरूप मानस ज्ञान का परिणमन न होना भावरूप इन्द्रिय विवेक है।

उपधिविवेक - श्रामण्य के अयोग्य वस्तुएँ ग्रहण नहीं करना द्रव्यरूप उपधि विवेक है और ऐसी अयोग्य वस्तुओ की ओर चित्त का आकर्षित नहीं होना या उन्हे ग्रहण करने का भाव उत्पन्न नहीं होना भाव रूप उपधि विवेक है।

शय्या-सस्तर विवेक - यहाँ शय्या का अर्थ वसतिका है। पूर्व की वसतिका मे नहीं रहना तथा पूर्व के सस्तर पर न सोना और न बैठना यह काय से, 'मै पूर्व वसतिका और सस्तर का त्याग करता हूँ' ऐसा कहना वचन से और उनमे 'ये मेरे है' ऐसा अनुराग नहीं रखना भाव से शय्या एव सस्तर विवेक है। इसी प्रकार उपकरण और भक्तपान मे लगा लेना चाहिए।

वैयावृत्यकर विवेक - अपने शिष्यों आदि के साथ वास न करना काय से, 'मैंने अब तुम्हारा त्याग किया है' ऐसा कहना वचन से तथा 'यह शिष्य समुदाय मेरा है' ऐसा अनुराग नहीं रखना भाव से वैयावृत्यकर विवेक है।

परिग्रह त्याग का क्रम

समस्त-द्रव्य-पर्याय-ममता-सङ्ग-वर्जितः।
निःप्रेम-स्नेह-रागोस्ति, सर्वत्र सम-दर्शनः ॥१७८॥

॥ इति उपधि-त्यागः ॥

अर्थ - समस्त जीव-पुद्गलादि द्रव्य और उनकी पर्यायो मे ममता रूपी परिग्रह से रहित प्रेम, प्रणय और राग से रहित सर्वत्र सम भाव होना, यह सब परिग्रह त्याग का क्रम है॥१७८॥

प्रश्न - समता भाव को कौन प्राप्त करता है?

उत्तर - जो वस्तु स्वरूप को जानने मे लीन रहता है, जीव और पुद्गल मे एव उनकी पर्यायो मे ममत्व रहित है, जीव द्रव्य अर्थात् शिष्य एव वैयावृत्य करनेवालो की नीरोगता, प्रतिष्ठा तथा विद्वत्ता आदि पर्यायों में, अपनी आत्मा की देव, चक्रवर्ती तथा अहमिन्द्रादि पर्यायो मे, तथा पुद्गलद्रव्य अर्थात् शरीर में, आहार-पान-औषधादि मे, भोग एव सुख की अनुभूति करानेवाले साधनो मे और उनकी शुभता रूप स्पर्श, रस, गन्धादि पर्यायो में प्रेम, स्नेह तथा राग अर्थात् आसक्ति रूप परिणामो से रहित है वह सर्वत्र समताभावी होता है। अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों मे समताभाव होना ही परिग्रहत्याग का मूल है, इस समता भाव से परिग्रह का त्याग सहज ही हो जाता है।

इस प्रकार उपधित्याग नामक अधिकार पूर्ण हुआ ॥८॥

९. श्रिति अधिकार

भाव श्रिति एवं द्रव्य श्रिति का लक्षण

उपर्युपरि शुद्धेषु, गुणेष्वारुह्यते यया।
भावश्रितिरभाष्येषा, विशुद्धाजीव-वासना ॥१७९॥

मन्दिरादिषु तुङ्गेषु, सुखेनारुह्यते यया।
द्रव्यश्रितिर्मता प्राज्ञैः, सा सोपानादि-लक्षणा ॥१८०॥

अर्थ - जीव के जिन भावों से रत्नत्रय की उन्नति के हेतुभूत सम्यक्त्वादि गुणों मे प्रतिदिन ऊपर-ऊपर शुद्धि वृद्धिंगत होती रहती है, उन भावो को भावश्रिति कहते हैं। अथवा जीव के रत्नत्रय रूप बिशुद्ध परिणामो को भावश्रिति कहते हैं ॥१७९॥

मन्दिर आदि उच्च स्थानो पर जिसके द्वारा सुखपूर्वक चढा जाता है वह सोपानरूप द्रव्यश्रिति है ऐसा प्राज्ञ पुरुषो ने कहा है ॥१८०॥

शरीरादिरूप द्रव्य श्रिति का त्याग और रत्नयरूप भावश्रिति का ग्रहण

द्रव्यश्रितिं परित्यज्य, भावश्रितिमधिश्रितः।
चारित्रे चेष्टतां शुद्धे, त्यक्तुकामः कलेवरम् ॥१८१॥

अर्थ - शरीर का त्याग करने मे समुत्सुक मुनिराज को द्रव्यश्रिति का त्याग कर भावश्रिति का आश्रय लेना चाहिए और शुद्ध चारित्र मे चेष्टा करनी चाहिए ॥१८१॥

द्रव्यभावश्रिति ज्ञानाः, सन्त्युत्तर पदोद्यताः।
नह्यधोधः प्रशंसन्ति, पदमूर्ध्वं यियासवः ॥१८२॥

अर्थ - द्रव्यश्रिति और भावश्रिति के स्वरूप को विशेषरूप से जाननेवाले महापुरुष उपरिम-उपरिम पद अर्थात् रत्नत्रय की उन्नति के लिए ही उद्यमशील रहते हैं, क्योकि ऊर्ध्व पद मे गमन के इच्छुक पुरुष नीचे-नीचे के पदो की प्रशसा नहीं करते ॥१८२॥

प्रश्न - द्रव्यश्रिति और भावश्रिति के क्या लक्षण है और उपरिम पद के लिए उद्यमशीलता आदि का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - जैसे सीढी या नसैनी ऊपर चढने का साधन है और ऊपर पहुँच जाना उसका फल है। उसी प्रकार द्रव्यश्रिति रूप शरीर, आहार एव पीछी-कमण्डलु आदि साधन हैं और भावश्रिति रूप रत्नत्रय की विशुद्धता साध्य है। अर्थात् शरीर द्रव्यश्रिति है और सम्यक्त्व आदि गुण भावश्रिति हैं।

सल्लेखनारत किन्तु शरीर से विरक्त मुनिराज अपनी सल्लेखना की सिद्धि हेतु प्रत्येक पर्याय मे सुलभ, अपवित्र, असार, कृतघ्न, भाररूप, रोगों के खजाने, जन्म-मरण के माध्यम और अत्यन्त दुखदायी शरीर से निस्पृह होकर सोना, उठना, बैठना, आहार-पान आदि की सर्वसुख भावनाओं के अनुरूप द्रव्यश्रिति को छोडकर,

सम्यक्त्वादि परिणाम स्वरूप भावश्रिति का आश्रय लेते हैं। उपरिम पद की उद्यमशीलता का आशय यह है कि शुभ परिणामवालो को शुभ परिणामो की उत्कृष्टता के लिए ही उद्यम करना चाहिए, जघन्य परिणामों के प्रवाह में कदापि नहीं बहना चाहिए, क्योकि जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मन्द-मन्द होते जाते हैं वह घने और विशाल कर्मरूपी अन्धकार को नाश के अभिमुख दीपक के सदृश दूर नहीं कर सकता। अर्थात् जैसे बुझता हुआ दीपक तीव्र प्रकाश देता है किन्तु मन्द-मन्द होता हुआ बुझ जाता है और धीरे-धीरे अन्धकार से ढक जाता है; उसी प्रकार मन्द-मन्द होता हुआ शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामों की परम्परा का जनक होता है और उससे कर्मों की स्थिति एव अनुभाग उत्तरोत्तर बढते हैं, जिसके फलस्वरूप वही दीर्घ ससारीपना प्राप्त होता है। इसके विपरीत सम्यग्ज्ञान रूपी वायु से प्रेरित शुभ परिणामरूप अग्नि उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हुई कर्मरूपी वृक्ष के रस को सुखाकर उसे जड से नष्ट कर देने मे सहायक होती है।

भावश्रिति के विनाश से बचने के उपाय

गणिनैव समं जल्प:, कार्यार्थं यतिभि: परै:।
कुदृष्टिभि: समं मौनं, शान्तै: स्वैश्च विकल्पते ॥१८३॥

अर्थ - शुभ परिणामो की रक्षा हेतु साधु को आचार्य के साथ ही धर्म-सम्बन्धी वार्तालाप करना चाहिए। विशेष कार्यवश अन्य साधुजनो से बोले, अन्यथा नहीं। मिथ्यादृष्टि जनो मे मौन रखे। शान्त-परिणामी जनो मे और ज्ञातिजनो मे यदि ऐसा विश्वास है कि 'ये मेरे वचन सुनकर धर्म धारण कर लेगे' तो ही उनसे वार्तालाप करे, अन्यथा मौन रखे ॥१८३॥

शुभ परिणामधारी मुनि की प्रवृत्ति का क्रम

कार्याय स्वीकृतां शय्यां, विमुच्याचारपण्डित:।
परिकर्मवती वृत्ते, वर्तते देह-निस्पृह: ॥१८४॥

दुश्चरं पश्चिमे काले, भक्तत्यागं सिषेविषु:।
धीरै:निषेवितं बाढं, चतुरङ्गो प्रवर्तते ॥१८५॥

॥ इति श्रितिसूत्रम् ॥

अर्थ - आचारशास्त्र मे प्रवीण और अपने शरीर से निस्पृह सल्लेखना-रत साधु ने पूर्व जीवन मे जो वसतिका आदि स्वीकार की थी, उसे त्याग कर वह चारित्र और तपश्चरण आदि मे सलग्न होता है ॥१८४॥

जीवन के अन्त मे आहार त्याग करने का इच्छुक साधु सम्यक्त्वादि चार आराधनाओ मे प्रवृत्ति करता है। आहार का त्याग करना अति दुष्कर है, अत· धीर-वीर पुरुष ही जीवन पर्यन्त के लिए आहार का त्याग कर सकते हैं। ऐसा कठिन त्याग कायर जीव नहीं कर सकते ॥१८५॥

प्रश्न - यहाँ मात्र शय्या-त्याग का आदेश क्यो दिया गया है? तथा परिकर्मवती का क्या अर्थ है?

उत्तर - यहाँ शय्या उपलक्ष है, अत शय्या शब्द से वसतिका, सस्तर एव उपकरण आदि सबका ग्रहण

कर लेना चाहिए। अर्थात् स्वाध्याय या धर्मोपदेश हेतु जो शास्त्रआदि, आचार्यादि की वैयावृत्य हेतु अन्य कोई परिग्रह, औषधियाँ तदतिरिक्त ज्ञानोपकरण एव सयमोपकरण सगृहीत कर रखे हों तो उनका त्याग कर दे।

यहाँ परिकर्मवती का अर्थ है स्वयं के उद्देश्य से वसतिका, संस्तर या उपकरण आदि रखे हैं, उनका भी त्याग कर दें।

इस प्रकार श्रिति अधिकार पूर्ण हुआ ॥९॥

१०. भावना अधिकार

नवीन-आचार्य की स्थापना

समर्प्यानुदिशं सर्वं, गणं संक्लेश-वर्जितः।
कियन्तं कालमात्मानं, गणी भावयते तराम् ॥१८६॥

अर्थ - समाधि के इच्छुक आचार्य अपने चतुर्विध सघ को नूतन-आचार्य के लिए समर्पित करते हैं और सक्लेश रहित अर्थात् सघभार से मुक्त होते हुए वे आचार्य कुछ समय तक अतिशय रूप से अपने आत्मा की भावना करते है ॥१८६॥

प्रश्न - यहाँ अनुदिश का क्या अर्थ है और नवीन आचार्य-स्थापन का क्या मार्ग है?

उत्तर - "अनुगुरो पश्चादिशति विधत्ते अनुदिक् एलाचार्य "। अर्थात् गुरु के पश्चात् जो मुनि चारित्र का क्रम सर्व सघ को निर्देशित करते हैं उन्हे अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते हैं। जो आचार्य सल्लेखना ग्रहण करना चाहते हैं वे सर्व सघ को एकत्र कर आचार्य पद के योग्य शिष्य को सर्वसघ के मध्य बैठा कर तथा स्वय सघ के बाहर खडे होकर एलाचार्य को सर्वसघ समर्पित करते हुए कहते हैं कि-ये एलाचार्य रत्नत्रय का निरतिचार पालन करते हैं, स्व को और सर्व सघ को ससार समुद्र से तारने मे समर्थ हैं। ये ही अब आपके गुरु हैं ऐसी मेरी सम्मति है, अत इनकी आज्ञानुसार ही आप सबकी प्रवृत्ति होनी चाहिए, इत्यादि। तत्पश्चात् परोपकार करने का आयास छोडकर अर्थात् निर्द्वन्द्व होकर आत्मध्यान की भावना से अपनी आत्मा को सस्कारित करना चाहिए।

त्यागने योग्य पाँच भावनाएँ

कान्दर्पी कैल्विषी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी सदा।
साम्मोही पञ्चमी हेया, संक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥१८७॥

अर्थ - प्राज्ञ यतियो को निश्चय से कान्दर्पी, कैल्विषी, आभियोग्या, आसुरी और पाँचवीं साम्मोही इन सक्लिष्ट भावनाओ का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए ॥१८७॥

प्रश्न - भावनाओ का कान्दर्पी आदि नामकरण किस कारण से किया गया है ?

उत्तर - 'अन्नं वै प्राणाः' अन्न ही प्राण है। इस प्रकार यहाँ भी कारण में कार्य का उपचार करके कन्दर्पदेवगति, किल्विषदेवगति, आभियोग्य देवगति, असुर देवगति और सम्मोहदेवगति के कारणभूत आत्म-परिणामो को कन्दर्प भावना आदि के नाम से कहा गया है।

कन्दर्प भावना

हास्य कान्दर्प कौत्कुच्य, पर-विस्मय-कोविदः।
कान्दर्पी भावनां दीनो, भजते लोलमानसः ॥१८८॥

अर्थ - जो चचल चित्तवाला दीन मुनि दूसरो को विस्मय उत्पन्न कराने मे चतुर होता है और हास्य, कन्दर्प तथा कौत्कुच्य आदि करता रहता है वह कन्दर्प भावना करनेवाला कहा गया है॥१८८॥

प्रश्न - हास्य एव कान्दर्प आदि किसे कहते हैं?

उत्तर - गन्दी हँसी हँसना हास्य, राग की अधिकता से हास्य मिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प और राग की अधिकता युक्त हँसते हुए दूसरो को लक्ष्य कर शरीर से कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन कन्दर्प एव कौत्कुच्य पूर्वक कुछ कौतुक दिखाकर दूसरो को आश्चर्य मे डालना ये सब कन्दर्प भावनाएँ हैं।

किल्विष भावना

सर्वज्ञ-शासन-ज्ञान-धर्माचार्य-तपस्विनाम्।
निन्दापरायणो मायी, कैल्विषीं श्रयतेऽधमः ॥१८९॥

अर्थ - सर्वज्ञभगवान के शासन की, जिनागम की, वीतरागमयी जैनधर्म की, आचार्यो की एव तपस्वियो की निन्दा मे परायण और मायावी अधम मुनि कैल्विषी भावनावाले होते हैं॥१८९॥

प्रश्न - इस भावना का क्या आशय है ?

उत्तर - इसका आशय यह है कि जो मुनि सर्वज्ञदेव या जिनागम या चारित्रमयी धर्म, आचार्य, उपाध्याय, साधुजन एव तपस्वी आदि के बाह्य आचरण मे आदर भाव दर्शाते हैं किन्तु अभ्यन्तर मे उन्हे तिनके के सदृश तुच्छ समझते हैं और उनकी निन्दा करते हैं, अर्थात् धर्मात्माओ के साथ अन्तरग मे मायाचारी रखते हुए बाह्य मे श्रद्धा, भक्ति एव आदर का दिखावा करते हैं उन्हे किल्विष भावनावाला समझना चाहिए।

आभियोग्य भावना

मन्त्र-कौतुक-तात्पर्य भूतिकर्मौषधादिकम्।
कुर्वाणो गौरवाद्यर्थामाभियोगीमुपैति ताम् ॥१९०॥

अर्थ - जो मुनि मन्त्र-कौतुक तत्परता, भूतिकर्म एवं औषधादि का प्रयोग अपने गौरव एव तीनो गारव के लिए करते हैं वे आभियोग्य भावना युक्त होते हैं॥१९०॥

प्रश्न - मन्त्रादि करने वाले को आभियोग्य भावनावाला क्यों कहा है ?

उत्तर - मन्त्रशक्ति से कुमारी-कन्या आदि के शरीर मे भूत का आवेश उत्पन्न करना, अकाल में जलवृष्टि या अमावस्या के दिन चन्द्रमा के दर्शन कराकर कौतुक दिखाना, स्त्री-पुरुष को वश करना अथवा उनका उच्चाटन करना, बालकादि के रक्षण हेतु भूतिकर्म आदि करना अथवा भूतों की क्रीड़ा दिखाना आदि क्रियाएँ जो साधु अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिए अथवा शक्ति-सम्पदा दिखाने के लिए, मिष्टाहार के लिए अथवा इन्द्रियजन्य सुखों के लिए एव ऋद्धि, रस एव सात गारव के लिए करता है, वह आभियोग्य भावना वाला होता है। इसके प्रभाव से उस साधु का जन्म वाहनजाति के देवो मे होता है।

यदि कोई मुनिराज स्व-पर की आयु आदि ज्ञात करने के लिए अथवा साधुओ की वैयावृत्य करने हेतु मन्त्र प्रयोग करते हैं तथा धर्मप्रभावना हेतु कौतुक दिखाते हैं, उनके वे सब कार्य दोषयुक्त नहीं हैं। अर्थात् दर्शन, ज्ञान एव चारित्रादि परिणामो मे आदरपूर्ण प्रवृत्ति होने से दोषपूर्ण नहीं है।

आसुरी भावना

निष्कृपो निरनुक्रोशः, प्रवृत्त-क्रोध-विग्रहः।
निमित्तसेवको धत्ते, भावनामासुरीं यतिः॥१९१॥

अर्थ - जो मुनि दया रहित है, निरकुश आक्रोशी है, क्रोध एव कलह मे ही प्रवृत्त रहता है तथा निमित्तसेवक अर्थात् ज्योतिष और सामुद्रिक लक्षण आदि बता कर आहार आदि की प्राप्ति करता है उसे आसुरी भावना से युक्त जानना चाहिए॥१९१॥

सम्मोही भावना

उन्मार्ग-देशको मार्ग-दूषको मार्ग-नाशकः।
मोहेन मोहयंल्लोकं, साम्मोहीं तां प्रपद्यते॥१९२॥

अर्थ - उन्मार्ग का उपदेश देनेवाला, रत्नत्रयमयी मोक्षमार्ग को दूषित करनेवाला, मोक्षमार्ग का नाश करनेवाला और मोह अर्थात् कुज्ञान या अज्ञान से जीवो को मोहित करनेवाला मुनि सम्मोही भावना वाला जानना चाहिए॥१९२॥

सक्लिष्ट भावनाओं का फल और उनके त्याग की प्रेरणा

रत्नत्रय विराध्याभिर्भावनाभिर्दिवं गतः।
भीषणे भव-कान्तारे, चिरं बंभ्रम्यते च्युतः॥१९३॥

पञ्चेति भावनास्त्यक्त्वा, संक्लिष्टः समितो यतिः।
षष्ट्यां प्रवर्तते गुप्तः, संविग्नः सङ्ग-वर्जितः॥१९४॥

अर्थ - जो मुनि इन खोटी भावनाओ द्वारा रत्नत्रय की विराधना करते हैं वे मरण कर देवदुर्गति अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवो में उत्पन्न होते हैं, पश्चात् वहाँ से च्युत होकर ससाररूपी भीषण अटवी मे बार-बार भ्रमण करते हैं॥१९३॥

इस प्रकार इन सक्लिष्टरूप पाँचो भावनाओं का त्याग कर जो मुनि पाँच समितियों को पालता है, तीन

गुप्तियों को धारण करता है, सर्व परिग्रह की आसक्ति से रहित है और ससार से भयभीत है वह छठी भावना में प्रवृत्ति करने योग्य होता है ॥१९४॥

छठी ग्राह्य भावना के भेद

असंक्लिष्ट-तपः-शास्त्र-सत्त्वैकत्व धृति-श्रिता।
पञ्चधा भावना भाव्या, भव भ्रमण-भीरुणा ॥१९५॥

अर्थ - सक्लेश रहित भावनाएँ पाँच प्रकार की हैं - तपो भावना, ज्ञान भावना, सत्त्व भावना, एकत्व भावना और धृति भावना। ससार से भयभीत साधुओ को यही भावनाएँ भानी चाहिए॥१९५॥

तपो भावना समाधि की साधक है

दान्तान्यक्षाणि गच्छन्ति, तपो भावनया वशं।
विधानेनेन्द्रियाचार्यः, समाधाने प्रवर्तते ॥१९६॥

अर्थ - तपो भावना से दमित हुई इन्द्रियाँ तपस्वी के वश हो जाती हैं। तप भावनारूप विधान के द्वारा साधु इन्द्रियाचार्य अर्थात् इन्द्रियों को शिक्षा देनेवाला हो जाता है और वह रत्नत्रय मे प्रवृत्त हो जाता है ॥१९६॥

तपो भावना बिना सल्लेखना सम्भव नही है

इन्द्रियार्थ-सुखासक्तः, परीषह-पराजितः।
जीवोऽकृतक्रियाः क्लीवो, मुह्यत्याराधना-विधौ ॥१९७॥

अर्थ - जो साधु इन्द्रियो के विषयसुख मे आसक्त है, क्षुधा-तृषा आदि परीषहो से पराजित हो चुका है और साधु के करने योग्य तपश्चरण आदि क्रियाओ को नहीं कर पाता है वह नपुसक अर्थात् दीन सदृश होता हुआ आराधना की आराधन-विधि मे विमोहित सदृश हो जाता है। अर्थात् सल्लेखना की साधना मे समर्थ नही हो पाता ॥१९७॥

लालितः सर्वदा सौख्यैरकारित-परिक्रियः।
कार्यकारी यथा नाश्वो, बाह्यमानो रणाङ्गणे ॥१९८॥

अकारित तपो योग्यश्चिरं विषय-मूर्छितः।
न जीवो मृत्युकालेऽस्ति, परीषह-सहस्तथा ॥१९९॥

अर्थ - शब्दो या सकेतो को ध्यान मे रखना, सकेतानुसार चलना, वेग से घूमना एव कूदने आदि की शिक्षा नहीं दी गई है अर्थात् जिसे इस प्रकार का अभ्यास नहीं कराया गया है, अपितु चिरकाल तक सुखपूर्वक लालन-पालन कर उसे पुष्ट किया गया है ऐसा घोडा युद्ध-भूमि में ले जाने पर शत्रु को जीतने मे अपने स्वामी की सहायता करना तो दूर किन्तु भय से भाग कर स्वामी का कार्य नष्ट कर देता है ॥१९८॥

उसी प्रकार जिसने पूर्व काल मे तप नहीं किया अपितु सदा विषयसुखों मे आसक्त रहा वह साधु मरण-समय मे परीषह आदि की वेदना को सहन नहीं कर सकता ॥१९९॥

तपो भावना से सल्लेखना सहज सिद्ध होती है

विधापित: क्रियां योग्यां सर्वदा दुःख-वासित: ।
बाह्यमानो यथा वाजी, कार्यकारी रण-क्षितौ ॥२०० ॥

विधापितस्तपो योग्यं, हृषीकार्थ-पराङ्मुख: ।
जायते मृत्युकालेऽङ्गी, परीषह-सहस्तथा ॥२०१ ॥

॥ तपो भावना ॥

अर्थ - जिस अश्व को पहले भ्रमण करना तथा कूदने आदि का अभ्यास कराया गया है तथा क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि दुखो से चिरकाल तक सस्कारित किया गया है, ऐसा अश्व रणभूमि मे शत्रु को जीतने मे स्वामी की सहायता करता है ॥२०० ॥

उसी प्रकार जो साधु पूर्वकाल मे इन्द्रियविषयो से विरक्त रहता है और अनशन आदि योग्य तप तपता है वह मरणकाल मे परीषह सहन करने मे समर्थ होता है अर्थात् शरीर एव विषय सुख मे आसक्त नहीं होता ॥२०१ ॥

॥ इस प्रकार तपो भावना पूर्ण हुई ॥

ज्ञान भावना

चतुरङ्ग परीणाम, श्रुतभावनया पर: ।
निर्व्याक्षेप: प्रतिज्ञातं, स्वं निर्वाहयते तत: ॥२०२ ॥

स्वन्यस्त-जिनवाक्यस्य, रचितोचित-कर्मण: ।
परीषहापद: शक्ता, न कर्तुं स्मृति-लोपनम् ॥२०३ ॥

इति श्रुतम् ॥

अर्थ - श्रुतभावना से अर्थात् आगमार्थ के सतत अभ्यास से साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तप एव चारित्र इन चारो रूप परिणमन करता है, तथा विकल्प या आकुलता रहित अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह स्वय कर लेता है ॥२०२ ॥

जिनेन्द्रकथित आगमार्थ मे जिसने अपने को लगाया है, तथा जो पठन एव मनन आदि क्रियाओ मे अपने चित्त को सलग्न रखता है उसकी स्मृति का लोप करने मे परीषहरूपी आपदाएँ कदापि समर्थ नहीं होतीं ॥२०३ ॥

प्रश्न - श्रुतभावना किसे कहते हैं और इससे चारो आराधनाओ मे परिणमन कैसे हो सकता है?

उत्तर - द्रव्यश्रुत के अर्थविषयक ज्ञान मे बार-बार प्रवृत्ति होना श्रुतभावना है। अथवा आगम वाक्य सुनकर उसके अर्थ का बार-बार चिन्तन होना ज्ञानभावना है।

ज्ञान भावना होने पर तप और सयम भजनीय हैं। अर्थात् होते भी हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती के नहीं भी होते हैं, किन्तु जहाँ तप और सयम है वहाँ ज्ञान-दर्शन भावनाएँ अवश्य होती हैं, क्योकि तप और सयम कार्य हैं। ये चारित्रमोह के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा सहित ज्ञान के होने पर ही होते हैं।

प्रश्न - यहाँ किस प्रकार की स्मृति ग्रहण की गई है और उसके रक्षण का क्या उपाय है?

उत्तर - यहाँ वह स्मृति ग्रहण की गई है जो सदा रत्नत्रय रूप परिणामो को सम्पन्न करने मे उद्यमशील रहती है। तपश्चरण से और सतत निर्मल तथा प्रबल श्रुताभ्यास के बल से स्मृति बिना खेद के रत्नत्रय रूप को सुचारुरीत्या सम्पन्न कर देती है, अत. उसका रक्षण श्रुतज्ञान के सतत अभ्यास से ही हो सकता है। वचन और शरीर की सर्व प्रवृत्तियाँ स्मृति पर ही निर्भर हैं।

इस प्रकार श्रुतभावना पूर्ण हुई ॥

सत्व भावना के गुणों का कथन

भीष्यमाणोऽप्यहो-रात्रं, भीमरूपैः सुरासुरैः।
सत्त्वभावनया साधुं, धुरि-धारयतेऽखिलम् ॥२०४॥

विमुह्यत्युपसर्गे नो, सत्त्वभावनया यतिः।
युद्ध-भावनया युद्धे, भीषणेऽपि भटो यथा ॥२०५॥

॥ सत्त्वभावना ॥

अर्थ - भयकर रूप धारण करनेवाले देव एव असुरो द्वारा दिनरात डराये जाने पर सत्त्व भावना के बल से दुख सहन करते हुए भी वे महामुनि सयम के समस्त भार को वहन कर लेते है ॥२०४॥

युद्धभावना के बल से जैसे सुभट भीषण युद्ध मे भी नहीं डरता, वैसे ही सत्त्व भावना के बल से मुनिराज भयकर उपसर्ग आदि आ जाने पर भी मोहित अर्थात् सयम से विचलित नहीं होते ॥२०५॥

प्रश्न - सत्त्व भावना का लक्षण और फल क्या है, तथा इस भावना को कैसे दृढ किया जाता है?

उत्तर - मूलगुणो और उत्तरगुणो का प्रतिपालन करते समय भयरहित वर्तन करना सत्त्व भावना है। घोर उपसर्ग आदि आने पर भी निर्भयता एव उत्साहपूर्वक सयम मे दृढ रहने से उसी भव मे मोक्ष प्राप्त होता है, यह इसका उत्कृष्ट फल है।

भयकर उपसर्ग एव परीषहो की वेदना सोत्साह सहन करने हेतु महामुनिराज चतुर्गति के दुखो का चिन्तन करते हुए सत्त्वभावना को दृढ़ करते है। यथा - अनादिकाल से ससार-परिभ्रमण करते हुए मैने नरकगति मे अनेक बार असह्य वेदनाएँ भोगी हैं। तिर्यंचगति मे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक पर्यायो मे जन्म ले-लेकर नाना प्रकार के दुख भोगे हैं। लट, चींटी, भौंरा, गिद्ध आदि पक्षियो मे, व्याघ्र, कुत्ता तथा सूकर आदि पशु पर्यायो मे अनन्त बार अनिर्वचनीय दुख भोगे हैं। मनुष्य पर्याय मे मैंने इन्द्रियो की हीनाधिकता से, दरिद्रता से, असाध्य रोगों से, इष्टवियोग से, इष्ट वस्तु की अप्राप्ति से, अप्रिय के ससर्ग से एव दूसरो की चाकरी आदि से अनेक प्रकार की आपत्तियाँ भोगी हैं। इसी प्रकार देवपर्याय में भी-दूर हटो, शीघ्र चलो, स्वामी के प्रस्थान का समय है, प्रस्थान के नगारे बजाओ, ध्वजा लो, निराश देवियो की देख-भाल करो, स्वामी को जो इष्ट है ऐसे वाहन का रूप धारण कर खड़े रहो। क्या अति पुण्यशाली इन्द्र की दासता को भूल गये हो जो चुपचाप खडे हो, आगे नहीं दौडते । इस प्रकार देवों के प्रधानो के अति कठोर वचनरूपी कीलो

से कर्ण छेदने रूप पीडा से, इन्द्र के अन्त:पुर की देवांगनाओ के प्रचुर विलास को देख कर उत्पन्न हुई उन देवागनाओ की अभिलाषारूपी आग सन्ताप से और छ.मास आयु के अवशेष रहने का ज्ञान हो जाने से होनेवाले महान् दुख भोगे हैं।

इस प्रकार मैंने अनादि काल से अद्यावधि दुखों का ही अनुभव किया है तब उपसर्गजन्य दुख आने पर विषाद कैसा? विषाद करने से दुख व्यक्ति को छोड़ता नहीं है, दुख का कारण कर्म है, जब तक कर्मों का सयोग है, तब तक दुख आवेगा, इसे धैर्य पूर्वक सहन करने में ही कल्याण है। इस शरीर से मेरा अनादिकालीन परिचय है। परिचितो से भय कैसा? ऐसे शरीर मैंने अनन्त बार धारण किये है और देखे हैं, इत्यादि। यह सब सत्त्व भावना है। इस प्रकार के चिन्तन से ही सत्त्वभावना दृढ़ होती है।

एकत्व भावना

कामे भोगे गणे देहे, विवृद्धैकत्वभावन:।
करोति नि:स्पृहीभूय, साधुर्धर्ममनुत्तरम्।।२०६।।

अर्थ - काम मे, भोग मे, सघ में और शरीर मे जिसने एकत्व भावना को वृद्धिगत किया है वह साधु निस्पृह होकर उत्कृष्ट धर्म का प्रतिपालन करता है।।२०६।।

प्रश्न - एकत्वभावना का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - मैं अनादि काल से जन्म, जरा और मरण आदि के भयकर दुखों का उपभोग कर रहा हूँ किन्तु मेरे दुख मे अद्यावधि किसी ने भी हिस्सा नहीं बँटाया, मैं अकेला ही इन दुखों का अनुभव कर रहा हूँ। लोकमान्यता ऐसी है कि जो अपने दुख का विभाग कर सुख देता है वह स्वजन है और जो मेरे दुख मे हाथ नहीं बँटाता वह परजन है किन्तु यदि मेरे सातावेदनीय कर्म का उदय नहीं है तो दूसरे मुझे सुखी करने मे कदापि समर्थ नहीं हो सकते और यदि साता का उदय है तो शत्रु भी सुखदायी हो जावेगे, अत: ये स्वजन हैं, ये परजन हैं, ऐसा विभाग करना व्यर्थ है। मैं सर्वावस्थाओ मे एकाकी हूँ। न कोई मेरा है और न मैं किसी का हूँ, इत्यादि रूप से चिन्तन करना एकत्व भावना है।

प्रश्न - काम, भोग, सुख, सघ और शरीर आदि मे आसक्ति न हो, इसके लिए कैसा चिन्तन करना चाहिए?

उत्तर - स्वेच्छा से जिन पदार्थों का उपभोग कर सकते हैं ऐसे पदार्थों को कामभोग कहते हैं। जैसे आहार, पान, वस्त्र, शय्या, स्त्री आदि। 'ये पदार्थ ही सुखदायक हैं' मैंने सदा ऐसा ही सकल्प किया है किन्तु यह मेरी मिथ्या कल्पना है। मेरा इनमे राग करना उचित नहीं है, इन पदार्थों से मेरी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो एकाकी हूँ। ऐसा अभ्यास करना चाहिए।

बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से मन मे जो प्रीति या आह्लाद होता है उसे सुख कहते हैं, किन्तु ये पदार्थ तो उत्तरोत्तर लोभ की वृद्धि करते हैं और लोभ से मन व्याकुल होता है, अत· सिद्ध होता है कि ये पदार्थ चित्त को स्वस्थ करने में समर्थ नहीं हैं। रत्नत्रय ही मेरी सर्वोपयोगी सम्पत्ति है। इस भोग-सम्पत्ति से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है।

मेरे परिणामो पर अवलम्बित बन्ध या मोक्ष ही मेरे हैं, अत. इस सघ से भी मुझे क्या? इससे राग करना भी उचित नहीं है।

मेरा यह शरीर भी अकिञ्चितकर है। यह स्वय कुछ नहीं कर सकता, कर्मों के आश्रय से ही यह कार्यकारी दिखाई दे रहा है। अन्य जीव और अजीव पदार्थ मेरा उपकार करते हैं अथवा अनुपकार करते हैं, ऐसा सकल्प ही राग-द्वेष का जनक है, अत इस सकल्प को हृदय से निकाल कर सतत शुद्धात्मा के चिन्तन का अभ्यास करना योग्य है। 'मेरा आत्मस्वरूप असहाय है' ऐसे अनुभव की वृद्धि के लिए ही मुझे सतत प्रयत्न करना चाहिए, इसी मे मेरा हित निहित है।

इस एकत्व भावना के सतत अभ्यास से किसी भी पदार्थ मे मन आसक्त नहीं होता, जिससे वैराग्य वृद्धिगत होता है। वैराग्य से ससार के बीजभूत परिग्रह का त्याग होता है, परिग्रहत्याग से उत्कृष्ट चारित्र होता है और यह उत्कृष्ट चारित्र सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर देता है। यह सब एकत्व-भावना का ही गुण है। इसी एकत्व भावना के बल से जिनकल्पी साधु मोहरहित होते है। यथा-

स्वसुर्विधर्मतां दृष्ट्वा, जिनकल्पीव संयत:।
एकत्वभावनाभ्यासो, न मुह्यति कदाचन॥२०७॥

॥ इति एकत्व ॥

अर्थ - जिस पर अयोग्य आचरण हो रहा था ऐसी अपनी बहिन पर भी जैसे जिनकल्पी नागदत्त मुनिराज एकत्वभावना के बल से मोहयुक्त नहीं हुए वैसे ही क्षपक भी मोह को कदापि प्राप्त नही होता॥२०७॥

❋ जिनकल्पी नागदत्त मुनिराज की कथा ❋

उज्जयिनी के राजा नागधर्म और उसकी प्रिया नागदत्ता के नागदत्त नाम का एक पुत्र था। वह सर्पो के साथ क्रीडा करने मे अत्यधिक चतुर था। उसके मित्र एक देव ने गारुड़िक का वेष धारण कर जो प्रक्रिया की उसके निमित्त नागदत्त को वैराग्य हो गया। उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर घोर तपश्चरण किया जिससे वे दिन-प्रतिदिन चारित्र को निर्मल करते हुए जिनकल्पी हो गये। जिनेन्द्र भगवान सदृश वे एकाकी विहार करने लगे। तीर्थयात्रा को जाते हुए एक दिन वे एक वन मे पहुँच गये, वहाँ चोरो का अड्डा था। 'यह साधु हमारा भेद अन्य लोगो को कह देगा' ऐसा मानकर चोरो ने उन्हे पकड लिया और त्रास देने लगे, यह देख चोरो के सरदार सूरदत्त ने कहा कि "आप लोगो ने इन्हे क्यो पकडा? ये तो बडे सीधे और सरल स्वभावी हैं। ये किसी पर राग-द्वेष नहीं करते, ये कोई भी ऐसी बात नहीं करते जिससे किसी को कष्ट हो, अत आपकी शका निर्मूल है, आप इन्हे शीघ्र छोड़ दो।" प्रधान की आज्ञा से चोरो ने उन्हे छोड दिया और वे आगे विहार कर गये।

उसी समय नागदत्त की माँ अपनी यौवनवती पुत्री को तथा उसके दहेज मे देने हेतु विपुल धनराशि लेकर परिजनो के साथ कौशाम्बी नगरी जारही थी। उसे मार्ग मे अपने पुत्र नागदत्त मुनि के दर्शन हुए। उसने भक्तिभाव से नमस्कार कर पूछा कि प्रभो! आगे मार्ग में कोई भय तो नहीं है? शत्रु-मित्र में समदृष्टि रखने-वाले मुनिराज ने कोई उत्तर नहीं दिया और वे मौनपूर्वक वहाँ से आगे चले गये। आगे जानेवाली नागदत्ता को चोरो ने पकड

लिया, उसका सब धन और कन्या को भी उन्होंने छीन लिया। उस समय चोरो का वह प्रधान चोरों से बोला कि "देखी आपने मुनिराज की उदासीनता और निस्पृहता। जैसे जकड़ कर बाँध लेने-वाले आप लोगो को उन्होने कुछ नहीं कहा वैसे ही नमस्कार करनेवाली इस महिला को और इसके परिकर को भी कुछ नहीं कहा। वे चाहते तो सकेत दे सकते थे कि जहाँ आप जा रहे हैं वहाँ चोरों का समुदाय बैठा है।"

प्रधान के ऐसे वचन सुनते ही नागदत्ता अत्यन्त कुपित हो उठी और बोली कि "हे प्रधान! मुझे शीघ्र ही अपनी छुरी दो, जिससे मैं अपनी इस कोख को चीर कर शान्तिलाभ लूँ जिसमे मैंने उस पापी मुनि को नवमास पर्यन्त पेट मे रखकर अपवित्र किया है। जिस मुनि की आप प्रशसा कर रहो हो वह मेरा ही पुत्र है उसी ने मेरे साथ इतनी निर्दयता की। अपनी बहिन पर भी उसे दया नहीं आई ? पूछने पर भी वह सकेत नहीं दे सका?" इत्यादि वचन सुनकर और यह जानकर कि 'ये उन मुनिराज की माँ एव बहिन हैं', सरदार बोला कि "हे माता! तुम धन्य हो, तुम जगत्माता हो, तुम्हारी कुक्षि धन्य है। वह अत्यन्त पवित्र है जिसने ऐसे वैरागी महात्मा को जन्म दिया।" इत्यादि वचनो से सान्त्वना दे कर और उन्हे अपनी माँ-बहिन बराबर सम्मान देकर वैभव एव सुरक्षा के साथ कौशाम्बी नगर भेज दिया और स्वय ने भी चौर्यकर्म का परित्याग कर दिया। एकत्वभावना की दृढता दर्शानेवाली नागदत्त मुनिराज की यह कथा अत्यन्त वैराग्यप्रद है।

॥ एकत्व भावना पूर्ण हुई ॥

धृतिभावना

उपसर्ग-महायोधां, परीषह-चमू पराम्।
कुर्वाणामल्प-सत्वाना, दुर्निवार-रयां भयम् ॥२०८॥

धीरता-सेनया धीरो, विवेकशर-जालया।
जायते योधयन्नाशु, साधुः पूर्ण-मनोरथः ॥२०९॥

॥ इति धृतिः ॥

अर्थ - जो अल्पशक्ति वालो को भय उत्पन्न करनेवाली है एव उपसर्गरूपी महा योद्धाओ से युक्त है ऐसी दुर्वार वेगवाली बावीस परीषहरूपी भारी सेना सम्मुख खडी देखकर धीर-वीर महामुनिराज विवेकरूपी बाणो से पूर्ण धृतिभावनारूपी सेना द्वारा युद्धकर शीघ्र ही अपना मनोरथ पूर्ण कर लेते हैं। अर्थात् उपसर्ग-परीषहो पर विजय प्राप्त कर अपनी सल्लेखना के मनोरथ को पूरा कर लेते हैं ॥२०८, २०९॥

॥ इस प्रकार धृतिभावना पूर्ण हुई ॥

विधाय विधिना दृष्टि-ज्ञान-चारित्र-शोधनम्।
चिरं विहरतां षष्ट्या, यतिर्भावनयाऽनया ॥२१०॥

॥ इति भावनासूत्रं ॥

अर्थ - तप आदि भावनाओं के भेद-प्रभेदों से युक्त है ऐसी छठी भावना द्वारा विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का शोधनकर साधुजन चिरकाल पर्यन्त विहार करें ॥२१०॥

इस प्रकार भावना अधिकार पूर्ण हुआ ॥१०॥

॥ भक्तप्रत्याख्यानमरण का अर्हं आदि अधिकार पूर्ण हुआ ॥

(४)

सल्लेखनादि अधिकार

भावनाओं के साथ सल्लेखनाधिकार का सम्बन्ध दर्शन

साधुः सल्लेखनां कर्तुमित्थं भावित-मानसः।
तपसा यतते सम्यक्, बाह्येनाभ्यन्तरेण च ॥२११॥

अर्थ - उपर्युक्त प्रकार की तप आदि भावनाओ से भावित मनवाला साधु बाह्य और अभ्यन्तर सम्यक्तपो के द्वारा सल्लेखना करने मे प्रयत्नशील होता है ॥२११॥

सल्लेखना के भेद

सल्लेखना द्विधा साधोरन्तरानन्तरेष्यते।
तत्रान्तरा कषायस्था, द्वितीया काय-गोचरा ॥२१२॥

अर्थ - अभ्यन्तर और बाह्य के भेद से सल्लेखना दो प्रकार की होती है। इनमे साधु की कषाय सल्लेखना अभ्यन्तर और दूसरी काय-सल्लेखना बाह्य सल्लेखना कही जाती है ॥२१२॥

प्रश्न - कषाय और काय सल्लेखनाओ के क्या लक्षण हैं?

उत्तर - आत्मभावना एव शुभ भावनाओ द्वारा कषायो को निरन्तर कृश, कृशतर और कृशतम करते जाना कषायसल्लेखना है, इसे ही अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। मोक्षमार्ग मे यही सल्लेखना प्रयोजनभूत है। नाना प्रकार के तपो द्वारा उत्तरोत्तर शरीर को कृश करते जाना कायसल्लेखना है। इसे ही बाह्य-सल्लेखना कहते है। यह बाह्य सल्लेखना अभ्यन्तर सल्लेखना की सहायक है और अनशन आदि बाह्य तप, काय सल्लेखना के सहायक हैं।

बाह्य तप के भेद

अभुक्तिरवमोदर्यं, वृत्तिसंख्या-रसोज्झनम्।
कायक्लेशो विविक्ता च, शय्या षोढा बहिस्तपः ॥२१३॥

अर्थ - अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रस-परित्याग, काय-क्लेश और विविक्त-शय्यासन रूप बाह्य तप छह प्रकार का है ॥२१३॥

अनशन तप के भेद और उनकी अवधि

सार्वकालिकमन्यच्च, द्वेधानशनमीरितम्।
प्रथमं मृत्युकालेऽन्यद्वर्तमानस्य कथ्यते ॥२१४॥

एक द्वि त्रि चतुः पञ्च, षट् सप्ताष्ट-नवादयः।
उपवासाः जिनैस्तत्र, षण्मासावधयो मताः ॥२१५॥

अर्थ - सार्वकालिक और असार्वकालिक के भेद से अनशन तप दो प्रकार का है। इनमें से पहला सार्वकालिक अनशन मरण-समय मे होता है। दूसरा असार्वकालिक अनशन वर्तमान मे अर्थात् दीक्षा दिन से सार्वकालिक अनशनग्रहण के पूर्व समय तक होता है ॥२१४॥ एक, दो, तीन, चार, पॉच, छह, सात, आठ और नव आदि उपवास करना असार्वकालिक अनशन है। इन उपवासो को निरन्तर करने की उत्कृष्ट अवधि छह माह की है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥२१५॥

अनशन तप से लाभ

बहुदोषाकरे ग्रामे, प्रवेशो विनिवारितः।
संयमो वर्धितः पूतः, कुर्वतानशनं तपः ॥२१६॥

अर्थ - अनशन तप अर्थात् उपवास करने से बहुत दोषो का आकर ऐसे ग्राम आदि का प्रवेश रुक जाता है, सयम की वृद्धि होती है और आत्मा मे पवित्रता आ जाती है ॥२१६॥

प्रश्न - ग्राम आदि के प्रवेश को दोषो का खजाना क्यो कहा गया है?

उत्तर - आहारार्थ ग्राम आदि मे जाने से समय बहुत लग जाता है, राग-द्वेष के निमित्तभूत नाना प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं, विविध जनसम्पर्क होने से विविध प्रकार के ही सकल्प-विकल्पो की उत्पत्ति होने लगती है। अज्ञानी या दुष्ट जनो द्वारा बोले हुए अपशब्द या गाली आदि को सुनकर कषायवृद्धि होने के अवसर प्राप्त हो जाते हैं तथा समिति आदि का पालन करते हुए भी प्रमाद आदि के कारण असयम भी हो जाता है। इस कारण ग्राम आदि के प्रवेश को दोषो का खजाना कहा गया है।

अवमौदर्यतप के कारणभूत आहार का प्रमाण

आहारस्तृप्तये पुंसां, द्वात्रिंशत्कवला जिनैः।
अष्टाविंशतिरादिष्टा, योषितः प्रकृतिस्थितः ॥२१७॥

अर्थ - पुरुष का स्वाभाविक आहार बत्तीस ग्रास प्रमाण और महिलाओ का स्वाभाविक आहार अट्ठाईस ग्रास प्रमाण है। इतने आहार से ही इनकी तृप्ति हो जाती है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥२१७॥

प्रश्न - एक ग्रास का क्या प्रमाण है? और यह प्रमाण यहाँ क्यो कहाँ गया है?

उत्तर - शाली धान्य के एक हजार चावलो का जो भात बनता है वह सब भात एक ग्रास प्रमाण कहा जाता है। ऐसे बत्तीस एव अट्ठाईस ग्रास का आहार क्रमश पुरुष और महिला का कहा गया है। प्रमाण से कम आहार ग्रहण करना, यह अवमौदर्य तप का लक्षण है, अत यहाँ आहार का प्रमाण निर्धारित किया गया है किन्तु यह प्रमाण प्रकृतिस्थ पुरुष और महिला का है, सभी स्त्री-पुरुषो के ग्रास और आहार का प्रमाण समान नहीं होता।

प्रश्न - किसी व्यक्ति की उदर पूर्ति पच्चीस ग्रासो से हो जाती है। बत्तीस ग्रासो की अपेक्षा पच्चीस ग्रास कम हैं, तब क्या उसका वह आहार भी अवमौदर्य तप कहा जायगा ?

उत्तर - नहीं, यहाँ 'अवम' का अर्थ न्यून और 'उदर' का अर्थ पेट है, अत स्वाभाविक आहार से न्यून आहार उदर को देना ही अवमौदर्य तप का लक्षण होगा। अवमौदर्य तप के प्रकरण मे बत्तीस और अट्ठाईस ग्रासो का ग्रहण नहीं किया जायेगा क्योकि सभी पुरुषो का आहार का प्रमाण समान नहीं होता।

(धवल पुस्तक १३ पृष्ठ २६)

अवमौदर्य तप का लक्षण और उससे होने वाले लाभ

तस्मादेकोत्तर-श्रेण्या, कवल: शिष्यते पर:।
मुच्यते यत्र तदिदमवमौदर्यमुच्यते ॥२१८॥

अर्थ - पुरुष और स्त्री के (वर्तमानकालीन स्वाभाविक) आहार मे से एक दो आदि ग्रास की हानि क्रम से जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह सब अवमौदर्य तप कहलाता है॥२१८॥

निद्राजय: समाधानं, स्वाध्याय: संयम: पर:।
हृषीक-निर्जय: साधोरवमोदर्यतो गुणा: ॥२१९॥

अर्थ - अवमौदर्य तप करने वाले साधु निद्रा पर विजय प्राप्त कर लेते है, उन्हे जितना और जैसा आहार प्राप्त होता है उसी मे सन्तुष्टता हो जाती है, स्वाध्याय मे प्रमाद नहीं आता, सयम की पालना भली प्रकार हो जाती है और इन्द्रियविजय गुण की भी प्राप्ति हो जाती है॥२१९॥

चार महाविकृतियो के नाम एव उनके दोष

चतस्रो गृध्नुतासक्ति-दर्पासंयमकारिणी:।
नवनीत-सुरा-मास-मध्वाख्या विकृतिर्विदु: ॥२२०॥

अर्थ - मक्खन, मद्य, मास और मधु ये चार महाविकृतियाँ कही गई हैं। ये चारो पदार्थ बार-बार अभिलाषा उत्पन्न करके गृद्धता बढाते है, आसक्ति वृद्धिगत करते हैं, इन्द्रियों को उन्मत्त करते हैं और इन्द्रिय-असयम तथा प्राणी-असयम को बल प्रदान करते हैं॥२२०॥

महाविकार-कारिण्यो, भव्येन भव-भीरुणा।
जिनाज्ञाकाङ्क्षिणा त्याज्या, यावज्जीवं पुरैव ता: ॥२२१॥

अर्थ - जिनाज्ञा-पालन की इच्छा रखनेवाले, पापभीरु भव्य जीव सल्लेखना ग्रहण के पूर्व ही इन चारो महाविकृतियों का त्याग कर देते हैं॥२२१॥

रस-परित्याग तप

गुड-तैल-दधि-क्षीर-सर्पिषां वर्जने सति।
देशतः सर्वतः ज्ञेयं, तपः साधो रसोज्झनम्॥२२२॥

अर्थ - साधु के द्वारा गुड, तेल, दधि, दूध और घृत आदि रसो का पूर्णरूप से या एक-दो आदि का त्याग करना रसत्याग तप कहलाता है॥२२२॥

अशनं नीरसं शुद्धं, शुष्कमस्वादु-शीतलम्।
भुञ्जते सम-भावेन, साधवो निर्जितेन्द्रियाः॥२२३॥

अर्थ - जिन्होंने इन्द्रियो को अपने वश में कर लिया है वे साधुजन भोजन नीरस हो, शुद्ध हो, अर्थात् अन्य शाक-दाल आदि के मिश्रण से रहित हो, रुक्ष अर्थात् घी, तेल आदि से रहित हो, स्वाद रहित हो या ठण्डा हो उसे समता भाव से ग्रहण कर लेते हैं॥२२३॥

येऽन्येऽपि केचनाहारा, वृष्या विकृति-कारिणः।
ते सर्वे शक्तितस्त्याज्या, योगिना रस-वर्जिना॥२२४॥

अर्थ - रसत्याग तप के इच्छुक योगी को गरिष्ट आहार, परिणामो मे विकृति उत्पन्न करनेवाला आहार अथवा अन्य भी कोई ऐसा आहार हो, इन सब का अपनी शक्ति के अनुसार त्याग कर देना चाहिए॥२२४॥

सन्तोषो भावितः सम्यग्-ब्रह्मचर्यं प्रपालितम्।
दर्शितं स्वस्य वैराग्यं, कुर्वाणेन रसोज्झनम्॥२२५॥

अर्थ - रस परित्याग करनेवाला साधु सन्तोष प्राप्त कर लेता है, भली प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर लेता है और अपने वैराग्य की वृद्धि करता रहता है॥२२५॥

वृत्ति परिसख्यान तप

गृह्णाति प्रासुकां भिक्षां, गत्वा प्रत्यागतो यतः।
शम्बुकावर्त-गोमूत्र-पुटेषु शलभायनः॥२२६॥

अर्थ - (आहारचर्या को जाते समय साधुजन विविध प्रकार के नियम लेते हैं उसे व्रतपरिसख्यान कहते हैं। यथा-) जिस मार्ग से पहले गया उसी मार्ग से लौटते हुए यदि प्रासुक आहार प्राप्त होगा तो ग्रहण करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना 'गतप्रत्यागत' है। शख के आवर्तों के सदृश ग्राम के भीतर आवर्ताकार भ्रमण करके बाहर निकलते हुए यदि शुद्ध आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना 'शम्बुकावर्त' है। चलती हुई गाय जो मूत्र करती है और उसका जो आकार बनता है वैसे ही मोड़ेदार भ्रमण करते हुए आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना 'गोमूत्रिका' है। वस्त्र एव स्वर्णादि रखने की ढक्कन युक्त चार कोणवाली बाँस की बनी पेटी के अनुरूप चतुष्कोण भ्रमण करते हुए आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना 'पुट' है, बाण सदृश सीधी गली मे जाते हुए आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना 'इषु' है तथा पतगवत् अर्थात् एक निश्चित अमुक गृह मे आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना 'शलभायन' है॥२२६॥

पाटकावसथ-द्वार-दातृ-देयादि-गोचरम्।
संकल्पं विविधं कृत्वा, वृत्तिसंख्यापरो यतिः ॥२२७॥

अर्थ - फाटक मे प्रवेश करते ही आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, घर में प्रवेश नहीं करूँगा, ऐसा सकल्प करना 'पाटकावसथ' है। अमुक द्वार से प्रवेश करते आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, एक दाता या दो दाताओं से या अमुकदाता से ही प्राप्त आहार ग्रहण करूँगा, दाता दाल देगा या मोठ देगा या अमुक पदार्थ देगा तो ही आहार ग्रहण करूँगा, ऐसा सकल्प करना तथा आदि शब्द से अन्य प्रतिज्ञाएँ भी ग्राह्य हैं। यथा-दाता द्वारा दिये जानेवाले आहार मे एक ग्रास ही ग्रहण करूँगा या दो ग्रास ही ग्रहण करूँगा अथवा पेय पदार्थ ही या पिण्डरूप पदार्थ ही ग्रहण करूँगा। लापसी मिलेगी तो ही ग्रहण करूँगा, चना या गेहूँ या मसूर मात्र ही ग्रहण करूँगा, या शाक से मिश्रित या जिसके चारो ओर दाल या शाक हो और बीच मे भात हो, या चारो ओर व्यजन और मध्य मे अन्न हो, या व्यञ्जनो के मध्य पुष्पावली के सदृश भात रखा गया हो, या बिना शाक-दाल आदि मिलावट के शुद्ध भात मिले, या जो हाथ मे लिपट जावे, या जो पदार्थ हाथ से लिप्त न हो, या चावल के दानो सहित पेय हो या चावल के दानो से रहित माड सदृश पेय हो, या स्वर्ण, या चाँदी, या काँसी, या मिट्टी का ही पात्र हो, या दाता पुरुष ही हो, या स्त्री हो, या दो या तीन स्त्रियाँ हो या पुरुषो के द्वारा ही दिया हुआ हो, या स्त्री-पुरुष दोनो हो तो आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा वसतिका मे लौट कर आ जाऊँगा। इस प्रकार से अन्य-अन्य भी अभिग्रह अपनी शक्ति के अनुसार सकल्पित करना व्रतपरिसख्यान तप है॥२२७॥

व्रत परिसख्यान तप का फल

लूना तृष्णा-लतारूढा, चित्रसंकल्प पल्लवाः।
कुर्वता वृत्तिसंख्यानं, परेषां दुश्चरं तपः ॥२२८॥

अर्थ - अन्यजनो को दुष्कर ऐसे इस वृत्तिसख्यान तप को धारण करनेवाले साधुजनो द्वारा विचित्र-विचित्र सकल्प-विकल्प रूप पत्तेवाली तृष्णारूपी लता को काट कर फेक दिया जाता है अर्थात् यह तप जिह्वा की लालसा को समाप्त कर देता है॥२२८॥

कायक्लेश तप

तिर्यगर्कमुपर्यर्कमन्वर्कं प्रतिभास्करम्।
याति ग्रामान्तरं गत्वा, प्रत्यागच्छति वा यतिः ॥२२९॥

अर्थ - कड़ी धूप मे सूर्य को आजू-बाजू मे से किसी एक ओर रख कर गमन करना 'तिर्यगर्क' है। सूर्य के ऊपर आ जाने पर गमन करना उपर्यर्क है। पूर्व दिशा से पश्चिम की ओर विहार करना अनु-अर्क है और पश्चिम दिशा से पूर्व की ओर विहार करना 'प्रतिभास्कर' है तथा आहार आदि के लिए दूसरे ग्राम जाकर बिना विश्राम तत्काल वापिस आना, यह सब साधु का कायक्लेश तप है॥२२९॥

सावष्टम्भं तनूत्सर्गं, ससंक्रममसंक्रमम्।
गृद्धोड्डीनमवस्थानं, समपादैक-पादकम्॥२३०॥

पर्यङ्कमर्धपर्यङ्क-वीर-पद्म-गवासनम्।
आसनं हस्तिशुण्डं च, गोदोह-मकराननम्॥२३१॥

समस्फिगमसमस्फिक्कं, कृत्यं कुक्कुटासनम्।
बहुधेत्यासनं साधोः, कायक्लेश-विधायिनः॥२३२॥

अर्थ - (कायोत्सर्ग मुद्रा मे अर्थात् खडे होकर कायक्लेशतप करना।) चिकने स्तम्भ या दीवाल आदि का सहारा लेकर खडे होना 'सावष्टभ' है, पूर्व स्थान से जाकर दूसरे स्थान पर कुछ काल का प्रमाण कर खडे रहना, यह 'ससक्रमण' है, अपने स्थान पर ही निश्चल खडे रहना यह 'असक्रमण' है, गृद्ध पक्षी जैसे दोनो पख फैला कर उडता है वैसे ही दोनो बाहु फैला कर खडे होना 'गृद्धोड्डीनमवस्थान' है, भूमि पर दोनो पैर समान रखकर खड़े होना यह 'समपाद' है, और एक पैर से खडे होना यह 'एकपाद' है। इस प्रकार खड्गासन मुद्राओ का कायक्लेश तप है॥२३०॥

दोनो पैरो को गोद मे लेकर मूर्तिवत् बैठना 'पर्यंकासन' है, एक पैर गोद में रखकर बैठना 'अर्धपर्यंकासन' है, पर्यंकासन को ही पद्मासन कहते हैं, दोनो जघाएँ दूर अन्तर पर स्थापन कर बैठना वीरासन है, दोनो पैर पीछे मोड कर गाय सदृश बैठना 'गवासन' है। हाथी जैसे अपनी सूड फैलाता है वैसे ही एक हाथ अथवा एक पैर फैलाकर बैठना 'हस्तिशुण्डासन' है, गाय का दूध निकालते समय जैसे बैठते है वैसे बैठना 'गोदुहासन' है, मगर के मुख सदृश पैरो की आकृति बनाकर बैठना 'मकरासन' है, जघा और कटिभाग को समान कर बैठना 'समस्फिगासन' है, जघा और कटिभाग को विषम कर बैठना 'असमस्फिगासन' है। मुर्गे सदृश आकृति बनाकर बैठना 'कुक्कुटासन' है। इन अनेक प्रकार के आसनो से बैठकर ध्यान करते समय साधु के शरीर को कुछ-न-कुछ कष्ट अवश्य होता है अत इसे कायक्लेश तप कहते है॥२३१-२३२॥

शयन मुद्रा रूप कायक्लेश तप

कोदण्ड-लगुडादण्ड-शवशय्या-पुरस्सरम्।
कर्तव्या बहुधा शय्या, शरीरक्लेश-कारिणा॥२३३॥

अर्थ - धनुषवत् सोकर ध्यान करना 'कोदण्ड शयन' है, डण्डे के सदृश शरीर को लम्बा कर सोना 'लगुड दण्ड' है एव मुर्दे के समान ऊपर मुख करके चित सोना 'शवशय्या' है। इसी प्रकार अन्य-अन्य प्रकार से सोकर ध्यान करना साधु का कर्तव्य है। यह कायक्लेशकारी कायक्लेश तप है॥२३३॥

काष्ठाश्म-तृण-भू-शय्या, दिवानिद्रा विपर्ययः।
दुर्धराभ्रावकाशादि-योग-त्रितय-धारणम्॥२३४॥

अर्थ - काष्ठ पर, पाषाण पर, तृण या चटाई आदि पर तथा भूमि पर शयन करना, दिन मे नहीं सोना और अभ्रावकाश आदि तीनो योगो को धारण करना भी कायक्लेश तप है॥२३४॥

प्रश्न - अभ्रावकाशादि तीनो योगो के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - शीत ऋतु मे खुले मैदान अथवा नदी किनारे आदि शीतप्रद स्थानों पर दिन, मास या चार मास

पर्यन्त ध्यानस्थित एक ही मुद्रा मे अवस्थित रहना अभ्रावकाश योग है, ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर इसी प्रकार ध्यान करना ग्रीष्मावकाश आतापन योग है और वर्षा ऋतु मे वृक्ष के नीचे स्थित होकर ध्यान करना वृक्षमूल योग है। तीनो या दो या एक योग के क्लेशों को शान्त भाव से एव सोत्साह स्वेच्छा पूर्वक सहन करना कायक्लेश तप है।

दन्तधावन-कण्डूति, स्नान-निष्ठीवनासनम्।
यामिनी-जागरो लोचः, कायक्लेशोयमीरितः ॥२३५॥

अर्थ - दाँत नहीं धोना, खुजलाना नहीं, स्नान नहीं करना, थूकना नहीं, रात्रि मे भी सोना नहीं और केशलोच करना, ये सब कायक्लेश तप हैं॥२३५॥

कायक्लेश तप का फल

सूत्रानुसारतः साधोः, कायक्लेशं वितन्वतः।
चिन्तिताः सम्पदः सर्वाः, सम्पद्यन्ते कर-स्थिताः ॥२३६॥

अर्थ - जो साधु जिनागमानुसार कायक्लेश तप करते हैं उनके सम्पूर्ण चिन्तित सम्पदाएँ हस्तगत हो जाती हैं॥२३६॥

विविक्त शय्यासन तप

विविक्त वसतिः सास्ति, यस्यां रूप-रसादिभिः।
सम्पद्यते न संक्लेशो, न ध्यानाध्ययने क्षतिः ॥२३७॥

अर्थ - जिस वसतिका मे रूप, रस, स्पर्श आदि से सक्लेश नहीं होता और ध्यान-अध्ययन मे क्षति नहीं होती वह वसतिका विविक्त कहलाती है॥२३७॥

वसतिका इस प्रकार होनी चाहिए

अन्तर्बहिर्भवां शय्यां, विकटां विषमां समाम्।
वाञ्छत्य-विकटा सेव्यां, रामाषण्ढ-पशूज्झिताम् ॥२३८॥

उद्गमोत्पादना बल्भा, दोषमुक्तामपक्रियाम्।
अविविक्त-जनागम्यां गृहशय्या-विवर्जिताम् ॥२३९॥

अर्थ - वसतिका ग्राम के बाहर हो या भीतर हो, उसकी भूमि सम हो या ऊँची-नीची हो तथा खुले द्वार वाली हो या बन्द द्वार वाली हो किन्तु स्त्री, नपुसक और पशुओ से रहित हो, उद्गम, उत्पादन एव एषणादि दोषो से मुक्त हो, सम्मार्जन आदि क्रियाविहीन हो, अविविक्त मनुष्यो के अगम्य हो और गृहस्थो के ससर्ग से रहित हो। साधु की वसतिका इस प्रकार होनी चाहिए॥२३८-२३९॥

विविक्त वसतिकाओं के नाम

शून्यवेश्म शिलावेश्म, तरुमूल-गुहादयः।
विविक्ता भाषिताः शय्या, स्वाध्याय-ध्यान-वर्धिकाः ॥२४०॥

अर्थ - शून्यघर, शिलाओ से बने घर या पर्वतो की गुफाएँ, वृक्षो के मूल तथा अन्य गुफाएँ, आदि शब्द से शिक्षागृह, देवमन्दिर एव व्यापारार्थ बनाये गये निवासस्थान आदि जो ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि मे सहायक हों, वे सब विविक्त वसतिकाएँ कही जाती हैं।।२४०।।

अविविक्त वसतिका के दोष

अयोग्यजन-संसर्ग-राटी-कलकलादय:।
अविविक्तस्थिते: सन्ति, समाधान-निषूदिन:।।२४१।।

अर्थ - अयोग्य एव असयत लोगों का ससर्ग, राड अर्थात् शब्दो की बहुलता, कलकल शब्द एव यह वसति मेरी है, तेरी नहीं है इत्यादि प्रकार के कलह आदि दोष अविविक्त वसतिका मे निवास करने वाले साधु की शान्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।।२४१।।

विविक्त वसतिका के गुण

प्राग्भाराकृत्रिमाराम-देवतादि-गृहादिषु।
जायते वसत: साधो: समाधानमखण्डितम्।।२४२।।

एवमैकाग्र्यमापन्नो, ध्यानै: शुद्ध-प्रवृत्तिभि:।
समित: पञ्चभिर्गुप्तस्त्रिभिरस्ति हितोद्यत:।।२४३।।

अर्थ - प्राग्भार (पर्वतशिखर), अकृत्रिम बाग-बगीचा एव देवमन्दिर आदि मे निवास करनेवाले साधु की शान्ति अखण्ड बनी रहती है।।२४२।।

विविक्त वसतिका मे रहने से शुद्ध प्रवृत्ति द्वारा ध्यान मे एकाग्रता आ जाती है, पाँचो समितियो का पालन भली प्रकार हो जाता है और तीनो गुप्तियाँ सिद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार वह साधु अपने हित मे उद्यमशील हो जाता है।।२४३।।

सवरपूर्वक निर्जरा की प्रशसा

तन्निर्जरयते कर्म-संवृतोऽन्तर्मुहूर्ततः।
षष्ठाष्टमादिभि: साधुस्तपसा यदसंवृत:।।२४४।।

अर्थ - असवृत अर्थात् अशुभयोग का निरोध न करनेवाला साधु षष्ठोपवास, अष्टोपवास अर्थात् बेला, तेला आदि तप द्वारा जितने कर्म नष्ट करता है उतना कर्म सवृत हुआ अर्थात् गुप्तियो का पालन करने वाला साधु अन्तर्मुहूर्त मे नष्ट कर देता है।।२४४।।

एवं भावयमान: संस्तपसा स्थिरमानस:।
अप्रशस्तं परीणामं, नाशयंश्चेष्टते तराम्।।२४५।।

अर्थ - इस प्रकार सम्यक्तप से मन को स्थिर कर लेनेवाला साधु उत्कट तप की भावना करता हुआ अशुभ परिणामो को नष्ट कर देता है और मुक्ति के साधनभूत चारित्र में सतत प्रयत्नशील रहता है।।२४५।।

तप इस प्रकार करना चाहिए

तत्तपोऽभिमतं बाह्यं, मनो येन न दुष्यति।
योगा येन न हीयन्ते, येन श्रद्धा प्रवर्तते॥२४६॥

अर्थ - उसी का नाम बाह्य तप है, जिससे मन दूषित नहीं होता अर्थात् क्लेशित नहीं होता, जिससे पूर्व गृहीत आतापन आदि योग हीन नहीं होते और जिससे अभ्यन्तर तप में श्रद्धा बनी रहती है॥२४६॥

बाह्य तप के गुण

बाह्येन तपसा सर्वा, निरस्ताः सुख-वासनाः।
सम्यक् तनू-कृतो देहः, स्वः संवेगेऽधिरोपितः॥२४७॥

अर्थ - बाह्य तप से सुखशीलता के समस्त सस्कार नष्ट हो जाते है, शरीर भली प्रकार से कृश हो जाता है और स्वय आत्मा ससार की भीरुता में स्थापित हो जाती है॥२४७॥

प्रश्न - सुखशीलता का सस्कार नष्ट करना क्यो आवश्यक है?

उत्तर - सुखशीलता शरीर मे आलस्य उत्पन्न करती है और आलस्य चारित्र का प्रबल शत्रु है। सदा सुख की भावना जाग्रत रहने से मन मे रागभाव उत्पन्न होता है, वह रागभाव कर्मबन्ध के कारणभूत दोषो को उत्पन्न करता है, कर्मबन्ध, कर्मस्थिति का कारण है और कर्मस्थिति ससार-परिभ्रमण का कारण है, अत बाह्य तप के माध्यम से आत्महित के लिए सुख-शीलता के सस्कार नष्ट करना अत्यावश्यक है।

सन्तीन्द्रियाणि दान्तानि, स्पृष्टा योगसमाधयः।
जीविताशा परिच्छिन्ना, बल-वीर्यमगोपितम्॥२४८॥

अर्थ - बाह्य तप द्वारा इन्द्रियॉ वश मे रहती है, योग एव समाधि मे एकाग्रता प्राप्त होती है, जीवन की आशा नष्ट हो जाती है तथा बल और वीर्य प्रगट हो जाते हैं॥२४८॥

प्रश्न - 'इन्द्रियॉ दान्त होती है' इत्यादि पदो का क्या आशय है?

उत्तर - अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग और वृत्तिपरिसख्यान तपो से जिह्वा इन्द्रिय वश मे हो जाती है। विविक्तशय्यासन तप से अर्थात् इन्द्रियो के प्रिय विषयो के अभाववाली वसतिका होने से स्पर्शनादि इन्द्रियो का दमन हो जाता है।

रत्नत्रय मे मन के एकाग्र होने को समाधि कहते हैं। बाह्य तप से ऐसी समाधि मे योग अर्थात् सम्बन्ध स्पष्ट होते रहते है। आहारादि का त्याग होते जाने से विषय-प्रेम भी नष्ट हो जाता है, क्योकि विषयराग से सताये हुए साधु का मन रत्नत्रय में एकाग्र नहीं होता, फलत वह रत्नत्रय मे न लग पाने से व्याकुल होता हुआ अशुभ परिणामो मे ही सलग्न रहता है। बाह्य तप से आत्मिक शक्ति स्फुरायमान हो जाती है जिससे मुनिराज वीर्याचार मे ही प्रवृत्त रहते हैं।

जिनकी जीविताशा जीवित है, अर्थात् जिनका जीवितपने पर स्नेह है वे आहार आदि का त्याग करना

पसन्द नहीं करते। जीवितार्थी साधु असयमादि के योग से भी प्राणरक्षण में उद्योगशील रहता है किन्तु बाह्य तप में अनुरक्त साधुओं की जीविताशा नष्ट हो जाती है।

रस-देह-सुखोनास्था, जायते दु:ख-भावना।
प्रमर्दनं कषायाणामिन्द्रियार्थेष्वनादर: ॥२४९॥

अर्थ - बाह्य तपों से मधुर आदि रसों मे और शरीर आदि सुखो में आस्था नहीं रहती, दुख सहन करने की भावना बलवती होती जाती है, कषायों का मर्दन हो जाता है और इन्द्रियों के विषयो में अनादर भाव हो जाता है॥२४९॥

प्रश्न - दुख भावना बलवती होने से आत्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर - दुख भावना बलवती होने से ही दुख सहन हो जाता है, बिना सक्लेश के अर्थात् समता-पूर्वक दुख सहन करने से ही कर्मों की निर्जरा होती है और क्रम से होनेवाली कर्मनिर्जरा ही समस्त कर्मों के विनाश का उपाय है, अत मोक्षार्थी को दुख भावना बहुत उपयोगी है। इसके अतिरिक्त बार-बार दुख-भावना करनेवाला साधु ही ध्यान में निश्चल हो पाता है। रस, शरीर और सुख में होनेवाली आसक्ति समाधि मे विघ्न करती है, दुख भावना से इस आसक्ति का निरास हो जाता है।

आहार-खर्वता दान्ति: समस्तत्याग-योग्यता।
गोपनं ब्रह्मचर्यस्य, लाभालाभ-समानता॥२५०॥

अर्थ - अनशनादि तप से आहार की वाञ्छा नष्ट हो जाती है, यावज्जीवन आहारत्याग की योग्यता आ जाती है, ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है और लाभ तथा अलाभ, इन दोनो मे समभाव प्राप्त हो जाता है॥२५०॥

प्रश्न - अनशन तप से क्या-क्या लाभ हैं ?

उत्तर - मरणकाल मे क्षपक को चारो प्रकार के आहार-जल का त्याग करना होता है, जो अति दुष्कर कार्य है। अनशन तप के अभ्यास से यह दुष्कर कार्य भी सहज साध्य हो जाता है। आहार और सुख मे जो अनुराग उत्पन्न होता है वह इस तप से प्रशमित हो जाता है और आत्मदमन नामक गुण प्रगट हो जाता है। इस तप से आहार-इच्छा त्याग का सस्कार या अभ्यास वृद्धिंगत होता-जाता है, आत्मा का मद नामक दोष नष्ट हो जाता है, आहार-निरासता नामक गुण प्रगट हो जाता है तथा आत्मा इस गुण को यावज्जीवन धारण करने मे समर्थ हो जाती है। इस तप से आहार की लम्पटता नष्ट हो जाती है, लाभ-अलाभ में समता भाव जाग्रत रहता है। अर्थात् आहार प्राप्त हो जाने पर हर्ष नहीं होता और न मिलने पर क्रोध नहीं आता। तपस्वी जब प्राप्त आहार को भी छोड़ देता है तब भला अप्राप्ति मे खेद-खिन्न क्यों होगा? रसयुक्त आहार का त्याग हो जाने से नवीन वीर्य का संचय नहीं होता और पुराना सचितवीर्य नष्ट होता जाता है, अत बाह्य तपो से ब्रह्मचर्य का रक्षण हो जाता है। अनशन तप से ये महान् लाभ हैं।

निद्रा-गृद्धि-मद-स्नेह-लोभ-मोह-पराजय:।
ध्यान-स्वाध्याययोर्वृद्धि:, सुख-दु:ख-समानता॥२५१॥

अर्थ - बाह्य तप तपनेवाला तपस्वी निद्रा, गृद्धता, मद, स्नेह, लोभ और मोह को परास्त कर देता है, उनके ध्यान एव अध्ययन में निशदिन वृद्धि तथा सुख और दुख, दोनों अवस्थाओ में समता की अभिवृद्धि होती रहती है ॥२५१॥

प्रश्न - अनशन आदि तपविहीन साधु को निद्रा आदि से क्या-क्या हानियाँ होती हैं?

उत्तर - अनशन आदि तप न करनेवाला साधु प्रतिदिन आहार करता है, रसयुक्त आहार में तत्पर रहता है और बहुत आहार ग्रहण करता है, अत उसे वायु आदि उपद्रवों रहित, मृदु स्पर्श युक्त तथा निरुपद्रव स्थान मे सोने की इच्छा एव चिन्ता होती है। ऐसे स्थान की खोज मे व्याकुल रहता है अथवा अनुकूल स्थान मिल जाने पर गुरुजनो से छिप कर वहाँ एकान्त मे जाकर चटाई आदि ओढकर आराम से सो जाता है, दीर्घ काल तक खर्राटे लेता है, प्रेत सदृश निश्चल पडा हुआ सोता रहता है और अशुभ परिणामो के प्रवाह मे बह जाता है। अधिक भोजन करनेवाला तो बैठ भी नहीं पाता, वह ऊपर को मुख करके ही सोता है। रसीले पदार्थों का आहार करनेवाला गरिष्ठाहार की ऊष्मा से इधर-उधर करवटे बदलता हुआ व्याकुलता के आधीन पड़ा रहता है। बहुजनवाली वसतिका मे रहनेवाला साधु दूसरो की वार्ता सुनने मे और उनसे सम्भाषण करने मे ही अपना समय व्यतीत कर देता है। दूध, घी, शक्कर आदि रसों से युक्त आहार प्राप्त होने पर राग एव गर्व आदि करता है और रूखा-सूखा आहार मिलने पर द्वेष करता है। इस प्रकार अनशनादि तपो की उपेक्षा करनेवाले साधु निद्रादि दोषो पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते, निराकुलता पूर्वक सोत्साह से स्वाध्याय एव ध्यान नहीं कर पाते तथा गुरुजनो की विनय एव उनकी आज्ञापालन भी नहीं कर पाते। इस प्रकार अनशनादि तपो में प्रवृत्त न होने से और भी अनेक हानियाँ होती हैं, जिनका फल दीर्घ ससार है।

बाह्य तप से होनेवाले लाभ

आत्मा प्रवचनं सङ्घः, कुलं भवति शोभनम्।
समस्तं त्यक्तमालस्यं, कल्मषं विनिवारितम्॥२५२॥

अर्थ - बाह्य तप के द्वारा साधु अपनी आत्मा, प्रवचन अर्थात् जैन मत, अपने सघ और अपने कुल को अर्थात् अपनी शिष्यपरम्परा को सुशोभित करता है। उसका समस्त आलस्य छूट जाता है और पापो का निरोध हो जाता है॥२५२॥

मिथ्यादर्शनिनां सौम्यं, संवेगो भूयसां सताम्।
मुक्तेः प्रकाशितो मार्गो, जिनाज्ञा परिपालिता॥२५३॥

अर्थ - मुनिराजो का उग्र तप देखकर मिथ्यादृष्टि जीव अपनी उग्रता छोड़कर सौम्य हो जाते हैं, अन्य मुनिजन भी ससार से अत्यन्त भयभीत हो तप मे प्रवर्त हो जाते हैं, इस तप से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित होता है और जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन होता है॥२५३॥

सन्तोषः सयमो देह-लाघवं शम-वर्धनम्।
तपसः क्रियमाणस्य, गुणाः सन्ति यथायथम्॥२५४॥

अर्थ - तपस्वी के सन्तोष, सयम, शरीर में हल्कापन और उपशम भावो की वृद्धि होती है। इस प्रकार अनशनादि तप करनेवालों को यथासम्भव अनेक गुण प्राप्त हो जाते हैं॥२५४॥

प्रश्न - तपस्वी के शरीर में लाघवता एव उपशम भावों की वृद्धिआदि गुण कैसे उत्पन्न हो जाते हैं?

उत्तर - पुष्टाहार मासवृद्धि का कारण है। इससे शरीर भारी हो जाता है, मोटापा बढ़ जाता है, शरीर का भारीपन आलस्य का मूल है, अत अनशन आदि तप अवश्य ही करने चाहिए। इस तप से शरीर का भारीपन नष्ट हो जाता है जिससे आवश्यकादि क्रियाएँ सुलभता से सम्पन्न हो जाती हैं तथा स्वाध्याय और ध्यान आदि बिना क्लेश के से सम्पन्न हो जाते हैं।

अनादिकाल से इस जीव को अपने प्राप्त शरीर में ही सबसे अधिक मोह या स्नेह रहा है। इस शरीर-स्नेह के कारण ही लोग असयम मे प्रवृत्ति कर रहे हैं, शरीर का स्नेह ही अनर्थकारी है। यह शारीरिक स्नेह कितने ही जीवो को दीक्षा मे और दीक्षित भी हैं तो तपश्चरण मे प्रवृत्त नहीं होने देता। इसके स्नेह में कितने ही तपस्वी मुनि तप को छोड़ बैठते हैं किन्तु जो मुनिराज दुष्कर तप मे दृढ़तापूर्वक प्रवृत्त रहते हैं उनके रागादि भाव उपशमित हो जाते हैं। जैसे-जैसे तपश्चरण मे प्रखरता आती है, वैसे-वैसे उपशम भावों की वृद्धि होती जाती है। वे मुनिराज विचार करते हैं कि - यह रागभाव उपद्रव करनेवाला है, यह आत्मा में नवीन कर्मबन्ध उत्पन्न करता है और पूर्व सचित कर्मो के रस मे वृद्धि करता है। यदि मन रागभाव को आश्रय देगा तो नियमत मेरा यह तपश्चरण व्यर्थ हो जावेगा, अत ऐसे उपद्रवकारी राग से मुझे क्या प्रयोजन है? इसके होने पर तो मेरा अद्यावधि तपश्चरण का सर्व परिश्रम या कष्टसहन निष्फल हो जायेगा। इस प्रकार के चिन्तन से उपशम भावों की वृद्धि होती रहती है।

उक्त प्रकरण का उपसहार

उद्गमोत्पादनाहार-दोषभक्तं मितं लघु।
विरसं गृह्णताहारं, क्रियते विविधं तपः॥(पाठान्तर)

अर्थ - मुनिराज उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि छियालीस दोषो का त्याग कर मित अर्थात् अल्प, लघु, रसादिरहित एव रूक्ष आहार-पान लेते हुए नित्य ही बाह्य तप करते है। शुद्ध आहार लेकर ही तप करना चाहिए, अशुद्ध आहार लेकर नहीं॥ (पाठान्तर)

आहारमल्पयन्नेवं, वृद्धो वृद्धेन सयतः।
तपसा संलिखत्यङ्गं, वृद्धेनैकान्ततोऽथवा॥२५५॥

अर्थ - इस प्रकार मुनिराज आहार को अल्प करते हुए वृद्धिगत तप द्वारा तप की वृद्धि करते हैं। तप की वृद्धि से ही शरीर को कृश करते है। अथवा कभी-कभी हीयमान तप से भी प्रवृत्ति करते हैं॥२५५॥

प्रश्न - 'वर्धमानतप भी करते हैं और हीयमान भी करते हैं' इस प्रकार ये दोनो तप एक ही साधु द्वारा कैसे सम्भव हैं ?

उत्तर - एक दिन मे भोजन की दो बेला कही गई है। एक बेला धारणा के दिन की, दो बेला उपवास के दिन की और एक बेला पारणा के दिन की, इस प्रकार चार भोजन बेला का त्याग चतुर्थ भक्त अथवा एक

उपवास, छह बेला के भोजन का त्याग षष्ठभक्त अथवा बेला कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी तेला, चोला आदि के क्रम से बढ़ते हुए छह मास के उपवास पर्यन्त जानना चाहिए।

चतुर्थ, षष्ठ अर्थात् एक उपवास, बेला एव तेला आदि के क्रम से अनशन तप की वृद्धि होती है। एक, दो, तीन एव चार ग्रास कम करते जाने से अवमौदर्य तप की वृद्धि होती है। एक रस, दो रस, तीन रस आदि क्रम से रसो का त्याग करने से रसपरित्याग तप की वृद्धि होती है। मैं सात, पॉच, तीन या एक ही घर तक भिक्षावृत्ति के लिए जाऊँगा, अथवा भिक्षा के ग्रासों के परिमाण कम-कम करते जाना वृत्ति- परिसख्यान तप की वृद्धि है। दिन मे आतापनयोग करके रात्रि में प्रतिमायोग धारण करना कायक्लेश तप की वृद्धि है। इस प्रकार वर्धमान तप करते-करते जब महान् श्रम हो जाता है तब कभी अनशन आदि तप मे कुछ कमी कर देता है। अर्थात् कुछ समय तक हीयमानतप करता है, पश्चात् पुन वर्धमान तप के लिए उद्यमशील हो जाता है। इस प्रकार तप करते हुए क्षपक-साधु अपने शरीर को शनै -शनै कृश करता है।

प्रकारान्तर से सल्लेखना विधि

क्रमेण संलिखत्यङ्गमाहारं खर्वयन्यतिः।
प्रत्यहं वा गृहीतेन, तपसा विधिः कोविदः ॥२५६॥

अर्थ - क्रमश आहार को घटाते हुए शरीर को कृश करता जाय। अथवा प्रतिदिन विविध प्रकार के तप को करते हुए तप की विधि को जाननेवाला साधु काया को कृश करता है ॥२५६॥

प्रश्न - 'प्रत्यह' पद का क्या अर्थ है?

उत्तर - 'प्रत्यह वा' पद से यह अर्थ भी ग्राह्य है कि एक-एक तप से अर्थात् एक दिन अनशन, एक दिन अवमौदर्य, एक दिन रसपरित्याग और एक दिन वृत्तपरिसख्यान आदि क्रम से शरीर को कृश करता है।

आहार-गोचरैरुग्रैर्नानाकारैरवग्रहैः।
मुमुक्षुः संलिखत्यङ्गं, संयमस्याविरोधकम् ॥२५७॥

अर्थ - इन्द्रिय सयम और प्राणी सयम की जिसमे विराधना न हो इस प्रकार रूक्ष, नीरस, अल्प एव आचाम्ल आदि द्वारा और उग्र-उग्र अवग्रह अर्थात् नियमो द्वारा मुमुक्षु क्षपक अपना शरीर कृश करते है ॥२५७॥

या भिक्षु-प्रतिमाश्चित्रा, बले सति च जीविते।
पीडयन्ति न ताः काय, संलिख तं यथाबलम् ॥पाठान्तर॥

अर्थ - यदि आयु हो और शारीरिक शक्ति हो तो नाना प्रकार की भिक्षु-प्रतिमाओं का स्वीकार कर क्षपक यथाशक्ति शरीर को कृश करता है, उससे उसे पीड़ा नहीं होती, किन्तु यदि शक्ति के उपरान्त इन प्रतिमाओ को धारण कर लिया अर्थात् तीव्रगति से शरीर कृश करने का उद्यम किया तो महासक्लेश परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, अत तप में यथाशक्ति प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है॥ (पाठान्तर)

प्रश्न - भिक्षु-प्रतिमाएँ कौन धारण कर सकता है और उनका सक्षिप्त स्वरूप क्या है ?

उत्तर - सल्लेखना करनेवाला धैर्यशाली, महासत्त्व से सम्पन्न, परीषहों का विजेता, उत्तम सहनन से

विशिष्ट, क्रमश धर्मध्यान और शुक्लध्यान की पूर्णता का प्रयास करनेवाला क्षपक मुनि जहाँ ठहरा है उसी देश में उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार का व्रत ग्रहण करता है कि यदि एक मास मे ऐसा आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। ऐसी प्रतिज्ञा करके उस माह के अन्तिम दिन वह प्रतिमायोग धारण करता है, यह एक भिक्षु प्रतिमा है।

पूर्वोक्त आहार से शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न-भिन्न आहार का व्रत अर्थात नियम वह क्षपक ग्रहण करता है। ये नियम दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात माह पर्यन्त ग्रहण करता है और प्रत्येक माह के अन्तिम दिन में प्रतिमायोग धारण करता है। ये सात भिक्षु प्रतिमाएँ हैं। पुन· पूर्व आहार से शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार को प्रत्येक सात-सात दिनों मे केवल एक बार अर्थात् इक्कीस दिनो मे मात्र तीन बार ग्रहण करता है। वह भी आहार की प्राप्ति होने पर तीन ग्रास, दो ग्रास और एक ग्रास ही ग्रहण करता है। ये तीन भिक्षु प्रतिमाएँ हैं, पश्चात् अहर्निश प्रतिमायोग से खड़ा रह कर अनन्तर प्रतिमायोग से ध्यानस्थ खडा रहता है। ये दो भिक्षु प्रतिमाएँ हैं। इसको धारण करने पर प्रथम अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान की प्राप्ति होती है, अनन्तर सूर्योदय होने पर वह क्षपक केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ये बारह भिक्षु प्रतिमाएँ होती हैं।

आचाम्ल तप सर्वोत्कृष्ट है

देह-सल्लेखना हेतु-र्बहुधा वर्णितं तपः।
वदन्ति परमाचाम्लमर्हता यत्र योगिनः ॥२५८॥

अर्थ - शरीर-सल्लेखना के निमित्त अनेक प्रकार के तपो के विकल्प पूर्व श्लोको मे वर्णित किये गये है। महर्षि योगियो ने उन तपो मे आचाम्ल तप को ही सर्वोत्कृष्ट कहा है॥२५८॥

जो सब तपों में सर्वोत्कृष्ट है उस आचाम्ल का लक्षण

षष्ठाष्टमादिभिश्चित्रैरुपवासैरतन्द्रितः।
गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥२५९॥

अर्थ - बेला, तेला आदि विविध उपवास करके निष्प्रमादी क्षपक क्रमशः अल्प आहार करता है, पश्चात् बहुत प्रकार से आचाम्ल करता है॥२५९॥

प्रश्न - आचाम्ल किसे कहते हैं, आचाम्ल और काजी मे क्या अन्तर है तथा आचाम्लाहार मे क्या गुण हैं ?

उत्तर - मात्र चावल का माड ग्रहण करना आचाम्ल है। या
थोड़े चावल मिला हुआ चावल का माड आचाम्ल है। या
थोड़ा जल और चावल अर्थात् भात अधिक भी आचाम्ल है। या
मात्र भात ग्रहण करना आचाम्ल है। या
भात और इमली का पानी ग्रहण करना आचाम्ल है। या
काजी सहित भात का ग्रहण आचाम्ल है।

मूलाराधना गाथा २५१ की दूसरी टीका मे 'आयबिल कजिकाहार' पद के द्वारा आचाम्ल को ही काजिका कहा है। या

खटास से युक्त एक प्रकार के पेय को काजी कहते हैं। या

भात और जल मिला कर पीना काजी आहार है। या

केवल चावलो का माड पीना काजी आहार है।

उपर्युक्त लक्षणो से ज्ञात होता है कि आचाम्ल और काजी पर्यायवाची हैं।

आचाम्ल से लाभ

आचाम्ल से कफ का क्षय होता है, पित्त शान्त होता है और वात से रक्षा होती है, अत आचाम्ल सेवन मे प्रयत्न करना चाहिए।

भक्तप्रत्याख्यान का उत्कृष्ट काल और उसे पूर्ण करने की विधि

कालो द्वादश-वर्षाणि, काले सति महीयसि।
भक्तत्यागस्य पूर्णानि, प्रकृष्ट: कथितो जिनै: ॥२६०॥

अर्थ - यदि आयुष्य काल अधिक है तो जिनेन्द्रदेव ने उत्कृष्ट से भक्त-प्रत्याख्यान का पूर्ण काल बारह वर्ष प्रमाण कहा है॥२६०॥

विचित्रै: संलिखत्यङ्ग, योगैर्वर्ष-चतुष्टयम्।
समस्त-रस-मोक्षेण, पर वर्ष-चतुष्टयम्॥२६१॥

आचाम्ल-रस-हानिभ्यां, वर्षे द्वे नयते यति:।
आचाम्लेन विशुद्धेन, वर्षमेकं महामना: ॥२६२॥

षण्मासीमप्रकृष्टेन, प्रकृतेन समाधये।
षण्मासी नयते धीर:, कायक्लेशेन शुद्ध-धी: ॥२६३॥

अर्थ - बारह वर्ष प्रमाण काल मे वे क्षपक मुनिराज विविध प्रकार के आतापन आदि योग अर्थात् कायक्लेश तप तपते हुए प्रथम चार वर्ष व्यतीत करते हैं। आगे के चार वर्ष दूध, दधि, गुड, नमक आदि रसो का त्याग करते हुए व्यतीत करते है॥२६१॥

आचाम्ल भोजन और रसहानि अर्थात् नीरस भोजन करके महामना क्षपक दो वर्ष पूर्ण करते हैं। पश्चात् मात्र आचाम्ल आहार ग्रहण करते हुए एक वर्ष पूर्ण करते हैं॥२६२॥ अवशेष बचे एक वर्ष के प्रथम छह मास मे मध्यम तपो द्वारा और द्वितीय अर्थात् अन्तिम छह मास मे वे शुद्ध बुद्धिवाले धीर-वीर क्षपक मुनिराज उत्कृष्ट तपो द्वारा शरीर को क्षीण करते है॥२६३॥

उपर्युक्त आचार क्रम के अतिरिक्त अन्य-अन्य प्रकार

द्रव्यं, क्षेत्रं, सुधीः कालं, धातुं ज्ञात्वा तपस्यति।
तथा क्षुभ्यन्ति नो जातु, वात-पित्त-कफा यथा ॥२६४॥

अर्थ - बुद्धिशाली साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और अपने शरीर की प्रकृति को जान कर उस प्रकार तप करते हैं जिस प्रकार के तप से उनसे वात, पित्त, कफ आदि दोष कभी क्षुभित न हों ॥२६४॥

प्रश्न - क्षपक को द्रव्य, क्षेत्र एवं काल आदि का ज्ञान कैसे करना चाहिए, इनके क्या- कैसे भेद हैं?

उत्तर - इस प्रकरण मे द्रव्य का अर्थ आहार से है। आहार अनेक प्रकार का होता है। यथा-**शाक बहुल**-जिस आहार मे शाक अधिक है, **रस बहुल**-जिसमें घी, दूध, नमक, शक्कर आदि अधिक हैं,-**कुल्मासप्राय**-जिस आहार में कुलथी आदि धान्य अधिक है, सेम के बीज एव कच्चे चने आदि से मिला हुआ आहार या इन पदार्थों से और शाक, व्यजन से रहित आहार, केवल भात-रोटी का आहार, **निर्विकृति आहार** अर्थात् जिन पदार्थों के सम्मिश्रण से भोजन में स्वाद उत्पन्न होता है ऐसे जीरा, धनिया, मिर्च आदि, सागादि, रसादि तथा चटनी आदि से रहित आहार और आचाम्ल या काजी अर्थात् भात या **मांड बहुल आहार**। **क्षेत्र** भी अनेक प्रकार का है। यथा- अनूप क्षेत्र-जलबहुल क्षेत्र। जागल-जहाँ दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है किन्तु जल कम होता है ऐसा क्षेत्र या देश आदि। वर्षाऋतु, शीतऋतु और ग्रीष्मऋतु आदि के भेद से **काल** भी अनेक प्रकार का होता है।

प्रकृति-किसी साधु की प्रकृति कफ प्रधान, किसी की पित्त प्रधान और किसी की वायु प्रधान प्रकृति होती है। कोई साधु देहबली किन्तु धैर्यहीन होते हैं, कोई देह से दुर्बल किन्तु धैर्यशाली होते है, कोई दोनों से बली और कोई दोनो बलो से हीन होते है।

साधु धीर-वीर हो, कफ आदि दोषो से रहित हो, क्षेत्र अनूप अर्थात् जलबहुल या समशीतोष्ण हो, वर्षाकाल हो तो महा उत्कृष्ट अर्थात् मास, दो मास के उपवास आदि भी निराकुलता पूर्वक हो सकते हैं। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्रादि की अनुकूलता देखकर बाह्यतपो मे निराकुलता पूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए।

अभ्यन्तर सल्लेखना

बाह्य अर्थात् शरीर सल्लेखना के साथ अभ्यन्तर सल्लेखना का सम्बन्ध

इत्थं सल्लेखना-मार्गं, कुर्वाणेनाप्यनेकधा।
नैव त्याज्यात्म-संशुद्धिः, क्षपकेण पटीयसा ॥२६५॥

अर्थ - इस प्रकार अनेक प्रकार की तपविधि द्वारा काय सल्लेखना करते हुए भी चतुर क्षपक अपने आत्मपरिणामो की विशुद्धि को एक क्षण के लिए भी न छोड़े ॥२६५॥

आत्मशुद्धि के अभाव मे दोष

भावशुद्ध्या विनोत्कृष्टमपि ये कुर्वते तपः।
बहिर्लेश्या न सा तेषां, शुद्धिर्भवति केवला ॥२६६॥

अर्थ - जो साधुजन भावशुद्धि के बिना भी उत्कृष्ट तप करते हैं उन्हें आत्मशुद्धि की प्राप्ति नहीं होती, उनकी वह तप-क्रिया, केवल बाह्य लेश्या मात्र के लिए होती है॥२६६॥

प्रश्न - भाव शुद्धि से क्या अभिप्राय है?

उत्तर - काय सल्लेखना और कषाय सल्लेखना इन दोनो के सयोग से ही मोक्षार्थी क्षपक के प्रयोजन की सिद्धि होती है। यदि आयु अवशेष है तो बारह वर्ष पर्यन्त अनेक प्रकार के तपो द्वारा काय-सल्लेखना का उपक्रम किया जाता है, क्योंकि ली हुई अवधि के भीतर ही काय कृश करनी होती है। यदि काय कृश नहीं होगी तो समय पर शरीर नहीं छूटेगा, तब प्रतिज्ञा भग होगी, अत अधिकतम ध्यान या उपयोग बाह्यतपों की ओर आकर्षित होता रहता है।

ये अनशनादि तप बाह्य मे प्रदर्शित होते हैं और आत्मा के साथ लगे हुए कषाय अध्यवसान स्थान असख्यात लोकप्रमाण हैं। इन तपो की प्रकर्षता को देखकर यदि सघ या समाज से बहुमान प्राप्त होता है तब क्षपक का मन आह्लाद से भर उठता है। अर्थात् राग एव अभिमान की उद्भूति हो उठती है और यदि बहुमान या विशेष सत्कार या वैयावृत्य आदि नहीं हो पाया तो मन खेद खिन्न हो उठता है या कभी ख्याति, पूजा, लाभ की चाह रूपी दाह मे दग्ध हो जाता है। इस प्रकार राग-द्वेष आदि विकारी भावो के वेग मे बहता हुआ मन आत्मविशुद्धि सम्बन्धी अपने लक्ष्य को भूल जाता है। तब जैसे ताप के फैलते शीतलता भाग जाती है वैसे ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होते ही भावसयम पलायमान हो जाता है। उस समय निस्सार कदली स्तम्भ सदृश मात्र बाह्यतप के भार को ढोता हुआ क्षपक आत्मविशुद्धि के अभाव मे तप करते हुए भी कर्मनिर्जरा नहीं कर पाता, जबकि तप का कार्य कर्मनिर्जरा ही है।

कषाय सल्लेखना का अर्थ है आत्मा की मलिनता के कारणभूत कषाय परिणामो को अर्थात् राग, द्वेष, अभिमान आदि विकारी भावो को कृश करना। अर्थात् उनका उपशमन होना, इसी का नाम भाव-विशुद्धि या आत्मविशुद्धि है। जैसे अग्नि के बाह्य ताप से स्वर्ण के अभ्यन्तर की किट्ट-कालिमा नष्ट हो जाती है और वह स्वर्ण शुद्ध हो जाता है वैसे ही बाह्य तप के ताप से आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध को प्राप्त राग-द्वेष रूपी किट्ट-कालिमा का अभाव हो जाना और आत्मा का स्व-स्वभाव मे स्थित हो जाना, इसी का नाम भावशुद्धि या आत्मविशुद्धि है।

कषायो को कृश करने की आवश्यकता

कषायाकुल-चित्तस्य, भावशुद्धिः कुतस्तनी।
यतस्ततो विधातव्या, कषायाणां तनूकृतिः॥२६७॥

अर्थ - जिस क्षपक का चित्त कषायो से आकुलित है, उसके भावशुद्धि कहाँ से हो सकती है? अत कषायो को अवश्य ही कृश करना चाहिए॥२६७॥

कषायों को कृश करने के उपाय

जेतव्या क्षमया क्रोधो, मानो मार्दव सम्पदा।
आर्जवेन सदा माया, लोभः सन्तोष-योगतः॥२६८॥

अर्थ - क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव रूपी सम्पदा से, माया को आर्जव से और लोभ को सदा सन्तोष से जीतना चाहिए॥२६८॥

चतुर्णां स कषायाणां, न वशं याति शुद्धधीः।
उत्पत्तिस्त्यज्यते तेषां, सर्वदा येन स तत्त्वतः॥२६९॥

अर्थ - जो शुद्ध बुद्धिशाली क्षपक हैं, वे उन कषायो की उत्पत्ति को ही रोक देते हैं, अत वे उन क्रोध, मान, माया और लोभ के वश मे नहीं होते॥२६९॥

तद्धेयं सर्वदा यत्र, कषायाग्निरुदीयते।
यत्र शाम्यत्यसौ वस्तु, तदादेयं पटीयसा॥२७०॥

अर्थ - विचारशील चतुर क्षपक को वह वस्तु या वह द्रव्य-क्षेत्रादि सर्वदा छोड देना चाहिए जहाँ कि क्रोधादि कषायरूप अग्नि उत्पन्न होती है, तथा जहाँ कषायों का शमन होता है, उस द्रव्यादि को ग्रहण करना चाहिए॥२७०॥

यद्युदेति कषायाग्निर्विध्यातव्यस्तदा लघुः।
शाम्यन्ति ह्यखिला दोषाः, शमिते तत्र तत्त्वतः॥२७१॥

अर्थ - यदि थोडी भी कषायरूप अग्नि उठती है तो उसे तत्काल बुझा देना चाहिए। जो कषायों को शान्त कर देते हैं, उनके यथार्थत समस्त दोष उपशमित हो जाते हैं॥२७१॥

प्रश्न - कषाय-उत्पत्ति के क्या चिह्न हैं और कषायो से क्या-क्या हानियाँ होती हैं ?

उत्तर - कषाय उत्पन्न होते ही मुख विरूप हो जाता है, नेत्र लाल हो जाते हैं, शरीर काँपने लगता है, शराबी मनुष्य के समान बडबड़ाने लगता है और पिशाचग्रस्त मनुष्य के सदृश कुछ का कुछ कार्य करने लगता है। यह कषाय नीचो की सगति के सदृश हृदय को जलाती है, समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टि को मलिन कर देती है, सम्यग्दर्शनरूपी बाग को उजाड देती है, चारित्ररूपी सरोवर को सुखा देती है, तपरूपी वन को जला देती है, अशुभ कर्मरूपी बेल की जड़ को गहरी जमा देती है, शुभ कर्मरूपी फलो को रसहीन कर देती है, पवित्र मन को मलिन कर देती है, हृदय को कठोर कर देती है, वाणी को असत्य की ओर ले जाती है, महान् गुणो का निरादर करती है, महापुरुषो के गुणो को ढक देती है, यशरूपी धन को नष्ट कर देती है, दूसरों पर दोषारोपण करती है, मित्रता की जड़ खोद देती है, किये हुए उपकारो को विस्मरण करा देती है, दुखों के भँवर मे फँसा देती है, प्राणियो का घात करा देती है और अन्त में नरकरूपी भयकर गर्त में पटक देती है। इस प्रकार कषाय ही सब प्रकार के अनर्थ करती है। ऐसा चिन्तन कर कषाय को शीघ्र ही शान्त कर लेना चाहिए।

कारण बिना कार्य सम्भव नहीं

रागद्वेषादिकं साधोः, सङ्गाभावे विनश्यति।
कारणाभावतः कार्यं, किं कुत्राप्यवतिष्ठते॥२७२॥

अर्थ - परिग्रह का अभाव हो जाने पर साधु के राग-द्वेष भी विनष्ट हो जाते हैं, क्या कारण के अभाव में भी कहीं कार्य होता देखा गया है?॥२७२॥

प्रश्न - यहाँ कार्य-कारण भाव से क्या दर्शाया गया है?

उत्तर - कारण विद्यमान होने पर कार्य हो भी और न भी हो, किन्तु कारण के बिना कार्य कदापि नहीं होता। जैसे मिट्टीरूप कारण के रहते ही घटरूप कार्य और तन्तुरूप कारणों से पटरूप कार्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार परिग्रह रूप कारण ही राग-द्वेष परिणामरूप कार्य के निमित्त हैं, परिग्रह के अभाव मे साधु के रागद्वेष नहीं होते, अत कल्याणेच्छु साधु को सर्व परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए।

क्रोधरूप अग्नि प्रज्वलित होने का कारण और उसका फल

वाक्यासहिष्णुता-वात्या-प्रेरितः कोप-पावकः।
उदेति सहसा चण्डो, भूरि-प्रत्युत्तरेन्धनः ॥२७३॥

स दग्ध्वा ज्वलितः क्षिप्रं, रत्नत्रितय-काननम्।
विदधाति महातापं, संसाराङ्गार-सञ्चयैः ॥२७४॥

अर्थ - शिष्य के असह्य एव प्रतिकूल वचनरूपी वायु से प्रेरित क्रोधाग्नि गुरु के हृदय मे सहसा उत्पन्न हो जाती है। पश्चात् प्रत्युत्तर रूप महान् ईंधन को प्राप्त कर वह कोपाग्नि प्रचण्डरूप धारण कर लेती है, जो शीघ्र ही गुरुदेव के रत्नत्रय रूप वन को जला देती है, जिससे ससार रूप प्रज्वलित अगार दीर्घ काल पर्यन्त भयकर सन्ताप देते रहते हैं॥२७३-२७४॥

प्रश्न - इस रूपक का क्या भाव है?

उत्तर - इस रूपक से यह दर्शाया गया है कि साधु एव आचार्य आदि गुरुजनो को क्रोध क्यो और कैसे उत्पन्न होता है तथा उसका फल क्या होता है। यथा – शिष्य की कोई अयोग्य प्रवृत्ति देख कर गुरु उसे सारण-वारण रूप उपदेश देते हैं। शिष्य अभिमानी या उच्छ्रृखल है, अथवा गुरु का उपदेश पक्षपाती है या तिरस्कार मिश्रित है या कटाक्षरूप है, जिस किसी भी कारण से शिष्य प्रतिकूल वचन कहता है, जो गुरु को सह्य नहीं। यही एक प्रकार की वायु हुई, इससे गुरु के मन मे कोपाग्नि भभक उठी। गुरु ने पुन शिष्य को समझाने का प्रयास किया। शिष्य ने पुन प्रतिकूल उत्तर दिये। वे प्रतिकूल वचन गुरु की क्रोधाग्नि मे ईधन का काम कर गये, जिससे वह आग और अधिक उद्दीप्त हो उठी जिसने गुरु का रत्नत्रय रूपी उपवन जला दिया क्योकि कषाय प्रवेश करते ही महाव्रतादि पलायमान हो जाते हैं। रत्नत्रय का उपवन भस्म होते ही वहाँ अनन्तानुबन्धी या अप्रत्याख्यान नामधारी धधकते हुए अगार एकत्र हो गये जो चिरकाल पर्यन्त महाभयकर सन्ताप देने मे समर्थ हैं। अर्थात् गुरुजी के उसी क्षण अप्रत्याख्यान या अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आ गया जो अनन्तभवो तक ससार-परिभ्रमण का कारण है।

कभी गुरु की कठोर आज्ञा आदि का निमित्त पाकर साधर्मी एव शिष्य की क्रोधाग्नि भी प्रज्वलित हो जाती है।

उत्पन्न हुई कषाय को शान्त करने का उपाय

जायमानः कषायाग्निः, शमनीयो मनीषिणा।
इच्छा-मिथ्या-तथाकार-प्रणिपातादि-वारिभिः ॥२७५॥

अर्थ - बुद्धिमानो को कषायाग्नि के उत्पन्न होते ही उसे बुझा देना चाहिए। उसको बुझाने का जल है - इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार एव नमस्कार आदि। इस जल के पड़ते ही क्रोधाग्नि शान्त हो जाती है॥२७५॥

प्रश्न - इच्छाकार, मिथ्याकार आदि किसे कहते हैं और इनसे गुरु आदि की क्रोधाग्नि कैसे शान्त हो जाती है?

उत्तर - **इच्छाकार** - हे भगवन्! मैं आपका उपदेश या आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ और इस उपदेशामृत की निरन्तर वाञ्छा करता हूँ। शिष्य द्वारा कहे हुए नम्रता के ऐसे वचनो को इच्छाकार कहते हैं।

मिथ्याकार - मैंने आपको प्रत्युत्तर दिया, प्रतिकूल वचन कहे और आपकी अवज्ञा की मेरे वे सब पातक आपकी अनुकम्पा से मिथ्या हो।

तथाकार - हे भगवन्! आपकी शिक्षा यथार्थत सत्य है। आप मुझ अल्पमति पर प्रसन्न हों, मैं आपके पावन चरणकमलो मे नम्रीभूत होकर बार-बार नमस्कार करता हूँ।

शिष्य की उद्दण्डता से गुरु की कोपाग्नि प्रज्वलित हुई थी। जब शिष्य ने अनुभव किया कि इस क्रोधरूपी अग्नि के ताप से मेरा तो अहित होगा ही किन्तु मेरे परमोपकारी गुरु को और रत्नत्रय रूप फलो से सुशोभित सघ को भी सताप होगा तथा श्रमणधर्म की निन्दा होगी, तब वह विवेकी एव धर्मवत्सल शिष्य इच्छाकारादि उत्तमजल से उस अनिष्टकारी क्रोधाग्नि को शीघ्र ही बुझा देता है।

प्रश्न - गुरु की कठोर आज्ञा या कोई ताडना युक्त कटु वचन सुनकर यदि शिष्यादि को क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो जाय तब गुरुजन उसे कैसे शमन करते हैं?

उत्तर - महापुरुष सर्व प्राणियो के निर्व्याज बन्धु होते हैं। वे कभी अपने शिष्यो पर अभ्यन्तर से कुपित नहीं होते, क्योकि उनके पावन हृदय में शिष्य का हित करने के भाव ही छिपे रहते हैं, अत· वे कोपायमान शिष्य को एकान्त मे ले जाकर अपने शीतल वचनरूपी जल से उपशान्त कर उसे विश्वास मे ले लेते हैं। अर्थात् उसकी श्रद्धा को पूर्ववत् दृढ़ कर देते है। शिष्य भी गुरु की वात्सल्यमयी अमृतवाणी को कर्णपुटो से पीकर सन्तुष्ट हो जाता है और तत्काल गुरुचरणो मे नम्र होकर प्रायश्चित्त माग अपने हृदय की पवित्रता को प्रदर्शित कर देता है।

शिष्य की क्रोधाग्नि शान्त करने के लिए गुरु को समाचार नीति का अवलम्बन नहीं लेना पड़ता क्योकि-

"**मुखदानं हि मुख्यानां, लघूनामभिषेचनम्**"। अर्थात् महापुरुषो का सम्मुख होकर बोलना ही छोटो को राज्याभिषेक के सदृश आनन्ददायक होता है।

संलिख्य गौरव संज्ञा, नोकषाया महाभटाः।
समस्ता निन्दिता लेश्या, समाधानं यता सता॥२७६॥

अर्थ - इस प्रकार सज्जनो को अपना चित्त समाधानरूप अर्थात् शान्त रखने के लिए कषायो के सदृश गारव, सज्ञा एव नौ नोकषाय रूपी महाभटो को तथा अशुभ लेश्याओ को भी निन्दित करना चाहिए। अर्थात् छोड देना चाहिए॥२७६॥

प्रश्न - गारव आदि किसे कहते हैं और ये कितने-कितने होते हैं ?

उत्तर - शब्द गारव, ऋद्धिगारव और सात गारव के भेद से गारव तीन प्रकार के हैं। **शब्दगारव**-वर्णों के उच्चारण का गर्व करना।

ऋद्धिगारव - शिष्य, शास्त्र, पीछी, कमण्डलु एव पट्ट आदि परिग्रह के द्वारा अपने को ऊँचा प्रगट करना।

सात गारव - आहार-पान आदि से उत्पन्न सुख की लीला से मस्त होकर मोहमद करना।

सज्ञा - आहारादि विषयो की अभिलाषा को सज्ञा कहते हैं। अथवा जिनसे बाधित होकर जीव इस लोक मे दारुण दुख पाते हैं और जिनका सेवन करने से जीव दोनो ही भवो मे दारुण दुख प्राप्त करते हैं उन्हे सज्ञा कहते हैं। आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञा के भेद से ये चार प्रकार की होती हैं।

नोकषाय - ईषत् अर्थात् किचित् कषाय को नोकषाय कहते हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक वेद के भेद से ये नौ प्रकार की हैं। कषायों के सदृश ये चारित्र का विनाश नहीं कर पातीं, चारित्र में मल उत्पन्न करती हैं, अत इन्हे ईषत् कषाय कहते हैं।

लेश्या - कषाय से अनुरजित योगो की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के भेद से ये छह प्रकार की हैं। इनमे से प्रारम्भ की तीन अशुभ और शेष तीन शुभ है।

ससार-त्याग का इच्छुक उत्कृष्ट तप करता है

वर्धितावग्रहः साधुः, प्रकटास्थि-सिरादिकः।
तनूकृत-समस्ताङ्गो, भवत्यध्यात्म-निष्ठितः ॥२७७॥

बाह्याभ्यन्तरीं कृत्वा, योगी सल्लेखनामिति।
संसार-त्यजनाकाङ्क्षी, प्रकृष्टं कुरुते तपः ॥२७८॥

इति सल्लेखना- सूत्रम् ॥

अर्थ - जो प्रतिदिन अपने अवग्रह-अर्थात् नियमो को वृद्धिंगत कर रहा है और सारा शरीर कृश होने से जिसका नसाजाल एव अस्थियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं ऐसे अगोपागो को कृश करनेवाला साधु अपनी आत्मा में निष्ठ हो जाता है ॥२७७॥

इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर अर्थात् काय-सल्लेखना तथा कषाय-सल्लेखना करने पर ससारत्याग का दृढ़ निश्चय करके वह योगी उत्कृष्ट तप अर्थात् धर्मध्यान, शुक्लध्यान करता है ॥२७८॥

सल्लेखना सूत्र पूर्ण हुआ।

१२. दिशा अधिकार

शरीर-त्याग का विचार

न शक्नोम्यशुचि त्याज्यमिदं वोढुं महत्क्षयि।
विचिन्त्येति वपुस्त्यक्तुं, गणं याति कृतक्रियः ॥२७९॥

अर्थ - यह शरीर अपवित्र है, नष्ट होनेवाला है, त्याज्य है, अब मैं इस शरीर के भार को धारण करने मे समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार शरीर-त्याग का विचार कर, समाधिमरण की तैयारी करता हुआ वह आचार्य या साधु अपने सघस्थ शिष्यो के पास जाता है ॥२७९॥

सघहित-चिन्तन

अपि संन्यस्यता चिन्त्यं, हितं सङ्घाय सूरिणा।
परोपकारिता सद्भिः, प्राणान्तेऽपि न मुच्यते ॥२८०॥

अर्थ - सल्लेखना करने के लिए उद्यत क्षपक आचार्य को अपने सघ के हित का विचार करना चाहिए, क्योकि सज्जन पुरुष प्राणान्त मे भी परोपकार नहीं छोडते ॥२८०॥

विज्ञाय कालमाहूय, समस्तं गणमात्मना।
आलोच्य सदृशं भिक्षुं, समर्थं गणधारणे ॥२८१॥

प्रदेशे पावनीभूते, चारु-लग्नादिके दिने।
गणं निक्षिपते तत्र, स्वल्पां कृत्वा कथां सुधीः ॥२८२॥

अर्थ - अपनी आयु और समाधिकाल का विचार कर आचार्य अपने सघ को और सघ को धारण करने मे समर्थ जिस बालाचार्य को पूर्व मे स्थापित किया था उन्हे किसी पवित्र स्थान पर बुलाकर सौम्य तिथि, वार, करण, नक्षत्र, योग एव लग्न मे उन बालाचार्य को सघ समर्पित कर देते हैं और थोड़ा सा उपदेश भी देते हैं ॥२८१-२८२॥

उक्त च

ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नः, स्वगुरोरभिसम्मतः।
विनीतो धर्म-शीलश्च, यः सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥क्षेपक॥

अर्थ - जो ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न है, अपने गुरु को मान्य है, विनीत है, रत्नत्रय धर्म और शील का पालक है, वह शिष्य आचार्य पद के योग्य है। **(मूलाराधना दर्पण** से उद्धृत)

दिशाबोध अर्थात् शिक्षा

अविच्छेदाय तीर्थस्य, तं विज्ञाय गुणाकरम्।
अनुजानाति संबोध्य, दिगयं भवतामिति ॥२८३॥

इति दिक् सूत्रम्।

अर्थ - दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक धर्मतीर्थ की व्युच्छित्ति न हो, वह सदा प्रवर्तित होता रहे, इस हेतु 'यह गुणज्ञ है' ऐसा जान कर बालाचार्य को पूर्वाचार्य दिशाबोध अर्थात् शिक्षा देते हैं। बालाचार्य को दिशा बोध देना ही 'दिशा' कहलाती है ॥२८३॥

प्रश्न - बालाचार्य कैसा हो और उसको क्या शिक्षा दी जाती है?

उत्तर - बालाचार्य आचार्यत्व के गुणो से सम्पन्न, सहिष्णु, गभीर, बहुज्ञानी, धर्मानुपालक, धर्मप्रेमी, वात्सल्यगुण से भरपूर, अपने गुरु का विश्वासपात्र, उनका आज्ञानुवर्ती, सघ का भारवहन करने में समर्थ और सर्व सघ की श्रद्धा का पात्र हो। पुराने आचार्य नवीनाचार्य को शिक्षा देते है कि यह सघ रूपी नौका रत्नत्रय रूपी रत्न समूह से भरी है, अब आप इसके खेवटिया बन रहे हो, इसका इस प्रकार अनुग्रह करना कि यह नौका ससार-समुद्र से उत्तीर्ण हो जावे। सघ को भी शिक्षा देते हैं कि अब ये आपके आचार्य हैं, यही अब आपके मान्य है, इनके आज्ञानुवर्ती बन कर ही आप सबको अपने प्रयोजन की सिद्धि करनी है। अनुशासित रहते हुए ही आप सबको धर्म की एव अपनी-अपनी आत्मा की उन्नति करना है। यदि मैं अपनी योग्यता के सदृश ही इन नवीनाचार्य की स्थापना किये बिना ही सघ को छोडकर सल्लेखना हेतु चला जाऊँ, तो इस सम्पूर्ण सघ के रत्नत्रय धर्म का नाश होने से धर्मतीर्थ का ही विच्छेद हो जायेगा। आप सबके धर्म के रक्षण एव वृद्धि हेतु ही मैंने इनका स्थापन किया है, अत आप सबको आज से इनकी आज्ञानुसार ही प्रवर्तन करना है।

'दिशा' नामक अधिकार पूर्ण हुआ ॥१२॥

१३ क्षमण अधिकार

आचार्य द्वारा क्षमा-याचना

सकलं गणमामन्त्र्य, कृत्वा गणि-निवेशनम्।
स त्रिधा क्षमयत्येवं, बाल-वृद्धाकुलं गणम् ॥२८४॥

अर्थ - नवीन आचार्य और सर्व सघ को बुलाकर, नूतनाचार्य को गण के मध्य स्थापित कर तथा स्वय पृथक् होकर बालमुनि, वृद्धमुनि आदिको से पूर्ण ऐसे सघ से पूर्व आचार्य मन, वचन और काय से क्षमा माँगते हैं ॥२८४॥

यद्दीर्घकाल-संवास-ममत्व-स्नेह-रागत:।
अप्रियं भणितं किंचित्तत्सर्वं क्षमयामि व: ॥२८५॥

अर्थ - हे मुनिगण! आप सबके साथ मेरा दीर्घ काल तक सवास रहा है, इस बीच मैंने ममता, स्नेह, राग या द्वेष से आपको जो अप्रिय या कटु वचन कहे हैं, उनकी मै क्षमा माँगता हूँ ॥२८५॥

आचार्य द्वारा क्षमा-याचना करने पर गण का कर्तव्य

प्रणम्य पतित: सङ्घस्त्रातार वत्सल यतिम्।
धर्माचार्यं निज सर्व, सम्यक् क्षमयति त्रिधा ॥२८६॥

इति क्षमणा-सूत्रम् ॥

अर्थ - सर्वप्रथम नमस्कार कर अनन्तर भूतल पर बैठ कर किया है पंच नमस्कार जिन्होंने ऐसे वे गण के सर्व साधुजन ससार के दुख से रक्षा करनेवाले, सबके ऊपर वात्सल्य भाव रखनेवाले तथा दश धर्मों में स्वय प्रवृत्त होकर गण को प्रवृत्त करनेवाले ऐसे अपने पूर्वाचार्य से अपने सर्व अपराधों के प्रति भली प्रकार मन, वचन, काय से क्षमा माँगते हैं॥२८६॥

॥ क्षमणा प्रकरण पूर्ण हुआ ॥

अणुसिदि्ठ अर्थात् अनुशिष्टि अधिकार

सघ को उपदेश

स सूत्रार्थ-रहस्यज्ञः, स्वार्थ-निष्ठोऽपि यत्नतः।
संविग्नश्चिन्तयत्येवं, गणं धीरो जिनाज्ञया॥२८७॥

अर्थ - ससार से भयभीत, धीर, सिद्धान्त ग्रन्थों का अर्थ करने मे निपुण तथा प्रायश्चित्त ग्रन्थ के ज्ञाता ऐसे पूर्वाचार्य अब अपने स्वार्थ अर्थात् समाधिनिष्ठता अर्थात् आत्महित की चिन्ता मे तत्पर होते हुए भी जिनाज्ञानुसार चतुर्विध सघ की चिन्ता करते हैं॥२८७॥

गम्भीरां मधुरां स्निग्धां, ग्राह्यामानन्ददायिनीम्।
अनुशिष्टिं ददात्येवं, स गणस्य गणेशिनः॥२८८॥

अर्थ - पूर्वाचार्य गम्भीर अर्थात् सारभूत, मधुर, स्नेहपूरित, ग्राह्य और आनन्ददायक वचनो द्वारा नवीन आचार्य को और सर्व सघ को शिक्षा देते हैं॥२८८॥

रत्नत्रये विधातव्यं, वर्धमानं प्रवर्तनम्।
कल्पाकल्प-प्रवृत्तानां, सर्वेषामागमिष्यति॥२८९॥

अर्थ - सर्वेषा अर्थात् निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग मे प्रवर्तन करनेवाले इस चतुर्विध सघ को आगामी अर्थात् भविष्य में कल्पाकल्प अर्थात् योग्य और अयोग्य वस्तुओ में यथायोग्य प्रवृत्ति करते हुए रत्नत्रय मार्ग मे ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे रत्नत्रय वृद्धिगत होता रहे॥२८९॥

नवीन आचार्य को शिक्षा

संक्षिप्तेहादितोऽम्भोधिं, गच्छन्तीव महानदी।
विस्तरन्ती विधातव्या, गुण-शील-प्रवर्तना॥२९०॥

अर्थ - उत्पत्ति स्थान में सँकरी सी भी उत्तम महानदी जैसे विस्तार के साथ बढ़ती हुई समुद्र पर्यन्त जाती है, वैसे ही हे बालाचार्य! आपको भी प्रारम्भ में अल्प प्रमाण से धारण किये गये गुणो, व्रतो एव शीलादि को उत्तरोत्तर वृद्धिंगत करते रहना चाहिए॥२९०॥

मा स्म कार्षीर्विहार त्वं, मार्जाररसितोपमम्।
मा नीनशो गणं स्वं च, कदाचन कथञ्चन॥२९१॥

अर्थ - जैसे मार्जार की आवाज पहले तीव्र फिर क्रमश मन्द-मन्द हो जाती है, रत्नत्रय के आचरण में वैसा तुम कदापि और किसी प्रकार भी नहीं करना, न सघ से कराना। ऐसा आचरण कर अपना और सघ का नाश मत करना॥२९१॥

प्रश्न - किस प्रकार के आचरण से स्व-पर का नाश होता है?

उत्तर - आत्मा और शरीर का अनादिकालीन सम्बन्ध है। प्रत्येक पर्याय मे इस शरीर का पोषण ही किया गया है, तथा 'इसे किंचित् भी कष्ट न हो' इस पर पूर्ण सतर्कता बरती गई है। इस मनुष्य पर्याय मे कोई महान् पुण्योदय से व्रत-सयम ग्रहण के परिणाम बने है। अर्थात् आत्मा और शरीर के भिन्नत्व की भावना बनी है। इस भावना को यथावत् बनाये रखना आवश्यक है।

नवीन दीक्षाग्रहण के हर्षोत्साह मे बिल्ली के प्रारम्भिक स्वर सदृश यदि दुर्द्धर तपो का अनुष्ठान स्वय कर लिया या शिष्यों से करा लिया तो कष्टसहिष्णु सस्कार के अभाव मे या तो शरीर मे कोई रोग उत्पन्न हो जायेगा, या शारीरिक दौर्बल्य सहन न होने से व्रतोत्साह मन्द पड़ जायेगा, श्रद्धा शिथिल हो जायेगी, उसके फलस्वरूप वह उग्रतप और चारित्र भी मन्द-मन्द होता जायेगा, जो स्वय के और सघ के नाश का कारण होगा। अर्थात् स्वपर रत्नत्रय की हानि होगी, कर्म बन्ध होगा, ससार परिभ्रमण वृद्धिंगत होगा और जगहँसाई होगी।

जिसने कभी हाथी नहीं देखा वह यदि एकाएक हाथी को उठाने का प्रयास करेगा, तो मारा जायेगा, किन्तु जन्मजात गज शिशु को दिन-प्रतिदिन उठाता रहे तो एक दिन हाथी भी उठा लिया जायेगा। उसी प्रकार पूर्व पर्यायो मे अनभ्यस्त ऐसे कठोर तपो को अनायास धारण करने से हानि की सम्भावना है, दीक्षा के बाद ही उनका प्रारम्भ मन्द-मन्द गति से करे। पश्चात् जैसे-जैसे शरीर अभ्यस्त होता जाय, अर्थात् कष्टसहिष्णु बनता जाय, श्रद्धा एव आत्मदृढता वृद्धिगत होती जाय वैसे-वैसे तपादि मे वृद्धि करते हुए कठोर आचरण पर पहुँच जाना चाहिए।

विध्यापयति यो वेश्म, नात्मीयमलसत्वतः।
पर-वेश्म-शमे तत्र, प्रतीतिः क्रियते कथम्॥२९२॥

अर्थ - जो आलस्यवश जलते हुए अपने घर को भी नहीं बचाना चाहता, उस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरो के जलते हुए घर को बचावेगा॥२९२॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या भाव है ?

उत्तर - यहाँ नवीन आचार्य को शिक्षा दी जा रही है कि जो आलसी मनुष्य अपने जलते हुए घर की आग बुझाने मे भी सक्रिय नहीं हो पाता उससे कैसे आशा की जाय कि वह दूसरो के जलते हुए घर की आग बुझाने का पुरुषार्थ करेगा ? अर्थात् जो आचार्य स्वय आलसी हो, प्रमादी हो, शबल चारित्री हो, लोक-रजना मे तन्मय हो, ख्याति, पूजा, लाभ की चाह से ग्रसित हो और ध्यान-अध्ययन से उदासीन हो वह सघ के रत्नत्रय की वृद्धि कैसे करा सकेगा ? जो आचार्य उपर्युक्त दोषों से रहित होंगे वे ही अपने संघ को मोक्षमार्ग पर सहजता पूर्वक चला सकेगे, अत आपको भी इन दोषो से अपनी रक्षा करनी है।

बालाचार्य की प्रवृत्ति इस प्रकार होनी चाहिए

मुञ्च च्यवनकल्पं त्वं, विरोधं स्वान्य-पक्षयोः।
असमाधिकर वादं, कषायाग्नि-सन्निभान ॥२९३॥

अर्थ - हे बालाचार्य! तुम च्यवनकल्प को, स्व पक्ष और पर पक्ष मे विरोध करानेवाले कार्यों को, अशान्तिकारक वाद-विवाद को और अग्नि सदृश कषायों को छोड़ो ॥२९३॥

प्रश्न - बालाचार्य द्वारा छोडने योग्य च्यवनकल्प आदि के क्या लक्षण है?

उत्तर - शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियो की प्रशसा और सस्तव ये सम्यग्दर्शन के अतिचार है।

अकाल मे वाचना और स्वाध्याय करना, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि और कालशुद्धि बिना वाचनादि करना, निह्नव, ग्रन्थ अशुद्ध पढना, अर्थ अशुद्ध करना एव आदर का अभाव ये सम्यग्ज्ञान के अतिचार है।

समिति की भावनाएँ न करना चारित्र का अतिचार है। इन सब अतिचारो को ही च्यवनकल्प कहते हैं।

स्व पक्ष अर्थात् जैन धर्मस्थ मुनिगण एव श्रावक जन, पर पक्ष अर्थात् मिथ्यादृष्टि जन, इनमे परस्पर विसवाद होना विरोध है।

चित्त की शान्ति भग करनेवाले विसवाद को वाद कहते है। वाद करनेवाला अपनी जय और अन्य की पराजय का ही प्रयत्न करता है, वह यथार्थ तत्त्व का समाधान नहीं कर पाता।

कषाये स्व और पर को मारनेवाली है अत इन्हे अग्नि सदृश कहा गया है। आचार्य को रत्नत्रय के रक्षणार्थ इन सबका त्याग करना चाहिए।

आचार्य पद की अयोग्यता एव योग्यता

दर्शने चरणे ज्ञाने, श्रुतसारेषु यस्त्रिषु।
निधातु गणमात्मानमसमर्थो गणी न सः ॥२९४॥

अर्थ - आगम के सारभूत तीन रत्न दर्शन, ज्ञान और चारित्र अर्थात् रत्नत्रय मे जो अपने आप को एव सघ को स्थापित करने मे समर्थ नहीं है, वह आचार्य पद के योग्य नही है ॥२९४॥

दर्शने चरणे ज्ञाने, श्रुतसारेषु यस्त्रिषु।
निधातु गणमात्मान, शक्तोऽसौ गदितो गणी ॥२९५॥

अर्थ - आगम के सारभूत तीन रत्न दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे जो अपने आप को और सघ को स्थापित करने मे समर्थ है, वह आचार्य पद के योग्य है ॥२९५॥

यः पिण्डमुपधिं शय्या, दूषणैरुद्गमादिभिः।
गृह्णीते रहितां योगी, संयतः स निगद्यते ॥२९६॥

अर्थ - जो आहार, उपकरण और वसतिका को उद्गम, उत्पादन एव एषणा आदि दोषों से रहित ग्रहण करता है, अर्थात् दोषयुक्त को ग्रहण नही करता वह योगी ही सयत कहा जाता है ॥२९६॥

समये गणि-मर्यादा, तेषामाचार-चारिणाम्।
स्वच्छन्देन प्रवर्तेत, लोक-सौख्यानुसारिणा॥२९७॥

अर्थ - ज्ञानाचार आदि पाँच प्रकार के आचार का आचरण अर्थात् पालन करनेवाले जो गणी हैं, उन गणियो की यह गणधर-मर्यादा आगम मे कही है। जो लोकसुख के अनुसार अथवा लोक के अनुसार चलनेवाले तथा स्वच्छन्दता से प्रवर्तन करनेवाले हैं उनकी 'गणधर' यह मर्यादा सूत्र मे नहीं कही है॥२९७॥

प्रश्न - सूत्र मे गणधर की क्या मर्यादा कही है? लोकसुख और स्वच्छन्द प्रवर्तन का क्या भाव है?

उत्तर - ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पचाचारों का निर्दोष रीत्या जो स्वय पालन करते हैं और दूसरो को पालन कराते हैं, उन्हें गणधर अर्थात् आचार्य कहते हैं। गणधर की यही मर्यादा आगम मे कही गई है। अर्थात् जो स्वय पचाचार का पालन करता है, लौकिक सुख मे नहीं प्रवर्तता है तथा आगमानुसार आचरण करता है वही आचार्य बन सकता है अन्यथा नहीं, क्योकि जो स्वय शिथिल आचारवाला है वह अन्य साधु-जनों को निर्दोष चारित्र पालन नहीं करा सकता, अत वह आगम की मर्यादा के बहिर्भूत है।

लोकसुख या लौकिक सुख है मिष्टाहार का यथेष्ट भोजन करना, कोमल शय्या पर शयन करना, मनोहर वसतिकाओ मे निवास करना, नेत्रो को तृप्त करनेवाले चल-चित्रादि देखना और कर्णप्रिय सगीत आदि सुनना, इन्हीं विषयो मे रत रहना या इन्हीं की अभिलाषा पूर्ति के उपक्रम करना।

शास्त्र मे असयमी और विधर्मी लोगो के साथ ससर्ग और गृहस्थ जैसे सुखो मे आदर, ये बाते आचार्यो और मुनियो के लिए निषिद्ध कही गई है, किन्तु जो आगमाज्ञा की अवज्ञा कर इन्हीं बातो को श्रेय देते है एव जो इनमे ही अहर्निश अनुरक्त रहते है वे स्वच्छन्द कहे जाते है। आगम की आज्ञा को लोप करने वाले एव विषयासक्त ऐसे मुनि आचार्यत्व के योग्य नहीं है।

ममत्वं कुरुते हित्वा, यो राज्यं नगर कुलम्।
तस्य संयम-हीनस्य, केवलं लिङ्ग-धारणम्॥२९८॥

अर्थ - जो राज्य, नगर एव कुल आदि को छोड कर दीक्षित हुआ है, फिर उससे ममत्व करता है कि मेरा राज्य, मेरा नगर एव मेरा कुल है, वह सयमरहित है। अर्थात् असयतो में या परिग्रह मे आदरभाव या ममत्व भाव होने से वह सयमी नहीं है, उसका मुनि बनना मात्र वेष धारण करना है॥२९८॥

सघरक्षा की शिक्षा

त्वं कार्येष्वपरिस्रावी, समदर्श्यखिलेष्वपि।
भूत्वा विधानतो रक्ष, बाल-वृद्धाकुलं गणम्॥२९९॥

अर्थ - हे बालाचार्य! 'मेरा यह गुरु अपरिस्रावी है' ऐसा समझ कर शिष्यगण आपको अपना अपराध कहे तो उन्हे आप प्रगट नहीं करना, सब कार्यों मे समदर्शी रहना और बाल-वृद्ध यतियों से भरे गण की विधिपूर्वक रक्षा करना॥२९९॥

प्रव्रज्या संयम-ध्वंसी, दूराजमपराजकम्।
न क्षेत्रमात्मनीनेन, सेवनीयं कदाचन ॥३०० ॥

अर्थ - जिस क्षेत्र मे सयम का नाश होता हो, जिसमे राजा दुष्ट हो या देश राजा रहित हो और जिस क्षेत्र में दीक्षा लेनेवाले न हों, उस क्षेत्र मे आप कदापि नहीं रहना ॥३०० ॥

सघस्थ साधुओं को आचार्य की शिक्षा

मावश्यके कृथा जातु, प्रमादं वृत्त-वर्धके।
विज्ञाय दुर्लभां बोधिं, नि:सारे मानुषे भवे ॥३०१ ॥

अर्थ - इस नि·सार मनुष्य भव मे रत्नत्रय स्वरूप बोधि को दुर्लभ जान कर भो मुनिगण ! चारित्रवर्धक आवश्यको मे कभी प्रमाद नहीं करना ॥३०१ ॥

प्रश्न - आवश्यको को चारित्रवर्धक क्यों कहा गया है ?

उत्तर - जब मुनिराज सामायिक आदि आवश्यको मे सावधानीपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, तब उनको सयम प्राप्त होता है। सावद्य क्रिया का त्याग होने पर जो कर्मों को सन्तप्त करता है, वही तप सज्ञा को प्राप्त होता है, क्योकि सयम के बिना मात्र तप मुक्तिदायक नहीं होता।

यह मनुष्यपर्याय सार रहित, अनित्य और अपवित्र है। इसमे दीक्षा लेना दुर्लभ है। यदि दीक्षा भी हो जाय तो प्रमादरहित आवश्यको का अनुष्ठान दुर्लभ है और आवश्यको मे प्रमाद होने से सयम तथा तप मे निर्मलता नहीं आती, तथा सयम एव तप की निर्मलता न होने से चारित्र की वृद्धि नहीं होती। इसलिए ही प्रमादरहित आवश्यको का अनुष्ठान चारित्रवर्धक कहा गया है।

संज्ञा-गौरव-रौद्रार्तध्यान-कोपादि-वर्जिता:।
समिता: पञ्चभिर्गुप्तास्त्रिभिर्भवत सर्वदा ॥३०२ ॥

अर्थ - हे मुनिगण ! आप सदा पाँच समितियो से एव अशुभ मन, वचन, काय रूप तीन गुप्तियो से युक्त तथा चार सज्ञा, तीन गारव, आर्तरौद्र ध्यान और क्रोधादि कषायो से रहित प्रवर्तन करे ॥३०२ ॥

हृषीक-दन्तिनो दुष्टान्विषयारण्यगामिन:।
जिनवाक्याङ्कुशेनाशु, वशे कुरुत यत्नत: ॥३०३ ॥

अर्थ - आप सब विषयरूपी वन मे विचरण करनेवाले इस इन्द्रिय रूपी दुष्ट हाथी को जिनवचन रूपी अकुश द्वारा शीघ्र ही वश मे करे ॥३०३ ॥

प्रश्न - यहाँ गज आदि के रूपक द्वारा क्या शिक्षा दी गई है?

उत्तर - जगलो में स्वच्छन्द विचरण करनेवाले मदोन्मत्त हाथी को भी चतुर मनुष्य जैसे अकुश के बल से वश में कर लेते हैं, वैसे ही पचेन्द्रियो के स्पर्श, रस, गन्धादि मनोहर विषय रूपी वन मे स्वच्छन्द विचरण करने के स्वभाववाले इन्द्रिय रूपी हाथी को आप सब जिनेन्द्र भगवान के वचनरूप अंकुश से अपने वश में रखना, तब आपका साधुपन सार्थक होगा। अर्थात् पचेन्द्रियों के विषयों की लोलुपता के कारण अद्यावधि ससार-भ्रमण हो

रहा है अत आप सब अब सावधान रह कर स्वाध्याय मे ही सदा लवलीन रहे ताकि जिनेन्द्र वचन रूपी अकुश से आपका यह दुष्ट इन्द्रियरूपी हाथी आपके वशीभूत रह सके। आचार्य अपने शिष्यो को इस प्रकार की शिक्षा दे रहे हैं।

धन्यास्ते मानवा लोके, मन्ये ये विषयाकुले।
विचरन्ति गतग्रन्थाश्चतुरङ्गो निराकुलाः ॥३०४॥

अर्थ - मै ऐसा मानता हूँ कि पचेन्द्रियो के स्पर्श, रस, रूप एव शब्दादि विषयो से व्याप्त इस लोक मे वे ही मनुष्य धन्य हैं, जो परिग्रह का अर्थात् पचेन्द्रिय के विषयो की आसक्ति का त्याग कर चतुरगे अर्थात् चार आराधनाओ मे निराकुल प्रवृत्त हो रहे हैं॥३०४॥

प्रश्न - गुरु की इस मान्यता का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - अपने शिष्य समुदाय को सन्मार्ग का उपदेश देते हुए आचार्यदेव जो अपनी मान्यता या अपना दृष्टिकोण व्यक्त कर रहे हैं उसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक साधु को अपने-अपने साधुत्व रूपी मन्दिर पर कलशारोहण करने हेतु ख्याति-पूजा और लाभ की वाछा का, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहो का, लोकरजना का, अशुद्ध आहार, पान एव वसतिका आदि का, रागवर्धक उपकरणो का तथा आगमविरुद्ध आचरण करनेवाले साधुओ की एव असयमीजनो की सगति का त्याग कर मन एव इन्द्रियो का निग्रह करते हुए और चारो आराधनाओ का निरतिचार पालन करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना चाहिए।

विनीता गुरुशुश्रूषा-कारिणश्चैत्य-भक्तयः।
वत्सला भवत ध्याने, स्वाध्यायोद्यत-चेतसः ॥३०५॥

अर्थ - आप सभी साधुजन सदा विनय मे सलग्न रहो, गुरुजनो की सेवा-वैयावृत्य करो, जिनप्रतिमाओ की भक्ति मे उद्यत रहो, गुरु के प्रवचन मे और सर्व सघ पर वात्सल्य भाव रखो, ध्यान मे अनुराग रखो और मन की विशुद्धिपूर्वक स्वाध्याय मे उद्यमशील रहो॥३०५॥

प्रश्न - विनय किसे कहते हैं, वह कितने प्रकार की है और विनय न करने का क्या फल है?

उत्तर - जो कर्ममल का नाश करता है, ऐसे कर्त्तव्य को **विनय** कहते है। आप सब दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय, इन पाँचो प्रकार की विनय में सदा सलग्न रहो। शका, काक्षा, विचिकित्सा आदि सम्यक्त्व के दोषो को दूर करना **दर्शनविनय है**। आपको प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व विनय को प्राप्त करना चाहिए। आप अहर्निश इसी मे उद्यमशील रहो। अन्यथा ये शकादि दोष मिथ्यात्व को उत्पन्न कर देगे, जिससे दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होगा, उससे मिथ्यादर्शन मे निमित्त मिथ्यात्व कर्म के कारण आप जैसे दुखभीरु जनो को अनन्तकाल पर्यन्त ससार मे भ्रमण करायेगा।

शास्त्रो मे स्वाध्याय का जो काल कहा है उसी काल में शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय करो, श्रुतदान देने वाले गुरु की भक्ति करो। शास्त्र एव गुरु का नाम छिपा कर 'स्वय मैंने और मेरी ही बुद्धि से यह सब श्रुत ज्ञान प्राप्त किया है'' ऐसा अभिमान करना छोड दो। कुछ नियम कर आदरपूर्वक स्वाध्याय प्रारम्भ करो, अर्थशुद्धि, व्यजनशुद्धि और उभयशुद्धि पूर्वक अध्ययन करो। इस प्रकार आठ अगो के साथ विनयपूर्वक भाया हुआ श्रुतज्ञान

कर्मों का सवर तथा निर्जरा करता है। यदि इस प्रकार की **ज्ञानविनय** न करोगे तो दोष सहित श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्म के आस्रवादि का निमित्त होगा।

जिनसे कर्म ग्रहण होता है ऐसी मानसिक, वाचनिक एव कायिक क्रियाओ का अभाव होने पर या इन्हें रोकने पर चारित्र उत्पन्न होता है। तथा इष्ट-अनिष्ट स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दो मे अनन्त-काल से जीव अभ्यस्त है। इनके निमित्त से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। बाह्याभ्यन्तर कारण पाकर कषाये भी उदय मे आ जाती हैं, इनसे चारित्र का घात होता है। चारित्र का घात होते ही राग-द्वेष तथा मोह परिणाम होने लगते है, इन परिणामों से और मन, वचन, काय की अशुभ क्रियाओ से आत्मा मे नवीन कर्मों का आगमन होता है। इसी प्रकार छह काय के जीव समूह को बाधा पहुँचाते हुए गमन करना, मिथ्यात्व और असयम मे प्रवृत्ति करानेवाले वचन बोलना, साक्षात् या परम्परा से जीवों को बाधा या उनका घात करनेवाला आहार-जल ग्रहण करना, बिना देखे - शोधे वस्तुओ को ग्रहण करना और रखना तथा बिना देखी-शोधी भूमि पर मलमूत्र त्याग करना, ये सब क्रियाएँ जीव-पीडा कारक हैं, अत कर्मग्रहण मे निमित्त है। इन सबका त्याग कर गुप्ति एव समिति रूप वर्तन करना **चारित्रविनय** है। आप सबको सदा इसी के लिए उद्यमशील रहना चाहिए क्योकि जो अशुभक्रियाओ का त्याग नहीं कर सकते वे चारित्र भी धारण नहीं कर सकते। ऐसे जीव चिरकाल तक ससार-भ्रमण करते हैं। अनशन, अवमौदर्य आदि तपो से उत्पन्न होनेवाले परिश्रम को शान्ति पूर्वक सहन करना **तपोविनय** है। यदि तप करते समय आत्मा में सक्लेश परिणाम उत्पन्न हो जायेगा तो निर्जरा अल्प होगी और कर्मों का आस्रव महान् होगा, अत कष्टसहिष्णु होने का उद्यम करते हुए तप करना चाहिए।

उपचार विनय करनेवाला साधु विद्वानो द्वारा भी पूजित होता है और अविनयी साधु निन्दा का पात्र होता है।

मानसिक, वाचनिक तथा कायिक इस प्रकार उपचार विनय तीन प्रकार की कही गई है। जो मन, वचन, काय से उपचार विनय नहीं करता वह मन से गुरु की अवज्ञा करता है। जो गुरु के आने पर उठकर खडा नहीं होता, उनके जाने पर पीछे नहीं जाता, हाथ नहीं जोडता, उनकी स्तुति एव विज्ञप्ति नहीं करता, गुरु के सम्मुख आसन पर चढ़कर बैठता है, उनके आगे चलता है, निन्दा करता है, कठोर वचन बोलता है और गाली देता है वह साधु नीचगोत्र का बध करता है। उस कर्म का उदय आने पर मातग, चाण्डाल और धीवरादि नीच कुलो मे जन्म लेता है, कुत्ता एव सूकर आदि निन्द्य पशु-पर्याय प्राप्त करता है। निन्दा करनेवाले मुनियो को गुरुओ से रत्नत्रय का लाभ नहीं होता। किन्तु जो मुनिजन नम्र स्वभावी होते हैं उन्हे गुरुजन प्रयत्न तथा प्रेरणा पूर्वक पढ़ाते हैं और उनका आदर करते हैं, अत हे मुनिगण ! आप सब प्रयत्न पूर्वक दोषभरे अविनय का त्याग कर महान् गुणो की भण्डार स्वरूप विनय को अगीकार करो अर्थात् विनयी बनो।

प्रश्न - गुरु किसे कहते हैं और गुरु की शुश्रूषा के लिए आचार्यदेव ने क्या शिक्षा दी है ?

उत्तर - आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनो परमेष्ठी गुरु हैं। या जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्रादि गुणो से बड़े हैं उन्हे गुरु कहते हैं। आचार्यदेव शिक्षा देते हैं कि हे मुनिगण ! लाभ, कीर्ति एव आदर आदि की अपेक्षा न करके आप गुरुओ की सेवा मे सदैव तत्पर रहो। गुरु-शुश्रूषा से रत्नत्रय रूपी गुणो

मे प्रेम बढ़ता है, गुणो में अनुराग होने से सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है और उनके रत्नत्रय की अनुमोदना होती है। यह अनुमोदन पुण्य उपार्जन करने का सरल उपाय है।

प्रश्न - चैत्य की भक्ति क्यो करनी चाहिए ? इस विषय मे आचार्यदेव ने क्या उपदेश दिया है ?

उत्तर - आचार्यदेव दृष्टान्तपूर्वक समझा रहे हैं कि - देखो ! शत्रुओ और मित्रो की प्रतिकृति अर्थात् उनके चित्र या मूर्ति दिखाई देते ही मन में द्वेष या राग उत्पन्न हो जाता है, यद्यपि वे प्रतिकृतियाँ वर्तमान मे हमारा कोई अपकार या उपकार नहीं कर रही हैं तथापि उन शत्रुओ या मित्रो ने पूर्व मे जो अपकार या उपकार किये होते हैं उनके स्मरण मे वे प्रतिकृतियाँ निमित्त होती हैं। उसी प्रकार यद्यपि अर्हन्त एव सिद्ध प्रभु के प्रतिबिम्बो मे अरहन्त और सिद्ध भगवान के अनन्त चतुष्टयादि गुण नहीं हैं तथापि उन जिनेन्द्रो से सादृश्य होने के कारण और तदाकार स्थापना निक्षेप से वे अरहन्त और सिद्ध के गुण स्मरण कराने मे परम निमित्त होते है। वह गुणों का स्मरण अनुरागात्मक होता है, अत वह भक्त को ज्ञान और दर्शन मे लगाता है और वे ज्ञान-दर्शन महान् सवर तथा निर्जरा करते हैं, अत आप सब चैत्य अर्थात् अर्हन्त और सिद्धो के कृत्रिम एव अकृत्रिम प्रतिबिम्बो की भावपूर्वक भक्ति करो।

प्रश्न - वात्सल्य का क्या भाव है और इसके लिए गुरु का क्या निर्देश है ?

उत्तर - यहाँ वात्सल्य का अभिप्राय प्रवचनवात्सल्य से है। इसके लिए गुरु कहते हैं कि हे मुनिगण! जिन ग्रन्थो मे जीवादितत्त्वो का वर्णन है, जो जिनेन्द्र द्वारा कथित और ससारभीरु आचार्यो द्वारा लिखित हैं ऐसे ग्रन्थो का स्वाध्याय करने मे आप सब सदा प्रयत्नशील रहना। सोना, हँसना, खेलना, आलस्य और लोकव्यवहार इन सबका परित्याग कर मात्र स्वाध्याय करो और जिनेन्द्रकथित आगम पर ही अपना वात्सल्य रखो। स्वाध्याय मे रत रहने के लिए सकल्प करो कि मै हास्य, क्रीडा तथा गल्पवाद का त्याग करता हूँ। मै आलस्य का त्याग कर मुनिधर्म के योग्य क्रियाओ मे ही उद्यत रहने का सकल्प करता हूँ। मैं निद्रा को अच्छी नहीं मानता, अत उस पर विजय प्राप्त कर त्रैलोक्य मे महान् ऐसे जिनागम पर हृदय से प्रफुल्लित होते हुए स्वाध्याय मे रत होता हूँ, इत्यादि।

परीषह सहन करने का उपदेश

मा स्म धर्मधुरं त्याक्षुरभिभूताः परीषहैः।
दुस्सहै. कण्टकैस्तीक्ष्णैर्ग्रामेयक-वचो-मयै. ॥३०६॥

अर्थ - भो मुनिगण ! आप दु सह परीषहो से और ग्रामीणो द्वारा बोले गये तीक्ष्ण आक्रोश वचन रूपी काँटो से पराभूत होकर भी धर्म की धुरा के भार को मत त्यागो ॥३०६॥

प्रश्न - परीषहो मे आक्रोशवचनजय परीषह का भी अन्तर्भाव हो जाता है, फिर उसे अलग से क्यो कहा गया है ?

उत्तर - क्षुधा-तृषा आदि परीषह सहन करना सहज है किन्तु हृदय को तीक्ष्ण काँटो सदृश विदीर्ण करनेवाले आक्रोश वचन सुनकर समता परिणाम रखना कठिन है, अत आचार्य समझा रहे हैं कि अन्य परीषहो

के समान आक्रोश वचन सुनकर भी समता रखना। वचनो की मार से पीड़ित होकर कभी धर्म की धुरा सदृश क्षमा एव चारित्र आदि गुणो का त्याग नहीं कर देना।

तपश्चरण में उद्यत रहने का उपदेश

ध्रुव-सिद्धिश्चतुर्ज्ञानस्तीर्थकृत् त्रिदशार्चित: ।
अनिगुह्य बलं वीर्यमुद्यत: कुरुते तप: ।।३०७।।

अर्थ - जो मति, श्रुत, अवधि और मन पर्ययज्ञान के धारी हैं, तपकल्याणक पर्यन्त अर्थात् तीन कल्याणको मे देवगणो से पूजा को प्राप्त हो चुके हैं तथा जिन्हे सिद्धि की प्राप्ति नियमत होनी ही है, वे तीर्थंकर प्रभु भी अपने बल और वीर्य को न छिपा कर तप-विधान मे उद्यम करते हैं।।३०७।।

प्रश्न - तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसके द्वारा भव्यजीव ससार-समुद्र से तिरते हैं उसे तीर्थ कहते है। या कुछ भव्य जीव श्रुत एव श्रुतधारी गणधरो का अवलम्बन लेकर भी ससार-समुद्र को तिरते हैं, अत श्रुत और गणधरो को भी तीर्थ कहते हैं। या रत्नत्रय मार्ग से भी ससार तिरा जाता है, अत रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग भी तीर्थ है। जो ऐसे तीर्थ को प्रचलित करते है उन्हे तीर्थंकर कहते हैं। ऐसे तीर्थकर भी जब तप करते हैं तब अन्य मुनिजनो को तो वह तप अवश्य ही करना चाहिए।

मुमुक्षूणां किमन्येषां, दु:खक्षपण-काङ्क्षिणाम्।
न कर्तव्यं तपो घोरं, प्रत्यावायाकुले जने।।३०८।।

अर्थ - (जब तीर्थंकरो को भी तप में उद्यम करना होता है तब) दुखो का क्षय करने के इच्छुक अन्य मुमुक्षु जनो की क्या बात है ! विघ्नो से भरे हुए इस लोक मे सामान्य मुनियो को तप क्यो नहीं करना चाहिए ? अवश्य ही करना चाहिए।।३०८।।

प्रश्न - लोक मे मुख्यत ऐसी कौन-कौन सी बाधाएँ हैं, जिस हेतु आचार्य ने तप मे उद्यमशील रहने की प्रेरणा दी है ?

उत्तर - यह लोक मृत्यु, शरीर-बलनाश, व्याधि और राग-द्वेषादि अपरिमित बाधक कारणो से भरा हुआ है। इसके अतिरिक्त सबसे बडा कष्ट यह है कि इन मृत्यु एव व्याधि आदि के आने का समय ज्ञात नहीं होता। मृत्यु के रहने का कोई देश, प्रान्त, नगर, ग्राम और प्रदेश नियत नहीं है। यह सर्वाकाश मे भ्रमण करती है। जहाँ सूर्य की किरण भी प्रवेश नहीं कर पाती वहाँ भी मृत्यु का प्रवेश सहज-साध्य है। तथा ग्रीष्म, शीत, वर्षा एव हेमन्तादि ऋतु, सोमवार आदि वार, रात्रि या दिन, प्रात या सन्ध्या, घण्टा, मिनिट या सेकेण्ड आदि कोई काल नियामक नहीं है कि वह क्षेत्र मे, किस काल में और किस जीव को ग्रसित कर ले। मृत्यु आ जाने पर ससार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उस जीव को उससे बचा सके। मार्जार की दाढो के बीच दबा हुआ चूहा तो कथचित् बचाया जा सकता है किन्तु मृत्यु के मुख मे प्रवेश किये हुए को बचाना सम्भव नहीं है।

यदि किसी की मृत्यु आने में दस-बीस या पच्चीस वर्ष की देर भी हो तो जैसे पर्वत आदि पर अचानक वज्रपातादि हो जाता है वैसे ही मानवशरीर मे अचानक किसी-न-किसी रोग का आक्रमण हो जाता है। जैसे डण्ठल मे फल तभी तक स्थित रहता है जब तक वायु का प्रबल झोका नहीं आता, उसी प्रकार शरीर मे आयु, बल, वीर्य, रूप एव नीरोगता तभी तक स्थिर रहते है जब तक शरीर मे रोग नहीं आता। शरीर मे व्याधि उत्पन्न हो जाने के बाद सहज सुख-शान्ति एव निराकुलता पूर्वक व्रत, नियम तथा सयम आदि के द्वारा आत्म-कल्याण भी नहीं किया जा सकता।

राग रूपी प्रबल शत्रु का ससर्ग तो इस जीव के साथ अनादिकाल से है। यदि कुछ समय तक व्याधियो का आक्रमण भी न हो तो भी यह भीतर बैठा हुआ राग रूपी शत्रु अवा की आग के सदृश मानव मन को अहर्निश सतापित करता रहता है। जैसे मकान के चारो ओर धधकती हुई अग्नि गृह स्वामी के चित्त को भी पीडित करती है उसी प्रकार रागरूपी धधकती हुई अग्नि साधुओ के चित्त को भी पीड़ित करती रहती है। इस प्रकार राग रूप यह शत्रु, मित्र का वेष धारण कर शत्रु से बढकर जब मुनिजनो के चित्त को पीडा देता है तब समता भाव मे स्थिर रहना कठिन होता है। पित्त का विकार वैद्य के कुशल प्रयोगो से शान्त हो जाता है किन्तु सबसे अधिक अहित करनेवाले इस राग के उदय को शान्त करने के लिए प्रशम भाव की प्राप्ति दुर्लभ है। जैसे पित्तशमन हो जाने पर काम में चित्त लग जाता है उसी प्रकार रागोत्पादक कर्म का उपशम होने पर प्रशम भाव जाग्रत हो जाता है और उसी समय आत्मकल्याण करने की शक्ति प्रगट हो जाती है। इस प्रकार हे साधुजन ! अवसर मत चूको। जब तक मृत्यु, व्याधि और राग ये बाधक कारण उपस्थित नहीं हुए तब तक अवश्य करणीय ऐसे सम्यक्तप मे उद्योग कर कर्मनिर्जरा कर लो।

वैयावृत्य करने का उपदेश

शक्तितो भक्तित: सङ्घे, वत्सलास्ते चतुर्विधे।
वैयावृत्यकरा: शश्वज्जिनाज्ञा-निर्जरार्थिन: ।।३०९ ।।

अर्थ - बालमुनि और वृद्धमुनियो से युक्त ऐसे चतुर्विध सघ की वैयावृत्य करने मे हे मुनिवृन्द! आप अपनी शक्ति एव भक्ति से सदा उद्यत रहो। सर्वज्ञदेव की आज्ञापालन तथा कर्मनिर्जरा की सिद्धि के लिए आप सबको वात्सल्य भाव से वैयावृत्य करना चाहिए, क्योकि वैयावृत्य तप है और तप से निर्जरा होती है ।।३०९ ।।

वैयावृत्य करने की विधि

उपधीनां निषद्याया:, शय्याया: प्रतिलेखनम्।
उपकारोऽन्न-भैषज्य-मलत्यागादि-गोचर. ।।३१० ।।

मार्गे चोरापगा-राज-दुर्भिक्ष-मरकादिषु।
वैयावृत्य विधातव्यं, सरक्षा-संग्रहं सदा ।।३११ ।।

अर्थ - पीछी-कमण्डलु आदि उपकरणो का, बैठने के स्थान और आसन आदि का तथा शिला, तृण, चटाई, फलक अर्थात् पाटे आदि की शय्या का शोधन करके, निर्दोष आहार-पान तथा निर्दोष औषधि की व्यवस्था करके तथा अशक्त साधु के मल-मूत्र को साफ करके उनका उपकार करना वैयावृत्य है ।।३१० ।।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना, चोरो ने सताया है या नदी अथवा नदी को रोकनेवालो ने सताया है, या दुष्ट राजा आदि ने पीड़ित किया है तो उन्हे सान्त्वना देकर शान्ति पहुँचाना, दुर्भिक्ष तथा महामारी आदि रोगों से व्याप्त क्षेत्र से विहार कराकर सुभिक्ष एव निरापद देश में लाना, तथा अन्य भी ऐसे अनेक कारण उपस्थित हो जाने पर उनका सदा सरक्षण करना वैयावृत्य है ॥३११॥

वैयावृत्य न करने मे दोष

समर्थो न विधत्ते यो, वैयावृत्यं जिनाज्ञया।
अप्रच्छाद्यं बलं वीर्यमतो निर्धर्मक: स-क:? ॥३१२॥

आज्ञाकोपो जिनेन्द्राणां, श्रुत-धर्म-विराधना।
अनाचार: कृतस्तेन, स्वपरागम-वर्जनम् ॥३१३॥

अर्थ - अपने बल और वीर्य को न छिपानेवाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के द्वारा निर्देशित क्रमानुसार यदि वैयावृत्य नही करता है, तो वह निधर्मा अर्थात् धर्म से बहिष्कृत है। उससे अन्य अधार्मिक और कौन हो सकता है? ॥३१२॥

वैयावृत्य न करने से जिनेन्द्राज्ञा का उल्लघन, आगम मे कहे हुए धर्म का नाश, अनाचार और उस साधु की आत्मा का, पर का अर्थात् साधुवर्ग का एव आगम का परित्याग होता है॥३१३॥

प्रश्न - इन दोनो श्लोको का स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर - इन दोनो का स्पष्ट भाव इस प्रकार है -

आज्ञाकोप - 'वैयावृत्य करना चाहिए' ऐसी जिनेन्द्र की आज्ञा है। इसके उपरान्त भी जो वैयावृत्य नहीं करता, वह जिनेन्द्र की आज्ञा को भग करता है। यह आज्ञाकोप है।

श्रुत-धर्मविराधना - वैयावृत्य न करने से शास्त्र मे कहे गये धर्म का नाश होता है। अर्थात् यदि वैयावृत्य करनेवाले नहीं होगे तो साधुजन मुनिधर्म का पालन नहीं कर सकेगे। इस प्रकार शास्त्रोक्त धर्म की विराधना होगी।

अनाचार - जिनेन्द्र ने वैयावृत्यरूप तप को आचार कहा है। जिसने वैयावृत्यरूप तप नहीं किया उसे अनाचार का दोष लगा।

स्व-परागम-वर्जन - वैयावृत्य करना अभ्यन्तर तप है। इस तप मे उद्यम न करने से स्वय की आत्मा का, आपत्ति मे अर्थात् सकट-ग्रस्त अवस्था मे उपकार न करने से साधुवर्ग का और आगमविहित आचरण न करने से आगम का त्याग हुआ।

वैयावृत्य करने में सोलह गुण हैं-

गद्य - १. गुणपरिणाम, २ श्रद्धा, ३. वात्सल्य, ४ भक्ति, ५ पात्रलाभ, ६ सन्धान, ७ तप, ८ पूजा, ९. तीर्थ-अविच्छित्ति, १०. समाधि, ११. जिनाज्ञा, १२. संयम-साहाय्य, १३ दान, १४. निर्विचिकित्सा, १५ प्रभावना, १६. संघकार्याणि वैयावृत्यगुणा:।

१ गुणपरिणाम

दह्यते सकलो लोको, महता मोह-वह्निना।
धग्धगित्येष कुर्वाणो, महावेदनया स्फुटम्॥३१४॥

अर्थ - अति महान् मोह रूपी अग्नि से यह सम्पूर्ण लोक धग्-धग् जल रहा है और महाघोर वेदना से उसके अग फूट रहे हैं॥३१४॥

तत्र विध्यापिते सद्यो, भूयसा ज्ञानपाथसा।
मग्ना दम-पयो राशौ, सुखायन्ते तपोधनाः॥३१५॥

अर्थ - उस मोहरूपी अग्नि को विशाल ज्ञानरूपी जल से तत्काल बुझा देने पर वे तपोधन इन्द्रिय-दमन रूपी महासागर मे निमग्न होते हुए सुखी हो जाते है॥३१५॥

निगृहीतेन्द्रिय-द्वारैः सर्वचेष्टा-समाहितैः।
धन्यस्तपः समीरेण, धूयन्ते कर्म-रेणवः॥३१६॥

अर्थ - जिनमे सर्व चेष्टाएँ समाहित हैं ऐसे इन्द्रियद्वारो को रोकनेवाले धन्य पुरुषो द्वारा तपरूपी वायु से कर्म-धूलि उडा दी जाती है॥३१६॥

इत्थं गुणपरिणामो, विद्यते यस्य निश्चितः।
साधूनां भव्य-बन्धूनां, वैयावृत्यं तनोति स·॥३१७॥

अर्थ - इस प्रकार के गुण-परिणाम नियमत उसी के होते है जो भव्यजीवो के बन्धु स्वरूप साधुजनो की वैयावृत्य करता है॥३१७॥

प्रश्न - मोहरूपी अग्नि, दमरूपी महासमुद्र और तपरूपी समीरण आदि रूपको द्वारा गुणपरिणाम के विषय मे क्या कहा गया है ?

उत्तर - यह लोक अज्ञानरूपी अग्नि से अर्थात् 'यह मेरा है' और 'मै इसका स्वामी हूँ' इस प्रकार का अज्ञान समस्त वस्तुओ मे अग्नि के समान फैलाव से जल रहा है। इस अज्ञान ने समस्त वस्तुओ को अपने मे समाहित कर लिया है। इस अग्नि मे मात्र तिर्यंच और मनुष्य ही नहीं अपितु चतुर्निकाय के देव भी जल रहे है। अर्थात् वे गाढ अज्ञान से ग्रसित होने के कारण वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने मे असमर्थ है। इनमे महामुनीश्वर ज्ञानमय जलप्रवाह से अज्ञानरूपी अग्नि को बुझाकर सशय, विमोह और अनध्यवसायादि वेदना से मुक्त हो चुके है। 'देह ही मै हूँ' अनादिकालीन यह मिथ्या भ्रान्ति उनके हृदय से नष्ट हो चुकी है। 'देह और आत्मा सदैव भिन्न-भिन्न ही है' ऐसा ज्ञान प्रगट हो चुका है। वे जितेन्द्रिय मुनिजन सम्यग्ज्ञान रूप जलप्रवाह से अज्ञानाग्नि को समूल शान्त कर उपशम रूपी महासमुद्र मे निमज्जित हो चुके हैं।

उपयोगात्मक भावेन्द्रियो के आश्रय से जगत् के जीव राग-द्वेष करते हैं जिससे इन्द्रियाँ इष्टानिष्ट स्पर्शादि विषयो मे प्रवृत्त हो जीव को दुखित करती है किन्तु मुनिजन इन्द्रिय-विषयो मे होनेवाले राग-द्वेष को उपशान्त कर अपने मन को रत्नत्रय मे एकाग्र करते है, जो भी चलने, बोलने, आहार लेने, वस्तु रखने-उठाने एव मल-

मूत्र आदि निक्षेपण करने की क्रियाएँ उन्हे करनी पड़ती हैं वे सब प्राणी रक्षण पूर्वक करते हैं तथा सत्कार और लाभ आदि की अपेक्षाओं से पराङ्मुख हो अपने मन को समता भावो मे निश्चल रखते हैं। निरपेक्षस्वभावी वे मुनिराज धन्य हैं। ऐसे ही यतिराज अपनी आत्मा से ससर्गित कर्मरज को तपश्चरणरूपी समीरण अर्थात् महावायु से उड़ा देते हैं।

जिन यतियों की वैयावृत्य कर रहे है उनके महान् गुणों मे वैयावृत्य करनेवाले का जो दृढ अनुराग उत्पन्न होता है उसे ही गुणपरिणाम कहते हैं। अभिप्राय यह है कि इन मुनिराज मे जितेन्द्रियता, रत्नत्रय मे एकाग्रता, समितियों का पालन, पूजा-सत्कारादि से निरपेक्षता और कर्मनाश करने में समर्थ ऐसे तप मे तल्लीनता या तत्परता आदि महान् गुण हैं, यदि मै दत्तचित्त हो इनकी सेवा नहीं करूँगा तो इनके ये महनीय गुण नष्ट हो जावेंगे ऐसा विचार गुणो मे होने वाले अनुराग को प्रगट करता है। इस प्रकार जिनका वैयावृत्य किया जाता है, वे यति उन गुणो से च्युत नहीं हो पाते और वैयावृत्य करनेवाले स्वय उन महनीय गुणो से सुवासित हो जाते है अत. स्व-पर के उपकार हेतु ही जिनेन्द्रदेव ने वैयावृत्य करके गुणपरिणामरूपी गुण को प्राप्त करने की आज्ञा दी है।

२ श्रद्धा गुण

यथा-यथाऽनिशं साधोर्वर्धते गुणवासना।
जिनेश-शासने श्रद्धा, परोदेति तथा-तथा ॥३१८॥

अर्थ - जैसे-जैसे अहर्निश साधु की गुणवासना वृद्धिगत होती है, वैसे-वैसे ही जिनेन्द्रदेव के शासन मे उत्कृष्ट श्रद्धा वृद्धिंगत होती जाती है ॥३१८॥

प्रश्न - यह श्रद्धा कैसे बढती है और इसकी वृद्धि से क्या लाभ है?

उत्तर - वैयावृत्य करते समय उन मुनिराज के गुणो का जैसे-जैसे स्मरण होता है अर्थात् स्मरण द्वारा उनके गुणो मे बहुमान आता है वैसे-वैसे ही उन गुणो मे रुचि वृद्धिगत होती है। उस समय वह प्रफुल्लित होते हुए सोचता है कि-अहो! यह जिनशासन महान् है जिसने हमे ऐसे गुणज्ञ-तपस्वियों की वैयावृत्य करने की आज्ञा प्रदान कर इन गुणो से सुवासित होने का मार्ग दर्शाया। यह श्रद्धा यतियो को रत्नत्रय मे दृढ करती है और ससार से भय उत्पन्न कराती है।

३ श्रद्धा वृद्धि से वात्सल्य गुण की उत्पत्ति

विना गुणपरीणामं, वैयावृत्य करोति नो।
यतस्ततो मुमुक्षूणां, वैयावृत्यं व्यनक्ति सः ॥३१९॥

प्रवृद्ध-धर्म-संवेगः, श्रद्धया वर्धमानया।
यतिः करोति वात्सल्य, लोकद्वय-सुखप्रदम् ॥३२०॥

अर्थ - गुणपरिणाम से ही वैयावृत्य व्यक्त अर्थात् प्रकट होता है, क्योंकि गुणपरिणाम के बिना मुमुक्षुओ की वैयावृत्य कोई नहीं कर सकता ॥३१९॥

श्रद्धागुण की वृद्धि से सवेग भाव रूपी धर्म वृद्धिंगत होता है, ऐसे वृद्धिगत भाववाला साधु इस लोक और परलोक मे सुख देनेवाले वात्सल्य भाव को करता है ॥३२०॥

४ भक्तिगुण

भक्तिरर्हत्सु सिद्धेषु, धर्म-सूरिषु, साधुषु।
वैयावृत्य-कृतोत्कृष्टा, पूजा भवति सेविता॥३२१॥

अर्थ - जो वैयावृत्य करते हैं, वे मानो अरहन्त परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी, रत्नत्रयरूप धर्म के पालक आचार्य, उपाध्याय एव सर्व साधुओं मे परमोत्कृष्ट भक्ति रखते हैं और मानों उनकी पूजा ही करते हैं। अर्थात् वैयावृत्य करने से उनकी भक्ति और पूजा की गई है ऐसा जानना॥३२१॥

अर्हद्भक्तिः परा यस्य, बिभीते भवतो न सः।
येनावगाहिता गङ्गा, स किं नश्यति वह्नितः॥३२२॥

अर्थ - जिसके हृदय मे अरहन्त देव की उत्कृष्ट भक्ति विद्यमान है उसको ससार का भय नहीं होता। जिसने गगा नदी मे अवगाहन किया है वह क्या अग्नि-सन्ताप से नहीं छूट जाता? अवश्यमेव छूट जाता है॥३२२॥

प्रश्न - केवल अरहन्त की भक्ति का माहात्म्य क्यो कहा? और 'ससार का भय नहीं होता' इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर - दृष्टान्त मे जैसे गगा नदी उपलक्षण है। अर्थात् जैसे मात्र गगा नदी मे अवगाह करने से ताप दूर होगा, ऐसा नहीं है किन्तु किसी भी नदी मे अवगाहन करनेवाले का ताप दूर होगा ही। उसी प्रकार यहाँ अरहन्त भक्ति उपलक्षण है। पच परमेष्ठियो मे की हुई भक्ति से ससार का भय दूर होता है। 'ससार का भय नष्ट करती है', अर्थात् जो अरहन्तदेव आदि की भक्ति करता है वह नियमत ससार के परिभ्रमण से छूट जाता है।

ससार-भीरुतोत्पन्ना, निःशल्या मन्दराचला।
जिनभक्तिर्दृढा यस्य, नास्ति तस्य भवाद्भयम्॥३२३॥

अर्थ - जिसके हृदय मे ससार के सवेग से उत्पन्न हुई, तीन शल्यो से रहित और मन्दर मेरुवत् दृढ जिनभक्ति विद्यमान है, उसे ससार-परिभ्रमण का भय नहीं रहता॥३२३॥

प्रश्न - यहाँ नि शल्या, मन्दराचला और जिनभक्ति पदो का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - मिथ्या, माया और निदान इन तीनो शल्यो मे से प्रत्येक शल्य ससार-परिभ्रमण का कारण है, दूसरी बात वैनयिक मिथ्यादृष्टि सर्वत्र भक्ति करता है किन्तु मिथ्या शल्य रहित न होने के कारण मात्र उस भक्ति से ससार-परिभ्रमण नहीं छूट सकता। अत 'नि शल्या' पद से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि, देशव्रती या सकलव्रती की भक्ति ही ससारनाश का हेतु है। 'मन्दराचला' पद से यह सिद्ध होता है कि जैसे सुमेरु पर्वत शाश्वत अचल है, वैसे ही जिनका हृदय सर्वकाल उस निश्छल भक्ति से आप्लावित रहता है और कठिन से कठिन परीक्षा के समय भी जिनकी श्रद्धा-भक्ति कम्पायमान नहीं होती उन्हीं का ससार-परिभ्रमण छूटता है। सासादन सम्यग्दृष्टियो के सदृश अल्पकालिक और भव्यसेन मुनिराज सदृश चलायमान भक्ति से ससार नहीं छूटता।

'जिन' शब्द से पच परमेष्ठियो का और रत्नत्रयरूप धर्म का ग्रहण होता है, क्योंकि अरहन्त भगवान के

सदृश सिद्ध भगवान के भी चार घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं। शेष आचार्य, उपाध्याय और साधुजन उनका नाश करने के लिए उद्यमशील हैं। रत्नत्रयरूप धर्म भी कर्मों का पराभव करता है अत उसे भी जिन कह सकते हैं।

५ पात्रलाभ गुण

निः कषायो यतिर्दान्तः, पात्रभूतो गुणाकरः।
महाव्रतधरो धीरो, लभते श्रुतसागरम् ॥३२४॥

अर्थ - वैयावृत्य करने वाले साधु को कषायो का निग्रह करने वाला, इन्द्रियो का दमन करने वाला, अन्य गुणो का आकर, महाव्रती, धीर और अनेक शास्त्रो का ज्ञाता, ऐसे पात्र का लाभ होता है॥३२४॥

प्रश्न - इस पात्रलाभ का फल किसे प्राप्त होता है?

उत्तर - जैसे पात्र अनेक वस्तुओ को रखने का आधार होता है, वैसे ही जो आत्मा अनेक गुणो को धारण करता है उसे सत्पात्र कहते है। ऐसे सत्पात्र की उपलब्धि के आधार दोनो हो सकते हैं। यथा-आत्मा को सतप्त करनेवाली कषायो को जिसने शमन कर लिया है, राग भाव से उत्पन्न होनेवाले दोषो को शान्त कर लिया है, हिंसादि पाँचो पापो का नवकोटि से त्याग कर महाव्रतो के द्वारा पापास्रव का मार्ग बन्द कर दिया है, जो श्रुतज्ञान रूपी रत्नो का सागर है, धैर्यशाली है और भी अनेक गुणो का भण्डार है ऐसे पात्र का लाभ वैयावृत्य करनेवाले को प्राप्त होता है। अथवा वैयावृत्य करनेवाला साधु उपर्युक्त गुणो का भण्डार है जिसकी प्राप्ति वैयावृत्य करानेवाले साधु को होती है। इस प्रकार परस्पर मे दोनो को पात्रलाभ का प्रसग प्राप्त होते हुए भी यहाँ 'वैयावृत्य करनेवाले को पात्रलाभ होता है', यही अर्थ इष्ट है।

६ सन्धान गुण

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-सन्धानं क्रियते यतः।
रत्नत्रयात्मके मार्गे, स्थाप्येते स्वपरौ ततः॥३२५॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप मे सन्धान अर्थात् नियुक्त किया जाता है। यदि किसी कारण से सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप या सयम आदि का विच्छेद हो गया हो या छिन्न हो गये हो या इनमे कोई त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य के द्वारा उन्हे रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग मे अपनी स्वय की आत्मा का और जिनकी वैयावृत्य कर रहे हैं उनको पुन स्थापित किया जाता है। अर्थात् रत्नत्रय से च्युत हुए साधु को पुन रत्नत्रय मे जोडने का परम सौभाग्य वैयावृत्य करनेवाले को प्राप्त होता है॥३२५॥

प्रश्न - रत्नत्रय आत्मीक गुण है, ये पर के द्वारा कैसे जोडे जा सकते हैं ?

उत्तर - रत्नत्रय आत्मीक गुण हैं, इनमे स्वय का पुरुषार्थ - कार्यकारी होता है यह सत्य है, फिर भी पर का निमित्त आवश्यक होता है। जैसे कोई साधु रोग से या उपसर्ग से या किसी परीषह से ग्रसित हो गये, इस विवशता में यदि रत्नत्रय आत्मा से छूट गया या शिथिल हो गया तो वह वैयावृत्य करनेवालों के द्वारा रोग आदि को शमन कर या उपसर्ग आदि को दूर कर पुन स्थापित कर दिया जाता है। अर्थात् वैयावृत्य करनेवाले रोग आदि का शमन कर देते हैं जिससे वे स्वस्थ होकर पुन· रत्नत्रय से जुड़ जाते हैं। यदि वैयावृत्य न किया जाय

तो सम्भवत· रत्नत्रय के पुन. जुटाने का सौभाग्य उन्हे प्राप्त न हो, इसीलिए सन्धान को वैयावृत्य का गुण माना है।

७ तपगुण

वैयावृत्यं तपोऽन्तस्थं, कुर्वतानुत्तरं मुदा।
वेदनाश्चापदाधारा, भिद्यन्ते कर्म-भूधरा: ॥३२६॥

अर्थ - वैयावृत्य नामक अभ्यन्तर उत्कृष्ट तप को अत्यन्त हर्षपूर्वक करनेवाले साधु के कर्मरूपी पर्वत छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और रुग्ण साधु की आपत्ति की आधारभूत वेदना शान्त हो जाती है॥३२६॥

प्रश्न - वैयावृत्य से रोगी साधु की वेदना शमन हो जायगी, यह तो सत्य है किन्तु कर्मनिर्जरा कैसे होगी? क्योकि निर्जरा तो उपवास आदि तप से होती है ?

उत्तर - तपश्चरण से कर्मनिर्जरा होती है। बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार का है। उपवास आदि बाह्य तप है, इनसे केवल उपवास आदि करनेवालो के कर्मो की निर्जरारूप एक ही लाभ होता है। वैयावृत्य अन्तरग तप है। अपने कार्यों को गौण कर अर्थात् समय निकाल कर दूसरो की सेवा करना, ग्लानि जीत कर दूसरो का मल-मूत्र एव वमन आदि साफ करना, रोगी साधु के मलिन शरीर की शुद्धि आदि करना, उनको शान्तिपूर्वक उठाना-बैठाना आदि कार्य हर्षपूर्वक बिना विसवाद के कर लेना अति दुर्लभ है। इस तप से अपने कर्मो की निर्जरा तो होती ही है किन्तु साथ-साथ रोगी साधु की रोगवेदना शान्त हो जाती है। इस प्रकार इस तप से स्व एव पर के उपकार रूप दो लाभ होते है।

८ पूजा गुण

त्रेधा विशुद्ध-चित्तेन, काल-त्रितय-वर्तिन:।
सर्व-तीर्थकृत: सिद्धा:, साधव: सन्ति पूजिता: ॥३२७॥

अर्थ - वैयावृत्य करनेवाले साधु ने वैयावृत्य करके विशुद्ध चित्त से त्रिकालवर्ती सभी तीर्थंकर, सभी सिद्ध और सभी साधुओ की पूजा की है, ऐसा मै मानता हूँ॥३२७॥

प्रश्न - वैयावृत्य करने मात्र से तीर्थंकरो आदि की पूजा मानना कैसे सम्भव है ?

उत्तर - आज्ञा का पालन करना ही यथार्थत पूजन है। यदि आज्ञापालन न करे और पूजा, आरती आदि करते रहे तो वह पूजा, पूजा नहीं कही जाती। सर्व तीर्थंकरों ने, आचार्यों एव साधु परमेष्ठियो ने यही आज्ञा दी है कि आप सब साधुजन यथाशक्ति वैयावृत्य तप का आचरण करो। अर्थात् रोगी, अशक्त एव उपवास आदि तपो से श्रम को प्राप्त साधुओ की शुद्ध मन से एकाग्रतापूर्वक वैयावृत्य करो। जो साधु इस आज्ञा का पालन करते है वे मानो त्रिकालवर्ती तीर्थंकर आदिकों की पूजा ही करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु दश धर्मों के अन्तर्गत तप भी है और वैयावृत्य एक प्रकार का तप है, अत वैयावृत्य करनेवाले साधु ने मानों तीर्थंकरो, सिद्धो और साधुपरमेष्ठियो की ही पूजा की है, ऐसा समझना चाहिए।

९ तीर्थ अव्युच्छित्ति गुण

सूरि-धारणया सङ्घः, सर्वो भवति धारितः।
न साधुभिर्विना सङ्घो, भूरुहैरिव काननम् ॥३२८॥

अर्थ - जैसे वृक्षों के बिना वन नहीं होता, वैसे ही साधुओ के बिना सघ नही होता, अत· आचार्य को धारण करने से सर्वसघ धारण कर लिया गया है, ऐसा समझना चाहिए॥३२८॥

साधु-धारणया सङ्घः, सर्वो भवति धारितः।
न साधुभिर्विना सङ्घो, भूरुहैरिव काननम् ॥३२९॥

अर्थ - जैसे वृक्षो के बिना वन नहीं होता, वैसे ही साधुओ के बिना सघ नहीं होता, अत साधु के सन्धारण से भी सर्वसघ का सधारण हो जाता है॥३२९॥

प्रश्न - आचार्य के सधारण से सर्वसघ का सधारण कैसे हो सकता है ?

उत्तर - आचार्यदेव सघ के स्तम्भ और सरक्षक होते हैं। वे शिष्यो को रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं, जो साधु रत्नत्रय धारण कर चुके हैं, वे उन्हे उसमे दृढ करते हैं और उत्पन्न हुए अतिचारो को दूर कर उनका रत्नत्रय निर्मल करते हैं।

आचार्य की अमृत वाणीमय उपदेश के प्रभाव से ही सघ गुणो के समूह को धारण करता है, अत आचार्य परमेष्ठी की वैयावृत्य कर उनका सधारण करने से अर्थात् वैयावृत्य द्वारा उन्हे रत्नत्रय मे स्थिर कर देने से सर्व सघ को शान्ति हो जाती है, अत सर्वसघ का सधारण हो जाता है और सघ का सधारण हो जाने से अभ्युदय एव नि श्रेयस् सुख प्राप्ति के साधन स्वरूप धर्म-तीर्थ का विच्छेद नहीं होता। अर्थात् धर्म का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है।

प्रश्न - एक साधु के सधारण से सर्वसघ का सधारण कैसे हो जायेगा ?

उत्तर - आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ ऐसे दश प्रकार के साधु होते हैं। साधुओ के भेद के कारण वैयावृत्य के भी दस भेद कहे गये हैं। आचार्य की वैयावृत्य का माहात्म्य श्लोक ३२८ मे कहा गया है। श्लोक ३२९ मे साधु के सधारण से सर्वसघ का सधारण होना कहा गया है। यहाँ साधु शब्द से उपाध्याय, तपस्वी एव शैक्ष आदि सभी का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् तपस्वी, शैक्ष आदि किसी एक का धारण करने से सर्वसघ का सधारण हो जाता है क्योकि साधु ही सघ है, साधु से सघ और सघ से साधु सर्वदा भिन्न नहीं होते। समुदाय और अवयव परस्पर मे कथचित् अभिन्न होते हैं, इस प्रकार सघ की या किसी एक-एक साधु की भी वैयावृत्य करने से रत्नत्रय की धारा अविच्छिन्न प्रवहमान रहती है।

१० समाधिगुण

एवं गुणपरीणाम-प्रमुखैर्विविधैः परैः।
प्राप्यते वर्तमानेन, समाधिः सिद्धि-शर्मणा ॥३३०॥

अर्थ - इस प्रकार उपर्युक्त क्रम से कहे गये गुणपरिणाम आदि नौ गुणों के द्वारा सिद्धिसुख में प्रवर्तनरूप

समाधि अर्थात् एकाग्रता नामक गुण की प्राप्ति होती है ॥३३०॥

प्रश्न - कार्यसिद्धि के लिए कारण आवश्यक क्यो हैं और गुणपरिणाम आदि नौ कारण समाधि रूप कार्य की सिद्धि कैसे करते हैं ?

उत्तर - कारणों का सग्रह किये बिना इष्ट कार्य की सिद्धि कदापि नहीं होती और कारणो का सग्रह तब किया जाता है, जब कार्य करने का भाव जाग्रत होता है। जैसे मन मे घड़ा बनाने का विचार आने पर ही कुम्भकार उसे बनाने के लिए दण्ड, चक्र, मृत्तिकादि कारण समुदाय की प्राप्ति मे प्रवृत्ति करेगा। यहाँ समाधि गुण का प्रकरण है। सिद्धिसुख मे चित्त की एकाग्रता होना समाधि है। वैयावृत्य करने से इस एकाग्रता रूप समाधि का सरक्षण होता है, यह सिद्धान्त है। जब साधु के सिद्धिसुख मे एकाग्रता नामक गुण-प्राप्ति के भाव बनते हैं तब वे गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धान, तप, पूजा और तीर्थाव्युच्छित्ति ऐसे नौ क्रमों से उत्कृष्ट आचरण करते हैं और जब इन कारणों मे आचरण रूप विशिष्ट आदर किया जाता है तब वैयावृत्य करनेवाली भावना सिद्धिसुख की एकाग्रता मे परिणत हो जाती है। अर्थात् वैयावृत्य करनेवाले को, शुद्ध चित्त से वैयावृत्य करने के कारण उपर्युक्त नौ गुण प्राप्त हो जाते है, तब उनकी वैयावृत्य करनेवाली अभ्यन्तर परिणति स्वयमेव सिद्धिसुख की एकाग्रता मे परिणत हो जाती है, क्योकि गुणपरिणामादि नौ गुण सिद्धिसुख की प्राप्ति के उपाय है, अत वे आत्मा से सिद्धिसुख की एकाग्रता रूप समाधि को जोड़े बिना नहीं रहेगे।

११-१२ जिनाज्ञा गुण और सयम-साहाय्य गुण

जिनाज्ञा पालिता सर्वा, विजित्य गुणहारिणः।
कृतं सयम-साहाय्यं, कषायेन्द्रिय-वैरिणः ॥३३१॥

अर्थ - वैयावृत्य करनेवाला साधु सर्व जिनेन्द्रदेवो की आज्ञा का पालन करता है और गुणो को नष्ट करनेवाले कषाय तथा इन्द्रिय रूपी वैरियो को जीत कर सयम-रक्षण मे सहायक बनता है ॥३३१॥

प्रश्न - वैयावृत्य करनेवाले को जिनेन्द्रदेवो की आज्ञा का पालक क्यो कहा जाता है?

उत्तर - भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा है कि साधुजन अवसर आने पर परस्पर वैयावृत्य करके अपने वैयावृत्य नामक अभ्यन्तर तप की वृद्धि करे और जिनकी वैयावृत्य का अवसर प्राप्त हुआ है उनके रत्नत्रय का सरक्षण एव सवर्धन करे। यही कारण है कि वैयावृत्य करनेवाले को जिनाज्ञा का पालक कहा जाता है।

प्रश्न - सयम-साहाय्य गुण से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - जैसे दीपक स्वय जलता है, स्व-पर को प्रकाशित करने के लिए उसे अन्य की आवश्यकता नहीं पडती, किन्तु जब वायु के झोके आते हैं तब हाथ की आड देकर दूसरे जन उसके सरक्षण मे सहायक होते हैं। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय एव अन्य साधुजन सयम एव तप आदि के भण्डार होते हैं किन्तु यदि कदाचित् कषायादि का उद्वेग उत्पन्न हो जाय तो वैयावृत्य करनेवाले कषाय और इन्द्रियो के दोष बताकर कषाय एव इन्द्रियो के निग्रह मे सहायक होते है।

यदि कभी आचार्य या अन्य साधुजन व्याधि आदि से पीड़ित हो जाते हैं तथा बिना सक्लेश के रोग

परीषह को सहने में असमर्थ होते हैं, तब उनकी वैयावृत्य करने से तप एव संयम का रक्षण होता है। अन्य दूसरो से स्वय की वैयावृत्य करा कर अथवा वैयावृत्य करनेवालो की अनुमोदना करके स्वास्थ्य लाभ करनेवाला अर्थात् रोगादि से निवृत्त हो जानेवाला साधु दूसरों की आपत्तियों को दूर कर स्वय के सदृश उनके सयम एव तप की भी रक्षा करता है। इस प्रकार सयम के रक्षण मे सहायक होने से वैयावृत्य करनेवाले में सयम-साहाय्य गुण प्रगट होता है।

१३-१६ दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना एव सघकार्य नाम के शेष चार गुण

दत्तं सातिशयं दानमचिकित्सा च दर्शिता।
सङ्घस्य कुर्वता कार्यं, वाक्यं भावयतार्हताम्।।३३२।।

अर्थ - सर्व दानो मे रत्नत्रय का दान सर्वश्रेष्ठ है। वैयावृत्य करनेवाला रत्नत्रय रूप सातिशय दान देता है। निर्विचिकित्सा गुण का प्रदर्शन होता है। अर्हन्त प्रभु के वाक्यो की अर्थात् प्रवचन की प्रभावना होती है और सघ के करने योग्य कार्य का सम्पादन होता है।।३३२।।

प्रश्न - इन चारो गुणो का विशेष भाव क्या है ?

उत्तर - सातिशयदान - अन्य सब दानो की अपेक्षा रत्नत्रय का दान सर्वश्रेष्ठ है, कारण कि रत्नत्रय से जीव ससार-समुद्र को पारकर मोक्षसुख प्राप्त कर लेता है। रोग आदि के कारण विचलित होने वाले साधु को वैयावृत्य करनेवाले तप आदि मे स्थिर कर देते हैं, अत उनके इस महान् कार्य को सातिशय दान देना कहा गया है। वैयावृत्य करनेवालो मे ही ऐसा दान देने का सामर्थ्य है।

अचिकित्सा अर्थात् निर्विचिकित्सा - निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दर्शन का एक अग है और अनिर्विचिकित्सा सम्यक्त्व के पच्चीस दोषो मे एक दोष है। रुग्ण साधु की सेवा करते समय उनके शरीर से निकला हुआ मल-मूत्र, वमन एव फोडे-फुन्सियो से निकलनेवाली पीव आदि को बिना जुगुप्सा के साफ कर देने से द्रव्यविचिकित्सा का त्याग हो जाता है और उसके निर्विचिकित्सा गुण का बाह्य मे भी स्पष्ट प्रदर्शन हो जाता है तथा निर्विचिकित्सा अग दृढ हो जाता है।

प्रभावना - प्रभावना भी सम्यक्त्व का एक अग है। जिनागम मे वैयावृत्य करने का उपदेश दिया गया है। वैयावृत्य करनेवाला अपने हृदय मे जिनेन्द्र के वाक्यो को भावित कर अर्थात् जिनागम के उपदेश को हृदय मे धारण कर उसके अनुसार वैयावृत्य करता है, अत धर्म की प्रभावना होती है। इससे भी सम्यक्त्व दृढ होता है।

संघ कार्य - सघ का प्रमुख कार्य धर्मपालन है। यह धर्मपालन स्वत. तो होता ही है किन्तु रुग्ण आदि हो जाने पर वैयावृत्य करनेवाले साधुजन उसका पालन कराते हैं, इसलिए संघ को अपना कर्त्तव्य सम्पादन करने का श्रेय प्राप्त होता है।

वैयावृत्य के फल का माहात्म्य

एवं गुणाकरीभूतं, वैयावृत्यं करोति यः।
लभते तीर्थकृन्नाम, त्रैलोक्य-क्षोभ-कारणम्।।३३३।।

अर्थ - इस प्रकार जो साधु गुणपरिणाम आदि गुणों की खान स्वरूप वैयावृत्य करता है, वह तीन लोक में हलचल कर देनेवाले तीर्थंकर नामकर्म को प्राप्त करता है॥३३३॥

प्रश्न - क्या वैयावृत्य करनेवाले सभी साधुजन तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करते हैं?

उत्तर - नहीं, वैयावृत्य करने का यह उत्कृष्ट फल कहा गया है। किसी भी कर्मप्रकृति के बन्ध में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का साहाय्य आवश्यक है। कार्य करते समय भावो की विशुद्धि एव द्रव्य, क्षेत्र आदि उत्कृष्ट, मध्यम एव जघन्य जैसे-जैसे प्राप्त होते हैं वैसा-वैसा फल प्राप्त होता है। यदि तीर्थकर प्रकृति का बन्ध न भी हो तो भी नीरोग और रूपवान शरीर, बल, वीर्य, धैर्य एव तेज आदि तो सहज ही प्राप्त हो जाते है।

लभमानो गुणानेवं, वैयावृत्य-परायण:।
स्वस्थ: सम्पद्यते साधु:, स्वाध्यायोद्यत-मानस:॥३३४॥

अर्थ - वैयावृत्य मे तत्पर साधु बहुत से महान् गुण प्राप्त कर लेता है, जब कि केवल स्वाध्याय मे रत साधु अपने ही प्रयोजन मे लगा रहता है॥३३४॥

प्रश्न - वैयावृत्यरत और स्वाध्यायरत इन दोनो मे कौन साधु श्रेष्ठ है और क्यो ?

उत्तर - स्वाध्याय मे तत्पर रहनेवाले साधु से वैयावृत्य करनेवाला साधु श्रेष्ठ है, कारण कि स्वाध्याय मे सलग्न साधु मात्र स्वयम् की ही आत्मोन्नति करता है, जबकि वैयावृत्य मे तत्पर साधु स्वय को भी और अन्य को भी उन्नत बनाता है। स्वाध्याय करनेवाले साधु पर यदि कोई विपत्ति आ जाती है तो उसे भी अपनी विपत्ति दूर कराने के लिए वैयावृत्य करनेवाले का मुखापेक्षी होना पड़ता है।

आर्यिका संसर्ग दोष

त्याज्यार्या-सङ्गतिर्गरवद्, वह्निज्वालेव तापिका।
दुर्नीतेरिव निन्द्याया:, दुष्कीर्तिं लभते तत:॥३३५॥

अर्थ - साधुजनो को आर्यिका की सगति नहीं करनी चाहिए, क्योकि यह सगति विषसदृश प्राण नाशक और अग्नि की ज्वाला सदृश सन्तापकारी है। अन्याय और निन्दा करने से जैसे अपयश होता है, वैसे ही आर्यिका की सगति करनेवाले मुनि का अपयश होता है॥३३५॥

प्रश्न - आर्या-सगति को विष और अग्निज्वाला तुल्य क्यो कहा है? और अपयश हो जाने से क्या हानि है?

उत्तर - जैसे विष प्राणहरण कर लेता है और अग्नि सन्ताप देती है, उसी प्रकार आर्यिका की सगति साधु के सयमरूपी प्राणो का नाश कर देती है, इसलिए विषतुल्य है और चित्त में सन्ताप उत्पन्न करती है, अत अग्नितुल्य है। आर्यिका का अनुसरण करनेवाला साधु नियमत अपकीर्ति का पात्र बनता है। प्राय पाप एव अपकीर्ति से भयभीत मिथ्यादृष्टि असयमी सामान्य जन भी जब उत्तम आचरण करते हैं, तब योग्यायोग्य को भली प्रकार जाननेवाले साधु को तो अवश्य ही आर्यिका की सगति छोड़ देनी चाहिए।

जितने त्याज्य पदार्थ हैं उन सबको त्यागने के लिए जब मुनिजन उद्यत हुए हैं तब उन्हे पाप और अपयश को ही देनेवाली आर्यिका की सगति अवश्य ही त्याग देनी चाहिए।

पतनशील शरीर का नाश तो अवश्यम्भावी है, उसका रक्षण करने मे कोई समर्थ नहीं है, किन्तु यश का सरक्षण करना हमारा परम कर्त्तव्य है। करोडो वर्ष पूर्व जिनका शरीरनाश हो चुका है वे महापुरुष यश रूपी शरीर से अद्यावधि जीवित हैं, इसीलिए कीर्तिमान मानव को अमर कहा जाता है। अपयशी मनुष्य शरीर से जीवित रहते हुए भी मृतक के समान है क्योंकि अपयश ही मानव का यथार्थ मरण है।

स्थविरस्य प्रमाणस्य, शास्त्रज्ञस्य तपस्विन:।
आर्यिका-सङ्गतेः साधोरपवादो दुरुत्तरः ॥३३६॥

अर्थ - जो स्थविर अर्थात् वृद्ध हैं, प्रमाणभूत हैं, शास्त्रज्ञ हैं और तपस्वी हैं वे भी आर्यिकाओ की सगति से दुस्तर अपवाद को प्राप्त हो जाते है॥३३६॥

न कि यूनोऽल्प-विद्यस्य, मन्दं विदधतस्तप:।
कुर्वाणस्यार्यिका-सङ्गं, जायते जन-जल्पनम्॥३३७॥

अर्थ - (जब वृद्ध और शास्त्रज्ञ आदि गुणविशिष्ट साधु की यह गति होती है तब) जो युवा है, अल्प बुद्धिवाला है अर्थात् जिसे हिताहित का विचार कम है और जो विशेष तपस्वी नहीं है, वह साधु आर्यिका की सगति से लोकापवाद का भागी क्यो नहीं होगा?॥३३७॥

आर्यिका-मानसं सद्यो, यति-सङ्गे विनश्यति।
सर्पिर्वह्नेः समीपे हि, काठिन्य किं न मुञ्चति॥३३८॥
स्वय साधोः स्थिरत्वेऽपि, संसर्ग-प्राप्त-धृष्टता।
क्षिप्रं विभावसोः सङ्गे, सा लाक्षेव विलीयते॥३३९॥

अर्थ - मुनि की सगति से आर्यिका का परिणाम शीघ्र ही विकृत हो जाता है। घृत को अग्नि के समीप रख देने पर क्या वह घृत अपना काठिन्यपना नहीं छोड देता है? अवश्य छोड देता है॥३३८॥

जैसे अग्नि के सम्पर्क से लाख शीघ्र ही विलीन हो जाती है, वैसे ही स्वय अपने आप एकदम स्थिर-चित्त साधु भी आर्यिका की सगति प्राप्त कर धृष्टता को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् शीघ्र ही चचल हो उठता है, अत मुनि एव आर्यिका दोनो को ही अन्योन्य परिचय या ससर्ग छोड देना चाहिए॥३३९॥

अविश्वस्तोऽङ्गना-वर्गे, सर्वत्राप्यप्रमादकः।
ब्रह्मचर्यं यतिः शक्तो, रक्षितुं न परः पुनः॥३४०॥

अर्थ - जो साधु स्त्रीवर्ग मे सर्वत्र प्रमादरहित होता है और कभी उनका विश्वास नहीं करता, वही साधु जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करने मे समर्थ हो सकता है, किन्तु जो इससे विपरीत प्रवृत्ति वाला है वह साधु ब्रह्मचर्यव्रत का अन्त-पर्यन्त निस्तार नहीं कर सकता॥३४०॥

प्रश्न - अप्रमादी रहने का क्या भाव है और स्त्रीवर्ग से कौन-कौनसी स्त्रियो का ग्रहण होता है?

उत्तर - यहाँ स्त्रीवर्ग से बाला, कन्या, तरुणी, समवयस्का, वृद्धा, भिक्षुणी, तपस्विनी, सुरूपा, कुरूपा एव गूँगी आदि सभी प्रकार की स्त्रियो का विश्वास नहीं करना चाहिए। उनमें अप्रमादी रहना चाहिए। अर्थात्

कभी किसी भी स्त्री की संगति नहीं करनी चाहिए। चलने, बैठने, रहने, आहार करने एव स्वाध्याय आदि में कदाचित् सम्पर्क हो जावे, या प्रसगवश कोई कार्य करना भी पड़े तो अप्रमादी होकर अर्थात् अत्यन्त सावधानीपूर्वक एव उदासीन वृत्ति से करे ताकि उनका आकर्षण न बने।

आर्यिकाओं के अनुचरण में दोष

विमुक्तः सर्वतो जातः, सर्वत्र स्ववशो यतिः।
आर्यिकानुचरीभूतो, जायतेऽन्य-वशः पुनः ॥३४१॥

अर्थ - जो साधु धन-धान्य एव गृहादि समस्त परिग्रहो से मुक्त है, वह सर्वत्र अपने को अपने वश मे रखता है, किन्तु वही साधु आर्यिका का अनुगामी होकर पुन स्त्री, धन एव धान्यादि परिग्रह के वश हो जाता है ॥३४१॥

आर्यिका-वचने योगी, वर्तमानो दुरुत्तरे।
शक्तो मोचयितुं न स्वयं, श्लेष्ममग्नेव मक्षिका ॥३४२॥

अर्थ - जैसे कफ मे फॅसी हुई मक्खी का उससे अपने को छुडा पाना शक्य नहीं है, वैसे ही जिसके हृदय का पार पाना कठिन है ऐसी आर्यिका के वचनो को स्वीकार कर लेनेवाले साधु का उसके स्नेह-बन्धन से छुटकारा पा लेना शक्य नहीं है ॥३४२॥

नार्या बन्धेन बन्धोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिदा यतेः।
वज्रलेपः स नो तुल्यो, यो याति सह चर्मणा ॥३४३॥

अर्थ - साधु के चारित्र का नाश करनेवाला आर्यिका के साथ सहवास ऐसा बन्धन है जिसकी किसी अन्य बन्धन से उपमा नहीं दी जा सकती। चर्म के साथ ही उतरनेवाला वज्रलेप भी उस बन्धन के समान नही है ॥३४३॥

ब्रह्मव्रतं मुमुक्षूणां, स्त्री-संसर्गेण निश्चितम्।
मण्डूकः पन्नगेनेव, भीषणेन विनाश्यते ॥३४४॥

अर्थ - जैसे भीषण सर्प द्वारा मेढक नष्ट कर दिया जाता है, वैसे ही स्त्री-ससर्ग से मुमुक्षु मुनिराजो का ब्रह्मचर्य व्रत नियमत विनष्ट हो जाता है ॥३४४॥

चौराणामिव साङ्गत्यं, पुंसा सर्वस्वहारिणाम्।
योगिना योषितां त्याज्यं, ब्रह्मचर्य- प्रपालिना ॥३४५॥
इत्यार्यासङ्ग-त्यागः।

अर्थ - जैसे सर्वस्व हरण कर लेनेवाले चोरो का सम्पर्क सदा त्याज्य है, वैसे ही साधुओ को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्रियो का सम्पर्क सर्वथा त्याज्य है। अर्थात् ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री-ससर्ग सर्वथा त्याग करने योग्य है ॥३४५॥

इस प्रकार आर्यिका-संगत्याग प्रकरण पूर्ण हुआ ॥

अन्य भी वस्तुओं के त्याग का निर्देश

यद्यदन्यदपि द्रव्यं, किञ्चिद्बन्धन-कारणम्।
तत्तत्त्रिधा निराकृत्य, यतध्वं दृढ-संयमाः ॥३४६॥

अर्थ - (साधुओं को मात्र आर्यिकाओं के ससर्ग से ही दूर नहीं रहना चाहिए अपितु) अन्य भी जो-जो वस्तुएँ साधुओं के किचित् भी बन्धन का कारण हैं, अर्थात् उन्हें परतन्त्र करती हैं, उन-उन वस्तुओं को मन, वचन और काय से त्याग कर सयम को दृढ़ रखने का प्रयत्न करना चाहिए॥३४६॥

भ्रष्ट मुनियों के संसर्ग-त्याग का निर्देश

पार्श्वस्थासन्न-संसक्त-कुशील-मृगचारिणः।
मलिनी-क्रियते शश्वत्कज्जलेनेव सङ्गतम् ॥३४७॥

अर्थ - जैसे काजल का ससर्ग नियमत मलिन करनेवाला होता है, वैसे ही पार्श्वस्थ, आसन्न, ससक्त, कुशील और मृगचारी इन भ्रष्ट मुनियो का ससर्ग सदा ही चारित्र आदि को मलिन करनेवाला होता है॥३४७॥

प्रश्न - पार्श्वस्थ आदि मुनियो का क्या स्वरूप है?

उत्तर - पार्श्वस्थ - सयम का निर्दोष स्वरूप जानते हुए भी जो निरतिचार संयम का पालन नहीं करते किन्तु सयमी या सयममार्ग के समीप रहते है उन्हे पार्श्वस्थ साधु कहते हैं। ये एकान्त से असयमी नहीं होते किन्तु मिथ्यामत मे रुचि रखते हैं, दोषयुक्त आहार ग्रहण करते है, सदा एक ही वसतिका मे रहते हैं, एक ही क्षेत्र मे रहते है, एक ही सस्तर पर सोते हैं, गृहस्थो के घर पर अपनी बैठक लगाते हैं, जिसका शोधन अशक्य है या जो शोधा ही नहीं गया उसे भी ग्रहण कर लेते है, सुई, कैंची आदि वस्तुएँ रखते हैं, सीना, धोना, रगाना, टाँगना, आदि कार्यों मे तत्पर रहते हैं, कारण न होने पर भी अपने पास क्षार चूर्ण, सुहाग चूर्ण, नमक, घी आदि पदार्थ रखते हैं तथा उपकरणो से अपनी आजीविका करते है परन्तु मुनियो के समीप रहते हैं उन्हे पार्श्वस्थ कहते हैं।

आसन्न - ये चारित्र मे सदा शिथिल रहते हैं, सुख-स्वभावी होते हैं, मूल एव उत्तरगुणो मे सदा अतिचार लगाते हैं, परलोक के विषय मे निस्पृह और ऐहिक कार्यो मे तत्पर रहते हैं, स्वाध्याय आदि कार्यों मे उदासीन रहते हैं, पन्द्रह प्रमादों से पूर्ण रहते हैं, आत्मकल्याण के कार्यों से एव समिति-गुप्ति की भावनाओ से कोसो दूर रहते हैं तथा रत्नत्रय की शुद्धि मे उदासीन किन्तु गृहस्थ सदृश आरम्भादि करने मे सलग्न रहते हैं।

संसक्त - ये अयोग्य और अशिष्ट कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, चारित्र से भ्रष्ट, सघ से अलग, इन्द्रिय और कषाय जन्य दोषो से युक्त, तीनों प्रकार के गारवो में आसक्त, स्त्रीविषय मे सक्लेश परिणाम वाले तथा गृहस्थो पर विशेष प्रेम रखने वाले होते हैं। ये राजा या राजनेताओ की सेवा करते हैं; मन्त्र, तन्त्र, वैद्यक एवं ज्योतिष आदि के माध्यम से अपनी आजीविका करते हैं और चारित्रप्रिय साधुओं के साथ चारित्र-प्रिय तथा चारित्र-अप्रिय साधुओ की सगति प्राप्त कर चारित्र-अप्रिय बनकर नट के सदृश आचरण करते हैं।

कुशील - ये इन्द्रिय-चोरो से पीडित और कषाय रूपी श्वापदों से ग्रसित होते हैं, साधुमार्ग का त्याग कर उन्मार्ग में पलायन करते हैं, भ्रष्ट मुनि के सदोष आचरणरूप वन मे उन्मार्ग में भागते हुए आहार, भय, मैथुन

और परिग्रह की वाछा रूप नदी मे पड़ कर दुखरूप प्रवाह मे डूबते रहते हैं, सघ का अविनय करनेवाले, व्रत, गुण और शीलों से रहित तथा प्रगट मे ही कुशील का सेवन करनेवाले होते है।

मृगचारी - जो सघ छोड़कर अकेले ही स्वच्छन्द रूप से विहार करते हैं और जिनेन्द्रदेव के वचनों को दूषित करनेवाले हैं उन्हे मृगचारी अथवा स्वच्छन्दाचारी कहते हैं। ये आगमविरुद्ध और पूर्वाचार्यों द्वारा अकथित आचारो का प्ररूपण करते हैं, सिद्धान्त का स्वरूप अन्यथा ही समझते हैं और अन्यथा ही आचरण करते एव कराते हैं। ये पदार्थों के स्वरूप का या श्रमण सस्कृति के सिद्धान्तों का विवेचन आगमविरुद्ध, स्वेच्छा कल्पित कल्पना के माध्यम से करते हैं। घोर सयम मे प्रवृत्त होते हुए भी ये सम्यक्त्वरूपी रत्न से रहित होते हैं, इनका चारित्ररूपी रत्नो से भरा भण्डार भी इन्द्रिय और कषायरूपी डाकुओ के द्वारा लूट लिया जाता है, तब ये शीलदरिद्री, मिथ्यात्व को प्राप्त होकर जिनप्रणीत सिद्धान्त को अप्रमाण मानते हुए तीव्र दुखो की परम्परा को प्राप्त हो जाते हैं, तब इनका सयमरूपी अभिमान प्रगट में ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

कषायाकुल-चित्तानां, पार्श्वस्थानां दुरात्मना।
भुजङ्गानामिव त्याज्यः, सङ्गच्छिद्र-गवेषिणाम्॥३४८॥

अर्थ - जैसे सर्पों का सहवास सदा ही त्याज्य है, वैसे ही कषाय से आकुलित चित्तवाले, दुष्ट स्वभावी और पर-छिद्रान्वेषी पार्श्वस्थ मुनियो का सहवास सर्वदा छोडने योग्य है॥३४८॥

पार्श्वस्थ मुनियों के सम्पर्क से हानि

लज्जां जुगुप्सन योगी, प्रारम्भ निर्विशङ्कताम्।
आरोहन्प्रियधर्मापि, क्रमेणेत्यस्ति तन्मयः॥३४९॥

अर्थ - पार्श्वस्थ साधु की सगति करते समय पहले लज्जा और ग्लानि करता है, पश्चात् धर्मप्रेमी साधु भी क्रमश लज्जा आदि को छोड़कर परिग्रह आदि मे निश्शक होकर तन्मयतापूर्वक प्रवृत्ति करने लगता है॥३४९॥

प्रश्न - धर्मप्रिय साधु लज्जा आदि कैसे करता है ?

उत्तर - धर्मप्रिय अर्थात् अपने चारित्र मे दृढ साधु भी जब पार्श्वस्थादि साधुओ के ससर्ग मे आने लगता है तब सर्वप्रथम तो उसे लज्जा आती है कि इनका आचरण आगमविरुद्ध है, मैं इनके पास कैसे बैठूँ? मेरे हितैषी मुझे यहाँ देखकर क्या सोचेगे ? इस प्रकार लज्जा करता है किन्तु बार-बार साथ मे उठने-बैठने से लज्जा दूर हो जाती है। पश्चात् अधिक सम्पर्क बढ जाता है तब उनका असयमपूर्ण आचरण दृष्टिगत होता है, तब उसे असयम के प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है कि मै इस अमूल्य सयम का नाश करने मे कैसे उद्यत होऊँ? यह मेरा व्रतनाश का कार्य तो दुख-दायक और दुरन्त ससार मे गिरानेवाला होगा, इत्यादि। पश्चात् बार-बार असयम-प्रवृत्तिजन्य सम्पर्क से ग्लानि भी समाप्त हो जाती है, तब चारित्रनाशक नोकर्म, चारित्रमोहकर्म की उदीरणा मे कारण पडते है जिससे चारित्रमोह प्रकृति के उदय की वशवर्तिता से अतिचारो की उपेक्षा करते हुए व्रतभग रूप अनाचार के लिए उद्यत हो जाता है तथा व्रतभग होते ही वह साधु आरम्भ-परिग्रह आदि मे मन से तन्मय होने लगता है।

तेषु संसर्गतः प्रीतिर्विस्रम्भः परमस्ततः।
ततो रतिस्ततो व्यक्तं, संविघ्नोऽप्यस्ति तन्मयः ॥३५०॥

अर्थ - संसार से भयभीत भी मुनि पार्श्वस्थादि के बार-बार ससर्ग से सर्वप्रथम प्रीतियुक्त होता है अर्थात् उनसे प्रीति करने लगता है। प्रीति हो जाने से उनके प्रति विश्वास बन जाता है, उस विश्वास से उसका मन उन भ्रष्ट साधुओ के प्रति अनुरक्त हो जाता है और उनमे अनुराग हो जाने से अन्त मे स्वय वैसा ही भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् मन से भ्रष्ट होते ही वचन एव काय से भी भ्रष्ट हो जाता है॥३५०॥

शुभाशुभेन गन्धेन, मृत्तिका यदि वास्यते।
तदा नान्य-गुणैरत्र, कथ्यतां पुरुषः कथम् ॥३५१॥

अर्थ - यदि सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध के ससर्ग से मिट्टी भी सुगन्धित या दुर्गन्धित हो जाती है अर्थात् अन्य वस्तुओ के गुणो या दुर्गुणो से जब जड पदार्थ मे भी परिवर्तन आ जाता है तब चेतन-आत्मा मे परिवर्तन कैसे नहीं आवेगा? अवश्य ही आयेगा॥३५१॥

शिष्टोऽपि दुष्ट-सङ्गेन, विजहाति निजं गुणम्।
नीरं किं नाग्नि-योगेन, शीतलत्व विमुञ्चति ॥३५२॥

अर्थ - दुष्टजन के ससर्ग से सज्जन भी अपने गुण छोड देता है। क्या अग्नि के ससर्ग से जल निज शीतलत्व गुण को नहीं छोड देता है ? छोड़ ही देता है॥३५२॥

लाघव दुष्ट-सङ्गेन, शिष्टोऽपि प्रतिपद्यते।
किं न रत्नमयी माला, स्वल्पार्घा शव-सङ्गता ॥३५३॥

अर्थ - दुष्ट के सम्पर्क से शिष्ट पुरुष भी लघुता को प्राप्त हो जाता है। क्या रत्ननिर्मित माला भी शव के सम्पर्क से अल्प मूल्य वाली नहीं हो जाती ? अवश्य हो जाती है॥३५३॥

संयतोऽपि जनैर्दुष्टो, दुष्टानामिह सङ्गतः।
क्षीरपा ब्राह्मणः शौण्डः, शौण्डानामिव शंक्यते ॥३५४॥

अर्थ - दुष्टो की सगति मे आया हुआ सयमी मुनि भी लोगो द्वारा दुष्ट ही माना जाता है। जैसे कि दुग्ध पीनेवाला ब्राह्मण मद्यपायी के सम्पर्क से मद्यपायी रूप से ही शकित किया जाता है॥३५४॥

पर-दोष-परीवाद-ग्राही लोको यतोऽखिलः।
अपवादपदं दोषं, मुञ्चध्वं सर्वदा ततः ॥३५५॥

अर्थ - हे यतिगण ! यह सम्पूर्ण लोक पर के दोष कहने को सदा ही उत्सुक रहता है, अत अपवाद का स्थान ऐसा दोष तुम लोग सर्वथा छोड़ दो॥३५५॥

प्रश्न - यहाँ कौन-कौन से अपवाद स्थान छोड़ने का निर्देश दिया जा रहा है?

उत्तर - आर्यिकाओं का ससर्ग, अन्य महिला वर्ग का ससर्ग, गृहस्थों से अति स्नेह एव ससर्ग, चारित्रभ्रष्ट साधुओं का ससर्ग और भी ऐसे चारित्रघातक ससर्गों का तथा ऐसी वस्तुएँ अपने पास रखना जो चारित्रपालन मे अनावश्यक हैं, असयमीजन द्वारा वांछनीय हो, पापास्रव का कारण हो, जिनेन्द्र आज्ञा से बहिर्भूत हो तथा लोक में अपकीर्ति का कारण हो। ये सब अपवाद के स्थान हैं अत इनका त्याग कर देना चाहिए।

दुर्जनेन कृते दोषे, दोषमाप्नोति सज्जनः।
कादम्बः कौशिकेनेव, दोषिकेणापदूषणः ॥३५६॥

अर्थ - दुर्जन द्वारा दोष किये जाने पर वह सज्जन को प्राप्त हो जाता है। जैसे दुष्ट स्वभावी उल्लू के द्वारा किया हुआ दोष निर्दोष हसपक्षी पर आ पड़ा। अर्थात् महान् तपस्वी भी दुर्जन के दोषो से अनर्थ मे पड़ जाते हैं॥३५६॥

उल्लू और हंसपक्षी की कथा

पाटलीपुत्र नगर के गोपुरद्वार के उपरिम भाग मे एक उल्लू रहता था। किसी एक दिन वह उल्लू किसी एक हस के पास पहुँच गया और दोनो मे गाढ मित्रता हो गई। हसपक्षी उस उल्लू को अतिश्रेष्ठ पक्षी मानता था अत उसकी बातो मे आकर किसी एक दिन वह उस गोपुर द्वार पर उल्लू के साथ आकर बैठ गया। उसी समय उस नगर का राजा प्रजापाल, चतुरग सेना को लेकर दिग्विजय हेतु उस गोपुरद्वार से बाहर निकल रहा था। उल्लू ने राजा के दक्षिणभाग मे जाकर विरस शब्द किया। उस दुष्ट पक्षी का वह अपशकुन सूचक शब्द सुनकर राजा को क्रोध आ गया। उसने धनुष पर बाण चढाकर निशाना बाँधा। उल्लू चालाक था, वह वहाँ से शीघ्र ही उड गया और वह बाण वहाँ बैठे निर्दोष हस को लगा तथा वह उसी क्षण मर गया।

इस प्रकार नीच की सगति से निर्दोष हसपक्षी का प्राणनाश हुआ, अत दुष्टो की सगति कभी नहीं करनी चाहिए।

दुर्जनस्यापराधेन, पीड्यन्ते सज्जना जने।
अपराध-पराचीनाः, पृदाकोरिव डुण्डुभाः ॥३५७॥

अर्थ - लोक मे दुर्जन के अपराध से सज्जन पुरुष पीडा को प्राप्त होते है। जैसे पृदाको के अपराध से निर्दोष डुडुभ पीड़ा को प्राप्त हुआ था॥३५७॥

प्रश्न - पृदाको और डुडुभ कौन थे ? तथा पृदाको ने क्या अपराध किया था, जिसके फलस्वरूप डुडुभ को पीडा हुई ?

उत्तर - जो सर्प अवगाहना मे बहुत छोटा, चचल और महाविषैला होता है उसे पृदाको सर्प कहते हैं। इसके विपरीत जो अवगाहना मे बहुत बड़ा एव निर्विष होता है उसे डुडुभ सर्प कहते हैं। विषैला सर्प किसी को

काट कर छोटा होने के कारण तत्काल छिप जाता है और वहीं पड़े हुए बड़े सर्प को लोग मार डालते हैं। वे समझते हैं कि इसी सर्प ने काटा है। इसी प्रकार अपराध तो करता है दुर्जन किन्तु उसकी सगति मे आया हुआ सज्जन पुरुष उस अपराध का दण्ड भोगता है।

असंयतेन चारित्रं, संयतस्यापि लुप्यते।
सङ्गतेन समृद्धस्य, सर्वस्वमिव दस्युना॥३५८॥

अर्थ - जैसे सम्पर्क में आये हुए चोर के द्वारा समृद्धिशालियों का सर्व धन हरण कर लिया जाता है, वैसे ही असयमी पुरुष के सम्पर्क से सयमीजन का भी चारित्र लुप्त हो जाता है॥३५८॥

दुष्टानां रमते मध्ये, दुष्ट-सङ्गेन वासित:।
विदूरीकृत-वैराग्यो, न शिष्टानां कदाचन॥३५९॥

अर्थ - जिसने अपना वैराग्य भाव छोड दिया है ऐसा व्यक्ति दुष्टो की सगति से वासित हुआ दुष्टो की गोष्ठी मे ही रमता है। दुष्टो की सगति मे फँसा हुआ व्यक्ति शिष्टो की गोष्ठी मे कभी नहीं रमता॥३५९॥

सज्जनों की सगति के गुण

दुष्टोऽपि मुञ्चते दोषं, स्वकीयं शिष्ट-सङ्गत:।
किं मेरुमाश्रित: काको, न धत्ते कनकच्छविम्॥३६०॥

अर्थ - सज्जनो की सगति से दुष्ट पुरुष भी अपने दोष छोड देता है। क्या, सुमेरु पर्वत का आश्रय लेनेवाला काक स्वर्ण की कान्ति को प्राप्त नहीं करता ? अवश्यमेव करता है॥३६०॥

पूजां सज्जन-सङ्गेन, दुर्जनोऽपि प्रपद्यते।
देवशेषा विगन्धापि, क्रियते किं न मस्तके॥३६१॥

अर्थ - सज्जन की सगति से दुर्जन भी पूजा अर्थात् आदर को प्राप्त कर लेता है। क्या, सुगन्धरहित भी फूल ''यह देव का आशीर्वाद है'' ऐसा मान कर सिर पर धारण नहीं किया जाता? अवश्य किया जाता है॥३६१॥

वैराग्यशील सयमी साधुओं की सगति से लाभ

कातरोऽप्रिय-धर्मोऽपि, व्यक्तं संविग्न-मध्यग:।
भी-त्रपा भावनामानैश्चारित्रे यतते यति:॥३६२॥

अर्थ - जिसे धर्म से प्रेम नहीं है तथा जो सयमजन्य दुख सहन करने मे कायर है वह साधु भी वैराग्यवान और ससारभीरु साधुओं के मध्य मे रहने से भय, लज्जा, भावना एव मान आदि से चारित्र पालने के लिए व्यक्त रूप से प्रयत्नशील हो जाता है॥३६२॥

प्रश्न - जिसे धर्म से प्रेम नहीं है और जो कायर है उसे साधु बनने से क्या लाभ है?

उत्तर - जिसे रत्नत्रय मे अभ्यन्तर से रुचि नहीं है किन्तु ख्याति-पूजा की ओर विशेष आकर्षित रहता

है तथा मात्र वचन और काय-सम्बन्धी आस्रवो को रोकनेवाला द्रव्य सयम ही जिसने ग्रहण कर रखा है ऐसा साधु भी जब ससारभीरु तथा वैराग्यशील साधुओ के बीच रहता है तब वह भी अन्य साधुओं की ससारभीरुता देखकर स्वय ससार के दुखो से भयभीत होकर, अथवा अपने हीनाचरण से लज्जायमान होकर, अथवा अहो ! ये साधु धन्य हैं जो अपने चारित्र में दृढ हैं, मुझे दृढचारित्री बनना चाहिए, इस भावना से अथवा जैसा द्रव्य, क्षेत्र और काल इनके लिए है वैसा ही मेरे लिए है फिर मैं कायर क्यो बन रहा हूँ? मैं भी इसी प्रकार का चारित्र पालन कर ससारसागर से पार होने रूप अपने कुलधर्म का निर्वाह करूँगा? इस प्रकार के गौरव से वह अपनी पापक्रियाओ से निवृत्त होने का उद्योग करता है। द्रव्य सयम धारण करने का यह लाभ हुआ कि वह चारित्रवानों की सगति प्राप्त होते ही स्वत भाव सयमी बन गया।

संविग्न: परमां कोटि, साधुः संविग्न-मध्यग:।
गन्धयुक्तिरिवायाति, सुरभि-द्रव्य-कल्पिताम्॥३६३॥

अर्थ - जैसे बनावटी अर्थात् कल्पित गन्ध से युक्त द्रव्य सुगन्धित द्रव्य के ससर्ग से और भी अधिक सुगन्धित हो जाता है, वैसे ही सवेगसम्पन्न मुनियों के मध्य निवास करनेवाला साधु उत्कृष्ट परम कोटि के वैराग्य को प्राप्त हो जाता है॥३६३॥

एकोऽपि सयतो योगी, वरं पार्श्वस्थ-लक्षत:।
सङ्गमेन तदीयेन, चतुरङ्गं विवर्धते॥३६४॥

अर्थ - चारित्रभ्रष्ट या चारित्रहीन पार्श्वस्थादि लक्ष साधुओ की अपेक्षा एक ही सुशील एव सयमी मुनि श्रेष्ठ है क्योकि उस एक उत्तम साधु की सगति से ही सम्यक्त्व आदि चारो आराधनाएँ वृद्धिगत हो जाती हैं॥३६४॥

वरं संयतत: प्राप्ता, निन्दा संयम-साधनी।
न त्वसयतत: पूजा, शील-सयम-नाशिनी॥३६५॥

अर्थ - सयमी तपस्वियो के द्वारा की गई निन्दा और अपमान असयमी जनो द्वारा की गई पूजा या सत्कार से अधिक श्रेष्ठ है, क्योकि असयमी का सहवास शील एव सयम का नाश करनेवाला है और सयमी का सहवास या उसके द्वारा की गई निन्दा सयम की वृद्धि मे कारण है॥३६५॥

प्रश्न - यह शिक्षा किसे लक्ष्य करके दी जा रही है?

उत्तर - जो साधु दृढ सयमी होने के साथ-साथ परोपकारी भी होते हैं वे सघस्थ चारित्रहीन साधु को सर्वप्रथम वात्सल्य एव प्रेम से समझाते हैं किन्तु जब वह अपना हीनाचरण या स्वतन्त्रवृत्ति नहीं छोड़ता तब वे उसे ताडना आदि देकर या उसे निन्दात्मक शब्द बोल कर समझाते हैं, जिसे वह अपना अपमान मानता है। तब वह विचार करता है कि "ये सयमी साधु तो मेरा तिरस्कार करते हैं, डाँटते हैं, सदा मुझे कुछ-न-कुछ कहते ही रहते है, किन्तु वे चारित्रहीन साधु मुझे कभी कुछ नहीं कहते अत वे बहुत अच्छे हैं। मैं तो अब उन्हीं के पास जाकर रहूँगा"। इत्यादि विचार करनेवाले साधु को लक्ष्य करके आचार्यदेव कहते हैं कि चारित्रहीन साधु

द्वारा प्राप्त सम्मान तेरे चारित्र की शुद्धि एव वृद्धि नहीं कर सकता, वे भले सख्या में एक लाख से भी अधिक हो और सच्चारित्री एक ही क्यो न हो, तुझे अपनी आत्मा का हित करने के लिए ताडना या कटुवचन कहनेवाले साधु के पास ही रहना चाहिए।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसहार

गुण-दोषौ प्रजायेते, संसर्ग-वशतो यत:।
संसर्ग: पावन: कार्यो, विमुच्यापावनं तत:।।३६६।।

अर्थ - अच्छे बुरे आश्रय के कारण पुरुष गुण और दोषो को प्राप्त हो जाते हैं, अत· दुष्ट जनो का ससर्ग त्याग कर पवित्र अर्थात् प्रशस्त गुण युक्त पुरुषो का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए।।३६६।।

वाच्यो गणस्थित: पथ्य-मनभीष्टमपि स्फुटम्।
तत्तस्य कटुकं पाके, भैषज्यमिव सौख्यदम्।।३६७।।

अर्थ - अपने गण के वासी साधु को हितकारी किन्तु हृदय को अनिष्ट भी लगनेवाले वचन अवश्य बोलने चाहिए क्योकि वे वचन कडुवी औषधि के सदृश उसके लिए मधुर फलदायक होते है।।३६७।।

प्रश्न - भले हितकारी ही हो किन्तु दूसरो को अनिष्ट वचन बोलने से क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है?

उत्तर - चार घातिया कर्मों का नाश कर देनेवाले परम वीतरागी अर्हन्तदेव भी भव्यजनो का उपकार करने के लिए जब तीर्थविहार करते हैं तब अन्य सब को भी परोपकार करने मे तत्पर रहना चाहिए। ''जब उसने दीक्षा ली है तब क्या वह अपना हित नहीं जानता ? उसे कटुक वचनो द्वारा शिक्षा देने से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है'' ऐसा विचार कर दूसरो की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योकि परोपकार के कार्यों मे कमर कसके तत्पर रहना ही बडप्पन है। अत तत्काल कडुवे लगने पर, जिनका विपाक मधुर है, ऐसे हितकारी और पथ्यभूत वचन समय-समय पर सघस्थ साधुओ को अवश्य ही कहते रहना चाहिए।

किसी कवि ने कहा है कि इस जगत् मे अपना कार्य करने मे ही तत्पर रहनेवाले मनुष्य हजारो की सख्या मे विद्यमान है किन्तु परोपकार ही जिनका स्वार्थ है ऐसा सत्पुरुषो मे अग्रणी पुरुष एकाध ही होता है।

स्वान्तानिष्टमपि ग्राह्यं, पथ्यं बुद्धिमता वच:।
हठत: कि न बालस्य, दीयमान घृतं हितम्।।३६८।।

इति दुर्जनसङ्ग-वर्जनम्।।

अर्थ - हृदय को अनिष्ट भी वचन गुरुजनो के द्वारा कहे जाने पर बुद्धिमान मनुष्य को पथ्य रूप से अवश्य ही ग्रहण करने चाहिए। क्या, बालक को जबरदस्ती मुख खोलकर पिलाया गया घृत हितकारी नहीं होता ? अवश्य ही होता है।।३६८।।

इस प्रकार दुर्जनसंगतिवर्जन प्रकरण पूर्ण हुआ।

स्व-प्रशसा के दोष

मा छेदयन्तु स्व-यशो, मा कार्षुः स्वं प्रशंसनम्।
लघवः स्वं प्रशंसन्तो, जायन्ते हि तृणादपि॥३६९॥

अर्थ - हे साधुजन ! तुम अपने मुख से अपनी प्रशसा मत करो। स्वयं की प्रशसा करके अपने यश को छिन्न-भिन्न मत करो। अर्थात् समीचीन गुणो के कारण फैला हुआ यश स्वयं की प्रशसा करने से नष्ट हो जावेगा अत उसे बचाओ। जो व्यक्ति अपने मुख से अपनी प्रशसा करता है वह तृण से भी अति लघु अर्थात् तुच्छ हो जाता है॥३६९॥

स्व-स्तवेन गुणा यान्ति, काञ्जिकेनेव सीधुनि।
स दोषः परमस्तेषां, कोपः संयमिनामिव॥३७०॥

अर्थ - 'मुझ मे ऐसे-ऐसे गुण हैं' इस प्रकार अपनी प्रशसा करने से विद्यमान भी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे काजी पीने से मदिरा का नशा नष्ट हो जाता है, क्योकि सयमी को क्रोध आना जैसे बड़ा दोष है, वैसे ही अपनी प्रशसा करना बडा दोष है॥३७०॥

अनुक्तोऽपि गुणो लोके, विद्यमानः प्रकाशते।
प्रकटीक्रियते केन, विवस्वानुदितो जनैः॥३७१॥

अर्थ - स्वयम् अपने गुण न कहने पर भी वे विद्यमान रहते हैं और लोक मे प्रसिद्धि को भी प्राप्त होते है। देखो ! सूर्य प्रगट हुआ है, ऐसा किन लोगो के द्वारा प्रगट किया जाता है ?॥३७१॥

कथ्यमाना गुणा वाचा, नासन्तः सन्ति देहिनः।
षण्डका न हि जायन्ते, योषा वाक्य-शतैरपि॥३७२॥

अर्थ - मनुष्यो मे जो गुण असत् हैं अर्थात् जिस मनुष्य मे जो गुण नहीं हैं वे वचन द्वारा कहने मात्र से सत्रूप नहीं हो जाते हैं। जैसे किसी नपुसक को 'यह स्त्री है, स्त्री है'' ऐसा सैकडो वचनो द्वारा कहे जाने पर भी वह स्त्री नहीं बन जाता, वह तो नपुसक ही रहता है॥३७२॥

विद्यमानं गुण स्वस्य, कीर्त्यमानं निशम्य यः।
महात्मा लज्जते चित्ते, भाषते स कथं स्वयम्॥३७३॥

अर्थ - सज्जन मनुष्यो के बीच मे अपने विद्यमान भी गुणों की प्रशसा सुन कर जो लज्जित हो जाता है, वह स्वय ही अपने गुणो की प्रशसा कैसे कर सकता है? कदापि नहीं कर सकता॥३७३॥

स्व-प्रशसा न करने के गुण

निर्गुणोऽपि सतां मध्ये, सगुणोऽस्ति स्वमस्तुवन्।
न श्लाघते यदात्मानं, गुणस्तस्य स एव हि॥३७४॥

अर्थ - अपनी प्रशसा न करनेवाला स्वय गुणरहित होते हुए भी सज्जनों के मध्य मे गुणवान सदृश होता है, क्योंकि अपनी प्रशसा नहीं करना यही उसका गुण है ॥३७४॥

प्रश्न - गुणरहित को गुणवान कहना यह तो विरुद्ध कथन है ?

उत्तर - ससार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमे कोई-न-कोई गुण न हो, फिर भी सम्यग्ज्ञान आदि विशिष्ट गुणों का अभाव होने के कारण वह गुणरहित है किन्तु अपनी प्रशसा नहीं करना इस गुण से वह गुणवान है। यदि उसमे गुण हैं तो वे बिना कहे स्वय ही कसौटी पर कसे जायेंगे। कस्तूरी को अपनी गन्ध के लिए शपथ नहीं लेनी पड़ती है।

गुणानां नाशनं वाचा, क्रियमाणं निवेदनम्।
प्रकाशनं पुनस्तेषां, चेष्टयास्ति निवेदनम् ॥३७५॥

अर्थ - वचनों द्वारा स्व-गुणो को कहना मानों उन गुणो का नाश ही करना है। गुण तो अपने शुभाचरण से ही प्रगट होते हैं, अत जिन्हे अपने गुणो का प्रकाशन करना हो उन्हे अपनी सब प्रवृत्तियाँ सदाचार रूप ही करनी चाहिए ॥३७५॥

अजल्पन्तो गुणान् वाण्या, जल्पन्तश्चेष्टया पुनः।
भवन्ति पुरुषाः पुंसां, गुणिनामुपरि स्फुटम् ॥३७६॥

अर्थ - जो वचन से न कह कर अपने आचरण से अपने गुणो को कहता है वह पुरुष सब से ऊपर होता है। अर्थात् सबसे अधिक श्रेष्ठ होता है ॥३७६॥

निर्गुणो गुणिनां मध्ये, ब्रुवाणः स्वगुणं नरः।
सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन, निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥३७७॥

अर्थ - गुणीजनो के मध्य अपने गुण स्वय कहनेवाला मनुष्य निर्गुण बन जाता है क्योकि सगुण होकर भी वह निर्गुण ही कहा जाता है जो मात्र वचनो से अपने गुण कहता है ॥३७७॥

सगुणो गुणिनां मध्ये, शोभते चरितैर्गुणम्।
ब्रुवाणो वचनैः स्वस्य, निर्गुणानामिवागुणः ॥३७८॥

अर्थ - गुणी मनुष्यों के बीच अपने गुणो को आचरण द्वारा प्रगट करता हुआ मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है और निर्गुण मनुष्यो के समान वचनो द्वारा अपने गुणो को कहनेवाला मनुष्य गुणरहित है ॥३७८॥

आसादना न करने का निर्देश

यूयमासादनां कृध्वं, मा जातु परमेष्ठिनाम्।
दुरन्ता संसृतिर्जन्तोर्जायते कुर्वतो हि ताम् ॥३७९॥

अर्थ - हे यतिजन ! तुम सब कभी पचपरमेष्ठियो की आसादना नहीं करना, क्योकि उस आसादना को करनेवाला जीव दुरन्त ससारी बन जाता है॥३७९॥

त्यजतासंयमं त्रेधा, मुक्ति-लक्ष्मीं जिघृक्षवः।
सा दूरीक्रियते तेन, व्याधिनेव सुखासिका॥३८०॥

अर्थ - मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करने के इच्छुक हे मुनिगण ! तुम सब मन, वचन और काय से असयम का त्याग करो, क्योकि जैसे व्याधिग्रस्त व्यक्ति का सुखपूर्वक बैठना नष्ट हो जाता है, वैसे ही असयम से मोक्ष दूर हो जाता है॥३८०॥

मा ग्रहीषु परीवादं, स्वसङ्घ-परसङ्घयोः।
संसारो वर्धतेऽनेन, सलिलेनेव पादपः॥३८१॥

अर्थ - भो मुनिगण ! जैसे जल से वृक्ष वृद्धिगत होता है, वैसे ही अपवाद अर्थात् निन्दा करने से ससार-परिभ्रमण बढता है अत आप सब कभी भी अपने सघ की या पर-सघ की निन्दा नहीं करना॥३८१॥

शोक-द्वेषासुखायास-वैर-दौर्भाग्य-भीतयः।
विशिष्टानिष्टया पुंसां, जन्यन्ते परनिन्दया॥३८२॥

अर्थ - पर-निन्दा शोक, द्वेष, दुख, आयास और भय को उत्पन्न करती है, वैर को बढाती है, दुर्भाग्य को लाती है और सज्जन पुरुषो को अप्रिय है॥३८२॥

उत्थापयिषुरात्मान, परनिन्दां विधाय यः।
अपरेणौषधे पीते, स निरोगत्वमिच्छति॥३८३॥

अर्थ - जो मनुष्य पर की निन्दा करके अपना उत्थान या अपने को गुणज्ञ मानता है वह मानो, दूसरो के द्वारा कडवी औषधि पान कर लेने पर अपनी नीरोगता चाहता है॥३८३॥

प्रश्न - 'अन्य मे अमुक गुण नहीं है' ऐसा कहने से ही सिद्ध हो जाता है कि वे गुण मेरे मे है, ऐसा कहने मे क्या दोष है ?

उत्तर - 'अमुक मे कोई गुण नहीं है' ऐसा कहना निन्दा ही है। इस प्रकार की पर-निन्दा से अपने को गुणवान मानना यह उल्टे मार्ग पर चल कर स्वस्थान पर पहुँचने की कल्पना के सदृश है, क्योकि जो स्वस्थान की दिशा मे गमन करेगा वही वहाँ पहुँचेगा, या जो औषधि खायेगा वही नीरोग होगा, उसी प्रकार जो गुण प्राप्त कर लेगा वही गुणी होगा।

योऽन्यस्य दोषमाकर्ण्य, चित्ते जिह्वेति सज्जनः।
परापवादतो भीतः, स्वदोषमिव रक्षति॥३८४॥

अर्थ - सत्पुरुष दूसरों के दोष सुन कर मन मे लज्जित होता है, वह उन्हें प्रगट नहीं करता प्रत्युत लोकापवाद के भय से उनके दोषों को अपने दोषो के सदृश छिपाता है॥३८४॥

स्वल्पोऽप्यन्य-गुणो धन्यं, तैलबिन्दुरिवोदके।
विवर्धते तमासाद्य, पर-दोषं न वक्ति सः॥३८५॥

अर्थ - जैसे तेल की बूद, जल के आश्रय से फैल कर महान् हो जाती है, वैसे ही दूसरो का छोटा सा भी गुण सत्पुरुष को पाकर धन्य हो जाता है अर्थात् महान् हो जाता है अर्थात् लोकप्रसिद्धि मे आ जाता है। ऐसे अल्पगुण की भी प्रशसा करनेवाला सज्जन पुरुष पर के दोषो को कभी नहीं कहता॥३८५॥

सदुपदेश का सार

ग्राह्यस्तथोपदेशोऽयं, सर्वो युष्माकमञ्जसा।
यथा गुणकृता कीर्तिर्लोके भ्रमति निर्मला॥३८६॥

अर्थ - हे मुनिजन ! अब तुम सबको भली प्रकार से उपर्युक्त सर्व-उपदेश का सार इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए जिससे तुम्हारे गुणो से उत्पन्न हुई निर्मल कीर्ति इस लोक मे सर्वत्र फैले॥३८६॥

उस कीर्ति का स्वरूप

अनन्यतापकोऽखण्ड-ब्रह्मचर्यो बहुश्रुतः।
शान्तो दृढचारित्रोऽयमेषा धन्यस्य घोषणा॥३८७॥

अर्थ - उस कीर्ति का विस्तार इस प्रकार हो कि-अहो ! इस सघ के साधुजन किसी को भी सन्ताप नहीं देते, ये बहुत शान्त हैं, इनका ब्रह्मचर्य अखण्ड है, ये बहुत ज्ञानी हैं और चारित्र मे भी अति दृढ़ हैं। ये धन्य है, धन्य है॥३८७॥

शिष्य समुदाय की प्रतिक्रिया

इदं नो मङ्गलं बाढमेव मुक्त्वा गणोऽप्यसौ।
तोष्यमाणो गुणैः सूरेरानन्दाश्रु विमुञ्चति॥३८८॥

अर्थ - यह सर्व उपदेश हम लोगो के लिए मगलभूत है अर्थात् श्रेष्ठ है और ग्राह्य है अर्थात् 'हमे स्वीकार है' ऐसा कह कर सर्वसघ आचार्यश्री के गुणो से सन्तुष्टता को प्राप्त होता हुआ आनन्द के आँसू गिराता है॥३८८॥

प्रश्न - गुरु के किन गुणो से सघ सन्तुष्ट हुआ और सघ ने आँसू क्यो गिराये ?

उत्तर - आचार्यश्री ने अपने आचार्यत्व काल में सर्वसघ को पचाचार मे सलग्न रख कर बहुत उपकार किया है। अब समाधि के इच्छुक वे आचार्य, अपने समान गुणज्ञ आचार्य को सर्वसघ सौप कर जाना चाहते हैं। जाने के पूर्व उन्होने पुन. अपने सघ को पूर्वोक्त प्रकार से विस्तारपूर्वक उपदेश दिया। गुरु के इस प्रकार के स्व-परोपकारक अत्यन्त शुद्ध रत्नत्रय का वर्धन करनेवाले वचन सुनकर सघस्थ मोक्षार्थियों के हृदय सन्तुष्टता को प्राप्त होकर प्रफुल्लित हो उठे और हर्षातिरेक से उनके आँसू गिरने लगे। उन्होने प्रसन्नता पूर्वक गुरु की सब आज्ञा शिरोधार्य कर कृतज्ञता प्रगट की।

आराधनाकांक्षी आचार्य के प्रति शिष्यों की कृतज्ञता

अयं नोऽनुग्रहोऽपूर्वो, यत्स्वाङ्गमिव पालिताः।
सारणा-वारणादेशा, लभ्यन्ते पुण्यभागिभिः ॥३८९॥

अर्थ - हे भगवन् ! हम लोगो के ऊपर आपका यह अपूर्व अनुग्रह है, जो आपने अपने शरीराङ्गो के सदृश हमारा पालन किया है। 'यह करो', 'यह मत करो' तथा 'यह करना ही है' इत्यादि गुरु की शिक्षा भाग्यशाली जीवो को ही प्राप्त होती है॥३८९॥

प्रश्न - आचार्य सारण, वारण और आदेशरूप शिक्षा क्यो देते हैं और इनका क्या अर्थ है?

उत्तर - लौकिकज्ञान मे अग्रणी भी मनुष्य जब दीक्षा लेता है तब मोक्षमार्ग अर्थात् साधुमार्ग के अनुष्ठान मे अनभिज्ञ ही रहता है। उस समय गुरु सारण, वारण और आदेशादि रूप शिक्षा देकर उसे अपने अनुष्ठान मे निष्णात कर देते हैं।

कर्तव्य का उपदेश देना कि आपको इस-इस प्रकार की क्रिया करना अथवा अज्ञात क्रियाएँ बताना **सारणा** है। अमुक-अमुक कार्य अर्थात् इस-इस प्रकार के अनुष्ठान या समाचर्या नहीं करना, यह वारणा है और अपने-अपने कार्य के नियम का प्रतिपादन करना, जैसे यतिगण उद्दिष्टाहार ग्रहण न करे, यह आदेश है।

क्षमयामो वदं तद् यद्, रागाज्ञान-प्रमादतः।
आदेशं ददतामाज्ञा, भवतां प्रतिकूलिता॥३९०॥

अर्थ - आपके द्वारा हितकारी आज्ञा एव उपदेश दिये जाने पर हमने रागवश, अज्ञानतावश या प्रमादवश उसके प्रतिकूल जो-जो आचरण किया है उसके लिए हे आचार्यदेव ! हम सब क्षमायाचना करते है, आप हमे क्षमा प्रदान कीजिए॥३९०॥

लब्ध-सिद्धिपथा जाताः, सचित्त-श्रोत्र-चक्षुषः।
युष्मद्वियोगतो भूयो, भविष्यामस्तथाविधाः॥३९१॥

अर्थ - हे प्रभो ! आपने हमे लब्धसिद्धिपथ वाला किया है। आपने हमे हृदय, कर्ण और नेत्र दिये हैं। आप अब समाधि के सम्मुख है, आपके वियोग से अब हम दिग्भ्रमित होकर भविष्य मे पुन वैसे ही हो जावेगे॥३९१॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या भाव है, आचार्यश्री ने हृदय आदि सब कैसे क्या दिये हैं?

उत्तर - दीक्षा के पूर्व व्यक्ति ससारमार्गी होता है और उसका मन तथा कर्णादि इन्द्रियाँ विषयो की ओर सलग्न रहती हैं, अत· शिष्यगण अपने परमोपकारी गुरु से कह रहे हैं कि-हे प्रभो! हम ससारमार्ग में निमग्न थे। आपने दीक्षा देकर हमें मोक्षमार्ग प्राप्त कराया है, हम पहले अज्ञानी थे, विचारशून्य थे, अत. हृदयशून्य थे क्योंकि हृदय से होनेवाले धर्मलाभ को नहीं जानते थे। आपने हमें विचारशील बनाया, अर्थात् आपके उपदेश से हमारा हृदय हिताहित का विवेक करने मे समर्थ हो गया है, अत आपने ही हमें हृदययुक्त किया था। पहले हमारे कर्ण, कर्ण ही नहीं थे क्योकि वे गुरु का उपदेश नहीं सुनते थे, हमारे नेत्र भी नेत्र नहीं थे क्योकि वे स्वाध्याय नहीं करते

थे। आपने हमें शास्त्र सुना कर कर्ण युक्त किया और स्वाध्याय करा कर शास्त्ररूप लोचन प्रदान किये अर्थात् हमें आगमचक्षु बनाया है, अत. हम ऐसा मानते हैं कि आपने ही हमे हृदय, कर्ण और चक्षु दिये हैं।

सर्व-जीवहिते वृद्धे, सर्व-लोकैकनायके।
प्रोषिते वा विपन्ने वा, देशाः शून्याः भवन्ति ते ॥३९२॥

अर्थ - भो गुरुदेव ! आप सब जीवो का हित करनेवाले हैं, आप ज्ञान एव तप से भी वृद्ध हैं, जगत् मे सब जीवो के स्वामी हैं, आप अब प्रवास करनेवाले हैं। अथवा सन्यासमरण करने वाले हैं, अत. अब हमें सर्वदेश शून्य दिखते हैं ॥३९२॥

अनन्य-तापिभिः सर्वैर्गुण-शील-पयोधिभिः।
हीना बहुश्रुतैर्देशाः, सान्धकारा भवन्ति ते ॥३९३॥

अर्थ - दूसरो को सन्ताप न देनेवाले, समस्त शील और गुणो के सागर तथा बहुश्रुतज्ञ ऐसे आपके प्रवास कर जाने पर या समाधिस्थ हो जाने पर आप जैसे महर्षियों से हीन ये सर्वदेश अन्धकारमय हो जावेगे ॥३९३॥

सर्वज्ञैरिव यैर्वृद्धैर्जन्यन्ते तत्त्व-निश्चयाः।
देह-नाशे प्रवासे वा, तेषामन्धा भवन्ति ते ॥३९४॥

अर्थ - सर्वज्ञ सदृश ज्ञानवृद्ध आपके द्वारा सघ एव देश के भव्यजन तत्त्वनिश्चय को प्राप्त हुए थे, अब आपके अन्यत्र प्रवास कर जाने पर या आपकी देह का विनाश हो जाने पर सघ एव देश तत्त्व-निश्चयविहीन अन्ध सदृश हो जायेगा ॥३९४॥

वाक्यैराप्यायिता लोका, यैर्मेघा इव वारिभिः।
येभ्यस्ते निर्गता वृद्धास्ते देशाः सन्ति खण्डिताः ॥३९५॥

अर्थ - जैसे जल द्वारा मेघ पूर्ण रहते है, वैसे ही आपके धर्मवाक्यो द्वारा हम लोग भी सन्तोष से परिपूर्ण थे। जैसे जलपूर्ण मेघ निकल जाने पर वे देश धान्यविहीन एव जनशून्य हो जाते हैं, ऐसे ही आप जैसे वृद्ध महात्मा के निकल जाने पर ये देश खण्डित अर्थात् धर्मशून्य हो जायेगे ॥३९५॥

दायकानामशेषस्य, सूरिणामुपकारिणाम्।
समान-सुख-दुःखानां, वियोगो दुःसहश्चिरम् ॥३९६॥

अर्थ - सम्पूर्ण ज्ञानादि गुणो के प्रदाता, परमोपकारी एव सुख-दुख में समान भाव रखनेवाले ऐसे आचार्यो का वियोग अत्यन्त दु सह है। अहो ! चिरकाल पर्यन्त दु·सह है ॥३९६॥

वशस्थ छन्द

पवित्र-विद्योद्यत-दान-पण्डितैस्तनूभृतां ताप-विषादनोदिभिः।
गणाधिपैर्भाति विना न मेदिनी, निरस्त-पङ्कैः सरसीव वारिभिः ॥३९७॥

अर्थ - जीवो को पवित्र विद्या रूप श्रेष्ठ दान देने मे निपुण एव ताप और विषाद को दूर करनेवाले ऐसे

आचार्यदेव के बिना यह पृथ्वी उसी प्रकार शोभायमान नहीं होती जिस प्रकार कीचड़ रहित अर्थात् निर्मल जल के बिना सरोवर शोभायमान नहीं होता ॥३९७॥

वंशस्थ छन्द

बुधैर्न शीलैः रहिता नितम्बिनी, तपस्विदानैः रहिता गृहस्थता।
गुरूपदेशैः रहिता तपस्विता, प्रशस्यते नित्य-सुखप्रदायिनी ॥३९८॥

अर्थ - शीलरहित नारी, साधुजनो को आहारदान किये बिना गृहस्थपना तथा गुरु के नित्य सुखप्रद उपदेश बिना तपश्चरण बुद्धिमानो द्वारा प्रशसनीय नहीं माना जाता है ॥३९८॥

वशस्थ छन्द

मनीषितं वस्तु समस्तमङ्गिनां, सुरद्रुमाणामिव यच्छतां सदा।
गुणैर्गुरूणां विरहो गरीयसा, न शक्यते सोढुमपास्त-रेफसाम् ॥३९९॥

इति अनुशिष्टि-सूत्रम्।

अर्थ - कल्पवृक्षो के सदृश जीवो को समस्त मनोवाछित वस्तु को देनेवाले और गुणो से गुरु ऐसे महान् पापरहित गुरुओ का विरह सहन करना शक्य नहीं है ॥३९९॥

इस प्रकार अनुशिष्टि प्रकरण पूर्ण हुआ ॥१४॥

१५ परगण चर्या

आपृच्छ्येति गण सर्वं, चतुरङ्ग-महोद्यमम्।
करोत्याराधनाकांक्षी, गन्तुं परगण प्रति ॥४००॥

अर्थ - इस प्रकार अपने सर्वसघ को पूछ कर चार आराधना रूप महान् उद्यम मे प्रयत्नशील और आराधनाकाक्षी आचार्य अन्य सघ के प्रति गमन मे उत्सुक होते है ॥४००॥

स्वसघ मे रहने से दोष

आज्ञाकोपो गणेशस्य, परुषः कलहोऽसुखम्।
निर्भय-स्नेह-कारुण्य-ध्यान-विघ्नासमाधयः ॥४०१॥

अर्थ - (अपने सघ मे रह कर ही समाधि करे तो) आचार्य की आज्ञाभग, कठोर वचन, कलह, दुख, निर्भयता, स्नेह, कारुण्य, ध्यान मे विघ्न और असमाधि ये दोष होते हैं ॥४०१॥

आज्ञाभग

उपजाति छन्द

परापवादोद्यतयो जरन्तः, शैक्ष्याः खरा युद्धपरानधीनाः।
आज्ञाक्षतिं मक्षु गणे स्वकीये कुर्वन्ति सूरेरसमाधि-हेतुम् ॥४०२॥

अर्थ - सघ में अनेक प्रकार के साधु रहते हैं। उनमें से कोई वृद्ध साधु पर का अपवाद करने में उद्यत हो जाते हैं, कोई शैक्ष्य साधु या कोई कठोर परिणामी साधु कलह मे तत्पर रहते हैं, कोई स्वच्छन्द हो जाते हैं, इस प्रकार के शिष्य आचार्य की आज्ञा का भग कर देते हैं तब वह आज्ञाभंग ही आचार्य की असमाधि का कारण बन जाता है ॥४०२॥

प्रश्न - शिष्य, आचार्य की आज्ञा का उल्लघन क्यो करते हैं और यदि आज्ञा उल्लघन हो भी जाय तो आचार्य की समाधि बिगडने की सम्भावना क्यो होती है?

उत्तर - सघ मे बाल, वृद्ध, रुग्ण, उद्दण्ड, कोपी एव अभिमानी अनेक प्रकार के साधु रहते हैं। कोई अपराध या श्रमण सहिता का उल्लघन देख कर आचार्य यदि हितकारी किन्तु कटु या अनुशासन युक्त वचनों द्वारा कुछ कहते हैं, या कोई आज्ञा देते है, तब कोई शिष्य आचार्य या सघ का अपयश करते हैं, कोई क्षुद्र अज्ञानी कलह करते हैं, कोई सघत्याग की धमकी देते है, कोई कोप करते हैं, कोई वाद-विवाद करते हैं और कोई कटुतापूर्ण उत्तर देते है। इस प्रकार आज्ञाभग आदि होते देख आचार्य के मन मे सन्ताप हो सकता है कि देखो, मैने जीवन भर इनका सम्पोषण कर योग्य बनाया और आज ये मेरी जीर्ण अवस्था देख अवज्ञा कर रहे हैं। यह सन्ताप उनकी समाधि मे बाधक बन सकता है।

इन्द्रवज्राछन्द

व्यापार-हीनस्य ममत्व-हानेः, संतिष्ठमानस्य गणेऽन्यदीये।
नाज्ञा-विघाते विहितेऽपि सूरेरेतैरशेषैरसमाधिरस्ति ॥४०३॥

अर्थ - समाधि की इच्छा से पर-सघ मे पहुँच जाने पर वहाँ भी आज्ञा भग हो सकती है किन्तु सघ का कोई उपकारादि कार्य न किये जाने से और ममत्वभाव की हीनता से आचार्य को सन्ताप नहीं होता, अत उनकी असमाधि नहीं होती ॥४०३॥

परुष दोष

शालिनी छन्द

बालान्वृद्धान्शैक्षकान्दुष्टचेष्टान्, दृष्ट्वा सूरिर्निष्ठुरं वक्ति वाक्यम् ॥
किञ्चिद्राग-द्वेष-मोहादि-युक्ताः, ते वा ब्रूयुः संस्तव-प्राप्त-धाष्ट्र्याः ॥४०४॥

अर्थ - अपने सघ मे रहनेवाले बाल, वृद्ध एव शैक्ष्य आदि साधुओ की दुष्ट चेष्टा को देखकर आचार्य उन्हे निष्ठुर वचन बोल देते हैं, अथवा अपनी प्रसिद्धि के कारण राग, द्वेष एव मोहादि से युक्त वे मुनि धृष्टतापूर्वक आचार्यदेव को कठोर वचन बोल देते है। इस प्रकार परस्पर कठोर वचनो के आदान-प्रदान से असमाधि होने की सम्भावना रहती है ॥४०४॥

कलह दोष

उपजाति छन्द

वाक्याक्षमायामसमाधिकारी, सूरेः समं तैः कलहो दुरन्तः।
दोषास्ततो दुःख-विषाद-खेदाः, भवन्ति सर्वेष्वनिवारणीयाः ॥४०५॥

अर्थ - गुरु के शिक्षावाक्यों को सहन न कर सकने के कारण आचार्य की उन उद्दण्ड शिष्यो के साथ आचार्य की असमाधि करानेवाला महान् कलह हो सकता है। यह कलह अनिवार्य रूप से दुख, विषाद और खेद आदि दोषों को उत्पन्न कर देता है ॥४०५॥

प्रश्न - कलह नामक दोष कैसे होता है?

उत्तर - स्व सघ मे रहनेवाले समाधिस्थ आचार्य द्वारा शिक्षा के वचन कहे जाने पर या कोई आज्ञा प्रसारित किये जाने पर सघ के स्थविर आदि कोई भी साधु कलह कर उठते हैं कि ये आचार्य सदैव हमे ही डॉटते हैं, या आज्ञा देते हैं, या उपदेश देते हैं, हम क्या अज्ञानी है? हम क्या श्रमण सहिता अथवा समाचार विधि नहीं जानते हैं ? इत्यादि। ऐसे कलह से आचार्य के मन मे असमाधि करानेवाले दुख, खेद या विषाद का प्रादुर्भाव हो सकता है। अथवा 'ये आचार्य हमे कष्ट देते हैं' ऐसा सोचकर शिष्य समुदाय मे भी खेद, दुख आदि का प्रादुर्भाव हो सकता है, वह भी आचार्य की असमाधि का कारण है।

गणेन साकं कलहादि-दोषं, कुर्वत्सु बालादिषु दुर्धरेषु।
गणाधिपस्य स्वगण-प्रवृत्तेर्ममत्व-दोषादसमाधिरस्तु ॥४०६॥

अर्थ - सघ के साथ कलह आदि करने मे तत्पर बाल-वृद्धादि धृष्ट मुनियो को देखकर असमाधि करानेवाला ममत्व भाव आचार्य के मन मे उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् स्वगण को झगडते देख कर स्नेह-वश भी आचार्य का मन अशान्त हो सकता है, अत आचार्य को स्व सघ मे रह कर समाधि नहीं करनी चाहिए ॥४०६॥

दुख दोष

उपेन्द्रवज्रा छन्द

परीषहैर्घोरतमैः स्व-सघं, निरीक्ष्यमाणस्य निपीड्यमानम्।
गणे स्वकीये परमोऽसमाधिः, प्रवर्तते सङ्घपतेरवार्यः ॥४०७॥

अर्थ - घोरतम परीषहो द्वारा अपने सघ को पीडित देखकर स्व सघ मे रहनेवाले सघाधिपति आचार्य के मन मे अशान्ति अर्थात् दुख होना अनिवार्य है, जो उनकी असमाधि का ही कारण है ॥४०७॥

निर्भय दोष

परीषहेषु विश्वस्तः, स्वगणे निर्भयो भवन्।
याचते किञ्चनाकल्पं, सेवते भाषते स्फुटम् ॥४०८॥

अर्थ - समाधिस्थ आचार्य यदि अपने ही सघ मे रहते है तो भूख-प्यास, ठण्डी, गर्मी आदि परीषह आ जाने पर स्वगण मे अर्थात् अपने ही शिष्यगण होने से विश्वस्त होते हुए निर्भयतापूर्वक अर्थात् भय और लज्जा को छोडकर कुछ भी अयोग्य वस्तु की याचना अथवा त्यागी हुई वस्तु का सेवन कर सकते हैं, तथा समझाये जाने पर निर्भय होकर कुछ भी अयोग्य वचन स्पष्टरूप से कह सकते है ॥४०८॥

स्नेह दोष

बालाः स्वाङ्कोचिता दृष्टा, वृद्ध्या विह्वल-विग्रहाः।
अनाथाश्चार्यिकाः स्नेहं, जनयन्ति गुरोस्तदा ॥४०९॥

अर्थ - जिन्हें बचपन से अपनी गोद में बैठा कर पालन किया है ऐसे बालमुनि, वृद्धमुनि एव आर्यिकाओं को अपने वियोग से अनाथ जैसे विह्वल होते देख गुरु के मन में स्नेह उमड़ सकता है, जो उनकी असमाधि का कारण है ॥४०९॥

करुणा एव ध्यान में विघ्न नामक दोष

आर्यिका: क्षुल्लिका: क्षुल्ला:, कारुण्यं कुर्वते यत:।
ध्यानविघ्नोऽसमाधिश्च, जायते गणिनस्तत: ॥४१०॥

अर्थ - बाल मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका आदि गुरु को समाधिस्थ देख या उनका वियोग होते देख रो पडते हैं, जिन्हें देख कर गुरु को करुणा उमड पड़ती है, उससे ध्यान में विघ्न आ जाता है और आचार्य को अशान्ति हो जाती है ॥४१०॥

असमाधि दोष

गणिन: प्रैष्य-शुश्रूषा-भक्तपानादि-कल्पने।
स्व-गणेप्यसमाधानं, शिष्यवर्गे प्रमाद्यति ॥४११॥

अर्थ - प्रैष्य कर्म अर्थात् आचार्य के द्वारा कार्यवशात् अन्यत्र कहीं भेजे जाने में, या हस्त, पैर एव शरीरादि का मर्दन करने मे या आहार, पान तथा औषधि आदि की व्यवस्था में शिष्य वर्ग प्रमाद करता है तो आचार्य की असमाधि हो सकती है अर्थात् स्वसघ मे समाधिग्रहण मे ऐसे प्रसगो पर आचार्य के मन मे विकल्प उठना स्वाभाविक है कि 'हमने इन शिष्यो का जीवन भर उपकार किया और आज अवसर आने पर ये हमारी इतनी भी सेवा नहीं करते'। इस प्रकार के आर्त-रौद्र ध्यान से समाधि बिगड़ सकती है, अत आचार्य को स्वसघ मे समाधि नहीं करनी चाहिए ॥४११॥

स्व सघ में समाधि करने से अन्य साधुओ को भी दोष लगते हैं

एते दोषा: सन्ति सङ्घे स्वकीये, सूरे: साधोस्तादृशस्यापि यस्मात्।
तस्मात् त्यक्त्वा त्व समाधानकांक्षी, धीर: सङ्घं स प्रयात्यन्यदीयम् ॥४१२॥

अर्थ - ये दोष विशेष रूप से अपने सघ मे रह कर समाधि करनेवाले आचार्य के होते हैं। आचार्य के ही सदृश अन्य भी उपाध्याय एव प्रवर्तक आदि सघ का उपकार करनेवाले जो-जो साधु अपने गण में रह कर समाधिमरण करते है उन्हे भी ये दोष होते है, अत समाधि के इच्छुक धीर आचार्य स्वसघ को छोड़कर दूसरे सघ मे जाते हैं ॥४१२॥

अन्य सघ में इन दोषों की सम्भावना नहीं है

भवन्ति दोषा न गणेऽन्यदीये, संतिष्ठमानस्य ममत्व-बीजम्।
गणाधिनाथस्य ममत्वहानेर्विना निमित्तेन कुतो निवृत्ति:? ॥४१३॥

अर्थ - अन्य सघ मे जानेवाला आचार्य वहाँ ममत्वहीन होकर रहता है, अत· ममत्व का बीज अर्थात् ममत्व का कारण न होने से पूर्वोक्त दोष भी वहाँ नहीं लगते, क्योंकि बिना निमित्त निवृत्ति कैसे हो ॥४१३॥

प्रश्न - 'बिना निमित्त निवृत्ति कैसे हो' इसका क्या भाव है?

उत्तर - इसका भाव यह है कि कारण के बिना कार्य नहीं होता। ममता का निमित्त स्वसघ-निवास है क्योंकि अपनत्व भाव बिना ममता का भाव जाग्रत नहीं होता। 'यह मेरा है' यही भाव तो ममता का उत्पादक है। इसी प्रकार ममता के अभाव का निमित्त परसघनिवास है क्योकि वहाँ ममता का कारण मम भाव नहीं है। यह ममता का अभाव ही मोक्ष का कारण है। इसीलिए कहा गया है कि 'बिना निमित्त निवृत्ति अर्थात् मोक्ष कैसे''।

पर-गण-प्रवेश श्रेष्ठ है

गणे स्वकीयेऽपि गुणानुरागी, सत्यस्मदीय गणमागतोऽयम्।
मत्वेति भक्त्या निजया च शक्त्या, प्रवर्तते तस्य गणः स्व-कृत्ये ॥४१४॥

अर्थ - अपना गण होते हुए भी ये हमारे गुणो मे अनुरागी होकर यहाँ आये हैं, ऐसा मान कर पर-गणवासी मुनिसमुदाय पूर्ण आदर-भक्ति और अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सेवा करने के लिए कटिबद्ध हो जाते है, अत पर-गण मे प्रवेश करना ही श्रेष्ठ है॥४१४॥

निर्यापकाचार्य ऐसा होना चाहिए

गृहीतार्थो गणी प्रार्थ्यः, क्षपकस्योपसेदुषः।
निर्यापकश्चरित्राढ्यो, जायते सर्व-यत्नतः ॥४१५॥

अर्थ - उस क्षपक का निर्यापकाचार्य अनेक समाधिकाक्षी मुनियो द्वारा प्रार्थ्य हो, जीवादि पदार्थो का वेत्ता हो और चारित्र मे दृढ हो, सर्व प्रयत्नपूर्वक ऐसा निर्यापकाचार्य खोजना चाहिए॥४१५॥

सविग्नस्याघ-भीतस्य, पादमूले व्यवस्थित.।
अर्हदागम-सारस्य, भवत्याराधको यतिः ॥४१६॥

इति परगण-चर्या-सूत्रम् ॥१५॥

अर्थ - जो ससार और पाप से भयभीत है तथा अर्हन्त प्रणीत आगम के हार्द का ज्ञाता है, ऐसे निर्यापकाचार्य के पादमूल को प्राप्त होनेवाला साधु ही आराधनाओ का अर्थात् समाधि का साधक होता है॥४१६॥

इस प्रकार परगण-चर्या नामक सूत्र पूर्ण हुआ ॥१५॥

१६ मार्गणा सूत्र

पञ्च षट् सप्त वा गत्वा, योजनानां शतानि सः।
निर्यापकमनुज्ञातुं, समाधानाय मार्गति ॥४१७॥

अर्थ - समाधि का इच्छुक साधु पाँच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे भी अधिक जाकर अपनी आत्मसतुष्टि के लिए या कार्यसिद्धि के लिए शास्त्रोक्त गुणो से युक्त निर्यापकाचार्य को खोजता है॥४१७॥

मार्गण का काल प्रमाण

एक-द्वि-त्रीणि चत्वारि, वर्षाणि द्वादशापि च।
निर्यापकमनुज्ञातं, स मार्गयति निःश्रमः ॥४१८॥

अर्थ - एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष या चार वर्ष पर्यन्त अथवा श्रम का अनुभव न करते हुए वे समाधि-इच्छुक आचार्य बारह वर्ष पर्यन्त निर्यापकाचार्य की खोज करते रहते हैं॥४१८॥

निर्यापकाचार्य-अन्वेषी के पाँच विशिष्ट कर्तव्य

एकरात्र-तनूत्सर्गः, प्रश्न-स्वाध्याय-पण्डितः।
सर्वत्रैवाप्रतीबन्धः, स्थाण्डिलः साधु-संयुतः ॥४१९॥

अर्थ - एक रात्रि प्रतिमायोग, प्रश्न कुशलता, स्वाध्याय कुशलता, स्थानादि मे अप्रतिबद्धता और साधु-सयुक्तता ये पाँच विशिष्ट कर्त्तव्य निर्यापकाचार्य की खोज करनेवाले आचार्य के होते हैं॥४१९॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले, सूरेरालोचनापरः।
सम्पद्यते तरां मूकस्तथाप्याराधको मतः ॥४२०॥

अर्थ - "मै गुरु के निकट जाकर आलोचना करूँगा", ऐसा सकल्प करके गुरु के समीप जाने के लिए जो आचार्य निकले है, वे यदि मार्ग मे ही दैव-वशात् मूकावस्था को प्राप्त हो जावे तो भी वे आराधक ही माने जाते है॥४२०॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले, सूरेरालोचना परः।
विपद्यतेऽन्तरालेऽपि, तथाप्याराधकोस्ति सः ॥४२१॥

अर्थ - "मै गुरु के पास जाकर आलोचना करूँगा" ऐसा सकल्प लेकर जो गुरु के पास जाने के लिए निकला है वह यदि मार्ग मे ही मर जाय तो भी वह आराधक अर्थात् समाधिमरण करनेवाला माना जाता है॥४२१॥

आलोचना-प्रवृत्तस्य, गच्छतः सूरि-सन्निधिम्।
यद्यप्यस्त्यमुखः सूरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥४२२॥

अर्थ - आलोचना करने के सकल्प से जो गुरु के पास पहुँच रहा है और यदि अनायास वह आचार्य बोलने मे असमर्थ हो जावे तो भी बह आराधक है॥४२२॥

आलोचना-प्रवृत्तस्य, गच्छतः सूरि-सन्निधौ।
यद्यपि म्रियते सूरिस्तथाप्याराधकोस्ति सः ॥४२३॥

अर्थ - आलोचना करने के सकल्प से जिस गुरु के पास आलोचना करने जा रहा था वे गुरु अर्थात् आचार्य यदि मरण को प्राप्त हो जावे तो भी वह आराधक है॥४२३॥

आलोचना किये बिना भी आराधक होने का कारण

संवेगोद्वेग-सम्पन्न:, शुद्ध्यर्थं गच्छत्यसौ यत:।
मन:शल्य निराकर्तुं, भवत्याराधकस्तत: ॥४२४॥

अर्थ - जो माया शल्य को निकाल कर रत्नत्रय की शुद्धि के लिए आचार्य के समीप जा रहा है तथा सवेग और उद्वेग से सहित है वह यदि कारण विशेष से आलोचना न भी कर पावे तो भी वह आराधक है॥४२४॥

प्रश्न - सवेग, उद्वेग एव माया शल्य किसे कहते है और आलोचना किये बिना साधु आराधक कैसे हो सकता है?

उत्तर - ससार से भयभीत होना सवेग है। शरीर की अशुचिता, असारता और दुखदायकता देखकर तथा इन्द्रियजन्य सुखो को अतृप्तिकारक एव तृष्णावृद्धि का कारण जान कर उनसे विरक्त होना उद्वेग है। तथा किये हुए अपराधो की आलोचना न करना मायाशल्य है। हृदय मे मायाशल्य रहते रत्नत्रय की शुद्धि नहीं होती और रत्नत्रय की शुद्धि बिना सुसमाधि नहीं होती। समाधिकाक्षी जो आचार्य ऐसे सवेग और उद्वेग-से सम्पन्न है तथा मायाशल्य का विसर्जन करने का दृढ सकल्प लेकर ही गुरु के पास जा रहे है, भाग्यवशात् गुरु न मिल सके और आलोचना न हो सके तो भी अभिप्राय शुद्ध होने से उनकी समाधि मे कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है।

गुरु-अन्वेषक को मार्ग मे प्राप्त होने वाले गुण

आचार-जीद-कल्पानां, जायते गुणदीपना।
गुणा: स्वशुद्ध्यसंक्लेशौ, मार्दवार्जव-चतुष्टयम् ॥४२५॥

अर्थ - गुरु-अन्वेषक आचार्य को मार्ग मे आचार-शास्त्र, जीदशास्त्र और कल्पशास्त्र के गुणो का प्रकाशन, अपनी परिणाम-शुद्धि, सक्लेश का अभाव, मार्दव एव आर्जव इन चार गुणो की प्राप्ति होती है॥४२५॥

प्रश्न - इन गुणो के लक्षण क्या हैं?

उत्तर - निर्यापक अन्वेषक आचार्य रत्नत्रय की शुद्धि का प्रयत्न कर रहे है और आचार विशेष के प्रतिपादक आचार, जीद और कल्प ग्रन्थ निरतिचार रत्नत्रय का ही प्रकाशन करते है, अत. अन्वेषक का प्रयत्न इन शास्त्रोक्त आचरणो का ही प्रगटीकरण कर रहा है। रत्नत्रय की शुद्धि का लक्ष्य होने से आत्मा की शुद्धि होती है। सक्लेश परिणाम तो नष्ट होते ही है किन्तु गुरु-अन्वेषण मे मार्ग-गत जो कष्ट हो रहा है उसमे भी वे सक्लेश नहीं करते है। कपटरहित आलोचना करने के लिए ही गुरु की खोज कर रहे हैं अत आर्जव गुण प्रगट हो रहा है। तथा परसघ मे जाने से और वहाँ जाकर 'दोष प्रगट करूँगा' इस सकल्प से मार्दव गुण प्रगट होता है।

अतिथि क्षपक को देख पर-गणवासी साधुओं की समाचारी का क्रम

आलोक्य सहसायान्तमभ्युत्तिष्ठन्ति संयताः।
आज्ञा-संग्रह-वात्सल्य-प्रणाम-कृतयोऽखिलाः ॥४२६॥

अर्थ- अन्वेषक अतिथि मुनि को आता देख आज्ञापालन, सग्रह, वात्सल्य तथा प्रणाम हेतु सब सयत जन शीघ्र ही खड़े हो जाते हैं॥४२६॥

प्रश्न - खडे हो जाने मात्र से आज्ञापालन आदि का द्योतन कैसे हो जायेगा ?

उत्तर - अतिथि मुनि को आता देख यदि परगणवासी साधु सहसा खडे हो जाते है तो वे जिनेन्द्राज्ञानुवर्ती हैं, आगत मुनि को आपने स्वीकार कर लिया, यह प्रगट हो जाता है। आपका उनके प्रति वात्सल्य भाव है, यह भी ज्ञात हो जाता है, आप अतिथि के चरणो मे नमन करने के लिए खडे हुए हैं ऐसा आभास हो जाता है और आनेवाले साधु का आचरण भी इस उपाय से जाना जाता है, इसलिए आगत मुनि को देख कर शीघ्र ही खडे हो जाना चाहिए।

वास्तव्यागन्तुकाः सम्यक्, विविधैः प्रतिलेखनैः।
क्रिया-चारित्र-बोधाय, परीक्षन्ते परस्परम् ॥४२७॥

अर्थ - वास्तव्यमुनि और आगन्तुक मुनि एक दूसरे की क्रिया और चारित्र का ज्ञान करने के लिए नाना प्रकार के प्रतिलेखनो द्वारा भली प्रकार से परस्पर परीक्षा करते हैं॥४२७॥

प्रश्न - ये दोनो परस्पर परीक्षा क्यो और किसकी करते हैं ?

उत्तर - आगत क्षपक और गण के वास्तव्य ये दोनो मुनि एक दूसरे के आचरण को परीक्षा पूर्वक देखते हैं। यहाँ क्रिया से छह आवश्यको का और चारित्र से समितियो तथा गुप्तियो का ग्रहण किया गया है अर्थात् एक दूसरे की क्रिया एव चारित्र की सदोषता या निर्दोषता की परीक्षा करते है। अथवा आचार्यों के उपदेश मे भेद होने से साधुओ का समाचार अनेक प्रकार का है अत दुरवगम है, उसका जानना कठिन है, उसे जानने के लिए एक दूसरे की परीक्षा करते हैं। अथवा यह साधु हमारे सघ मे रहने योग्य है या नहीं, यह जानने के लिए परीक्षा करते हैं।

परीक्षा के प्रकार

आवश्यके ग्रहे क्षेपे, स्वाध्याये प्रतिलेखने।
परीक्ष्यन्ते वचोमार्गे, विहाराहारयोरपि ॥४२८॥

अर्थ - छह आवश्यक क्रिया, वस्तुओ का उठाना और रखना, स्वाध्याय मे तत्परता, प्रतिलेखन अथवा कमण्डलु आदि का शोधन, वार्तालाप अर्थात् गृहस्थजैसे या मिथ्यात्ववर्धक आदि वचन बोलते हैं या सयमी के योग्य बोलते हैं; विहार समितिपूर्वक है या नहीं, नीहार प्रासुक एव गूढ भूमि पर करते हैं या नहीं तथा आहार मे शुद्धता एव गृद्धता आदि क्या कैसी है, इन सबका परस्पर मे परीक्षण करते है॥४२८॥

आगन्तुक मुनि को साहाय्य देना चाहिए

देयः सङ्घाटकोऽवश्यमागताय दिन-त्रयम्।
असंस्तुतस्य यत्नेन, शय्या-संस्तरकावपि ॥४२९॥

अर्थ - सघाटक का अर्थ है सहायता प्रदान करना। आगत मुनि को तीन दिन तक सहाय प्रदान अवश्य करना चाहिए। तथा रहने को वसतिका और चटाई आदि सस्तर देना चाहिए। यद्यपि अभी उनकी परीक्षा नहीं ली है इससे वह साथ मे आचरण योग्य नहीं है तथापि उन्हे साहाय्य देना चाहिए॥४२९॥

तीन दिन के उपरान्त का कर्तव्य

सङ्घाटको न दातव्यो, नियमेन ततः परम्।
यतेर्युक्त-चरित्रस्य, शय्या-संस्तरकावपि ॥४३०॥

अर्थ - आगत मुनि का चारित्र युक्त भी हो तो भी बिना परीक्षा किये तीन दिन के बाद उन्हे साहाय्य नियमत नहीं ही देना चाहिए, वसतिका एव सस्तर भी नहीं देना चाहिए॥४३०॥

प्रश्न - चारित्र युक्त होते हुए भी तीन दिन बाद साहाय्य क्यो नहीं देना चाहिए ?

उत्तर - मार्ग की थकावट आदि के कारण तीन दिन तक परीक्षादि लेने का निषेध है, अत तीन दिन के बाद यदि वह गण मे रखने योग्य नहीं है तब तो साहाय्य देना योग्य ही नहीं है किन्तु यदि उनका आचरण तो योग्य दिखता है परन्तु अभी परीक्षा पूर्ण नहीं हो पाई है तो भी उन्हे सघ मे आश्रय, वसतिका एव सस्तर नहीं देना चाहिए।

बिना परीक्षा साहाय्य देने मे दोष

गृह्णानस्य यते. सूरेरनिराकृत-दूषणम्।
उद्गमोत्पादनाहार-दोष-शुद्धिर्न जायते ॥४३१॥

अर्थ - आगत मुनि के उद्गमादि दोषो को दूर किये बिना ही यदि उसे ग्रहण कर लिया जाता है तो ग्रहण करनेवाले आचार्य के भी उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषो की शुद्धि नहीं होती। अर्थात् यदि आगत मुनि दोषी होते हुए भी आलोचना नही करता है और आचार्य उन्हे ग्रहण कर लेते है तथा सघ को उनके साथ रहने की अनुमति देते है तो उनकी अनुमोदना के भागीदार हो जाने से आचार्य और उनका सघ भी अशुद्ध ही होगा॥४३१॥

स प्रणम्य गणनायक त्रिधा, भाषते निशि दिवाथ सश्रितः।
आगमस्य विनयेन कारणं, सिद्ध्ये न विनय विना क्रिया ॥४३२॥

अर्थ - आगत मुनि मन, वचन, काय से आचार्य को नमस्कार कर तथा दिन-रात उनके आश्रय मे रह कर विनयपूर्वक अपने आने का कारण कहता है, क्योकि विनय के बिना की गई क्रिया कार्यसिद्धि के लिए नहीं होती॥४३२॥

विश्राम्यासौ शल्यमुद्धर्तुकामः, श्रान्तः स्थित्वा वासरं तं द्वितीये।
तत्राचार्यं ढौकते वा तृतीये, न प्रारब्धं साधवो विस्मरन्ति ॥४३३॥

॥ इति मार्गणा सूत्रम् ॥१६॥

अर्थ - मार्ग के श्रम से थका हुआ आगत मुनि प्रथम दिन तो विश्राम करता है। पश्चात् दूसरे या तीसरे दिन अपनी शल्य को दूर करने के लिए वहाँ के आचार्य के समीप उपस्थित होता है। ठीक ही है, क्योंकि साधुजन प्रारम्भ किये हुए कार्य को भूलते नहीं हैं अर्थात् जिस कार्य के लिए आये हैं उसका विस्मरण नहीं होने देते ॥४३३॥

इस प्रकार मार्गणा सूत्र पूर्ण हुआ ॥१६॥

(५)
सुस्थितादि अधिकार

१७. सुस्थित उपसम्पदा

निर्यापकाचार्य के गुण

आचारी सूरिराधारी, व्यवहारी प्रकारकः।
आयापायदृगुत्पीडि, सुखकार्यपरिस्रवः ॥४३४॥

अर्थ - आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकारक अर्थात् कर्ता, आयापायदृग्, उत्पीडक, सुखकारी और अपरिस्रावी ये आठ गुण निर्यापकाचार्य मे होने चाहिए ॥४३४॥

एभिर्निर्यापकः सूरिर्गुणैरष्टभिरन्वितः।
दातुमाराधनामीशः, पृथु-कीर्तिरुपेयुषे ॥४३५॥

अर्थ - निर्यापक आचार्य इन आठ गुणो से समन्वित होता है, वह विशाल कीर्ति युक्त होता है और आगत साधु को आराधना अर्थात् समाधि देने मे समर्थ होता है ॥४३५॥

आचारवत्त्वगुण का विवेचन

आचारी स मतः सूरिरतिचार-निराकृतम्।
चर्यते चार्यते येन, पञ्चाचारोऽनुमन्यते ॥४३६॥

अर्थ - जो निरतिचार पचाचार का स्वय पालन करता है और दूसरो से भी पालन कराता है वह आचार्य आचारवान् कहा जाता है ॥४३६॥

प्रश्न - पचाचार किसे कहते है ?

उत्तर - पाँच प्रकार के स्वाध्याय मे तत्पर रहना **ज्ञानाचार** है, जीवादि तत्त्वो के श्रद्धानरूप परिणत होना **दर्शनाचार** है। हिंसादि से निवृत्तिरूप परिणत होना **चारित्राचार** है, बारह प्रकार के तपों मे परिणत रहना **तपाचार** है और तप मे अपनी शक्ति न छिपाना **वीर्याचार** है।

अन्य प्रकार से आचारवत्त्व गुण का निर्देश

दशधा स्थितिकल्पे वा, सुस्थितो गत-दूषणे।
आचारी कथ्यते युक्तः, सूरिरागम-मातृभिः ॥४३७॥

अर्थ - दोष रहित दश प्रकार के स्थितिकल्प मे जो स्थित रहता है तथा तीन गुप्ति और पाँच समिति रूप अष्ट प्रवचन माता से युक्त होता है, वह आचार्य आचारवान् कहा जाता है॥४३७॥

दश प्रकार के स्थितिकल्प

अचेलकत्वमुद्दिष्ट-शय्येशाहार-वर्जने।
राजपिण्ड-विवर्जित्वं, कृतिकर्म-प्रवर्तनम् ॥४३८॥

व्रतप्ररोहणार्हत्वं, ज्येष्ठत्व च प्रतिक्रम.।
मासैकत्र स्थितिः पर्या, स्थितिकल्पा दशेरिताः ॥४३९॥

अर्थ - अचेलकत्व, उद्दिष्टत्याग, शय्याधर आहारत्याग, राजपिडत्याग, कृतिकर्मप्रवृत्त, व्रतारोपण अर्हत्व, ज्येष्ठत्व, प्रतिक्रम, मासैकवासिता और पर्या ये दश स्थिति कल्प हैं॥४३८-४३९॥

प्रश्न - इन दश कल्पो के क्या लक्षण है?

उत्तर - **१. अचेलकत्व स्थिति कल्प** - चेल नाम वस्त्र का है। वस्त्र का त्याग अचेलक है किन्तु यह उपलक्षण है क्योकि सर्व परिग्रह के त्याग को ही अचेलक्य कहते है। सर्व परिग्रह का त्याग करनेवाले यति विरागभाव को प्राप्त हो जाने से उत्तम क्षमादि दश धर्मो के पालक होते हैं।

१ वस्त्रग्रहण महान् असयम का कारण है अत अचेलता मे सयमशुद्धि नाम का गुण है।

२ विद्याहीन पुरुष सर्पो से व्याप्त वन मे जैसे अत्यन्त सावधानी पूर्वक रहता है, उसी प्रकार अचेलक यति इन्द्रियो को वश मे रखने की पूर्ण सावधानी रखते है, अत अचेलता मे इन्द्रिय-विजेता नाम का गुण है।

३ वस्त्रग्रहण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायो की उत्पत्ति का कारण है, अत अचेलता मे कषायनिग्रह नाम का गुण है।

४ अचेल हो जाने पर स्वाध्याय और ध्यान मे निर्विघ्नता रहती है।

५ अचेलता मे परिग्रहत्याग नाम का महान् गुण है।

६ राग-द्वेष बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होते हैं, अत· अचेलता मे राग-द्वेष का अभाव नाम का गुण है।

७ शरीर से रागभाव होने के कारण मनुष्य असयम एव परिग्रह मे प्रवृत्ति करता है, अत शरीर मे अनादर भाव अचेलता का गुण है।

८ चेलधारी को देशान्तर जाने के लिए साहाय्य की आवश्यकता होती है और सहायता पराधीन होती है, अत: अचेलता में स्वाधीनता नामक गुण होता है।

९ वस्त्रधारी को भावशुद्धि का ज्ञान नहीं हो पाता, अत अचेलता में चित्त की विशुद्धि को प्रगट करने का भी गुण है।

१० इस प्रकार अचेलता मे निर्भयता, प्रतिलेखना का अभाव, वस्त्र को सीना, बाँधना, सुखाना, उठाना आदि रूप परिकर्म का अभाव, निष्परिग्रही होने से लघुता और तीर्थंकरो के मार्ग का उद्योत, ये सभी गुण समाविष्ट हैं। इस प्रकार वस्त्रधारण मे अपरिमित दोष और अचेलता मे अपरिमित गुण होने से अचेलता को **स्थितिकल्प** रूप से कहा गया है।

२ **औद्देशिक त्याग स्थितिकल्प** - श्रमणों के उद्देश्य से बनाये गये भोजन आदि को औद्देशिक कहते है। अध कर्म आदि के भेद से उसके सोलह प्रकार है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के तीर्थगत साधुओ द्वारा यह सोलह प्रकार का औद्देशिक त्याग करने योग्य है।

३ **शय्याधर पिण्डत्याग स्थितिकल्प** - शय्याधर तीन प्रकार के होते हैं। वसतिका बनाने वाले, वसतिका का जीर्णोद्धार करानेवाले और जो मात्र वसतिका देते हैं कि आप यहाँ ठहरिये। इन तीनो प्रकार के दाताओ द्वारा दिया हुआ आहार, पीछी, कमण्डलु आदि शय्याधर पिण्ड है, उसका त्याग करना चाहिए।

४ **राजपिण्डत्याग स्थितिकल्प** - प्रजा का पालन और दुष्टो से रक्षण कर जो प्रजा का अनुरजन करता है उसे, तथा उसी के सदृश महाऋद्धि या सम्पत्तिवान् को राजा कहते हैं। ऐसो का पिण्ड ग्रहण करना राजपिण्ड है। यह आहार, अनाहार और उपधि के भेद से तीन प्रकार का है।

आहार - खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय के भेद से आहार चार प्रकार का है।

अनाहार - तृण, फलक, आसनादि पदार्थ अनाहार हैं।

उपधि - पीछी, कमण्डलु एव वस्त्रादि उपधि है। ऐसा राजपिण्ड लेने मे बहुत दोष आते हैं, अत राजपिण्ड का त्याग कर देना चाहिए, किन्तु यदि कोई ऐसा कारण उपस्थित हो जाय कि आहार के बिना साधु का प्राणान्त हो रहा हो और साधु के मरण से श्रुत का विच्छेद हो रहा हो तो श्रुत की रक्षा हेतु राजपिण्ड ग्रहण किया जा सकता है।

५. **कृतिकर्मप्रवृत्त स्थितिकल्प** - छह आवश्यक क्रियाएँ आवर्त, शिरोनति, दण्डक और कायोत्सर्ग आदि से युक्त होती हैं, उन सब आवश्यको को यथाविधि करना, अथवा चारित्रसम्पन्न मुनि का, गुरु का एव अपने से बडे साधुओं का विधिपूर्वक विनय करना कृतिकर्मप्रवृत्त स्थितिकल्प है।

६ **व्रतारोपण अर्हत्व स्थिति कल्प** - यह शिष्य व्रत धारण के योग्य है या नहीं इस प्रकार के परीक्षण की बुद्धि आचार्यों में अवश्य होनी चाहिए। जो अचेलकपने में स्थित रह सकता है, उद्दिष्ट आदि दोषों

का त्याग कर सकता है, गुरुभक्ति से ओत-प्रोत है और विनीत है, वही व्रतो को धारण करने का पात्र है। ऐसे योग्य मुमुक्षु भव्य जीवों को पॉच महाव्रत और पाँच समिति आदि व्रतो से सम्पन्न कर देना व्रतारोपण अर्हत्व स्थितिकल्प है। पॉच महाव्रतो की निर्दोष पालना हेतु रात्रिभोजन त्याग नामक छठे व्रत का भी पालन करना चाहिए। अहिंसा[1] व्रत का विषय सम्पूर्ण जीवराशि है। अर्थात् इस व्रत मे सब जीवो की हिसा का त्याग किया जाता है। अचौर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत का विषय सम्पूर्ण द्रव्य है क्योकि जिसका कोई स्वामी है ऐसा कोई भी द्रव्य बिना दिये ग्रहण नहीं करना ही अचौर्य-महाव्रत है। सर्वद्रव्य का त्याग करना ही पाँचवाँ महाव्रत है। शेष दो महाव्रत द्रव्यो के एकदेश को विषय करते है।

प्रश्न - दो महाव्रत द्रव्यो के एकदेश को विषय करते है, ऐसा क्यो कहा गया है ?

उत्तर - इसका कारण ग्रन्थ मे नहीं दिया गया है किन्तु चिन्तन से ऐसा अनुभव हो रहा है कि सब द्रव्यो का यथार्थ और प्रत्यक्ष जानना केवलज्ञान का विषय है। यहाँ क्षयोपशम ज्ञान है, अत. सब द्रव्य ग्रहण नहीं किये गये हैं, इतना अवश्य है सत्यमहाव्रती साधु बुद्धिपूर्वक नौ कोटि से असत्य-भाषण का त्याग करता है।

शील के अठारह हजार गुण चौदहवे गुणस्थान मे पूर्ण होते है। सम्भवत इसी कारण ब्रह्मचर्य महाव्रत का विषय भी द्रव्य का एकदेश कहा गया है।

७ ज्येष्ठ स्थितिकल्प - सग्रह, उपकार और रक्षा करने के सामर्थ्य को पुरुषत्व कहते है। यह पुरुषत्व पुरुष मे होता है, धर्मप्रवर्तन पुरुष के द्वारा होता है तथा पुरुषार्थ के अन्तिम फल मोक्ष को भी पुरुष ही प्राप्त करता है, अत चिरकाल से दीक्षित और पॉच[2] महाव्रतो की धारी आर्यिका से तत्काल का दीक्षित भी पुरुष ज्येष्ठ होता है। इसलिए सब आर्यिकाओ को साधु की विनय करनी चाहिए। अथवा चारित्रादि की विशिष्टता के कारण मुनि समुदाय मे आचार्य की ज्येष्ठता होती है।

८ प्रतिक्रम स्थितिकल्प - अचेलता आदि स्थितिकल्पो मे दोष लग जाने पर साधु को प्रतिक्रम करना चाहिए। दैवसिक, रात्रिक, इत्तिग्यि अर्थात् ईर्यापथिक भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, साम्वत्सरिक और उत्तमार्थ के भेद से प्रतिक्रमण के सात भेद है। आदिनाथ और महावीर स्वामी के तीर्थगत साधुओ को प्रतिक्रमण प्रतिदिन करना ही चाहिए, ऐसा आगम का उपदेश है।

९ मासैकवासिता स्थितिकल्प - वसन्त आदि ऋतुओ मे से प्रत्येक ऋतु मे एक मास पर्यन्त मुनि एक स्थान पर निवास कर सकते है और एक माह विहार करते हैं। एक ही स्थान पर चिरकाल तक रहने से उद्गमादि दोषो का परिहार अशक्य हो जाता है, वसतिका पर और भक्तो पर प्रेम हो जाता है, सुख मे लम्पटता हो जाती है, आलस्य भर जाता है, सुकुमारता आ जाती है और जिन श्रावको के यहाँ पूर्व में आहार हो चुका है पुनरपि वहाँ-वहाँ ही आहार लेना पडता है।

---

१ पढमम्मि सव्वजीवा, तदिये चरिये य सव्व-दव्वाइ।
सेसा महव्वदा खलु, तदेकदेसम्मि दव्वाण ॥ भगवती आ पृष्ठ ३३१ ॥

२ पञ्चमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया । भगवती आ पृष्ठ ३३१ ॥

१०. पर्या या पाद्य स्थितिकल्प - वर्षा काल के चार माह में एक ही स्थान पर रहना, विहार नहीं करना, यह पाद्य नाम का दसवाँ कल्प है। हिंसादि दोषो से बचने के लिए साधुजन आषाढ़ी पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त अर्थात् एक सौ बीस दिन एक ही स्थान पर रहते हैं, यह उत्सर्ग नियम है। कारणवश इससे कम या अधिक समय तक भी ठहर सकते हैं। आषाढ़ शुक्ला दशमी से कार्तिक पूर्णिमा के बाद आगे एक मास तक और रह सकते हैं। शास्त्रपठन, शक्ति का अभाव, वैयावृत्य तथा वर्षा आदि की अधिकता होने पर इससे अधिक समय तक भी वहाँ ठहर सकते हैं। इसी प्रकार दुर्भिक्ष, महामारी आदि रोग, भय आदि के निमित्त ग्राम या नगरवासी ही अपना स्थान छोड़कर देशान्तर जा रहे हो अथवा सघ-नाश का कोई निमित्त उपस्थित हो रहा हो तो सघ की और रत्नत्रय की रक्षा के लिए चातुर्मास मे भी अन्यत्र विहार कर सकते हैं। ये दस कल्प यत्याचार के भेद है।

अवद्य-भीरुको नित्यं, दशस्वेतेषु यः स्थितः।
क्षपकस्य समर्थोऽसौ, वक्तुं चर्यामदूषणाम् ॥४४०॥

अर्थ - जो आचार्य सदा पापो से भयभीत रहता है और उपर्युक्त दश स्थितिकल्पो मे स्थित रहता है, वही आचार्य क्षपक के लिए निर्दोष चर्या का प्रतिपादन करने मे समर्थ होता है॥४४०॥

आचार्य आचारवान् होना चाहिए

उद्यतः पञ्चधाचारं यः कर्तुं समितक्रियः।
क्षपकः पञ्चधाचारे, प्रेर्यते तेन सर्वदा ॥४४१॥

अर्थ - जो आचार्य पाँच प्रकार के आचार मे उद्यमशील रहता है और जिसकी सर्व क्रियाएँ सम्यक्रूप से होती है, वही आचार्य क्षपक को सदा पचाचार मे प्रेरित कर सकता है॥४४१॥

अशुद्धमुपधिं शय्यां, भक्तं पानं च सस्तरम्।
सहायानप्यसंविग्नान्, विधत्ते च्यवनस्थितिः ॥४४२॥

अर्थ - जो आचार्य क्षपक के लिए उद्गमादि दोषो से अशुद्ध उपकरण, वसतिका, आहार, जल और सस्तर आदि की व्यवस्था करता है, तथा ऐसे ही अशुद्ध आहार आदि ग्रहण करनेवाले एव वैराग्य भावना से विहीन परिचारक मुनियो को क्षपक की वैयावृत्य के लिए नियुक्त करता है तो वह नियम से क्षपक को समाधि से च्युत कर देगा, अत आचार्य आचारवान् ही होना चाहिए॥४४२॥

सल्लेखनायाः कुरुते प्रकाशना, कथामयोग्यां क्षपकस्य भाषते।
स्वैरं पुरस्तस्य करोति मन्त्रं, गन्ध-प्रसूनादि-विधिं च मन्यते ॥४४३॥

अर्थ - आचारविहीन अयोग्य आचार्य क्षपक की सल्लेखना को लोगों के सामने असमय मे ही प्रकाशित कर देगा, क्षपक के समक्ष अशुभ परिणाम करनेवाली अयोग्य कथा-वार्ता करने लगेगा, योग्य-अयोग्य का विचार किये बिना क्षपक के समक्ष स्वच्छन्दतापूर्वक बात करेगा और लोगो को गन्ध-पुष्पादि लाने को कहेगा, अथवा क्षपक को गन्धादि सेवन करने की अनुमति देगा॥४४३॥

सारणा वारणां नास्य, कुरुते च्यवन-स्थितः।
क्षपकस्य महारम्भं, कञ्चित्कारयते गणी ॥४४४॥

अर्थ - जो निर्यापक स्वय च्यवनस्थित है अर्थात् भ्रष्ट है वह सारणा अर्थात् रत्नत्रय में प्रवृत्ति और वारणा अर्थात् रत्नत्रय से च्युत होने का निषेध नहीं करेगा और क्षपक का निमित्त लेकर अथवा क्षपक से महारम्भ करवायेगा अर्थात् वसतिका, पट्टकशाला आदि बनाने का तथा महापूजा-विधानादि का कार्य करवायेगा ॥४४४॥

आचारस्थः पुनर्दोषान्यतः सर्वान्विमुञ्चति।
निर्यापकस्ततः सूरिराचारस्थोऽभिधीयते ॥४४५॥

इति आचारी ॥

अर्थ - आचारवत्त्व गुण युक्त आचार्य उपर्युक्त दोषो का त्याग करते हैं, क्योकि दोषो से रहित और गुणो मे प्रवृत्त होनेवाले आचार्य ही निर्यापक होने योग्य हैं, ऐसा कहा गया है ॥४४५॥

इस प्रकार आचारवत्त्व गुण का वर्णन पूर्ण हुआ।

आधारवान् गुण का कथन

धीरोऽखिलाङ्ग-पूर्वज्ञो, यः कालव्यवहारवित्।
आधारी स महाप्रज्ञो, गम्भीरो मन्दरस्थिरः ॥४४६॥

अर्थ - जो आचार्य सम्पूर्ण अगो और पूर्वों का ज्ञाता है, समय और व्यवहार को जाननेवाला है, महाप्रज्ञ, सुमेरु सदृश स्थिर मनवाला, धीर एव गम्भीर है वह आधारवान् कहा जाता है ॥४४६॥

प्रश्न - आधारवान् को किसका आधार है और क्षपक के लिए उनकी क्या उपयोगिता है?

उत्तर - ज्ञान आधार है अत जो ज्ञानवान् है वही आधारवान् है। ये क्षपक को समझाते रहते हैं कि देखो! अशुभ, शुभ और शुद्ध के भेद से परिणाम तीन प्रकार का है। मन, वचन, काय सम्बन्धी विकल्परूप परिणाम अशुभ है, पुण्यास्रव के कारणभूत परिणाम शुभ है और शुभ एव अशुभ कर्मों के सवर मे कारणभूत परिणाम शुद्ध है, अत आपको अपने परिणामो मे सावधानी बरतनी है, इत्यादि। इस प्रकार जो दिन-रात श्रुत का उपदेश करते हुए क्षपक को शुभ या शुद्ध परिणामो मे लगाये रहते है, तथा दर्शन, चारित्र और तप का आधार होने से वे क्षपक को इन गुणो मे भी स्थिर रखने का उपक्रम करते रहते है। यही उनकी उपयोगिता है।

ज्ञानहीन आचार्य का आश्रय लेने मे दोष हैं

चतुरङ्गमगीतार्थो, नाशयेल्लोक-पूजितम्।
ससृतौ लप्स्यते भूयो, नाशित तच्च दुःखतः ॥४४७॥

अर्थ - जो निर्यापक सिद्धान्त का मर्मज्ञ नहीं है वह क्षपक के लोक-पूजित चतुरग को नष्ट कर देता है और एक बार चतुरग का नाश हो जाने पर ससार में उसका पुन: प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है ॥४४७॥

प्रश्न - इस उपर्युक्त कथन का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चारों मोक्षमार्ग के अंग हैं अत इन्हें चतुरग कहते हैं। यह चतुरग लोकपूज्य निर्वाण का उपकारक है किन्तु सिद्धान्त से अनभिज्ञ निर्यापक क्षपक के इस चतुरंग को नष्ट कर देता है। एक बार नष्ट हो जाने पर यह चतुरग पुनः प्राप्त होना सुलभ नहीं है, क्योंकि जो चतुरग को नष्ट कर देता है वह मिथ्यात्वरूप परिणत होकर कुगति मे चला जाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य अर्थ अर्थात् अभिप्राय है।

संसार-सागरे घोरे, दुःख-नक्र-कुलाकुले।
दुःखतोऽटाट्य-मानेन, प्राप्यते जन्म-मानुषम् ॥४४८॥

अर्थ - जिसमें दुखरूपी मगरमच्छो का समुदाय भरा हुआ है ऐसे घोर ससार सागर में भ्रमण करता हुआ यह जीव अत्यन्त कठिनाई से मनुष्यभव को प्राप्त करता है॥४४८॥

देशो जातिः कुलं रूपं, कल्पता जीवितं मतिः।
श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा, संयमो दुर्लभो भवेत् ॥४४९॥

अर्थ - इस ससार मे देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्यता, आयु, बुद्धि, धर्मश्रवण, उसका ग्रहण, उस पर श्रद्धा और सयम की प्राप्ति ये सब एक से एक अतिदुर्लभ हैं॥४४९॥

प्रश्न - जब जीव जन्म लेता है तब कोई-न-कोई देश, कुल, जाति एव बुद्धि आदि तो सहज प्राप्त हो जाते हैं, इनमे दुर्लभता की क्या बात है ?

उत्तर - जैसे साधु के मुख से कठोर वचन निकलना दुर्लभ है, सूर्य मे अन्धकार, क्रोधी मे दया, लोभी मे सत्यवचन, मानी मे परगुणकथन, स्त्रियो मे सरलता, दुष्टो मे कृतज्ञता और विधर्मियो मे तत्त्वबोध दुर्लभ है, वैसे ही मनुष्य-भव दुर्लभ है क्योंकि तीन सौ तैंतालीस घन राजू प्रमाण इस विशाल विश्व मे ढाई द्वीप सम्बन्धी पैंतालीस लाख योजन मात्र मनुष्य के लिए हैं, अत मनुष्यभव की दुर्लभता है। स्थान की अपेक्षा अनन्तकाल व्यतीत हो जाने के बाद ऐसा स्थान प्राप्त होता है।

यदि मनुष्य भव भी मिल जाय तो आर्यक्षेत्र मिलना, इसमे भी धर्माराधन योग्य देश मे जन्म होना दुर्लभ है, उसमे भी सज्जातित्व मिलना दुर्लभ है।

प्रश्न - सज्जाति किसे कहते हैं ?

उत्तर - पिता के कुल और माता की जाति का शुद्ध होना सज्जाति है। अर्थात् जातिसकर, वीर्य-सकर आदि जिस जाति मे नहीं होते वह सज्जाति है। अर्थात् जिस जाति मे कन्या का ही विवाह होता है। पुनर्विवाह, विधवा-विवाह, अन्तरजातीय एव विजातीय विवाह नहीं होता और जो व्यभिचारी की परम्परा के अन्तर्गत नहीं है। इस प्रकार के गुणविशिष्ट को **सज्जातित्व** कहते हैं।

यदि सज्जाति प्राप्त हो गई तो उत्तम कुल, प्रशस्त रूप, दीर्घायु, हेयोपादेयरूप बुद्धि, शारीरिक और मानसिक नीरोगता, जैनधर्मोपदिष्ट तत्त्वो का स्वरूप सुनना, उन्हे ग्रहण करना, उन पर श्रद्धा करना और सयम

धारण करना ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। अर्थात् कभी एक मिलता है तो दूसरा नहीं, दूसरा मिला तो तीसरा नहीं, एक साथ सबके सब योग मिलना अतिदुष्कर कार्य है। इस प्रकार क्षपक मुनिराज को जो सयम प्राप्त हुआ है वह अत्यधिक कठिनाई से प्राप्त हुआ है, अत उसका रक्षण अत्यावश्यक है।

बहु-दुर्लभ-सन्तत्या, साधुलब्ध्वापि संयमम्।
लभते नाज्ञ-सान्निध्ये, देशनां धृति-वर्द्धनीम्॥४५०॥

अर्थ - इस प्रकार उस क्षपक साधु को अतिदुर्लभ परम्परा से सयम की प्राप्ति हुई है फिर भी यदि किसी अज्ञानी निर्यापक का सान्निध्य प्राप्त हो गया तो उसे धैर्य को वृद्धिंगत करनेवाला उपदेशामृत प्राप्त नहीं हो सकता॥४५०॥

प्रपाल्यापि चिरं वृत्तमश्रुताधार-सन्निधौ।
अलब्ध-देशनो मृत्युकाले प्रभ्रंशते ततः॥४५१॥

अर्थ - और जिसे धर्मोपदेश नहीं मिला ऐसा वह क्षपक श्रुतज्ञान से रहित अर्थात् अज्ञानी निर्यापक के निकट मृत्युकाल में अपना चिरकाल से पालित चारित्र नष्ट कर देता है॥४५१॥

दोषेभ्यो वार्यते दुःखं, संन्यस्तः क्रियते सुखम्।
छिद्यते सुखतो वंशः, कृष्यते दुःखतस्ततः॥४५२॥

अर्थ - समाधि मे उद्यत उस क्षपक को सदुपदेश के द्वारा ही दोषो से रोका जा सकता है और उससे ही उसका शारीरिकादि दुख भुलाकर सुखी किया जा सकता है। जैसे अकुर रूप छोटा बॉस सुख से उखाडा जा सकता है किन्तु बडा हो जाने पर वह दुख से-कठिनाई से उखड़ता है॥४५२॥

प्रश्न - आचार्यदेव बाँस के दृष्टान्त से क्या शिक्षा देना चाहते हैं?

उत्तर - आचार्यदेव कह रहे है कि जैसे बाँस के समुदाय मे से एक छोटे बॉस को छेद कर निकाल लेना सुलभ है किन्तु उसको उखाड लेना बहुत कठिन है। वैसे ही भूख-प्यास आदि की वेदना के समय क्षपक के मन को पचेन्द्रियो के विषयो से निकाल कर सयम मे स्थापन करना कठिन है। यद्यपि क्षपक ने ही राग-द्वेष का नाश या शमन करने की प्रतिज्ञा की थी, तथापि सल्लेखना के अन्तर्गत होनेवाले क्षुधादि परीषहो से पीडित एव अल्पशक्ति-धारक उस क्षपक के मन को श्रुतज्ञान मे एकाग्र न कर सकने के कारण अज्ञानी निर्यापक उसकी चारित्राराधना मे सहयोगी नही हो सकता। अर्थात् अज्ञानी आचार्य के सान्निध्य मे रहनेवाला क्षपक उपदेश के अभाव मे सक्लेश को प्राप्त होता हुआ सयम का घात कर देता है।

अयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानस्त्वसौ कदा।
आर्तरौद्राकुलीभूतश्चतुरङ्गे न वर्तते॥४५३॥

अर्थ - यह जीव अन्नमय है, मानो अन्न से उत्पन्न हुआ है क्योंकि अन्न ही प्राणरक्षण का मूल है। क्षपक ऐसे अन्न का त्यागी है। उस समय कभी-कभी क्षपक आर्त-रौद्र ध्यान से आकुलित होता हुआ चारो आराधनाओ रूप वर्तन नहीं कर पाता॥४५३॥

शिक्षान्न-श्रुति-पानाभ्यां, साधुराप्यायितः पुनः।
क्षुधा-तृष्णाभिभूतोऽपि, शुद्धध्याने प्रवर्तते॥४५४॥

अर्थ - हित की शिक्षारूप उत्कृष्ट अन्न और शास्त्र-श्रवणरूप पान के द्वारा क्षपक को सन्तुष्ट अर्थात् तृप्त कराया जाता है, उससे वह भूख-प्यास से पीडित होने पर भी पुन. शुद्ध या शुभ ध्यान में प्रवृत्त हो जाता है। अर्थात् बहुश्रुतज्ञ आचार्य के आश्रय से तो क्षपक वेदना से आकुलित होता हुआ भी आत्मध्यान में स्थिर हो जाता है किन्तु वही क्षपक अज्ञानी आचार्य के आश्रय से आर्तरौद्रध्यानी बन जाता है॥४५४॥

क्षुधया तृष्णया साधोर्बाधितस्य ददाति न।
उपदेशमशास्त्रज्ञः समाधि-जनन-क्षमम्॥४५५॥

अर्थ - भूख-प्यास से पीड़ित उस क्षपक को अल्पज्ञानी आचार्य समाधि के साधनभूत उत्कृष्ट उपदेशादि देने में समर्थ नहीं हो सकता, अत निर्यापक शास्त्रज्ञ ही होना चाहिए॥४५५॥

ताभ्यां प्रपीडितो बाढं, भिन्नभावस्तनुश्रुतः।
रोदनं याचनं दैन्यं, करुणं विदधाति सः॥४५६॥

अर्थ - वह अल्पज्ञानी क्षपक भूख-प्यास से पीडित होता हुआ शुभ भावो को छोड़ देता है और भोजन-पान की याचना करता है, दीनता प्रगट करता है तथा ऐसा रुदन करता है कि सुनने वालो को दया आ जाती है॥४५६॥

पूत्कुर्यादसमाधान-पानं पिबति पीडितः।
मिथ्यात्वं क्षपको गच्छेद्विपद्येतासमाधिना॥४५७॥

अर्थ - भूख-प्यास से पीडित क्षपक सहसा चिल्लाने लगता है, असमाधान पानक पीने लगता है, सदुपदेश के अभाव मे मिथ्यात्व भाव को प्राप्त हो जाता है और पश्चात् असमाधि से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है॥४५७॥

प्रश्न - असमाधान पानक किसे कहते हैं?

उत्तर - स्वय खड़े होकर, अपने दोनो हाथों से आहार के समय, दाता के द्वारा प्रदत्त जो योग्य पान किया जाता है उसे समाधिपान कहते हैं, और इससे विपरीत बिना दिये, बैठकर तथा असमय में जो जल पी लिया जाता है उसे असमाधान पानक कहते हैं।

हित्वा निर्भर्त्स्यमानोऽसौ, संस्तरं गन्तुमिच्छति।
पूत्कुर्वत्ययशस्तत्र, त्याज्यमाने च जायते॥४५८॥

अर्थ - क्षपक का असमाधान पानक आदि अयुक्त कार्य देखकर यदि उसका तिरस्कार किया जाएगा तो वह सस्तर छोड़कर भागने की चेष्टा करेगा, और यदि रोने-चिल्लानेवाले क्षपक को सघ छोड़ देगा तो धर्म का महान् अपयश होगा। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि शास्त्रज्ञान से रहित निर्यापक क्षपक का नाश कर देता है॥४५८॥

शास्त्रज्ञ निर्यापक से होने वाले लाभ

समाधानविधिं तस्य, विधत्ते शास्त्रपारगः।
दीप्यते दीपितः कर्णाहुतिभिर्ध्यान-पावकः ॥४५९॥

अर्थ - शास्त्रो मे पारगत निर्यापक क्षपक की प्रत्येक समस्या की समाधानविधि करता है तथा उसके कानों में धर्मोपदेश की आहुति देकर उसकी दीपित ध्यान रूपी अग्नि को और भी अधिक दीप्त करता है। अर्थात् क्षपक धर्मध्यान मे लीन रहे, ऐसा ही उपदेश देता है॥४५९॥

प्रश्न - उपर्युक्त श्लोक का सहज-सरल अर्थ या भाव क्या है ?

उत्तर - शास्त्रज्ञ निर्यापक क्षपक के समाधिमरण की सर्व क्रिया आगमानुसार करते हैं और यदि क्षपक क्षुधादि वेदना से पीड़ित दिखाई देता है तो कर्णप्रिय, मधुर एव हृदयग्राही उपदेशामृत पिलाकर धर्मध्यान मे लीन रखते हैं, आर्तध्यान से रक्षा कर उसकी समुचित सल्लेखना कराते हैं।

क्षपकेच्छा-विधानेन, शरीर-प्रतिकर्मणा।
समाधि कुरुते सम्यगुपायैरपरैरपि ॥४६०॥

अर्थ - शास्त्रज्ञ निर्यापक क्षपक की इच्छानुसार उनकी शारीरिक प्रक्रियाओ को करते हुए रत्नत्रय मे स्थिर रखते हैं और अन्य-अन्य समीचीन उपायो द्वारा क्षपक की समाधि करा देते है॥४६० ॥

प्रश्न - क्षपक की इच्छाविधान की पूर्णता का क्या भाव है? क्या वे उसे इच्छानुसार जलादि पिला देते हैं ? तथा सम्यक् उपाय कौन-कौन से है ?

उत्तर - शास्त्रज्ञ आचार्य क्षपक की इच्छापूर्ति आगमानुसार ही करते हैं अन्यथा नहीं। जैसे प्यास आदि की तीव्र बाधा उत्पन्न हो जाने पर शीतोपचार आदि के द्वारा उनकी इच्छा को शान्त कर देते है। हृदय का उमडता हुआ धर्मवात्सल्य, परिचारको का सम्यक् समर्पण, अनुकूल वैयावृत्य, शान्तिदायक वचन, उत्तम उपकरणदान और प्राचीन क्षपको के हृदयग्राही आख्यान आदि सम्यक् उपाय है।

वैयावृत्यकरैस्त्यक्त, मा भैषीरिति भाषते।
निषिध्य ससृति तस्य समाधान करोति सः ॥४६१॥

अर्थ - वैयावृत्य करनेवाले यदि क्षपक को छोड देते हैं तो शास्त्रज्ञ निर्यापक कहते हैं तुम डरो मत, हम तुम्हारी सेवा करेगे। जिससे ससार बढता है ऐसे कार्य या ऐसे परिणामो का निषेध कर ज्ञानवान् निर्यापक क्षपक और परिचारक दोनो का समाधान कर देते हैं॥४६१॥

प्रश्न - परिचारक मुनि क्षपक का परित्याग क्यो कर देते हैं और गुणज्ञ निर्यापक दोनो का समाधान कैसे करते हैं ?

उत्तर - यदि क्षपक परीषह आदि सहन नहीं कर पाता है तो परिचारक साधुगण उनकी भर्त्सना करते हैं कि "तुम कायर हो, परीषह सहन तो नहीं करते हो और रोते-चिल्लाते हो, तुम्हारा मन बहुत चचल है, हमारा

तुमसे अब कुछ प्रयोजन नहीं है," ऐसा कह कर परिचारक मुनि जब क्षपक का त्याग कर देते हैं तब निर्यापकाचार्य 'तुम डरो मत, हम हैं' ऐसा कह कर उसे निर्भयता प्रदान करते हैं, आश्वासन देते हैं और उसे रत्नत्रय में स्थिर करते हैं, तथा जो परिचारक कटु भाषण कर क्षपक का उत्साह भंग करते हैं, उनका निवारण कर आचार्य उन्हें भी समझाते हैं कि "हे मुनिजन ! इस ससार में शरीर और आहार ये दो पदार्थ दुस्त्याज्य हैं फिर भी इस क्षपक का साहस देखो ! जो इसने उन दोनों से मोह छोड़ दिया है, अत यह क्षपक महापुरुष है, इसकी अवज्ञा मत करो और इससे कटु वचन मत कहो। आपका यह व्यवहार दोनों के संसार की अभिवृद्धि करनेवाला है।" इस प्रकार आचार्य दोनों का समाधान कर दोनों को अपने-अपने कार्य में उत्साहित कर देते हैं।

जानाति प्रासुकं द्रव्यं, गीतार्थो व्याधि-नाशनम्।
श्लेष्म-मारुत-पित्तानां, विकृतानां च विग्रहम्॥४६२॥

अर्थ - शास्त्रज्ञ निर्यापक व्याधिनाशक अर्थात् भूख-प्यास की वेदना को नष्ट करने में समर्थ प्रासुक द्रव्य देना जानते हैं तथा कफ, वात और पित्त का प्रकोप हो जाने पर उनका प्रतिकार करना भी जानते हैं॥४६२॥

श्रुतपानं यतस्तस्मै, दत्ते शिक्षण-भोजनम्।
क्षुत्तृष्णाकुल-चित्तोऽपि, ततो ध्याने प्रवर्तते॥४६३॥

अर्थ - ज्ञानवान् निर्यापक क्षपक को शास्त्रोपदेश रूपी पेय और हितकारी शिक्षा रूपी भोजन देते हैं, उस भोजन-पान से भूख और प्यास से भी पीडित क्षपक ध्यान मे एकाग्रचित्त होकर प्रवर्तन करता है॥४६३॥

गुणाः स्थितस्येति बहु-प्रकारा, गीतार्थ-मूले क्षपकस्य सन्ति।
सम्पद्यते क्वाचन नो विपत्तिः, संक्लेश-जालं न च किञ्चनापि॥४६४॥

इति आधारी॥

अर्थ - इस प्रकार शास्त्रज्ञनिर्यापक के चरण-मूल मे स्थित क्षपक के बहुत से गुण होते हैं। उस क्षपक को योग्य निर्यापक के निकट न कोई विपत्ति आती है और न कुछ संक्लेश भाव होता है, वह शान्तभाव से समाधिमरण में अग्रसर होता है॥४६४॥

इस प्रकार आधारी गुण का कथन पूर्ण हुआ।

व्यवहारी गुण का विवेचन

जानाति व्यवहारं यः, पञ्चभेदं सविस्तरम्।
दृष्टालोकित-शुद्धिश्च, व्यवहारी स भण्यते॥४६५॥

अर्थ - जो पाँच भेदवाले व्यवहार को विस्तारपूर्वक जानता है, जिसने बहुत बार शिष्यों को प्रायश्चित्त

दिया है तथा अपने गुरु के प्रायश्चित्त देने के क्रमादि को भी देखा है, ऐसे निर्यापकाचार्य को व्यवहारी कहते हैं॥४६५॥

प्रश्न - व्यवहारज्ञ आचार्य मे प्रायश्चित्त सम्बन्धी कौन-कौन से गुण होने चाहिए ?

उत्तर - प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञान, गुरुओ द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त का दर्शन और प्रायश्चित्त देने का अभ्यास, ये तीन गुण जिसमें होते हैं उसे ही व्यवहारवान् आचार्य कहते है। प्रायश्चित्तशास्त्र के ज्ञान से रहित जो आचार्य अपनी इच्छानुसार प्रायश्चित्त देते हैं उससे दूसरो की शुद्धि नहीं होती। प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता होते हुए भी यदि उसने कभी अन्य आचार्यों को प्रायश्चित्त देते हुए नहीं देखा है तो वह प्रायश्चित्त देते समय स्वय खेदखिन्न हो जायेगा तब दूसरे की शुद्धि क्या करेगा।

पाँच प्रकार के व्यवहार के नाम

व्यवहारो मतो जीद-श्रुताज्ञागम-धारणा।
एतेषा सूत्र-निर्दिष्टा, ज्ञेया विस्तर-वर्णना॥४६६॥

अर्थ - यहाँ व्यवहार शब्द का अर्थ प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त जीद, श्रुत, आज्ञा, आगम और धारण के भेद से पाँच प्रकार का है, जिसका सविस्तर वर्णन सूत्रो मे निर्दिष्ट है, अत वहीं से जानना चाहिए॥४६६॥

प्रश्न - यहाँ सूत्रो से ही जीद आदि प्रायश्चित्त का अर्थ जानने को क्यो कहा गया है?

उत्तर - क्योकि किन्हीं आरातीय आचार्यो ने कहा है कि -

सव्वेण वि जिण-वयण, सोदव्व सड्ढिदेण पुरिसेण।
छेद-सुदस्स हु अत्थो, ण होदि सव्वेण सोदव्वो॥ भगवती आ. पृ ३५५॥

अर्थात् समस्त श्रद्धालु पुरुषो को जिनागम सुनना चाहिए किन्तु छेद अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र का अर्थ सबको नहीं सुनना चाहिए।

प्रश्न - इन जीद आदि प्रायश्चित्तो का सक्षिप्त लक्षण क्या है ?

उत्तर - बहत्तर आचार्यों द्वारा जिसका विधान किया गया है, उसी को जब वर्तमान के आचार्य ग्रहण करते है तब उस प्राचीन प्रायश्चित्तविधि को जीद प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा केवली या चौदहपूर्वधरो के द्वारा जो व्यवहार प्रवर्त हुआ था, वही पुन पुन प्रवर्त होता रहा, उसी को वर्तमान आचाय ने ग्रहण किया उसे जीद प्रायश्चित्त कहते हैं।

चौदह पूर्वधरो के द्वारा या चौदहपूर्वों मे कहे हुए को श्रुत-प्रायश्चित्त कहते हैं।

अन्य स्थान मे स्थित आचार्य द्वारा अन्य स्थान स्थित किन्हीं अन्य आचार्य के द्वारा आलोकित अपने गुरु के दोष ज्येष्ठ शिष्य के हाथ भेजना, उक्त आचार्य दोषानुसार प्रायश्चित्त विधि बताकर उस शिष्य को जब

वापिस भेजते हैं तब वह आज्ञा प्रायश्चित्त होता है। अर्थात् किन्हीं आचार्य को कोई दोष लग गये किन्तु वे शक्ति या समयाभाव के कारण अन्य आचार्य के समीप नहीं जा पाते तब वे अपने ज्येष्ठ शिष्य को दोषों का विवरण देकर अन्य आचार्य के समीप भेज देते हैं। वहाँ जाकर वह शिष्य गुरु के अभिप्रायानुसार सब बात कह देता है और जो प्रायश्चित्त वे देते हैं उसे गुरु से कह देता है। यह आज्ञा प्रायश्चित्त है।

ग्यारह अंगों में कहे गये प्रायश्चित्त को आगम प्रायश्चित्त कहते हैं।

कारणवशात् एकाकी रहनेवाले कोई आचार्य या साधु जघाबलादि क्षीण हो जाने से जब अन्यत्र नहीं जा पाते तब वे पूर्व में सुनी, देखी या अनुभव में आई हुई प्रायश्चित्त विधि के अनुसार जो प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं उसे धारणा प्रायश्चित्त कहते हैं।

प्रायश्चित्त देने की विधि

द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय, कालं भाव-कृतोद्यमम्।
सम्यक् संहननमुत्साहं, पर्यायं पुरुषं श्रुतम्॥४६७॥

अर्थ - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उद्यमशीलता, सहनन, उत्साह, पर्याय, पुरुष और श्रुतज्ञान का विचार कर आचार्य को प्रायश्चित्त देना चाहिए॥४६७॥

प्रश्न - द्रव्य, क्षेत्र आदि का परिज्ञान कैसे करना चाहिए ?

उत्तर - साधुजन अपने गृहीत महाव्रतादि मे अतिचार लग जाने पर प्रायश्चित्त लेते हैं। आचार्य परमेष्ठी द्रव्य, क्षेत्रादि परिस्थितियो को जानकर ही प्रायश्चित्त देते हैं। सचित्त, अचित्त एव मिश्र के भेद से द्रव्य तीन प्रकार का है। साधु को त्रस-स्थावर जीवो के अर्थात् सचित्त द्रव्य के या तृण, फलक आदि अचित्तद्रव्य के या शास्त्र, पीछी, कमण्डलु युक्त साधु के आश्रयों में से किस कारण दोष लगे हैं, यह ज्ञान होना आवश्यक है, तथा उन्हे आहार के पदार्थों का ज्ञान होना भी आवश्यक है। कोई आहार रस-बहुल, कोई धान्य-बहुल, कोई शाक-बहुल, कोई मात्र हलुआ एव लपसी तथा शाक मात्र या पानक मात्र आहार होता है। इस आहार के दोषी साधु की प्रकृति जान कर ही उसे आहार सम्बन्धी प्रायश्चित्त देना चाहिए।

वर्षा ऋतु मे अर्ध कोस अथवा अर्ध योजन जाना ही शास्त्रसम्मत है। उससे अधिक क्षेत्र मे जाना, या वर्जित क्षेत्र मे जाना, या विरुद्ध राज्य मे जाना, या टूटे-फूटे मार्ग से जाना, उन्मार्ग से जाना, अन्तःपुर में प्रवेश कर जाना तथा वर्जित गृहभूमि मे जाना दोष है। साथ ही जलबहुल या रुक्ष आदि क्षेत्र सम्बन्धी जो दोष हुए हो उन्हें जान कर प्रायश्चित्त देना।

गर्मी, सर्दी, वर्षा के समय का ध्यान न रखना, छह आवश्यक समय पर न करके अन्य समय में करना तथा वर्षायोग के नियमो का उल्लघन करना दोष है।

गर्व, प्रमाद, आलस्य, अनाभोग, भय, प्रदोष एव क्रोधादि भाव रूप परिणमन करना दोष है। यह प्रमादादिजन्य कार्यों मे उद्यमशील है या समीचीन कार्यों मे सावधानी पूर्वक उद्यमशील रहते हुए भी किसी कारणवश दोष लगे हैं। इस दोषी साधु का सहनन कैसा है? कमजोर है या मजबूत है ? प्रायश्चित्त लेने में या

उसका पालन करने में इसका उत्साह कैसा है? यह प्रायश्चित्त क्यों लेना चाहता है ? साथ रहना चाहता है या यश या लाभ या कर्मों की निर्जरा के लिए प्रायश्चित्त लेना चाहता है। शरीर बल कैसा है, चिरदीक्षित है या अल्पकाल का दीक्षित है, शास्त्रज्ञ है या अल्पज्ञ है एव वैराग्यवान् है या सुखिया स्वभावी है , इत्यादि अनेक प्रकार के ऊहापोहात्मक ज्ञान से परिपक्व आचार्य ही प्रायश्चित्त देने के योग्य हैं।

राग-द्वेषावपाकृत्य, व्यवहार-विशारदः।
व्यवहारी ददात्यस्मै, प्रायश्चित्तं विधानतः ॥४६८॥

अर्थ - व्यवहार विशारद अर्थात् प्रायश्चित्तज्ञ आचार्य राग और द्वेष भावना को छोड़कर अर्थात् मध्यस्थ भाव धारण कर विधिपूर्वक दोषी मुनिराजो को प्रायश्चित्त देते हैं॥४६८॥

व्यवहारापरिच्छेदी, व्यवहारं ददाति यः।
अवाप्यासौऽयशो घोरं, संसारमवगाहते ॥४६९॥

अर्थ - जो आचार्य व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र को नहीं जानता, वह यदि प्रायश्चित्त देता है तो वह अपयश को प्राप्त कर अन्त मे घोर ससार मे डूबता है॥४६९॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - जो प्रायश्चित्त शास्त्र को ग्रन्थ रूप से, अर्थरूप से एव कर्मरूप से नहीं जानता वह आचार्य यदि अतिचार विनाश के इच्छुक मुनि को आलोचना आदि नौ प्रकार का प्रायश्चित्त देता है तो वह ससाररूपी कीचड़ में फँस कर दुख उठाता है और यहाँ अपयश पाता है। लोग कहते हैं कि यह तुण्डाचार्य है, इसके मुख पर जो आता है वही प्रायश्चित्त दे देता है। कौन सा प्रायश्चित्त कहाँ देना चाहिए जब इसे इसका ज्ञान ही नहीं है तब यह मुनियो को अपराधो से मुक्त कैसे करेगा? ससारभीरु साधुओ को यह व्यर्थ ही कष्ट दे रहा है, जगत् मे ऐसी अपकीर्ति होगी। इच्छानुसार प्रायश्चित्त देने से जिनाज्ञा का उल्लघन होता है, उन्मार्ग का उपदेश करने से सन्मार्ग का नाश होता है जो दर्शनमोहनीय कर्म के बन्ध का कारण है, अत अज्ञ आचार्य या मुनि प्रायश्चित्त देने का प्रयत्न न करे ऐसी आगम की आज्ञा है। जो आचार्य प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता हैं उन्हे भी प्रायश्चित्त देते समय सावधानी रख कर ही प्रायश्चित्त देना चाहिए और जैसे न्यायाधीश धारा के माध्यम से दण्ड व्यवस्था लिखता है वह ऐसा कभी नहीं लिखता या कहता है कि मैं न्यायाधीश हूँ, मैं कहता हूँ कि इसे फाँसी दे दो। इसी प्रकार 'हम आचार्य है, हमने जो प्रायश्चित्त दिया है उसे करो' इस प्रकार नहीं बोलना चाहिए क्योकि किस अपराध मे क्या प्रायश्चित्त देना है यह निर्धारण आगम का है।

इस प्रकार व्यवहारज्ञ आचार्यों को ही सावधानी पूर्वक प्रायश्चित्त देना चाहिए, अज्ञ-आचार्यों को नहीं। श्लोक का यही अभिप्राय है।

व्यवहाराबुधः शक्तो, न विशोधयितुं परम्।
किं चिकित्सामजानानो, रोगग्रस्तं चिकित्सति ॥४७०॥

अर्थ - प्रायश्चित्त की विधि न जाननेवाला आचार्य रत्नत्रय विशुद्धि के इच्छुक को शुद्ध नहीं कर सकता। क्या चिकित्साविधि को न जाननेवाला अनिपुण वैद्य रोगग्रस्त की चिकित्सा कर सकता है? ॥४७०॥

प्रश्न - इस श्लोक के दृष्टान्त द्वारा क्या शिक्षा दी जा रही है ?

उत्तर - इस श्लोक द्वारा परमोपकारी आचार्य क्षपक को शिक्षा दे रहे हैं कि हे क्षपक ! तुम अपराध अर्थात् रत्नत्रय की शुद्धि के लिए ऐसे अज्ञ आचार्य का आश्रय ग्रहण कभी मत करो जो वाचाल है, मूर्ख एव नवीन शिष्य मण्डली से सदा घिरे रहने के कारण गर्वोन्नत है तथा मूर्ख और अज्ञानी लोगो से ही पूज्य है, क्योंकि जैसे अनिपुण-अनाड़ी वैद्य रोगी को नीरोग नहीं कर सकता उसी प्रकार ऐसा आचार्य तुम्हारे अपराधों की शुद्धि कदापि नहीं कर सकता।

ततः समीपे व्यवहार-वेदिनः, स्थितिर्विधेयाक्षपकेण धीमता।
सिसिक्षुणा बोधि-समाधि-पादपौ, मनीषितानेक-फल-प्रदायिनौ ॥४७१ ॥

इति व्यवहारी ॥

अर्थ - इसलिए ज्ञान-चारित्र युक्त जो बुद्धिमान क्षपक मनोवाछित अनेक फल देनेवाले बोधि और समाधि रूप वृक्षों को वृद्धिंगत करना चाहता है, उसे व्यवहारज्ञ निर्यापकाचार्य के समीप ही रहना चाहिए ॥४७१ ॥

इस प्रकार आचार्य के व्यवहारत्व गुण का वर्णन पूर्ण हुआ।

आचार्य के प्रकारकत्व गुणों का निर्देश

प्रवेशे निर्गमे स्थाने, संस्तरोपधि-शोधने।
उद्वर्तने परावर्ते, शय्यायामुपवेशने ॥४७२ ॥

उत्थापने मल-त्यागे, सर्वत्र विधि-कोविदः।
परिचर्या-विधानाय, शक्तितो भक्तितो रतः ॥४७३ ॥

आत्मश्रममनालोच्य,क्षपकस्योपकारकः।
प्रकारको मतः सूरिः, स सर्वादर-संयुतः ॥४७४ ॥

अर्थ - जो आचार्य क्षपक के वसतिका से निकलने मे, प्रवेश मे, वसति, सस्तर और उपकरण के शोधन मे, कमजोर क्षपक को करवट दिलाने में, सीधा-उलटा सुलाने में, शय्या पर बैठाने मे, खडा करने मे और मलमूत्र आदि त्याग कराने मे तथा क्षपक की अन्य भी सब क्रियाओ को कराने मे चतुर हैं, पण्डित मरण सम्बन्धी परिचर्या की विधि सम्पन्न कराने मे सदा शक्ति और भक्ति से सलग्न रहते हैं, अपने श्रम का अर्थात् थकान आदि पर ध्यान न देकर सदा क्षपक का ही आदरपूर्वक उत्कृष्ट उपकार करते हैं, वे आचार्य प्रकारक या प्रकुर्वक कहे जाते हैं ॥४७२, ४७३, ४७४ ॥

निपीड्यमानः क्षपकः परीषहैः, सुखासिकां याति सहाय-कौशलैः।
यतस्ततस्तेन समाधिमिच्छता, निषेवणीया गुरवः प्रकारकाः ॥४७५ ॥

इति प्रकारकः ॥

अर्थ - क्षुधादि परीषहों से पीड़ित क्षपक सेवा एवं वैयावृत्य करने में कुशल आचार्यादि द्वारा ही सुख-

शान्ति को प्राप्त कर सकता है, अत समाधिमरण के इच्छुक क्षपक को प्रकारक गुण युक्त आचार्य के निकट ही समाधिमरण करना चाहिए।।४७५।।

इस प्रकार प्रकारक-वर्णन पूर्ण हुआ।।

आय-अपाय विदर्शित्व गुण निरूपण

अस्ति तीरं गतस्यापि रागद्वेषोदय: पर:।
परिणामश्च संक्लिष्ट: क्षुत्तृष्णादि-परीषहै:।।४७६।।

अर्थ - यद्यपि क्षपक ससार-समुद्र के किनारे पहुँच चुका है अथवा उसका मनुष्य पर्याय का तीर आ चुका है फिर भी उसे रागद्वेष का तीव्र उदय आ सकता है जिससे भूख-प्यास की परीषहो के कारण क्षपक के परिणाम सक्लेशयुक्त भी हो जाते हैं।।४७६।।

आलोचनां प्रतिज्ञाय, पुनर्विप्रतिपद्यते।
लज्जते गौरवाकांक्षी, स तां कर्तुमपास्तधी:।।४७७।।

अर्थ - क्षपक प्रतिज्ञा करता है कि मुनिदीक्षा से अद्यावधि रत्नत्रय मे जो दोष लगे है, गुरु के समक्ष उनकी यथावत् आलोचना करूँगा, किन्तु आलोचना करते समय अपने बडप्पन का आकाक्षी वह क्षपक जिस प्रकार अपराध किये हैं उसी प्रकार से कहने मे लज्जा करता है।।४७७।।

तत: स्थापनाकारी, त्यागावज्ञानभीलुक:।
क्षपको गुण-दोषौ नो, पूजाकामो विवक्षति।।४७८।।

अर्थ - तत्पश्चात् वह क्षपक अपने को सम्यक् आचार मे स्थापित तो करना चाहता है किन्तु 'आलोचना करना गुण है तथा आलोचना न करना दोष है' यह नहीं जानता, अत मैं यदि यथावत् दोष कह दूँगा तो ये मेरी अवज्ञा कर मुझे त्याग देगे, इस प्रकार डरता है। अथवा पूजा, प्रतिष्ठा का आकाक्षी वह क्षपक अपने अपराध और शरीर के त्याग मे तत्पर होता हुआ भी गुरु से अपने अपराध यथावत् नहीं कह पाता।।४७८।।

आयापाय-विधिर्येन, हेयोपादेय-वेदिना।
दिश्यते क्षपकस्यासावायापायदिगुच्यते।।४७९।।

अर्थ - पूजा-सत्कार की आकाक्षा से, लज्जा से या भय से जो क्षपक शुद्ध आलोचना नहीं कर पाता उसे हेयाहेय को जाननेवाले निपुण आचार्य आय एव अपाय की विधि का उपदेश देते हैं, अत उस आचार्य को आयोपायदर्शी कहते हैं।।४७९।।

प्रश्न - आयापाय किसे कहते है और आचार्य क्षपक को इसकी क्या विधि समझाते हैं ?

उत्तर - रत्नत्रय के लाभ को अथवा उसकी विशुद्धि को आय या उपाय कहते हैं तथा रत्नत्रय के विनाश को अपाय कहते हैं। आचार्यदेव इसकी यही विधि क्षपक को समझाते हैं कि हे क्षपक ! यदि तुम अपने दोषो की आलोचना नहीं करोगे या मायाचारीपूर्वक मात्र सामान्य ही दोष कहोगे तो तुम्हारे रत्नत्रय का नाश हो जायेगा जिससे तुम चारित्रभ्रष्ट कहलाओगे और यदि बालकवत् सरल हृदय से यथावत् आलोचना कर लोगे

तो तुम्हें रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति हो जायेगी अथवा तुम्हारा रत्नत्रय निर्मल हो जायेगा।

ततो वक्रमतेस्तस्य, सामान्यालोचनाकृते।
आपायादिशा वाच्यौ, गुणदोषौ गणेशिना॥४८०॥

अर्थ - यदि कोई वक्रबुद्धि क्षपक मायाचारपूर्वक विशेष दोषो को छिपाकर मात्र सामान्य दोषों की आलोचना करता है तो आयोपायदर्शी आचार्य उसे आलोचना के गुण-दोष कहते हैं॥४८०॥

आचार्य का क्षपक को उपदेश

दु:खत: संयमं लब्ध्वा, शरीरी भवसागरे।
सशल्य-मृत्युना सारं, नाशयत्यपचेतन:॥४८१॥

अर्थ - यह ससारी प्राणी इस भवसागर मे अत्यन्त कठिनता से सयम को प्राप्त कर पाता है किन्तु अज्ञानी प्राणी मायाशल्ययुक्त मरण करके उस सयम को नष्ट कर देता है॥४८१॥

द्रव्यशल्ये यथा दु:खं, सर्वाङ्गीण-व्यथोदय:।
भावशल्ये तथा जन्तोर्विज्ञातव्यमनुद्धृते॥४८२॥

अर्थ - जैसे शरीर मे लगे बाण एव काँटा आदि द्रव्यशल्य को न निकालनेवाला प्राणी पीड़ित और दुखी होता है, वैसे ही मायाचार रूप भाव-शल्य से युक्त साधु तीव्र दुखी होता है अर्थात् मायाचार युक्त आलोचना करके भावशल्य द्वारा अपने भव-भ्रमण को वृद्धिंगत करता हुआ दुखी होता है॥४८२॥

कंटकेऽनुद्धृते प्राप्तो, यथा त्वक्-कील नालिकाम्।
पूति-वल्मीक-रन्ध्राणि, प्राप्याङ्घ्रि सटति स्फुटम्॥४८३॥

अर्थ - जैसे काँटा पहले चर्म मे प्रवेश करता है उससे पैर मे छिद्र हो जाता है। अनन्तर पैर मे अकुरवत् मासवृद्धि होती है, पश्चात् वह काँटा नाडी तक घुसने से वहाँ का मास सड़ता है, पुन बहुत से छिद्र होकर वह पैर निरुपयोगी हो जाता है॥४८३॥

विविधं दोषमापन्न:, संयमोऽनुद्धृते तथा।
भय-गौरव-लज्जाभि:, भावशल्ये विनश्यति॥४८४॥

अर्थ - इसी प्रकार भय,गारव एव लज्जा से प्रतिबद्ध साधु यदि माया रूप भावशल्य को नहीं निकालता है तो अनेक दोषो से युक्त होता हुआ सयम को नष्ट कर देता है॥४८४॥

प्रश्न - साधु किस प्रकार भय, गारव और लज्जा से प्रतिबद्ध होता है ?

उत्तर - यदि मैं सब अपराध कह देता हूँ तो गुरु मुझ पर बहुत क्रुद्ध होंगे, या मुझे बहुत बड़ा प्रायश्चित्त देंगे या मेरा त्याग कर देंगे, इस प्रकार भयभीत होता है। इसी प्रकार कभी लज्जा के कारण भी अपने दोष नहीं कह पाता। अथवा मैं बड़ा ज्ञानी हूँ, महान् तपस्वी हूँ एव जगत् में मेरी महान कीर्ति है, दोष प्रगट हो जाने पर मेरे सारे ज्ञान एव तप पर पानी फिर जाएगा तथा जगत् में मेरा अपयश फैल जाएगा। इस प्रकार वह गारव से प्रतिबद्ध हो जाता है।

प्रभ्रष्ट-बोधिलाभोऽतश्चिरकालं भवार्णवे।
जन्म-मृत्यु-जरावर्ते, जीवो भ्रमति भीषणे॥४८५॥

अर्थ - हे क्षपकराज ! मायाशल्य पूर्वक आलोचना करने से समाधि नहीं होती। समाधि न होने से जो बोधि का लाभ पूर्व मे हुआ था, वह नष्ट हो जाता है; जिससे जन्म, मरण और जरा रूपी भँवरों से युक्त भयकर भवसमुद्र में चिरकाल तक भ्रमण करना पड़ता है॥४८५॥

तीव्र-व्यथासु योनीषु, पच्यमानः स सन्ततम्।
तत्र दुःख-सहस्राणि, दीनो वेदयते चिरम्॥४८६॥

अर्थ - समाधि नष्ट कर देनेवाले क्षपक का वह जीव उस भव समुद्र में भयकर महावेदना वाली चौरासी लाख योनियो में भ्रमण करता हुआ अनन्तकाल पर्यन्त दीन हुआ दुख भोगता है॥४८६॥

मुहूर्तमप्यतः स्थातु, सशल्येन न शक्यते।
आचार्यपादयोर्मूले, तदुद्धर्तव्य-मञ्जसा॥४८७॥

अर्थ - इसलिए हे क्षपक ! तुम्हे एक मुहूर्त भी शल्य सहित रहना योग्य नहीं है। आचार्यदेव के पादमूल मे उस भाव शल्य को भली प्रकार शीघ्र ही निकाल देना चाहिए॥४८७॥

जिनेन्द्र-वचनश्रद्धा, जरा-मरण-भीरवः।
निराकृत भय-व्रीडाः, सम्पन्नार्जव-मार्दवाः॥४८८॥

पुनर्भव-लतामूलमुत्पाट्य निखिलं बुधाः।
संवेगोत्पन्न-वैराग्यस्तरन्ति भववारिधिम्॥४८९॥

अर्थ - जो जिनागम के श्रद्धालु हैं, जन्म, बुढापा और मरण के दुखो से भयभीत है, भय और लज्जा को छोड चुके हैं, आर्जव एव मार्दव भावो से सम्पन्न हैं और सवेग तथा वैराग्य को प्राप्त हो चुके है ऐसे बुद्धिमान् क्षपक निर्दोष आलोचना करके पुनर्भव रूपी लता की जड को उखाडकर फेक देते है और ससार-सागर से पार हो जाते हैं॥४८८, ४८९॥

यतः प्रसूचने (न सूचने) दोषं, दोषाणा सूचने गुणम्।
एव न तु दर्शयते, सूरिरायापाय प्रदर्शकः॥४९०॥

तदानी क्षपको नूनं, हेयादेय-विमूढधीः।
निवर्तते न दोषेभ्यो, न गुणेषु प्रवर्तते॥४९१॥

अर्थ - अपने दोष न कहने से ससार भ्रमणरूप भारी दोष है और गुरु को अपने दोष बता देने से रत्नत्रय विशुद्धि नामक महान् गुण है आयापायदर्शी आचार्य यदि ऐसा नहीं समझाते हैं, तब वह क्षपक हेय और उपादेय के विषय मे विमूढबुद्धि होता हुआ दोषो से दूर नहीं हो पायेगा और गुणों में प्रवृत्ति नहीं कर पायेगा॥४९०, ४९१॥

आयापाय दिशस्तु समीपे, स्थेयं बुद्धिमता क्षपकेण।
तत्राराधयते चतुरङ्गम्, नूनं विघ्नमशेषमपास्य ॥४९२॥

इति आपायदिक्॥

अर्थ - अत: बुद्धिमान् क्षपक मुनि को चाहिए कि वह आय-अपायदर्शक आचार्य के निकट रहे। उनके निकट में ही निश्चय से चार आराधना सर्व विघ्नरहित सम्पन्न होती है॥४९२॥

इस प्रकार आयापायदर्शी वर्णन पूर्ण हुआ॥

आचार्य के अवपीड़क या उत्पीड़ी गुण का कथन

कश्चनाकथने दोषे, दोषाणां कथने गुणे।
वक्रात्मा कथ्यमानेऽपि, नालोचयति तत्त्ववित्॥४९३॥

अर्थ - आयापायदर्शी निर्यापक के द्वारा आलोचना के अभाव में होनेवाले दोष और आलोचना से होनेवाले गुण समझा दिये जाने पर भी कोई कुटिल बुद्धि क्षपक अपने दोषों की आलोचना नहीं करता है॥४९३॥

एकान्ते मधुरं स्निग्धं, गम्भीरं हृदयङ्गमम्।
स वाच्य: सूरिणा वाक्यं, प्राञ्जली-कुर्वता मन:॥४९४॥

अर्थ - जो क्षपक अपने अपराध नहीं कहता है उसे आचार्य किसी रमणीक एकान्त प्रदेश मे ले जाकर अत्यन्त मधुर, स्नेह भरे, गम्भीर और हृदय का हरण करनेवाले सुन्दर वचन कह कर समझाते हैं और उसके मन को निर्मल करते हैं॥४९४॥

प्रश्न - आचार्यदेव कैसे वचनो का प्रयोग कर क्षपक के मन को आलोचना के लिए उद्यत करते हैं?

उत्तर - अपने दोष न कहनेवाले क्षपक को आचार्यदेव एकान्त में ले जाकर मधुर वाणी से समझाते है कि प्राप्त सन्मार्ग मे रत्नत्रय के निरतिचार-पालन में सावधान हे आयुष्मन्! लज्जा, भय और मान छोड़ कर आप अपने दोष निर्भय होकर कहो। गुरुजन तो माता-पिता के सदृश होते हैं, उनसे दोष कहने मे क्या भय और क्या लज्जा? क्या बालक अपनी माँ से सब बात नहीं कहता है? गुरुजन अपने दोषों के समान दूसरे साधुओं के दोष भी किसी से नहीं कहते हैं। वे तो प्रगट होते हुए यतिधर्म के दोषो को दूर करने में सदैव तत्पर रहते है, अत क्या वे आपकी अपकीर्ति की इच्छा करेगे? कदापि नहीं करेगे, क्योंकि मोक्षमार्ग मे सम्यक्त्व प्रधान है और यतिजनों मे दोष लगाना या उनके दोष प्रगट करना सम्यग्दर्शन का अतिचार है। यदि रत्नत्रय रूपी कमलो का वन अतिचाररूपी हिमपात से नष्ट हो तो वह सुशोभित नहीं होता। परनिन्दा से तो नीचगोत्र का आस्रव होता है। निन्दा करके दूसरो के मन को असह्य सन्ताप देनेवालो को असातावेदनीय कर्म का भी बन्ध होता है और सघस्थ साधुजन भी उस आचार्य की निन्दा करते हैं कि देखो! अपने धर्मपुत्र को यह अपयशरूपी कीचड़ से लिप्त कर रहा है। इस प्रकार दूसरो के दोष प्रगट करना अनेक अनर्थों की जड़ है, कौन समझदार ऐसा पाप करेगा? अत: आप हमारा विश्वास करो और नि शक होकर आलोचना करो। हम तुम्हारे दोष किसी के समक्ष प्रगट नहीं करेंगे।

कथायामकथायां च, दोषाणां गुण-दोषयोः।
कथायामपि नो कश्चिदालोचयति वक्रधीः ॥४९५॥

अर्थ - 'गुरु के समक्ष अपने दोषो की आलोचना कर देने में बहुत गुण हैं और आलोचना न करने मे बहुत दोष हैं' आचार्य के द्वारा ऐसा समझाये जाने पर भी कोई वक्रबुद्धि क्षपक आलोचना नहीं करता ॥४९५॥

दोषमुद्गाल्यते तत्स्थमुत्पीड्योत्पीडनो यतिः।
मांसं कण्ठीरवेणेव, शृगालः कुर्वता भयम् ॥४९६॥

अर्थ - क्षपक द्वारा आलोचना न किये जाने पर जैसे सिह स्यार के पेट मे गये हुए मास को उगलवा लेता है, वैसे ही अवपीडक गुणधारी आचार्य क्षपक के अन्तर मे छिपे हुए दोषों को ताड़ना देकर बाहर निकाल लेता है ॥४९६॥

प्रश्न - आचार्यदेव किस प्रकार की ताड़ना देकर क्षपक के दोष निकाल लेने मे सफल होते हैं?

उत्तर - क्षपक के हृदयगत दोष उगलवाने हेतु आचार्य ताडना देते हुए कठोर वाणी मे कहते हैं कि हे मायावी क्षपक ! आप हमारे सामने से दूर हट जाओ। आपको हमसे अब क्या प्रयोजन है? जो अपने शरीर का मल धोना चाहता है वही काच सदृश निर्मल जलयुक्त सरोवर पर जाता है। अथवा महान् रोग से मुक्त होकर जो व्यक्ति नीरोग होना चाहता है वही वैद्य की शरण लेता है। इसी प्रकार जो क्षपक रत्नत्रय मे लगे हुए अपने दोषो को अर्थात् अतिचारो को दूर कर रत्नत्रय को विशुद्ध करना चाहता है वही गुरुजनो की शरण मे जाता है। आपको तो अपने रत्नत्रय की शुद्धि करने मे आदर भाव है ही नहीं, तब क्षपक का यह वेष धारण करने से क्या लाभ ? केवल चार प्रकार के त्याग से सल्लेखना नहीं होती, सल्लेखना तो कषायो को कृश करने से होती है और तभी सवर, निर्जरा होती है। कषायो से तो नवीन कर्मो का ग्रहण एव स्थिति-अनुभाग बन्ध ही होता है, अत· ये तो त्यागने योग्य है। उन कषायो मे माया कषाय अत्यन्त खराब है और आप इसी को लिये बैठे हो, यह माया ही जीव को तिर्यञ्चगति मे ले जाती है। आप इसे छोडने मे असमर्थ हैं, अत आप ससार-समुद्र के तिर्यञ्च भवरूपी भँवर मे फॅसने का उद्यम कर रहे हो। ध्यान रखो कि इस भॅवर मे से निकलना अत्यन्त कठिन होगा।

मात्र वस्त्र के त्याग से अपने को निर्ग्रन्थ मानने का अभिमान करना व्यर्थ है। चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग से ही भाव नैर्ग्रन्थ्य होता है और यही मुक्ति का उपाय है। दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग भाव नैर्ग्रन्थता का उपाय है, अत वह भी मुमुक्षु के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

जीव और पुद्गल के सम्बन्ध मात्र से कर्मबन्ध नहीं होता किन्तु उनके निमित्त से होनेवाले जीवके परिणामो से कर्मबन्ध होता है। आपके परिणाम अभी शुद्ध नहीं हैं। हे अपराधी क्षपक ! ध्यान दो कि सातिचार सम्यग्दर्शन आदि मुक्ति के उपाय नहीं हैं। 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है।' क्या यह जिनागम वचन आपके कानो मे अभी तक नहीं पहुँचा ? जो अभी तक अतिचार छिपा रहे हो, ध्यान रखो! गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त का पालन करने से ही रत्नत्रय निरतिचार होता है और गुरु भी प्रायश्चित्त उसी को देते हैं जो निर्दोष आलोचना करता है। इतना समझाने पर भी जब तुम दोष नहीं उगल पा रहे हो तब मुझे लगता

है कि तुम दूरभव्य या अभव्य हो। यदि तुम आसन्न-भव्य होते तो इस प्रकार का महा मायारूप शल्य अपने हृदय में सजो कर क्यों रखते ?

अब तुम यतिजनो के द्वारा वन्दना करने योग्य नहीं हो, क्योंकि आगम में कहा है कि बुद्धिमानो को उसी श्रमण की वन्दना करनी चाहिए, जो लाभ-अलाभ में, जीवन-मरण में और निन्दा-प्रशसा आदि में अपने चित्त को समान रखता हो। दोष कह देने पर लोग 'मेरी निन्दा करेंगे, प्रशसा नहीं करेंगे' इसलिए आप आलोचना नहीं कर रहे हो तब आप कैसे समचित्तधारी हो, समता बिना कैसे श्रमण हो और कैसे वन्दनीय हो ? इस प्रकार की कठोर ताड़नापूर्वक अवपीड़क आचार्य क्षपक के सब व्रताद्यतिचारो को बाहर निकलवाते हैं।

अवपीड़क आचार्य के गुण

कण्ठीरव-इवौजस्वी, तेजस्वी भानुमानिव।
चक्रवर्तीव वर्चस्वी, सूरिरुत्पीडकोऽकथि ॥४९७॥

अर्थ - जो सिंह के सदृश ओजस्वी-बलवान्, सूर्य सदृश तेजस्वी-प्रतापवान् और चक्रवर्ती सदृश वर्चस्वी-प्रश्नो का उत्तर देने में कुशल होते है वे आचार्य उत्पीड़क नाम से कहे जाते हैं॥४९७॥

यथावष्टभ्य हस्ताभ्यां, विदार्य वदनं घृतम्।
बालं पाययते माता, रटन्तं हितकारिणी ॥४९८॥

अवपीड्य तथोत्पीडी, हितारोप-परायणः।
अनृजुं क्षपकं सूरिर्दोषं त्याजयतेऽखिलम् ॥४९९॥

अर्थ - जिस प्रकार हितकारिणी माता रोते-चिल्लाते हुए बालक को पकड़कर और अपने दोनो हाथो से उसका मुख फाड कर घृत पिलाती है। उसी प्रकार क्षपक का हित करने मे तत्पर उत्पीड़क आचार्य अत्यन्त भी पीड़ित करके बलात् उस कुटिल परिणामी क्षपक के सब दोषो को निकाल लेते हैं॥४९८-४९९॥

भद्रः सारणया हीनो, न लिहन्नपि जिह्वया।
ताडयन्नपि पादेन, भद्रः सारणया पुनः ॥५००॥

अर्थ - जो गुरु शिष्यो के दोषो का निवारण नहीं करते वे जिह्वा से मधुर बोलते हुए भी श्रेष्ठ, भद्र या कल्याणकारी नहीं हैं और जो गुरु दोषो का निवारण करते हैं वे शिष्यो को पैरों से मारते हुए भी कल्याणकारी हैं॥५००॥

परकार्य-पराचीनाः, सुलभाः स्वार्थकारिणः।
आत्मार्थमिव कुर्वाणाः, परार्थमपि दुर्लभाः ॥५०१॥

अर्थ - अपने कार्य मे तत्पर किन्तु दूसरो के हित आदि कार्यों से विमुख पुरुष तो सुलभ हैं, किन्तु अपने कार्यों के सदृश दूसरों के हितकारी कार्यों की चिन्ता करनेवाले मनुष्य अतिदुर्लभ हैं॥५०१॥

ये स्वार्थं कर्तुमुद्युक्ताः, परार्थमपि कुर्वते।
कटुकैः परुषैर्वाक्यैस्ते तरां सन्ति दुर्लभाः ॥५०२॥

अर्थ - जो स्वकार्य में उद्यमशील होते हुए दूसरो के कार्य को भी कठोर और कटु वचनों से साधते हैं वे पुरुष तो लोक में अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥५०२॥

निवर्तनं न दोषेभ्यो, न गुणेषु प्रवर्तनम्।
विधत्ते क्षपक: सर्व-दोषमत्याजितो यत: ॥५०३॥

अर्थ - आचार्य यदि क्षपक को पीड़ित न करे तो वह मायाशल्यरूपी दोष से न निकले और दोष से निकले बिना निरतिचार रत्नत्रय गुण मे प्रवृत्त न हो ॥५०३॥

नित्योत्पीडी पीडयित्वा समस्तांस्तस्माद्दोषांस्त्याजयेत्तं हितार्थी।
व्याधिध्वंसं किं विधत्ते न वैद्य: तन्वन्बाधां व्याधितस्येष्टकारी ॥५०४॥

अर्थ - क्षपक के हित का इच्छुक उत्पीडी आचार्य क्षपक को कठोर वचनादि से पीड़ा पहुँचा कर उससे समस्त दोष उगलवा लेता है। अर्थात् उसका रत्नत्रय शुद्ध कर देता है। ठीक है, क्योंकि रोगी का हितचिन्तक वैद्य रोगी को कडवी औषधि का सेवन एव पथ्यपालन द्वारा रोगी को बाधा या पीड़ा पहुँचा कर व्याधि का नाश नहीं करता है क्या ? अवश्यमेव करता है ॥५०४॥

इस प्रकार अवपीड़क गुण का कथन पूर्ण हुआ।

अपरिस्रावी गुण का विवेचन

दोषो निवेशितो यत्र, तप्ते तोयमिवायसि।
न निर्याति महासारे, स ज्ञातव्योऽपरिस्रव: ॥५०५॥

अर्थ - जैसे तपाये हुए लोहे के द्वारा पिया हुआ जल कभी बाहर नहीं निकलता, वैसे ही क्षपक द्वारा महासारभूत आचार्यदेव को निवेदित किए गए दोष अन्य मुनिजनो पर कभी प्रगट नहीं होते, वे आचार्य अपरिस्राव गुण से युक्त होते है ॥५०५॥

अतिचारास्तपो वृत्त-ज्ञान-सम्यक्त्व-गोचरा:।
मनो वाक्काय-योगेन, जायन्ते त्रिविधा यते: ॥५०६॥

अर्थ - मन, वचन और काय इन योगो से यदि क्षपक के सम्यग्दर्शन मे अथवा सम्यग्ज्ञान मे या सम्यक्चारित्र मे या सम्यक् तप मे एकदेश से या सर्वदेश से जो-जो अतिचार लगे हो वे सब अतिचार आचार्य से कहने चाहिए ॥५०६॥

प्रश्न - सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र और तप आदि के कौन-कौन से अतिचार हैं ?

उत्तर - चौथे विनय अधिकार मे इन अतिचारो का निरूपण किया जा चुका है, फिर भी प्रश्नानुसार कहते हैं -

सम्यग्दर्शन के अतिचार - शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशसा और उसका सस्तव।

सम्यग्ज्ञान के अतिचार - असमय मे स्वाध्याय, श्रुत एव श्रुतधारियों का अविनय, अनुयोग आदि

के प्रारम्भ में उसके योग्य अवग्रह न करना, गुरु का नाम छिपाना, स्वर-व्यजनो का हीनाधिक करके पढ़ना एव अर्थ का अन्यथा कथन करना।

चारित्र के अतिचार - पाँच महाव्रत के अतिचार ही चारित्र के अतिचार हैं। अथवा प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं इन भावनाओ से रहित व्रत पालन करना।

अनशन तप के अतिचार - स्वय का उपवास होते हुए भी दूसरों को भोजन कराना, मन, वचन काय से दूसरो के भोजन की अनुमति देना, उपवास की वेदना से पीड़ित होने पर मन से आहार की अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा अथवा मेरा पारणा कहाँ होगा ? इत्यादि चिन्ता करना। अथवा रसीले पदार्थों या रसीले आहार के बिना मेरी थकान दूर नहीं होती इत्यादि, उपवास के कारण प्रचुर निद्रा में पड़-कर छहकाय के जीवों की बाधा में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति होना। मैंने यह क्लेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह तो सन्तापकारी है अब मैं इसे कभी नहीं करूँगा, इस प्रकार का सकल्प करना।

अवमौदर्य तप के अतिचार - मन से उदरभर भोजन मे आदर, दूसरों को उदर भर भोजन कराने की चिन्ता, 'जब तक आपकी तृप्ति न हो तब तक भोजन करना' ऐसे वचन कहना, 'मैंने आज बहुत भोजन किया' ऐसा किसी के द्वारा कहे जाने पर 'आपने बहुत अच्छा किया' ऐसा कहना तथा हाथ के सकेत से कण्ठप्रदेश को स्पर्श करके बताना कि मैंने आकण्ठ भोजन किया है अथवा आप आकण्ठ भोजन कर लेना।

वृत्तिपरिसंख्यान तप के अतिचार - घर, मुहल्ला, गली, दाता पुरुष या दात्री स्त्री की सख्या आदि का सकल्प करके 'दूसरो को भोजन कराना है' इस उद्देश्य से किये हुए सकल्प का उल्लघन कर चर्या को जाना, या अन्य किसी कारण से सकल्प तोडकर चर्या करना।

रसपरित्याग तप के अतिचार - रसो मे अति आसक्ति, दूसरे को रस युक्त आहार का भोजन कराना अथवा रसयुक्त आहार की अनुमति देना, या प्रेरणा देना।

विविक्तशय्यासन तप के अतिचार - यथायोग्य लक्षणों से हीन वसतिका मे शयनासन तथा योग्य लक्षणो से युक्त वसतिका मे अरति, इत्यादि।

कायक्लेश तप के अतिचार - गर्मी आदि के सन्ताप से पीडित हो शीतल द्रव्य-प्राप्ति की इच्छा करना, मेरा सन्ताप कैसे दूर हो ऐसी चिन्ता करना, पूर्व मे भोगे हुए शीतल द्रव्य और शीतल प्रदेशो का स्मरण करना, तीव्र धूप से द्वेष करना, पीछी से शरीर का मार्जन किये बिना गर्म प्रदेश से शीतल प्रदेश मे या शीतल प्रदेश से गर्म प्रदेश मे आना-जाना, वृक्ष के मूल मे जाकर हाथ, पैर या शरीर से जलकायिक जीवो को पीड़ा देना, शरीर मे लगे जल कणो को हाथ आदि से पोछना, शिलातल आदि पर पड़े हुए जलकणों को हाथ, पैर आदि से दूर करना, कोमल एव गीली भूमि पर सोकर शान्ति का अनुभव करना, जलबहाव वाले निचले प्रदेशो में ठहरना, निश्चित स्थान पर रहते हुए वर्षा कब होगी या यह वर्षा कब बन्द होगी ऐसी चिन्ता करना एव वर्षा से बचने के लिए छाता या चटाई आदि का उपयोग करना।

प्रायश्चित्त तप के अतिचार - अपने लगे हुए दोषों में मन से ग्लानि न होना अतिचार है। अज्ञान से, प्रमाद से, आलस्य से और कर्मों की गुरुता से मैंने अशुभ कर्म के बन्ध में कारणभूत जो यह कार्य किया है वह बुरा किया है, ऐसे भाव होना जुगुप्सा है। इस प्रकार के भाव न होना प्रायश्चित्त तप के और अतिचारों

की शुद्धि के भाव न होना आलोचना के अतिचार हैं। आलोचना और प्रायश्चित्त के अतिचार तदुभय प्रायश्चित्त के अतिचार है। भावपूर्वक विवेक न होना विवेक प्रायश्चित्त तप के अतिचार हैं, शरीर से ममत्व न हटाना कायोत्सर्ग के तथा अशुभ ध्यान रूप परिणाम होना व्युत्सर्ग के अतिचार है। ऐसे अन्य भी अतिचार आगम से ज्ञातव्य हैं।

क्षपक के अपराध प्रगट करना महान् दोष है

विश्वस्तो भाषते सर्वानाचार्याणामसौ न सः।
आचार्यो भाषतेऽन्येभ्यस्ता स्तुवन् स्विदधार्मिकः ॥५०७॥

अर्थ - क्षपक मुनि आचार्य को विश्वसनीय मानकर अपने दोष उनसे कहता है किन्तु जिनेन्द्रकथित धर्म से भ्रष्ट यदि कोई आचार्य शिष्य द्वारा कथित उन दोषो को दूसरो पर प्रगट कर देता है तो ऐसा आचार्य जिनधर्म से बहिर्भूत है ॥५०७॥

रहस्य-भेदिना तेन, त्यक्ताः कल्मष-कारिणा।
साधुरात्मा गणसङ्घो, मिथ्यात्वाराधना कृता ॥५०८॥

अर्थ - क्षपक के गुप्त दोषो को प्रगट कर देनेवाले उस पापकारी आचार्य ने मानो चार आराधनाएँ ही नष्ट कर दीं। इतना ही नहीं अपितु उसने उस साधु का त्याग, सघ का त्याग, गण का त्याग और अपनी आत्मा का भी त्याग कर मिथ्यात्व की ही आराधना प्रारम्भ कर दी, ऐसा समझना चाहिए॥५०८॥

दोष कहने मात्र से साधु का त्याग हो जाता है

रहस्यस्य कृते भेदे, पृथग्भूयावतिष्ठते।
कोपतो मुञ्चते वृत्त, मिथ्यात्वं वा प्रपद्यते ॥५०९॥

अर्थ - अपने दोषो को प्रगट हुआ जान कर क्षपक साधुसघ छोड कर चला जायेगा, या क्रोधावेश मे दीक्षा ही छोड देगा अथवा मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाएगा॥५०९॥

प्रश्न - क्षपक साधु इस प्रकार की क्रिया क्यो करेगा ?

उत्तर - अपने गुप्त दोषो का प्रकाशन देखकर व्यथित होता हुआ वह सोचेगा कि अहो ! विश्वासपात्र जान कर मैंने इन्हे अपने दोष कहे थे किन्तु इसने मेरे साथ विश्वासघात किया है, अब यह मेरा गुरु नहीं है। यदि मैं इसे प्रिय होता तो यह मेरे दोष दूसरो से क्यो कहता ? मैंने अद्यावधि जो माना था कि "ये गुरु ही मेरे प्राण है" आज मेरी वह श्रद्धा नष्ट हो गई। अब मैं एक-क्षण भी इसके सघ मे नहीं रह सकता। लज्जित होकर या आत्मगौरव खोकर सघ मे रहने की अपेक्षा तो असयमी जीवन ही उत्तम है। ऐसा सोच कर क्षपक सयम छोड देगा, या अन्य सघ मे चला जायेगा या मिथ्यात्व का सेवन करने लगेगा।

क्षपक के दोष दूसरों के प्रति व्यक्त करने से आचार्य की स्वय की आत्मा का त्याग हो जाता है

मारयत्यथवा सूरिं, साधुर्मान-ग्रहाकुलः।
ससारकानन-भ्रान्तिं, न मन्यन्ते हि मानिनः ॥५१०॥

अर्थ- अथवा अपने दोषों को प्रगट होते देख कर मानरूपी पिशाच से आकुलित होता हुआ वह क्षपक आचार्य को ही मार डालता है, क्योंकि मानी मनुष्य ससार-भ्रमण को नहीं मानते ॥५१० ॥

दोष कहनेवाले आचार्य का मानों गण ने त्याग कर दिया

विश्वस्तो भाषते शिष्यः, सूरेरग्रे स्वदूषणम्।
परस्याथ पुनर्ब्रूते, सदाचार-बहिर्भवः ॥५११ ॥

यथायं दूषितोऽनेन, दूषयिष्यति नस्तथा।
इति क्रुद्धो गणः सर्वः, पृथक्त्वं प्रतिपद्यते ॥५१२ ॥

अर्थ - आचार्य द्वारा क्षपक के दोष प्रगट किये जाने पर गण के साधु विचार करते हैं कि अहो! आचार्य के समक्ष शिष्य तो विश्वस्त होकर अपने दोष प्रगट करता है और सदाचार से बहिर्भूत यह आचार्य उन दोषों को दूसरों से कह रहा है। इसने जैसे इस क्षपक का दोष प्रगट किया उसी प्रकार यह हमारे दोष भी प्रगट कर देगा, ऐसा विचार कर क्रोधित होता हुआ सर्व गण आचार्य को छोड कर चला जायेगा अथवा आचार्य को छोड देगा ॥५११-५१२ ॥

दोष प्रगट करने से संघत्याग

एतस्याचार्यकं सङ्घो, विच्छिनत्ति चतुर्विधः।
निर्घाटयति वा रुष्टो, रोषतः क्रियते न किम् ॥५१३ ॥

अर्थ - दोष प्रगट करने वाले आचार्य का चतुर्विध सघ नष्ट होता है या क्रोधावेश में संघ आचार्य को निकाल देता है क्योंकि क्रोध से क्या-क्या नहीं किया जाता? ॥५१३ ॥

प्रश्न - सघ किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसमे रत्नत्रय का उपदेश किया जाता है ऐसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के समुदाय को सघ कहते है।

दोष प्रगट करने से मिथ्यात्व की आराधना होती है

आचार्यो यत्र शिष्यस्य, विदधाति विडम्बनाम्।
धिक् तान्निर्धर्मकान्साधूनिति वक्ति जनोऽखिलः ॥५१४ ॥

विश्वासघातका एव, दुष्टाः सन्ति दिगम्बराः।
ईदृशीं कुर्वते निन्दां, मिथ्यात्वाकुलिता जनाः ॥५१५ ॥

अर्थ - क्षपक के दोष प्रगट करने से सर्व लोग कहने लग जाते हैं कि देखो ! इस जैन धर्म के आचार्य ही अपने शिष्य की विडम्बना कर रहे हैं। धिक्-धिक् ऐसे धर्म विहीन साधुओं को। ये जैन साधु ऐसे होते हैं ? ये दिगम्बर दुष्ट हैं, अपने शिष्यों के साथ ही विश्वास-घात करते हैं, इस प्रकार मिथ्यादृष्टि लोग जैनधर्म की निन्दा करते हैं ॥५१४-५१५ ॥

पृष्टोऽपृष्टोऽपि यो ब्रूते, न रहस्यं कदाचना।
इत्यादयो न विद्यन्ते, दोषास्तस्य गणेशिनः ॥५१६॥

अर्थ - जो अपरिस्रावी गुणज्ञ आचार्य क्षपक के दोष सुन कर मन में गुप्त रखते हैं, पूछने पर या न पूछने पर भी वह दोषरूप रहस्य कदापि दूसरों को नहीं कहते उस श्रेष्ठ निर्यापकाचार्य को गणत्याग आदि उपर्युक्त दोष नहीं लगते ॥५१६॥

इति विमुच्य रहस्य-विभेदकं, भजत गुह्य-निगूहक-मञ्जसा।
न हि विशुद्ध-हिताहितवस्तवो, हितमपोह्य भजन्त्यहितं जनाः ॥५१७॥

इति अपरिस्रवः ॥

अर्थ - ग्रन्थकार निर्यापकाचार्य को उपदेश देते हैं कि आप अपने अपरिस्रावी गुण को जानकर क्षपक के दोषों का प्रगटी-करण कभी नहीं करना। आप गुप्त दोषो को प्रगट करना छोड दो, क्षपक के दोष छिपाओ, क्योकि हिताहित को जाननेवाले महापुरुष हित को छोड़ कर अहितजन्य प्रवृत्ति कभी नहीं करते ॥५१७॥

इस प्रकार अपरिस्रावी गुण का वर्णन पूर्ण हुआ।

सुखकारी गुण कथन

शुश्रूषक-प्रमादेन, शय्यायामासनादिके।
सम्पन्ने दीन-वाक्येन, शिष्यकाणामसंवृते ॥५१८॥

अर्थ - क्षपक की सेवा-वैय्यावृत्य करनेवालो के प्रमाद से, सस्तर, आसन एव भोजन-पानादि अनुकूल न होने से या उनकी व्यवस्था मे विलम्ब कर देने से अथवा सल्लेखना विधि से अनजान साधुजनो के कठोर या प्रतिकूल या अपमानजनक वचन बोल देने से या असयमी गृहस्थो के निमित्त से क्षपक कुपित हो सकता है ॥५१८॥

वेदनायामसह्यायां, क्षुत्तृष्णोष्ण-हिमादिभिः।
क्षपकः कोपमासाद्य, मर्यादा विविभित्सति ॥५१९॥

अर्थ - अथवा असह्य वेदना से, भूख, प्यास, गर्मी एव सर्दी की पीड़ा से क्षपक कुपित हो सकता है और अपनी मर्यादा का उल्लघन कर सकता है ॥५१९॥

निर्यापकेण शान्तेन, शमनीयः स सूरिणा।
क्षमापरेण वीरेण, कुर्वता चित्त-निर्वृतिम् ॥५२०॥

अर्थ - क्षमाशील एव धैर्यशाली निर्यापकाचार्य कुपित अथवा मर्यादा उल्लघन करने को तत्पर क्षपक की चित्तवृत्ति को शान्तभाव से शमन करते हैं ॥५२०॥

प्रश्न - निर्यापकाचार्य यदि क्षमाशीलादि भावों से युक्त न हों तो क्या हानि है?

उत्तर - आचार्य क्रोधी क्षपक के सदृश ही कुपित होकर उसे डाँटने लगेगा। अभिमानी आचार्य क्षपक को प्रसन्न करने का प्रयास ही नहीं करेगा।

अक्षमाभाववाला आचार्य क्षपक पर क्षमाभाव नहीं रख पायेगा।

तेजस्विता के अभाव में आचार्य क्षपक पर अपने वचनो का प्रभाव ही नहीं डाल पायेगा, तब भूख-प्यास से पीड़ित क्षपक असमाधि कर दुर्गति का पात्र बन जायेगा, अत निर्यापकाचार्य को शान्तपरिणामी, निरभिमानी, क्षमाशील, धैर्यशाली और तेजस्वी होना चाहिए।

बहुप्रकार-पूर्वाङ्ग-श्रुत-रत्नकरण्डकः।
सर्वानुयोग-निष्णातो, वक्ता कर्ता महामतिः ॥५२१॥

अर्थ - जैसे पिटारे में रत्न भरे रहते हैं, वैसे ही जो आचार्य बहुत प्रकार के अग और पूर्व रूप रत्नों के खजाने हैं, सर्व अनुयोगो में निपुण हैं, वक्ता हैं, कर्ता हैं और महाबुद्धिशाली हैं वे ही कलुषचित्त क्षपक को शान्त कर सकते हैं॥५२१॥

प्रश्न - आचार्य के इन विशेषणो का विशेष अर्थ क्या है ?

उत्तर - श्रुतज्ञान के अग प्रविष्ट और अग बाह्य नामक दो भेद हैं। अग प्रविष्ट के आचाराग आदि बारह भेद हैं। अग बाह्य के भी बहुत भेद हैं। जैसे-सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक इत्यादि। आचार्यदेव सर्वश्रुत के अथवा समयानुसार जितना श्रुत उपलब्ध होता है उसके ज्ञाता होते हैं, अत उन्हे श्रुत का पिटारा कहा गया है।

सर्वानुयोग निष्णात - जो-जो वस्तुविषय प्रस्तुत हैं, उस-उस विषय मे सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व आदि अनुयोगो की योजना करने में जो आचार्य कुशल होते हैं, वे आचार्य ही क्षपक की अशान्ति का शमन कर सकते हैं।

वक्ता - वे आचार्य वक्तृत्व कला मे अर्थात् व्याख्यान करने मे कुशल होते हैं।

कर्ता - जो विधिपूर्वक सम्पूर्ण विनय एव वैयावृत्य करने मे निष्णात होते हैं और प्रथमानुयोग आदि चारो अनुयोगो मे अत्यन्त कुशल होते है। वे ही कुपित शिष्य को शान्त कर पाते हैं।

कथानां कथने दक्षो, हेयादेय-विशारदः।
क्रुद्धं शास्ति यतिर्धीरः, प्रकृत-प्रतिपादकः ॥५२२॥

अर्थ - आराधना एव वैराग्य वर्धक कथाएँ कहने मे दक्ष, हेय और उपादेय का भली प्रकार विवेचन करने मे निपुण तथा प्रकृत अर्थात् समाधि के विषय का प्रतिपादन करने में प्रयत्नशील धीर निर्यापकाचार्य ही कुपित हुए क्षपक को शान्त एव प्रसन्न कर सकते हैं॥५२२॥

गम्भीरां मधुरां श्रव्यां, शिष्य-चित्त-प्रसादिनीम्।
सुखकारी ददात्यस्मै, स्मृत्यानयनकारिणीम् ॥५२३॥

अर्थ - वे निर्यापक अर्थ की प्रगाढ़ता होने से गम्भीर, कठोराक्षर न होने से मधुर, प्रिय वचनो की

बहुतायत होने से स्निग्ध, कर्णप्रिय, शिष्य के चित्त में पूर्व अभ्यास किये हुए श्रुत के अर्थ का स्मरण करा देने में समर्थ ऐसी श्रेष्ठ वाणी द्वारा क्षपक के लिए कथा कहते हैं या दिव्य देशना देते हैं।।५२३।।

सुखकारी दधात्येनं, मज्जन्तं दुस्तरे भवे।
पूत-रत्नभृतं पोतं, कर्णधार इवार्णवे।।५२४।।

शील-संयमरत्नाढ्यं, यति-नावं भवार्णवे।
निमज्जन्तीं महाप्राज्ञो, विभर्ति सूरि-नाविकः।।५२५।।

अर्थ - जिस प्रकार उत्तम रत्नो से भरी हुई किन्तु समुद्र मे डूबती हुई नौका की रक्षा नाविक अर्थात् खेवटिया करता है, उसी प्रकार शील एव सयमरूपी श्रेष्ठ रत्नों से भरी हुई किन्तु भूख-प्यास आदि परीषह रूपी तरगो से दुस्तर भवसमुद्र मे डूबने के सम्मुख हुई क्षपक यति रूपी सुखकारी नौका की रक्षा महाप्राज्ञ निर्यापकाचार्य रूपी नाविक अर्थात् कर्णधार करते हैं। वे परीषहों से शिथिल-परिणामी क्षपक को घोर ससार-सागर में पतित होने से बचा लेते है।।५२४-५२५।।

कर्णाहुतिं न चेद्दत्ते, धृति-स्थामकरीं गणी।
आराधनां सुखाहर्त्रीं, जहाति क्षपकस्तदा।।५२६।।

अर्थ - यदि आचार्य धैर्य एव स्मृति की स्थिरता रूप मधुरवाणी की कर्णाहुति न दे अर्थात् क्षपक के कानों में न सुनावे तो वह क्षपक सुखावह आराधना को छोड़ देता है।।५२६।।

क्षपकस्य सुखं दत्ते, कुर्वन्यो हित-देशनाम्।
निर्यापकं महाप्राज्ञं, तमाहुः सुखकारणम्।।५२७।।

अर्थ - महाप्राज्ञ निर्यापकाचार्य हित का उपदेश देकर क्षपक को सुख देते हैं, अत उस आचार्य को 'सुखकारी' इस नाम से कहते हैं।।५२७।।

ददाति शर्म क्षपकस्य, सूरिर्निर्यापकः सर्वमपास्य दुःखम्।
यतस्ततोऽसौ क्षपकेण सेव्यः, सर्वे भजन्ते सुखकारिणं हि।।५२८।।

इति सुखकारी।।

अर्थ - निर्यापकाचार्य क्षपक के सर्व दुख दूर करके उसे सुख देते हैं, इस कारण वे आचार्य क्षपक के द्वारा सेवनीय होते है, क्योकि सभी जीव सुखकारी पदार्थों का आश्रय लेते हैं।।५२८।।

इस प्रकार आचार्य के सुखकारी विशेषण का कथन पूर्ण हुआ।।

शशिकला छन्द

शिवसुखमनुपममपरुजममलं,
व्रतवति शमवति हितकृति सकलम्।

वितरति यतिपतिरिति गुणकलितः,
शम-यम-दममय-मुनिजन-महितः।।५२९।।

अर्थ - जो निर्यापकाचार्य शम अर्थात् शान्ति, यम अर्थात् व्रत-नियम और दम अर्थात् इन्द्रियदमन रूपगुणों से युक्त मुनिजनों द्वारा पूजित हैं और अनेक गुणों से संयुक्त हैं, वे आचार्य महाव्रतधारी तथा प्रशमभाव वाले क्षपक के लिए अनुपम, आरोग्य, निर्दोष एवं हितकारी शिवसुख देते हैं॥५२९॥

वंशस्थ छन्द

गुणैरमीभिः कलितोष्टभिर्जनैः,
समेत्यकीर्तिः शशिरश्मि-निर्मलाम्।
आराधना-सिद्धि-वराङ्गना-सखीं,
ददाति सूरिः क्षपकाय निश्चितम्॥५३०॥

इति सुस्थितः॥१७॥

अर्थ - आचारवत्व आदि आठ गुणों से मण्डित निर्यापकाचार्य की कीर्ति सर्वत्र फैलती है और वे चन्द्रकिरण सदृश निर्मल आराधना की सिद्धि रूपी श्रेष्ठ स्त्री की सखी अर्थात् उत्तम समाधि नियमत क्षपक के लिए देते हैं॥५३०॥

इस प्रकार 'अर्ह' आदि चालीस अधिकारो मे से 'सुस्थित' नाम का सत्तरहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ॥१७॥

१८. उत्सर्पण-अधिकार

गुरुकुल में क्षपक के आत्मोत्सर्ग का क्रम

निर्यापकं गुणोपेतं, मार्गयित्वातियत्नतः।
उपसर्पत्यसौ सूरिर्ज्ञान-चारित्र-मार्गकः॥५३१॥

अर्थ - इस प्रकार ज्ञान और चारित्र मार्ग पर आरूढ़ क्षपक बड़े यत्न से आचारवत्व आदि आठ गुणो से युक्त आचार्य का अन्वेषण कर उनके निकट जाता है॥५३१॥

कृतिकर्म विधायासौ, परिपूर्णं त्रिशुद्धितः।
आचार्य-वृषभं वक्ति, मस्तकारोपिताञ्जलिः॥५३२॥

अर्थ - मन, वचन और काय इन तीनो की शुद्धिपूर्वक आवर्त, शिरोनति और कायोत्सर्ग सहित सिद्ध-श्रुताचार्य भक्तिरूप कृतिकर्म को परिपूर्ण करके अभ्यागत मुनि अपने मस्तक पर अजलि रख कर आचार्य-श्रेष्ठ को कहता है॥५३२॥

तीर्ण-श्रुत-पयोधीनां, समाधान-विधायिनाम्।
युष्माकमीश पादान्ते, द्योतयिष्यामि संयमम्॥५३३॥

अर्थ - हे ईश ! आपने द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी समुद्र का दूसरा किनारा प्राप्त कर लिया है एव आप समाधान अर्थात् समाधिमरण प्राप्त करानेवाले हैं, मैं आपके चरणों का आश्रय लेकर अपना सयम उज्ज्वल करूँगा॥५३३॥

दीक्षा-प्रभृति नि:शेषं, विधायालोचनामहम्।
विजिहीर्षामि नि:शल्यश्चतुरङ्गे निराकुल: ॥५३४॥

अर्थ - दीक्षाग्रहण काल से अद्यावधि महाव्रतादिकों मे जो-जो दोष लगे हैं, उन सबकी मैं आकंपित, अनुमानित आदि दश दोषों से रहित आलोचना करके दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओं में निशल्य होकर प्रवृत्ति करने की इच्छा करता हूँ ॥५३४॥

एवं कृते स्वनिक्षेपे, ततो ब्रूते गणेश्वर:।
निर्विघ्नमुत्तमार्थं त्वं, साधयस्व महामते ॥५३५॥

अर्थ - इस प्रकार विनयपूर्वक अपने आप को समर्पित कर देने पर आचार्यदेव कहते हैं कि हे महामते! तुम बिना किसी विघ्न-बाधा के उत्तम अर्थ अर्थात् रत्नत्रय रूप द्रव्य की साधना करो ॥५३५॥

धन्य: स त्वं वन्दनीयो बुधानां, साधो! बुद्धिर्निश्चिता चास्तमोह!
यस्यासन्नाराधनां सिद्धि-दूती, तीक्ष्णा जन्मारामशस्त्रीं ग्रहीतुम् ॥५३६॥

अर्थ - निर्यापकाचार्य क्षपक मुनि से कहते है कि मोक्ष रूपी स्त्री की दूती के सदृश, जन्मरूपी उद्यान को नष्ट करने के लिए तीक्ष्ण शस्त्र के सदृश आराधना ग्रहण करने हेतु जिसकी बुद्धि निश्चित हो चुकी है ऐसे तुम धन्य हो। हे साधो! तुम ज्ञानी पुरुषो द्वारा वन्दनीय हो। अहो! तुम मोहरहित हो ॥५३६॥

महामते! तिष्ठ निराकुल: त्व, प्रयोजनं यावदिदं त्वदीयम्।
सम सहायैरवधारयामस्तत्त्वेन कृत्य हि परीक्ष्य सद्भि: ॥५३७॥

इति उपसर्पण-सूत्रम् ॥१८॥

अर्थ - आचार्य क्षपक को कहते है कि जब तक यह तुम्हारा प्रयोजन है तब तक के लिए हे महामते! तुम निराकुलतापूर्वक हमारे सघ मे ठहरो। हम वैयावृत्य करनेवालो के साथ तुम्हारे इस विषय पर भली प्रकार से विचार-विमर्श करते है, क्योकि सज्जन पुरुषो को परीक्षा करके ही कार्य करना चाहिए ॥५३७॥

इस प्रकार उपसर्पण अधिकार पूर्ण हुआ ॥१८॥

१९ परीक्षा अधिकार

आचार्य द्वारा क्षपक मुनि की परीक्षा का निर्देश

आचार्य: करणोत्साह, विज्ञातुं तं परीक्षते।
जिघृक्षाऽविचिकित्साभ्यामुत्तमार्थे समाधये ॥५३८॥

अर्थ - मार्गज्ञ आचार्य परीक्षा करते हैं कि यह क्षपक रत्नत्रयाराधन की क्रिया में उत्साही है या नहीं। यह क्षपक समाधि के लिए उद्यत तो हुआ है किन्तु मनोज्ञ आहार मे अभिलाषावान और अमनोज्ञ आहार मे इसे ग्लानि है या नहीं। तथा उत्तमार्थ की चार आराधनाओ के आराधन मे इसका कितना उत्साह है। इत्यादि प्रकार से निर्विघ्न समाधि हेतु परीक्षा करते हैं ॥५३८॥

आराधनागतं क्षेमं, क्षपकस्य समीयुषः।
दिव्येन निःप्रमादोऽसौ, निमित्तेन परीक्षते॥५३९॥

इति परीक्षणम्॥१९॥

अर्थ - आराधना हेतु आगत क्षपक की आराधना के समय क्षेम अर्थात् सुख-शान्ति रहेगी या नहीं? इस विषय की परीक्षा, निमित्तज्ञान एव दिव्यज्ञान द्वारा आचार्य नि प्रमादी होकर करते हैं॥५३९॥

प्रश्न - आचार्य यह परीक्षा क्यों और कैसे करते हैं?

उत्तर - आचार्यदेव क्षपक के हितार्थ और धर्म की वृद्धि आदि के लिए सर्वप्रथम क्षपक की परीक्षा करके ही उसे स्वीकार करते हैं। यथा सर्वप्रथम क्षपक के आहारजन्य परिणामो की परीक्षा करना अति आवश्यक है क्योंकि अन्न-जल का त्याग कर देना अति दु साध्य कार्य है। यदि क्षपक का मानसिक बल कमजोर होगा तो वह भूख आदि की असह्य वेदना होने पर रोने-चिल्लाने लगे, भाग जावे या असमय मे और अयोग्य आहार आदि कर ले तो धर्म और गण की निन्दा के साथ-साथ क्षपक का भारी अहित होगा।

इस प्रकार परीक्षा अधिकार पूर्ण हुआ॥१९॥

२०. पडिलेहा अर्थात् निरूपण अधिकार

तं गृह्णीते मार्गवेदी गणं स्वं, राज्यं क्षेत्रं भूमिपालं निरूप्य।
साधुं सूरे गृह्णतो निःपरीक्षं, चित्रा दोषा दुर्निवारा भवन्ति॥५४०॥

इति निरूपणम्॥

अर्थ - रत्नत्रय मार्ग के ज्ञाता आचार्य स्वय अपना सामर्थ्य, गण का भाव, राज्य, क्षेत्र और राजा आदि के विषय मे विचार करके ही समाधि हेतु आये हुए क्षपक को ग्रहण करते हैं। यदि आचार्य इन सबकी परीक्षा किये बिना ही समाधि हेतु साधु को ग्रहण कर लेते हैं तो नाना-प्रकार के दुर्निवार दोष आते हैं॥५४०॥

प्रश्न - आचार्यदेव इन सबके विषय मे इतना विचार क्यो और किस प्रकार से करते हैं ?

उत्तर - मनुष्यों के कोई भी शुभाशुभ कार्य शुभाशुभ संकेत दिये बिना नहीं होते। आचार्यदेव महाज्ञानी होते हैं। वे रत्नत्रय के मार्ग के साथ-साथ अनेक प्रकार के दिव्यो एव निमित्तों के भी ज्ञाता होते हैं। दूसरे की समाधि सुचारु रीत्या सम्पन्न करा देना यह कोई सहजसाध्य कार्य नहीं है, अत सर्वप्रथम आचार्य स्वयं का आत्मबल, परोपकार के प्रति स्वय का मानसिक उत्साह, अपने गण पर स्वय का वर्चस्व आदि तौलते हैं। पश्चात् यह देखते हैं कि इस समाधिकार्य से राज्यादि का शुभ होगा या नहीं ? यदि शुभ होने के लक्षण न हो अथवा राज्य धर्मद्वेषी हो तो आचार्य क्षपक को लेकर अन्य राज्य या अन्य नगर या अन्य ग्राम में चले जाते हैं। परीक्षा न करने पर यदि राज्य आदि मे समाधि के समय उत्पात आदि हुआ तो आचार्य और क्षपक दोनों को कष्ट उठाना पड़ेगा। किसी देव के उपदेश या संकेत से, शुभाशुभ स्वप्नों से या शुभाशुभ निमित्तों से गण का, स्वय का या क्षपक का अनिष्ट देखते है तो समाधि जैसे उत्तम कार्य का प्रारम्भ नहीं करते। जो आचार्य

बिना परीक्षा किये कार्य प्रारम्भ कर देते हैं वे अपना, गण का, धर्म का एव क्षपक का अर्थात् इनमे से किसी का भी उपकार नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार निरूपण अधिकार पूर्ण हुआ ॥२० ॥

२१ पृच्छा अधिकार

आपृच्छ्य क्षपकं सूरिर्गृह्णाति प्रतिचारकैः।
अनुज्ञातमपृच्छायां, त्रयाणां मनसः क्षतिः ॥५४१ ॥

इति पृच्छा ॥

अर्थ - क्षपक को समाधि हेतु ग्रहण करने के पूर्व आचार्य अपने सघस्थ परिचारक अर्थात् वैयावृत्य करने में कुशल मुनिजनों से पूछते हैं, पश्चात् क्षपक को ग्रहण करते हैं। यदि सघस्थ मुनिजनों से न पूछा जाय तो आचार्य, क्षपक और सघ तीनो को सक्लेश होगा ॥५४१ ॥

प्रश्न - परिचारकों से कैसे पूछा जाता है और न पूछने पर तीनो को सक्लेश क्यों होता है?

उत्तर - आचार्य परिचारक साधुओ से इस प्रकार पूछते हैं कि यह अतिथि क्षपक रत्नत्रय की साधना में हमारी सहायता चाहता है। साधुसमाधि और आगत विघ्नों को दूर कर क्षपक की सेवा-शुश्रूषा अर्थात् वैयावृत्य करना तो तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध के कारण है, यह बात आप सब जानते ही हैं। ऐसा पुण्य देने के लिए आये हुए इस साधु को साहाय्य देना हमारा कर्त्तव्य है या नहीं ? इस विषय मे आप सबकी जो सम्मति हो, सो कहो। जगत् मे लौकिक जन भी परोपकार मे तत्पर रहते दिखाई देते हैं, तब यतिजनो का तो कहना ही क्या है ? वे तो समस्त निकट-भव्य जीवों को ससाररूपी अगाध कीचड से निकालने मे उद्यमशील रहते हैं। ''आत्महित करना चाहिए और यदि शक्य हो तो परहित भी अवश्य करना चाहिए'' ऐसा आगम-वचन है, इत्यादि। इस प्रकार पूछने पर यदि वे सम्मति देते हैं तो आचार्य क्षपक को स्वीकार करते है, अन्यथा नहीं।

परिचारकों को पूछे बिना क्षपक को ग्रहण कर लेने पर यदि गण के साधु आगत क्षपक की विनय एव वैयावृत्य नहीं करेगे तो क्षपक को सक्लेश होगा कि मैं कहाँ फँस गया हूँ क्योकि सघस्थ साधु तो मेरी कुछ भी सभाल नहीं करते हैं। गुरु को अति सक्लेश होगा कि देखो ! मैंने इसका उपकार करना प्रारम्भ किया किन्तु सघ आशिक भी सहायता नहीं करता है, अब मैं अकेला क्या करूँ? परिचारक यतियो को सक्लेश होगा कि यह कार्य तो बहुत जनो के करने का है किन्तु हमारा यह गुरु नहीं मानता और न हमारे सामर्थ्य का ही विचार करता है, और जब हमसे पूछा ही नहीं, तब हमे क्या करना, इत्यादि।

इस प्रकार पृच्छा अधिकार पूर्ण हुआ ॥२१ ॥

२२. एकसंग्रह अधिकार

एक ही क्षपक को सस्तरारूढ़ होने की जिनेन्द्राज्ञा है

एकः संस्तरकस्थोऽग्नौ, यजतेऽङ्गं जिनाज्ञया।
दुःकरैः संल्लिखत्यन्यस्तपोभिर्विविधैर्यति ॥५४२ ॥

अर्थ - संस्तर पर स्थित होकर मात्र एक क्षपक जिनाज्ञानुसार तपरूपी अग्नि में शरीर का दान करता है अर्थात् यावज्जीवन आहार का त्याग कर शरीर की पूर्णाहुति तपाग्नि में करता है, तथा अन्य कोई एक यति विविध प्रकार से उग्र-उग्र तपश्चरण द्वारा शरीर को कृश करता है ॥५४२॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या भाव है ?

उत्तर - इसका भाव यह है कि एक सघ में एक साथ दो मुनि संस्तर ग्रहण कर आहार का यावज्जीवन त्याग न करें। एक क्षपक आहार का त्याग कर सस्तरारूढ़ हो और कोई दूसरा उग्र तपों द्वारा अपने शरीर को कृश करने का उद्यम करे।

यजमान-क्षतेर्जैनैस्तृतीयो नानुमन्यते।
द्वि-त्रेषु श्रित-पात्रेषु, समाधिर्हीयते तराम् ॥५४३॥

अर्थ - सल्लेखनारत मुनि की हानि होती है, अत. जैनाचार्य तीसरे क्षपक को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं देते हैं। यदि एक सघ मे एक निर्यापकाचार्य के निर्देशन में एक साथ दो-तीन मुनियों को सस्तरारूढ़ कर लेते हैं तो उनकी समाधि अतिशयरूप से नष्ट हो जाती है ॥५४३॥

प्रश्न - जैनाचार्यों ने एक साथ दो-तीन क्षपको को सस्तरारूढ होने की आज्ञा क्यों नहीं दी?

उत्तर - एक आचार्य के निर्देशन मे एक साथ दो-तीन साधुओं को सस्तरारूढ कर लेने पर उन सभी के चित्त का समाधान करना, धर्मोपदेश द्वारा घबराये हुए मन को शान्त करना, शरीरमर्दन करना, मल-मूत्रादि के त्याग के समय सँभालना और भी अन्य-अन्य प्रकार से वैयावृत्य करना, एक निर्यापकाचार्य कैसे सम्पन्न कर सकेगा ? तथा सघस्थ परिचारक मुनि भी सबकी वैयावृत्य के कार्यों मे शान्तिपूर्वक सलग्न नहीं हो सकते। सबके सर्व कार्य सम्पन्न न हो सकने के कारण सभी को सक्लेश होगा जो समाधि को नष्ट करने का साधन है, अत. एक समय मे एक आचार्य एक ही क्षपक को सस्तरारूढ करावे।

रथोद्धता छन्द

एकमेव विधिना यतिं तत: स्वीकरोति स्वसहाय-सम्मतम्।
गृह्यते हि कवल: स एव य: पण्डितेन वदने प्रशस्यते ॥५४४॥

इति एकसंग्रह: ॥२२॥

अर्थ - इस प्रकार जिनाज्ञा मान कर एक निर्यापक एक ही क्षपक को विधिपूर्वक अपने स्व सहाय की सम्मति देकर स्वीकार करता है। क्योकि मुख मे वही ग्रास ग्रहण किया जाता है जो विद्वानों के द्वारा प्रशसनीय माना जाता है ॥५४४॥

प्रश्न - मुख मे बडा ग्रास ग्रहण करने से क्या हानि है और इस दृष्टान्त का क्या प्रयोजन है?

उत्तर - मुख में उतना बडा ही ग्रास लिया जाता है जो सुखपूर्वक चबाकर गले से उतारा जा सके और ऐसा ग्रास लेना ही प्रशसा के योग्य होता है। यदि बड़ा ग्रास या एक साथ दो-तीन ग्रास एक साथ मुख में भर लिये जाँय तो ठसका आना, चबा नहीं सकना, आँखों से पानी बहना एव ग्रास का मुख से बाहर निकल जाना,

ऐसी अनेक प्रकार की परेशानियाँ हो जाती हैं। इस दृष्टान्त का यह प्रयोजन है कि जैसे प्रमाण युक्त एक-एक ग्रास ही प्रशंसनीय है उसी प्रकार एक निर्यापकाचार्य द्वारा एक क्षपक को सस्तरारूढ़ कराना ही जिनेन्द्राज्ञा के अनुकूल है।

इस प्रकार एकसंग्रह अधिकार पूर्ण हुआ ॥२२॥

मध्ये गणस्य सर्वस्य, क्षपकं भाषते हितम्।
इत्थं कारयितुं शुद्धां, विधिनालोचनां गणी ॥५४५॥

अर्थ - सर्व सघ के मध्य मे विधिपूर्वक शुद्ध आलोचना कराने हेतु निर्यापकाचार्य क्षपक को इस प्रकार का हितकारी उपदेश देते हैं॥५४५॥

प्रश्न - समझाना तो क्षपक को है, फिर आचार्य सर्वसघ के मध्य उपदेश क्यों देते हैं?

उत्तर - सर्वसघ के समक्ष क्षपक को उपदेश देने का यह प्रयोजन है कि सर्वसघ को भी समाधि का स्वरूप, शुद्ध आलोचना का स्वरूप, आलोचना करने की विधि, आलोचना-आकम्पित आदि दस दोष, मनोयोग से वैयावृत्य करने की विधि एव उसका फल तथा किस समय क्या प्रवृत्ति एव क्या-क्या त्याग होना चाहिए, इत्यादि विषयो का विस्तृत ज्ञान सघ को भी हो जावे।

२३. आलोचना अधिकार

निर्यापकाचार्य का क्षपक को उपदेश

समस्तं स्पर्श-चारित्रं, निरस्य सुख-शीलताम्।
परीषह-चमूं घोरां, सहमानो निराकुलः ॥५४६॥

अर्थ - आचार्य क्षपक को दिव्य देशना देकर समझाते हैं कि - हे क्षपक ! अब तुम अपना सुखिया स्वभाव छोड़कर सम्पूर्ण चारित्र को धारण करो तथा घोर परीषहरूपी सेना के प्रहारो को सहन करते हुए निराकुल रहने का अभ्यास करो॥५४६॥

प्रश्न - सुखिया स्वभाव छोडने का और निराकुल रहने का उपदेश क्यो दिया जा रहा है ?

उत्तर - सुख-स्वभावी मुनि का चारित्र मन्द होता है । ऐसा मुनि वसतिका, सस्तर, आहार और उपकरण की शुद्धि नहीं करता। मनोज्ञ आहार मे लम्पटी बन कर उद्‌गमादि दोषों का त्याग नहीं करता, सुन्दर एव स्वच्छ उपकरणो मे प्रीतियुक्त होने से उनके दोषो का परिहार नहीं करता, परीषहजन्य क्लेश सहन करने मे असमर्थ होता हुआ जिस किसी प्रकार के दोषो से युक्त आहार-पान एव वसतिका आदि को ग्रहण कर लेता है। आलस्यप्रिय होने से छह आवश्यको को समय पर और मर्यादित समय तक नहीं करता, दिन को सोता है, तपजन्य क्लेश सहन करने मे निरुत्साही होता है, गप्प-वार्ता करने मे उत्साही तथा स्वाध्याय तप में निरुत्साही होता है और शरीर को सुख देनेवाले साधनो के लिए आकुल-व्याकुल रहता है। आकुलता ही दुख का लक्षण है, अत. आचार्यदेव सुखस्वभाव छोड़ने का और निराकुल रहने का उपदेश दे रहे हैं।

रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्दानां मा स्म भूर्वशः।
कषायाणां विधेहि त्वं, शत्रूणामिव निग्रहम् ॥५४७॥

अर्थ - भो क्षपक ! तुम पंचेन्द्रियों के स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और मनोज्ञ शब्द रूप विषयों के आधीन कभी मत होना। जैसे शस्त्रों द्वारा शत्रुओ का निग्रह करते हैं वैसे ही तुम क्षमादि गुणों के द्वारा कषायों का निग्रह करने का उद्यम करो॥५४७॥

रागद्वेष-कषायाक्ष-संज्ञाभिर्गौरवादिकम्।
विहायालोचनां शुद्धां, त्वं विधेहि विशुद्धधीः ॥५४८॥

अर्थ - हे विशुद्धबुद्धिधारी क्षपकराज ! तुम राग, द्वेष, कषाय, इन्द्रियों को एव ऋद्धि, रस एव सात, इन तीन भेद वाले गारव को छोड़कर विशुद्ध आलोचना करो॥५४८॥

प्रश्न - आलोचना के पूर्व राग-द्वेषादि छोड़ने की प्रेरणा क्यो दी जा रही है ?

उत्तर - यह मानव-मन रागवश दोषो को नहीं देखता और द्वेषवश गुणों को नहीं देखता तथा ये राग-द्वेष ही असत्य बोलने के मूल कारण हैं, अत इनका निराकरण किये बिना शुद्ध आलोचना कर लेना सम्भव नहीं है। जैसे तालाब का कर्दम निकले बिना जल स्वच्छ नहीं हो सकता, वैसे ही रागद्वेष, कषाय एव गारवादि दोषों के विद्यमान रहते शुद्ध आलोचना नहीं हो सकती, अत· सर्व प्रथम इन्हे छोड़ने की प्रेरणा दी गई है।

निरतिचारव्रत होते हुए अन्याचार्य के समक्ष आलोचना करना आवश्यक है

स षट्त्रिंशद्-गुणेनापि, व्यवहार-पटीयसा।
कर्तव्यैषा महाशुद्धिरवश्यं पर-साक्षिका ॥५४९॥

अर्थ - छत्तीस गुण समन्वित एव व्यवहार मे अर्थात् प्रायश्चित्त देने मे कुशल क्षपक को अन्य आचार्य की साक्षी मे ही अपने अतिचारो की शुद्धि करना आवश्यक है॥५४९॥

छत्तीस गुण निरूपण

अष्टाचारादयो ज्ञेयाः, स्थितिकल्पा गुणादश।
तपो द्वादशधा षोढावश्यकं षट्-षडाहतम् ॥५५०॥

अर्थ - आचारवत्व आदि आठ गुण, दश प्रकार का स्थितिकल्प, बारह तप और छह आवश्यक ये छत्तीस गुण हैं। अथवा आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार से भी छत्तीस गुण हैं॥५५०॥

सर्वे तीर्थकृतोऽनन्तजिनाः केवलिनो यतः।
छद्मस्थस्य महाशुद्धिं, वदन्ति गुरु-सन्निधौ ॥५५१॥

अर्थ - अतीतकाल में जितने तीर्थकर हुए हैं एव अनन्त केवली जिन हुए हैं वे सब ही 'छद्मस्थ जीवो की महाशुद्धि गुरु के निकट होती है' ऐसा कहते हैं॥५५१॥

कुशलोऽपि यथा वैद्यः, स्वं निगद्यातुरो गदम्।
बन्धस्य परतोऽज्ञात्वा, विदधाति परिक्रियाम् ॥५५२॥

अर्थ - निर्यापकाचार्य क्षपक को समझा रहे हैं कि - देखो ! चतुर वैद्य भी रोग हो जाने पर अपना रोग दूसरे वैद्य को बता कर और उससे रोग दूर करने की औषधि एव उसे ग्रहण करने की विधि ज्ञात कर रोग का प्रतिकार करता है ॥५५२॥

जानतापि तथा दोषं, स्व-मुक्त्वा परके गुरौ।
परिज्ञाय विधातव्या, महाशुद्धिः पटीयसा ॥५५३॥

अर्थ - क्षपक स्वय आचार्य है, चतुर है, दोषनिवृत्ति की विधि को स्वय जानता है तो भी उसे अन्य आचार्य के निकट जाकर, विनयपूर्वक अपने दोष उनसे कह कर एव दोषो का प्रक्षालन करने की विधि जानकर अपने रत्नत्रय की महाविशुद्धि कर लेनी चाहिए ॥५५३॥

प्रश्न - आचार्य को भी परसाक्षी मे दोष कह कर शुद्धि करने का विधान किस कारण कहा गया है?

उत्तर - परसाक्षी पूर्वक अपराधो को कहकर आत्मशुद्धि करने का विधान निर्धारण करने का कारण यह है कि एक महान् आचार्य को भी अन्य आचार्य के निकट अपने दोषो की आलोचना करते देख कर अन्य सभी यतिजन अपनी-अपनी 'आत्मा की शुद्धि का अनादि क्रम ऐसा ही है' इस प्रकार की श्रद्धा कर वे भी परसाक्षी पूर्वक ही शुद्धि करेगे और यदि आचार्यजन ही स्वसाक्षी से शुद्धि करने लगेगे, तब अन्य सभी साधु उसी मार्ग को अपनावेगे, वे फिर क्यो गुरुजनो की शरण मे जावेगे ? क्योकि लोग तो गतानुगतिक होते हैं।

ततः सम्यक्त्व-चारित्र-ज्ञान-दूषणमादितः।
एकाग्रमानसः सर्वं, त्वमालोचय यत्नतः ॥५५४॥

अर्थ - इसलिए दीक्षाकाल से अद्यावधि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे जो-जो दोष लगे हो उन सब की तुम सावधानीपूर्वक एकाग्रचित्त से आलोचना करो ॥५५४॥

विद्यते यद्यतीचारो, मनो वाक्काय-सम्भवः।
आलोचय तदा सर्वं, निःशल्यीभूत-मानसः ॥५५५॥

अर्थ - अशुभ परिणामो के योग से मन, वचन एव काय की प्रवृत्ति द्वारा जो भी अतिचार लगे हो उन सबकी तुम नि शल्य मन होकर आलोचना करो ॥५५५॥

कालेऽमुकत्र देशे वा, जातो भावनयानया।
दोषो ममेति विज्ञाय, त्वमालोचय सर्वथा ॥५५६॥

अर्थ - अमुक काल में, अमुक देश मे और अमुक भाव से मेरे द्वारा अमुक-अमुक दोष हुआ है, इस प्रकार सब द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव आदि को ज्ञात कर हे मुने ! तुम सब प्रकार से आलोचना करो ॥५५६॥

प्रश्न - यहाँ काल एव देश आदि की भिन्नतापूर्वक दोष कहने की प्रेरणा क्यो दी जा रही है?

उत्तर - काल भेद, देश भेद, द्रव्य भेद, परिणाम भेद और साहाय्य अथवा निमित्त भेद से दोषों में भी गुरुपना और लघुपना हो जाता है, तथा दोषों की गुरुता एव लघुता के अनुसार ही गुरुजन गुरु, मध्यम अथवा लघु प्रायश्चित्त देकर शुद्धि कर सकेंगे, तभी यथार्थ शुद्धि हो सकेगी। अत: काल आदि की भिन्नतापूर्वक दोष कहना आवश्यक है।

आलोचना के भेद एवं उनका स्वरूप

आलोचना द्विधा साधोरौघी पदविभागिका।
प्रथमा मूलया तस्य, परस्य गदिता परा ॥५५७॥

अर्थ - साधु की आलोचना दो प्रकार की होती है - एक ओघी और दूसरी पदविभागी। इनमें मूल को प्राप्त यति के पहली ओघी आलोचना होती है और उससे अन्य आलोचना पदविभागी कही जाती है॥५५७॥

प्रश्न - इस ओघी और पदविभागी आलोचना का विशेष भाव क्या है ?

उत्तर - यहाँ ओघी आलोचना का अर्थ है सामान्यालोचना और पदविभागी आलोचना का अर्थ है विशेषालोचना। वचन सामान्य एव विशेष इन दो धर्मों का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होते हैं, अत आलोचना के भी ये दो भेद कहे गये है।

सर्व मुनिधर्म का विनाश करनेवाले दोष की आलोचना करना सामान्यालोचना है और किसी गुणविशेष मे लगे दोष की आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेषालोचना है। अर्थात् जिसकी मूल से ही दीक्षा छेद दी जाती है वह साधु अपने दोषो की सामान्यालोचना करता है किन्तु जो सम्यक्त्व आदि गुणविशेष मे दोष लगाता है वह अपने दोष की विशेषालोचना करता है।

महापराध हो जाने के कारण जिसकी सर्व पूर्वदीक्षा नष्ट कर पुन दीक्षा दी जाती है उसे मूल प्रायश्चित्त कहते हैं। जो मुनि मूल प्रायश्चित्त के योग्य होता है वह सामान्यालोचना करता है और जो मूल प्रायश्चित्त के अतिरिक्त शेष अन्य प्रायश्चित्त के योग्य होता है वह विशेषालोचना करता है।

सामान्यालोचना का स्वरूप और उसका स्वामी

ओघेन भाषतेऽनल्प-दोषो वा सर्व-घातक:।
इत: प्रभृति वाञ्छामि, त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ! ॥५५८॥

अर्थ - जिस यति द्वारा महादोष हो चुका है या सम्यक्त्व एव व्रतो का सर्वनाश हो चुका है वह सामान्य से कहता है कि हे गुरुदेव ! मेरे सर्व व्रत नष्ट हो चुके हैं। मैं आपके द्वारा आज पुन. सयम प्राप्त करना चाहता हूँ। इस प्रकार ओघी आलोचना होती है॥५५८॥

प्रश्न - अपराधी मुनि सामान्यालोचना कैसे करता है?

उत्तर - अपराधी मुनि आचार्यदेव से कहता है कि हे प्रभो ! मेरे द्वारा अपरिमित अपराध हुए हैं, मेरे सम्यक्त्व का और सर्व व्रतों का घात हो चुका है, मै रत्नत्रय से तुच्छ हूँ। अर्थात् मैं रत्नत्रय में आप सबसे छोटा

हूँ। आचार्यदेव के समक्ष आलोचना कर देने से मायाशल्य दूर हो जाता है, मानकषाय जड़ से उखड़ जाती है, गुरुजनों के प्रति आदर भाव व्यक्त होता है और उनके पादमूल में रहकर व्रताचरण करने से मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि होती है, अत: मैं आलोचना करके आज पुन: आपके कर-कमलो द्वारा दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ।

पदविभागी आलोचना का स्वरूप

अपराधोस्ति य: कश्चिज्जातो यत्र यथा यदा।
ब्रूते पदविभागीं तां, सूरौ तत्र तथा तदा ॥५५९॥

अर्थ - दीक्षा से लेकर आज पर्यन्त जिस क्षेत्र में, जिस काल मे और जिस प्रकार से जो कोई भी अपराध हुए हैं, उन्हें उसी क्षेत्र, काल और उसी प्रकार से अर्थात् यथावत् गुरु के समक्ष कहना पदविभागी अर्थात् विशेषालोचना है ॥५५९॥

दृष्टान्तपूर्वक शल्य दूर न करने में दोष और दूर कर देने मे गुण

कण्टकेन यथा विद्धे, सर्वाङ्ग-व्यापि-वेदना।
जायते निर्वृतस्तस्मिन्नुद्धृते शल्य-वर्जित: ॥५६०॥

दु:ख-व्याकुलित-स्वान्तस्तथा शल्येन शल्यित:।
नि:शल्यो जायते य: स, लभते निर्वृतिं पराम् ॥५६१॥

अर्थ - जैसे कण्टक से बींधा हुआ मनुष्य सर्वाङ्गव्यापी पीडा से पीडित होता है और उस कण्टक के निकल जाने पर वही दुखी मनुष्य शल्य अर्थात् कण्टक से रहित होता हुआ सुखी होता है, उसी प्रकार जो मायावी मुनि कण्टक सदृश अपने दोषो को नहीं निकालता है, अर्थात् गुरु से अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता है वह मुनि माया रूप दुख से व्याकुलचित्त रहता है और जब वही मुनि अपने दोषो की आलोचना कर शल्यरहित हो जाता है तब परम सुख को प्राप्त हो जाता है ॥५६०-५६१॥

शल्य के भेद

माया-निदान-मिथ्यात्व-भेदेन त्रिविधं मतम्।
अथवा द्विविधं शल्यं, द्रव्य-भावात्मकं मतम् ॥५६२॥

अर्थ - शल्य के तीन भेद है - माया शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य और परभवगत भोगो की वाछा स्वरूप निदानबन्ध। अथवा शल्य के दो भेद हैं - द्रव्यशल्य और भावशल्य ॥५६२॥

भाव शल्य और द्रव्य शल्य के भेद

भावशल्यं त्रिधा तत्र, ज्ञानादि-त्रय-गोचरम्।
द्रव्यशल्यमपि त्रेधा, सचित्ताचित्त-मिश्रकम् ॥५६३॥

अर्थ - उसमे भावशल्य के तीन भेद हैं - ज्ञान का शल्य, दर्शन का शल्य और चारित्र का शल्य। द्रव्य शल्य के भी तीन भेद हैं सचित्त द्रव्य शल्य, अचित्त द्रव्य शल्य और मिश्र द्रव्यशल्य ॥५६३॥

प्रश्न - इन प्रभेद रूप शल्यों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - यहाँ चारित्र में तप का अन्तर्भाव करके भावशल्य तीन प्रकार के कहे गये हैं -

१ शंका, कांक्षादि सम्यग्दर्शन के भावशल्य हैं।

२ अकाल में स्वाध्याय करना, गुरु, शास्त्र एवं ज्ञान का अविनय करना सम्यग्ज्ञान के शल्य हैं।

३. समितियो में और गुप्तियों में अनादर भाव रखना चारित्र के शल्य हैं।

४. अनशनादि तपों में अतिचार लगाना तप के अतिचार हैं।

५ असंयम में प्रवृत्ति करना योग के शल्य हैं।

शिष्य एव श्रावक-श्राविका आदि सचित्त द्रव्य शल्य हैं। पुस्तक, कलम, श्रुत-पीठिका एव स्वर्णादि अचित्त द्रव्य शल्य हैं और ग्राम, नगर आदि मिश्र द्रव्य शल्य हैं। ये द्रव्य शल्य चारित्राचार भावशल्य के कारण होते हैं। भाव यह है कि साधुओं को ग्राम, नगर एव स्वर्ण आदि का तो जीवन पर्यंत के लिए त्याग होता है किन्तु कदाचित् इन वस्तुओ के प्रति मन मे ममत्वभाव उत्पन्न हो जाय तो वह द्रव्य शल्य है। यह मोहभाव ही काँटे के सदृश क्लेशकारक है। अकालादि मे अध्ययन करना तो साधुजीवन मे लगनेवाले अतिचार हैं।

भाव शल्य को दूर न करने में दोष

अनुद्धृते प्रमादेन, भावशल्ये शरीरिण:।
लभन्ते दारुणं दु:खं, द्रव्यशल्यमिवानिशम्॥५६४॥

अर्थ - प्रमाद के वशीभूत हो यदि भावशल्य को नहीं निकाला जाय तो कण्टक आदि द्रव्यशल्य के सदृश साधुजन भावशल्य से सतत ही दारुण दुख को प्राप्त होते हैं॥५६४॥

भावशल्यमनुद्धृत्य, ये म्रियन्ते विमोहिन:।
भय-प्रमाद-लज्जाभि:, कस्याप्याराधका न ते॥५६५॥

अर्थ - भय, प्रमाद एव लज्जा के कारण जो मोही क्षपक भावशल्य का त्याग किये बिना मरण करते हैं, वे चारों आराधनाओं मे से किसी एक के भी आराधक नहीं होते॥५६५॥

दु:सहा वेदनैकत्र, द्रव्यशल्येऽस्त्यनुद्धृते।
भावशल्ये पुन: सास्ति, जन्तोर्जन्मनि जन्मनि॥५६६॥

अर्थ - यदि द्रव्य शल्य अर्थात् कण्टकादि शरीर से निष्कासित न किये जाँय तो एक ही भव में दु सह वेदना होती है किन्तु यदि भावशल्य को दूर न किया जाय तो इस जीव को जन्म-जन्मान्तरों में दु सह वेदना भोगनी पड़ती है॥५६६॥

चारित्रं शोधयिष्यामि, काले श्व प्रभृता वहम्।
शेमुषीमिति कुर्वाणा, गतं कालं न जानते॥५६७॥

अर्थ - कोई क्षपक यदि ऐसा विचार करता है कि अपने चारित्र में लगे हुए अतिचारों का शोधन अर्थात् आलोचना मैं कल या परसों करूँगा, वह क्षपक गये हुए काल को नहीं जानता है॥५६७॥

प्रश्न - रत्नत्रय में लगे अतिचारों की आलोचना तत्काल करने की प्रेरणा क्यों दी जा रही है? दो-चार दिन बाद आलोचना करने से क्या हानि है ?

उत्तर - रत्नत्रय में अतिचार लग जाने पर उसी क्षण उसका शोधन उसी प्रकार कर लेना चाहिए जैसे आँख मे प्रवेश करनेवाले रज-कण का शोधन तत्काल कर लिया जाता है। व्याधि, शत्रु और कर्म, इनकी यदि उपेक्षा की जाय तो इनकी जड जम जाती है फिर सहज ही इनका विनाश होना सम्भव नहीं होता। रत्नत्रय मे लगे हुए अतिचारों की आलोचना मैं कल, परसों या अन्य किसी भी दिन कर लूँगा, ऐसा सकल्प करनेवाले क्षपक या साधु प्रतिक्षण व्यतीत होनेवाले अपने आयुकर्म को नहीं जानते कि कब मृत्यु आ जायेगी और मैं बिना आलोचना किये ही मर जाऊँगा तथा दुर्गति मे जाऊँगा।

जिस समय दोष लगता है उस समय आत्मा में पश्चाताप रूप एक विशेष प्रकार का सवेदन होता है एव ग्लानि होती है, अत उसी समय यथार्थ आलोचना हो सकती है। समय व्यतीत हो जाने पर वे भाव नहीं रहते और अतिचार लगने के कारण, उसका समय एव क्षेत्र आदि भी विस्मृत हो जाते हैं, अत गुरु के पूछने पर भी पूर्णरीत्या नहीं कह पाते। अथवा अचानक मृत्यु आ जाने पर या वाणी का सामर्थ्य न रहने पर चारित्र की शुद्धि किये बिना ही मरण करना पडता है।

रागद्वेषादिभिर्भग्ना, ये म्रियन्ते सशल्यका:।
दु:ख शल्याकुले भीमे, भवारण्ये भ्रमन्ति ते।।५६८।।

अर्थ - रागद्वेष से पीडित जो मूढ मुनि शल्य सहित मरते हैं वे दुखरूपी शल्यों अर्थात् काँटो से भरे ससाररूपी वन मे भटकते हैं।।५६८।।

शल्य निकाल कर मरण करने मे गुण है

उद्धृत्य कुर्वते कालं, भावशल्यं त्रिधापि ये।
आराधनां प्रपद्यन्ते, ते कल्याण-वितारिणीम्।।५६९।।

अर्थ - पूर्वोक्त तीन प्रकार की भाव शल्यो को निकाल कर जो साधु मरण करते हैं वे कल्याण परम्परा को देनेवाली आराधनाओ को प्राप्त होते हैं।।५६९।।

सम्यक्त्व-वृत्त-नि:शल्या, दूरोत्सारित-गौरवा:।
विहरन्ति विसङ्गा ये, कर्म सर्वं धुनन्ति ते।।५७०।।

अर्थ - जो तीन प्रकार के गारव और तीनो प्रकार की भाव शल्यो से रहित हैं और नि सग अर्थात् सर्व परिग्रह का त्याग कर सम्यग्दर्शन एव सम्यक्चारित्र मे ही विहार करते है वे साधुजन सर्व कर्मों को नष्ट कर देते हैं।।५७०।।

इति ज्ञात्वा महालाभं, नि:शल्यीभूत-चेतसाम्।
शुद्ध-दर्शन-चारित्रो, विहरस्वापशल्यक:।।५७१।।

अर्थ - आचार्यदेव क्षपक को समझा रहे हैं कि हे क्षपक! निरतिचार अर्थात् नि.शल्य चित्त से रत्नत्रय

का पालन करनेवाले साधुओं को उपर्युक्त आराधना-प्राप्ति रूप महान् लाभ होता है। यह जान कर तुम दर्शन और चारित्र की शुद्धि करके शल्य रहित होते हुए मोक्ष-मार्ग में प्रवर्तन करो अर्थात् नि शल्यता पूर्ण आचरण करो।।५७१।।

सम्यगालोचयेत्सर्वमनुद्विग्नमविस्मृतम्।
अनिर्गूढमनिर्मोहं, निर्मूलमपगौरवम्।।५७२।।

अर्थ - हे क्षपक! तुम शान्त चित से, बिना भूले, बिना कुछ छिपाये, निर्मोह भाव से गारव रहित होते हुए निर्मूलतया अर्थात् दीक्षाकाल से अद्यावधि रत्नत्रय में लगे अतिचारो की पूर्णरूप से निर्भय होकर सम्यक् आलोचना करो।।५७२।।

भय-मान-मृषा-माया-मुक्तेन प्राञ्जलात्मना।
बालेनेवाभिधेयानि, कृत्याकृत्यानि धीमता।।५७३।।

अर्थ - जैसे बालक किये हुए कार्य-अकार्य को भय, मान, झूठ एव माया-प्रपच से रहित हो सरलभाव से कह देता है, वैसे ही बुद्धिमान क्षपक को अपने द्वारा किये गये कार्य-अकार्य को गुरु के समक्ष निवेदन कर देना चाहिए।।५७३।।

सम्यक्-स्वज्ञान-वृत्तेषु, विधायालोचनां यते!
कुरु सल्लेखनां सम्यक्-क्रमेणापास्त-कल्मषः।।५७४।।

अर्थ - हे यते! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे लगे हुए अतिचारो को माया पाप से रहित हुए तुम आलोचना करो, पश्चात् शुद्ध मन से क्रमानुसार सम्यक् सल्लेखना करो।।५७४।।

इत्युक्तं सूरिणोत्कृष्टां, चिकीर्षुः क्षपको मृतिम्।
जात-सर्वाङ्ग-रोमाञ्चः, प्रमोदभर-विह्वलः।।५७५।।

अर्थ - आचार्य द्वारा क्षपक को इस प्रकार उपदेश दिये जाने पर उत्कृष्ट समाधिमरण करने का इच्छुक क्षपक अत्यन्त प्रसन्नता से हर्ष-विभोर होता हुआ सर्वांग मे रोमाञ्चित हो जाता है।।५७५।।

आलोचना के लिए दिशा निर्धारण

चैत्यस्य सम्मुखः प्राच्यामुदीच्यां वा दिशः स्थितः।
कायोत्सर्ग-स्थितो धीरो, भूत्वा कायेऽपि निस्पृहः।।५७६।।

अर्थ - जिनबिम्ब के सम्मुख या पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके शरीर से भी निस्पृह वह धीर क्षपक कायोत्सर्ग करता है।।५७६।।

प्रश्न - वह क्षपक कायोत्सर्ग कैसे और क्यो करता है ?

उत्तर - गुरु को अपने दोषों का निवेदन करने के पूर्व क्षपक विधिपूर्वक अर्थात् सामायिक दण्डक, थोस्सामि दण्डक, आवर्त और शिरोनति पूर्वक सिद्धभक्ति करके कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग में लीन होने से क्षपक को दोषों का स्मरण हो जाता है, अत· कायोत्सर्ग आलोचना का कारण है।

मुक्त-शल्य-ममत्वोऽसावेकत्वं प्रतिपद्यते ।
शल्यमुत्पाटयिष्यामि, पादमूले गणेशिनः ।।५७७ ।।

अर्थ - "मैं आचार्यदेव के पादमूल में शल्य को उखाड कर फेक दूँगा।" ऐसा संकल्प करता हुआ क्षपक शल्य एव ममत्व भाव को छोड़ कर एकत्व भाव को प्राप्त हो जाता है।।५७७।।

इत्येकत्व-गतः कृत्स्नं, दोषं स्मरति यत्नतः।
इत्थं स प्राञ्जलीभूय, सर्वं संस्मृत्य दूषणम्।।५७८ ।।

अर्थ - इस प्रकार एकत्व भावनामय होकर क्षपक सम्यक् प्रयत्नपूर्वक अपने सर्व दोषों का स्मरण करता है। इस प्रकार सरल अर्थात् निश्छल भाव को प्राप्त होता हुआ वह क्षपक पुन पुन अपने दोषों का स्मरण करता है।।५७८।।

प्रश्न - एकत्वभावमय होने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - क्षपक चिन्तन करता है कि अहो ! मैं तो केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाव वाला हूँ। यह मेरा शरीर, रागद्वेष, भाव शल्य, गारव और मान-अपमान की वृत्तियाँ ये सब विकार मेरे नहीं हैं कारण कि ये सब मेरे चैतन्य स्वभाव से भिन्न हैं। इस शरीर के नाश से और दोषो की आलोचना मे होने वाले मान-अपमान से मेरा कुछ भी बिगडनेवाला नहीं है, अत मैं तो अब सब प्रकार से माया छोडकर बालकवत् सरल हृदय से आलोचना करूँगा। ऐसा सकल्प करता हुआ क्षपक अपने दोषो का एकाग्रता पूर्वक स्मरण करता है कि मेरे किस व्रत या नियम मे कब, कैसे और कौन-कौन से दोष हुए है।

एति शल्यं निराकर्तुं, सर्वं संस्मृत्य दूषणम्।
आलोचनादिक कर्तुं, युज्यते शुद्ध-चेतसः ।।५७९ ।।

अर्थ - आलोचना और प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ विशुद्ध परिणामवाले क्षपक के द्वारा ही सम्भव हैं, अत सब दोषो का भली प्रकार स्मरण कर वह क्षपक शल्य निवारण हेतु गुरु के निकट जाता है।।५७९ ।।

आलोचना हेतु भाव एव काल शुद्धि का निर्देश

आलोचनादिकं तस्य, सम्भवेच्छुद्ध-भावतः।
अपराण्हेऽथ पूर्वाह्णे, शुभ-लग्नादिके दिने।।५८० ।।

अर्थ - विशुद्ध परिणामवाले क्षपक की आलोचनादि क्रियाएँ प्रशस्त समय एव प्रशस्त स्थान मे ही सम्भव हैं, अत आलोचना शुभ दिन के पूर्वाह्ण या अपराह्ण काल मे सौम्य तिथि, शुभ नक्षत्र एव शुभ लग्न मे होती है। अर्थात् आलोचना करने के लिए शुभ भावो के साथ-साथ क्षेत्रशुद्धि और कालशुद्धि भी आवश्यक है।।५८०।।

अप्रशस्त प्रदेश आलोचना करने योग्य नहीं होते

निःपत्रः कटुकः शुष्क-पादपः कण्टकाचितः।
विच्छायः पतितः शीर्णो, दव-दग्धस्तडिद्धतः ।।५८१ ।।

अर्थ - जिस स्थान पर पत्तों से रहित वृक्ष, कडुवे निम्ब आदि के वृक्ष, सूखा वृक्ष, कँटीले वृक्ष, छाया रहित वृक्ष, गिरा-पड़ा हुआ वृक्ष, जीर्ण-शीर्ण वृक्ष, अग्नि या बिजली से जला हुआ वृक्ष या ऐसा जला हुआ कोई स्थान हो तो वह क्षपक की आलोचना के योग्य नहीं है ॥५८१॥

क्षुद्राणामल्पसत्त्वानां, देवतानां निकेतनम्।
तृण-पाषाण-काष्ठास्थि-पत्र-पांस्वादि-सञ्चयाः ॥५८२॥

अर्थ - क्षुद्र एवं अल्पशक्ति वाले देवों का स्थान और घास, पत्थर, काष्ठ, हड्डी, पत्ते और धूलि के ढेर वाले स्थान आलोचना के अयोग्य हैं ॥५८२॥

शून्य-वेश्म-रजो-भस्म-वर्चः प्रभृति-दूषिता।
रुद्रदेवकुलं त्याज्यं, निन्द्यमन्यदपीदृशम् ॥५८३॥

अर्थ - शून्य घर या कोई सुनसान स्थान, धूलि, राख एव मल से मलिन स्थान, रुद्र आदि देवों के स्थान तथा इन्हीं के सदृश अन्य कोई और भी निन्दनीय स्थान आलोचना के योग्य नहीं होते हैं ॥५८३॥

चिकारयिषतां शुद्धां, साधुमालोचनां स्फुटम्।
सूरीणां सर्वथा स्थानमसमाधान-कारणम् ॥५८४॥

अर्थ - जो निर्यापकाचार्य क्षपक द्वारा परिशुद्ध आलोचना करवाना चाहते हैं उन्हे उपर्युक्त अशान्ति-कारक स्थान प्रयत्नपूर्वक सर्वथा छोड़ देने चाहिए ॥५८४॥

आलोचना योग्य स्थानों का निर्देश

जिनेन्द्र-यक्ष-नागादि-मन्दिरं चारुतोरणम्।
सरः स्वच्छ-पयः पूर्णं, पद्मिनीखण्ड-मण्डितम् ॥५८५॥

पादपैरुन्नतैः सेव्यं, सर्व सत्वोपकारिभिः।
आरामे मन्दिरे नम्रैः, सज्जनैरिव भूषिते ॥५८६॥

समुद्र-निम्नगादीनां, तीरमक्ष-मनोहरम्।
सच्छायं सरसं वृक्षं, पवित्र-फल-पल्लवम् ॥५८७॥

अर्थ - देवाधिदेव अरहन्त-सिद्ध प्रभु के मन्दिरो मे या इन मन्दिरों के समीप सुन्दर तोरणों से युक्त यक्ष एव नागादि के मन्दिरो के समीप, कमलो से सुशोभित तथा स्वच्छ जल से परिपूर्ण सरोवरो के समीप, सब जीवो का उपकार करने वाले उन्नत वृक्षो से मण्डित स्थान, सज्जनो द्वारा सेव्यमान बगीचा, मन्दिर, सज्जन पुरुषों के सदृश विभूषित समुद्र या नदियो के किनारे, छायादार वृक्ष, पवित्र वृक्ष, पत्र-पुष्प एव फलों से युक्त वृक्ष तथा रसीले फलों से युक्त वृक्ष और इसी प्रकार इन्द्रियों को मनोहर लगनेवाले सुन्दर स्थान आलोचना के योग्य कहे गये हैं ॥५८५-५८६-५८७॥

शस्तमन्यदपि स्थानमुपेत्य गणनायकः।
आलोचनामसंक्लेशां, क्षपकस्य प्रतीच्छति ॥५८८॥

अर्थ - उपर्युक्त स्थानों के सदृश अन्य भी कोई प्रशस्त स्थान हों, वहाँ जाकर निर्यापकाचार्य क्षपक की संक्लेशरहित शुद्ध आलोचना सुनते हैं॥५८८॥

आचार्य इस प्रकार स्थित होकर आलोचना ग्रहण करते हैं

जिनार्चाया दिशः प्राच्या, कौवेर्या वा स सन्मुखम्।
शृणोत्यालोचनां सूरिरेकस्यैको निषण्णवान्॥५८९॥

अर्थ - जिनमन्दिर की ओर या पूर्व दिशा की ओर या उत्तर दिशा की ओर मुख करके सुखपूर्वक बैठकर अकेले एक ही आचार्य एक समय मे एक ही क्षपक की आलोचना सुनते हैं॥५८९॥

प्रश्न - समाधि इच्छुक क्षपक की आलोचना किस काल मे, किस स्थान पर, कैसे स्थित होकर और किस भाव से सुनी जाती है ?

उत्तर - पूर्वोक्त प्रकार शुभ लग्न, शुभ वार, सौम्य तिथि और शुभ नक्षत्र आलोचना हेतु शुभ काल है। जिनमन्दिर, मनोहर उद्यान, स्वच्छ जल एव कमलों से परिपूर्ण सरोवर के या समुद्र के या नदी के तट अथवा अन्य भी प्रशस्त स्थान आलोचना हेतु शुभ स्थान हैं। पूर्व दिशा अन्धकार को दूर करने में तत्पर सूर्य के उदय की दिशा है, सूर्योदय के सदृश आराधना शल्यादि अन्धकार को नष्ट करती हुई प्रकाशमान एव उन्नत होती जाय इस अभिप्राय से आचार्य पूर्वाभिमुख बैठे या क्षपक को पूर्वाभिमुख बिठा ले। इस प्रकार पूर्वाभिमुख बैठना, क्षपक पर अनुग्रह करने के कार्य की सिद्धि का अग है। विदेहक्षेत्र उत्तर मे है, अत विदेहक्षेत्र में स्थित सीमन्धर आदि तीर्थंकरो को चित्त मे स्थापित करके उनके सम्मुख होने से कार्य की सिद्धि होती है, इस भावना से आचार्य उत्तराभिमुख बैठें या क्षपक को उत्तराभिमुख बैठावे। जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा के अभिमुख बैठना, साक्षात् शुभ परिणामो का कारण होने से कार्यसिद्धि का अग है। बैठकर एकाग्रता पूर्वक आलोचना सुनना, आलोचना करने वाले का सम्मान है। जिस किसी प्रकार से बैठ कर या खडे-खडे या लेट कर आलोचना सुनना आगमविरुद्ध है, इससे क्षपक के प्रति आदर भाव प्रगट नहीं होता, जिससे क्षपक का उत्साह भग हो जाता है।

क्षपक की आलोचना अकेले एक ही आचार्य को सुननी चाहिए। बहुतो के बीच आलोचना करने मे अर्थात् अपने दोष कहने मे लज्जा आ जाने की सम्भावना रहती है क्योकि लज्जालु क्षपक अपने पूर्ण दोष नहीं कह सकेगा। सबके सामने दोष कहने मे उसके चित्त को खेद भी उत्पन्न हो सकता है। अनेक क्षपको द्वारा एक साथ, एक ही समय मे कहे गये दोष आचार्य एक साथ अवधारण नहीं कर सकता, अत एक आचार्य और एक ही क्षपक होना चाहिए।

यदि समाधि के लिए उद्यत किसी आर्यिका को आलोचना करना है तो आचार्य के निकट एक मुनिराज और हो अथवा आलोचक आर्यिका के साथ उनकी गणिनी आर्यिका या अन्य कोई आर्यिका अवश्य होनी चाहिए क्योंकि भिन्नलिगी किन्हीं दो का एकान्त मे बैठना या बात करना आगमविरुद्ध है। आचार्य को क्षपक की आलोचना तत्परता से एकाग्रतापूर्वक सुननी चाहिए, अन्यथा क्षपक आलोचना करने में निरुत्साह हो जायेगा कि ये गुरु मेरी अन्तिम आलोचना भी ठीक से नहीं सुनते, इन्हे मैं क्या दोष कहूँ ? क्षपक भी उस समय लज्जा, भय, माया और रागद्वेष आदि छोड़कर आलोचना करे। यह उसकी भावशुद्धि है। इस प्रकार शुभ काल एव शुभ स्थान मे प्रसन्नचित्त आचार्य एकाकी बैठकर निर्मल परिणामी क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

क्षपक की आलोचना का क्रम

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं, प्रणम्य मूर्धस्थित-पाणिपद्मः।
आलोचनामेष करोति मुक्त्वा, दोषानशेषानपशल्य-दोषः ॥५९०॥
इति आलोचना ॥२३॥

अर्थ - आलोचना हेतु बैठने के स्थान का विधिवत् प्रतिलेखन कर, पीछी के साथ हाथों की अंजुलि को मस्तक से लगा कर, मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक सर्वप्रथम गुरु को कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करके क्षपक शल्यादि समस्त दोषो को छोडकर आलोचना करता है॥५९०॥

इस प्रकार आलोचना-अधिकार पूर्ण हुआ॥२३॥

२४. गुण-दोष-अधिकार

आलोचना करते समय जो दोष सम्भव हैं, उनका क्रम

अनुकम्प्यानुमान्यं हि, यद्दृष्टं स्थूलमन्यथा।
छन्नं शब्दाकुलं भूरि, सूर्यव्यक्तं च तत्समम्॥५९१॥

अर्थ - आलोचना के दस दोष हैं – अनुकंपित, अनुमानित, यद्दृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी॥५९१॥

१ अनुकपित दोष का निर्देश

सूरिं भक्तेन पानेन, प्रदानेनोपकारिणा।
विनयेनानुकम्प्य स्वं, दोषं वदति कश्चन॥५९२॥

अर्थ - स्वय भिक्षालब्धि से युक्त होने के कारण आचार्य को उद्गमादि दोषों से रहित आहार, जलादि पेय एव उपकरण प्रदान करके अथवा कृतिकर्मपूर्वक वन्दना आदि विनय द्वारा आचार्य के हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न करके कोई क्षपक आलोचना करता है॥५९२॥

आलोचितं मया सर्वं, भविष्यत्येष मे गुणम्।
करिष्यतीति मन्तव्यं, पूर्व-आलोचना-मलः॥५९३॥

अर्थ - आचार्य को आहारादि से सन्तुष्ट कर एव विनयादि से दयायुक्त करने पर मेरे द्वारा सर्व आलोचना हो जायेगी, इससे मुझे बहुत लाभ मिलेगा, इस प्रकार के दूषित मानसिक विचारों द्वारा यदि कोई क्षपक आलोचना करता है तो वह आलोचना का अनुकम्पित नाम का प्रथम दोष है॥५९३॥

प्रश्न - ऐसी आलोचना दोषकारक क्यों कही गई है ?

उत्तर - "कठोर से कठोर प्रायश्चित्त करके भी मुझे अपने रत्नत्रय की शुद्धि करनी है" इस प्रकार की उत्कृष्ट भावना की क्षति होने से, "मेरे उपकरण-दान से गुरु मेरे ऊपर सन्तुष्ट हो जावेंगे" गुरु को इतना तुच्छ या लोभी समझने से तथा मायाचार न छोड़ने से ऐसी आलोचना दोषयुक्त कही गई है।

कश्चित् क्रीत्वा विषं भुङ्क्ते, नरो मत्वाहितं हितम्।
जीवितार्थी यथा मूर्खस्तथेयं शुद्धिरिष्यते ॥५९४॥

अर्थ - जैसे जीवितार्थी कोई पुरुष यदि विष खरीद कर खाता है और उस अहित को ही अपना हित मानता है तो वह मूर्ख कहा जाता है। वैसे ही मायाचार पूर्वक आलोचना कर रत्नत्रय की शुद्धि का वाछार्थी मूर्ख है ॥५९४॥

प्रश्न - मायाचार पूर्ण आलोचना को खरीदे हुए विष को खाने वाले की उपमा क्यो दी गई है?

उत्तर - जैसे जीवित रहने का अभिलाषी पुरुष विष खरीद कर खाता है और उसी मे अपना हित समझता है, उसी प्रकार भक्त-पान या उपकरण देकर अथवा वन्दना आदि विनय द्वारा गुरु को खरीद कर आगम की उपेक्षा करते हुए अपनी बुद्धि से क्षपक द्वारा छल-कपटयुक्त की हुई आलोचना रत्नत्रय की शुद्धि कदापि नहीं कर सकती। वह आलोचना तो विषपान के सदृश है।

मधुरालोचनैषादौ, विपाके सेवता सती।
तीव्रं करोति किम्पाकफल-भुक्तिरिवासुखम् ॥५९५॥

अर्थ - जैसे किम्पाकफल देखने मे सुन्दर और खाने मे मधुर लगता है, किन्तु वह विपाक काल मे अर्थात् पचनक्रिया काल में मरण का दुख उत्पन्न करता है, वैसे ही अनुकम्पित दोषयुक्त की गई आलोचना प्रारम्भ मे मधुर लगती है (क्योकि अल्प प्रायश्चित्त मिलने की आशा है) किन्तु विपाक काल मे अर्थात् आगामी भवो मे तीव्र दुख उत्पन्न करती है ॥५९५॥

रक्तस्य कृमिरागेण, शुद्धिर्लाक्षा-रसेन वा।
वस्त्रस्य जायते जातु, नैषा शुद्धिः पुनर्ध्रुवम् ॥५९६॥

इति अनुकम्पा-दोषः ॥

अर्थ - कृमिरग से रगे हुए वस्त्र का अथवा लाक्षा रस से रगे हुए वस्त्र का शुद्ध अर्थात् सफेद हो जाना कदाचित् सम्भव है किन्तु अनुकपित दोष युक्त की गई आलोचना से रत्नत्रय की शुद्धि होना निश्चयत असम्भव है ॥५९६॥

प्रश्न - कृमिराग रग किसे कहते हैं ?

उत्तर - कृमिराग से रगे वस्त्र की तीन परिभाषाएँ आगम मे प्राप्त होती हैं। यथा - १ कीड़ो द्वारा खाये गये भोजन के रग मे रंगे गये धागो से बने वस्त्र कृमिराग वस्त्र है। २ कृमि द्वारा त्यागे गये रक्ताहार से रजित तन्तुओ से बने वस्त्र। ३ म्लेच्छ देश मे जोको द्वारा मनुष्य का रक्त निकाल कर बर्तनो मे भर दिया जाता है। कुछ दिनो मे उसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। उन कृमियों से धागे रग कर वस्त्र बनाये जाते हैं। यह अत्यन्त लाल होता है और आग मे जलाने पर भी वह कृमिराग नहीं जाता।

इस प्रकार अनुकम्पित दोष का वर्णन समाप्त हुआ ॥

२. अनुमानित दोष का कथन

धीरैराधारितं धन्याः, कुर्वते दुश्चरं तपः।
दुःखाम्भसो भवाम्भोधेर्दुस्तरात्तारकं परम् ॥५९७॥

क्लमापहार-पार्श्वस्थ-सुख-शीलतया तपः।
न प्रकृष्टमलं कर्तुं, वदत्येवमधार्मिकः ॥५९८॥

अर्थ - अधार्मिक क्षपक मानों अपनी धार्मिकता दिखाता हुआ आचार्य से कहता है कि हे प्रभो! जिसे धीर-वीर पुरुषों ने किया है, जो दुखरूप जलवाले दुस्तर भवसागर से पार उतारने वाला है ऐसे कठोर तप को जो मुनिजन करते हैं, वे धन्य हैं ॥५९७॥

अपनी शक्ति को छिपाने, पार्श्वस्थ मुनि होने तथा शरीर मे सुख-शील होने से वह अधार्मिक कहता है कि - मैं कमजोर हूँ, अत. उत्कृष्ट तप करने मे असमर्थ हूँ ॥५९८॥

पार्श्वस्थत्वमनारोग्यं, दौर्बल्यं वह्नि-मन्दता।
भगवंस्तव विज्ञाता, मदीयाः सकलाः स्फुटम् ॥५९९॥

आलोचयामि निःशेषं, कुरुषे यद्यनुग्रहम्।
त्वदीयेन प्रसादेन, विशुद्धिर्मम जायताम् ॥६००॥

अर्थ - हे प्रभो ! मैं पार्श्वस्थ हूँ, मेरा शरीर सदैव रोगी रहता है, शरीर के अग कृश हैं, मेरी उदराग्नि अतिशय मन्द है तथा आप भी भली प्रकार जानते हैं कि मैं उत्कृष्ट तप करने मे असमर्थ हूँ, अत यदि आप मुझ पर अनुग्रह करे अर्थात् यदि आप मुझे अल्प प्रायश्चित्त देने की कृपा करे तो मैं अपने सम्पूर्ण अतिचारों की आलोचना करूँगा और आपके प्रसाद से शुद्ध हो जाऊँगा ॥५९९-६००॥

कुर्वाणस्यानुमान्येति, सूरिमालोचनां यतेः।
भवत्यालोचना-दोषो, द्वितीयः शल्य-गोपकः ॥६०१॥

अर्थ - इस प्रकार 'आचार्य मुझे अल्प प्रायश्चित्त देंगे' ऐसा अनुमान कर आलोचना करनेवाले क्षपक मुनि के शल्य का गोपन अर्थात् मायाभाव रखनेवाला दूसरा अनुमानित नामक दोष होता है ॥६०१॥

सेव्यमानो यथाहारो, विपाके दुःखदायकः।
अपथ्यः पथ्यशेमुष्या, तथेयं शुद्धिरीरिता ॥६०२॥

इति अनुमान्य दोषः ॥

अर्थ - जैसे सुख का इच्छुक मनुष्य अपनी बुद्धि से अपथ्य भोजन को पथ्य अर्थात् गुणकारक मानता हुआ सेवन कर लेता है तथापि वह विपाक मे दुखदायक ही होता है; वैसे ही अनुमान से गुरु के अभिप्राय को जान कर अथवा कम प्रायश्चित्त का आश्वासन लेकर आलोचना करनेवाले की आलोचना विपाक काल मे दुखदायक ही होती है, क्योंकि सकल्प मात्र से अपथ्याहार पथ्य नहीं हो जाता है ॥६०२॥

इस प्रकार अनुमानित दोष का कथन हुआ ॥

३. यद् दृष्ट दोष

परैः सूचयते दृष्टमदृष्टं या निगूहति।
महादुःखफला तेन, मायावल्ली प्ररोप्यते ॥६०३॥

अर्थ - जो अपराध दूसरो ने देख लिया है उसकी आलोचना तो गुरु के समक्ष कर देता है और जो दोष दूसरों ने नहीं देखा उसे छिपा लेता है, ऐसे क्षपक द्वारा महादुखरूप फलवाली माया बेल रोपी जाती है अर्थात् उस मायावी को महान् कष्ट भोगना पड़ता है ॥६०३॥

यदि दृष्टमदृष्टं च, नालोचयति दूषणम्।
तदास्त्यालोचना-दोषास्तृतीयो दोष-वर्धकः ॥६०४॥

अर्थ - दूसरों के द्वारा देखे गये अथवा न देखे गये अपराधो को यदि आचार्य के समीप नहीं कहता है तो वह दोषों को वृद्धिगत करनेवाला आलोचना का तीसरा दोष है ॥६०४॥

दोष-शुद्धिरपचेतसा पुनः, कल्मषैरिति कृता निधीयते।
वालुकासु रचितोऽवटः पुनर्वालुकाभिरभितो हि पूर्यते ॥६०५॥

इति यद् दृष्टम् ॥

अर्थ - जैसे रेत के मध्य मे गड्ढा खोदने पर वह गड्ढा खोदते-खोदते ही रेत से पुन भरता जाता है, उसी प्रकार 'मैं दोषो की शुद्धि करता हूँ' ऐसा विचार कर आलोचना मे उद्यत अदृष्ट दोष छिपाने की माया रूप कल्मष द्वारा वह नष्टबुद्धि क्षपक उसी दोष को पुन करता है। अर्थात् मायाशल्य को दूर करने हेतु साधु आलोचना करता हुआ भी अन्य माया से अपनी आत्मा को आच्छादित कर लेता है ॥६०५॥

इस प्रकार यद्दृष्ट दोष का कथन पूर्ण हुआ।

४ बादर दोष

स्थूलं व्रतातिचारं यः, सूक्ष्मं प्रच्छाद्य जल्पति।
पुरुतो गणनाथस्य, सोऽर्हद्वाक्यबहिर्भवः ॥६०६॥

अर्थ - व्रतों मे लगे हुए दोषो मे से जो क्षपक अपने गुरु के समक्ष मात्र स्थूल दोषो की तो आलोचना करता है और सूक्ष्म दोषो को छिपा लेता है, वह साधु जिनागम से विमुख होता है ॥६०६॥

न चेद्दोषं गुरोरग्रे, स्थूल सूक्ष्मं च भाषते।
विनयेन तदा दोषश्चतुर्थः कथनाश्रयः ॥६०७॥

अर्थ - यदि साधु विनयपूर्वक गुरु के सम्मुख सूक्ष्म एव बादर दोषो को नहीं कहता है तो यह आलोचना का चतुर्थ दोष है ॥६०७॥

बाह्याकारेणातिशुद्धोऽपि साधुर्नान्तः शुद्धिं याति मायादि-शल्यः।
भृङ्गारो वा कांसिकः शोध्यमानो, बाह्ये शुद्धिं कश्मलान्तः प्रयाति ॥६०८॥

इति बादरदोषः ॥

अर्थ - जैसे काँसे की झारी साफ करते हुए भी बाहर से स्वच्छ हो जाती है किन्तु भीतर हरी-नीली रहती है; वैसे ही छलपूर्वक आलोचना करनेवाला क्षपक बाह्याकार से अतिशुद्ध प्रतीत होता है किन्तु भाव शल्य युक्त होने से वह अतरग की शुद्धि को प्राप्त नहीं होता ॥६०८॥

इस प्रकार बादर दोष कथन पूर्ण हुआ।

५. सूक्ष्म दोष

आसने शयने स्थाने, संस्तरे गमने तथा।
आर्द्र-गात्र-परामर्शे, गर्भिण्या बालवत्सया ॥६०९॥

परिविष्टेऽभवद्दोषो, यः सूक्ष्मः स निगद्यते।
स्थूलं प्रच्छाद्य येनासौ, जिनवाक्य-पराङ्मुखः ॥६१०॥

अर्थ - साधु गुरु से निवेदन करता है कि हे स्वामिन्! मैंने आसन पर बैठते समय, सोते समय एवं स्थान पर खड़े होते समय पिच्छिका से मार्जन नहीं किया था, वसति मे प्रवेश करते समय नि·सही और निकलते समय असही नहीं बोला था, जहाँ ओस बहुत गिरी थी ऐसे मार्ग मे भी ईर्यासमिति में चित्त की एकाग्रता के बिना गमन किया था, छह आवश्यक योग्य काल में नहीं किये थे, जल से गीले शरीर आदि पदार्थों को स्पर्श किया था, सचित्त धूलि पर बैठा था, खड़ा हुआ था और सोया था, धूलि भरे पैरो से जल मे प्रवेश किया था, पाँच माह से अधिक गर्भवती महिला से, गोदी के बालक को स्तनपान करा कर आई हुई महिला से तथा प्रसूति की समयशुद्धि के पूर्व ही महिला से आहार ग्रहण किया था, इस प्रकार के सूक्ष्म अर्थात् छोटे-छोटे दोष तो कहता है और बड़े-बडे दोषों को छिपा लेता है, ऐसा क्षपक सदोष है और जिनागम से पराङ्मुख है ॥६०९-६१०॥

स्थूलं सूक्ष्मं च चेद्दोषं, भाषते न गुरोः पुरः।
माया-व्रीडा-मदाविष्टः, सदा दोषोऽस्ति पञ्चमः ॥६११॥

अर्थ - जो क्षपक गुरु के समक्ष अपने व्रतो मे लगे हुए सूक्ष्म एव बादर दोषों को नहीं कहता है, उसके सदा माया, लज्जा तथा गर्व से भरा हुआ पाँचवाँ दोष होता है ॥६११॥

प्रश्न - क्षपक किस अभिप्राय से बादर दोषों की आलोचना नहीं करता?

उत्तर - बादर दोष न कहनेवाले किसी क्षपक का यह अभिप्राय रहता है कि यदि मैं बड़े दोष कह दूँगा तो गुरु कड़ा प्रायश्चित्त देगे। अथवा कोई भयभीत होता है कि इतने महान् दोष सुनकर गुरु मुझे छोड़ देंगे। अथवा मेरा चारित्र निरतिचार है ऐसा गर्व करके कोई बादर दोष छिपा जाता है, अथवा मेरे इतने सूक्ष्म दोष सुनकर ही गुरु को विश्वास हो जायेगा कि यह क्षपक यथार्थत भयभीत है, जब यह इतने छोटे-छोटे भी दोष कह रहा है तब बड़े-बड़े पाप कैसे छिपा सकता है। अथवा कोई क्षपक स्वभाव से ही कपटी रहता है वह कभी सूक्ष्म दोष कहता है, बादर दोष छिपाता है, कभी इसके विपरीत भी करता है।

रसेन पीतं जतुना प्रपूर्णं, कूटं विपाके कटकं गृहीतम्।
यथा तथेत्थं विहितं विधत्ते, विशोधनं तापमपारमुग्रम् ॥६१२॥

इति सूक्ष्म-दोषः ॥

अर्थ - जैसे बाहर में स्वर्ण पत्र से मण्डित किन्तु भीतर लाख से भरा कंगन खरीद लेनेवाले को तापकारी होता है, वैसे ही सूक्ष्म दोष कह कर बादर दोषो को छिपा रखनेवाली आलोचना दोषशुद्धि नहीं करती अपितु अपार और उग्र सन्ताप देती है॥६१२॥

इस प्रकार सूक्ष्म दोष की आलोचना का वर्णन पूर्ण हुआ।

६. छन्न दोष

आद्ये व्रते द्वितीये वा, दोषः सम्पद्यते यदि।
सूरे ! कस्यापि कथ्यस्व, विशुद्ध्यति तदा कथम्॥६१३॥

अर्थ - क्षपक छल से आचार्य को पूछता है कि हे आचार्यदेव, मुझे यह बात समझाइये कि यदि किसी साधु को प्रथम अहिसा महाव्रत मे या द्वितीय सत्य महाव्रत मे या अन्य किसी महाव्रत में दोष लग जाय तो वह साधु किस प्रकार शुद्ध होता है ?॥६१३॥

इत्यन्यव्याजतश्छन्नं, पृच्छ्यते चेत् स्व-शुद्धये।
तदानीं जायते दोषः, षष्ठः संसार-वर्धकः॥६१४॥

अर्थ - इस प्रकार जब अन्य के बहाने अपनी शुद्धि करने हेतु प्रच्छन्न-रीत्या गुरु से पूछा जाता है तब ससार को वृद्धिंगत करनेवाला छन्न नाम का छठा दोष होता है॥६१४॥

भोजने च कृतेऽन्येन, तृप्तिरन्यस्य जायते।
अपरस्य तदा शुद्धिर्विहिता परभर्मणा॥६१५॥

अर्थ - यदि अन्य के भोजन करने पर अन्य की तृप्ति होती हो तो दूसरे के नाम से की गई विशुद्धि अन्य की शुद्धि कर सकती है॥६१५॥

आत्मशुद्धिं विधत्ते यः, प्रपृच्छ्य परभर्मणा।
अपरेणौषधे पीते, स्वस्यारोग्यं करोति सः॥६१६॥

अर्थ - जैसे कोई अन्य पुरुष द्वारा औषधि पी लेने पर अपने को नीरोग कर लेना चाहता है, वैसे ही अन्य अपराधी साधु के बहाने पूछकर क्षपक अपनी शुद्धि कर लेना चाहता है॥६१६॥

संयमे चेत् कृतेऽन्येन, विमुक्तिं लभते परः।
परव्याज-कृता शुद्धिस्तदा शोधयते परम्॥६१७॥

अर्थ - किसी अन्य के द्वारा सयम धारण कर लेने पर यदि कोई अन्य व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त हो सकता हो तो दूसरे के बहाने से किया गया प्रायश्चित्त भी दूसरे को शुद्ध कर सकता है॥६१७॥

गुरोर्निजं दोषमभाषमाणो, दोषस्य यः कांक्षति शुद्धिमज्ञः।
मन्ये स तोयं मृगतृष्णिकातो, जिघृक्षतेऽन्नं शशिबिम्बतो वा॥६१८॥

इति छन्न दूषणम्॥

अर्थ - जो अज्ञ क्षपक अपने दोषों को न कह कर ही गुरु से अपनी शुद्धि कराना चाहता है वह मृगमरीचिका से जल चाहता है या चन्द्रबिम्ब से अन्न चाहता है, ऐसा मैं मानता हूँ॥६१८॥

इस प्रकार छन्न दोष का वर्णन पूर्ण हुआ॥९॥

७. शब्दाकुलित दोष

शब्दाकुले चतुर्मास-पक्ष-वर्ष-क्रियादिने।
यथेच्छं पुरतः सूरेरालोचयति योऽधमः॥६१९॥

अव्यक्तं वदतः स्वस्य, दोषान्संक्लिष्ट-चेतसः।
आलोचनागतो दोषः, सप्तमः कथितो जिनैः॥६२०॥

अर्थ - चातुर्मासिक, पाक्षिक और वार्षिक प्रतिक्रमण क्रिया के दिन जब सब साधुजन अपने दोष कह रहे हो उस कोलाहल मे जो अधम क्षपक अपनी इच्छानुसार गुरु के आगे अपनी आलोचना करता है, अपने दोषो को अव्यक्त रीत्या सक्लिष्ट मन से कहनेवाले क्षपक की उस आलोचना मे होनेवाला सातवाँ शब्दाकुलित दोष होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥६१९-६२०॥

अरगर्तघटीयन्त्र-समां भिन्न-घटोपमाम्।
चुंद-रज्जु-निभामेनां, शुद्धिं शुद्धिविदो विदुः॥६२१॥

इति शब्दाकुलो दोषः॥

अर्थ - शुद्धि को जाननेवाले गणधरादि देव ऐसी शुद्धि को रहट के घटीयन्त्र मे लगे हुए घट के समान या फूटे घडे के समान या चुदरज्जू के समान मानते हैं॥६२१॥

प्रश्न - घटीयन्त्र, भग्न घट एव चुन्दरज्जू का क्या अर्थ है और यहाँ इनके दृष्टान्त क्यो दिये गये हैं?

उत्तर - जैसे रहट या अरघट मे लगी हुई पानी भरने की घटिकाएँ जल से भरती जाती हैं और तत्काल खाली होती जाती है अथवा फूटे घडे मे ऊपर से जल भरते जाने पर भी नीचे से निकलता जाता है। अथवा चुन्दरज्जू अर्थात् काष्ठ मे छिद्र करने वाले बर्मा को घुमाते समय उसमे बँधी रस्सी एक ओर से खुलती जाती है और तत्काल ही दूसरी ओर से बँधती जाती है। उसी प्रकार वह आलोचना करनेवाला अधम मुनि है। वह अपने मुख से अपराध प्रगट करने के लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त ही है, क्योकि शब्दाकुलित दोषयुक्त आलोचना करनेवाले क्षपक के मुख से दोष कहा जा रहा है, अर्थात् अपराध खुल रहा है किन्तु "आचार्य मेरे दोषो को पूर्णतया एव यथावत् न सुन पाये" ऐसी माया मन में होने से वह माया अपराध से पुन कर्मबध कर रहा है।

इस प्रकार शब्दाकुल दोष का कथन पूर्ण हुआ।

८. बहुजन दोष

भूरि-भक्तिभरा-नम्रः, सूरि-पादाम्बुज-द्वयम्।
प्रणम्य भाषते कश्चिद्दोषं सर्वं विधानतः॥६२२॥

तस्य सूत्रार्थ-दक्षेण, रत्नत्रितय-शालिना।
व्यवहारविदा दत्तं, प्रायश्चित्तं यथोचितम् ॥६२३॥

अर्थ - कोई क्षपक अत्यन्त भक्ति के भार से नम्र हुआ आचार्य के पादमूल में जाकर और मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक वन्दना करके सभी दोषों को विधिवत् कहता है और सूत्रार्थ मे निपुण, रत्नत्रय के पालन मे तत्पर एव व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र के वेत्ता आचार्य द्वारा उस अपराध के अनुरूप ही यथोचित प्रायश्चित्त दिया जा रहा है॥६२२-६२३॥

यत्कल्प-व्यवहाराङ्ग-पूर्वादि-श्रुत-भाषितम्।
तदालोच्य विधानेन, दत्तं सूत्र-पटीयसा॥६२४॥

अश्रद्धाय वचस्तस्य, स यथा पृच्छते परम्।
आचार्यैः कथितो दोषस्तदालोचन-गोचरः॥६२५॥

अर्थ - अगबाह्य श्रुत मे कल्प नामक प्रकरण मे, प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व मे तथा शेष अगो और प्रकीर्णको में जो प्रायश्चित्त का कथन है उन सब सूत्रो मे विशारद आचार्य द्वारा उस क्षपक की आलोचना के अनुसार ही उसे योग्य प्रायश्चित्त दिया गया है किन्तु उस परम योग्य आचार्य के वचनो पर विश्वास ना कर यदि वह क्षपक अन्य आचार्यों से पूछता है, तो वह आलोचना का आठवाँ दोष है॥६२४-६२५॥

दोषावतीर्णोऽपि ददाति पीडां, परप्रकारेण विशोध्यमानः।
व्रणो हि शुष्कोऽपि करोति बाधां, प्रचाल्यमानः किमुताविषह्यः॥६२६॥

इति भूरि-सूरि-दोष ॥

अर्थ - ऊपर से शुष्क हुआ किन्तु अभ्यन्तर मे कील सहित घाव जैसे पीछे बढकर बहुत कष्ट देता है, वैसे ही यद्यपि माया रहित की जानेवाली यह आलोचना अति सुन्दर थी किन्तु गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त के प्रति अश्रद्धान रूपी शल्य से युक्त होने के कारण और अन्य आचार्यो द्वारा उसका विशोधन कराने के कारण वह दुखदायी है॥६२६॥

इस प्रकार बहुजन नामक दोष का कथन पूर्ण हुआ।

९ अव्यक्त दोष

आगमेन चरित्रेण, बालो भवति यो यतिः।
तस्यालोचयतो दोष, स्व दोषो नवमो मतः॥६२७॥

अर्थ - जो मुनि आगमज्ञान से बाल है तथा चारित्र से बाल है अर्थात् जिसे शास्त्रज्ञान भी नहीं है और जिसका चारित्र भी हीन है, ऐसे आचार्य के निकट अपने दोषो की आलोचना करना अव्यक्त नाम का नौवाँ दोष है॥६२७॥

निवेदित मया सर्वं, नासौ जानाति दूषणम्।
विश्राणयति मे शुद्धिं, प्रणिधायेति मानसे।६२८॥

अर्थ - आलोचक क्षपक मन मे यह सोचता है कि मैंने नौ कोटि से किये हुए सर्व दोष मन, वचन और काय की एकाग्रता करके शुद्धिपूर्वक गुरु से कह दिये हैं, ये मुझे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि प्रदान करेंगे, किन्तु आगमज्ञान-विहीन मन्द-चारित्री वह आचार्य न दोषो को जानता है और न उनका प्रायश्चित्त ही जानता है॥६२८॥

इदमालोचनं दत्ते, पश्चात्तापं दुरुत्तरम्।
दुष्टानामिव साङ्गत्यं, कूटं स्वर्णमिवाथवा॥६२९॥

इति अव्यक्त दोषः॥

अर्थ - जैसे दुष्ट पुरुषों की सगति या नकली स्वर्ण खरीदलेना - पश्चाताप ही देता है, वैसे ही अव्यक्त दोषयुक्त की गयी यह आलोचना महान् पश्चाताप देती है॥६२९॥

प्रश्न - इस दृष्टान्त - दार्ष्टान्त का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - उसका यह अभिप्राय है कि जैसे कोई अज्ञानी धन समझकर नकली स्वर्ण खरीद ले तो वह नियमत अहितकारी होता है, क्योकि उससे कोई भी इच्छित वस्तु नहीं खरीद सकते। इसी प्रकार ज्ञान-बालमुनि के समीप की गई आलोचना अत्यन्त अहितकारी है क्योकि वह बालमुनि परमार्थ के योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकता। अथवा जैसे दुर्जनो की मित्रता हितकर नहीं होती, दुखदायक ही होती है, उसी प्रकार प्राणिसयम और इन्द्रिय सयम से रहित चारित्र-बालमुनि के सम्मुख की गई आलोचना योग्य प्रायश्चित्त का लाभ न होने से अनेक अनर्थों की उत्पादक होती है।

इस प्रकार अव्यक्त दोष का कथन पूर्ण हुआ।

१० तत्सेवी दोष

पार्श्वस्थानां निज दोष, पार्श्वस्थो भाषते कुधीः।
निचितो निचितैर्दोषैरेषोऽपि सदृशो मया॥६३०॥

जानीते मे यतः सर्वां, सर्वदा सुख-शीलताम्।
प्रायश्चित्तं ततो नैष, महद्दास्यति निश्चितम्॥६३१॥

अर्थ - कोई दुर्बुद्धि पार्श्वस्थ क्षपक पार्श्वस्थ आचार्य के समीप जाकर अपने दोष कहता है, वह जानता है कि यह आचार्य सर्व व्रतो मे दोषो से भरा है और मैं भी दोषो का भण्डार हूँ, अत यह मेरे ही समान है। यह मेरे सब दोषो को जानता है और मेरी सुख-शीलता को भी जानता है कि मैं दुख सहन नहीं कर पाता, अत निश्चित ही यह मुझे कोई कष्टप्रद महान् प्रायश्चित्त नहीं देगा॥६३०-६३१॥

एतस्य कथने शुद्धिः, सुखतो मे भविष्यति।
अयमालोचना दोषो, दशमो गदितो जिनैः॥६३२॥

अर्थ - ऐसे आचार्य के निकट दोषो की आलोचना करने पर मेरी शुद्धि सुखपूर्वक हो जावेगी। इस भाव से आलोचना करनेवाले क्षपक के यह दसवाँ तत्सेवी नाम का दोष होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥६३२॥

उक्तो दोष: सदोषस्य, सदोषेण न नाश्यते।
रक्तरक्तं कुतो वस्त्रं, रक्तेनैव विशोध्यते॥६३३॥

अर्थ - जैसे रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर शुद्ध या सफेद नहीं कर सकता, वैसे ही सदोष क्षपक द्वारा सदोष आचार्य के निकट की गई आलोचना से अतिचार सम्बन्धी क्षपक के दोष कदापि शुद्ध नहीं हो सकते॥६३३॥

जिनेशवाक्य-प्रतिकूलचित्ता, यथा विमुक्तिं दवयन्ति पूताम्।
तथा विशुद्धिं कुधियो वदन्तो, दोषाकुलानां निज-दूषणानि॥६३४॥

इति तत्सम-दोष:॥

अर्थ - जैसे जिनेन्द्रदेव की वाणी से प्रतिकूल चित्तवाले जीव पवित्र मुक्ति को अपने से अतीव दूर करते है, वैसे ही दुर्बुद्धि क्षपक सदोष आचार्य के समक्ष अपने दोषो की आलोचना करके रत्नत्रय की शुद्धि को अपने से दूर करता है॥६३४॥

इस प्रकार तत्सम दोष का कथन पूर्ण हुआ।

हित्वा दोषान्दशापीति, त्यक्त-माया-मदादिक:।
स विनीतमना: सूरेरालोचयति यत्नत:॥६३५॥

इति दश-दोषा:॥

अर्थ - सदोष आलोचना से शुद्धि नहीं होती, अत· विनीत भाववाला क्षपक मुनि निर्यापकाचार्य के पादमूल मे दसो दोषो को तथा भय, माया और मद आदि दोषो को छोडकर प्रयत्न अर्थात् विधिपूर्वक आलोचना करता है॥६३५॥

इस प्रकार आलोचना के दस दोषो का वर्णन पूर्ण हुआ।

आलोचना की विधि

गृहस्थ-वचन मुक्त्वा, मौन च कर-नर्तनम्।
सम्यक् सुस्पष्टया वाचा, वक्ति दोषान्गुरो: पुर:॥६३६॥

अर्थ - गृहस्थ के सदृश उद्धत वचनो का, मौन का और हाथों द्वारा अभिनय आदि का त्याग कर सुस्पष्ट वाणी द्वारा भली प्रकार से गुरु के आगे अपने दोषो की आलोचना करनी चाहिए॥६३६॥

उक्त च

मूक-सञ्ज्ञाङ्ग-वलने, भ्रू-क्षेपं हस्तनर्तनम्।
गृहिणा वचन चैव, तथा शब्दं च घर्घरम्॥१॥

विमुञ्चाभिमुख स्थित्वा, गुरूणां गुणधारिणाम्।
स्वापराधं समाचष्टे, विनयेन समन्वित:॥२॥

अर्थ - अन्य ग्रन्थ में कहा है कि - गूँगे के सदृश सकेत करना, अगो को मोडना, भौं मटकाना, हाथ नचाना, गृहस्थ के सदृश वचन बोलना एव घर्घर स्वर में बोलना इत्यादि सर्व विकारों का त्याग कर गुणवान् गुरु के सम्मुख बैठकर विनयपूर्वक अर्थात् दोनो हाथो की अजुलि बना कर, सिर झुका कर गुरु के बायीं ओर एक हाथ दूर गवासन से बैठकर, न अति शीघ्र और न अति रुक-रुक कर स्पष्ट शब्दों द्वारा आलोचना करनी चाहिए॥१-२॥

आलोचना प्रारम्भ

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-हृषीकाङ्गि-विराधने।
असूनृत-वच-स्तेय-मैथुन-ग्रन्थ-सेवने॥६३७॥

अर्थ - एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवो की विराधना की हो, असत्य वचन, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापो मे प्रवृत्ति हुई हो॥६३७॥

प्रश्न - इस श्लोक मे किसकी और किस प्रकार की आलोचना कही जा रही है ?

उत्तर - हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पॉच पाप हैं। दीक्षा लेते समय इन पापो का नौ कोटि से त्याग कर दिया जाता है। फिर भी प्रमाद आदि के कारण दोष लग जाते हैं। पच स्थावर और त्रस इन छह काय के जीवो मे से मेरे द्वारा पृथ्वीकायिक जीवो की अर्थात् मिट्टी, पत्थर, शर्करा, रेत एवं नमक आदि के खोदने, जोतने, जलाने, कूटने एव तोड़ने आदि रूप से कोई विराधना हो गई हो, जल, बर्फ, ओस, तुषार आदि पानी के भेद हैं, इनका पान करने, स्नान करने, तैरने, बिखेर देने, ठण्डा-गरम कराने एव हाथ-पैर तथा शरीर से इनका मर्दन करने, इत्यादि से कोई विराधना हुई हो,

अग्नि की ज्वाला, दीपक एव उल्मुक आदि आग के ऊपर पानी, पत्थर, रेत एव मिट्टी आदि द्वारा दबा देने से, लकडी आदि के द्वारा उसे कूटने से, सेक आदि करने से तथा दीपक आदि की ज्योति कम-अधिक कर देने से जो विराधना हुई हो,

झझा और माण्डलिक आदि वायु को ताडादि के पत्रो से, सूप से तथा लकडी या चद्दर आदि वस्त्रो से रोकने, पखे या पुट्ठे आदि से हवा करने तथा वायु के सम्मुख गमन करने से जो विराधना हुई हो,

बीज, पत्र, फूल, वृक्ष, लता, झाडी, बेल, तृण एव गुल्मादि अनन्तकाय वनस्पति एव प्रत्येक वनस्पति के ऊपर चलने, तोड़ने, मसलने, स्पर्श करने, छेदने एव खाने से इनकी विराधना हुई हो, दो इन्द्रियादि त्रस जीवो को मारने, रोकने, छेदने, पीटने, तोड़ने एव बाँधने आदि से जो विराधना हुई हो, इसी प्रकार अन्य चार पापो मे भी जो-जो प्रवृत्तियाँ हुई हो, उन सबकी मैं मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक आलोचना करता हूँ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपसां प्रतिकूलने।
उद्गमोत्पादनाहार-दूषणानां निषेवणे॥६३८॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को नष्ट करनेवाला कोई प्रतिकूल आचरण किया हो तथा उद्गम, उत्पादन एव एषणादि छियालीस दोषो मे से किसी भी दोष से दूषित आहार आदि ग्रहण किया हो॥६३८॥

प्रश्न - सम्यग्दर्शनादि के प्रतिकूल क्या आचरण होता है ?

उत्तर - व्रतो आदि मे अतिचार लगाना ही उनके प्रति प्रतिकूल आचरण है। शंका, काक्षा आदि करना सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। मन से सम्यग्ज्ञान की अवज्ञा करना, इस ज्ञान से क्या लाभ है, तप एवं चारित्र ही फलदायक हैं, अत उन्हीं को करना चाहिए ऐसे भाव करना, या सम्यग्ज्ञान को दूषण लगाना, या मन, वचन अथवा काय से उसमे अरुचि प्रगट करना और मुख की विरूपता से या सिर आदि हिलाकर उसका निषेध करना सम्यग्ज्ञान के अतिचार हैं। समिति आदि के पालन मे शिथिलता तथा चारित्र-पालन में कष्ट बहुत है और इसका फल अल्प है इत्यादि भाव होना चारित्र के अतिचार हैं। उपवास आदि तप करते समय असयम रूप प्रवृत्ति करना तप के अतिचार हैं तथा आहार, उपकरण और वसतिका आदि के ग्रहण मे छियालीस दोष लगाना ही इनके अतिचार है। इन सर्वातिचारो की मैं आज आलोचना करता हूँ।

दुर्भिक्षे मरके मार्गे, वैरि-चौरादि-रोधने।
योऽपराधो भवेत्कश्चिन्मनो-वाक्काय-कर्मभि: ।।६३९।।

सर्वदोष-क्षयाकांक्षी, संसार-श्रम-भीलुक:।
आलोचयति त सर्वं, क्रमत: पुरतो गुरो: ।।६४०।।

अर्थ - दुर्भिक्ष के समय, रोग आने पर एव मार्ग मे चोर या शत्रुओ आदि के द्वारा रुकावट डाले जाने पर मेरे द्वारा मन, वचन एव काय से जो अपराध हुए है उन सभी की क्रमश गुरु के आगे वह क्षपक आलोचना करता है जो समस्त दोषो को नष्ट करना चाहता है तथा ससार के कष्टो से भयभीत है।।६३९-६४०।।

प्रश्न - दुर्भिक्ष आदि के समय अतिचार कैसे लगते है?

उत्तर - भयकर दुर्भिक्ष पडने पर अवमौदर्य तप को भग करके स्वय ने जो अयोग्य सेवन किया हो या अन्य साधुओ को अमुक प्रकार से अयोग्य भिक्षा ग्रहण करने मे प्रवृत्त किया हो। अथवा सघ मे मारी रोग का उपद्रव होने पर विद्या या मन्त्रादि के द्वारा उसके शमन करने मे जो अतिचार लगे हो। अथवा देश या नगर आदि से बाहर निकलने के जितने मार्ग है वे शत्रुओ अथवा चोरो आदि के द्वारा बन्द कर दिये जाने पर उस परवशता मे भिक्षाचर्या आदि के लिए जो सक्लेश उत्पन्न हुआ हो अथवा कोई अयोग्य पदार्थ का सेवन कर लिया हो। नदी मे बाढ आना, आग लग जाना, महती आँधी चलना, भयकर वर्षा होना, राज्य पर शत्रुसेना का आक्रमण, रोग, शोक या कष्ट से पीडित होना, रस युक्त भोजन मे आसक्ति, बकवाद मे आसक्ति, यह सचित्त है या अचित्त ऐसी आशका हो जाने पर उसे तोडना, फोड़ना, खाना, अशुभ मन और वचन की सहसा झट-पट प्रवृत्ति कर बैठना, चोर, श्वान एव सर्प आदि के प्रवेश के भय से वसतिका का द्वार बन्द कर देना, हस्त-पादादि का मोडना, सकोचना एव फैलाना, पत्थर एव मिट्टी का ढेला आदि फेंकना, दौड़ना, कण्टक आदि की बाड़ का उल्लघन करना, अज्ञानीजनो का आचरण देखकर स्वय भी वैसा ही करना और उसमे दोष नहीं मानना, अज्ञानी द्वारा लाये गये उद्गम आदि दोषो से दूषित उपकरणादि का सेवन करना; शरीर मे, उपकरणो मे, वसति मे, कुल मे, ग्राम मे, देश मे, बन्धु वर्ग मे, चश्मा, पेन, कलम आदि में एव पार्श्वस्थ साधुओ मे ममत्वभाव रखना, आनेवाली शीतल हवा को चटाई आदि से रोकना, आग तापना, उबटन लगाना, तेल

मालिश करना, उपकरण गंदा या जीर्ण या नष्ट हो जायेगा, इस भय से उनका उपयोग नहीं करना, कमण्डलु आदि धोना, उसमें तेल आदि लगाना, वसतिका स्थित घास खाने को अथवा टूटने को ममत्व भाव से रोकना, "मेरे कुल में बहुत यतियों का प्रवेश मुझे इष्ट नहीं" ऐसा मुख से कहना, प्रवेश करने पर कोप करना, उन्हें प्रवेश देने का निषेध करना, अपने कुल की ही वैयावृत्त्य करना, निमित्त आदि का उपदेश देना, सम्बन्धी यतियों के सुख-दुख से अपने को सुखी-दुखी मानना, पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वन्दना करना, उनकी आज्ञा उल्लघन मे असमर्थ रहना, उन्हें उपकरण देना, ऋद्धि के त्याग में असमर्थ रहना, मुनि परिवार मे आदरभाव होने से प्रिय वचन और उपकरणदान द्वारा दूसरों को अपनाना, इष्ट रस का त्याग न करना, अनिष्ट रस मे अनादर करना, अति भोजन अथवा अतिशयन मे आसक्ति रखना (ये क्रमश ऋद्धि गारव, रस गारव और सात गारव हैं), उन्माद, पित्त-प्रकोप, भूत-पिशाच आदि की परवशता से उत्पन्न दोष, जातिजन या मिथ्यादृष्टि परिवार जनो द्वारा जबरन पकड़ कर गन्ध, माल्य आदि का सेवन, त्यागी हुई वस्तु का भोजन, रात्रिभोजन, मुखवास, ताम्बूल आदि का भक्षण कराये जाने से एव स्त्रियो या नपुसकों द्वारा बलपूर्वक अब्रह्म सेवन कराये जाने से, चार प्रकार के स्वाध्याय या आवश्यकों मे आलस्य, छिपकर अनाचार, उत्तम अर्थात् धनाढ्य दाता का घर जान कर अन्य साधुओ से पहले ही किसी बहाने वहाँ इस प्रकार पहुँचना कि जिससे दूसरे न जाने पावे, या अच्छा सरस भोजन करके यह कहना कि मैंने नीरस भोजन किया है। पूर्ण भोजन करके भी कहना कि मैंने अल्प ही भोजन किया है, सचित्त भोजन करके कहना कि अचित्त किया है और अचित्त करके कहना कि सचित्त किया है, अकषाय पूर्वक किये दोषो को 'कषायपूर्वक किया' कहना, वसतिका मे किये दोषो को 'मार्ग मे किये' कहना, रात्रि मे किये दोषो को दिन मे और दिनकृत दोषो को रात्रिकृत कहना, स्त्रियो का सहवास करना तथा उनके मनोहर अगो को गृद्धतापूर्वक देखना आदि, और भी अनेक प्रकार के जो-जो दोष लगे हो उन्हे गुरु के समक्ष यथावत् कह देना चाहिए।

स सामान्य-विशेषाभ्यामभिधाय स्वदूषणम्।
विधत्ते गुरुणा दत्तां, विशुद्धिं शुद्ध-मानसः ॥६४१॥

अर्थ - वह शुद्धचित्तधारी क्षपक सामान्य और विशेष आलोचना द्वारा अपने सर्व दोषो को गुरु के समक्ष यथावत् कह कर गुरु द्वारा दी गई विशुद्धि अर्थात् प्रायश्चित्त को ग्रहण करता है॥६४१॥

प्रश्न - क्षपक का 'शुद्धमानस' विशेषण क्यो दिया गया है ?

उत्तर - क्षपक छोटे बालक सदृश सहज और सरल भाव से सर्वापराधो की यथावत् आलोचना करता है और गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त मे राग-द्वेष नहीं करता। इतना कठोर प्रायश्चित्त मैं कैसे वहन करूँगा, या इतने उपवास कैसे करूँगा ऐसे कोई विकल्प वह नहीं करता है तथा प्रायश्चित्त का पूर्ण पालन करता है, अत उसका 'शुद्धमानस' विशेषण दिया गया है।

गुरु के समीप आलोचना करने का गुण

मनुष्यः कृत-पापोऽपि, कृतालोचन-निन्दनः।
सम्पद्यते लघुः सद्यो, विभारो भारवानिव ॥६४२॥

अर्थ - जैसे सिर का बोझ नीचे उतार देने पर बोझ ढोनेवाला हल्का अर्थात् सुखी हो जाता है, वैसे ही पापी से पापी मनुष्य भी यदि निन्दा, गर्हा एव आलोचनादि कर लेता है तो वह शीघ्र ही पाप-भार से हल्का हो जाता है। अथवा 'कृतपापोऽपि' अर्थात् अशुभकर्म के कारणभूत असयम आदि को भी पाप कहा जाता है, अत: असंयम आदि मे भी प्रवर्तन कर लेनेवाला साधु यदि गुरु के समीप जाकर अपनी निन्दा-गर्हा करता है तो वह निराकुल और सुखी हो जाता है॥६४२॥

भावशुद्धि के अभाव में दोष

भावशुद्धिं न कुर्वन्ति, भवन्तोपि बहुश्रुता:।
चतुरङ्गे विमूढा ये, दु:ख-पीड्या भवन्ति ते॥६४३॥

अर्थ - जो मूढमुनि बहुश्रुतधारी अर्थात् महाविद्वान् होकर भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओ मे भावशुद्धि नहीं रखते अर्थात् इनमे लगे दोषो की आलोचना गुरु के समक्ष नहीं करते वे चतुर्गति के दुखो से पीड़ित होते हैं॥६४३॥

आलोचना सुन कर आचार्य तीन बार पूछते है

त्रि: कृत्वालोचनां शुद्धां, भिक्षोर्विज्ञाय तत्त्वत:।
स मध्यस्थो रहस्यज्ञो, दत्ते शुद्धि यथोचिताम्॥६४४॥

अर्थ - क्षपक साधु की तीन बार की गई शुद्धि को अर्थात् आलोचना को भली प्रकार जान कर रागद्वेष के उद्रेक से रहित मध्यस्थ भाववाले एव प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य क्षपक के दोषानुसार उचित प्रायश्चित्त देते हैं॥६४४॥

राजकार्यातुरासत्य-सशल्यानामिव त्रिधा।
दोषाणा पृच्छना कार्या, सूरिणागम-वेदिना॥६४५॥

अर्थ - राजकार्य, रोगी, असत्य एव शल्य के विषय मे जैसे तीन बार पूछा जाता है वैसे ही आगमज्ञ आचार्य को क्षपक के दोषो के विषय मे तीन बार पूछना चाहिए॥६४५॥

प्रश्न - तीन बार कहाँ-कहाँ पूछा जाता है और क्षपक से भी उसके दोष तीन बार क्यो पूछना चाहिए?

उत्तर - जैसे राजा द्वारा आज्ञा दिये हुए कार्य के विषय मे राजा से यथा-अवसर तीन बार पूछा जाता है कि क्या यह कार्य इसी प्रकार करूँ अथवा कराऊँ? वैद्य रोगी से तीन बार पूछता है - तुमने क्या-क्या खाया था? क्या-क्या किया था? रोग की क्या दशा है? इत्यादि, असत्यभाषी से या चोरी होने पर भी तीन बार पूछा जाता है कि चोरी कैसे हुई एव क्या-क्या गया? शरीर में होने वाले घाव की भी तीन बार परीक्षा करते हैं कि घाव की कील निकली या नहीं? यह भरा या नहीं? वस्तु खरीदते समय भी उसके मूल्यादि को तीन बार पूछा जाता है, वैसे ही आचार्यदेव को क्षपक से उपायपूर्वक तीन बार पूछना चाहिए कि अपने अपराध पुन कहो, मैने अभी सुने नहीं है या मै भूल गया हूँ, इत्यादि। वचन कहने के ढग से, मुखाकृति पर आने वाले भावों से, उस समय होने वाली शारीरिक चेष्टाओ से एव तीनो बार मे एक ही प्रकार से दोषों का निवेदन करने से हृदय की सरलता या वक्रता का अर्थात् आलोचना की शुद्धि का पता लग जाता है।

दोषान्न प्राञ्जलीभूय, भाषते यद्यशेषतः।
न कुर्वन्ति तदा शुद्धिं, प्रायश्चित्त-विचक्षणाः ॥६४६॥

अर्थ - यदि क्षपक मुनि सरलभाव से सम्पूर्ण दोषों को नहीं कहता है तो प्रायश्चित्तदान मे कुशल आचार्य उसकी शुद्धि नहीं करते, अर्थात् उसे प्रायश्चित्त नहीं देते हैं॥६४६॥

निःशेषं भाषते दोषं, यदि प्राञ्जलमानसः।
तदानीं कुर्वते शुद्धिं, व्यवहार-विशारदाः ॥६४७॥

अर्थ - यदि क्षपक सरल हृदय से सर्व अतिचारो को क्रमानुसार कहते हैं तो प्रायश्चित्तशास्त्रविशारद आचार्य उसकी शुद्धि करते हैं अर्थात् नियमत उसे प्रायश्चित्त देते हैं॥६४७॥

सम्यगालोचते तेन, सूत्रं मीमांसते गणी।
अनालोचे न कुर्वन्ति, महान्तः काञ्चन क्रियाम्॥६४८॥

अर्थ - क्षपक द्वारा सम्यगालोचना किये जाने पर सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य इससे अमुक-अमुक अपराध हुए हैं, इसके लिए कौन-कौन सा प्रायश्चित्त उचित होगा, इसके लिए ग्रन्थावलोकन द्वारा विचार करते हैं क्योकि महापुरुष बिना विचार किये कोई भी कार्य नहीं करते हैं॥६४८॥

ज्ञात्वा वक्रामवक्रां वा, सूरिरालोचनां यतेः।
विदधाति प्रतीकारं, शुद्धिरस्ति कुतोन्यथा॥६४९॥

अर्थ - क्षपक मुनि की सरल परिणामो से या कुटिल परिणामो से की हुई आलोचना को भली प्रकार जानकर आचार्य प्रायश्चित्त दान द्वारा उसके दोषो की शुद्धि करते हैं। अन्यथा अर्थात् आलोचना को बिना जाने शुद्धि करना कैसे सम्भव है?॥६४९॥

जातस्य प्रतिसेवातो, हानिर्वृद्धिश्च देहिनाम्।
पापस्य परिणामेन, तीव्रा मन्दा च जायते॥६५०॥

अर्थ - जीवो के असयम आदि उत्पन्न दोषो मे हानि-वृद्धि होती रहती है। तीव्र पाप परिणाम से तीव्रता और मन्द अशुभ परिणाम से मन्दता होती है॥६५०॥

प्रश्न - यह हानि-वृद्धि और तीव्रता-मन्दता कैसे होती है ?

उत्तर - तीव्रता-मन्दता और हानि-वृद्धि होने के यहाँ दो कारण हैं। एक कारण असंयम आदि दोष करते समय और दूसरा कारण उन दोषो की आलोचना का समय। यथा-पाप करते समय जो पाप-बन्ध हुआ था, पश्चात् पीछे होनेवाले शुभ या अशुभ परिणामो से उसमे तीव्र हानि या तीव्र वृद्धि अथवा मन्द हानि या मन्द वृद्धि हो जाती है। वैसे ही आलोचना के पश्चात् तीव्र शुभ परिणाम होने से पाप की तीव्र हानि और मन्द शुभ परिणाम होने से पाप की मन्द हानि होती है। प्रायश्चित्त देते समय आचार्य क्षपक के इन सब परिणामों का सूक्ष्मता से विचार करते हैं।

स्थिरत्वं नयते पूर्वं, संसारासुख-कारणम्।
एतेषां चिनुते पापं, संक्लिष्टः क्षिपते गुणम्।।६५१।।

अर्थ - सक्लेश परिणाम सासारिक दुखो के कारणभूत पूर्वबद्ध पाप कर्म को तीव्र शक्तिवाला कर देता है, नवीन पापकर्म का सचय कर देता है और सम्यक्त्व आदि गुणो को नष्ट कर देता है।।६५१।।

प्रश्न - सक्लेश कितने प्रकार का होता है और उसका क्या कार्य है?

उत्तर - सक्लेश परिणाम दो प्रकार के होते हैं। १ सावद्य सक्लेश, २ मात्र चित्त की बाधा रूप निरवद्य सक्लेश।

सावद्य संक्लेश - असयमादि सेवन करने से उत्पन्न पापकर्म को बाँधनेवाला पाप परिणाम अथवा तीव्र अशुभ परिणाम रूप सावद्य सक्लेश है। यह सक्लेश पूर्वबद्ध कर्मों को दृढ़ करता है कारण कि स्थितिबन्ध कषाययुक्त परिणामो के निमित्त से होता है। तीव्र स्थिति-अनुभागवाला नवीन कर्मबन्ध करता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप गुणो का घात करता है, अशुभ परिणामो को तीव्र और दृढ करता है तथा नाना प्रकार की हजारो वेदनाओ से व्याप्त नारकादि दुर्गतियो के भय की वृद्धि करता है।

चित्त की बाधारूप सक्लेश सावद्य रूप नहीं होता। मेरा ज्ञान निर्मल क्यों नहीं होता? मेरा चारित्र अतीव उज्ज्वल क्यो नहीं होता? मेरा शरीर इतना दुर्बल क्यो है कि तपोयोग को सहन नहीं कर पाता? मेरा मन आत्मचिन्तन मे स्थिर क्यों नहीं हो पाता? इस प्रकार का सक्लेश चित्त मे बाधा उत्पन्न करता रहता है।

कृत्वापि कल्मषं कश्चित्, पश्चाताप-कृशानुना।
दह्यमान-मना देश, सर्वं वा हन्ति निश्चितम्।।६५२।।

अर्थ - किसी क्षपक ने असयम आदि रूप कोई दोष कर लिया, पीछे पश्चाताप रूपी अग्नि के द्वारा उसका मन दग्ध हो उठा कि 'हाय ! मैने यह क्या कर लिया ?' तब वह ससार से भयभीत होकर सयमाचरण मे तत्पर हो गया, जिसके प्रभाव से अर्थात् सयमाचरण के मन्द अथवा मध्यम परिणाम से कर्मों की एकदेश निर्जरा करता है और तीव्र विशुद्ध परिणाम होते हैं तो सर्व कर्मों का घात कर देता है ।।६५२।।

नालिकाधमवज्ज्ञात्वा, प्रमाण कुरुते सुधीः।
तत. शुध्यति यावत्या, तावती स परिक्रियाम्।।६५३।।

अर्थ - प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता और प्रायश्चित्त देने की क्रिया से परिचित बुद्धिमान आचार्य सुनार के सदृश उस अपराधी साधु के परिणामो को जानकर जितने प्रायश्चित्त से उसकी विशुद्धि हो उतना ही अधिक या अल्प प्रायश्चित्त उसे देते है।।६५३।।

प्रश्न - यहाँ 'सुनार के सदृश जानकर' इसका क्या अभिप्राय है ? दूसरे के परिणाम आचार्य कैसे जान सकते है?

उत्तर - यहाँ स्वर्णकार से तात्पर्य है कि जैसे स्वर्णकार स्वर्ण की कम या अधिक अशुद्धि देखकर उसी के अनुकूल अग्नि की सामर्थ्य या असामर्थ्य देखकर तदनुसार कम या अधिक हवा से उसे प्रज्वलित कर स्वर्ण

को शुद्ध कर लेता है, उसी प्रकार आचार्य क्षपक के छोटे या बड़े अपराध को तथा क्रोधादि परिणामों की तीव्रता-मन्दता को जानकर तदनुरूप प्रायश्चित्त देकर उसे शुद्ध करते हैं।

दूसरों के परिणामो का अनुमान सहवास से हो जाता है कि यह तीव्र क्रोधी या तीव्र मानी है। अथवा उसके कार्यकलाप एवं भाषा आदि का व्यवहार देखकर उसके तीव्र या मन्द क्रोधादि परिणामों का अनुमान हो जाता है, अथवा जब तुमने दोष किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? ऐसा तीन बार पूछने से भी अन्य के परिणामो का अनुमान हो जाता है।

उल्लाघी कुरुते वैद्यो, वैद्यशास्त्र-विशारदः।
यथातुरं कृताभ्यासो, रोगातङ्कादि-पीडितम् ॥६५४॥

गणाधिपः कृताभ्यासो, व्यवहार-विचक्षणः।
क्षपकं मलिनीभूतं, निर्मलं कुरुते तथा ॥६५५॥

अर्थ - अथवा जैसे आयुर्वेद के शास्त्रो का ज्ञाता एव अनेक बार की हुई चिकित्सा के अभ्यास से प्राप्त निपुण बुद्धिवाला वैद्य महती अथवा अल्प व्याधि से पीडित रोगी को तदनुकूल औषधि देकर उसे नीरोग कर सुखी कर देते हैं , वैसे ही प्रायश्चित्त शास्त्र मे विशारद एव अनेक बार शिष्यो को दिये हुए प्रायश्चित्त का अभ्यासी आचार्य दोषों से मलिन क्षपक को तदनुकूल प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध अर्थात् निर्मल कर देता है॥६५४-६५५॥

उपर्युक्त गुणवाले आचार्य के अभाव में अन्य भी निर्यापकाचार्य बन सकते हैं

गणस्थितेऽसती-दृक्षे, स्थविरेऽध्यापके तथा।
अस्ति प्रवर्तको वृद्धो, बालाचार्योऽथ यत्नतः ॥६५६॥

अर्थ - आचारी और आधारी आदि गुणो से युक्त आचार्य, स्थविर या उपाध्याय यदि सघ मे न हो तो सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले प्रवर्तक अथवा नवीन बालाचार्य को भी निर्यापकाचार्य बनाया जा सकता है॥६५६॥

प्रश्न - स्थविर और प्रवर्तक किन्हे कहते हैं तथा निर्यापकाचार्य कौन-कौन बन सकते है?

उत्तर - जो रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग के ज्ञाता हैं एव जिन्हे दीक्षा लिये चिरकाल व्यतीत हो गया है उन्हे स्थविर कहते हैं और जो अल्पश्रुतज्ञानी होकर भी सर्वसघ की मर्यादा, चर्या को जानते हैं, उन्हे प्रवर्तक कहते हैं।

किसी साधु की समाधि का अवसर प्राप्त हो जाय और सघ मे आचारी, आधारी आदि गुणों से युक्त आचार्य न हो तो उपाध्याय, ये भी न हो तो प्रवर्तक, ये भी न हों तो स्थविर भी निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।

स चारित्रगुणाकाङ्क्षी, कृत्वा शुद्धिं विधानतः।
गुरोरन्ते समाचारी, विशुद्ध्यै चेष्टते तराम् ॥६५७॥

अर्थ - वह क्षपक समाचारी अर्थात् अपने योग्य आचरण करके, विधिपूर्वक अपने दोषो की विशुद्धि करता है, तथा भली प्रकार आत्मा को विशुद्ध करके स्वीकृत चारित्र में गुणों की वृद्धि की आकाक्षा करते हुए गुरु के समीप साधना करता है ॥६५७॥

वर्षासु विविधं स्पृष्ट्वा तपःकर्म विधानतः।
सुखवृत्तौ स हेमन्ते, संस्तरं प्रतिपद्यते ॥६५८॥

अर्थ - वह क्षपक वर्षाकाल मे विधिपूर्वक अनेक प्रकार के तपश्चरण करता है और सुखरूप वृत्ति को सम्पन्न करनेवाली हेमन्त ऋतु मे सस्तर का आश्रय ग्रहण करता है ॥६५८॥

निस्पर्शवन्निश्चतुरङ्ग-दोषं, गुरूपदेशेन विशुद्ध-चेताः।
प्रवर्तते शुद्ध-गुणाधिरूढः, संसार-कान्तार-विलङ्घनाय ॥६५९॥
इति गुणदोषौ ॥

अर्थ - समस्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओ के अतिचारो से शुद्ध होकर, गुरु के उपदेश से विशुद्ध चित्तधारी क्षपक शुद्ध गुणसमूह मे आरूढ होता हुआ, ससार रूप विकट वन का उल्लघन करने हेतु समाधिमरण मे प्रयत्न करता है ॥६५९॥

इस प्रकार गुण-दोष नामक अधिकार पूर्ण हुआ ॥२४॥

२५. शय्या-अधिकार

सन्यास अयोग्य शय्या का निषेध

छन्द-स्रग्विणी

गाथका वादका नर्तकाश्चाक्रिकाः,शालिका मालिकाः कोलिका वांशिकाः।
काष्ठिका लौहिका मात्सिकाः पात्रिकाः,काण्डिकादाण्डिकाश्चार्मिकाश्छिम्पकाः ॥६६०॥

चारणा वारणा वाजिनो मेषका, मद्यपाः पण्डकाः सार्थिकाः सेवकाः।
ग्राविकाः कोट्टपालाः कुलाला भटाः, पण्यनारीजना द्यूतकारा विटाः ॥६६१॥

सन्ति यस्याः समीपे निःकृष्ट-क्रिया, सा न शय्या निषेव्या कदाचिद्बुधैः।
पालयद्भिः समाधानरत्नं, सदारूढ-संसार-कान्तार-विच्छेदकम् ॥६६२॥

अर्थ - गन्धर्व अर्थात् गायक, वादक, नर्तक, चाक्रिक, शालिक अर्थात् हाथी, घोड़े आदि की सेवा मे नियुक्त पुरुष, मालाकार, कोली, वाशिक अर्थात् बाँसुरी आदि बजाने वाले या बाँस पर चढ़कर खेल दिखाने वाले, बढई, लुहार, मात्सिक अर्थात् मछलीमार, पात्रिक अर्थात् बर्तन बेचने वाले, काडिक, दाडिक अर्थात् दण्डा बेचने या खेलने वाले, चमार, रगरेज, भाट, वारण, घुडसवार, मेढ़ो के पालक, मद्यपायी, पण्डे, सार्थिक,

सेवक, ग्राविक अर्थात् पत्थर का कार्य करने वाले, कोटपाल, कुम्हार, सुभट, वेश्या, जुआरी और बदमाश, ऐसे-ऐसे निःकृष्ट कार्य करने वाले लोगों के निवास के समीप बनी हुई वसतिका योग्य नहीं है, क्योंकि जो बुद्धिमान मुनिजन ससाररूपी वन का नाश करने में तत्पर है तथा जो सदा समाधान अर्थात् समतारूपी रत्न का पालन कर रहे हैं उनके द्वारा वह कदापि सेव्यमान नहीं है।।६६०-६६२।।

योग्य वसतिका का स्वरूप

पञ्चाक्ष-प्रसरो यस्यां, विद्यते न कदाचन।
त्रिगुप्तो वसतौ तस्या, शुभध्यानोऽवतिष्ठते।।६६३।।

अर्थ - जहाँ मन को सक्षोभ करनेवाला पाँचो इन्द्रियों का अपने-अपने विषयो मे कदाचित् भी गमन सम्भव नहीं है उस वसतिका में साधु क्षपक मन, वचन और काय को गुप्त करके शुभ ध्यान करते हुए निवास करते हैं।।६६३।।

उद्गमादि-मलापोढा, सप्रकाशा गत-क्रिया।
संस्कार-करणायोग्या, सम्मूर्च्छन-विवर्जिता।।६६४।।

अर्थ - जो वसतिका उद्गमादि दोषो से रहित हो, अपने उद्देश्य से निर्मित न हो, लिपाई-पुताई आदि सस्कार से रहित हो तथा सम्मूर्च्छन जीवो से रहित हो, उसमे साधु निवास करते हैं।।६६४।।

मिथ्यादृष्टि-जनागम्या, गृहिशय्या-विवर्जिताः।
द्वि-त्रा वसत्यो ग्राह्याः, सेव्या विध्वस्त-तामसाः।।६६५।।

अर्थ - जहाँ मिथ्यादृष्टि जीवो को अगम्य हो, गृहस्थो के निवास से रहित हो और अन्धकार से रहित हो ऐसी दो अथवा तीन वसतिकाएँ क्षपक के लिए करने योग्य हैं।।६६५।।

प्रश्न - वसतिका अन्धकार रहित क्यो होनी चाहिए और दो-तीन वसतिकाएँ भी क्यो ग्रहण करनी चाहिए।

उत्तर - अन्धकारमय वसतिका से सयम का घात होता है। एक वसतिका क्षपक के निवास हेतु और दूसरी अन्य मुनिजनो के विश्राम हेतु होनी चाहिए। यदि तीन वसतिका ग्रहण करते हैं तो एक मे क्षपक, एक मे अन्य मुनिजन और एक मे धर्मोपदेश होता है।

निबिडाः संवृत-द्वाराः, सुप्रवेश-विनिष्क्रमाः।
सकवाटा लसत्कुड्या, बाल-वृद्ध-जनोचिता।।६६६।।

अर्थ - वसतिका मजबूत अर्थात् दृढ हो, द्वार से ढकी हुई हो, जिसमें बिना कष्ट के सुखपूर्वक प्रवेश और निर्गमन हो सकता हो, कवाट युक्त हो, दृढ़ दीवार वाली हो और बाल-वृद्ध लोगों के भी योग्य हो।।६६६।।

प्रश्न - वसतिका में कवाट होना आवश्यक क्यों है ?

उत्तर - कवाट बिना खुली वसतिका मे क्षपक को दीर्घशका एव लघुशका नहीं करा सकते और आती हुई शीतादि की बाधा का भी निवारण नहीं कर सकते। जिस क्षपक के शरीर मे मात्र चर्म एवं हड्डी ही अवशेष रही है, ऐसे क्षपक को शीतादि की बाधा से दुस्सह कष्ट का सामना करना पडेगा जो असमाधि का भी कारण बन सकता है, अत· वसतिका में किवाड आवश्यक हैं।

उद्यानमन्दिरे हृद्ये, गुहायां शून्य-वेश्मनि।
आगन्तुक-निवासे वा, स्थितिः कृत्या समाधये॥६६७॥

अर्थ - हृदयहारी सुन्दर उद्यानगृह, गुफा, शून्यगृह, सेनादि के साथ आये हुए व्यापारियो द्वारा बनाये गये घर या धर्मशाला आदि मे समाधि के लिए निवास करना चाहिए॥६६७॥

क्षपकाध्युषिते धिष्ण्ये, धर्मश्रवण-मण्डपः।
जनानन्दकरः श्रेयः, कर्तव्यः कण्टकादिभिः॥६६८॥

इति शय्या॥

अर्थ - (उक्त प्रकार की वसतिका न मिलने पर) क्षपक के निवास हेतु वसतिका एव धर्मश्रवण हेतु मण्डप चटाई या बाँस के पत्तो आदि से आच्छादित एव प्रकाशयुक्त बनवा लेना चाहिए, जो लोगो को आनन्ददायक और श्रेयस्कर हो॥६६८॥

इस प्रकार शय्या अथवा वसतिका नामक अधिकार पूर्ण हुआ॥२५॥

२६ संस्तर अधिकार

सस्तर के प्रकार और क्षपक के मस्तक की दिशा

उत्तराशा-शिराः क्षोणी-शिला-काष्ठ-तृणात्मकः।
सस्तरो विधिना कार्यः, पूर्वाशा-मस्तकोऽथवा॥६६९॥

अर्थ - (पूर्वोक्त गुणयुक्त वसतिका मे) विधिपूर्वक पृथ्वीरूप, शिलारूप, काष्ठरूप या तृणरूप सस्तर करना चाहिए। सस्तर की रचना ऐसी हो कि क्षपक का मस्तक उत्तरदिशा मे या पूर्व दिशा मे हो॥६६९॥

प्रश्न - क्षपक का शिर उत्तर या पूर्व मे क्यो होना चाहिए ?

उत्तर - लोक मे मागलिक कार्यों के लिए उत्तर एव पूर्व दिशा शुभ मानी गई है क्योकि उत्तर दिशा मे विदेह क्षेत्र है, जहाँ तीर्थंकर देव शाश्वत विद्यमान रहते हैं, अत उनके प्रति भक्ति का सचार हृदय मे निरन्तर होता रहे। उत्तर मे मस्तक रखने का अर्थ है क्षपक का मुख एव पैर दक्षिण दिशा की ओर होगे। दक्षिण दिशा मे यम नामक कोटपाल का निवास है। लोक मे 'यम' को मृत्युरूप मे माना जाता है, अत इससे यह प्रतीत होता है कि जिस यम मे प्रत्येक ससारी प्राणी भयभीत रहता है और सदा उससे मुख छिपाता रहता है, उस यम का वरण करने हेतु ही मानो सम्यग्दृष्टि, भेदविज्ञानी और निर्भीक जैन क्षपक उसके अभिमुख हो रहा है। पूर्व दिशा सूर्य के उदय की दिशा है और पश्चिम दिशा सूर्य के अस्त होने की दिशा है। क्षपक का भी इस पर्यायजन्य शरीर अब अस्त होने के अभिमुख है, अत उसका मुख पश्चिम दिशा की ओर होना श्रेयस्कर है।

पृथ्वी अर्थात् भूमिमय संस्तर का कथन

नि:स्निग्धत्व-सुखस्पर्श:, प्रासुको निर्बिलो घन:।
संस्तर: क्रियते क्षोणी-प्रमाण-रचित: सम: ॥६७०॥

अर्थ - जो भूमि गीली न हो, सुख-स्पर्शवाली हो, प्रासुक अर्थात् चींटी आदि जीवो से रहित हो, बिल एव छिद्र रहित हो, घन अर्थात् ठोस हो, तथा क्षपक के शरीर बराबर प्रमाणवाली हो। ऐसा संस्तर सम भूमि पर होना चाहिए॥६७०॥

शिलामय सस्तर

विध्वस्तोऽस्फुटितोऽकम्प:, समपृष्ठो विजन्तुक:।
उद्योते मसृण: कार्य:, सस्तरोऽस्ति शिलामय: ॥६७१॥

अर्थ - आग से, कूटने से अथवा घिसने से प्रासुक हो, टूटा-फूटा न हो, निश्चल हो, समतल हो, सब ओर से जीव रहित हो, प्रकाशयुक्त हो और चिकना हो। ऐसा शिलामय सस्तर करना चाहिए॥६७१॥

फलक या काष्ठमय सस्तर

लघुर्भूमिसमो रुन्द्रो, नि:शब्द: स्वप्रमाणक:।
एकाङ्ग: संस्तरोऽछिद्र:, श्लक्ष्ण: काष्ठमयो मत: ॥६७२॥

अर्थ - जो लघु अर्थात् हल्का हो, सब ओर से भूमि से लगा हुआ हो, अर्थात् फड़ जैसा हो, अथवा पाटे सदृश चार-पाँच अगुल भूमि से ऊँचा हो, अधिक ऊँचा न हो, क्योकि उसमे क्षपक को गिरने आदि से अपाय होने की सम्भावना बनी रहती है, रुन्द्र हो, नि शब्द हो, अर्थात् खट-खट शब्द न करता हो, क्षपक के शरीर प्रमाण हो, एक ही लकडी से रचित हो, छिद्ररहित हो और चिकना हो, ऐसा काष्ठमय सस्तर होना चाहिए॥६७२॥

तृणमय संस्तर

कृत्यस्तृणमयोऽसन्धि:, संस्तरो निरुपद्रव:।
नि:सम्मूर्च्छेरपच्छिद्रो, मृदु: सुप्रतिलेखन: ॥६७३॥

अर्थ - जो सन्धि रहित हो, निरुपद्रव अर्थात् गाँठ रहित तृण से बना हो, सम्मूर्च्छन जीवों से रहित हो, छिद्र रहित हो, कोमल घास से निर्मित हो तथा जो सुखपूर्वक अर्थात् सहजता से शोधा जा सके ऐसा तृणमय अर्थात् घास का सस्तर करना चाहिए ॥६७३॥

सस्तरारोहण

प्रमाण-रचितो योग्य:, काल-द्वितय-शोधन:।
आरोढव्यस्त्रिगुप्तेन, संस्तरोऽयं समाधये ॥६७४॥

अर्थ - इस प्रकार सस्तर प्रमाण से बना हो, अर्थात् न छोटा हो और न बडा हो, योग्य हो अर्थात् शास्त्रनिर्दिष्ट क्रम से बना हो एव दोनों समय अर्थात् सूर्योदय एव सूर्यास्त के समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध या शोधन करने योग्य हो। ऐसे सस्तर पर अशुभ मन, वचन एव काय का निरोध करके क्षपक को आरोहण करना चाहिए।।६७४।।

निर्यापके समर्प्य स्वं, समस्त-गुणशालिनी।
प्रवर्तते विधानेन, क्षपकः संस्तरे स्थितः।।६७५।।

अर्थ - समस्त गुणो से सम्पन्न निर्यापकाचार्य पर अपने आप को समर्पित कर अर्थात् निर्यापकाचार्य को ही शरण मान कर सस्तरारूढ क्षपक सल्लेखना की विधि से विचरता है अर्थात् विधिपूर्वक प्रवृत्ति करता है।।६७५।।

तृण-क्षोणि-पाषाण-काष्ठ-प्रशस्ते, स्थितः संस्तरे धर्ममार्ग-प्रवीणः।
धुनीते समस्तानि कर्माणि योगि, रणे योधवर्गो बलानीव धीरः।।६७६।।

इति संस्तरः।।

अर्थ - जिस प्रकार रणागण मे धीर-वीर योद्धावर्ग सेना को नष्ट कर डालता है उसी प्रकार तृण, काष्ठ, पृथ्वी अथवा शिलामय प्रशस्त सस्तर पर आरूढ एव धर्ममार्ग मे प्रवीण होता हुआ वह क्षपक योगी समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है।।६७६।।

इस प्रकार सस्तर का विवेचन पूर्ण हुआ।।२६।।

इस प्रकार सुस्थितादि पॉचवॉ अधिकार पूर्ण हुआ।।५।।

(६)

निर्यापकादि अधिकार

२७ निर्यापक अधिकार

गुणज्ञ निर्यापकों का चयन और उनका प्रमाण

स्थेयांसः प्रियधर्माणः, संविग्ना पाप-भीरवः।
ख्याताश्छन्दानुगमनाः, कल्पाकल्प-विचक्षणाः।।६७७।।

प्रत्याख्यान-विदो धीराः, समाधान-क्रियोद्यता।
षट्-ताडिताष्ट-संख्याना, ग्राह्या निर्यापकाः पराः।।६७८।।

अर्थ - जो मुनिजन चारित्र मे स्थिर हैं, जिन्हे धर्म प्रिय है, ससार से उदासीन अर्थात् भयभीत हैं, पाप

से डरते हैं, प्रसिद्धि को प्राप्त हैं, क्षपक के अभिप्राय को बिना कहे सकेत मात्र में जान लेनेवाले हैं और योग्य-अयोग्य को जानने में कुशल हैं। त्याग अर्थात् प्रत्याख्यान के क्रम को जानने वाले हैं, धैर्यवान् हैं और क्षपक को समाधान कराने में सदा उद्यमशील स्वभाव वाले हैं, ऐसे गुणज्ञ छह से गुणित आठ अर्थात् अड़तालीस परिचारक अर्थात् निर्यापक मुनि समाधि कराने के लिए ग्रहण करने चाहिए॥६७७-६७८॥

प्रश्न - इन उपर्युक्त गुणों का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - यद्यपि सम्यग्दृष्टि होने से यतिजन चारित्र मे अनुराग रखते हैं तथापि चारित्रमोह का उदय होने से चारित्र में दृढ़ नहीं रह पाते, और जिनका चारित्र दृढ नहीं होता वे क्षपक के असयम का परिहार नहीं कर सकते। अतः निर्यापक दृढ़ चारित्री होना चाहिए।

यहाँ 'प्रियधर्मा' में धर्म शब्द से चारित्र ही ग्रहण किया है। जिन यतिजनो को चारित्र प्रिय होगा वे ही क्षपक को चारित्र मे प्रवृत्ति करने हेतु उत्साहित कर उसमे उनकी सहायता कर सकते हैं।

वे विचित्र दुखो की खानरूप चार गतियो मे भ्रमण के भय से व्याकुल रहते हैं, अत क्षपक के असयम के परिहारमे विशेष सावधान रहते हैं। वे गुरुजनो मे भी प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं कि ये परिचारक विश्वासपात्र हैं, ये असयम नहीं करते, ये क्षपक की वैयावृत्य मे सदा तत्पर रहते हैं। क्षपक न कहने पर भी उसके सकेत मात्र से उसका अभिप्राय समझ कर तदनुकूल वैयावृत्य मे प्रवृत्ति करते हैं। यह योग्य है और यह अयोग्य है इस प्रकार क्षपक के आहार-पानादि की परीक्षा मे अत्यन्त कुशल होते हैं। जो साकार और निराकार प्रत्याख्यान के क्रम को जानने वाले हैं, जो स्वय परिषह सहन करने मे धीर हैं अर्थात् जो परिषहो से स्वय पराजित हो जाते है वे क्षपक को सयम मे दृढ रखने मे असमर्थ देखे जाते हैं और जो क्षपक के चित्त का समाधान करने में एकदम सतर्क रहते है, ऐसे उपर्युक्त गुणयुक्त होने पर भी जिन्होने पूर्व मे गुरुजनो को अनेक बार समाधि कराते देखा है उन्हीं अड़तालीस परिचारक मुनिजनो का चयन किया जाता है।

आमर्शन-परामर्श-गमस्थान-शयादिषु।
उद्वर्तन-परावर्त-प्रसाराकुञ्चनादिषु॥६७९॥

देह-कर्मसु चेष्टन्ते, क्षपकस्य समाधिदाः।
चत्वारो यतयो भक्त्या, परिचर्या-परायणाः॥६८०॥

अर्थ - उपर्युक्त अड़तालीस मुनिजनो में जो चार मुनि क्षपक को समाधान देने मे और भक्ति से उनकी सेवा करने में तत्पर रहते हैं, वे मुनि शरीर के एकदेश मे हाथ फेरना, सर्वांग मे हाथ फेरना, गमन कराना, खड़ा करना, सुला देना, करवट दिलाना, उल्टा सुलाना, हाथ-पैर फैलाना और सिकोड़ना इत्यादि शारीरिक कार्य करने मे प्रयत्नशील रहते हैं॥६७९-६८०॥

स्त्री-राज-मन्मथाहार-द्रव्य-देशादि-गोचराः।
विमुच्य विकथाः सर्वाः, समाधान-निषूदनीः॥६८१॥

अर्थ - चार मुनिराज समता भाव को नष्ट करनेवाली स्त्रीकथा, राजकथा, कामकथा, भोजन कथा तथा द्रव्य एवं देश आदि से सम्बद्ध अन्य सर्व विकथाओ को छोडकर मात्र धर्म का उपदेश देते हैं॥६८१॥

अनाकुलमनुद्विग्नमव्याक्षेपमनुद्धतम्।
अनर्थहीनमश्लिष्टमविचलितमद्रुतम्॥६८२॥

अर्थ - धर्मोपदेश करते समय ऐसे वचन बोलते हैं जिससे क्षपक मुनि को आकुलता उत्पन्न न हो, उद्वेग रहित हो, क्षोभरहित हो, उद्दण्डता रहित हो, वे ऐसी बात नहीं कहते जिसका कोई अर्थ न हो, जो कठिनता से रहित हो, वे बहुत जोर से या बहुत मन्द आवाज से भी नहीं बोलते हैं॥६८२॥

प्रह्लादजनकं पथ्यं, मधुरं हृदयङ्गमम्।
धर्मं वदन्ति चत्वारो, हृद्य-चित्र-कथोद्यता॥६८३॥

अर्थ - जो वचन क्षपक को आनन्द उत्पन्न करने वाले हो, हितकर हो तथा मधुर एव मनोहर हो ऐसे वचनो द्वारा अनेक-अनेक सुन्दर कथाएँ कहने मे निपुण वे मुनि धर्मकथा सुनाते हैं॥६८३॥

क्षपक को सुनाने योग्य कथाएँ

क्षपकस्य कथा कथ्या, सा यां श्रुत्वा विमुञ्चते।
सर्वथा विपरीणामं, याति संवेग-निर्विदौ॥६८४॥

अर्थ - क्षपक के समक्ष ऐसी कथा कहनी चाहिए जिसे सुनकर वह अशुभ परिणामो को छोड़ दे और सवेग अर्थात् ससार से भयभीत हो जावे और निर्वेग अर्थात् शरीर एव भोगों से विरक्त हो जावे॥६८४॥

भवत्याक्षेप-निर्वेग-निर्वेद-जनिका: कथा:।
क्षपकस्योचितास्तिस्रो, विक्षेप-जनिका तु नो॥६८५॥

अर्थ - आक्षेप, निर्वेग और निर्वेद जनिका ये तीन प्रकार की कथाएँ तो क्षपक के कहने और सुनने योग्य है, किन्तु विक्षेप जनिका कथा क्षपक के योग्य नहीं है॥६८५॥

चारों कथाओं के लक्षण

कथा साक्षेपणी ब्रूते, या विद्या-चरणादिकम्।
विक्षेपणी कथा वक्ति, परात्म-समयौ पुन:॥६८६॥

अर्थ - जिसमे ज्ञान और चारित्र का उपदेश होता है उसे **आक्षेपणी** कथा कहते हैं और जिसमे पर-समय का खण्डन एव स्वसमय का मण्डन हो उसे **विक्षेपणी** कथा कहते है॥६८६॥

संवेजनी कथा ब्रूते, ज्ञान-चारित्र-वैभवा।
निर्वेदनी कथा वक्ति, भोगाङ्गादेरसारताम्॥६८७॥

अर्थ - ज्ञान, चारित्र और तपो भावना से उत्पन्न शक्ति-सम्पदा का कथन करने वाली **संवेजनी** कथा है और पञ्चेन्द्रियो के भोग एव शरीर की नि:सारता का कथन करने वाली **निर्वेदनी** कथा है॥६८७॥

प्रश्न - ये चारो कौन सी कथाएँ हैं और इनका विशेष क्या है?

उत्तर - आक्षेपणी आदि ये चारो धर्मकथाएँ हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्त्व का, मति-श्रुत आदि पाँचों सम्यक्ज्ञानो का तथा सामायिकादि चारित्रो का वर्णन करने वाली **आक्षेपणी** कथा है।

वस्तु सर्वथा नित्य ही है, सर्वथा अनित्य ही है, सर्वथा एक ही है, सर्वथा अनेक ही है, सर्वथा क्षणिक है, सत् ही है या असत् ही है, अथवा विज्ञान मात्र ही है या शून्य ही है; इत्यादि पर-समय को पूर्वपक्ष बना कर प्रत्यक्ष, अनुमान एव आगम से उसमें विरोध दर्शाकर कथचित् पद से अलकृत स्वसमय अर्थात् जैनमत को स्थापित करने वाली अर्थात् न्यायग्रन्थों की वार्ता **विक्षेपणी** कथा है।

रत्नत्रय धर्म का आराधन करने से कैसे-कैसे वैभव प्राप्त होते हैं, उसी भव मे ऋद्धियाँ, परभव मे देवेन्द्र, चक्रवर्तित्व एव बलदेव आदि का सुख प्राप्त होता है, धर्म के फल मे इस प्रकार हर्ष बढ़ाने वाली **संवेजनी** कथा है।

यह शरीर अपवित्र सप्त धातुमय है, शुद्ध भोजन-पान आदि को तत्काल अशुद्ध कर देता है। इन्द्रिय-भोग महाभयानक कष्ट उत्पन्न करते हैं तथा नरकादि कुगतियों में भ्रमण कराते हैं। इस प्रकार शरीर और भोगों का यथार्थ स्वरूप दर्शाने वाली **निर्वेदनी** कथा है।

इन चार प्रकार की कथाओ मे से क्षपक को विक्षेपणी कथा के अतिरिक्त शेष तीन कथाएँ सुनानी चाहिए।

क्षपक को विक्षेपणी कथा सुनाने का निषेध

विक्षेपणी-रतस्यास्य, जीवित यदि गच्छति।
तदानीमसमाधानमल्प-शास्त्रस्य जायते ॥६८८॥

कथ्या बहुश्रुतस्यापि, नासन्ने मरणे सति।
अनाचारं न कुर्वन्ति, महान्तो हि कदाचना ॥६८९॥

अर्थ - विक्षेपणी कथा की अनुरक्त दशा मे यदि क्षपक की आयु समाप्त हो जाय तो अल्पज्ञानी क्षपक का असमाधिपूर्वक मरण होगा ॥६८८॥

यदि क्षपक बहुश्रुत ज्ञानी है तो भी मरण निकट होने पर उसे विक्षेपणी कथा नहीं सुनानी चाहिए, क्योकि महापुरुष कदाचित् भी अनाचार नहीं करते है ॥६८९॥

प्रश्न - अल्पज्ञानी और बहुज्ञानी दोनो को विक्षेपणी कथा सुनाने का निषेध क्यो किया गया है?

उत्तर - विक्षेपणी कथा मे सर्व प्रथम मिथ्यादृष्टि का मत उपस्थित किया जाता है। अल्पज्ञानी क्षपक यदि उस पूर्वपक्ष को ही तत्त्व समझ बैठे तो मिथ्याश्रद्धान एव मिथ्याज्ञान हो जाने से वह रत्नत्रय को छोड़ देगा जिससे उसकी असमाधि ही होगी। आगमज्ञानी क्षपक के लिए भी यह कथा अनायतन स्वरूप है अत यह विक्षेप ही कराती है, समाधि मे सहायक नहीं होती अत बहुश्रुत क्षपक को भी यह कथा त्याज्य है, उसे भी नहीं सुनानी चाहिए।

क्षपक को सुनाने योग्य कथाएँ

विक्षेपणीं विमुच्यातः, समाधान-विधायिनः।
कथयन्ति कथास्तिस्रो, निस्त्रिदण्ड-त्रिगौरवाः ॥६९०॥

अर्थ - विक्षेपणी कथा को छोड़कर वैयावृत्य करने वाले परिचारक मुनि अशुभ मन, वचन और काय को निर्मूल करने वाली तथा तीन गारवो को नष्ट करने वाली आक्षेपणी आदि तीन कथाएँ ही कहते हैं ॥६९०॥

तपो-भाव-नियुक्तस्य, प्रत्यासन्न-मृतेर्यतेः ।
ते वदन्ति तथा तस्य, भवत्याराधको यथा ॥६९१॥

अर्थ - मृत्यु के अतिनिकट होने से जो क्षपक श्रेष्ठ एव उग्र तप भावना मे तत्पर है उस क्षपक को वे परिचारक मुनि ऐसा धर्मोपदेश देते हैं जिससे वह रत्नत्रय का आराधक होता है ॥६९१॥

चार मुनि क्षपक की आहार-चर्या में तत्पर रहते हैं

तस्या नयन्ति चत्वारो, योग्यमाहारमश्रमाः ।
निर्माना लब्धिसम्पन्नास्तदिष्टं गतदूषणम् ॥६९२॥

अर्थ - जो अश्रम, निर्मान एव लब्धिसम्पन्न है, ऐसे चार मुनि उस क्षीणकाय क्षपक के लिए उद्गमादि दोषो से रहित एव प्रकृति के अनुकूल इष्ट आहार लाते हैं ॥६९२॥

प्रश्न - आहार लाने मे नियुक्त किये गये मुनियो के अश्रमादि विशेषण क्यो दिये गये हैं, ये कैसे और किस प्रकार का आहार लाते हैं ?

उत्तर - जो साधु आहार की व्यवस्था करने मे श्रम का अनुभव नहीं करते अर्थात् जो कभी ऐसा नहीं सोचते कि 'हम भी तो थक जाते है, हम कब तक यह आहार की व्यवस्था करते रहेगे ?' जो साधु ऐसे भावो से रहित होते हैं उन्हे अश्रम मुनि कहते हैं।

''आहार लाने जैसा कार्य हमे करना पडता है'' जो ऐसे भावो से रहित होते हैं उन्हे निर्मान मुनि कहते है।

जो मुनि मोहनीय और अन्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम वाले होते है उन्हे लब्धिसम्पन्न साधु कहते है। इस गुण से सम्पन्न साधुओ को भिक्षा अवश्य और शीघ्र मिलती है किन्तु अलब्धिमान अर्थात् जिनके लाभान्तराय आदि कर्मों का तीव्रोदय होता है उन्हे प्राय भिक्षा प्राप्त नहीं होती, अथवा इष्ट भिक्षा प्राप्त नहीं होती, वे खाली हाथ वापिस लौटते हैं, या अल्प या अनिष्ट भिक्षा लाते हैं तब क्षपक को कष्ट होता है। क्षपक को आहार से सम्बन्धित किसी प्रकार की अशान्ति न हो इसलिए आहार की व्यवस्था करने वाले मुनियों के अश्रम, निर्मान और लब्धिसम्पन्न विशेषण दिये गये हे।

अयाचकवृत्ति वाले साधु आहार कैसे लाते होगे? इसके समाधान मे गुरुजनों के मुखारविन्द से ऐसा सुना है कि जब साधु जगल मे रहते थे, वहीं समाधिमरण-विधि सम्पन्न करते थे तब आहार लाने हेतु मुनिजनो को ही नियुक्त किया जाता था। क्षीणकाय क्षपक जब आहारार्थ दूर नहीं जा पाते तब लब्धिसम्पन्न व्यवस्थापक मुनि गुरु से स्वय उपवास ग्रहण करते है, पश्चात् आहारार्थ चर्या को जाते हैं और विधिपूर्वक पड़गाहन आदि सर्व क्रियाएँ यथावत् सम्पन्न हो जाने के पश्चात् जब आहार की थाली सामने आ जाती है तथा शुद्धि बोल दी जाती है तब सिद्धभक्ति करने के अनन्तर वे स्वय आहार ग्रहण नहीं करते और मौन छोड़ कर श्रावको द्वारा

वह भोजन क्षपक मुनि की वसतिका में ले आते हैं एव श्रावको द्वारा ही क्षपक मुनि की आहारविधि सम्पन्न कराते हैं।

वर्तमानकाल में मुनिजन धर्मशाला या मन्दिर आदि में ही निवास करते हैं अत. सल्लेखनाविधि सम्पन्न करने में श्रावकोचित सर्व व्यवस्थाओं मे श्रावको का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो जाता है अर्थात् क्षपकयोग्य आहार की व्यवस्था श्रावकजन वसतिका के समीप ही कर लेते हैं।

जो यति आहार लाते हैं वे मायावी नहीं होते। अयोग्य को योग्य नहीं कहते, आहार लाने में ग्लानि नहीं करते। उद्गमादि दोषों से रहित एवं इष्ट आहार लाते हैं। क्षपक भी लिप्सावश आहार नहीं करता, किन्तु भूख और प्यास परीषह को शान्त करने मे समर्थ खान-पान की इच्छा करता है। वह आहार वात, पित्त और कफ शमन करने वाला होना चाहिए।

पानं नयन्ति चत्वारो, द्रव्यं तदुपकल्पितम्।
अप्रमत्ता: समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमा: ॥६९३॥

अर्थ - क्षपक की शान्ति के इच्छुक अप्रमत्त अर्थात् निरालस्य एव श्रमरहित चार मुनिजन क्षपक के लिए प्रासुक, इष्ट और योग्य पानक की व्यवस्था करते हैं॥६९३॥

अन्य चार-चार मुनियों का कार्य विभाजन

मलं क्षिपन्ति चत्वारो, वर्च: प्रस्रवणादिकम्।
शय्या-संस्तरकौ काल-द्वये प्रतिलिखन्ति च॥६९४॥

अर्थ - चार मुनि क्षपक के मल, मूत्र, कफ आदि का क्षेपण करते है तथा दोनो सन्ध्याओं में वसति एव सस्तर का भी शोधन करते है॥६९४॥

क्षपकावसथ-द्वारं, चत्वार: पान्ति यत्नत:।
धर्मश्रुति-गृहद्वारं, चत्वार: पालयन्ति ते॥६९५॥

अर्थ - चार मुनि क्षपक के वसतिद्वार की रक्षा करते हैं और अन्य चार मुनि धर्मोपदेश-मण्डप के द्वार की रक्षा करते हैं॥६९५॥

प्रश्न - वसतिद्वार एव धर्मोपदेश मण्डप द्वार की रक्षा करने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - द्वार-रक्षण का यह अभिप्राय है कि क्षपक की आत्मशान्ति भग करने वाले एव धर्मोपदेश में विघ्न उत्पन्न करने वाले मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी तथा कुतर्कवादी जन वहाँ प्रवेश न कर सके।

निशि-जाग्रति चत्वारो, जितनिद्रा-महोद्यमा:।
वार्ता मार्गन्ति चत्वारो, यत्नाद् देशादि गोचराम्॥६९६॥

अर्थ - निद्राविजय मे उद्यमशील चार मुनि रात्रि में क्षपक के निकट जागरण करते हैं और चार चतुर मुनि निवासभूत देश की स्थिति एव नगर मे होने वाली शुभाशुभ वार्ता का निरीक्षण करते रहते हैं॥६९६॥

प्रश्न - देश एव नगर की शुभाशुभ वार्ताओं के निरीक्षण का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - प्रयोजन यह है कि जिस देश एव नगर मे क्षपक समाधिमरण कर रहा है उन क्षेत्रों के भले-बुरे समाचारों का निरीक्षण करते रहना कि समाधि मे कोई बाधा आने का खतरा तो नहीं है।

बहिर्वदन्ति चत्वार:, स्व-परागम-कोविदा:।
अनन्त: शब्दपातं ते, जनानां निखिला: कथा: ॥६९७॥

अर्थ - स्वसमय और पर-समयरूप आगमज्ञान में चतुर चार मुनिजन दर्शनार्थ आगत भव्य जीवों को आक्षेपणी आदि चारों कथाओ का उपदेश देते हैं, किन्तु वे वसतिका से इतनी दूर जाकर उपदेश देते हैं कि जिससे क्षपक को उनके शब्द सुनाई न दे। यदि उपदेश का क्षेत्र समीप हो तो वे धीरे-धीरे उपदेश देते हैं॥६९७॥

चत्वारो वादिनोऽक्षोभ्या:, सर्वशास्त्र-विशारदा:।
धर्मदेशन-रक्षार्थं, विचरन्ति समन्तत: ॥६९८॥

अर्थ - सर्व शास्त्रो में निपुण, वाद-विवाद करने मे कुशल और किसी भी परिस्थिति मे उत्तेजित नहीं होने वाले ऐसे चार मुनि धर्मकथा करने वालो की रक्षा के लिए धर्मोपदेश-मण्डप मे विचरण करते हैं। अर्थात् धर्मकथा मे कोई विवादी यदि कोई विवाद खडा कर दे तो वे उसको तत्काल उत्तर देने मे तत्पर रहते हैं॥६९८॥

एवमेकाग्र-चेतस्का:, कर्मनिर्जरणोद्यता:।
निर्यापका महाभागा:, सर्वे निर्यापयान्ति तम् ॥६९९॥

अर्थ - कर्मनिर्जरण मे उद्यत एकाग्रचित्त वे सभी अडतालीस महाभाग निर्यापक उस क्षपक को ससार-बन्धन से निकालने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं॥६९९॥

अड़तालीस से हीन-हीन निर्यापक भी ग्राह्य हैं

कालानुसारतो ग्राह्याश्चत्वारिंशच्चतुर्युता:।
भरतैरावतक्षेत्र-भाविनो मुनिपुङ्गवा: ॥७००॥

अर्थ - पॉच भरत और पॉच ऐरावत क्षेत्रो मे जब जैसा काल वर्त रहा हो तब उसी काल के अनुकूल गुणवाले चवालीस मुनिपुगव निर्यापक स्थापित करने चाहिए॥७००॥

हेया: क्रमेण चत्वारश्चत्वारस्तावदञ्जसा।
यावत्तिष्ठन्ति चत्वार:, काले संक्लेश-संकुले ॥७०१॥

कालानुसारिणौ ग्राह्यौ, द्वौ जघन्येन योगिनौ।
भरतैरावतक्षेत्र-भवौ निर्यापकौ यतौ ॥७०२॥

अर्थ - तथा सक्लेश बहुल काल में ज्यों-ज्यों काल खराब होता जावे त्यो-त्यों देश-कालानुसार चार-चार निर्यापकों की सख्या क्रमश. कम करते जाना चाहिए। अन्त में चार निर्यापक ही समाधि-मरण को सम्पन्न करते हैं। भरत-ऐरावत क्षेत्र में अत्यन्त नि कृष्ट काल आ जाने पर जघन्य रूप से दो योगी तो निर्यापक पदरूप से अवश्य ग्रहण करने योग्य हैं, इनसे कम नहीं॥७०१-७०२॥

एक निर्यापक से उत्पन्न होने वाले दोष

आत्मा त्यक्तः परं शास्त्रं, एको निर्यापको यदि।
असमाधेर्मृतिर्व्यक्ते, यमसौ दुर्गतिः परा ॥७०३॥

अर्थ - यदि एक निर्यापक होता है तो उस निर्यापक द्वारा स्वय की आत्मा का, क्षपक का और प्रवचन का भी त्याग हो जाता है। क्षपक का भी असमाधि पूर्वक मरण होता है जिससे उसकी दुर्गति होती है ॥७०३॥

भिक्षाद्यविदधानेन, क्षपक-प्रतिकर्मणा।
अनारतं प्रसक्तेन, स्वस्त्यक्तोऽन्यो विपर्ययः ॥७०४॥

अर्थ - क्षपक का कार्य करते रहने से निर्यापक भिक्षाग्रहण, निद्रा एव मल-मूत्र त्याग नहीं कर सकता अत· वह आत्मा का त्याग करता है, क्योंकि भोजनादि न कर पाने से निर्यापक को कष्ट होता है और यदि निर्यापक आहारादि के लिए जाता है या सोता है तो क्षपक की सेवा न हो पाने से उसका त्याग होता है ॥७०४॥

स्वस्यापरस्य वा त्यागे, यतिधर्मो निराकृतः।
ततः प्रवचन-त्यागो, ज्ञान-विच्छेदको मतः ॥७०५॥

अर्थ - इस प्रकार निर्यापक का स्वय का अथवा क्षपक का त्याग होने से मुनिधर्म का नाश होगा और मुनिधर्म के नाश से प्रवचन अर्थात् आगम का नाश होगा, क्योकि मुनि के अभाव में शास्त्रों का उपदेश कौन देगा? और शास्त्रों को कण्ठाग्र कौन करेगा ? ॥७०५॥

प्रश्न - निर्यापक और क्षपक के अभाव मे मुनिधर्म का नाश और मुनिधर्म के नाश से प्रवचन का नाश क्यो हो जावेगा ?

उत्तर - यतिजनो के दो धर्म प्रधान है। वैयावृत्त्य करना और षडावश्यको का पालन करना। एक क्षपक के साथ यदि एक ही निर्यापक होता है तो यति के दोनो धर्मों का नाश हो जाता है, कारण कि यदि यति अपने षडावश्यको का पालन करता है तो क्षपक की वैयावृत्त्य नहीं कर सकता और यदि वैयावृत्त्य करता है तो षड़ावश्यक नहीं कर सकता। तथा उपवास आदि हो जाने के कारण यदि निर्यापक का मरण हो जाता है तो नियमत ज्ञान का भी व्युच्छेद हो जाता है।

क्षपकस्यात्मनो वास्ति, त्यागतो व्यसनं परम्।
भवेत्ततोऽसमाधानं, क्षपकस्यात्मनोऽपि वा ॥७०६॥

अर्थ - क्षपक को त्यागने पर क्षपक को महाकष्ट होता है क्योकि उसे कोई शान्ति देने वाला या प्रतिकार करने वाला नहीं होता। अथवा निर्यापक के निज के त्याग से निर्यापक को महाकष्ट होता है, क्योकि आहारादि को न जा पाने से निर्यापक का चित्त व्याकुल हो जाता है। इस प्रकार दोनों की असमाधि होती है ॥७०६॥

क्षुधादि-पीडितः शून्ये, सेवते याचते यतः।
क्षपकः किञ्चनाकल्पं, दुर्मोचमयशस्ततः ॥७०७॥

अर्थ - यदि एक ही निर्यापक है और वह आहारादि के लिए बाहर गया तो उसके अभाव में भूखादि की वेदना के वशीभूत हुआ क्षपक कुछ भी अयोग्य पदार्थों का सेवन कर लेगा। या अयोग्य कार्य कर बैठेगा। या मिथ्यादृष्टियों के पास जाकर आहारादि की याचना करेगा, इससे क्षपक की, निर्यापक की एव धर्म की महान् अपकीर्ति होगी ॥७०७॥

यतोऽसमाधिना-मृत्युं, याति निर्यापकं विना।
क्षपको दुर्गतिं भीमां, दु:खदां लभते तत: ॥७०८॥

अर्थ - समीप में निर्यापक न होने से क्षपक समाधि के बिना मरण को प्राप्त होता है और उस असमाधिमरण से अशुभ ध्यानवश भयानक दुख देने वाली दुर्गति में चला जाता है ॥७०८॥

समाधि की सूचना प्राप्त होने पर अन्य साधुओं का कर्त्तव्य

चतुर्विधस्य संघस्य, कश्चन प्रेषयेत्तत:।
संन्यास-सूचकाचार्यो, निर्यापकगणेशिना ॥७०९॥

श्रुत्वा सल्लेखनां सर्वैरागन्तव्यं तपोधनै:।
कारितां शुद्धवृत्तेन, भजनीयमतोन्यथा ॥७१०॥

अर्थ - क्षपक के समाधिमरण धारण करने की सूचना देने वाले कोई आचार्य चतुर्विध सघो मे सूचना भेजते हैं, तब रत्नत्रय का निर्दोषरीत्या पालन करने वाले निर्यापकाचार्य द्वारा क्षपक की सल्लेखना हो रही है यह सुनकर सब यतियो को वहाँ आना चाहिए। किन्तु यदि निर्यापकाचार्य शिथिल चारित्र वाला है तो अन्य यतिजन क्षपक के निकट आवे अथवा न भी आवे, भजनीय है ॥७०९-७१०॥

भक्तिपूर्वक सल्लेखनारत क्षपक के दर्शन का फल

एति सल्लेखना-मूलं, भक्तितो यो महामना:।
स नित्यमश्नुते स्थान, भुक्त्वा भोग-परम्परा: ॥७११॥

अर्थ - इस प्रकार जो महामना यति तीव्र भक्तिराग से सल्लेखना के स्थान पर आकर क्षपक के दर्शन करते हैं, वे स्वर्ग की भोग-परम्परा को भोग कर शाश्वत मोक्षस्थान को प्राप्त कर लेते हैं ॥७११॥

समाधि पूर्वक मरण करने का फल

एकत्र जन्मनि प्राणी, म्रियते य: समाधिना।
अकल्मष: स निर्वाण, सप्ताष्टैर्लभते भवै: ॥७१२॥

अर्थ - जो क्षपक एक भव मे निर्दोष रीत्या समाधिमरण कर लेता है वह सात-आठ भवो मे ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है ॥७१२॥

समाधिमरण न देखने का फल

यो नैति परया भक्त्या, श्रुत्वोत्तमार्थ-साधनम्।
उत्तमार्थ-मृतौ तस्य, जन्तोर्भक्ति: कुतस्तनी ॥७१३॥

अर्थ - "क्षपक उत्तमार्थ समाधि का साधन कर रहे हैं" ऐसा सुन कर भी जो मुनिजन तीव्र भक्ति से उत्कण्ठित होते हुए, क्षपक के दर्शनार्थ नहीं आते उन जीवों की समाधिमरण में क्या भक्ति हो सकती है? ॥७१३॥

उत्तमार्थ-मृतौ यस्य, भक्तिर्नास्ति शरीरिणः।
उत्तमार्थ-मृतिस्तस्य, मृतौ सम्पद्यते कुतः? ॥७१४॥

अर्थ - जिस जीव की उत्तमार्थ मरण मे भक्ति नहीं है, मरते समय उसका समाधिपूर्वक मरण कैसे हो सकता है? ॥७१४॥

प्रश्न - समाधिपूर्वक मरण किसका होता है?

उत्तर - जो जीव सल्लेखना रत क्षपक की हृदय से वैयावृत्त्य करते हैं, उनके दर्शन करते हैं, हाथों से सेवा करते हैं, भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करते हैं और हर्षोल्लास पूर्वक अनुमोदना करते हैं, उनका मरण सल्लेखना पूर्वक ही होता है। किन्तु जो इसकी उपेक्षा करते है, उनका मरण समाधिपूर्वक नहीं होता है।

क्षपक के प्रति अन्य कर्त्तव्य

तस्यासंवृत-वाक्यानां न पार्श्वे देयमासितुम्।
वचनैरसमाधानं, तदीयैर्जायते यतः ॥७१५॥

अर्थ - वचनगुप्ति और भाषासमिति से रहित कलकल वचन, लोकविरुद्ध वचन और निरर्गल आदि वचन बोलने वाले लोगो को क्षपक के समीप नहीं जाने देना चाहिए, क्योकि मर्यादा रहित वचन सुनकर क्षीणकाय क्षपक को अशान्ति हो सकती है। अर्थात् उसकी समाधि मे बाधा हो सकती है ॥७१५॥

गीतार्थैरपि नो कृत्या, स्त्री-सक्तार्थादिका कथा।
आलोचनादिकं कार्यं, तत्राति-मधुराक्षरम् ॥७१६॥

अर्थ - आगमार्थ के ज्ञाता मुनियो को भी क्षपक के समीप स्त्रियों मे आसक्ति की कारणभूत कुकथाएँ नहीं करनी चाहिए। आलोचनादि की धर्मवर्धक कथा अति मधुर वाणी से करनी चाहिए ॥७१६॥

क्षपक के लिए आचार्य ही प्रमाण है

प्रत्याख्यानोपदेशादौ, सर्वत्रापि प्रयोजने।
क्षपकेण विधातव्यः, प्रमाणं सूरिराश्रितः ॥७१७॥

अर्थ - प्रत्याख्यान, उपदेश एव प्रतिक्रमण आदि प्रयोजनभूत कार्यों मे क्षपक को निर्यापकाचार्य ही प्रमाण होते हैं। अर्थात् उसे उनकी आज्ञानुसार ही समस्त कार्य करने चाहिए ॥७१७॥

क्षपक को कुल्ले आदि कराना चाहिए

तेन तैलादिना कार्या, गण्डूषाः सन्त्यनेकशः।
जिह्वा-वदन-कर्णादे-र्नैर्मल्यं जायते ततः ॥७१८॥

अर्थ - आहारत्याग के बाद कृशकाय क्षपक को तेल एव त्रिफला आदि से अनेक बार कुल्ले कराने चाहिए और कान मे तेल डालते रहना चाहिए। इससे मुख, जीभ और कर्ण आदि साफ रहते हैं तथा बोलने और सुनने की शक्ति बनी रहती है॥७१८॥

उपजाति छन्द

भवन्ति येषां गुणिनः सहाया, विघ्नं विना ते ददते समाधिम्।
समाधिदानोद्यत-मानसैस्ते, ग्राह्याः प्रयत्नेन ततो गणेन्द्राः॥७१९॥

इति निर्यापकाः॥

अर्थ - जिनके गुणवान मुनि सहायक होते हैं, वे सहायक क्षपक को बिना विघ्न-बाधा के समाधि देते हैं अर्थात् उत्तम रीति से उनकी समाधि करा देते हैं, अत समाधिदान मे उद्यत मन वाले मुनियो द्वारा प्रयत्न पूर्वक निर्यापकाचार्य ग्रहण करना चाहिए॥७१९॥

इति निर्यापक अधिकार समाप्त॥२७॥

२८. प्रकाशनाधिकार

निर्यापकाचार्य द्वारा आहार प्रकाशन आवश्यक है

अप्रकाश्य त्रिधाहारं, त्याज्यते क्षपको यदि।
तदोत्सुकः स कुत्रापि, विशिष्टे जायतेऽशने॥७२०॥

अर्थ - अन्न, स्वाद्य एव लेह्य इन तीन प्रकार के आहारो को दिखाये बिना यदि क्षपक से इनका त्याग कराया जाता है तो उस समाधिस्थ क्षपक की किसी विशिष्ट आहार मे उत्सुकता अर्थात् इच्छा बनी रह सकती है॥७२०॥

ततः कृत्या मनोज्ञानामाहाराणां प्रकाशना।
सर्वथा कारयिष्याति, विविधाहार-मोचनम्॥७२१॥

अर्थ - अत उत्तम-उत्तम मनोज्ञ भोजन अलग-अलग पात्रो मे रखकर निर्यापकाचार्य द्वारा क्षपक को दिखाने चाहिए। पश्चात् सर्वथा अर्थात् यावज्जीवन के लिए तीनो प्रकार के आहार का त्याग कराना चाहिए॥७२१॥

कश्चिद्-दृष्ट्वा तदेतेन, तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः, संवेगमवगाहते॥७२२॥

अर्थ - ऐसे उत्कृष्ट आहार को देखकर विचार करता है कि अहो ! ''आयु का किनारा जिसका आ चुका है ऐसे मुझे अब इस मनोज्ञ आहार से क्या प्रयोजन है ? मुझे इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए''। इस प्रकार वैराग्य भावना वाला वह क्षपक ससारभीरुता को प्राप्त हो जाता है॥७२२॥

आस्वाद्य कश्चिदेतेन, तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः, संवेगमवगाहते ॥७२३॥

अर्थ - कोई क्षपक दिखाये गये आहार का स्वादमात्र लेकर "मरण को प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहार से क्या"? ऐसे विचारों द्वारा विरक्त होकर सवेगतत्पर होता है। अर्थात् ससार से भयभीत हो जाता है॥७२३॥

अशित्वा कश्चिदंशेन, तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः, संवेगमवगाहते ॥७२४॥

अर्थ - कोई क्षपक उक्त आहार को थोडा खाकर "मरण को प्राप्त होने वाले मुझे अब इस मनोज्ञ आहार से क्या प्रयोजन"? ऐसा विचार कर वैराग्य को प्राप्त होता हुआ सवेग का अवगाहन करता है॥७२४॥

वल्भित्वा सर्वमेतेन, तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः, संवेगमवगाहते ॥७२५॥

अर्थ - कोई क्षपक उस मनोज्ञ आहार को पूर्णतया खाकर "मुझे अथवा मेरी इस आहार-वाछा को बार-बार धिक्कार है। मरण को प्राप्त होने वाले मुझे अब इस मनोज्ञ आहार से क्या प्रयोजन है" ऐसा विचार कर विरक्त हो ससार के भय से मुक्त होने मे तत्पर होता है॥७२५॥

वल्भित्वा सुन्दराहारं, रसास्वादन-लालसः।
कश्चित्तमनुबध्नाति, सर्वं देशं च गृद्धितः ॥७२६॥

इति प्रकाशनम्।

अर्थ - कोई क्षपक मुनि उस सुन्दर और मिष्ट आहार को पूर्णरूप से खाकर भी तृप्त नहीं होते। रस के आस्वादन मे आसक्त वे उक्त आहार को एकदेश या पूर्ण रूप से गृद्धता के कारण पुन·पुन चाहते हैं। अर्थात् आहार की वाछा के कारण त्याग नहीं कर पाते॥७२६॥

प्रश्न - यहाँ ये गाथाएँ क्यो कही गई हैं ?

उत्तर - यदि बार-बार सतत मनोज्ञ भोजन आदि का क्रम चलता रहे तो उससे मनुष्य की अभिलाषा वृद्धिंगत होती रहती है, जो भयकर कर्मबन्ध का कारण है। इस कर्मबन्ध के कारण प्राणी ससार-समुद्र में पड़े-पड़े दुख भोगते रहते हैं। इस दुख से छूटने का अमोघ उपाय है समाधिमरण, और समाधिमरण की साधना के लिए कषायो के साथ-साथ आहार का त्याग अत्यावश्यक है। आहारत्याग अतिदुष्कर कार्य है इसीलिए इसे त्यागने की उत्कृष्ट अवधि बारह वर्ष कही गई है। बारह वर्ष के कठोर तपश्चरण के अभ्यास से क्षपक इस दुष्कर कार्य को सम्पन्न करने में सक्षम हो जाता है, फिर भी तीन प्रकार के आहारत्याग के पहले उसे मनोज्ञ आहार दिखाना आवश्यक है, इस आहार-प्रकाशन से क्षपक के परिणामो की यथार्थ परीक्षा हो जाती है। इसी परीक्षा की सिद्धि के लिए सम्भवत· ये गाथाएँ यहाँ प्रयोजनभूत हैं।

इस प्रकार प्रकाशन नाम का अधिकार समाप्त ॥२८॥

२९. हानि अधिकार

आहार-आसक्ति से होने वाली हानि

कुरुते देशनां सूरिरायापाय-विशारदः।
निराकर्तुं मनःशल्यं, सूक्ष्मं निर्यापयन्नमुम् ॥७२७॥

अर्थ - इस प्रकार आहार में आसक्ति होने पर निर्यापकाचार्य उस क्षपक के मन से सूक्ष्म शल्य को निकालने के लिए असयम की प्राप्तिरूप आय एव इन्द्रियसयम के विनाशरूप अपाय को समझाते हुए विशेष रूप से दिव्य उपदेश देते हैं। अर्थात् क्षपक को प्रसन्न करते हुए उसकी शान्ति को वृद्धिंगत करने वाला उपदेश देते हैं॥७२७॥

प्रश्न - क्षपक के मन मे सूक्ष्म मन शल्य कौनसी है, आय-अपाय किसे कहते हैं और आचार्य उस शल्य को कैसे निकालते हैं?

उत्तर - आहारासक्त क्षपक के मन मे उस आहार की अभिलाषा सम्बन्धी सूक्ष्म शल्य रह सकती है। असयम की प्राप्ति को आय और इन्द्रियसयम के विनाश को अपाय कहते है।

आहार की गृद्धता या आसक्ति से इन्द्रियसयम की हानि और असयम की वृद्धि होती है। अत आचार्य उस क्षपक को समझाते हैं कि-हे क्षपक ! ऑखो से अन्धा मनुष्य केवल पदार्थो को नहीं देख पाता, परन्तु वह विवेक से रहित नहीं होता, किन्तु विषयाध मनुष्य अन्धे से भी महान् अन्धा है क्योकि वह हेय, उपादेय को भी नहीं जानता। जिस साधु ने अपनी इन्द्रियों को तप के ताव मे नही रखा, वह साधु अपने आत्मसिद्धिरूप कार्य को कदापि सिद्ध नहीं कर सकता, अत अब आयु की अन्तबेला मे आहारासक्ति का त्याग करो और मन को वश मे रखो। इस प्रकार का हितकारी उपदेश देकर आचार्य क्षपक की शल्य निकाल देते हैं।

कश्चिदुद्धरते शल्यं, क्षिप्रमाकर्ण्य देशनाम्।
करोति संसृतित्रस्तः, सूरीणां वचसा न किम् ॥७२८॥

अर्थ - वैराग्य का उपदेश सुन कर कोई क्षपक शीघ्र ही उस आहार-वाछा को त्याग देता है और ससार से भयभीत हो उठता है। ठीक है ! आचार्य के वचनो द्वारा क्या-क्या हित नहीं होता ! अर्थात् सब प्रकार का हित होता है॥७२८॥

प्रश्न - क्षपक इतनी आसक्ति का त्याग कैसे कर देता है ?

उत्तर - वैराग्यवर्धक उपदेश सुनने के बाद क्षपक का विवेक जाग्रत हो जाता है और वह सोचता है कि अहो ! इस आहार की आसक्ति के कारण ही मैंने अतीत काल मे अनन्त दुख उठाये हैं, अब भी यदि इस आसक्ति को नहीं छोड़ूँगा तो भव-भव मे पुन वही दुख उठाने पडेगे। इस प्रकार के चिन्तन से वह भयभीत हो उठता है और उसकी शल्य निकल जाती है।

समाधानीयतो गृध्नोः, संत्याज्य सकल गणी।
एकैकं हापयन्नैवं, प्रकृते दधते शनैः ॥७२९॥

अर्थ - समाधि के इच्छुक एव सरस आहार की गृद्धता से युक्त उस क्षपक के सकल आहार में से एक-एक आहार का त्याग कराते हुए वे आचार्य उसे क्रमशः प्रकृत आहार में धीरे-धीरे स्थापित कर देते हैं ॥७२९॥

प्रश्न - "प्रकृत आहार में स्थापित कर देते हैं" इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर - इसी ग्रन्थ की गाथा २५५-२५६ मे कहा गया है कि भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। इन बारह वर्षों में से प्रथम चार वर्ष कायक्लेश तप करे, पश्चात् चार वर्षों मे दूधादि रसों का त्याग करे, इसके आगे दो वर्ष आचाम्ल और निर्विकृति आहार करे, पश्चात् एक वर्ष मात्र आचाम्ल आहार करे, छह माह मध्यम तप करे और अन्तिम के छह मासों में उत्कृष्ट तप करे। इस विधानानुसार उसका सरस एव मिष्टाहार तो कई वर्ष पूर्व छूट चुका था। यहाँ तीन प्रकार का आहार त्याग कराना है, वह क्षपक कई वर्षों से निर्विकृत और आचाम्ल आहार कर रहा था। उसकी किसी आहार विशेष मे गृद्धता या वाछा न रह जावे, इस हेतु से उसे सरस और मिष्टाहार दिखाया गया था। गृद्धता उत्पन्न हो जाने पर उसे वह आहार करा कर सन्तुष्ट किया गया। पश्चात् शनै -शनै. क्रमश· एक-एक वस्तु का त्याग कराते हुए मिष्टाहार-प्रदर्शन के पूर्व वह क्षपक जो आचाम्लादि आहार ले रहा था अन्त मे वहीं आ जाता है। प्रकृताहार मे स्थापन करने की आगमसम्मत यही प्रक्रिया है। इसके पश्चात् तीनो प्रकार के आहार का त्याग कराया जाता है।

क्रमेण वैराग्य-विधौ नियुक्तो, निरस्य सर्वं क्षपकस्ततोऽन्नम्।
आराधना-ध्यान-विधान-दक्षैः, स पानकैर्भावयते श्रुतोक्तौ ॥७३०॥

इति हानिः ॥

अर्थ - पुन वैराग्यविधि मे स्थापित किया गया क्षपक क्रमश सब प्रकार के अन्नाहार का त्याग करता है। आराधना तथा ध्यान के विषय मे प्रवीण आचार्य उस क्षपक को शास्त्रोक्त पेय पदार्थो द्वारा भावित करते हैं। अर्थात् उस समय क्षपक सर्वान्न-आहार का त्याग करने और मात्र पानकाहार करने मे आपको उद्युक्त करता है ॥७३०॥

इस प्रकार हानि नामक अधिकार पूर्ण हुआ ॥२९॥

३०. प्रत्याख्यान अधिकार

पानक के भेद

लेपालेप-घन-स्वच्छ-सिक्थासिक्थ-विकल्पतः।
पानकर्मोचितं पानं, षोढेदं कथितं जिनैः ॥७३१॥

अर्थ - लेप, अलेप, घन, सिक्थ, असिक्थ और स्वच्छ, इस प्रकार पानक आहार छह प्रकार का है। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥७३१॥

प्रश्न - इन छह प्रकार के पानकाहार के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - हाथों में चिपकने वाला दधि एवं इमली आदि फलों का रस **लेप** पान, हाथों में नहीं चिपकने वाला मांड आदि **अलेप** पान, गाढ़ा पानक **घन** पान, चावल के कणों से युक्त माड **सिक्थ** पान, कणों से रहित माँड **असिक्थ** पान और मात्र गर्म जल **स्वच्छ** पान है। इनमे से क्षपक को यथावसर यथा-योग्य पानक दिये जाते हैं। स्वच्छ पानक अन्त में दिया जाता है।

आचाम्ल पानक के गुण

आचाम्लेन क्षयं याति, श्लेष्मा पित्तं प्रशाम्यति।
परं समीर-रक्षार्थं, प्रयत्नोऽस्य विधीयताम्॥७३२॥

अर्थ - आचाम्ल पानक से कफ का क्षय होता है, पित्त शान्त होता है और वात से रक्षा होती है, अत आचाम्ल के सेवन का प्रयत्न करना चाहए॥७३२॥

क्षपक के पेट की शुद्धि आवश्यक है

ततोऽसौ भावित: पानैर्जाठरस्य विशुद्धये।
मलस्य मधुरं मन्दं, पायनीयो विरेचनम्॥७३३॥

अर्थ - पानक का सेवन करने वाले क्षपक को पेट के मल की शुद्धि के लिए तथा मल का विरेचन करने के लिए मन्द एव मधुर पानक पिलाना चाहिए॥७३३॥

अनुवासादिभिस्तस्य, शोध्यो वा जाठरोमल:।
अनिरस्तो यत: पीड़ां, महतीं विदधाति स:॥७३४॥

अर्थ - अनुवासन (अनीमा) और गुदाद्वार में नमक आदि की बत्ती लगा कर तथा बिल्व पत्तो से क्षपक के पेट को सेक कर उदर के मल की शुद्धि करते रहना चाहिए, क्योकि यदि प्रयासपूर्वक पेट का मल न निकाला जायेगा तो बड़ी पीडा होगी॥७३४॥

निर्यापकाचार्य द्वारा त्रिधाहार त्याग की सूचना

आराधकस्त्रिधाहारं, यावज्जीवं विमोक्षति।
निवेद्यमिति संघस्य, निर्यापकगणेशिना॥७३५॥

अर्थ - निर्यापकाचार्य सघ से निवेदन करते हैं कि अब यह आराधक क्षपक जीवन पर्यन्त के लिए अशन, खाद्य और स्वाद्य इन तीनो प्रकार के आहार का त्याग करता है॥७३५॥

क्षपको वाऽखिलांस्त्रेधा, नि:शल्यीभूत-मानस:।
क्षान्त: क्षमयते भक्ता: क्षमागुण विचक्षण:॥७३६॥

अर्थ - शान्तस्वभावी आचार्य सघ से कहते हैं कि आप सब भक्त हैं। नि शल्य मन वाला एव विचक्षण क्षमागुण से युक्त यह क्षपक मन, वचन, काय पूर्वक आप सबसे क्षमा मागता है॥७३६॥

प्रश्न - आचार्य इसका द्योतन कैसे करते है कि क्षपक आप सबसे क्षमा माँग रहा है ?

उत्तर - तीन प्रकार के आहार-त्याग के बाद क्षपक सकल सघ से क्षमा माँगना चाहता है किन्तु क्षीणकाय होने से सबके समीप जा नहीं सकता अत सघ को क्षपक के क्षमाभाव की प्रतीति कराने हेतु आचार्य उसकी पीछी ब्रह्मचारी के हाथ मे देकर सर्व सघ की वसतिकाओं मे दिखा कर कहते हैं कि यह क्षपक त्रिकरण शुद्धिपूर्वक आप सबसे क्षमा माँगता है।

सघ का करणीय कर्त्तव्य

आराधनास्य निर्विघ्ना, सम्यक् सम्पद्यतामिति।
स याति सकलः संघस्तनूत्सर्गमसंभ्रमम् ॥७३७॥

अर्थ - इस क्षपक की आराधना समीचीनरूप से सम्पन्न हो, कोई विघ्न न आवे, इस भावना से सकल सघ शान्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करता है॥७३७॥

चतुर्विध आहार-त्याग की विविधता

तं चतुर्विधमाहारमाचार्यो विधि-कोविदः।
मध्ये सर्वस्य संघस्य, स प्रत्याख्यानयेत्ततः ॥७३८॥

अर्थ - क्षपक की क्षमायाचना के बाद सर्वविधि मे कुशल आचार्य सर्वसघ के मध्य मे उस क्षपक को चारो प्रकार के आहार का त्याग कराते हैं॥७३८॥

त्रिविधं वा परित्याज्यं, पानं देयं समाधये।
अवसाने पुनः पानं, त्याजनीयं पटीयसा॥७३९॥

अर्थ - अथवा चित्त की एकाग्रता के लिए पहले तीन प्रकार के आहार का त्याग कराना चाहिए और पेयाहार देना चाहिए। कुशल आचार्य को अन्त अवस्था में पेयाहार का भी त्याग करा देना चाहिए॥७३९॥

प्रश्न - पूर्व गाथा में चतुर्विध आहार-त्याग की बात कह कर इस गाथा में तीन प्रकार के आहार का त्याग कर पेयाहार देने का आदेश (अथवा कह कर) क्यो दिया गया है ?

उत्तर - पूर्व गाथा मे चतुर्विधाहार-त्याग की बात उस क्षपक की दृष्टि से कही गयी है जो कठिन परीषह की बाधा को सहन करने मे समर्थ है। जो इसमे समर्थ नहीं है उसे पेयाहार देना चाहिए और अन्त मे उस पेय का त्याग कराना चाहिए। ऐसा इस गाथा का अभिप्राय है।

पानकाहार शान्ति रूपी रत्न देने में समर्थ है

यन्निर्दिष्टं पानकर्माधिकारे, दातुं शक्तं तत्समाधान-रत्नम्।
षोढा पान युज्यते तस्य पातुं, त्रेधाहारं त्यागकाले पवित्रम्॥७४०॥

इति प्रत्याख्यानम्॥

अर्थ - पानक क्रिया अधिकार मे जो छह प्रकार का पानक कहा गया है वह क्षपक द्वारा तीन प्रकार का आहार त्याग कर देने के बाद पिलाना चाहिए, क्योकि वह पवित्र पानक क्षपक की व्याकुलता को दूर करके उसे शान्ति रूपी रत्न देने मे समर्थ होता है॥७४०॥

प्रत्याख्यान नामक अधिकार समाप्त॥३०॥

३१. क्षामण-अधिकार

क्षपक द्वारा सर्व संघ से क्षमायाचना

आचार्येऽध्यापके शिष्ये, सङ्घे साधर्मिके कुले।
योऽपराधो भवेत्त्रेधा, सर्वं क्षमयते स तम् ।।७४१ ।।

अर्थ - त्रिधा आहार-त्याग के बाद आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी, कुल एव गण के प्रति जो-जो अपराध तथा कषायभाव हुए है उनकी वह क्षपक मन, वचन और काय से क्षमायाचना करता है।।७४१ ।।

मूर्धन्यस्त-कराम्भोजो, रोमाञ्चाञ्चित-विग्रहः।
त्रिधा क्षमयते सर्वं, संवेग जनयन्नसौ ।।७४२ ।।

अर्थ - दोनों हाथों की अजुलि मस्तक पर रखी है जिसने ऐसा रोमाचयुक्त एव सवेगभाव को प्रगट करता हुआ क्षपक सर्व सघ से मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक क्षमायाचना करता है।।७४२ ।।

प्रश्न - क्षपक का शरीर रोमाचित क्यों हो जाता है ?

उत्तर - ''मुमुक्षु के जो-जो कर्त्तव्य होते हैं वे सब मैं कर चुका हूँ'' इन विचारो से क्षपक का चित्त अत्यन्त आह्लादित हो रहा है, अत धर्मानुराग की प्रगटता से अर्थात् हर्ष से शरीर रोमाचित हो जाता है।

योऽपराधो मयाकारि, मनसा वपुषा गिरा।
क्षमये तमहं सर्वं, निःशल्यीभूत-मानसः ।।७४३ ।।

अर्थ - क्षपक सघ से कहता है कि भो मुनिगण! मेरे द्वारा मन, वचन और काय से जो भी अपराध हुए हैं उन सब अपराधो की मै नि शल्य होकर क्षमा माँगता हूँ।।७४३ ।।

मम पितृ-जननी-सदृशः शश्वत्त्रिभुवन-महितः सुयशाः सङ्घः।
प्रिय-हित-जनकः परमां क्षान्तिं, रचयत-कृतवानहमक्षान्तिम् ।।७४४ ।।

इति क्षामणा।

अर्थ - अहो! यह सघ मेरे माता-पिता तुल्य है, सदा ही त्रिभुवन मे पूज्य है, यशस्वी है तथा प्रिय एव हित को उत्पन्न करने वाला है, ऐसे आप सभी की मैंने शान्ति भग की है। मैं सर्व सघ से क्षमायाचना करता हूँ, सर्व सघ मुझे क्षमा प्रदान करे। मैं भी आप सबके अपराधो को भूल गया हूँ। इस प्रकार क्षपक द्वारा महान् विशुद्धि को करने वाली क्षमायाचना की जाती है।।७४४ ।।

इस प्रकार क्षामण अधिकार समाप्त हुआ ।।३१ ।।

३२. क्षपण अधिकार

क्षपक और परिचारकों की कर्मनिर्जरा

क्षपयित्वेति वैराग्यमेष स्पृशन्ननुत्तमम्।
तपः समाधिमारूढश्चेष्टते क्षपयन्नघम् ।।७४५।।

अर्थ - इस प्रकार सर्व सघ को क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्य को धारण कर तप और समाधि में लीन हुआ क्षपक पाप कर्मों की निर्जरा करने में प्रयत्नशील रहता है।।७४५।।

अप्रमत्ता-गुणाधारा:, कुर्वन्त: कर्मनिर्जराम्।
अनारतं प्रवर्तन्ते, व्यावृत्तौ परिचारका: ।।७४६।।

अर्थ - जो गुणों के खजाना हैं और प्रमाद रहित हैं, बिना थके अहर्निश सेवा में तत्पर ऐसे निर्यापक मुनिगण वैयावृत्य द्वारा अपने कर्मों की भारी निर्जरा करते हैं।।७४६।।

यज्जन्म-लक्ष-कोटीभिरसंख्याभी रजोऽर्जितम्।
तत्सम्यग्दर्शनोत्पादे, क्षणेनैकेन हन्यते ।।७४७।।

अर्थ - असख्यातलक्ष-कोटि जन्मो द्वारा जो कर्म अर्जित होता है वह सब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर एक क्षण में नष्ट हो जाता है।।७४७।।

धुनीते क्षणत: कर्म-सञ्चितं बहुभिर्भवै:।
व्यावृत्तौऽन्यतमे योगे, प्रत्याख्याने विशेषत: ।।७४८।।

अर्थ - बारह प्रकार के तपो मे से जिस किसी तप मे एव वृक्षमूलादि जिस किसी योग में लीन हुआ क्षपक अनेक भवो मे सचित कर्मों को अल्पसमय में ही निर्जीर्ण कर देता है और सल्लेखनागत जीवन में जब यावज्जीव चतुराहार का त्याग कर देता है तब तो वह विशेष रूप से कर्मो की निर्जरा करता है।।७४८।।

प्रतिक्रान्तौ तनूत्सर्गे, स्वाध्याये विनये रत:।
अनुप्रेक्षासु कर्मेति, धुनीते संस्तर-स्थित: ।।७४९।।

अर्थ - इस प्रकार सस्तरारूढ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओ के चिन्तनादि मे से जिस किसी मे तल्लीन हो जाने पर कर्मों की निर्जरा करता है।।७४९।।

छन्द प्रहरणकलिता

अनशन-निरते तनुभृति सकलं, भवभय-जनकं विगलति कलिलम्।
अनुहिमकिरणे ह्युदयति तरणौ, कमल-विकसने च घनमिव तम: ।।७५०।।

अर्थ - जैसे चन्द्रमा के पीछे कमलों के विकास का कारण ऐसे सूर्य के उदित होने पर गाढ़ भी अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही क्षपक के अनशनतप मे उद्यत हो जाने पर अर्थात् यावज्जीव चतुराहार का त्याग कर देने पर ससार का भय उत्पन्न करने वाला समस्त पाप कर्म नष्ट हो जाता है।।७५०।।

इस प्रकार क्षपणनामा-अधिकार समाप्त हुआ।।३२।।

(७)

अनुशिष्टि-महाधिकार

३३ अनुशिष्टि अधिकार

क्षीणकाय एव क्षीणशक्ति क्षपक के प्रति निर्यापकाचार्य का उपदेश

निर्यापको गणी शिक्षां, संस्तर-स्थाय यच्छति।
कुर्वन्-संवेग-निर्वेदौ, कर्णे जपमथानिशम्॥७५१॥

अर्थ - निर्यपकाचार्य सस्तरारूढ क्षपक को आगमानुसार शिक्षा-उपदेश देते हैं। उस शिक्षा द्वारा क्षपक को ससार से भय और वैराग्य उत्पन्न करा कर पश्चात् उसके कान मे सतत जाप सुनाते हैं॥७५१॥

अनुशिष्टं न चेद्दत्ते, क्षपकाय गणाग्रणीः।
त्यजेदाराधनादेवीं, तदानीं सिद्धि संफलीम्॥७५२॥

अर्थ - यदि निर्यापकाचार्य क्षपक को उपदेश न देगे तो वह क्षपक मोक्षफल देने वाली आराधना देवी को छोड़ देगा अर्थात् शिक्षा के अभाव मे क्षपक समाधि से च्युत हो जायेगा॥७५२॥

शोधयित्वोपधिं शय्यां, वैयावृत्य-करानपि।
निःशल्यीभूय सर्वत्र, साधो! सल्लेखनां कुरु॥७५३॥

अर्थ - हे क्षपक! नि शल्य होकर तथा वैयावृत्य करने वालो का, वसतिका एव सस्तर का तथा पीछी आदि उपधि का शोधन करके अब सल्लेखना करो॥७५३॥

प्रश्न - नि शल्य बनने का क्या उपाय है, वैयावृत्य का क्या लक्षण है तथा वैयावृत्य करने वालो का और वसतिका आदि का शोधन कैसे करना चाहिए ?

उत्तर - मिथ्या, माया और निदान, ये तीन शल्य हैं। इनमे से तत्त्वार्थ-श्रद्धान द्वारा मिथ्या शल्य को, सरलता द्वारा माया शल्य को तथा भोगो की निस्पृहता द्वारा निदान शल्य को दूर करके नि शल्य हो जाना चाहिए। मिथ्याज्ञान, असयम, परीषह, उपसर्ग और व्याधि आदि के भेद से नाना प्रकार की आपदाओ को विपदा कहते हैं। उस विपदा के आने पर उसके प्रतिकार करने को वैयावृत्य कहते हैं। जो इस प्रकार से क्षपक की वैयावृत्य करते हैं वे वैयावृत्य करने वाले कहलाते हैं। इनके शोधन हेतु क्षपक यह देखे कि वैयावृत्य करने वाले मुनिगण सयम और असयम को जानते हैं या नहीं? वे मन-वचन-काय से असयम का परिहार करते हैं या नहीं ? यह परीक्षा करके अयोग्य को हटा कर योग्य को रखना, यही वैयावृत्य करने वालो का शोधन है। पूर्वाह्न एव अपराह्न मे वसति, सस्तर एव उपकरणो का शोधन करो। ऐसी आज्ञा देने को उपधि शुद्धि कहते हैं।

आचार्यदेव क्षपक को कहते हैं कि आप इस प्रकार की शुद्धि करो। अब आपका मरण निकट है।

मिथ्यात्व-वमनं दृष्टि-भावनां भक्तिमुत्तमाम्।
रतिं भाव-नमस्कारे, ज्ञानाभ्यासे कुरूद्यमम्।।७५४।।

अर्थ - हे क्षपकराज ! तुम मिथ्यात्व का वमन करो, तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व की भावना करो, पच परमेष्ठियों की उत्तम भक्ति करो, परिणाम शुद्धिरूप भाव नमस्कार मे मन लगाओ और ज्ञानाभ्यास में उद्यम करो अर्थात् श्रुतज्ञान के चिन्तन में तल्लीन रहो।।७५४।।

प्रश्न - नमस्कार कितने प्रकार का है और उनके लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - द्रव्य और भाव के भेद से नमस्कार दो प्रकार का है। जिनेन्द्रदेव को, द्वादशाग मात को, पूज्य गुरुदेव को नमस्कार हो, इत्यादि शब्दो का उच्चारण करना, मस्तक झुकाना, चरण स्पर्श करना और दोनों हाथ जोड़कर अजुलि पर मस्तक रखकर झुकाना यह सब द्रव्य नमस्कार है, और नमस्कार करने योग्य अर्हन्तादि के गुणो में अनुराग होना भाव नमस्कार है।

प्रश्न - त्रिधाहार त्यागी क्षीणकाय क्षपक सूत्ररूप मे कहे हुए मिथ्यात्व वमनादिरूप महत्त्वपूर्ण उपदेश को कैसे ग्रहण कर सकेगा ?

उत्तर - क्षपक को विस्ताररूप से समझाने हेतु आचार्यदेव स्वयं श्लोक ७५६ से ७६५ तक मिथ्यात्व वमन का, श्लोक ७६७ से ७७६ तक सम्यत्व भावना का, ७७७ से ७८५ तक भक्ति का, ७८६ से ७९२ तक नमस्कार का और ७९३ से ८०९ तक ज्ञानाभ्यास का उपदेश आगे दे रहे हैं।

मुने ! महाव्रतं रक्ष, कुरु कोपादि-निग्रहम्।
हृषीक-निर्जयं द्वेधा, तपो मार्गे कुरूद्यमम्।।७५५।।

अर्थ - हे मुने ! पच महाव्रतो की रक्षा करो, क्रोधादि कषायो का उत्कृष्ट रीत्या निग्रह करो, दुर्दान्त इन्द्रियो पर विजय को और बाह्याभ्यन्तर दोनो प्रकार के तप मार्ग मे उद्यम करो।।७५५।।

प्रश्न - क्षपक को महाव्रतादि का रक्षण कैसे करना चाहिए ?

उत्तर - आचार्यश्री आगे श्लोक ८०९ से १४२२ तक महाव्रतों के रक्षण का, १४२३ से १५१९ तक कषायनिग्रह एव इन्द्रियविजय का एव श्लोक १५१०से १५४५ तक तप मे उद्यम करने का उपदेश स्वय दे रहे हैं।

मिथ्यात्व-वमन का उपदेश

भवद्रुम-महामूलं, मिथ्यात्वं मुञ्च सर्वथा।
मोह्यते सगुणां बुद्धिं, मद्येनेव मुने ! लघु।।७५६।।

अर्थ - हे क्षपक ! मिथ्यात्व ही ससाररूपी महावृक्ष का मूल है अत इसका सर्वथा त्याग करो। क्योकि जैसे मनुष्य की बुद्धि को मद्य मोहित कर देती है, वैसे ही गुण युक्त बुद्धि को मिथ्यात्व मोहित कर देता है।।७५६।।

प्रश्न - गुणयुक्त बुद्धियाँ कितनी हैं और उनके लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - सुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहा, अपोह और तत्त्वाभिनिवेश के भेद से गुणयुक्त बुद्धि आठ प्रकार की होती है। धर्म एवं सप्ततत्त्वादि सुनने की इच्छा होना सुश्रुषा बुद्धि है। गुरु या धर्मात्मा जनों के पास जाकर धर्म सुनना श्रवण बुद्धि है। सुनते समय ही उस उपदेश को ग्रहण करना ग्रहण बुद्धि है। ग्रहण किया हुआ धर्मोपदेश हृदय मे स्थिर रखना धारण बुद्धि है। ज्ञात तत्त्व को विशेष रूप से जानना विज्ञान बुद्धि है। नय एव निक्षेप आदि द्वारा तत्त्वों की परीक्षा करना ऊहा बुद्धि है। अतत्त्व अर्थात् हेय तत्त्व से हटना अपोह बुद्धि है, और जिनेन्द्र उपदिष्ट तत्त्वो पर दृढ श्रद्धान रखना तत्त्वाभिनिवेश बुद्धि है।

प्रश्न - असयमादि से भी ससारवृद्धि होती है फिर मात्र मिथ्यात्व को ही प्रथम स्थान क्यो दिया गया है?

उत्तर - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये बन्ध के कारण हैं। बन्ध के इन कारणों मे मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया गया है और बन्ध पूर्वक ससार होता है अत ससार का मूल कारण मिथ्यात्व कहा गया है।

पिब सम्यक्त्वपीयूषं, मिथ्यात्व-विषमुत्सृज।
निधेहि भक्तितश्चिते, नमस्कारमनारतम् ॥७५७॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि हे यते ! तुम मिथ्यात्वरूपी विष को छोडकर सम्यक्त्वरूपी अमृत का पान करो। ऐसा करने से तुम्हारे चित्त मे अर्हन्तादि की भक्ति निहित हो जायेगी और पचपरमेष्ठी के नमस्कार मे मन तल्लीन हो जायेगा॥७५७॥

मिथ्यात्वमोहिताः सत्यमसत्यं जानते जनाः।
कुरङ्गा इव तृष्णार्ताः, सलिलं मृगतृष्णिकाम् ॥७५८॥

अर्थ - (सूर्य की किरणे पृथ्वी की उष्मा से मिल कर जो जल का भ्रम उत्पन्न कर देती हैं, उसे मृगतृष्णा कहते है) जैसे प्यास से पीडित मृग उस मरीचिका को ही जल मान बैठता है, वैसे ही मिथ्यात्व से मोहित जीव असत्य तत्त्व को ही सत्य मान बैठते हैं॥७५८॥

मिथ्यात्वमोहतो जन्तोर्वर कनक-मोहनम्।
दत्ते मृत्यु-सहस्राणि, प्रथमं न पर पुनः ॥७५९॥

अर्थ - मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न मोह की अपेक्षा धतूरे के सेवन से उत्पन्न मोह अर्थात् मूर्छा उत्तम है, क्योकि पहले से यानी मिथ्यात्व से उत्पन्न मोह हजारो भवो मे मृत्यु देता है, जबकि दूसरे से अर्थात् धतूरा पीने से उत्पन्न हुआ मोह भाव केवल एक बार मृत्यु देता है॥७५९॥

अनादिकाल-मिथ्यात्व-भावितो न प्रवर्तते।
सम्यक्त्वेऽयं यतस्तेन, प्रयत्नोऽत्र विधीयते ॥७६०॥

अर्थ - अनादिकाल से चले आये इस मिथ्यात्वभाव से भावित जीव सम्यक्त्व मे प्रवृत्ति नहीं करता। अर्थात् सम्यक्त्व में रत नहीं होता, इसलिए सम्यक्त्व मे प्रयत्न करना ही चाहिए॥७६०॥

प्रश्न - क्षपक के मरणकाल मे भी क्या मिथ्यात्व-त्याग का उपदेश देना योग्य है ?

उत्तर - इस जीव को अनादिकाल से इस मिथ्यात्व का ही स्वाद आ रहा था, इसलिए यह सम्यक्त्व में नहीं रम पाता, अनन्तकाल से मिथ्यात्व का अभ्यास होने से उसका त्याग करना अत्यधिक कठिन है। जैसे सर्प अपने चिर-परिचित बिल में निवारण करने पर भी प्रवेश कर जाता है, वैसे इस जीव को भी सम्यक्त्व मे दृढ़ता लाने के लिए बार-बार मिथ्यात्वत्याग का उपदेश देना अयोग्य नहीं है।

विषाग्नि-कृष्णसर्पाद्याः, कुर्वन्त्येकत्र जन्मनि।
मिथ्यात्वमावहेद् दोषं, भवानां कोटि-कोटिषु ।।७६१ ।।

अर्थ - विष, अग्नि और काला सर्पादि एक जन्म मे ही दोष उत्पन्न करते हैं, किन्तु मिथ्यात्व कोटि-कोटि भवों तक दोष करता है अर्थात् दुख देता है।।७६१ ।।

विद्धो मिथ्यात्व-शल्येन, तीव्रां प्राप्नोति वेदनाम्।
काण्डेनेव विषाक्तेन, कानने निःप्रतिक्रियः ।।७६२ ।।

अर्थ - जैसे जगल मे विषैले काँटे से विद्ध मनुष्य का कोई प्रतिकार नहीं होता अर्थात् वह मरता ही है , वैसे मिथ्यात्व नामक शल्य से बींधे गये जीव तीव्र वेदना भोगते हैं अर्थात् तत्त्वों मे अश्रद्धान करने से ससार-भ्रमण मे असह्य वेदनाएँ भोगनी पडती है।।७६२ ।।

मिथ्यात्वोत्कर्षतः सङ्घश्री-संज्ञस्य विलोचने।
गलिते प्राप्तकालोऽपि, यातोऽसौ दीर्घ-संसृतिम् ।।७६३ ।।

अर्थ - सघश्री नामक राजमन्त्री के दोनो नेत्र मिथ्यात्व के तीव्र उत्कर्ष से तत्काल फूट गये और वह मरण पश्चात् भी दीर्घससारी हुआ ।।७६३ ।।

❋ संघश्री मन्त्री की कथा ❋

आन्ध्र देश के कनकपुर नगर मे सम्यक्त्व गुण से विभूषित राजा धनदत्त राज्य करते थे। उनका सङ्घश्री नामका मन्त्री बौद्धधर्मावलम्बी था। एक दिन राजा और मन्त्री दोनो महल की छत पर स्थित थे। वहाँ उन्होने चारणऋद्धिधारी युगल मुनिराजोको जाते हुए देखा। राजा ने उसी समय उठकर उन्हे नमस्कार किया और वहीं विराजमान होकर धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की। मुनिगणो ने राजा की विनय स्वीकार कर धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर मन्त्री ने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये और बौद्ध गुरुओके पास जाना छोड़ दिया। किसी एक दिन बौद्ध गुरु ने मन्त्री को बुलाया। मन्त्री गया, किन्तु बिना नमस्कार किये ही बैठ गया। भिक्षु ने इसका कारण पूछा, तब सघश्री ने श्रावक के व्रत आदि लेनेकी सम्पूर्ण घटना सुना दी। बौद्धगुरु जैनधर्मके प्रति ईर्षासे जल उठा और बोला-''मन्त्री ! तुम ठगाये गये, भला आप स्वय विचार करो कि मनुष्य आकाश मे कैसे चल सकता है ? ज्ञात होता है कि राजा ने कोई षड्यन्त्र रचकर तुम्हे जैनधर्म स्वीकार कराया है।'' भिक्षुक की बात सुनकर अस्थिर बुद्धि पापात्मा मन्त्री ने जैनधर्म छोड दिया। एक दिन राजा ने अपने दरबार में जैनधर्म की महानता और चारणऋद्धिधारी मुनिराजों के चमत्कार सुनाये, और उस घटना को सुनानेका अनुरोध मन्त्री से भी किया।

मन्त्री बोला - "महाराज ! असम्भव है, न मैंने अपनी आँखोंसे देखा है और न इस प्रकार की बात सम्भव है।" मन्त्री की असत्य बात सुनकर राजा को बहुत विस्मय हुआ किन्तु उसी क्षण मन्त्री के दोनो नेत्र फूट गये और वह दुर्गति का पात्र बना। "जैसी करनी वैसी भरनी" के अनुसार ही उसने फल प्राप्त किया।

दुर्धर चारित्र भी मिथ्यात्व युक्त जीव का रक्षण नहीं करता

कटुकेऽलाबुनि क्षीरं, यथा नश्यत्यशोधिते।
शोधिते जायते हृद्यं, मधुरं पुष्टिकारणम् ॥७६४॥

तपो ज्ञान-चरित्राणि, समिथ्यात्वे तथाङ्गिनि।
नश्यन्ति वान्त-मिथ्यात्वे, जायन्ते फलवन्ति च ॥७६५॥

अर्थ - जैसे गूदा सहित कड़वी तूबड़ी में रखा हुआ दूध कडुवा अर्थात् नष्ट हो जाता है और उसी तूबड़ी का अन्दर का गूदा निकाल कर उसमे रखा हुआ दूध मधुर एव पुष्टिकारक होता है, वैसे ही मिथ्यात्वी जीव द्वारा धारण किये हुए तप, ज्ञान और चारित्र नष्ट हो जाते हैं तथा मिथ्यात्व का वमन कर देने वाले सम्यक्त्वी मनुष्य के तप एव ज्ञानादि फलदायक होते हैं॥७६४-७६५॥

प्रश्न - तपादि का फल क्या है ? और ये यथार्थ फल कब देते हैं ?

उत्तर - अभ्युदय और नि श्रेयस् ये दोनो प्रकार के सुख तप से ही प्राप्त होते हैं, इसलिए समीचीन तप, ज्ञान एव चारित्र मुक्ति के उपाय कहे गये हैं। समीचीन तप आदि श्रद्धा के बल से ही होते हैं, श्रद्धा के अभाव मे नहीं होते। केवल तप आदि मुक्ति का उपाय नहीं हैं, अत मिथ्यात्व को दूर कर देने वाले जीवो मे ही तप आदि सफल होते है।

विविध-दूषणकारि कुदर्शनं, लघु विमुच्य कुमित्रमिवोत्तमाः।
सकलधर्म-विधायि सुदर्शनं, सुविभजन्ति सुमित्रमिवाशनम् ॥७६६॥

इति मिथ्यात्वापोहनम्।

अर्थ - जैसे विविध दोषो को करने वाले खोटे मित्र को शीघ्र ही छोड दिया जाता है, उसी प्रकार भव्य जीव कुगति-गमनादि नाना प्रकार के दोषो को करने वाले इस मिथ्यात्व को छोड कर समस्त धर्म को करने वाले सुमित्र के सदृश इस सम्यक्त्व का ही सेवन करते हैं॥७६६॥

प्रश्न - मिथ्यात्व-त्याग के लिए इतना उपदेश क्यो दिया गया है ?

उत्तर - यहाँ ग्यारह श्लोको द्वारा मिथ्यात्व के त्याग का उपदेश इसलिए दिया गया है कि अनादिकाल से अद्यावधि जो ससार-परिभ्रमण हुआ है और आगे होगा उसका प्रमुख कारण मिथ्यात्व ही है। इससे सिद्ध होता है कि जीव का सर्वाधिक प्रबल शत्रु मिथ्यात्व ही है, अत आचार्यदेव ने जीवन के अन्त समय मे भी ऐसे कष्टप्रद मिथ्यात्व के त्याग का हृदयग्राही उपदेश दिया है।

इस प्रकार मिथ्यात्वत्याग का प्रकरण समाप्त हुआ।

सम्यक्त्व भावना

मा स्म कार्षीः प्रमादं त्वं, सम्यक्त्वे भद्र-वर्धके।
तपो-ज्ञान-चरित्राणां, सस्यानामिव पुष्करम् ।।७६७ ।।

अर्थ - जैसे मेघ धान्यों की वृद्धि करते हैं, वैसे ही सम्यक्त्व तप, ज्ञान एव चारित्र की वृद्धि करता हैं, अतः हे क्षपक ! तुम कल्याण की वृद्धि करने वाले सम्यक्त्व में किञ्चित् भी प्रमाद मत करो ।।७६७ ।।

सारं द्वारं पुरस्येव, वक्त्रस्येव विलोचनम्।
मूलं महीरुहस्येव, संज्ञानादेः सुदर्शनम् ।।७६८ ।।

अर्थ - जैसे नगर का सार गोपुरद्वार है, मुख का सार नेत्र हैं और वृक्ष का सार उसकी जड़ है , वैसे ही तप, ज्ञान एव चारित्र अदि का सार सम्यग्दर्शन है ।।७६८ ।।

प्रश्न - इस श्लोक का विशेष भाव क्या है ?

उत्तर - इसका विशेष विस्तार यह है कि जैसे गोपुरद्वार नगर मे प्रवेश करने का उपाय है, वैसे तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य के आत्मप्रवेश हेतु सम्यग्दर्शन द्वार सदृश है। अर्थात् जब आत्मा में सम्यक्त्वादि की उत्पत्ति हो जाती है, तभी उसमें सम्यग्ज्ञान-चारित्र एव तप आदिकों का प्रवेश होता है। क्योकि सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञानादिको की प्राप्ति होती ही नहीं है। सम्यग्ज्ञान के अभाव मे इस जीव को मन पर्ययज्ञान, यथाख्यातचारित्र एव कर्म की अतिशय निर्जरा करने वाला तप प्राप्त नहीं हो पाता।

जैसे नेत्रो से मुख को सौंदर्यपना प्राप्त होता है वैसे ही सम्यग्दर्शन से ज्ञानादिको को सम्यक्पना प्राप्त होता है, तथा जैसे झाड की स्थिरता मे उसकी जड़ कारण है, वैसे ही ज्ञानादि की स्थिरता एव दृढता मे सम्यग्दर्शन कारण है।

बलानि नायकेनेव, शरीराणीव जन्तुना।
ज्ञानादीनि प्रवर्तन्ते, सम्यक्त्वेन बिना कुतः ।।७६९ ।।

अर्थ - जैसे सेनापति के बिना सेना अपने कार्य मे प्रवर्त्त नहीं हो पाती, जीव के बिना शरीर प्रवर्तन नहीं कर पाता। वैसे ही क्या कभी सम्यक्त्व के बिना ज्ञान, चारित्र और तप अपने-अपने कार्य मे प्रवृत्त हो सकते है ? नहीं हो सकते ।।७६९ ।।

भ्रष्टोस्ति दर्शन-भ्रष्टो, व्रत-भ्रष्टोऽपि नो पुनः।
पतनं ह्यस्ति संसारे, न दर्शनममुञ्चतः ।।७७० ।।

अर्थ - जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वही यथार्थत भ्रष्ट है, किन्तु जो व्रत अर्थात् चारित्र से भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट नहीं है। चारित्र से भ्रष्ट होकर भी जो सम्यग्दर्शन को नहीं छोड़ता उसका ससार मे पतन नहीं होता ।।७७० ।।

प्रश्न - चारित्र से भ्रष्ट जीव का ससार में पतन नहीं होता, किन्तु दर्शनभ्रष्ट का ससार-पतन होता है, ऐसा कैसे कहा गया है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि मनुष्य एव तिर्यंच केवल देवगति में और सम्यग्दृष्टि देव एव नारकी मात्र मनुष्य गति में ही जन्म लेते हैं, अत मात्र चारित्रभ्रष्ट जीव का ससार पतन अर्थात् चतुर्गति-भ्रमण नहीं होता किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव का सम्यक्त्व छूट जाने पर वह जीव अर्धपुद्गल परिवर्तन काल पर्यन्त ससार-भ्रमण कर सकता है अत. उसका ससार में पतन होना कहा गया है।

ये धर्मभाव-मज्जादि, प्रेमरागानुरञ्जिता:।
जैने सन्ति मते तेषां, न किञ्चिद्वस्तु दुर्लभम् ।।७७१ ।।

अर्थ - धर्मानुराग, भावानुराग, मज्जानुराग और प्रेमानुराग, इन रागों मे जो रजायमान हैं, उन्हे इस जैनमत मे कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ।।७७१ ।।

प्रश्न - अनुराग तो हेय है फिर उसे यहाँ श्रेष्ठ क्यो कहा गया है ?

उत्तर - इस जगत् मे लोग पर-पदार्थों मे जो अनुराग या स्नेह करते हैं उसे हेय कहा गया है। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवो में प्रारम्भ मे सम्यक्त्व सहित जो अनुराग होता है, उसे श्रेष्ठ कहा गया है। जैसे काँटा ही काँटा निकालने का साधन है, वैसे सम्यक्त्वयुक्त अनुराग ही राग की जड काटने का साधकतम कारण है। इसमे सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है। आचार्यदेव क्षपक को सम्यक्त्व का यही माहात्म्य समझा रहे हैं।

प्रश्न - इन अनुरागो के क्या लक्षण है ?

उत्तर - रत्नत्रय धर्म मे दृढरुचि, प्रतीति या अनुराग होना धर्मानुराग है।

❋ धर्मानुराग की कथा ❋

उज्जैन के राजा धनवर्मा और रानी धनश्री के लकुच नाम का एक पुत्र था। वह बडा अभिमानी और शूरवीर योद्धा था।

एक बार कालमेघ म्लेच्छ ने धनवर्मा के राज्य पर चढाई कर दी जिससे धनवर्मा राजा को जन-धन की बहुत बडी हानि उठानी पड़ी। म्लेच्छ राजा से बदला लेने हेतु उस लकुच ने म्लेच्छो की सेना पर चढाई कर दी और विजयलक्ष्मी प्राप्त की। धनवर्मा पुत्र की वीरता देख अति प्रसन्न हुए। उन्होने लकुच को कोई वर माँगने की प्रेरणा की। पुत्र की इच्छानुसार उसे राजा ने स्व इच्छानुसार कार्य करने की आज्ञा प्रदान कर दी। ऐसी आज्ञा प्राप्त होते ही लकुच निरकुश होकर धर्मभ्रष्ट हो गया और सीमातीत भ्रष्टाचार करने लगा।

उसी नगर मे पुगल नाम का एक सेठ रहता था। उसकी नागदत्ता नाम की सुन्दर स्त्री थी। पापी लकुच ने उसका शीलभग कर दिया। पुगल उसकी नीचता देख जल उठा, और उससे बदला लेने की प्रतीक्षा करने लगा।

एक दिन लकुच वनक्रीड़ा को जा रहा था। मार्ग में उसे एक मुनिराज के दर्शन हुए। उनका धर्मोपदेश सुन कर लकुच को वैराग्य हो गया। दीक्षाधारण कर वे मुनि ध्यानमग्न हो गये। पुगल इसी अवसर की खोज में था। वह तत्काल लोहे के बडे-बड़े कीले लाया और मुनि के शरीर मे ठोककर चला गया। लकुच मुनिराज ने इस दु.सह उपसर्ग को बडी शान्ति, स्थिरता और धर्मानुराग से सहन कर स्वर्ग की लक्ष्मी को प्राप्त किया।

जैसे लकुच मुनिराज ने धर्मानुराग से चारित्र में दृढ़ रह कर अपना मार्ग प्रशस्त कर लिया उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को धर्मानुराग में दृढ़ रहना चाहिए।

भावानुराग - जिनेन्द्र प्रतिपादित तत्त्वों का स्वरूप कथंचित् स्मरण में न हो अथवा ज्ञात ही न हो तो भी जिनेन्द्र द्वारा कथित सर्व प्रमेय सत्य ही है, वह कदापि अन्यथा नहीं होता। श्रेष्ठी जिनदत्त सदृश ऐसा दृढ़ श्रद्धान होना भावानुराग है।

❋ भावानुराग की कथा ❋

उज्जैन के राजा धर्मपाल की रानी का नाम धर्मश्री था। धर्मश्री धर्मात्मा एव अत्यन्त उदार प्रकृति की थी। इसी नगर मे समुद्रदत्त नाम का एक सेठ रहता था। उसके प्रियगुश्री नाम की एक सुन्दर कन्या थी। प्रियगुश्री के मामा का लड़का नागसेन उस कन्या से विवाह करना चाहता था, किन्तु समुद्रदत्त ने अपनी कन्या का विवाह उसी नगर मे रहने वाले सागरदत्त सेठ एव सुभद्रा सेठानी से उत्पन्न नागदत्त के साथ कर दिया, जिससे नागसेन ने नागदत्त के साथ शत्रुता बाँध ली और उसे कष्ट देने का अवसर खोजने लगा। नागदत्त धर्मप्रेमी था। धर्म पर उसकी अचल श्रद्धा थी। इसके विवाह मे विपुल दान दिया गया, पूजा-उत्सव किये गये एव दीन-दुखियों को बहुत सहायता दी गई। एक दिन नागदत्त ने उपवास किया और वह भावानुराग से जिनमन्दिर मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यान करने लगा। नागसेन ने अचानक उसे देख लिया। उस दुष्ट ने अपनी शत्रुता का बदला लेने के लिए एक षड्यन्त्र रचा। तत्काल अपने गले मे से हार निकाल कर नागदत्त के पैरो के समीप डाल दिया और जोर-जोर से हल्ला करने लगा कि यह मेरा हार चुराकर लिये जा रहा था। मैंने पीछे-पीछे दौड़कर इसे पकड़ लिया तब यह ढोग बना कर यहाँ ध्यानस्थ हो गया है। हल्ला सुनकर लोग एकत्रित हो गये और नागदत्त को पकड़ कर राजा के दरबार मे ले गये। राजा ने भी उसे मार डालने का आदेश दे दिया। नागदत्त को उसी समय वधभूमि ले जाया गया और उसकी गरदन पर तलवार का वार किया गया, किन्तु वह वार उसके गले में फूल की माला हो गया। उसी समय आकाश से पुष्पवृष्टि हुई और जय-जय, धन्य-धन्य शब्दो से आकाश गूँज उठा। इस प्रकार जैनधर्म के भावानुराग के प्रभाव को देखकर नागदत्त और धर्मपाल राजा बहुत प्रसन्न हुए।

प्रेमानुराग - मणिचूल नामक देव को अपने मित्र सगर चक्रवर्ती से अत्यन्त प्रेम था, अत उसने उन्हें बार-बार समझा कर भोगो से विरक्त किया था। इसी प्रकार धर्मप्रेम से धर्म मे दृढ़ रहना और उस धर्मप्रेम से प्रेरित होकर अन्य जीवो को धर्म मे जुटने की प्रेरणा देना प्रेमानुराग है।

❋ प्रेमानुराग की कथा ❋

अयोध्या के राजा सुवर्णवर्मा और उनकी रानी सुवर्णश्री के समय वहाँ सुमित्र नाम के एक प्रसिद्ध सेठ रहते थे। सेठ का जैनधर्म पर अत्यन्त प्रेम था। एक दिन सुमित्र सेठ रात्रि के समय अपने ही घर पर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान कर रहे थे। ध्यानसमय की उनकी स्थिरता एव भावों की दृढता देखकर एक देव ने उनकी परीक्षा करने हेतु सेठ की समस्त सम्पत्ति, स्त्री तथा बालक-बालिकाओ को अपने अधिकार में कर लिया। स्त्री एव बच्चे रो-रोकर सेठ के पैरों मे जा गिरे, और 'छुड़ाओ-छुडाओ' की हृदयभेदी दीन प्रार्थना करने लगे। जो न होने का था, वह वहाँ कुछ ही समय में सब हो गया, किन्तु सेठ ने अपना ध्यान अधूरा नहीं छोड़ा, वे वैसे

ही निश्चल ध्यान में तल्लीन रहे। सेठ की ऐसी अलौकिक स्थिरता देखकर देव बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की तथा सेठ को साँकरी नाम की एक आकाशगामिनी विद्या भेंट कर वह स्वर्ग चला गया। सेठ का धर्म के प्रति ऐसा प्रेमानुराग देखकर कितने ही श्रावकों ने मुनिव्रत, कितनों ने श्रावकव्रत, कितनों ने सम्यक्त्व और कितनों ने उसी समय जैनधर्म धारण कर लिया।

मज्जानुराग - पाँचों पाण्डव जन्म से ही परस्पर में ऐसे अनुराग से बद्ध थे, जैसे हड्डी मज्जा से बद्ध रहती है। धर्म, धर्माङ्ग एव धर्मात्माओ मे श्रद्धा का इसी प्रकार निबद्ध रहना मज्जानुराग है।

ये सब अनुराग जैनधर्म से सबद्ध होने के कारण उपयोगी हैं। इन अनुरागो से अनुरक्त भव्य जीवों को कुछ भी दुर्लभ नहीं है। उन्हें सर्वत्र सर्व वस्तुएँ सुलभता से प्राप्त हो जाती हैं।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

श्रेणिको व्रत-हीनोऽपि, निर्मली-कृत-दर्शनः।
आर्हंत्य-पदमासाद्य, सिद्धि-सौधं गमिष्यति ॥७७२॥

अर्थ - देखो ! सम्यक्त्व का माहात्म्य, अतिचारो से रहित निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले राजा श्रेणिक व्रतो से हीन होते हुए भी आर्हन्त्य पद की कारणभूत तीर्थकर प्रकृति को प्राप्त कर आगे सिद्धि भवन अर्थात् मोक्ष प्राप्त करेगे ॥७७२॥

❋ राजा श्रेणिक की कथा ❋

राजा श्रेणिक मगध देश के अधीश्वर थे। मगध की राजधानी राजगृही नगरी मे रहते थे। उनकी पटरानी चेलना थी। वह बडी धर्मात्मा, जिनेन्द्र की भक्त और सम्यग्दर्शन से विभूषित थी। राजा पूर्व मे बौद्ध धर्मावलम्बी था अत राजा श्रेणिक से रानी चेलना का धर्म के विषय मे सदा विवाद चलता रहता था। एक बार वन-विहार को जाते हुए राजा ने आतापन योग मे तल्लीन यशोधर मुनिराज को देखा। उन्हे शिकार के लिए विघ्नरूप समझकर क्रोधित होते हुए उन पर क्रूर स्वभावी शिकारी कुत्ते छोड़ दिये। कुत्ते मुनि का घात करने हेतु निर्दयता पूर्वक उनके ऊपर झपटे, किन्तु मुनिराज की तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हे कुछ कष्ट न पहुँचा सके। अपितु उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके समीप खड़े हो गये। यह देख श्रेणिक ने क्रोधान्ध हो उन पर बाण चला दिये किन्तु तप के प्रभाव से वे बाण फूलवर्षा सदृश हो गये। श्रेणिक ने उस समय मुनिघात के हिंसारूप तीव्र परिणामो से सातवें नरक का आयुबन्ध कर लिया जिसकी स्थिति तैंतीस सागर की है।

इन अलौकिक घटनाओ को देखकर राजा श्रेणिक का हृदय परिवर्तित हो गया। दुष्ट भाव नष्ट हो गये तथा मुनिराज के प्रति पूज्य भाव उत्पन्न हो गये। उन्होने मुनिराज को नमस्कार किया और मुनिराज ने उन्हे अहिसा-मयी पवित्र जिनशासन का उपदेश दिया। उस उपदेश का राजा के हृदय पर विलक्षण प्रभाव हुआ जिससे उन्हे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई।

विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर स्वामी का समवसरण आया। राजा श्रेणिक ने वहाँ जाकर भगवान जिनेन्द्र की पूजा, वन्दना एव स्तुति की तथा दिव्यध्वनि सुनी। परिणामो की अत्यन्त विशुद्धता के कारण

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। उसी समय ३३ सागर की नरक आयु कट कर मात्र चौरासी हजार वर्ष की रह गई। राजा श्रेणिक ने गणधर देव से साठ हजार प्रश्न कर अपनी तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासाएँ शान्त कीं और परमार्हत्य पद के कारणभूत तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया। अष्टाङ्ग सम्यक्त्व रत्नों से अलकृत राजा श्रेणिक आगामी काल में इसी भरत क्षेत्र मे महापद्म नाम के प्रथम तीर्थंकर होगे।

इस प्रकार सम्यक्त्व के प्रभाव से राजा श्रेणिक ने अपने अनन्त ससार परिभ्रमण का नाश कर मुक्ति को सन्निकट कर लिया।

सम्यक्त्व रत्न की अमूल्यता

अच्छिन्ना लभ्यते येन, कल्याणानां परम्परा।
मूल्य सम्यक्त्व-रत्नस्य, न लोके तस्य विद्यते ।।७७३ ।।

अर्थ - जिस सम्यक्त्व के द्वारा जीव को अभ्युदयादि सुखो की अविच्छिन्न कल्याण-परम्परा प्राप्त होती है, लोक मे उस सम्यक्त्व रत्न का कोई मूल्य नहीं है। वह तो अमूल्य है।।७७३ ।।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन धाराप्रवाह रूप से कल्याण-परम्परा कैसे देता है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि जीव नियमत देवो एव मनुष्यो मे ही जन्म लेता है। देवो मे भी वह इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र, लौकान्तिक एव सामानिकादि उत्तम देवो मे ही उत्पन्न होता है। भवनत्रिक, आभियोग्य एव किल्विषादि हीन देवों में कदापि जन्म नहीं लेता। मनुष्यो मे चक्रवर्ती, बलदेव, कामदेव, महामण्डलीक और मडलीक आदि श्रेष्ठ मनुष्यो मे ही जन्म लेता है। दरिद्री, नीचकुली, विकलाग, कुरूप और शक्तिहीनादि मनुष्यो मे कदापि जन्म नहीं लेता। इस प्रकार के कुछ भव ग्रहण कर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अत. यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन धाराप्रवाहरूप से कल्याण-परम्परा को देता है।

सम्यक्त्वस्य च यो लाभस्त्रैलोकस्य च यस्तयो:।
सम्यक्त्वस्य मतो लाभ:, प्रकृष्ट: सार-वेदिभि: ।।७७४ ।।

त्रैलोक्यमुपलभ्यापि, तत: पतति निश्चितम्।
अक्षयां लभते लक्ष्मीमुपलभ्य सुदर्शनम् ।।७७५ ।।

अर्थ - सम्यक्त्व का लाभ और त्रैलोक्य का लाभ, ये दो लाभ हैं। इन दोनो में सम्यक्त्व का लाभ सर्वश्रेष्ठ है, उत्कृष्ट है ऐसा सारभूत रत्नत्रय के ज्ञाता गणधरादि देवो द्वारा कहा गया है, क्योकि तीन लोक को प्राप्त करके भी कुछ काल व्यतीत हो जाने पर वे नियमत छूट जाते हैं, किन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने से यह जीव नियमत अविनाशी मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।।७७४-७७५।

ददाति सौख्यं विधुनोति दु:खं, भवं लुनीते नयते विमुक्तिम्।
निहन्ति निन्दां कुरुते सपर्या, सम्यक्त्वरत्नं विदधाति कि न ।।७७६ ।।

इति सम्यक्त्व।

अर्थ - यह सम्यक्त्वरत्न सुख देता है, दुख को नष्ट करता है। ससार को काटता है, मोक्ष में ले जाता है। अपयश को नष्ट करता है, यश को प्राप्त कराता है। सम्यक्त्व क्या नहीं करता ? सब कुछ करता है ॥७७६॥

सम्यक्त्व भावना पूर्ण हुई।

पराभक्ति का व्याख्यान

भक्तिमर्हत्सु सिद्धेषु, चैत्येष्वाचार्य-साधुषु।
विधेहि परमां साधो !, निश्चय-स्थित-मानसः ॥७७७॥

अर्थ - हे क्षपक ! अपना मन निश्चित और स्थिर करके तुम अर्हन्तो में, सिद्धो मे, जिनप्रतिमाओं में, आचार्यों और साधुओ मे उत्कृष्ट भक्ति करो ॥७७७॥

जिनेन्द्रभक्तिरेकापि, निषेद्धुं दुर्गतिं क्षमा।
आसिद्धि-लब्धितो दातुं, सारां सौख्य-परम्पराम् ॥७७८॥

अर्थ - अकेली जिनभक्ति ही दुर्गति का नाश करने मे समर्थ है और मोक्षप्राप्ति होने तक इन्द्र पद, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती पद और तीर्थंकर पद आदि सारभूत अभ्युदय सुख-परम्परा को देने वाली है ॥७७८॥

सिद्ध-चैत्य-श्रुताचार्य-सर्वसाधु-गता परा।
विच्छिनत्ति भवं भक्तिः, कुठारीव महीरुहम् ॥७७९॥

अर्थ - सिद्ध परमेष्ठी, जिन प्रतिमा, जिनागम एव सर्व साधुओ मे की गयी श्रेष्ठ भक्ति उसी प्रकार ससार का नाश कर देती है जैसे कुल्हाड़ी वृक्ष को नष्ट कर देती है ॥७७९॥

नेह सिध्यति विद्यापि, सफला न हि जायते।
किं पुनर्निर्वृतेर्बीजं, भक्तिहीनस्य सिध्यति ॥७८०॥

अर्थ - भक्तिहीन मनुष्यो को विद्या भी सिद्ध नहीं होती, जो पहले की प्राप्त की हुई विद्या है वह भी भक्तिहीन पुरुषो को फलदायक नहीं होती तो फिर मोक्ष के बीज स्वरूप रत्नत्रय क्या भक्तिहीन को सिद्ध हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥७८०॥

भक्तिमाराधनेशानां, योऽकुर्वाणस्तपस्यति।
स वपत्यूषरे शालीन-नालोच्य समं ध्रुवम् ॥७८१॥

अर्थ - जो मनुष्य सम्यग्दर्शनादि आराधनाओ के स्वामी अर्हन्तादि की भक्ति नहीं करता, उसका तपश्चरण नियमत ऊषर भूमि मे बोये हुए शालि धान्य के सदृश निष्फल है ॥७८१॥

ते बीजेन विना सस्यं, वारिदेन विना जलम्।
काङ्क्षन्ति ये विना भक्तिं, काङ्क्षन्त्याराधनां नराः ॥७८२॥

अर्थ - जो मनुष्य जिनेन्द्र आदि की भक्ति किये बिना ही आराधना अर्थात् रत्नत्रय की सिद्धि चाहते हैं वे बीज के बिना धान्य और बादलो के बिना जल चाहते हैं ॥७८२॥

विधिनोप्तस्य सस्यस्य, वृष्टिर्निष्पादिका यथा।
तथैवाराधना-भक्तिश्चतुरङ्गस्य जायते ॥७८३॥

अर्थ - जैसे विधि का अर्थात् धान्य उत्पन्न करने के सम्पूर्ण कार्यों का आश्रय कर जमीन में बीज बोने के अनन्तर जलवृष्टि होने से फल की निष्पत्ति होती हैं, वैसे ही अर्हन्तादि पूज्य पुरुषो की भक्ति करने से ही दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्र रूपी फल उत्पन्न होते हैं॥७८३॥

प्रश्न - विधि किसे कहते हैं?

उत्तर - जिससे कार्य किये जाते हैं उसे विधि कहते हैं। अत विधि का अर्थ है अनुकूल कारणो का समूह।

वन्दना - भक्ति-मात्रेण, पद्मको मिथिलाधिपः।
देवेन्द्र-पूजितो भूत्वा, बभूव गणनायकः ॥७८४॥

अर्थ - तीर्थंकर की वन्दना के अनुराग मात्र से मिथिलानगर का राजा पद्मरथ देवेन्द्र द्वारा पूजित हुआ और वासुपूज्य तीर्थंकर का गणधर हुआ॥७८४॥

❋ जिनेन्द्रभक्त राजा पद्मरथ की कथा ❋

मगधदेश के अन्तर्गत मिथिलानगरी मे परमोपकारी, दयालु और नीतिज्ञ राजा पद्मरथ राज्य करते थे। वे एक दिन शिकार खेलने गये। वहाँ उनका घोड़ा दौडता हुआ कालगुफा के समीप जा पहुँचा। गुफा मे सुधर्म मुनिराज विराजमान थे। मुनिराज के शुभ दर्शनों से महाराज पद्म अति प्रसन्न हुए। घोड़े से उतरकर उन्होने भक्तिभावसे मुनिराजको नमस्कार किया। महाराज ने राजा को धर्मोपदेश दिया जिससे वे अति प्रसन्न हुए और विनीत शब्दो मे बोले-गुरुराज ! आपके सदृश और कोई मुनिराज इस पृथ्वी पर है या नहीं ? यदि है तो कहाँ पर है ? मुनिराज बोले - राजन् ! इस समय इस देश में साक्षात् १२वे तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी विद्यमान हैं, उनके सामने मैं तो अति नगण्य हूँ । मुनिराजके वचन सुनकर राजाके मनमे भगवान के दर्शन करने की प्रबल इच्छा जागृत हो गई और वह अपने परिजन-पुरजनोके साथ भगवानके दर्शनार्थ चल पड़ा। उसी समय धन्वन्तरि चरदेव अपने मित्र विश्वानुलोम चर ज्योतिषी देव को धर्मपरीक्षाके द्वारा जैनधर्मकी श्रद्धा करानेके लिये वहाँ आया, उसने भगवानके दर्शनार्थ जाते हुए राजा पर घोर उपसर्ग किया, किन्तु भक्तिरससे भरा हुआ राजा मन्त्रियो द्वारा समझाये जाने पर भी नहीं रुक सका, तथा "ॐ नम वासुपूज्याय" बोलता हुआ आगे बढ़ता ही गया। समवसरण मे पहुँच कर राजा ने जन्म-जन्मान्तरो के मिथ्या भावो को नष्ट कर देने वाले भगवान वासुपूज्य के पवित्र दर्शन किये, पूजन की और उपदेश सुना और वे उसी समय दीक्षा लेकर तपस्वी हो गये। उनके परिणामो की इतनी विशुद्धि हुई कि उन्हे तत्काल मन.पर्ययज्ञान हो गया और वे भगवान के गणधर हो गये।

समानिका छन्द

रोग-मारि-चौर-वैरि-भूप-भूत-पूर्वकाणि।
भक्तिराशु दुःखदा, निहन्ति सेविताऽखिलानि ॥७८५॥

इति भक्ति :।

अर्थ - रोग, मारी, चोर, बैरी, राजा और भूत इनके द्वारा होने वाले समस्त दुखों को सेवित की गई जिनेन्द्रभक्ति शीघ्र ही नष्ट कर देती है॥७८५॥

इस प्रकार भक्ति का प्रकरण पूर्ण हुआ।

णमोकार मन्त्र का माहात्म्य

आराधना-पुरोयानं, मा स्मैकाग्र-मना मुच।
शुद्धलेश्यो नमस्कारं, संसार-क्षय-कारणम्॥७८६॥

अर्थ - यह नमस्कार मन्त्र आराधनाओ का अग्रेसर है और पच परावर्तन रूप ससार का क्षय करने वाला है अत हे क्षपक ! तुम एकाग्र मन से तथा विशुद्ध परिणामो से इसकी आराधना करो। इसे कभी मत छोड़ना॥७८६॥

एकोप्यर्हन्नमस्कारो, मृत्युकाले निषेवितः।
विध्वसयति संसारं, भास्वानिव तमश्चयम्॥७८७॥

अर्थ - जैसे सूर्य अन्धकार समूह का नाश कर देता है, वैसे ही मरणकाल मे यदि एक बार भी अर्हन्तों को नमस्कार कर लिया जाय तो वह नमस्कार ससार का नाश कर देता है॥७८७॥

ससारं न विना शक्तं, नमस्कारेण सूदितुम्।
चतुरङ्ग-गुणोपेतं, नायकेनेव विद्विषम्॥७८८॥

अर्थ - जैसे सेनानायक के बिना हाथी, घोडा, रथ और पदाति इस चतुरग सेना से युक्त शत्रु राजा पर विजय प्राप्त करना शक्य नहीं है, वैसे ही पच नमस्कार के बिना ससार का विच्छेद करना शक्य नहीं है॥७८८॥

विद्विषो नायकेनेव, चतुरङ्गं बलीयसा।
संसारस्य विघाताय, नमस्कारेण योज्यते॥७८९॥

अर्थ - शत्रु राजा के चतुरग सैन्य पर विजय प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार बलशाली सेनानायक प्रयुक्त किया जाता है, उसी प्रकार ससार का नाश करने के लिए नमस्कार मन्त्र प्रयुक्त किया जाता है। अर्थात् मरण समय मे किया हुआ भाव नमस्कार दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्ररूपी आराधनाओ का प्रवर्तक होता है॥७८९॥

नमस्कारेण गृह्णाति, देवीमाराधना यतिः।
पताकामिव हस्तेन, मल्लो निश्चित-मानसः॥७९०॥

अर्थ - जैसे दृढ़ मनवाला मल्ल हाथ द्वारा जयपताका ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार साधु नमस्कार-मन्त्र द्वारा आराधना रूपी देवी को ग्रहण कर लेता है॥७९०॥

अज्ञानोऽपि मृतो गोपो, नमस्कार-परायणः।
चम्पाश्रेष्ठि-कुले भूत्वा, प्रपेदे संयमं परम्॥७९१॥

अर्थ - सुभग नाम का ग्वाला अज्ञानी था अर्थात् अर्हन्तादि के गुणों का उसे ज्ञान नहीं था। मरण समय णमोकार मंत्र के उच्चारण मे तत्पर रहा अत· चम्पानगरी मे वृषभदत्त श्रेष्ठी का पुत्र हुआ और सयम धारण कर उसने मोक्ष प्राप्त किया ॥७९१ ॥

❋ सुभग ग्वाले की कथा ❋

अङ्गदेशान्तर्गत चम्पापुरी नगरीका राजा धात्रीवाहन था। उसकी रानीका नाम अभयमती था। उसी नगरीमें वृषभदास नामका एक सेठ रहता था, जिसकी स्त्री का नाम जिनमती था। इस सेठके यहाँ सुभग नामका ग्वाला था, जो सेठकी गायें चराया करता था। शीतकाल में एक दिन जब वह गायें चराकर घर लौट रहा था तब उसने एक मुनिराजको ध्यानारूढ़ देखा। ''इस भीषण शीतमे ये कैसे बचेगे'' इस विकल्प से वह अधीर हो उठा। वह रात्रि भर आग जलाकर मुनिराजकी शीत वेदना दूर करता रहा। प्रात मुनिराज ने अपना मौन विसर्जित किया और धर्मोपदेशके साथ-साथ उस ग्वाल बालकको ''णमो अरिहताण'' यह मत्र भी दिया। वे स्वय भी यह पद बोलते हुए आकाशमार्गसे चले गये। मन्त्र उच्चारणके साथ ही मुनिराजका आकाशमे गमन देखकर ग्वाले को इस मत्र पर अटल श्रद्धा हो गयी और वह निरन्तर भोजनादि सम्पूर्ण क्रियाओं के पूर्व महामन्त्रका उच्चारण करने लगा। एक दिन उसकी गाये गगापार चली गईं, उन्हें वापस लानेके लिये वह गगामे कूदा। कूदते ही उसका पेट एक तीक्ष्ण काष्ठके घुसनेसे फट गया। उस समय उसने महामन्त्रका उच्चारण करके अपने ही सेठ के पुत्र होनेका निदान कर लिया। निदानके फलानुसार वह सेठके यहाँ पुत्र रूपमे उत्पन्न हुआ। बालकका नाम सुदर्शन रखा गया। काल पाकर सेठ सुदर्शन ने राज्यवैभव का भोग किया। अन्तमें दीक्षा धारण की और स्त्रियों एव देवियोके द्वारा घोर उपसर्गको प्राप्त होते हुए वे मोक्षगामी हुए।

समस्तानि दुःखानि विच्छिद्य सद्यः, सुखानि प्रभूतानि साराणि दत्वा।
मुदा सेव्यमानं विधानेन मोक्षे, विबाधानि दत्ते नमस्कार-मित्रम् ॥७९२ ॥

इति नमस्कार·।

अर्थ - प्रसन्नतापूर्वक सेवन करने पर यह नमस्कार मत्ररूपी मित्र शीघ्र ही समस्त दुखो का नाशकर सारभूत प्रभूत सुखो को देकर पुन मोक्ष में अव्याबाध सुखो को देता है ॥७९२ ॥

नमस्कार वर्णन पूर्ण।

ज्ञानोपयोग का कथन

न शक्यते वशीकर्तुं, विना ज्ञानेन मानसम्।
अंकुशेन विना कुत्र, क्रियते कुञ्जरो वशे ॥७९३ ॥

अर्थ - जैसे अकुश के बिना हाथी क्या कहीं पर वश मे किया जाता है ? नहीं किया जाता। उसी प्रकार ज्ञान के बिना मन वश मे नहीं किया जाता ॥७९३ ॥

प्रश्न - ज्ञान के बिना मन का निग्रह क्यों नहीं किया जाता?

उत्तर - मन का निग्रह करने मे ज्ञान साधकतम कारण है। अत उसके बिना मन का निग्रह उसी प्रकार

नहीं होता जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी अकुश के बिना वश में नहीं होता। यहाँ मदोन्मत्त मनरूपी हाथी के लिए ज्ञानाभ्यास अकुश है।

प्रश्न - यहाँ यदि मन अर्थात् चित्त से चैतन्य ही ग्रहण किया जाता है तो चैतन्य का निग्रह कैसे?

उत्तर - जब कभी साधक जीव की परिणति विपरीत ज्ञानरूप या अशुभ ध्यानरूप या अशुभ लेश्यारूप परिणमन करने लगती है तब उसका निरोध समीचीन ज्ञानरूप परिणाम से किया जाता है। परिणाम परिणामी को रोकता है। जैसे तुम्हें हमारे विरुद्ध परिणाम नहीं करना चाहिए। जैसे मत्त हाथी बन्धन और मर्दन आदि के बिना वश मे नहीं होता, वैसे ही यह मनरूपी हाथी भी निमित्त पाकर जिस किसी भी अशुभ परिणाम मे प्रवृत्त हो जाता है, पश्चात् ज्ञानाभ्यास से ही वश मे किया जा सकता है।

स्वभ्यस्तं कुरुते ज्ञानं, नानानर्थ-परं मनः।
पुरुषस्य वशे विद्या, पिशाचमिव दुर्ग्रहम् ॥७९४॥

अर्थ - जैसे साधित विद्या दुराग्रही पिशाच को साधक पुरुष के वश मे करा देती है, वैसे ही नाना अनर्थों मे प्रवृत्त होने वाले इस मन को ज्ञान अपने वश मे कर लेता है॥७९४॥

प्रश्न - यह उपदेश क्यों और किसे दिया जा रहा है?

उत्तर - मन अयोग्य कार्यो मे जाता है अत इसे पिशाच की उपमा दी गई है। जैसे पूर्ण विधि से साधना की गई विद्या पिशाच को पुरुष के वश करा देती है, वैसे ही ज्ञानाभ्यास मे पूर्णत उपयोग लगाये रखने से मन रूपी पिशाच साधक के स्वाधीन रहता है अर्थात् ज्ञानोपयोग से मनुष्य अपने मन को शुभ अथवा शुद्ध परिणामो मे प्रवर्तन करा लेते हैं, अत आचार्यदेव क्षपक को शिक्षा दे रहे हैं कि हे क्षपक ! जैसे सम्यग्दृष्टिजीव विद्याराधन करके पिशाच या किसी देव को स्वाधीन करके उससे धर्मप्रभावना के बड़े से बड़े अर्थात् अतिशययुक्त कार्य करा लेते हैं, वैसे ही तुम ज्ञानाराधना द्वारा अपने मन को शुद्ध परिणामो मे लगाये रखने का पुरुषार्थ करो।

ज्ञानेन शम्यते दुष्टं, नित्याभ्यस्तेन मानसम्।
मन्त्रेण शम्यते किं न, सुप्रयुक्तेन पन्नगः ॥७९५॥

अर्थ - नित्य ही सम्यक् प्रकार से भावितज्ञान द्वारा अशुभ विचार करने वाला मन शान्त हो जाता है, ठीक ही है भली प्रकार से जिसका प्रयोग किया गया है, ऐसे मन्त्र द्वारा क्या कृष्ण सर्प शान्त नहीं होता? अपितु होता ही है॥७९५॥

प्रश्न - पूर्व श्लोक मे मन को स्वाधीन करने की बात कह दी गई थी फिर इस श्लोक मे क्या कहा जा रहा है ?

उत्तर - पूर्व श्लोक में कहा गया था कि ज्ञानाभ्यास से मन स्वाधीन रहता है और इस श्लोक में कहा गया है कि ज्ञानाभ्यास द्वारा अशुभ परिणामो की शान्ति हो जाती है।

नियम्यते मनो-हस्ती, मत्तो ज्ञान-वरत्रया।
हस्ती वारण्यकः सद्यो, भयदायी वरत्रया ॥७९६॥

अर्थ - जैसे जंगली हाथी भयप्रद कठोर साकल द्वारा शीघ्र ही बाधा जाता है, वैसे ही मन रूपी हाथी ज्ञान रूपी सांकल से बाँधा जाता है अर्थात् अशुभ विचार करने वाले मन को ज्ञान द्वारा नियन्त्रित किया जाता है ॥७९६॥

मध्यस्थो न कपि: शक्य:, क्षणमायासितुं यथा।
मनस्तथा भवेन्नैव, मध्यस्थं विषयैर्विना ॥७९७॥

सदा रमयितव्योऽसौ, जिन-वाक्य-वने तत:।
रागद्वेषादिकं दोषं, करिष्यति ततो न स: ॥७९८॥

अर्थ - जैसे बन्दर एक क्षण भी निर्विकार अर्थात् शान्त होकर नहीं बैठ सकता, वैसे ही यह मन एक क्षण भी विषयो के बिना नहीं रहता। अत· चतुर पुरुष को चाहिए कि वह इस मनरूपी बन्दर को जिनागम रूपी सुन्दर वन में रमाता रहे जिससे वह राग-द्वेष आदि दोषो को न करे ॥७९७-७९८॥

प्रश्न - यहाँ विषय शब्द से क्या ग्रहण किया गया है ?

उत्तर - यहाँ विषय शब्द से रूप, रस, गन्ध एव शब्द आदि के निमित्त से होने वाले रागादि भावो का ग्रहण किया गया है, क्योकि ये रागादि, विषयो से ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिए श्लोक का यह भाव है कि मन रागद्वेष के बिना कभी मध्यस्थ नहीं रह सकता। अर्थात् ज्ञान भावना के अभाव मे रागद्वेष मे प्रवृत्ति करना ही मन का व्यापार है। ज्ञान मन को मध्यस्थ रखता है, अत आत्महितैषी जीवो को अपना मन ज्ञानाभ्यास मे सदैव लगाये रखना चाहिए।

ज्ञानाभ्यासस्ततो युक्त:, क्षपकस्य विशेषत:।
विवेध्यं कुर्वतस्तस्य, चन्द्रक-व्यधनं यथा ॥७९९॥

अर्थ - जैसे चन्द्रक यन्त्र का वेध करने की इच्छा रखने वाले को सदा बींधने का अभ्यास करना आवश्यक है, वैसे ही क्षपक के लिए सदा विशेषरूप से ज्ञानोपयोग में लगे रहने को कहा गया है ॥७९९॥

प्रश्न - चन्द्रक वेध किसे कहते हैं और इसके दृष्टान्त द्वारा आचार्य क्या समझाना चाहते हैं ?

उत्तर - राजा आदि के महल की छत पर तीव्र वेग से घूमने वाला एक चक्र लगा रहता है। उस चक्र में एक विशिष्ट चिह्न रहता है, वह भी चक्र के साथ तीव्र गति से घूमता है। उस चन्द्रक के ठीक नीचे जल से भरा हुआ जलकुण्ड होता है, उस जल मे ऊपर फिरते हुए चक्र का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। चतुर धनुर्धारी वीर पुरुष जलकुण्ड में चक्र के चिह्न को देखकर और अपने हाथो से बाण चलाकर उस लक्ष्य को बेध देता है। इसमे देखना नीचे और बाण छोडना ऊपर ऐसी बाण चलाने की विशिष्ट क्रिया को चन्द्रकवेध कहते हैं। इस कठिनतर कार्य को बाणविद्या के सतत अभ्यास से ही सिद्ध किया जाता है। ऐसे ही चक्रवत् सतत भ्रमण करने वाला यह मन है। इसको एकाग्र करना चन्द्रकवेध से भी कठिन है, क्योंकि चन्द्रकवेध भले जल के माध्यम से हो किन्तु दृश्यमान है जबकि मन तथा मन के विचार अदृश्य हैं, मात्र अनुभवगम्य हैं। निरन्तर विषयों में भ्रमण

करते हुए इस मन के कारण ससार में अनन्त दुख भोगने पड़ते हैं, अत· आचार्य उपदेश देते हैं कि हे क्षपक! यदि तुम आराधना की सिद्धि करना चाहते हो तो इस मन-मर्कट को ज्ञानाभ्यास में लगा कर वश में करो।

शुद्धलेश्यस्य यस्यान्ते, दीप्यते ज्ञान-दीपिका।
तस्य नाश-भयं नास्ति, मोक्षमार्गे जिनोदिते ॥८००॥

अर्थ - जिस विशुद्धलेश्या वाले के हृदय में ज्ञान रूपी दीपक प्रज्ज्वलित रहता है, उसको जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग में यह भय कदापि नहीं रहता कि "मैं ससार-भँवर में गिर कर नष्ट हो जाऊँगा" ॥८००॥

प्रश्न - इस श्लोक में आचार्यदेव क्या कह रहे हैं ?

उत्तर - जिस राहगीर के हाथ में प्रज्ज्वलित दीपक है, उसको अंधेरे मार्ग में कहीं गिरना-पड़ना, चोट आदि लगना, विपरीत दिशा में भटक जाना एव यत्र-तत्र भ्रमित हो जाने का प्रसग नहीं आता। उसी प्रकार जिनागम का सतत अभ्यास करने वाले, लेश्या से विशुद्ध हृदय क्षपक के भी विपरीत श्रद्धा होना, तत्त्वों मे शका होना, चारित्र मलिन हो जाना एव आराधनाओ की साधना से स्खलित हो जाना आदि मार्ग से च्युत करने वाले बाधक कारणो का प्रसग नहीं आता, अत· आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानाभ्यासी क्षपक सदा निर्भय होकर साधना करता है।

ज्ञानरूपी प्रकाश का माहात्म्य

ज्ञानोद्योतो महोद्योतो, व्याघातो नास्य विद्यते।
क्षेत्रं द्योतयते सूर्यः, स्वल्पं सर्वमसौ पुनः ॥८०१॥

अर्थ - सूर्य का प्रकाश तेजस्वी होने पर भी स्वल्प अर्थात् सीमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान सर्वक्षेत्र अर्थात् लोकालोक को प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है, अत ज्ञान का प्रकाश ही महाप्रकाश है। इस प्रकाश का कभी व्याघात नहीं होता॥८०१॥

ज्ञानं प्रकाशकं वृत्तं, गोपक साधकं तपः।
त्रयाणां कथिता योगे, निर्वृतिर्जिनशासने॥८०२॥

अर्थ - ज्ञान प्रकाशक है, चारित्र रक्षक अर्थात् गुप्तिकारक है और तप साधक है। इन तीनो का योग मिलने पर ही जिनागम मे मोक्ष कहा गया है॥८०२॥

प्रश्न - प्रकाशक, गोपक और साधक का स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर - वस्तु को दिखाने मे जो सहायक होता है वह प्रकाशक कहलाता है, जो आपत्ति आदि के समय रक्षा करता है वह गोपक कहलाता है और जो कार्यसिद्धि का साधन करता है वह साधक कहलाता है। ज्ञान ससार और ससार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारण एव हेय-उपादेय तत्त्वो को साक्षात् दिखाता है अत प्रकाशक है; चारित्र गुप्तिकारक है, वह भी पापो से एव शुभाशुभ भावो से आत्मा की रक्षा करता है अत. गोपक है तथा तप निर्जरा का कारण होने से कर्मों का नाश कर मोक्षपद देता है अत साधक है। इन तीनों के सयोग से स्वात्म-सिद्धि होती है।

करणेन विना ज्ञानं, संयमेन विना तपः।
सम्यक्त्वेन विना लिङ्गं, क्रियमाणमनर्थकम् ॥८०३॥

अर्थ - आचरणहीन ज्ञान, सयम बिना तप और सम्यक्त्व बिना मुनिदीक्षा ग्रहण करना निरर्थक है॥८०३॥

ज्ञानोद्योतं विना योऽत्र, मोक्षमार्गे प्रयास्यति।
प्रयास्यति वने दुर्गे, सोऽन्धोऽन्ध-तमसे सति ॥८०४॥

अर्थ - जो पुरुष ज्ञानरूपी प्रकाश के बिना मोक्षमार्ग को अर्थात् चारित्र एव तप को प्राप्त करना चाहता है वह उस पुरुष के सदृश है जो अन्धा है और रात्रि के अन्धकार में गहन वन मे गमन करना चाहता है॥८०४॥

संयमं श्लोक-खण्डेन, निवार्य मरणं यमः।
यदि नीतस्तदा किं न, जिनसूत्रेण साध्यते ॥८०५॥

अर्थ - यदि स्व-रचित भी श्लोक के एक खण्ड का स्मरण, उच्चारण एव स्वाध्याय करते हुए यम मुनि मरणरूपी आपत्ति को रोक कर उत्तम सयम को प्राप्त हुए थे तब जिनेन्द्रोपदिष्ट आगम के स्वाध्याय द्वारा क्या-क्या सिद्ध नहीं हो सकता? सब कुछ प्राप्त हो सकता है॥८०५॥

❋ यम मुनिराज की कथा ❋

उड्डु देशान्तर्गत धर्मनगर में राजा यम राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम धनवती, पुत्र का नाम गर्दभ और पुत्री का नाम कोणिका था। किसी ज्योतिषी ने कोणिका की जन्मपत्रिका देखकर राजा से कहा कि इस कन्याका जिसके साथ विवाह होगा वह ससारका सम्राट् होगा। यह बात सुनकर राजाने अन्य क्षुद्र राजाओकी दृष्टिसे बचानेके लिये कन्याको बडे यत्नसे रखना शुरू कर दिया।

एक समय धर्मनगर मे सुधर्माचार्य ५०० मुनिराजोके साथ आये और नगरके बाहर उद्यानमें ठहर गये। अपनी विद्वत्ताके गर्वसे गर्वित राजा यम समस्त परिजन और पुरजनोके साथ मुनियोकी निन्दा करता हुआ सघके दर्शनार्थ जा रहा था, किन्तु गुरुनिन्दा और ज्ञानमदके कारण मार्गमे ही उसका सम्पूर्ण ज्ञान लुप्त हो गया और वह महामूर्ख बन गया। इस अनहोनी घटनासे राजा अत्यन्त दु खी हुआ और उसने पुत्र गर्दभको राज्यभार देकर अपने अन्य ५०० पुत्रोके साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा लेने के बाद भी वे मूर्ख ही रहे अर्थात् पचनमस्कारका उच्चारण भी वे नहीं कर सकते थे। इस दु खसे दुखित होकर यम मुनिराज गुरुसे आज्ञा लेकर तीर्थयात्रा को चल दिये। मार्गमें उन्होने गर्दभयुक्त रथ, गेद खेलते हुए बालक और मेढ़क एव सर्पके निमित्तसे होने वाली घटनाओसे प्रेरित होकर तीन खण्डश्लोको की रचना की।

यम मुनिराज साधु सम्बन्धी प्रतिक्रमण, स्वाध्याय एव कृतिकर्म आदि सभी क्रियाएँ इन तीन खण्ड श्लोको द्वारा ही किया करते थे, इसीके बलसे उन्हे सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थीं।

अन्यत्र भी - एक राजा ने भिक्षा से उदरपूर्ति करने वाले एक अज्ञ एव अन्धे का वाक्य सुनकर हँसी से कण्ठस्थ कर लिया। उस वचन से उनके ऊपर आई हुई आपत्ति टल गई। जब एक अन्धे और अज्ञ भिखारी

का वचन भी राजा जैसे महापुरुष की आपत्ति को दूर करने में निमित्त बन गया तब जिनागम का अभ्यास करने से क्या-क्या अभिलषित पूर्ण न होगा ? अवश्य पूर्ण होगा।

दृढसूर्योऽथ शूलस्थो, जातो देवो महर्द्धिकः।
नमस्कार-श्रुताभ्यासं, कुर्वाणो भक्तितो मृतः ॥८०६॥

अर्थ - शूली पर चढ़ाया हुआ दृढ़सूर्य नामक चोर भक्तिपूर्वक पचनमस्कार मात्र श्रुतज्ञान में चित्त की एकाग्रता करके मरण को प्राप्त हुआ और स्वर्ग मे महाऋद्धिशाली देव हुआ॥८०६॥

❋ दृढसूर्य चोर की कथा ❋

दृढसूर्य नामका चोर था। वह एक दिन अपनी प्रेमिका वेश्याके कहनेसे राज्यमें चोरी करने गया। वह सीधा राजमहल पहुँचा। भाग्यसे हार उसके हाथ पड़ गया। वह उसे लिये हुए राजमहलसे निकला। उसके निकलते ही पहरेदारोंने पकड लिया। सवेरा होते ही वह राजसभामे पहुँचाया गया। राजाने उसे शूलीकी आज्ञा दी। वह शूली पर चढ़ाया गया। इसी समय धनदत्त नामके एक सेठ दर्शन करनेको जिनमन्दिर जा रहे थे। दृढ़सूर्यने उनके चेहरे और चालढ़ालसे उन्हे दयालु समझकर उनसे कहा-सेठजी, आप बड़े जिनभक्त और दयावान् हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि मैं इस समय बड़ा प्यासा हूँ, सो आप कहींसे थोडासा जल लाकर मुझे पिलादें तो आपका बड़ा उपकार हो।

परोपकारी धनदत्त स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाला पच नमस्कार मत्र उसे सिखाकर आप जल लेनेको चला गया। वह जल लेकर वापिस लौटा, इतने मे दृढसूर्य मर गया। पर वह मरा नमस्कार मत्रका ध्यान करते हुए। उसे सेठके इस कहने पर पूर्ण विश्वास हो गया था कि यह विद्या महाफलको देनेवाली है। नमस्कार-मत्रके प्रभाव से वह सौधर्म-स्वर्गमे जाकर देव हुआ। सच है-पच नमस्कार मत्रके प्रभावसे मनुष्यको क्या प्राप्त नहीं होता!

मृत्युकाले श्रुतस्कन्धः, समस्तो द्वादशाङ्गकः।
बलिना शक्ति-चित्तेन, यतो ध्यातुं न शक्यते ॥८०७॥

अर्थ - मृत्यु के समय बलवान अर्थात् सामर्थ्य-सम्पन्न चित्त वाला मनुष्य भी समस्त द्वादशाग श्रुतस्कन्ध का अनुचिन्तन करने मे समर्थ नहीं हो सकता॥८०७॥

प्रश्न - क्या बहुश्रुतज्ञानी मुनि भी सम्पूर्ण श्रुत का ध्यान नहीं कर सकते ?

उत्तर - किसी भी काल और किसी भी क्षेत्र मे सम्पूर्ण द्वादशाग श्रुतज्ञान ध्यान का विषय नहीं होता, फिर मरण समय मे तो समस्त श्रुतज्ञान ध्यान का विषय बन ही नहीं सकता, भले द्वादशाग के पाठी कितने ही बलशाली मुनि क्यो न हो।

एकत्रापि पदे यत्र, संवेगं जिन-भाषिते।
संयतो भजते तत्र, त्यजनीयं ततस्तदा ॥८०८॥

अर्थ - जिनेन्द्रोपदिष्ट आगम के जिस एक पद के चिन्तन से आत्मा में रत्नत्रय की श्रद्धा दृढ हो, क्षपक

को प्रसन्नता हो और उसमें संवेग भाव की जाग्रति हो, मृत्युकाल में उसी एक पद का बार-बार चिन्तन करना चाहिए॥८०८॥

जिनपति-वचनं भव-भय-मथनं, शशिकर-धवलं कृत-बुध-कमलम्।
धृतमिति हृदये हत-मल-निचये, वितरति कुशलं विदलति कलिलम्॥८०९॥

इति ज्ञानम्।

अर्थ - जिनोपदिष्ट वचन ससार के भय का मथन करने वाले हैं, चन्द्रमा की किरणों के सदृश धवल हैं, बुद्धिमानरूपी कमलों को विकसित करने वाले हैं। ये वचन पाप का नाश करते हैं और कुशलं अर्थात् पुण्य का वर्धन करते हैं अत. राग-द्वेष, मात्सर्य एव अहकार आदि मल रहित हृदयवाले हे क्षपक! तुम इन पवित्र वचनों को अपने हृदय में धारण करो॥८०९॥

इस प्रकार ज्ञानाभ्यास प्रकरण पूर्ण हुआ।

इस प्रकार श्लोक सख्या ७५४ मे कथित मिथ्यात्व वमन, सम्यक्त्व भावना, भक्ति, नमस्कार और ज्ञानाभ्यास इन पाँच विषयो का विवेचन यहाँ तक पूर्ण हुआ।

अब आगे श्लोक ७५५ मे कथित महाव्रतरक्षा, कषायनिग्रह, इन्द्रियविजय और तप मे उद्यम, इन चारो का विवेचन किया जा रहा है। इन चारो मे महाव्रतरक्षा का प्रकरण बहुत विस्तृत है।

अब पंच महाव्रत-रक्षा के प्रकरण में

अहिंसा महाव्रत

यावज्जीवं विमुञ्चस्व, यते! षड्जीव-हिंसनम्।
शरीर-वचनस्वान्तैः, कृत-कारित-मोदितैः॥८१०॥

अर्थ - हे यते! तुम मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना से जीवन पर्यन्त के लिए षट्काय के जीवो की हिसा का त्याग करो॥८१०॥

यथा न ते प्रियं दुःखं, सर्वेषां देहिनां तथा।
इति ज्ञात्वा सदा रक्ष, तान्स्वं स्वमिव यत्नतः॥८११॥

अर्थ - जैसे तुझे दुख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी प्राणियों को दुख प्रिय नहीं है, ऐसा जान कर अपने ही सदृश सब जीवो की यत्न से रक्षा करो॥८११॥

क्षुधा तृष्णाभिभूतोऽपि, विधाय प्राणि-पीडनम्।
मा कार्षीरपकारं त्वं, वपुर्वचन-मानसैः॥८१२॥

अर्थ - हे साधो! तुम क्षुधा-तृषा आदि से पीड़ित होने पर भी मन, वचन, काय से प्राणियों को पीड़ा देकर अपना अपकार मत करो॥८१२॥

प्रश्न - क्षपक को किस प्रकार के भाव नहीं करने चाहिए ?

उत्तर - मैं कपूर का चूर्ण डाल कर सुगन्धित किया हुआ और बर्फ सदृश शीतल जल का पान करूँ, अथवा अति सुगन्धित कमलरज से व्याप्त सरोवर मे स्नान करूँ। ललाट, मस्तक एव मेरी विशाल छाती पर बर्फ की थैली रखो तो मुझे अति आह्लाद होगा। यदि कमल, बालू और कोमल पल्लवो की शय्या मिलेगी तो ही मैं जीवित रह सकूँगा। मुझे रात-दिन प्यास सताती है, सूर्य के ताप से रक्षा कर पखे की शीतल वायु से मेरा ताप शान्त करो। वर्षा हो, बर्फ गिरे, शीतल हवा चले। अथवा आग जलाकर मेरे शीतल शरीर को गरम करो, मुझे सुगन्धित और गर्म दूध पिलाओ, अपूप आदि सुन्दर मिष्टान्न खिलाओ, इत्यादि। इस प्रकार के भाव क्षपक के मन में नहीं आने चाहिए। ऐसे परिणामों से अहिसा महाव्रत मे दोष लगता है। वेदना उत्पन्न हो जाने पर सोचना चाहिए कि असाता के तीव्र उदय से यह भूख, प्यास एव गर्मी-सर्दी आदि की तीव्र वेदना उत्पन्न हुई है अत उसका उपशमन होने पर स्वयमेव बाह्य अनुकूल पदार्थों का संयोग मिल जावेगा अत उनके लिए मुझे अपनी समता भग नहीं करनी चाहिए।

हर्षोत्सुकत्व-दीनत्व-रत्यरत्यादि-संयुतः।
त्वं भोग-परिभोगार्थं, मा कार्षीर्जीव-बाधनम् ॥८१३॥

अर्थ - हर्ष, उत्सुकता, दीनपना, रति एव अरति आदि खोटे भावो से युक्त होकर तुम भोग एव उपभोग के लिए जीवों को बाधा मत देना ॥८१३॥

माक्षिकं मक्षिकाभिर्वा, स्तोक-स्तोकेन संचितम्।
मा नीनशो जगत्सारं, संयमं चेन्न पूरये: ॥८१४॥

अर्थ - मधुमक्खियाँ जैसे थोड़ा-थोड़ा मधु-सचय करती हुई एकत्र कर पाती है, वैसे ही हे क्षपक ! तुम्हारे द्वारा थोडा-थोड़ा करके जो सयम सचय किया गया है, जगत् मे सारभूत उस सयम को यदि पूर्ण न कर सके तो भी नष्ट तो मत करना ॥८१४॥

नृत्वं जातिः कुलं रूपमिन्द्रियं जीवितं बलम्।
श्रवणं ग्रहणं बोधिः, संसारे सन्ति दुर्लभाः ॥८१५॥

अर्थ - ससार मे मनुष्य-भव प्राप्त होना दुर्लभ है, उसमे उच्च जाति, उच्च कुल और भी अधिक दुर्लभ है, उसमे भी सुन्दर रूप, इन्द्रियों की पूर्णता, दीर्घायु, बल, धर्मश्रवण, धर्मग्रहण उत्तरोत्तर अतिदुर्लभ हैं। ये कथचित् सुलभ भी हो जावे किन्तु बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति तो अत्यधिक दुर्लभ है ॥८१५॥

प्रश्न - मनुष्य कितने प्रकार के होते हैं और उनके लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज और सम्मूर्च्छनज के भेद से मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। जहाँ असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और सेवा अथवा न्यायदान, ऐसे छह कार्यों से उपजीविका की जाती है, जहाँ के मनुष्य सयम एव तप में तत्पर रहते हुए स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, वे कर्मभूमिज मनुष्य हैं। पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह के भेद से ये कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं।

यह ससारी प्राणी सबसे अधिक जन्म तिर्यंचगति मे लेता है। देव-नारकियो की अपेक्षा भी मनुष्य गति मे बहुत कम बार जन्म होता है, चारो गतियों के जीवों मे से मनुष्य गति के जीवों की सख्या अल्प है। इनमें भी उच्चकुल और उच्चजाति वाले मनुष्य अल्पसख्यक हैं।

जहाँ मनुष्य मद्याग, तूर्यांग, वस्त्राग, भोजनाग, पात्राग, आभरणाग, माल्यांग, गृहाग, दीपाग और ज्योतिरग जाति के कल्पवृक्षों से जीवनयापन करते है, मन्द कषायी होते हैं, मरकर देव-गति मे ही जाते हैं, उन्हे भोगभूमिज मनुष्य कहते हैं।

जो मनुष्य लवण समुद्र और कालोद समुद्र-गत ९६ अन्तर्द्वीपो मे जन्म लेते हैं, कन्दमूल, फल एव मिट्टी खाते है, पशुवत् आचरण करते हैं, अभाषक, गूँगे, एक टाग वाले, पूँछ वाले, सींग वाले, दर्पणमुख, हाथी, घोडा, बिजली एव उल्का मुख वाले एव गजकर्ण, अश्वकर्ण तथा कर्णप्रावरण आदि रूप होते हैं उन्हे अन्तर्द्वीपज मनुष्य कहते हैं।

जो कर्मभूमियो मे चक्रवर्ती, बलदेव आदि के कटक के मल, मूत्र, कफ, नाक, कान और दन्त-मल युक्त अपवित्र स्थानो में सम्मूर्च्छन-जन्म से जन्म लेकर शीघ्र ही मर जाते हैं, ये अपर्याप्तक ही होते हैं और इनके शरीर की अवगाहना अगुल के असख्यातवे-भाग प्रमाण ही होती है, ऐसे मनुष्यो को सम्मूर्च्छनज मनुष्य कहते हैं।

प्रश्न - किस-किस की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है और क्यो ?

उत्तर - इस ससार मे मनुष्य भव की प्राप्ति दुर्लभ है क्योकि मनुष्य अल्पसख्यक हैं। मनुष्य भव मे भी उच्च जाति एव उच्च कुल मे जन्म अधिक दुर्लभ है। उच्च कुल मे भी कई जीव गर्भ मे, कोई बाल्य अवस्था मे ही मर जाते हैं अत दीर्घायु दुर्लभ है। दीर्घायु मे भी अधिकाश मनुष्य हीनाग, अधिकाग, अधे, गूँगे एव बहरे होते हैं अत इन्द्रियो की पूर्णता प्राप्त करना दुर्लभ है, इसके होने पर भी शारीरिक बल की प्राप्ति दुर्लभ है। यह होने पर भी सत्य बोलने की प्रवृत्ति का प्राप्त होना दुर्लभ है, इस पर भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हिताहित के विवेक मे समर्थ बुद्धि की प्राप्ति होना दुर्लभ है। इसके बिना प्राप्त भी मनुष्य भव उसी प्रकार निरर्थक है जैसे नेत्र बिना मुख और यथार्थता से रहित वचन व्यर्थ है। बुद्धि प्राप्त हो जाने पर भी श्रद्धा सहित आप्त वचनो को श्रवण करने की वाँछा जाग्रत होना अतिदुर्लभ है और इस वाँछा के बिना प्राप्त बुद्धि भी कमल रहित सरोवर के सदृश निष्फल है। उन वचनो पर श्रद्धा दृढ़ होना दर्शनमोह के उदय के कारण अति दुर्लभ है। श्रद्धा सहित सुन लेने पर भी उसे ग्रहण एव धारण कर लेना अतिदुर्लभ है। धारण किये हुए के अनुसार उस मार्ग में प्रवृत्त हो जाना अतिदुर्लभ है क्योकि शारीरिक अनुकूलता एव उत्तम गुरु की प्राप्ति के साथ-साथ चारित्रमोहनीय का उदय न होना आवश्यक है। इसकी प्राप्ति हो जाने पर भी बोधिरत्न की प्राप्ति होकर उसका मरण पर्यन्त स्थिर रहना अत्यधिक दुर्लभ है।

जीवघात से हुए दोष का माहात्म्य

देवैरकं वृणीष्व त्वं, त्रैलोक्य-जीवितव्ययोः।
इत्युक्तो जीवितं मुक्त्वा, त्रैलोक्यं वृणुतेऽत्र कः ॥८१६॥

त्रैलोक्येन यतो मूल्यं, जीवितव्यस्य जायते।
जीव-जीवित-घातोऽतस्त्रैलोक्य-हननोपमः ॥८१७॥

अर्थ - तीनो लोक और जीवन इन दोनों में से तुम किसी एक को स्वीकार करो। ऐसा किसी देव के द्वारा कहे जाने पर कौन प्राणी अपना जीवन त्याग कर तीनो लोकों को ग्रहण करेगा ? अत: यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक प्राणी के जीवन का मूल्य तीन लोक है, अत· जीवघात करने वाले को तीनों लोकों के घात करने सदृश दोष होता है ॥८१६-८१७॥

प्राप्य दुर्लभ-संतत्या, श्रामण्यं सुख-साधकम्।
एकाग्र-मानसो रक्ष, निधानमिव सर्वदा ॥८१८॥

अर्थ - परम्परा से मिले हुए उस दुर्लभ सुख के साधनभूत मुनिपने को प्राप्त करके हे क्षपक ! एकाग्र मन होकर निधि के समान तुम इसी की सदा रक्षा करना ॥८१८॥

अल्पं यथाणुतो नास्ति, महदाकाशतो यथा।
अहिंसाव्रततो नास्ति, तथा परमुरुव्रतम् ॥८१९॥

अर्थ - जैसे अणु से छोटा और आकाश से बड़ा अन्य कोई द्रव्य नहीं है, वैसे ही अहिसा व्रत से विशाल अन्य कोई व्रत नहीं है ॥८१९॥

पर्वतेषु यथा मेरुश्चक्रवर्ती यथा नृषु।
जीव-रक्षाव्रतं सारं, सर्वस्मिन्नपि व्रते तथा ॥८२०॥

अर्थ - जैसे सब पर्वतो मे सारभूत श्रेष्ठ पर्वत सुमेरु है और मनुष्यो मे महान् चक्रवर्ती है, वैसे ही सर्व व्रतो मे श्रेष्ठ व्रत अहिंसाव्रत है ॥८२०॥

अहिसा व्रत सब व्रतों का आधार है

यथाकाशे स्थितो लोको, धरण्यां द्वीप-सागराः।
सर्व-व्रतानि तिष्ठन्ति, जीवत्राण-व्रते तथा ॥८२१॥

अर्थ - जैसे यह लोक आकाश के आधार और सर्व द्वीप-समुद्र पृथिवी के आधार स्थित है, वैसे ही सर्व व्रत अहिंसाव्रत के आधार पर स्थित हैं ॥८२१॥

यथा तिष्ठन्ति चक्रस्य, न तुम्बेन विनारकाः।
एतैर्विना न तिष्ठन्ति, यथा चक्रस्य नेमयः ॥८२२॥

तथा शीलानि तिष्ठन्ति, न विना जीवरक्षया।
तस्याः शीलानि रक्षार्थं, सस्यादीनां यथा वृतिः ॥८२३॥

अर्थ - जैसे चक्र के आरे तुम्बी बिना नहीं ठहरते और आरो के बिना नेमि अर्थात् धुरा नहीं ठहरती,

वैसे ही अहिंसा व्रत के बिना सब शील नहीं ठहरते। जैसे धान्य की रक्षा हेतु बाड़ होती है, वैसे ही अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए शीलव्रतों का पालन है॥८२२-८२३॥

व्रतं शीलं तपो दानं, नैर्ग्रन्थ्यं नियमो गुणः।
सर्वे निरर्थकाः सन्ति, कुर्वतो जीव-हिंसनम्॥८२४॥

अर्थ - जीवहिंसा में तत्पर मनुष्य के व्रत, शील, तप, दान, मुनिपद, नियम एव गुण, ये सभी निरर्थक हैं अर्थात् मुक्ति के उपायभूत सवर-निर्जरा रूप फल नहीं देते॥८२४॥

आश्रमाणां मतो गर्भः, शास्त्राणां हृदयं परम्।
पिण्डं नियम-शीलानां, समतानामहिंसनम्॥८२५॥

अर्थ - सब आश्रमो का गर्भ, सब शास्त्रों का हृदय तथा नियम, शील और समता का पिण्ड यह अहिंसा ही है॥८२५॥

असूनृतादिभिर्दुःखं, जीवानां जायते यतः।
परिहारस्ततस्तेषां, अहिंसाया गुणोऽखिलः॥८२६॥

अर्थ - असत्य, चोरी, मैथुन एव परिग्रह आदि पापो से जीवों को दुख होता है, अत उन सबका त्याग किया जाता है। पापो के त्याग से जो सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह आदि गुण हैं वे अहिसा के ही गुण हैं॥८२६॥

गो-स्त्री-ब्राह्मण-बालानां, धर्मो यद्यस्त्यहिंसनम्।
न तदा परमो धर्मः, सर्व-जीवदया कथम्॥८२७॥

अर्थ - यदि गौ, स्त्री, ब्राह्मण एव बालकों के वध मात्र से निवृत्ति उत्कृष्ट धर्म है तब सब प्राणियो पर दया करना परम धर्म क्यो नहीं है? अवश्यमेव है॥८२७॥

सर्वैः सर्वे समं प्राप्ताः, सम्बन्धा जन्तुभिर्यतः।
सम्बन्धिनो निहन्यन्ते, ततस्तान्निघ्नता ध्रुवम्॥८२८॥

अर्थ - सब जीवो के साथ सब जीवो के सब प्रकार के सम्बन्ध पूर्व भवों मे रह चुके हैं, तब उन जीवो को मारने वाला नियमत अपने सम्बन्धियो को ही मारता है, ऐसा सिद्ध होता है॥८२८॥

आत्मघातोऽङ्गिनां घातो, दया तस्यात्मनो दया।
विषकाण्ड इव त्याज्या, हिंसातो दुःख-भीरुणा॥८२९॥

अर्थ - जीवो का घात अपना ही घात है और जीवों पर की गई दया अपने पर ही की गई दया है, अत· हिंसा सम्बन्धी दुखों से भयभीत मनुष्यों को विषैले काँटे के सदृश हिंसा करना छोड़ देना चाहिए॥८२९॥

उद्वेगं कुरुते हिंस्रो, जीवानां राक्षसो यथा।
सम्बन्धिनोऽपि नो तस्य, विश्वासं जातु कुर्वते॥८३०॥

अर्थ - जो दूसरों का घात करने में तत्पर रहते हैं उनसे मनुष्य वैसे ही डरते हैं जैसे राक्षस से। उस हिंसक पर उसके सम्बन्धी जन भी विश्वास नहीं करते॥८३०॥

इह बन्धं वधं रोधं, यातनां देश-धाटनम्।
हिंस्रो वैरमभोग्यत्वं, लब्ध्वा गच्छति दुर्गतिम्॥८३१॥

अर्थ - जीवों की हिंसा करने वाला इसी जन्म में बन्धन, वध, कारागृह, शारीरिक एव मानसिक यातनाएँ, देश-निष्कासन, वैर और जातिच्युत आदि दण्ड भोगकर अन्त मे दुर्गति को प्राप्त होता है॥८३१॥

यतो रुष्टः परं हत्वा, कालेन म्रियते स्वयम्।
हत-हन्त्रोस्ततो नास्ति, विशेषस्तं क्षणं बिना॥८३२॥

अर्थ - क्रोधित होकर जो मनुष्य दूसरो को मारता है, समय आ जाने पर वह स्वय किसी एक दिन मरण को प्राप्त हो जाता है, अत मारने वाले और मरने वाले में काल के अतिरिक्त अन्य कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् जिसे मारा वह पहले मरा और मारने वाला पीछे मरा, और कुछ नहीं॥८३२॥

अल्पायुर्दुर्बलो रोगी, विरूपो विकलेन्द्रियः।
दुष्टगन्ध-रस-स्पर्शो, जायतेऽमुत्र हिंसकः॥८३३॥

अर्थ - हिसक प्राणी जन्मान्तर मे अल्पायु, दुर्बल, रोगी, विरूप, विकल-इन्द्रिय, दुर्गन्धयुक्त, बुरे रस और कर्कश स्पर्श वाला होता है॥८३३॥

एकोऽपि हन्यते येन, शरीरी-भव-कोटिषु।
म्रियते मार्यमाणोऽङ्गी, विधानैर्विविधैरसौ॥८३४॥

अर्थ - जो प्राणी एक भी जीव को मारता है, वह करोडो जन्मो मे परवश होकर अनेक प्रकार से मारा जाकर मरता है॥८३४॥

दुर्गतौ यानि दुःखानि, दुःसहानि शरीरिणाम्।
हिसा-फलानि सर्वाणि, कथ्यन्ते तानि सूरिभिः॥८३५॥

अर्थ - ससारी प्राणियो को दुर्गतियो मे जो-जो दु सह दुख भोगने पडते है वे सब हिसा के ही कटु फल हैं, ऐसा आचार्यों ने कहा है॥८३५॥

हिंसा का लक्षण

हिसातोऽविरतिर्हिंसा, यदि वा वध-चिन्तनम्।
यतः प्रमत्ततायोगस्ततः प्राण-वियोजकः॥८३६॥

अर्थ - हिसा से विरत न होना ही हिसा है। अर्थात् "मैं प्राणियो का घात नहीं करूँगा" ऐसा सकल्प न करना हिसा है। अथवा "मै मारूँ" ऐसा चिन्तन करना हिसा है, क्योकि अविरति आदि प्रमत्तयोग ही प्राणो का वियोगज अर्थात् घातक है॥८३६॥

प्रश्न - प्रमाद कितने और कौन-कौन से होते हैं ? तथा हिंसा का क्या लक्षण है ?

उत्तर - चार विकथा, चार कषाय, पंच इन्द्रियों की आधीनता, निद्रा और स्नेह, ये पन्द्रह प्रकार के प्रमाद हैं। ये पन्द्रह प्रकार के प्रमाद अपने भाव प्राणो के और दूसरों के द्रव्य प्राण एव भावप्राणों के घातक होते हैं अत इन्हें भी हिंसा कहा है।

अथवा रागी, द्वेषी एव मूढ़ात्माएँ जो-जो कार्य करती हैं वह सब हिंसा है, वहाँ प्राणियों के प्राणों का घात हो भी और न भी हो। कारण कि प्रमाद परिणत आत्मा ही स्वय हिसा है और अप्रमत्तात्मा अहिंसक है।

हिंसा सम्बन्धी क्रियाओं के भेद

द्वैषिकी कायिकी प्राणघातिकी पारितापिकी।
क्रियाधिकरणी चेति, पञ्च हिंसा-प्रसाधिकाः ॥८३७॥

अर्थ - इष्ट स्त्री एव धन-हरण आदि के निमित्त उत्पन्न होने वाला क्रोध प्रद्वेष है। इस द्वेषयुक्त क्रिया को द्वैषिकी क्रिया कहते हैं। दुष्टता पूर्वक शरीर की क्रिया करना कायिकी क्रिया है, प्राणघातक क्रिया प्राणघातिकी क्रिया है, पर को सन्ताप देने वाली क्रिया पारितापिकी क्रिया है और हिंसा के उपकरणो का लेन-देन करना क्रियाधिकरिणी क्रिया है। ये पाँचो क्रियाएँ हिसा-प्रसाधिका हैं॥८३७॥

हिंसा त्रिभिश्चतुर्भिश्च, पञ्चभिः साधयन्ति ताः।
क्रिया बन्धः समानेन, द्वैषिकी कायिकी क्रिये॥८३८॥

अर्थ - द्वैषिकी आदि पाँचों क्रियाएँ मन, वचन और काय, इन तीन योगो द्वारा, क्रोधादि चार कषायों द्वारा और स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियो द्वारा हिंसा को साध लेती हैं या सिद्ध करा लेती हैं। यदि द्वैषिकी एव कायिकी आदि क्रियाएँ मनुष्य एक सदृश परिणामो से करता है तो इस हिंसा से होने वाला कर्मबन्ध समान होता है और क्रियाओ की प्रक्रियाएँ एव परिणाम असमान होने पर कर्मबन्ध भी असमान होता है अर्थात् तीव्र, मध्यम या मन्दरूप परिणामो से तीव्र, मध्यम या मन्द बन्ध होता है॥८३८॥

अधिकरण के भेद प्रभेद

जीवाजीव-विकल्पेन, तत्राधिकरणं द्विधा।
शतमष्टोत्तरं पूर्वं, द्वितीयं च चतुर्विधम्॥८३९॥

अर्थ - हिसा के अधिकरण दो हैं। एक जीवाधिकरण और दूसरा अजीवाधिकरण। उनमे जीवाधिकरण एक सौ आठ भेद वाला है और दूसरा अजीवाधिकरण चार प्रकार का है॥८३९॥

प्रश्न - यहाँ अधिकरण मे जीव और अजीव कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - केवल जीव द्रव्य हिंसा मे सहायक नहीं होता, किन्तु जीव की पर्याय सहायक होती है अर्थात् जीव का हिंसादियुक्त परिणाम हिंसा का अभ्यन्तर कारण होता है, मात्र जीव द्रव्य नहीं।

इसी प्रकार अजीव शब्द से अजीव द्रव्य की वह पर्याय ग्रहण करना जो हिंसा में सहयोगी हो रही है, इसीलिए हिंसात्मक क्रियाएँ क्वचित्-कदाचित् होती हैं, सदा काल नहीं। अजीव द्रव्य तो सदा विद्यमान रहता

है अत: सदा कार्य होते रहने का प्रसग प्राप्त हो जायगा, किन्तु पर्याय अपने-अपने कारणों के होने पर ही होती है अत: वह कदाचित् ही सहायक होती है।

जीवाधिकरण के भेद

विधिना योग-कोपादि-संरम्भादि-कृतादय:।
भिदा भवन्ति पूर्वस्य, गुण्यमाना: परस्परम्॥८४०॥

अर्थ - मनोयोग, वचन योग, काय योग, क्रोध, मान, माया और लोभ, सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ एव कृत, कारित और अनुमोदना इन सबका परस्पर मे गुणा करने पर जीवाधिकरण के एक सौ आठ भेद होते हैं॥८४०॥

प्रश्न - सरम्भ, समारम्भ एव आरम्भ ये तीनो इसी क्रम से प्रयुक्त होते हैं या अन्य प्रकार हैं ?

उत्तर - चेतनात्मा की कोई भी क्रिया अर्थात् व्यापार प्रयत्नपूर्वक ही होता है अत सर्व प्रथम सरम्भ कहा गया है, क्योंकि प्रमादयुक्त प्राणी, प्राणघात आदि के लिए जो प्रयत्न अर्थात् चिन्तनादि करता है उसे सरम्भ कहते हैं। हिंसा आदि साध्य क्रिया के साधनो को एकत्रित करना समारम्भ है, क्योंकि साधनो के अभाव मे चिन्तित कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते अत. सरम्भ के बाद समारम्भ कहा गया है। साधनो का सचय हो जाने पर कार्य प्रारम्भ कर देना, यह आरम्भ है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने की यही विधि है अत. इन तीनो का उपयोग इसी क्रम से होता है। इन तीनो को योग, कषाय एव कृत, कारित और अनुमति से गुणा कर देने पर जीवाधिकरण के एक सौ आठ भेद होते हैं।

संरम्भोऽकथि संकल्प:, समारम्भो वितापक:।
शुद्ध-बुद्धिभिरारम्भ:, प्राणानां व्यपरोपक:॥८४१॥

अर्थ - शुद्ध बुद्धि वाले गणधरादि देव हिंसादि कार्य करने के पूर्व मात्र सकल्प को सरम्भ कहते हैं। सन्ताप देने को समारम्भ कहते हैं और कार्य प्रारम्भ कर देने को आरम्भ कहते हैं। यह आरम्भ प्राणो के घात रूप होता है॥८४१॥

अजीवाधिकरण के भेद-प्रभेद

निर्वर्तना सनिक्षेपा, संयोग: सनिसर्गक:।
द्वि-चतुर्द्वि-त्रि-भेदा:, स्युर्द्वितीयस्य यथा-क्रमम्॥८४२॥

अर्थ - अजीवाधिकरण के चार भेद हैं निर्वर्तना, निक्षेप, सयोग या सयोजना और निसर्ग। क्रमानुसार निर्वर्तना के दो भेद, निक्षेप के चार भेद, सयोजना के दो भेद और निसर्ग के तीन भेद होते हैं॥८४२॥

निर्वर्तनोपधिर्देहो, दु:प्रयुक्तोऽभिधीयते।
निक्षेप: सहसा-दृष्ट-दुर्दृष्टाप्रत्यवेक्षणौ॥८४३॥

अर्थ - उपधि निर्वर्तना और शरीर निर्वर्तना के भेद से निर्वर्तना के दो भेद हैं। सहसा निक्षेप, अदृष्ट निक्षेप, दुर्दृष्ट निक्षेप और अप्रत्यवेक्षण निक्षेप के भेद से निक्षेप चार प्रकार का है॥८४३॥

आहारोपधि-भेदेन, द्विधा संयोजनं मतम्।
दुःसृष्टाः स्वान्त-वाक्काया, निसर्गस्त्रि-विधो मतः ॥८४४॥

अर्थ - आहार-पान संयोग और उपधि सयोग के भेद से सयोग दो प्रकार का है तथा मन की दुष्प्रवृत्ति, वचन की दुष्प्रवृत्ति और कार्य की दुष्प्रवृत्ति के भेद से निसर्ग के तीन भेद हैं॥८४४॥

प्रश्न - निर्वर्तनाधिकरण आदि के क्या-क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - आस्रव के मुख्यत दो आधार हैं। जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण। जीव के भावों एव क्रियाओं के आधार से जो आस्रव होता है वह जीवाधिकरण है और अजीव की क्रिया के आधार से जो आस्रव होता है वह अजीवाधिकरण है। जीवाधिकरण के सरम्भ आदि एक सौ आठ भेद पुण्यास्रव एव पापास्रव इन दोनों के लिए हेतु हैं किन्तु अजीवाधिकरण के निर्वर्तनादि भेद-प्रभेद पापास्रव के ही हेतु हैं। यथा - **उपधिनिर्वर्तना:** जिनके द्वारा जीवों को बाधा हो ऐसे छिद्र वाले उपकरणो का निर्माण करना। या जिन उपकरणों के निर्माण में ही जीवों का घात होता है उसे उपधि निर्वर्तना कहते हैं।

शरीर निर्वर्तना-शरीर से असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना। या शरीर की दुष्ट कार्यों मे प्रवृत्ति होना शरीर निर्वर्तना है।

रखने को **निक्षेप** कहते हैं। इसके चार भेद हैं -

सहसा निक्षेप - उपकरण या पुस्तक आदि या शरीर का मल आदि भय से अथवा अन्य किसी कारणान्तर से सहसा रख देना या शीघ्रता से त्याग करना सहसा निक्षेप है।

अदृष्ट निक्षेप - उपकरण आदि को बिना देखे ही पृथ्वी आदि पर शीघ्रता से रख देना, अदृष्ट निक्षेपाधिकरण है।

दुर्दृष्ट निक्षेप - उपकरणादि को असावधानी से या दुष्टता पूर्वक पृथ्वी आदि को साफ करके रखना। या वे उपकरणादि दुष्टता पूर्वक साफ करके रखना, दुर्दृष्ट निक्षेपाधिकरण है।

अप्रत्यवेक्षण निक्षेप - बिना देखे सीधे ही वस्तु रख देना। अथवा स्थान की सफाई करने के पश्चात् पुन उस स्थान को देखे बिना वस्तु रख देना अप्रत्यवेक्षण निक्षेपाधिकरण है।

आहार-पान संयोग - आहार और पान का परस्पर इस प्रकार मिलाना जिसमें जीव-बाधा हो। एक जल मे दूसरा जल या एक भोजन मे दूसरा भोजन मिलाना या भोजन मे पेय आदि मिलाना। या उष्ण जल मे ठण्डा जल मिलाना, या उष्ण भात मे ठण्डी छाछ मिलाकर खाना या उबलती हुई खिचड़ी या दाल में ठण्डा जल डाल देना। यह सब आहार-पान सयोगाधिकरण है। यहाँ इतना विशेष जानना कि जिस पेय या भोजन में सम्मूर्च्छन जीव होते हैं या जिह्वा की लोलुपता होती है वहाँ यह सम्मिश्रण हिंसा का अधिकरण स्वीकार किया गया है, सर्वत्र नहीं।

उपधि संयोग - पीछी, कमण्डलु एव पुस्तकादि उपकरणों का इस प्रकार सयोग करना जिससे जीवों

को बाधा हो। जैसे शीत स्पर्श वाली पुस्तक या कमण्डलु आदि को धूप से तप्त पीछी द्वारा समार्जन कर लेना उपधि सयोगाधिकरण है।

निसर्गाधिकरण - मन, वचन और काय की दुष्टता पूर्वक की हुई प्रवृत्ति को निसर्गाधिकरण कहते हैं।

अहिंसा की रक्षा के उपाय

नास्तीन्द्रिय-सुखं किञ्चिज्जीव-हिंसां विना यतः।
निरपेक्षस्ततस्तस्मिन्नहिंसां पाति पावनीम् ॥८४५॥

अर्थ - यत छह काय के जीवो की हिसा के बिना इन्द्रियजन्य सुख की प्राप्ति नहीं होती। नाना प्रकार के स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला एव हार आदि का सेवन जीवो को पीडादायक ही होता है क्योकि इनकी प्राप्ति बहुत आरम्भपूर्वक होती है। अत जो इन्द्रियसुख की अपेक्षा नहीं करता, अर्थात् उस सुख से एकदम निरपेक्ष है वही साधु पवित्र अहिंसा का पालन कर सकता है, इन्द्रिय-सुखाभिलाषी नहीं॥८४५॥

कषाय-कलुषो यस्माज्जीवानां कुरुते वधम्।
निःकषायो यतिस्तस्मादहिंसा-रक्षण-क्षमः ॥८४६॥

अर्थ - जिस प्रकार कषाय से कलुषित चित्त वाला व्यक्ति जीवो का वध करता है, उसी प्रकार कषाय-रहित मुनि अहिंसा के पालने मे समर्थ माना जाता है॥८४६॥

शयनासन-निक्षेप-ग्रह-चङ्क्रमणादिषु।
सर्वत्राप्यप्रमत्तस्य, जीव-त्राणं व्रतं यतेः ॥८४७॥

अर्थ - शयन, आसन, उपकरणो को रखने, उठाने, ग्रहण करने, उठने एव चलने आदि मे जो दयालु साधु सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह अहिसक होता है॥८४७॥

विवेक-नियताचार-प्रासुकाहार-सेविनि।
मनोवाक्कायगुप्तेऽस्ति, दयाव्रतमखण्डितम् ॥८४८॥

अर्थ - जो मुनि विवेकपूर्वक आचरण करता है, प्रासुक आहार का सेवन करता है तथा काय को वश मे रखता है उस मुनिराज में दयाव्रत अखण्डित माना जाता है॥८४८॥

आरम्भेऽङ्गि-वधे-जन्तुरप्रासुक-निषेवणे।
प्रवर्ततेऽनुमोदे च, शश्वज्ज्ञान-रतिं विना॥८४९॥

अर्थ - जिस जीव की ज्ञान मे सतत रति नहीं होती, वह आरम्भ मे, प्राणी-वध मे, अप्रासुक आहार मे स्वय प्रवृत्ति करता है एव इनमे प्रवृत्त होने वाले जीवो की अनुमोदना करता है॥८४९॥

मुनिनानिच्छता लोके, दुःखानि धृतये सदा।
उपयोगो विधातव्यो, जीवत्राण-व्रते परः ॥८५०॥

अर्थ - इस लोक में जो मुनि दुखों को नहीं चाहता है, उस मुनि को धैर्यपूर्वक सदा ही अहिसाव्रत में उपयोग लगाना चाहिए॥८५०॥

छन्द-शालिनी

अप्येकाहर्व्यापकेन प्रकृष्टः, प्राप्तः पाणः प्रातिहार्यं सुरेभ्यः।
एकेनैव प्राणिरक्षा-व्रतेन, क्षिप्तः क्रूरोऽनेक-नक्रौघ-मध्ये॥८५१॥

अर्थ - यमपाल नामक चाण्डाल एक दिन के प्राणीरक्षा - व्रत से देवो द्वारा प्रातिहार्य को प्राप्त हुआ था और एक ही हिंसा से क्रूर राजपुत्र अनेक नक्रों से युक्त जलाशय में फेंका गया था॥८५१॥

❋ यमपाल चांडालकी कथा ❋

पोदनपुरमे राजा महाबल रहता था। एक बार उसने समस्त नगरमें नदीश्वर पर्वमे आठ दिन के लिए जीवघात एव मासनिषेध घोषित किया। एक दिन राजाके पुत्र ने ही मेढ़े को मारकर खा लिया क्योंकि वह मासलोलुपी था। उसके कृत्यका जब राजाको पता चला तब उसने उसे कठोर प्राण दण्डकी सजा दी। न्यायप्रिय राजाका न्याय सचमुचमे सबके लिये समान होता है। कुमारको वधस्थान पर ले जानेको कहा और चाडालको मारनेके लिए बुलाया गया, वह दिन चतुर्दशी तिथिका था, यमपालने एक मुनिसे चतुर्दशीके दिन हिसा नहीं करने का नियम लिया था। उसने अपने नियमपर अडिग रहते हुए फाँसी देनेको मना करते हुए कहा कि मेरा आज अहिंसाव्रत है मैं यह काम नहीं कर सकता। राजाको क्रोध आया। राजाने कहा कि इन दोनोको ले जाकर शिशुमार तालाब मे पोटली बाँधकर फेक दो।

राजाज्ञा के अनुसार कर्मचारियो ने दोनो की पृथक्-पृथक् पोटली बाँधकर तालाब मे डाल दी। यमपाल के अहिसाव्रत के प्रभाव से उसको देवो ने जल से निकालकर सिंहासन पर बिठाया और उसके अहिंसा व्रतमे दृढ रहनेकी भूरि-भूरि प्रशसा की। जो पापी मासलोलुपी राजकुमार था, उसको तो सब मगरमच्छ खा गये। इसप्रकार एक दिनके अहिंसाव्रतसे चाडाल बडी भारी विभूति और आदरको प्राप्त हुआ तो जो विधिपूर्वक पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन करेगा, उस मुनि के विषय मे क्या कहना ? वह तो निर्वाण प्राप्त करता ही है।

छन्द-वशस्थ

परा सपर्यां ददती निरत्यये, निवेशयन्ती बुधयाचिते पदे।
करोत्यहिंसा जननीव पालिता, सुखानि सर्वाणि रजांसि धुन्वती॥८५२॥

इति अहिंसामहाव्रतम्॥

अर्थ - यह अहिंसारूप जननी श्रेष्ठ पूजा को देती है, बुधजनो द्वारा याचित अविनाशी पद में प्रवेश कराती है और पापों का नाश कराती हुई सर्व सुखों को करती है। इस प्रकार अहिंसा का पालन करने पर इच्छित फल मिलते हैं॥८५२॥

इस प्रकार अहिंसा महाव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ।

सत्य महाव्रत का वर्णन

मुञ्चासत्यं वच: साधो !, चतुर्भेदमपि त्रिधा।
संयमं विदधानोऽपि, भाषा-दोषेण बाध्यते ॥८५३॥

अर्थ - हे साधो ! तुम मन, वचन, काय से चार प्रकार के असत्य का त्याग करो। सयम को धारण करते हुए भी यह जीव असत्यरूप भाषादोष से कर्म द्वारा बाधित होता है। अर्थात् अहिंसा का पालन करने पर भी यदि असत्य बोलता है तो उसके कर्मबन्ध अवश्य होता है॥८५३॥

प्रश्न - कर्मबन्ध के कारण तो मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगरूप आत्मपरिणाम हैं और वचन आत्मपरिणाम हैं नहीं। ये तो पुद्गल की पर्याय हैं फिर असत्य वचन-त्याग का उपदेश क्यो ?

उत्तर - "कारण बिना कार्य नहीं होता" इस नीत्यनुसार यहाँ मिथ्यात्व आदि को पुष्ट करने वाले या सयम से च्युत करने वाले आत्मपरिणाम कारण हैं और वचन उस आत्मपरिणाम के कार्य हैं अत यहाँ कार्यरूप असत्य वचन के त्याग का अभिप्राय कारणरूप तज्जन्य आत्मपरिणाम का भी त्याग हो जाना है।

'सद्‌निषेध' असत्य वचन

प्रथमं तद्वचोऽसत्यं, यत् तत: प्रतिषेधनम्।
अकाले मरणं नास्ति, नराणामिति यद्वच: ॥८५४॥

अर्थ - असत् वचन के चार भेदो मे सद्भूत अर्थात् विद्यमान का निषेध करना प्रथम असत्य वचन है। जैसे मनुष्य का अकालमरण नहीं होता इत्यादि। आगम मे मनुष्य के अकालमरण का कथन विद्यमान है और यह वचन उसका अपलाप करता है अत· 'सत् निषेध' नामक प्रथम असत्य है॥८५४॥

'अभूत उद्‌भावक' असत्यवचन

कलशोऽस्तीति यद्भूते, द्रव्यादीनां चतुष्टयम्।
अपर्यालोच्य यत्प्रोक्तमभूतोद्भावकं जिनै: ॥८५५॥

अर्थ - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस चतुष्टय की अपेक्षाओ का विचार किये बिना ही जो घट पहले था उसे वर्तमान मे विद्यमान है ऐसा कहना 'अभूत उद्‌भावक' नामक दूसरा असत्य वचन है, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है॥८५५।

प्रश्न - जो घट पहले था उसे वर्तमान मे विद्यमान कहना असत्य क्यो है ?

उत्तर - कोई भी वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है, यह सिद्धान्त है। जो स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् है वही पर द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा असत् है। जैसे जो घट मिट्टी द्रव्य की अपेक्षा सत् है, वही स्वर्ण घट की अपेक्षा असत् है। जो घट इस क्षेत्र की अपेक्षा सत् है, वही घट अन्य क्षेत्र की अपेक्षा असत् है। जो घट वर्तमान काल की अपेक्षा सत् है वही अतीत एव अनागत काल की अपेक्षा असत् है और जो घट स्व-स्वभाव की अपेक्षा सत् है, वही भावान्तर की अपेक्षा असत् है, अत घट इस रूप से सत् है, इस रूप से असत् है ऐसा विचार किये बिना ही 'घट है' इस प्रकार घटको सर्वथा सत् कहना असत् का उद्‌भावन होने से असत्य ही है।

अथवा

द्वितीयं तद्वचोऽसत्यमभूतोद्भावनं मतम्।
अस्त्यकाले सुराणां च, मृत्युरित्येवमादि यत्॥८५६॥

अर्थ - 'देवों के अकालमरण होता है' ऐसा कहना, अर्थात् जो नहीं है उसे 'है' कहना अभूत के उद्भावनरूप दूसरा असत्य है। आगम में देवों के अकालमरण का निषेध है फिर भी उसका अस्तित्व कहना असत्य है। ऐसे अन्य भी दृष्टान्त हैं॥८५६॥

'अन्य का अन्य' कहना तृतीय प्रकार का असत्य है

तृतीयं तद्वचोऽसत्यं, यदनालोच्य भाषते।
पदार्थमन्य-जातीयं, गौर्वाजीत्येवमादिकम्॥८५७॥

अर्थ - एक जाति की वस्तु को अन्य जाति की कहना, तीसरा असत्य है। जैसे बिना विचारे बैल को घोडा कहना। ऐसे अन्य उदाहरण भी समझना॥८५७॥

सावद्यं गर्हितं वाक्यमप्रियं च मनीषिभिः।
त्रि-प्रकारमिति प्रोक्तं, तुरीयकमसूनृतम्॥८५८॥

अर्थ - मनीषियो ने चतुर्थ असत्य के तीन भेद कहे हैं। सावद्य वचन, गर्हित वचन और अप्रिय वचन॥८५८॥

प्राणिघातादयो दोषाः, प्रवर्तंते यतोऽखिलाः।
सावद्यं तद्वचोज्ञेयं, षड्विधारम्भ-वर्णकम्॥८५९॥

अर्थ - जिस वचन से प्राणीवध आदि अखिलदोष उत्पन्न होते हैं वह सावद्य वचन है, जो षट्काय जीवों के आरम्भ का कथन करता है॥८५९॥

प्रश्न - 'षट्काय जीवो के आरम्भ' पद का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - जिस आरम्भ में षट्काय जीवो का घात हो ऐसे आरम्भ करने वाले वचन बोलना। यथा- आग जलाओ, फूल चुनो, इस बर्तन का पानी भैंस ने पी लिया है अत इसे धोकर पुन. भरो, इत्यादि। चोर को चोर, काने को काना कह देना, तथा मेरा यहाँ बोलना योग्य है या नहीं, अथवा मेरे वचन सदोष हैं या निर्दोष, इसका विचार किये बिना ही बोल देना, ये सब सावद्य वचन हैं।

कर्कशं निष्ठुरं हास्यं, परुषं पिशुनं वचः।
ईर्ष्यापरमसम्बद्धं, गर्हितं सकलं मतम्॥८६०॥

अर्थ - कर्कश अर्थात् घमण्डयुक्त, निष्ठुर, हास्य मिश्रित, परुष, चुगली, ईर्ष्या परक और असम्बद्ध वचन ये सब गर्हित वचन हैं॥८६०॥

अवज्ञा-कारणं वैरं, कलहं त्रास-वर्धकम्।
अश्रव्यं कटुकं ज्ञेयमप्रियं वचनं बुधैः॥८६१॥

अर्थ - अवज्ञाकारक, वैर-कलह एव त्रास को बढ़ाने वाले वचन, नहीं सुनने योग्य वचन और कटुक वचन ये सब अप्रिय वचन हैं, ऐसा बुद्धिमान् जन कहते हैं ॥८६१॥

प्रश्न - इन अप्रिय वचनों के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - **अवज्ञावचन** - 'तुझे धिक्कार है' इत्यादि। **वैर-उत्पन्नकारक वचन**-जैसे तू गधा है, तुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है, तेरे समान मूर्ख इस ससार मे और कोई नहीं है, इत्यादि। **कलहकारी वचन**-जैसे 'अन्धो के अन्धे होते हैं' जिससे महाभारत (युद्ध) हुआ। इत्यादि कलह उत्पन्न करने वाले या कलह को बढ़ानेवाले वचन। **परुष वचन**-जैसे तू अनेक दोषो का भण्डार है, इत्यादि मर्मच्छेदी वचन। **कटु वचन**-जैसे 'लगता है तू निंद्य जाति मे उत्पन्न हुआ है, तू धर्मरहित है, तू पापी है', इत्यादि वचन।

रागद्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोहादि-सम्भवम्।
वितथ वचनं हेयं, संयतेन विशेषतः ॥८६२॥

अर्थ - राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ और मोहादि से उत्पन्न हुआ असत्य वचन सयतजनो द्वारा विशेष रूप से त्याज्य है ॥८६२॥

सत्य वचन के लक्षण

विपरीतं तत. सत्यं, काले कार्ये मित हितम्।
निर्भक्तादि-कथं ब्रूहि, तदेव वचन शृणु ॥८६३॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुम उपर्युक्त असत्य वचनो से विपरीत सत्य वचन यथाकाल मे और प्रयोजन-वश ही हित-मित रूप से बोलो। तथा तुम स्वय भोजनकथा आदि विकथाओ से रहित बोलो और ऐसे ही सत्य वचन सुनो ॥८६३॥

प्रश्न - श्लोक मे आये हुए 'काले एव कार्ये' आदि पदो का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - यहाँ काल का अर्थ है कि षड़ावश्यको के समय के अतिरिक्त समय मे वह भी अवसर देखकर ही बोलना चाहिए। कार्य का अर्थ है प्रयोजन। यथा-रत्नत्रय आदि की शिक्षा देने के लिए, असयम का त्याग कराने के लिए या दूसरो को सन्मार्ग मे प्रेरित या स्थापित करने के लिए सत्य वचन बोलना चाहिए। केवल अयोग्य या असत्य नहीं बोलना सत्यव्रत पालन नहीं है, अपितु विकथा आदि से वर्जित हित और मित बोलना तथा ऐसे ही विकथादि रहित वचन सुनना चाहिए, क्योकि दूषित या असत्य भाषण अथवा वार्ता सुनने से अशुभ सकल्प होते हैं जिससे महान् कर्मबन्ध होता है।

नरस्य चन्दनं चन्द्र-चन्द्रकान्तमणिर्जलम्।
न तथा कुरुते सौख्यं, वचनं मधुरं यथा ॥८६४॥

अर्थ - हितकारी, परिमित और मधुर वचन मनुष्य को जैसा सुख देते हैं, वैसा सुख चन्दन, चन्द्रमा, चन्द्रकान्तमणि एव जल नहीं देता है ॥८६४॥

स्वकीये परकीये वा, धर्मकृत्ये विनश्यति।
त्वमपृष्टो वदान्यत्र, पृष्ट एव सदा वद ॥८६५॥

अर्थ - हे यते ! अपना या दूसरों का धार्मिक कार्य नष्ट हो रहा हो तो तुम्हें बिना पूछे भी बोलना चाहिए किन्तु यदि ऐसा कोई धर्म-सकट न हो तो सदा पूछे जाने पर ही बोलना चाहिए॥८६५॥

गदन्ति ऋषय: सत्यं, यद्विद्या निखिला: कृता:।
तन्म्लेच्छस्यापि सिद्ध्यन्ति, सर्वदा सत्यवादिन: ॥८६६॥

अर्थ - ऋषिगण सत्य ही बोलते हैं अत: सर्व विद्याओ का विधान उन्हीं ने किया है। म्लेच्छ भी यदि सत्यवादी है तो उसे भी विद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं।॥८६६॥

दह्यते न हुताशेन, न निमज्जति वारिणि।
धन्य: सत्य-बलोपेतो, नरो नद्यापि नोह्यते॥८६७॥

अर्थ - सत्यवादी मनुष्य को आग नहीं जलाती और पानी उसे नहीं डुबोता। जिसके पास सत्य का बल है, वह धन्य है। उसे वेग वाली नदी भी बहाकर नहीं ले जाती है॥८६७॥

वश्या भवन्ति सत्येन, देवता: प्रणमन्ति च।
विमोचयन्ति सत्येन, ग्रहत: पान्ति च स्फुटम्॥८६८॥

अर्थ - सत्य से देवता वश मे हो जाते है और नमस्कार करते हैं। सत्य से ग्रह पिशाच द्वारा पकडा हुआ मनुष्य भी छूट जाता है और उसकी रक्षा देव करते हैं॥८६८॥

नरो मातेव विश्वास्य:, पूज्यो गुरुरिवाखिले।
सत्यवादी प्रियो नित्यं, स्व-बन्धुरिव जायते॥८६९॥

अर्थ - सत्यवादी मनुष्य माता सदृश विश्वास योग्य, गुरु सदृश पूज्य एव निज बन्धु सदृश सदा लोकप्रिय होता है॥८६९॥

भाषमाणो नर: सत्यं, लभते प्रीतिमुत्तमाम्।
बुधानन्दकरीं कीर्तिं, शशाङ्ककर-सुन्दराम्॥८७०॥

अर्थ - सदा सत्य बोलने वाला मनुष्य जनता से उत्तम प्रीति प्राप्त करता है और विद्वानो को आनन्दित करने वाली चन्द्रकिरण सदृश सुन्दर कीर्ति भी प्राप्त कर लेता है॥८७०॥

गुणानामालय: सत्यं, मत्स्यानामिव नीरधि:।
प्रमाणमस्ति सत्येन, वर्जितोऽपि गुणै: परै: ॥८७१॥

अर्थ - सत्य गुणो का आलय है। जैसे मत्स्यादि जलचर जीवो का आधार या स्थान समुद्र है, वैसे ही गुणों का आधार सत्य है। अन्य गुणो से रहित होने पर भी एक सत्य गुण मात्र से ही मनुष्य प्रमाणभूत माना जाता है॥८७१॥

सम्पद्यन्ते गुणा: सत्ये, संयमो नियमस्तप:।
संयतोऽपि मृषावादी, जायते तृणतो लघु: ॥८७२॥

अर्थ - सत्य होने पर सर्वगुण प्राप्त हो जाते हैं और संयम, नियम एवं तप की सिद्धि हो जाती है, किन्तु यदि संयत भी मृषावादी है तो वह तृण से भी अधिक हीन हो जाता है॥८७२॥

मुण्डो जटी शिखी नग्नश्चीवरी जायतां नरः।
विडम्बनाखिला सास्य, वितथं यदि भाषते॥८७३॥

अर्थ - भले ही मनुष्य सिर का मुण्डन कराने वाला हो, जटाधारी हो, शिखाधारी हो, नग्नमुद्राधारी हो अथवा वस्त्रधारी हो, यदि वह झूठ बोलता है तो यह सब उसकी विडम्बना मात्र है॥८७३॥

कालकूटं यथान्नस्य, यौवनस्य यथा जरा।
गुणानां विद्धि सर्वेषां, नाशकं वितथं तथा॥८७४॥

अर्थ - जैसे कालकूट विष भोजन का विनाशक है और वृद्धावस्था यौवन की विनाशक है उसी प्रकार असत्य वचन सर्व गुणों का विनाशक है॥८७४॥

स्व-मातुरप्यविश्वास्यो, मृषाभाषण-लालसः।
शेषाणां किमु लोकानां, न शत्रुरिव जायते॥८७५॥

अर्थ - जब असत्यभाषी मनुष्य माता का भी विश्वास-पात्र नहीं रहता, तब वह शेष जनों को शत्रु के समान क्यो नहीं प्रतीत होगा ? अवश्य प्रतीत होगा॥८७५॥

एकेनासत्य-वाक्येन, सत्यं बह्वपि हन्यते।
सर्वत्र जायते नित्यं, शङ्कितोऽसत्य-भाषकः॥८७६॥

अर्थ - एक बार भी बोला गया झूठ वचन बहुत बार बोले गये सत्य वचनो का घात कर देता है। असत्यभाषी मनुष्य स्वय सदा एव सर्वत्र शकित रहता है कि कहीं मेरा असत्य प्रगट न हो जाय॥८७६॥

अप्रत्ययो भयं वैरमकीर्तिर्मरणं कलिः।
विषादो मत्सरः शोकः, सर्वेऽसत्यस्य बान्धवाः॥८७७॥

अर्थ - अविश्वास, भय, वैर, अकीर्ति, मरण, कलह, विषाद, मत्सर और शोक ये सब असत्य के बन्धुजन अर्थात् कुटुम्बी हैं॥८७७॥

आयास-रसनाछेद-सर्वस्व-हरणादयः।
इहासत्येन लभ्यन्ते, परत्र नरकावनिः॥८७८॥

अर्थ - असत्य बोलने से इस लोक में जिह्वाछेद एव सर्वस्व-हरण आदि महाभयकर कष्ट भोगने पड़ते हैं और परलोक में नरकगति की प्राप्ति होती है॥८७८॥

कलिलस्यास्रव-द्वारं, वितथं कथितं जिनैः।
निष्पापो हि वसुस्तेन श्रितेन नरकं गतः॥८७९॥

अर्थ - जिनेन्द्रदेव असत्य को पापास्रव का द्वार कहते हैं। राजा वसु हृदय से निष्पाप था किन्तु इसका आश्रय लेने से अर्थात् असत्य का पक्ष लेने से नरक चला गया॥८७९॥

❀ राजा वसुकी कथा ❀

स्वस्तिकावती नगरीमें राजा विश्वावसु राज्य करता था। उसके पुत्रका नाम वसु था। वसु राजपुत्र, एक ब्राह्मणपुत्र नारद, ये क्षीरकदब उपाध्यायके पास पढे थे, उपाध्यायका पुत्र पर्वत भी उन दोनोंके साथ पढ़ा, समय पर क्षीरकदबने दीक्षा ली, राजा विश्वावसु ने भी दीक्षा ली। अब वसु, राजा बन गया। एक दिन पर्वत और नारदमें "अजैर्यष्टव्य" इस शास्त्रवाक्य पर विवाद हुआ, पापी पर्वतने इस वाक्यका अर्थ बकरोंसे हवन करना अर्थात् पशुयज्ञ करना ऐसा किया और दयालु नारदने पुराने धान्योंसे हवन करना ऐसा किया। नारदका अर्थ करना बिलकुल सत्य था। पर्वतका कहना झूठा था। दोनो विवाद करते हुए राजा वसुके पास पहुँचे। दोनों ने अपनी बात रखी। यद्यपि राजा जान रहा था कि नारदका कहना सत्य है तो भी उसने पर्वत का पक्ष लिया क्योंकि वह पर्वतकी मातासे वचनबद्ध हुआ था कि मैं पर्वत के पक्ष में बोलूँगा। जब राजसिंहासन पर बैठे हुए वसु पर्वतका पक्ष लेकर झूठ बोलता है तो उस महापाप-रूप असत्य-भाषण से उसका सिंहासन पृथ्वीमें धँस गया और वसु वहाँ पर घुटकर तत्काल मरा और नरकमें चला गया। इसतरह असत्यके कारण वसुको घोर यातना भोगनी पड़ी।

असत्य-वादिनो दोषाः, परत्रापि भवन्ति ते।
मुञ्चतोऽपि प्रयत्नेन, मृषा-भाषादि-दूषणम्॥८८०॥

अर्थ - असत्यवादी पुरुष परलोक मे भी अविश्वास एव असत्य आदि दोषों के अपवाद को प्राप्त होता है। भले उसने वहाँ असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप दोषो का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर दिया हो अर्थात् यहाँ असत्य भाषण करने से त्यागी हो जाने पर भी परलोक मे उस पर झूठे आरोप आदि लगाये जाते हैं॥८८०॥

ये सन्ति वचनेऽलीके, दोषा दुःख-विधायिनः।
त एव कथिता जैनैः, सकलाः कर्कशादिकाः॥८८१॥

अर्थ - असत्य वचन मे जो दुखदायी दोष होते हैं, वे ही सब दोष कर्कश एव कलह आदि रूप वचन बोलने से दोनो भवों में प्राप्त होते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥८८१॥

असत्य-मोचिनो दोषा, मुञ्चन्ति सकला इमे।
तद्विपक्षा गुणाः सर्वे, लभ्यन्ते बुध-पूजिताः॥८८२॥

अर्थ - असत्य त्यागी के पूर्वोक्त अविश्वास आदि सर्वदोष छूट जाते हैं। तथा उन दोषो से विपरीत ज्ञानी पुरुषो द्वारा पूजित सर्वगुण उसे प्राप्त हो जाते हैं॥८८२॥

भव-भय-विचयन-वितथ-विमोची, निरुपम सुखकर-जिनमत-रोची।
परमं दवयति कलिलमशेषं, वशयति मुनि-नुत-वचन-विशेषम्॥८८३॥

इति सत्यमहाव्रतम्।

अर्थ - जो संसार के भयसमूह रूप असत्य का त्यागी है एव निरुपम सुखकर के निमित्तभूत जिनमत की रुचि रखता है वही सर्व पापों को नष्ट कर देता है और मुनियों द्वारा स्तुत्य वचन विशेष को वश मे कर लेता है॥८८३॥

इस प्रकार सत्यमहाव्रत का प्रकरण पूर्ण हुआ।

अचौर्य महाव्रत का विवेचन

बह्वल्पं च परद्रव्यमदत्तं मा गृहीत्त्रिधा।
व्रतस्य ध्वंसने शक्तं, दन्तानामपि शोधनम्॥८८४॥

अर्थ - दन्तशोधन हेतु बिना दिये ग्रहण की हुई तृण-शलाका भी व्रत का नाश करने मे समर्थ है। अत हे साधो! वस्तु अल्प हो या बहुत, तुम मन, वचन, काय से बिना दिया परद्रव्य ग्रहण मत करो॥८८४॥

दूर-स्थितं फलं रक्तं, यथा तृप्तोऽपि मर्कटः।
ग्रहीतुं धावते दृष्ट्वा, भूयो यद्यपि मोक्ष्यति॥८८५॥

तथा निरीक्षते द्रव्यं, यद्यत्तत्तजिघृक्षति।
जीवस्त्रिलोक-लाभेऽपि, लोभ-ग्रस्तो न तृप्यति॥८८६॥

अर्थ - जैसे भरे हुए पेट के कारण तृप्त हुआ भी बन्दर दूरस्थित लाल फल को देखकर ग्रहण करने के लिये कूदता है, यद्यपि पीछे वह उसे छोड़ देगा, वैसे ही लोभग्रस्त मनुष्य जो-जो वस्तु देखता है, उस-उस को ग्रहण करना चाहता है, वह त्रिलोक का लाभ होने पर भी तृप्त नहीं होता॥८८५-८८६॥

यथा विवर्धते वातः, क्षणेन प्रथते यथा।
प्रथते क्षणतो लोभस्तथा मन्दोऽपि देहिनः॥८८७॥

अर्थ - जैसे मन्द-मन्द चलने वाली वायु क्षण मे ही विस्तीर्ण हो जाती है, वैसे ही जीव का मन्द लोभ भी क्षण मात्र मे तीव्र हो जाता है॥८८७॥

प्रवृद्धे च ततो लोभे, कृत्याकृत्याविचारकः।
स्वस्य मृत्युमजानानः, साहसं कुरुते परम्॥८८८॥

अर्थ - लोभ वृद्धिंगत हो जाने पर कृत्य-अकृत्य अथवा युक्त-अयुक्त को न विचारने वाला मनुष्य अपनी मृत्यु को भी नहीं जानता हुआ अति साहस के कार्य कर डालता है॥८८८॥

सर्वोप्यथ हृते द्रव्ये, पुरुषो गत-चेतनः।
शक्ति-विद्ध इव स्वान्ते, सदा दुःखायते तराम्॥८८९॥

अर्थ - जैसे शक्ति नामक शस्त्र से विद्ध हुआ मनुष्य अत्यन्त दुखी होता है, वैसे ही धन चुराये जाने पर सभी मनुष्य मृत्यु जैसी अवस्था को प्राप्त हुए मन में सदा अत्यन्त दुख का वेदन करते रहते हैं॥८८९॥

द्रविणे ग्रहिलीभूय, म्रियतेऽथ हृते नरः।
हाकार-मुखरं क्षिप्रं, नृणामर्थो हि जीवितम्॥८९०॥

अर्थ - दूसरों के द्वारा धन चुराये जाने पर मनुष्य पागल हो जाता है, तथा हा-हा कार करता हुआ शीघ्र ही मर जाता है। अतः "धन ही मनुष्य के प्राण हैं" यह लोकोक्ति सत्य है॥८९०॥

विशन्ति पर्वतेऽम्भोधौ, युद्ध-दुर्ग-वनादिषु।
त्यजन्ति द्रव्य-लोभेन, जीवितं बान्धवानपि॥८९१॥

अर्थ - धन के लोभ से मनुष्य पर्वत, समुद्र, युद्ध, दुर्ग एवं वन आदि में प्रवेश करता है अर्थात् भटकता फिरता है। धन के लिए प्रियजनों को और अपने जीवन को भी छोड़ देता है अर्थात् मनुष्य को धन सबसे अधिक प्रिय है, उसके लिए वह अन्य सबको तो छोड़ ही देता है, अपने प्राण भी छोड़ देता है॥८९१॥

विद्यमाने धने लोका, जीवन्ति सहबन्धुभिः।
तस्मिन्नपहृते तेषां, सर्वेषां जीवितं हृतम्॥८९२॥

अर्थ - धन होने पर मनुष्य स्त्री-पुत्रादि बन्धुजनो के साथ सुख-पूर्वक जीवन-यापन करता है। उस धन का हरण हो जाने पर मानों उन स्त्री-पुत्रादि बन्धुजनो का जीवन ही हर लिया जाता है॥८९२॥

न विश्वासो दया लज्जा, सन्ति चौरस्य मानसे।
नाकृत्यं धन-लुब्धस्य, तस्य किञ्चन विद्यते॥८९३॥

अर्थ - चोर के हृदय मे विश्वास, दया एव लज्जादि गुण निवास नहीं करते। धन का लोभी चोर धन के लिए कुछ भी कर सकता है, उसके लिए न करने योग्य कुछ भी नहीं है॥८९३॥

अपराधे कृतेऽप्यत्र, पक्षे लोकोऽपि जायते।
बान्धवोऽपि न चौरस्य, पक्षे सन्ति कदाचन॥८९४॥

अर्थ - हिंसादि अन्य अपराध करने वाले के पक्ष मे लोक कदाचित् हो भी जाते हैं, किन्तु चोर के पक्ष मे बन्धु-बान्धव भी नहीं होते॥८९४॥

वितरन्ति जनाः स्थानं, दोषेऽन्यत्र कृते सति।
स्तेये पुनर्न मातापि, पुरुपातक-दायिनि॥८९५॥

अर्थ - अन्य अपराध करने वाले को लोग स्थान देते हैं किन्तु अत्यधिक पापदायक चोरी करने वाले को माता भी आश्रय नहीं देती॥८९५॥

द्रव्यापहरणं द्वारं पापस्य परमिष्यते।
सर्वेभ्यः पापकारिभ्यः, पापीयांस्तस्करो मतः॥८९६॥

अर्थ - पर-द्रव्य-हरण पाप आने का द्वार है। पशु-पक्षियो का घात करने वालो से और पर-स्त्री-गमन के प्रेमी जनों से भी चोर अधिक पापी होता है॥८९६॥

आश्रयं स्वजनं मित्रं, दुराचारो मलिम्लुचः।
सर्वं पातयते दोषे, दुष्षमे दुर्यशस्यपि॥८९७॥

अर्थ - चोर का दुराचार अर्थात् चोरी रूप पाप बन्धु, मित्र एव अपने आश्रित रहने वालो को भी धनहरण, वध, बन्ध आदि दोषों में डाल देता है। वे भी भारी अपयश और दुख के भागी होते हैं॥८९७॥

वधं बन्धं भयं रोधं, सर्वस्व-हरणं मृतिम्।
विषादं यातना लोके, तस्करो लभते स्वयम्॥८९८॥

अर्थ - इस लोक में चोर स्वय वध, बन्धन, भय, रोध, सर्वस्वहरण, मरण, विषाद एव अनेक यातनाओ को प्राप्त होते हैं॥८९८॥

शङ्कमानमना निद्रां, तस्करो जातु नाश्नुते।
कुरङ्ग इव वित्रस्तो, वीक्षते सकला दिशः॥८९९॥

अर्थ - पकड़े जाने की आशका से चोर दिन-रात सोते नहीं हैं और हरिण के समान भयभीत होते हुए सम्पूर्ण दिशाओं को देखते रहते हैं॥८९९॥

आकर्ण्य मूषकस्यापि, शब्दं शङ्कितमानसः।
धावते सर्वतः सद्यः, स्खलन्स्व-मरणाकुलः॥९००॥

अर्थ - चोर सदा ही शकित मन होता हुआ चूहे के शब्द को सुनकर भी तत्काल मरण की आकुलता से स्खलित होता हुआ चारो ओर दौडने लगता है॥९००॥

अदत्ते तृण-मात्रेऽपि, गृहीते संयतोऽपि ना।
अप्रत्येयो यथा स्तेनस्तृणतो-जायते लघुः॥९०१॥

अर्थ - महान् सयम का धारी साधु भी बिना दिया तृण मात्र भी ग्रहण करके चोर सदृश अविश्वसनीय एव तृण के समान लघु हो जाता है॥९०१॥

विधाय पुरुषः स्तेयं, नारकीं वसतिं गतः।
सहते वेदनास्तत्र, चिरकालं सुदुःसहाः॥९०२॥

अर्थ - मरकर भी चोर नरक मे वास करता है और वहाँ चिरकाल तक तीव्र कष्ट भोगता है॥९०२॥

लभते दारुणं दुःखं, स्तेनस्तिर्यग्गतावपि।
प्राप्नोति प्रायशः पापो, योनीं नीचामसौ चिरम्॥९०३॥

अर्थ - चोर तिर्यंचगति मे भी दारुण दुख उठाता है। यह पापी प्राय चिरकाल पर्यन्त नीच योनियो मे ही जन्म-मरण करता है॥९०३॥

नृत्वेऽहृता हृता वार्थाः, पलायन्तेऽखिलाः स्वयम्।
न चीयन्ते प्रयत्नेऽपि, स्वयं यास्यति वा ततः॥९०४॥

अर्थ - मनुष्य भव मे भी उस पापी का धन बिना हरण किये या किसी के द्वारा हरण कर लेने पर नष्ट हो जाता है। प्रयत्न करने पर भी वह धन का सचय नहीं कर पाता। यदि कुछ सचय हो भी गया तो वह स्वय उस धन से कहीं दूर चला जाता है॥९०४॥

श्रीभूतिर्महतीं प्राप्य, पुर-मध्ये विडम्बनाम्।
परद्रव्य-रतो दीनः, प्रपेदे दीर्घ-संसृतिम् ॥९०५॥

अर्थ - पर-द्रव्य में आसक्त श्रीभूति ब्राह्मण नगर के मध्य अत्यधिक तिरस्कार को प्राप्त करके दीन हुआ और मरण कर दीर्घ-ससारी हुआ ॥९०५॥

❋ श्रीभूति की कथा ❋

भरतक्षेत्र के सिंहपुर नगर में सिंहसेन राजा रहता था। उसकी रानी का नाम रामदत्ता और पुरोहित का नाम श्रीभूति था। श्रीभूति जनेऊ में कैंची बाँध कर घूमा करता था और कहता था कि यदि मैं असत्य बोल जाऊँ तो इस कैंचीसे अपनी जीभ काट दूगा। इससे उसकी सत्यवादिता से 'सत्यघोष' ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ। एक दिन समुद्रदत्त नामका एक सेठ उसके पास बहुमूल्य पाँच रत्न रखकर कमानेके लिये विदेश गया, कमाकर जहाजमें बैठकर आ रहा था कि जहाज डूब गया, किसी लकड़ीके सहारे सेठ किनारे पहुँचा। वह अपने रत्न लेने के लिये सत्यघोष के पास गया किन्तु उसने कहा-तुम्हारे कोई भी रत्न मेरे पास नहीं हैं, इसप्रकार कहकर श्रीभूति-सत्यघोषने बेचारेको घरसे निकाल दिया। वह रोता हुआ नगरमें घूमने लगा, वह एक बात कहता जाता था कि इस सत्यघोषने मेरे पाँच रत्न लिये हैं। वह प्रतिदिन राजमहलके पास के वृक्षपर बैठकर यही बात कहता। एक समय रानी रामदत्ता ने सोचा कि यह पागल नहीं है, रोज एक ही बात करता है, इसकी परीक्षा करनी चाहिये। रामदत्ता ने सत्यघोषको जुए मे हराकर उसकी जनेऊ घर मे भेजकर चुपकेसे रत्न मगा लिये। राजाने उनको और रत्नोमें मिलाकर समुद्रदत्त को दिखाया, उसने अपने ही रत्न लिये उससे राजाको निश्चय हुआ कि यह सत्य कह रहा है, फिर राजाको श्रीभूति पर बड़ा क्रोध आया। उसके लिये तीन थाल गोबर खाना, पहलवानोके तीन मुक्के खाना या समस्त धन देना इन तीन दण्डोमेसे एक दण्ड स्वीकार करनेको कहा। वह पापी पहलवानके मुक्के खाते हुए मर गया और नरकमे चला गया।

दत्त वस्तु ग्रहण करने की प्रेरणा

एते दोषा न जायन्ते, पर-द्रव्य-विवर्जने।
तद्विपक्षा गुणाः सन्ति, सुन्दरा दत्त-भोजिनः ॥९०६॥

अर्थ - जो पर-द्रव्य-हरण का त्यागी होता है, उसके उपर्युक्त दोष नहीं होते। तथा जो दत्त वस्तु का ही उपभोग करता है उसमे उपर्युक्त दोषो के प्रतिपक्षी जो-जो गुण हैं, वे सब प्राप्त हो जाते हैं ॥९०६॥

इन्द्रराज-गृहस्वामि-देवता-समधर्मिभिः।
वितीर्णं विधिना ग्राह्यं, रत्नत्रितय-वर्धकम् ॥९०७॥

अर्थ - इन्द्र, राजा, गृहस्थ, देवता एव साधर्मीजनो द्वारा विधिपूर्वक दिया गया एव रत्नत्रय का वृद्धिकारक पदार्थ ही साधुओ को ग्राह्य कहा गया है ॥९०७॥

विमुञ्चते यः परवित्त-मञ्जसा, निरीक्ष्यमाणं सदृशं मृदा सदा।
अनन्य-साधारण-भूति-भूषितः, स याति निर्वाणमपास्त-कल्मषः ॥९०८॥

इति अचौर्य महाव्रतम्।

अर्थ - जो पुरुष पर-धन को मिट्टी सदृश देखता हुआ छोड़ देता है वह अन्य के पास न पाई जाने वाली असाधारण विभूति से भूषित होता हुआ पश्चात् पापों को अर्थात् कर्मों को नष्ट करता हुआ मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥९०८॥

इति अचौर्यवर्णन समाप्त ।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत कथन

अब्रह्म दशधा त्यक्त्वा, रामा-वैराग्य-पञ्चके।
निवेश्य मानसं पाहि ब्रह्मचर्यमनारतम्॥९०९॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुम दस प्रकार के अब्रह्म का त्याग कर और पाँच प्रकार के स्त्री सम्बन्धी वैराग्य मे मन को तल्लीन कर सतत ब्रह्मचर्य व्रत मे रत रहते हुए उसकी रक्षा करो॥९०९॥

ब्रह्मचर्य का लक्षण

निरस्ताङ्गाङ्ग-रागस्य, स्वदेहेऽपि विरागिण:।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या, ब्रह्मचर्यं तदीर्यते॥९१०॥

अर्थ - अपने शरीर के और स्त्री के शरीर के राग को जिसने छोड़ दिया है, ऐसे वैरागी मुनि के अपने आत्मारूप ब्रह्म में जो चर्या होती है उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं॥९१०॥

गद्य द्वारा दस प्रकार का अब्रह्म

स्त्रीरूपाद्यभिलाष-वस्तिमोक्षण, वृष्याहारसेवन-तत्ससक्त-द्रव्यानुराग-तद्वराङ्गनिरीक्षण-सत्कार-सस्कारादरतातीत-रति-स्मरणानागताभिलषणेष्ट-विषय-निवेषण-स्वरूप दशविधमब्रह्म-मन्तव्यम्॥९११॥

अर्थ - दस प्रकार के अब्रह्म और उनके लक्षण -

१ **स्त्रीरूपाद्यभिलाषा** - स्त्रियो के रूप, उनके अधर का रस, उनके मुख की गन्ध, उनका मनोहर गायन, हास, मधुर वचन और कोमल स्पर्श की अभिलाषा करना।

२ **वस्ति-मोक्षण** - लिंग मे विकार होना, या लिंग विकार को दूर न करना, या उस विकार का दृढ़ एव स्थिर होना।

३. **वृष्याहार सेवन** - इन्द्रिय मदकारक, या शरीर मे बल एव वीर्य की वृद्धि हो ऐसे गरिष्ठ आहार का या रसों का सेवन करना।

४ **तत्संसक्त द्रव्यानुराग** - स्त्रियो के शरीर के स्पर्श सदृश ही अनुराग उनसे सम्बद्ध वस्तुओ के स्पर्श से होता है, अत स्त्रियो से सम्बद्ध शय्या एव आसनादि का सेवन करना।

५ **तद्वराग-निरीक्षण** - स्त्री-शरीर के उत्तम अंगों का निरीक्षण करना।

६. **सत्कार** - उनके शरीर मे अनुराग होने से उनका सत्कार करना।

७ **संस्कारादर** - वस्त्रादि से उनके शरीर को सस्कारित करने में आदर भाव होना, या वस्त्र-अलकार आदि से सस्कारित स्त्रियो के प्रति आकृष्ट हो उनका आदर करना।

८. अतीत-रतिस्मरण - अतीत काल में भोगे हुए भोगों का या उन रतिक्रीड़ाओं का बार-बार स्मरण करना।

९. अनागत अभिलाषा - भविष्य में मैं उनके साथ रतिक्रीड़ा करूँगा ऐसी अभिलाषा रखना।

१०. इष्टविषय-निषेवण - मनोवाछित भवन, उद्यान या इसी प्रकार के अन्य पदार्थों या विषयों का सेवन करना।

आपाते मधुरं रम्यमब्रह्म दशधाप्यद:।
विपाके कटुकं ज्ञेयं, किम्पाकमिव सर्वदा॥९१२॥

अर्थ - इस प्रकार अब्रह्म के ये दस भेद किपाक फल सदृश विषैले हैं। ये प्रारम्भ में मधुर प्रतीत होते हैं किन्तु परिणाम मे अत्यन्त कटु हैं॥९१२॥

नारी-वैराग्य के उपाय

दोषा: कामस्य नारीणामशौचं वृद्ध-सङ्गति:।
सङ्ग-दोषाश्च कुर्वन्ति, स्त्री-वैराग्यं तपस्विन:॥९१३॥

अर्थ - कामविकार से उत्पन्न दोष, स्त्रियो द्वारा किये गये दोष, देह-अशुचिता, वृद्धसगति एव स्त्री ससर्ग से उत्पन्न दोष, इन पाँच बातो का चिन्तन मुनियो के वैराग्य को दृढ़ करने वाला है॥९१३॥

१ कामजन्य दोष

दृश्यन्ते भुवने दोषा, यावन्तो दु:खदायिन:।
पुरुषस्य क्रियन्ते ते, सर्वे मैथुन-संज्ञया॥९१४॥

अर्थ - इस जगत मे दुखदायी जितने भी दोष हैं, वे सब पुरुष की मैथुन सज्ञा से ही किये जाते हैं॥९१४॥

ध्यायति शोचति सीदति रोदिति, वल्गति भ्राम्यति नृत्यति गायति।
क्लाम्यति माद्यति रुष्यति तुष्यति, जल्पति कामवशो विमना बहु॥९१५॥

अर्थ - काम के वशीभूत हुआ मनुष्य अन्यमनस्क होकर इष्ट स्त्री का ध्यान करता है, अप्राप्ति से शोक करता है, पीडित होता है, रोता है, अन्यथा बकता है, भ्रमित होता है, नाचता है, गाता है, खिन्न होता है, मत्त होता है, कुपित होता है, कभी उसकी प्राप्ति की आशा से सन्तुष्ट होता है एव कभी व्यर्थ ही बोलने लगता है, इस प्रकार कामातुर मनुष्य नाना चेष्टाएँ करता है॥९१५॥

स्विद्यते खिद्यते तप्यते मुह्यते, याचते सेवते मोदते धावते।
मुञ्चते गौरवं गाहते लाघवं, किं न मर्त्यो विधत्ते मनोजातुर:॥९१६॥

अर्थ - वह कामातुर कभी पसीने से तर हो जाता है, खेदित होता है, सन्तापित होता है, मोहित होता

है, याचना करता है, सेवा करता है, इष्ट स्त्री दिखाई देने पर हर्षित होता है, दौड़ता है, अपने जाति, कुल एव प्रतिष्ठा का गौरव छोड़ देता है और हीनता को प्राप्त होता है, इस प्रकार कामातुर हुआ मनुष्य क्या-क्या नहीं करता ? अर्थात् सारे अयोग्य कार्य करता है॥९१६॥

आसने शयने स्थाने, नगरे भवने वने।
स्वजनेऽन्य-जने कामी, रमते नास्तचेतनः॥९१७॥

अर्थ - कामावेग से जिसकी मूर्च्छा मृतप्राय हो गई है ऐसा कामी पुरुष आसन मे, शयन मे, स्थान में, नगर में, भवन में, वन में, स्वजन मे एवं परजनों में कहीं भी नहीं रमता है॥९१७॥

न रात्रौ न दिवा शेते, न भुंक्ते न सुखायते।
दष्टः काम-भुजङ्गेन, न जानाति हिताहिते॥९१८॥

अर्थ - कामरूपी सर्प द्वारा काटा हुआ मनुष्य न हिताहित को जानता है, न रात-दिन सोता है, न भोजन करता है और न कहीं सुख का अनुभव करता है॥९१८॥

कामाकुलित-चित्तस्य, मुहूर्तो वत्सरायते।
सर्वदोत्कण्ठ-मानस्य, भवनं काननायते॥९१९॥

अर्थ - कामवासना से आकुलित चित्त वाले मनुष्य को एक मुहूर्त एक वर्ष सदृश लगता है। स्त्री की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित मन वाले उस पुरुष को सुन्दर भवन भी जगल सदृश प्रतीत होता है॥९१९॥

हस्तान्यस्त-कपोलोऽसौ, दीनो ध्यायति सन्ततम्।
प्रस्विद्यति तुषारेऽपि, कम्पते कारणं विना॥९२०॥

अर्थ - वह कामी पुरुष अपनी हथेली पर गाल रखकर दीनमुख होता हुआ सतत इष्ट स्त्री का ध्यान करता है, शीतकाल मे भी पसीने से भीग जाता है और बिना कारण ही उसके अग काँपते रहते है॥९२०॥

अरत्यग्निशिखा-जालैर्ज्वलद्भिरनिवारितैः।
सोन्तर्विदह्यते पीतैस्तप्तैस्ताम्र-द्रवैरिव॥९२१॥

अर्थ - जैसे ताँबे के खौलते हुए पिघले रस को पीने से अन्तर मे भयकर दाह होती है उसी प्रकार जिसका कामोद्रेक अनिवारित है ऐसा पुरुष जाज्वल्यमान अरतिरूप अग्नि की लपटों द्वारा अन्तर मे सदा जलता रहता है॥९२१॥

मन्दायते मतिर्याति, सद्यो वचन-कौशलम्।
मदनेन ज्वरेणेव, वाधितस्य वितापिना॥९२२॥

अर्थ - कामी की बुद्धि मन्द हो जाती है, वचन-कौशलता तत्काल नष्ट हो जाती है। सन्ताप कारक मदनज्वर से पीड़ित हुए पुरुष की ऐसी अनेक प्रकार की स्थिति होती है॥९२२॥

काम्यमानं जनं कामी, यदा न लभते कुधीः।
मुमूर्षति तदोद्विग्नो, नग-प्रपतनादिभिः॥९२३॥

अर्थ - काम से पीड़ित मनुष्य अपनी इच्छित स्त्री के न मिलने पर प्रायः पर्वत से गिर कर या समुद्र में डूब कर, या आग में कूद कर या वृक्ष की शाखा से लटक कर मरने की चेष्टा करता है॥९२३॥

संकल्पाण्डक-जातेन, विषयच्छिद्र-वासिना।
रागद्वेष-द्विजिह्वेन, वृद्ध-चिन्ता-महाक्रुधा॥९२४॥

दष्ट-कामभुजङ्गेन, लज्जा-निर्मोक-मोचिना।
दर्प-दंष्ट्राकरालेन, रति-वक्त्रेण नश्यति॥९२५॥

अर्थ - जो मानसिक सकल्परूपी अण्डे से उत्पन्न हुआ है, विषयरूपी वामी में निवास करता है, वृद्धिंगत चिन्ता से महाक्रोधित है, लज्जा रूपी काचुली को छोड़ चुका है, दर्परूपी भयकर दाढ़ वाला है, रतिरूप मुख वाला है और रागद्वेषरूपी दो जिह्वाओ से युक्त ऐसे कामवासनारूप करालसर्प से काटा हुआ मनुष्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥९२४-९२५॥

आशीविषेण दष्टस्य, सप्तवेगाः शरीरिणः।
दष्टस्य स्मर-सर्पेण, जायन्ते दश दुःसहा॥९२६॥

अर्थ - सर्प जाति में आशीविष सर्प अधिक विषैला होता है। उसके द्वारा डसे हुए मनुष्य के तो सात ही वेग होते हैं, किन्तु काम रूपी सर्प द्वारा डसे हुए मनुष्य के दस भयकर वेग होते हैं॥९२६॥

प्रश्न - सर्पग्रसित के सात वेग कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - भयकर विषैले या आशीविष सर्प द्वारा डसे हुए विषाक्त पुरुष के शरीर मे विष के उद्रेकरूप सात वेग आते हैं। यथा - १ रक्त काला-पीला हो जाता है और ऐसा अनुभव होने लगता है कि मुख एव नेत्रो में जैसे कीड़े चल रहे हो। २ ऐसा अनुभूत होता है कि मानो शरीर मे गाँठें पड़ गई हों। ३ मस्तक भारी हो जाता है और नेत्र बन्द हो जाते हैं। ४ थूकता है, उल्टी करता है और नींद अधिक आती है। ५ दाह पैदा हो जाती है और हिचकी आने लगती है। ६ हृदय मे पीड़ा उत्पन्न हो जाती है, शरीर भारी हो जाता है और मूर्च्छा आ जाती है। ७ पीठ एव कमर आदि भग्न होने लगते हैं तथा शरीर की सर्व चेष्टाएँ समाप्त हो जाती हैं। सर्पदश के ये सात वेग होते हैं।

काम के दश वेग

शोचति प्रथमे वेगे, द्वितीये तां दिदृक्षते।
तृतीये निश्वसित्युच्चैर्ज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते॥९२७॥

दह्यते पञ्चमे गात्रं, भक्तं षष्ठे न रोचते।
प्रयाति सप्तमे मूर्च्छामुन्मत्तो जायतेऽष्टमे॥९२८॥

न वेत्ति नवमे किञ्चिद्दशमे मुच्यतेऽसुभिः।
संकल्पतस्ततो वेगास्तीव्रा मन्दा भवन्ति वा॥९२९॥

अर्थ - किसी स्त्री को देख कर पुरुष के मन मे जब कामवासना उत्पन्न हो जाती है तब उस कामी की दश प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं, उन्हे ही कामी के दस वेग कहते हैं। यथा-

प्रथम वेग में कामी शोकयुक्त होता है, दूसरे में इष्ट स्त्री को देखने की इच्छा करता है, तीसरे वेग मे जोर-जोर से श्वास लेने लगता है, चौथे वेग में ज्वर आ जाता है, पाँचवें में शरीर जलने लगता है, छठे में भोजन नहीं रुचता, सातवें में मूर्च्छा आ जाती है, आठवे मे पागल सदृश हो जाता है, नौवे वेग में कुछ जान नहीं पाता और दशवे वेग मे मरण को प्राप्त हो जाता है। कामान्ध पुरुष के ये दश वेग सकल्प-वासनानुसार तीव्र या मन्द हुआ करते हैं। अर्थात् किसी कामी को मन्दरूप, किसी को तीव्ररूप, किसी को दो-तीन या चार-पाँच आदि आकर भी रुक जाते हैं। कोई-कोई कामी गुरुजनों की या सज्जन पुरुषों की शिक्षा प्राप्त कर सुमार्ग पर भी आ जाते हैं॥९२७-९२८-९२९॥

ज्येष्ठे सूर्यः सिते पक्षे, मध्याह्ने विमलेऽम्बरे।
नरं दहति नो तद्वद्वर्धमानो यथा स्मरः॥९३०॥

अर्थ - ज्येष्ठमास के शुक्ल पक्ष की मध्याह्न बेला मे आकाश के निर्मल रहते हुए सूर्य भी वैसा नहीं जलाता जैसा मनुष्य को वृद्धिगत होता हुआ काम जलाता है अर्थात् ज्येष्ठमास के सूर्यताप से भी इस काम का ताप प्रचण्ड एव असह्य है॥९३०॥

दिवसे प्लोषते सूर्यो, मनोवासी दिवा-निशम्।
अस्ति प्रच्छादनं सूर्ये, मनोवासिनि नो पुनः॥९३१॥

अर्थ - सूर्याग्नि तो केवल दिन को ही जलाती है किन्तु कामाग्नि रात-दिन जलाती है। सूर्य के ताप से बचने के उपाय तो छाता आदि है किन्तु कामाग्नि से बचने का कोई उपाय नहीं है॥९३१॥

वह्निर्विध्याप्यते नीरैर्मन्मथो न कदाचन।
प्रप्लोषते बहिर्वह्निर्बहिरन्तश्च मन्मथः॥९३२॥

अर्थ - अग्नि को तो जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु कामाग्नि किसी के द्वारा भी शान्त नहीं होती। अग्नि तो बाह्य शरीर को ही जलाती है किन्तु कामाग्नि बाह्याभ्यन्तर अर्थात् शरीर और आत्मा दोनो को जलाती है॥९३२॥

बन्धुं जातिं कुलं धर्मं, संवासं मदनातुरः।
अवमन्य नरः सर्वं, कुरुते कर्म निन्दितम्॥९३३॥

अर्थ - कामातुर मनुष्य अपने बन्धुजन, जाति, कुल, धर्म और साथ मे रहने वाले मित्रादि की भी अवमानना करके निन्दित कार्य करता है॥९३३॥

पिशाचेनेव कामेन, व्याकुली-कृत-मानसः।
हिताहितं न जानाति, निर्विवेकी-कृतोऽधमः॥९३४॥

अर्थ - पिशाच द्वारा पकड़े हुए मनुष्य के सदृश जिसका मन व्याकुल है, तथा जो विवेकरहित कर दिया गया है ऐसा कामासक्त अधम पुरुष हित और अहित को नहीं जान पाता है ॥९३४॥

नोपकारं कुलीनोऽपि, कृतघ्न इव मन्यते।
लज्जालुरपि निर्लज्जो, जायते मदनातुरः ॥९३५॥

अर्थ - कामी पुरुष कुलीन होने पर भी कृतघ्न मनुष्य के सदृश अपने उपकारी का भी उपकार नहीं मानता तथा लज्जावान् होते हुए भी काम से निर्लज्ज हो जाता है ॥९३५॥

स्तेनो वा जागरूकेभ्यः, संयतेभ्यः प्रकुप्यति।
हितोपदेशिनं कामी, द्विषन्तमिव पश्यति ॥९३६॥

अर्थ - जैसे चोर जागते हुए व्यक्तियो पर रोष करता है, वैसे ही कामी पुरुष सयमीजनों पर रोष करता है और वह कामी हितकारी बात कहने वालो को शत्रु सदृश देखता है ॥९३६॥

सूर्योपाध्याय-सङ्घानां, जायते प्रतिकूलिकः।
धार्मिकत्वं परित्यज्य, प्रेर्यमाणो मनोभुवा ॥९३७॥

अर्थ - कामोद्रेक से प्रेरित हुआ साधु भी धार्मिक भाव को अर्थात् व्रताचरण को छोड़ कर आचार्य, उपाध्याय एव चतुर्विध सघ के प्रतिकूल हो जाता है ॥९३७॥

माहात्म्यं भुवन-ख्यातिं, श्रुतलाभं च मुञ्चति।
सतृणावज्ञया सारं, मोहाच्छादित-चेतनः ॥९३८॥

अर्थ - काम रूपी मोह से जिसकी चेतना आच्छादित हो गई है ऐसा साधु तीनो लोकों से पूजित अपने व्रतो के माहात्म्य को और तीनो लोको के सारभूत श्रुतज्ञान के लाभ को तृण की अवज्ञा सदृश अवज्ञा करके छोड देता है ॥९३८॥

जीर्णं तृणमिव मुख्यं, चतुरङ्गं विमुञ्चतः।
नाकृत्यं विद्यते किंचिज्जिघृक्षोर्विषयामिषम् ॥९३९॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चारो आराधनाएँ मोक्षमार्ग में प्रधान हैं। कामी साधु इन्हें भी जीर्ण-शीर्ण तिनके सदृश छोड़ देता है। ठीक ही है, विषयरूपी मास के लोभी को अकृत्य कुछभी नहीं है। अर्थात् वह सब अनर्थ कर सकता है ॥९३९॥

गृह्णात्यवर्णवादं यः, पूज्यानां परमेष्ठिनाम्।
अकृत्यं कुर्वतस्तस्य, मर्यादा कामिनः कुतः ॥९४०॥

अर्थ - जो कामी साधु परम पूज्य पचपरमेष्ठियों का भी अवर्णवाद करता रहता है उसे अन्य अकार्य करते हुए मर्यादा कहाँ से होगी ? वह सब मर्यादाओं को भग कर सकता है ॥९४०॥

स दुःखमयशोनर्थं, कल्मषं द्रविण-क्षयम्।
संसारसागरेऽनन्ते, भ्रमणं च न मन्यते ॥९४१॥

अर्थ - वह कामासक्त प्राणी अनर्थकारी दुख, अनर्थकारी अपयश, पाप, धन का विनाश और ससार-सागर में अपनी अनन्त भ्रमणता को नहीं जानता। अर्थात् इन पर विचार नहीं कर पाता ॥९४१॥

उच्चोपि सेवते नीचं, विषयामिष-काङ्क्षया।
स्मरार्तः सहतेऽवज्ञां, मानवानपि मानवः ॥९४२॥

अर्थ - विषयरूपी मास का आकाक्षी मनुष्य उच्च-कुलीन होकर भी कुलादि से अत्यन्त हीन मनुष्यों की सेवा करता है। इतना ही नहीं वह विषयान्ध स्वाभिमानी होते हुए भी अवज्ञा सहन करता है ॥९४२॥

कुलीनो निन्दितं कर्म, कुरुते विषयाशया।
जिघृक्षुर्नर्तकीं वृत्तं, चारित्रं त्यक्तवान्न किम् ॥९४३॥

अर्थ - कुलीन भी कामी पुरुष विषय-सेवन की इच्छा से निन्द्य कार्य करता है। क्या, नर्तकी को प्राप्त करने की इच्छावाले साधु ने अपना उत्तम आचरण वाला चारित्र नहीं छोड़ दिया था ॥९४३॥

❋ वारत्रिक नाम के भ्रष्ट मुनि की कथा ❋

कुरुजागल देशमे दत्तपुर नगरमें शिवभूति ब्राह्मणके दो पुत्र थे, सोमशर्मा और शिवशर्मा। दोनोको विप्रने वेद पढाया। किसी दिन छोटा भाई शिवशर्मा वेदके सूत्रो का अशुद्ध उच्चारण कर रहा था। बडे भाई सोमशर्माने उसको शुद्ध पढनेको कहा किन्तु वह पुन पुन अशुद्ध बोलता रहा तब बडे भाईने उसको तीन बार चाँटे लगाये उस दिनसे सब लोग उसको वारत्रिक कहने लगे 'त्रिक मायने तीन और वार मायने बार' तीन बार मारनेसे वारत्रिक नाम प्रसिद्ध हुआ। आगे वह बालक वेद-वेदागमे पारगत हुआ, किन्तु लोगो द्वारा वारत्रिक नामसे पुकारे जानेसे उसे दु ख होता रहता, किसी दिन जैनमुनिसे धर्मोपदेश सुनकर उसको वैराग्य हुआ दीक्षा लेकर वह वारत्रिक देश-देशमे विहार करने लगा। एक दिन आहारार्थ नगरमे आ रहा था, मार्गमे एक कन्याकी बरातमे वेश्याका सुदर नृत्य हो रहा था, उस नृत्यकारिणी पर वारत्रिक मुनि मोहित हो गये। नर्त्तकी और वारत्रिक अब साथ रहने लगे। घूमते हुए दोनो राजगृहनगरीमे राजा श्रेणिकके समीप अपनी सुदर नृत्यकला दिखा रहे थे। राजसभामे एक विद्याधर उपस्थित था। उसको नृत्य देखते हुए जातिस्मरण हो गया और उसने नर्त्तकी आदिके पूर्वभव बताये जिससे वारत्रिक, नर्त्तकी तथा और भी अनेक प्रेक्षक लोगोको वैराग्य हो गया, वारत्रिकने पुन मुनिदीक्षा ग्रहण की। नर्त्तकीने अपने योग्य श्राविकाके व्रत स्वीकार किये। इस प्रकार वारत्रिक मुनि स्त्रीके रूपको देखने मात्रसे दीक्षासे भ्रष्ट हो गया था।

कामी शूरोपि तीक्ष्णोऽपि, मुख्योऽपि, भवति स्फुटम्।
विगर्वः श्रीमतो वश्यो, वैद्यस्य गदवानिव ॥९४४॥

अर्थ - जैसे रोगी पुरुष वैद्य के वश हो जाता है, वैसे ही शूरवीर होते हुए भी, तीक्ष्ण बुद्धि होते हुए भी और प्रधान पुरुष होते हुए भी कामी मनुष्य मान छोड़कर धनाढ्य मनुष्यो के आधीन हो जाता है ॥९४४॥

विधत्ते चाटु नीचस्य, कुलीनो मानवानपि।
मातरं पितरं वाचा, दासं कुर्वन्नपत्रपः ॥९४५॥

अर्थ - कुलीन और स्वाभिमानी होते हुए भी जब मनुष्य कामान्ध हो जाता है तब लज्जा छोड़कर नीच पुरुष की भी चाटुकारिता अर्थात् पैरादि दबाने के कार्य करने लगता है। इतना ही नहीं अपितु वचनों द्वारा अपने माता-पिता को भी उनके दास-दासी कहता है अर्थात् चापलूसी करते हुए कहता है कि मेरे माता-पिता भी आपके दास-दासी सदृश हैं॥९४५॥

न पश्यति सनेत्रोऽपि, स श्रोत्रोऽपि शृणोति न।
कामार्तः प्रमदा-काङ्क्षी, दन्तीव हत-चेतनः॥९४६॥

अर्थ - काम से पीडित,स्त्री का अभिलाषी पुरुष हथिनी के वश होने वाले वनहाथी के सदृश समूढ़ अर्थात् विक्षिप्त चेतना युक्त हो जाता है अतः वह कामान्ध नेत्रवान् होकर भी देख नहीं पाता और कर्णयुक्त होकर भी सुन नहीं पाता॥९४६॥

सलिलेनेव कामेन, सद्यो जाड्य-विधायिना।
दक्षोऽपि जायते मन्दो, नीयमानः समन्ततः॥९४७॥

अर्थ - जैसे जलप्रवाह मे डूबता हुआ पुरुष मूर्छित हो जाता है, वैसे ही काम द्वारा ग्रसित मनुष्य सर्व कलाओं मे दक्ष होते हुए भी चारो ओर से मन्द अर्थात् मूर्छित सा हो जाता है॥९४७॥

वर्ष-द्वादशकं वेश्यां, निषेव्यापि स्मरातुरः।
नाज्ञासीद्गोरसन्दीवः, पदाङ्गुष्ठमशोभनम्॥९४८॥

अर्थ - गोरसदीव नामा मुनि कामार्त होकर बारह वर्ष पर्यन्त वेश्या का सेवन करते हुए भी उसके पैर के नष्ट हुए अथवा कुष्ठ हुए अगूठे को नहीं जान सके॥९४८॥

❋ गोरसंदीव नाम के भ्रष्ट मुनि की कथा ❋

श्रावस्ती नगरीका राजा द्वीपायन था। उसका दूसरा नाम गोरसदीव या गोचरसदीव था। एक दिन वह राजा वनक्रीडाके लिये जा रहा था। मार्गमे एक आम्रवृक्ष मजरीसे भरा हुआ देखकर राजाने एक मजरीको कौतुकवश तोड़ लिया। राजा आगे निकल गया। पीछे से आने वाले जनसमुदाय ने राजाका अनुकरण किया। अर्थात् सभीने एक-एक करके उस आम्रवृक्षकी मजरी तोड़ ली। पुन पत्ते तथा डालियाँ भी नष्ट कर दीं। राजा वनक्रीड़ा करके लौटा तो वृक्षको न देखकर पूछा। लोगोंसे वृक्ष नष्ट होनेका वृत्तात सुना तथा वृक्षको केवल ठूठसा खड़ा देखकर अकस्मात् राजाको वैराग्य हुआ और उसने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की। अब वे मुनि होकर विहार करते हुए उज्जयिनीमे आहारार्थ पहुँचे। किसी एक घरके आगनमें वे प्रविष्ट हुए। वह गृह कामसुदरी वेश्या का था। वेश्या को देखकर मुनि मोहित होगये और वहीं रहने लगे।

बारह वर्ष व्यतीत होगये। किसी दिन वेश्याके पैरके अगूठेपर दृष्टि गयी तो देखा कि इसके अगुष्ठमे कुष्ठ है। उससे पुन वैराग्यभाव जाग्रत होनेसे उस द्वीपायन या गोरसदीवने पुन·दीक्षा ग्रहण की।

इसप्रकार गोरसंदीव मुनि स्त्रीके रूप देखने में आसक्त होने से अपने चारित्र से भ्रष्ट हो गये थे।

शीतमुष्णं क्षुधां तृष्णां, दुराहारं पथि श्रमम्।
दुःशय्यां सहते कामी, वहते भारमुल्वणम्॥९४९॥

अर्थ - सुकुमार भी कामान्ध पुरुष शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, खोटा आहार, खोटी शय्या, मार्ग में चलने का श्रम और भारी बोझ ढोने वाले सब कष्टों को सहज सहन कर लेता है॥९४९॥

क्षुप्यते कृष्यते लूयते पूयते, प्राप्यते पाद्यते सीव्यते चित्र्यते।
छिद्यते भिद्यते क्रीयते दीर्यते, ख्यम्यते रज्यते सज्यते कामिना॥९५०॥

अर्थ - कामान्ध पुरुष इष्ट स्त्री को प्रसन्न रखने के लिए कभी खेदखिन्न होता है, खेती करता है, खेती काटता है, खलिहान साफ करता है, धान्यादि प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है, वस्त्रों की सिलाई करता है, चित्रकारी करता है, लकडी आदि को छीलने के कार्य करता है, पत्थर आदि भेदने अर्थात् फोड़ने का कार्य करता है, खरीदता है, काष्ठादि का विदारण करता है, छीलता है, वस्त्रादि को रगता है एव बुनता है। स्त्री के निमित्त मनुष्य इस प्रकार के कार्य करता है॥९५०॥

गो-महिषी-हय-रासभ-रक्षी, काष्ठ-तृणोदक-गोमयवाही।
प्रेषण-कण्डण-मार्जनकारी, कामनरेन्द्र-वशोस्ति मनुष्यः॥९५१॥

अर्थ - कामरूपी राजा के आधीन हुआ मनुष्य गाय, भैंस, घोड़े एव गधों की रक्षा करता है, लकडी, तृण, जल एव गोबर आदि ढोता है, स्वामी द्वारा भेजे जाने रूप प्रेषण कार्य करता है तथा मूसल से कूटने एव झाडू से गृहादि साफ करने के नीच कार्य भी करता है॥९५१॥

आयुधैर्विविधैः कीर्णां, रणक्षोणीं विगाहते।
लेखनं कुरुते दीनः, पुस्तकानामनारतम्॥९५२॥

अर्थ - कामार्त मनुष्य विविध आयुधो से युक्त रणभूमि मे प्रवेश करके युद्ध करता है और स्त्री-प्राप्ति की अभिलाषा से पुस्तक-लेखन आदि के कार्य भी करता है॥९५२॥

संयुक्तां कर्षति क्षोणीं, गर्भिणीमिव योषितम्।
अधीत्य बहुशः शास्त्रं, कुरुते शिशु-पाठनम्॥९५३॥

अर्थ - गर्भिणी स्त्री सदृश सयुक्त भूमि मे हलादि चलाता है तो बहुत शास्त्रो को पढकर भी आजीविका हेतु बालको को पढाने लगता है॥९५३॥

शिल्पानि बहु-भेदानि, तनुते पर-तुष्टये।
विधत्ते वञ्चनां चित्रां, वाणिज्य-करणोद्यतः॥९५४॥

अर्थ - स्त्री-अभिलाषी दूसरों को सन्तुष्ट करने के लिए नाना प्रकार की चित्रकला करता है एव विविध प्रकार की वचना अर्थात् ठगाई करता हुआ व्यापार में उद्यत रहता है॥९५४॥

अवमन्य भवाम्भोधौ, पतनं बहुवीचिके।
किं किं करोति नो कर्म, मर्त्यो मदनलङ्घितः॥९५५॥

अर्थ - अत्यधिक दुखरूपी लहरों से युक्त भवसमुद्र में मुझे गिरना पड़ेगा, इसका विचार किये बिना मदनातुर मानव क्या-क्या कार्य नहीं करता ? अर्थात् सब कुछ कर डालता है॥९५५॥

दुर्मोचैः कामिनी-पाशैः, कामी वेष्टयते कुधीः।
लालापाशैरिवात्मानं, कोशकार-कृमिः स्वयम्॥९५६॥

अर्थ - जैसे रेशम का कीडा अपने ही मुख मे से तार निकालकर उससे अपने को ही बाध लेता है, वैसे ही दुर्बुद्धि मनुष्य, जिसका छूटना अशक्य है ऐसे स्त्रीरूप पाश के द्वारा अपने आप को बाँध लेता है॥९५६॥

रागो द्वेषो मदोऽसूया, पैशून्यं कलहो रतिः।
वचनेर्ष्या पराभूतिर्दोषाः सन्ति स्मरातुरे॥९५७॥

अर्थ - कामी पुरुष मे राग-द्वेष, घमण्ड, असूया, पैशून्य, कलह, रति, ईर्ष्यायुक्त वचन एव पर-तिरस्कार आदि अनेक दोष होते हैं॥९५७॥

काम-सेवन से होने वाला जीवघात

तिल-नाल्यामिव क्षिप्रं, तप्तलोह-प्रवेशने।
तिलानां देहिनां पीडा, योन्यां लिङ्ग-प्रवेशने॥९५८॥

अर्थ - जैसे तिलो से भरी नलिका मे तपाये हुए लोहे की सलाई के प्रवेश से शीघ्र ही तिल जल कर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही स्त्री की योनि मे लिग प्रवेश होने पर वहाँ के सम्मूर्छन जीव शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं॥९५८॥

इच्छावतीमनिच्छां वा, दुर्बलां दुर्लभां कुधीः।
अज्ञात्वा याचते कामी, सर्वाचार-बहिर्भवः॥९५९॥

अर्थ - दुर्बुद्धि एव सर्व सदाचार से बहिर्भूत कामी पुरुष यह स्त्री मुझे चाहती है या नहीं, दुर्बल है या हृष्ट-पुष्ट है तथा दुर्लभ है या सुलभ है इत्यादि विषय जाने बिना ही उसकी याचना करता रहता है॥९५९॥

परकीयां स्त्रियं दृष्ट्वा, किं काङ्क्षति विमूढ-धीः।
न हि तां लभते जातु, पापमर्जयते परम्॥९६०॥

अर्थ - विमूढ़ बुद्धि कामी पुरुष पर-दारा को देख कर क्यों उसकी वाछा करता है ? क्योकि वह अन्य पुरुष की स्त्री को प्राप्त तो कर नहीं सकता, व्यर्थ मे पापो का सचय कर लेता है॥९६०॥

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा, परनारीं कथञ्चन।
अनिर्वृत्तमविश्वस्तं, सेवने तादृगेव सः॥९६१॥

अर्थ - चिरकालतक अभिलाषा करने पर कदाचित् पर-स्त्री का लाभ हो भी जाय, तो उसके मिलने से पूर्व वह जैसा व्याकुल, अविश्वस्त एव अतृप्त रहता था, मिलने अथवा सेवन करने पर भी वह वैसा ही रहता है। अर्थात् 'मुझे कोई देख न ले' इस भय से वह व्याकुल रहता है॥९६१॥

यत्र तत्र प्रदेशे तामन्धकारे कथञ्चन।
अवाप्य त्वरितो भीतो, रति-सौख्यं किमश्नुते ॥९६२॥

अर्थ - जहाँ-तहाँ किसी भी स्थान पर एव अन्धकार मे जिस किसी प्रकार से उस स्त्री को प्राप्त करके भी वह भयभीत पुरुष शीघ्रता से सेवन करते हुए रतिसुख को किस प्रकार पा सकता है॥९६२॥

सर्वस्व-हरणं रोधं, वधं बन्धं भयं कलिम्।
तज्ज्ञाति-पार्थिवादिभ्यो, लभते पारदारिकः॥९६३॥

अर्थ - पर-स्त्री का सेवन करने वाला कामी पुरुष उस स्त्री के जाति या कुटुम्बीजनों के द्वारा या राजादि के द्वारा सर्वस्व-हरण, विरोध, वध, बन्धन, भय एव कलह को प्राप्त होता है॥९६३॥

अनर्थ-कारणं पुंसां, कलत्रे स्वेपि मैथुने।
करोति कल्मषं घोरं, परकीये न किं पुनः॥९६४।

अर्थ - यदि अपनी पत्नी के साथ मैथुन-सेवन भी अनर्थ का कारण होता है तो परस्त्री-सेवी को अति घोर पाप का बन्ध क्यो नहीं होगा ? क्योंकि उसमें अब्रह्म के साथ चोरी का भी दोष है॥९६४॥

यथाभिद्रूय-माणासु, स्वसृ-मातृ-सुतादिषु।
दुःखं सम्पद्यते स्वस्य, परस्यापि तथा न किम्॥९६५॥

अर्थ - अपनी बहिन, माता एव पुत्री आदि के प्रति यदि कोई अभद्र व्यवहार करे तो जैसे हमे दुख होता है, वैसे ही दूसरों की माँ-बहिन आदि के विषय मे अभद्र व्यवहार करने पर दूसरो को भी क्या दुख नहीं होगा ? अवश्य ही होगा॥९६५॥

इत्थमर्जयते पापं, पर-पीडा-कृतोद्यमः।
स्त्री-नपुंसकवेदं च, नीचगोत्रं दुरुत्तरम्॥९६६॥

अर्थ - इस प्रकार परस्त्री-गामी पुरुष अन्य की माता-बहिन के सेवन से पर को पीड़ा पहुँचाने मे उद्यमशील होता हुआ पाप का सचय करता है तथा स्त्रीवेद, नपुसक वेद एव नीचगोत्र का दुरुत्तर बन्ध करता है॥९६६॥

भुज्यते यदनिच्छन्ती, क्लिश्यमानाङ्गनावशा।
तदेतस्याः पुरातन्याः परदार-रते फलम्॥९६७॥

अर्थ - इस जन्म मे जो स्त्री परवश होकर अनिच्छित (जिसे वह नहीं चाहती) पर-पुरुष के द्वारा बलात् किन्तु यथेच्छ भोगी जाती है और मानसिक महान् कष्ट पाती है, वह सब उसके पूर्व जन्म मे किये गये परस्त्रीगमन का फल है॥९६७॥

योषा-वेषधरः कर्म-कुर्वाणो न यदश्नुते।
काङ्क्षितं शर्म तत्तस्य, परदार-रतेः फलम्॥९६८॥

अर्थ - स्वयं नपुसक होते हुए भी जो ऊपर से स्त्री का वेष धारण कर यहाँ-वहाँ काम क्रीड़ा करके भी इच्छित रति सुख प्राप्त नहीं कर पाता, उसका यह नपुंसकपना पूर्वभव में किये गये परस्त्री-गमन का फल है॥९६८॥

जननी भगिनी भार्या, देहजा बहु-जन्मसु।
आयासाकीर्ति-कारिण्यस्तस्य सन्ति विशीलिका:॥९६९॥

अर्थ - परस्त्रीगामी की माता, बहिन, पत्नी और पुत्री आदि बहुत अर्थात् लाखो जन्मों तक उसे दुख एव अपयश देने वाली सदा व्यभिचारिणी ही होती हैं॥९६९॥

प्रश्न - मातादि बहुत जन्मों तक व्यभिचारिणी होती हैं, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - इसका आशय यह है कि जो कामी पुरुष किसी अन्य की माता या बहिन या भार्या या पुत्री का शील भजन कर देता है उसे कुशील स्वभाव वाली माता या बहिन आदि मिलेगी। अथवा उसकी माता आदि शील स्वभावी होगी किन्तु कोई कामी बलात् उनका शीलभग कर देगा जिसके अपयश से वह जीवन भर दुखी रहेगा।

विशीलो दुर्भगोऽमुत्र, जायते पारदारिक:।
निर्दोषोऽप्यश्नुते बन्धं, संक्लेशं कलहं वधम्॥९७०॥

अर्थ - परस्त्री-गामी आगामी भवों में दुराचारी एव कुरूप होता है, तथा निर्दोष होते हुए भी उसे अकारण ही बन्धन, क्लेश, कलह और वधादि के साथ-साथ दोषारोपण अर्थात् अवर्णवाद के दुख भोगने पड़ते हैं॥९७०॥

महान्तं दोषमासाद्य, भवेऽत्र स्मर-मोहित:।
मृत्वा कडारपिङ्गोऽगाच्छ्वभ्रं दु:सह-वेदनम्॥९७१॥

अर्थ - काम से मोहित हुआ कडारपिग इस भव में महान् दोष का भागी हुआ। पीछे मर कर नरक गया॥९७१॥

❋ कडारपिगकी कथा ❋

कापिल्य नगरमें राजा नरसिह था। उसका मत्री सुमति नामका था। उसके एक कडारपिंग नामका पुत्र हुआ। वह अत्यत कामासक्त था। एक दिन उसने कुबेरदत्त सेठकी सर्वांगसुदरी प्रियगुसुदरी पत्नी को देखा। देखकर वह उसपर आसक्त हुआ। सुमति मत्रीने पुत्रका हाल जानकर पहले तो कामवासनाको मनमे धिक्कारा किन्तु पुत्र के मोहमे आकर प्रियगुसुदरी को हस्तगत करनेके लिये उसके पति कुबेरदत्तको द्वीपातरमे भेजना चाहा किन्तु प्रियगुसुदरी बुद्धिमती थी। उसने ताड़ लिया कि यह कामी कडारपिंगकी करतूत है। उसने पतिको समझाया कि द्वीपातर जाने का केवल दिखावा करो। आगे की बात मैं सम्हाल लूंगी। कडारपिंग कुबेरदत्तको द्वीपांतर गया समझकर प्रियगुसुदरीके पास रातके समय आया। उस सुंदरीने पाखाने के कमरे को साफ-सुथरा कराके उसमें एक बिना निवारके पलगपर एक चादर बिछा दिया था, प्रियंगुसुदरी ने आये हुए कडारपिंगको उक्त पलगपर बैठने

को कहा। जैसे ही वह पापी बैठने लगा वैसे ही धड़ामसे अत्यत दुर्गंधमय पाखानेके मैलमे जा पड़ा। अब कडारपिंगको बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने निकालने के लिये सुदरीसे बहुत प्रार्थना की किन्तु पापका फल भोगने के लिए उसने उसको नहीं निकाला। छह मास व्यतीत होनेपर कुबेरदत्तने द्वीपातरसे आनेका बहाना किया। राजा और मत्रीने उसे जो किंजल्क पक्षी लानेको कहा था, सेठने पाखानेसे कडारपिंगको निकालकर उसको पक्षियोंके पंख लगाकर मुख काला कर हाथपैर बाध पींजड़ेमे डालकर राजाके समक्ष उपस्थित किया तथा वास्तविक सब वृत्तात कह सुनाया। राजाको कडारपिंग पर क्रोध आया और उसने उस कामी पापीको प्राणदंड दिया, कडारपिंग मरकर नरक गया। इसप्रकार परायी नारीके सेवन का भाव करनेसे तथा साक्षात् सेवन करनेसे महाभयानक दु ख उठाने पड़ते हैं ऐसा जानकर इस पापसे विरत होना चाहिये।

भवन्ति सकला दोषा, नैवामी ब्रह्मचारिण:।
सम्पद्यन्ते गुणाश्चित्रास्तद्विपक्षा विरागिण: ॥९७२॥

अर्थ - ब्रह्मचारी पुरुष के उपर्युक्त कोई भी दोष नहीं होते। प्रत्युत उस विरागी के उन दोषों के विपक्षभूत अत्यधिक गुण होते हैं॥९७२॥

कामाध्वना कुच-फलानि निषेवमाणा,
रम्ये नितम्ब-विषये ललना-नदीनाम्।
विश्रम्य चारु-वदनाम्बु निपीयमाना:,
सौख्येन नारकपुरीं प्रविशन्ति नीचा: ॥९७३॥

अर्थ - कामुक नीच पुरुष स्त्री रूपी नदियो के रम्य नितम्ब मे कामरूपी मार्गसे प्रवेश कर तथा कुच रूपी फलो का सेवन कर वहाँ विश्राम करके उसके मुख की लार (जल) पीता हुआ सुखपूर्वक नरकपुरी मे प्रवेश कर जाता है॥९७३॥

नरो विरागो बुधवृन्द-वन्दितो,
जिनेन्द्रवद्-ध्वस्त-समस्त-कल्मष:।
विदह्यमान ज्वलता दिवानिश,
स्मराग्निना लोकमवेक्षतेऽखिलम्॥९७४॥

इति कामदोषा:॥

अर्थ - जो पुरुष स्त्रियो आदि के विषयो से विराग सम्पन्न है, वह विरागी, ज्ञानी पुरुषों द्वारा वन्दित होता है एव जिनेन्द्रदेव सदृश समस्त पापो का नाश करने वाला होता है तब वह प्रज्वलित कामाग्नि में अहर्निश अतिशयरूप से जलते हुए इस अखिल लोक को मुक्तात्मा के सदृश प्रेक्षकरूप में मात्र देखता ही है॥९७४॥

इस प्रकार कामदोष का प्रकरण पूर्ण हुआ।

स्त्रीदोष व्याख्यान

जननीं जनकं कान्तं, तनयं सहवासिनम्।
पातयन्ति नितम्बिन्य:, कामार्ता दु:खसागरे॥९७५॥

अर्थ - विषयान्ध कामार्ता स्त्री किसी की भी परवाह न करके अपने माता, पिता, पति, पुत्र एव साथ में रहने वाले अन्य परिवार को भी दुखरूपी महासमुद्र में डाल देती है ॥९७५॥

स्त्री-निःश्रेण्योन्नतस्यापि, दुरारोहस्य लीलया।
मस्तकं नर-वृक्षस्य, नीचोऽप्यारोहति द्रुतम् ॥९७६॥

अर्थ - जो बहुत ऊँची है और जिस पर चढ़ना अति कठिन है ऐसी स्त्री रूपी नसैनी द्वारा नीच पुरुष भी मान से उन्नत पुरुष रूपी वृक्ष के मस्तक पर शीघ्रता से चढ जाता है ॥९७६॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या आशय है ?

उत्तर - इसका आशय यह है कि वृक्ष कितना ही ऊँचा हो, नसैनी के माध्यम से छोटे कद वाला मनुष्य भी जैसे उस वृक्ष के सिरे तक चढ़ जाता है। वैसे ही पुरुष बलवान, उच्चकुलीन एव लब्धप्रतिष्ठ हो किन्तु यदि उसकी स्त्री दुराचारिणी है तो वह किसी नीच पुरुष का आश्रय ग्रहण कर अपने पति की प्रतिष्ठा और अभिमान को मिट्टी मे मिला देती है और उसकी कीर्ति का क्षय कर देती है।

मान्या ये सन्ति मर्त्यानामक्षोभ्या बलिनामपि।
सर्वत्र जगति ख्याता, महान्तो मन्दरा इव ॥९७७॥

शठैस्ते स्त्रीजनैस्तीक्ष्णैर्नाम्यन्ते क्षणमात्रतः।
नितान्त-कुटिलीभूतैरङ्कुशैरिव दन्तिनः ॥९७८॥

अर्थ - इस लोक मे मनुष्यो के मध्य जिनकी मान्यता, धैर्य, महानता, कुलीनता, सम्पत्ति-सम्पन्नता एव शारीरिक शक्ति सुमेरु पर्वत सदृश विख्यात है, जिसे बलवान पुरुष भी नहीं हिला सकते, किन्तु ऐसे महापुरुष का स्वाभिमान भी मूर्ख, कठोर एव दुराचारिणी स्त्रियों द्वारा क्षणमात्र मे उसी प्रकार निम्न स्तर का अथवा नष्ट कर दिया जाता है जिस प्रकार अतिशय तीक्ष्ण अकुश द्वारा बलवान हाथी भी नीचे बैठा दिया जाता है ॥९७७-९७८॥

आसन्रामायणादीनि, स्त्रीभ्यो युद्धान्यनेकशः।
मलिनाभ्योऽब्दमालाभ्यः, सलिलानीव विष्टपे ॥९७९॥

अर्थ - जैसे काली मेघ-मालाओ से जल निसृत होता है, वैसे ही इस जगत् मे स्त्रियो के कारण ही रामायण एव महाभारतादि मे वर्णित अनेक महायुद्ध हो चुके हैं ॥९७९॥

विस्रम्भ-संस्तव-स्नेहा, जातु सन्ति न योषितः।
त्यजन्ति वा परासक्ताः, कुलं तृणमिव द्रुतम् ॥९८०॥

अर्थ - स्त्रियो मे विश्वास, प्रशसा एव स्नेह गुण कभी नहीं होते, क्योंकि पर-पुरुषासक्त नारी अपने महान् कुल को या कुलीन भी पति को तृण सदृश मानकर शीघ्र ही छोड देती है ॥९८०॥

विस्रम्भयन्ति ता मर्त्यं, प्रकारैर्विविधैर्लघु।
विस्रम्भः शक्यते कर्तुमेतासां न कथंचन ॥९८१॥

अर्थ - स्त्रियाँ अनेक प्रकारों से पुरुष में विश्वास उत्पन्न करा लेती हैं किन्तु पुरुष अनेक उपायों द्वारा भी स्त्रियों को कदापि विश्वास उत्पन्न नहीं करा सकता ॥९८१॥

स्वल्पेऽपि विहिते दोषे, कृत-दोष-सहस्रशः।
उपकारमवज्ञाय, स्वं निघ्नन्ति पतिं कुलम् ॥९८२॥

अर्थ - स्वय द्वारा किये हुए हजारों दोषो की उपेक्षा कर, पति द्वारा किये गये अल्प से भी दोष को न सहन करती हुई और पति द्वारा किये गये हजारो उपकारों की अवज्ञा कर कुलटा नारी कभी स्वय आत्मघात कर मर जाती है और कभी पति का तथा कुल का भी नाश कर डालती है ॥९८२॥

आशीविष इव त्याज्या, दूरतो नीति-हेतवः।
दुष्टा नृपा इव क्रुद्धास्ताः, कुर्वन्ति कुल-क्षयम् ॥९८३॥

अर्थ - हित की बात तो यह है कि कुलटा स्त्रियो को क्रुद्ध सर्प के सदृश दूर से ही त्याग देना चाहिए, कारण कि रुष्ट, दुष्ट एव प्रचण्ड राजा के समान वे कुल का नाश कर देती है ॥९८३॥

अकृतेप्यपराधे ता, नीचाः स्वच्छन्द-वृत्तयः।
निघ्नन्ति निर्घृणाः पुत्रं, श्वसुरं पितरं पतिम् ॥९८४॥

अर्थ - वे कुलटा स्त्रियाँ स्वच्छन्द प्रवृत्ति की इच्छा से निरपराध पुत्र, श्वसुर एव पिता आदि को निर्दयतापूर्वक मार डालती हैं ॥९८४॥

उपकारं गुणं स्नेहं, सत्कारं सुख-लालनम्।
न मन्यन्ते परासक्ता, मधुरं वचन स्त्रियः ॥९८५॥

अर्थ - पर-पुरुष मे जिनका चित्त आसक्त है वे स्त्रियाँ अपने पति के उपकार, गुण, स्नेह, सत्कार, सुखपूर्वक लालन-पालन एव पति द्वारा बोले गये मधुर वचनो को भी नहीं गिनतीं ॥९८५॥

साकेताधिपतिर्देवरतिः प्रच्याव्य राज्यतः।
देव्या नदी-ह्रदे क्षिप्तो, रक्तया पङ्गु-रक्तया ॥९८६॥

अर्थ - अयोध्यानगरी के राजा देवरति की रक्ता नाम की रानी थी। उसने एक पगु, कुरूप, दुष्ट एव दरिद्री पुरुष पर आसक्त होकर राज्य से च्युत होने वाले अपने पति को नदी के गहरे प्रवाह मे डाल कर मार दिया था ॥९८६॥

❋ रक्ता रानीकी कथा ❋

परपुरुष-आसक्त रक्ता नामकी रानी थी। उसका सक्षिप्त दुश्चरित्र इस तरह है कि अयोध्या नगरीका देवरति नामका राजा था। उसकी रक्ता रानी उसे प्राणोसे भी अधिक प्यारी थी। उसके अत्यधिक प्रेमके कारण राज्यका त्यागकर राजा सदा अत पुरमे रहने लगा। अत मन्त्रियोंने उसे राज्यसे च्युत कर दिया। राजा रानीको लेकर अन्यत्र चला गया। वहाँ किसी पगुके मधुर गानको सुनकर रक्ता उसपर आसक्त हो गयी और अपने पति

देवरति राजाको किसी बहाने नदीमें डालकर खुद उस पगु पुरुषके साथ रहने लगी। पगुको एक टोकरीमें रखकर अपने मस्तक पर लेकर जगह-जगह भ्रमण करती रही, पंगु मधुर गान सुनाता, जिससे दोनोंकी आजीविका होती थी। इधर राजा नदीके प्रवाहसे किसीतरह निकल आया और पुण्योदयसे मगलपुरीका शासक-राजा बन गया। घूमती हुई रक्ता वहाँ पहुँची। राजाने पहिचान लिया और इस स्त्री-चरित्रसे विरक्त होकर उसने दीक्षा ग्रहण की। इसप्रकार पर-पुरुष पर आसक्त हुई नारी की दुष्ट चेष्टाये हुआ करती हैं।

गोपवत्या क्रुधा छित्वा, ग्रामकूट सुता-शिरः।
राजा सिंहबलः कुक्षौ, शक्त्येर्ष्यापरया हतः ॥९८७॥

अर्थ - ईर्ष्यालु गोपवती ने क्रोधावेश मे ग्रामकूट की पुत्री का मस्तक काट दिया था और अपने पति के पेट में भाला घोंप कर उसे मार डाला था॥९८७॥

❋ गोपवतीकी कथा ❋

राजा सिंहबलकी रानी गोपवती थी। यह अत्यन्त दुष्ट स्वभाववाली थी। एक दिन राजाने ग्रामकूट नामके नगरके शासक की सुभद्रा नामकी पुत्रीसे विवाह कर लिया। इससे गोपवती क्रोधित हुई, उसने सुभद्राको मार डाला और उसका कटा हुआ मस्तक राजाको दिखाया, राजाको इससे महान् दु ख हुआ, जैसे ही वह उसको दण्डित करनेमे उद्यत हुआ वैसे ही उस दुष्टाने उसको भी भाले द्वारा मार डाला। दुष्ट स्त्रीके लिये क्या कोई कुकृत्य शेष रहता है जिसे वह न कर सके ? वह तो सब कुकृत्य कर डालती है।

वीरवत्यापि शूलस्थस्तेन छिन्नोष्ठया निजः।
ओष्ठश्छिन्नो ममानेन, पापयेत्युदितं मृषा ॥९८८॥

अर्थ - शूली स्थित यार के द्वारा जिसका ओष्ठ काट लिया गया था ऐसी पापी एव दुराचारिणी वीरवती ने राजा के पास जाकर झूठ कहा कि मेरे पति ने मेरा ओष्ठ काट लिया है॥९८८॥

❋ वीरवती की कथा ❋

दत्त नामके वैश्य की पत्नीका नाम वीरवती था। यह एक चोरके प्रेममें फँसी थी। एक दिन चोरी करते हुए रगे हाथ वह चोर पकडा गया। उसे राजाने शूलीपर चढ़ानेकी सजा दी। चाडालने उसे श्मशानमें ले जाकर शूलीपर चढ़ा दिया। वीरवती दु खी हुई। रातके समय उससे अतिमबार मिलनेके लिये श्मशानमे पहुँची, ऊँचे स्थान शूलीपर चढे हुए चोरका आलिगन करनेके लिये उसने अधजली लकड़ियाँ और शव इकट्ठे किये और उसपर चढ़कर उससे मिलने लगी। इतनेंमे लकड़ियाँ खिसक गयीं और वह अकस्मात् नीचे गिर पडी। उससे उसका ओठ चोरके मुँहमे रह गया-दाँतोसे कट गया। वह दुष्टा दौड़कर चुपकेसे घर लौटी। वहाँ शोर मचाया कि पतिने मेरा ओठ काट डाला है। राजाके पास शिकायत गयी। उसने पतिको दण्डित करना चाहा किन्तु इतनेमे किसीसे रहस्यका पता चला। तब राजाने निरपराध पति दत्त को छोड़ दिया और दुराचारिणी वीरवतीका मुख काला कर शिरके केशोंका मुडन करवाके गधेपर बैठाकर उसको अपने देशके बाहर निकाल दिया।

व्याघ्रे विषे जले सर्पे, शत्रौ स्तेनेऽनले गजे।
स विश्वसिति नारीणां,यो विश्वसिति दुर्मनाः ॥९८९॥

अर्थ - जो पुरुष नारियो पर विश्वास करता है, समझ लेना चाहिए कि वह व्याघ्र, विष, जल, सर्प, शत्रु, चोर, अग्नि और हाथी पर विश्वास करता है ॥९८९॥

व्याघ्रादयो महादोषं, कदाचित्तं न कुर्वते।
लोकद्वय-विघातिन्यो, यं स्त्रियो वक्रमानसा: ॥९९०॥

अर्थ - पूर्व श्लोक मे कहे गये व्याघ्र-सर्प आदि मनुष्य का कभी भी ऐसा अहितकारी महादोष नहीं करते जैसा इस लोक और परलोक को नाश करने वाली कुटिल मन युक्त दुराचारिणी स्त्रियाँ करती हैं ॥९९०॥

सकश्मलाशया रामा:, प्रावृषेण्या इवापगा:।
स्तेनवत्स्वार्थ-तन्निष्ठा:, सर्वस्व-हरणोद्यता: ॥९९१॥

अर्थ - जैसे वर्षा ऋतु मे नदियो का जल मैल से युक्त होता है, वैसे ही स्त्रियो का मन सदा राग, द्वेष, मोह, ईर्षा, परनिन्दा एव मायाचारी आदि दोषो से कलुषित रहता है। जैसे चोर अपने चौर कर्म रूप स्वार्थ मे सदानिष्ठ रहते हैं एव सर्वधन हरण करने मे उद्यत रहते हैं, वैसे दुराचारिणी स्त्रियाँ भी मधुर वचन एव रतिक्रीडा आदि की अनुकूलता देकर पुरुष का धनहरण करने मे उद्यमशील रहती हैं ॥९९१॥

दारिद्र्यं विस्रसां व्याधिं, यावन्नाप्नोति मानव:।
जायते तावदेवास्या:, कुलपुत्र्या अपि प्रिय: ॥९९२॥

अर्थ - कुलवन्ती नारियो को भी पति प्राय तभी तक प्रिय होता है जब तक उसको दरिद्रता, बुढापा या व्याधि आदि का प्रकोप नहीं आता ॥९९२॥

प्रसूनमिव निर्गन्धं, द्वेष्यो भवति निर्धन:।
म्लानमालेव वर्षिष्ठो, रोगीक्षुरिव नीरस: ॥९९३॥

अर्थ - यौवन, धन एव शक्ति ये तीन विशेषताएँ ही पुरुष को प्रधान आकर्षण प्रदान करती हैं, अत स्त्रियो को निर्धन पुरुष गन्धरहित पुष्प के सदृश, वृद्ध पुरुष मुरझाई हुई माला के सदृश और रोगी पुरुष रस निकाले हुए नीरस गन्ने के सदृश अप्रिय होता है ॥९९३॥

वञ्चयन्ति नरान्नार्य:, समस्तानपि हेलया।
जानन्ति वचनं पौंस्नं, तदीयं न नरा: पुन: ॥९९४॥

अर्थ - नारियाँ समस्त पुरुषो को आयास के बिना हास्य, शपथ, मधुर किन्तु असत्य भाषण आदि के द्वारा लीला मात्र मे ठग लेती हैं, किन्तु पुरुष द्वारा किये गये कपट को स्त्रियाँ तत्काल जान लेती हैं ॥९९४॥

यथा-यथा स्त्री पुरुषेण मन्यते, तथा-तथा सा कुरुते पराभवम्।
यथा-यथा कामवशेन मन्यते, तथा-तथा सा कुरुते विटम्बनाम् ॥९९५॥

अर्थ - जैसे-जैसे पुरुष स्त्री को मान्यता देता है अर्थात् आदर करता है, वैसे-वैसे स्त्री उसका निरादर करती है और जैसेजैसे कामार्त पुरुष द्वारा उसकी मान्यता होती है, वैसे-वैसे वह नारी पुरुष का तिरस्कार कर विडम्बना करती है ॥९९५॥

भवन्ति सर्वदा योषा, मत्तास्तम्बेरमा इव।
स्वं दासमिव मन्यन्ते, पुरुषं मूढ-मानसा: ।।९९६ ।।

अर्थ - मत्त हाथी सदृश मूढ़ स्त्रियाँ सदा मद से उन्मत्त रहती हैं, वे अपने पति को दास के समान मानती हैं।।९९६ ।।

शील-संयम-तपो बहिर्भवास्ता नरान्तर-निविष्ट-मानसा: ।
चिन्तयन्ति पुरुषस्य सर्वदा, दु:खमुग्रमपकारिणो यथा ।।९९७ ।।

अर्थ - जो स्त्रियाँ शील, सयम एव तप से रहित हैं एव जिनका मन पर-पुरुष में अनुरक्त हैं वे नारियाँ शत्रु के समान सदा अपने पति को भयकर से भयकर कष्ट देने का ही चिन्तन करती रहती हैं।।९९७।।

कुर्वन्ति दारुणां पीडामामिषाशन-लालसा: ।
अपराधं विनाप्येता:, पुंसां व्याघ्रा इवाधमा: ।।९९८ ।।

अर्थ - जैसे मासभोजन की लालसा से व्याघ्र निरपराध मनुष्यो को दारुण दुख देता है अर्थात् मार डालता है, वैसे ही कामार्त अधम स्त्रियाँ पुरुषो को निरपराध ही दारुण दुख देती हैं।।९९८ ।।

शम्पेव चञ्चला नारी, सन्ध्येव क्षणरागिणी।
छिद्रार्थिनां भुजङ्गीव, शर्वरीव तमोमयी ।।९९९ ।।

अर्थ - कुलटा नारी बिजली सदृश चचल, सन्ध्या की लालिमा सदृश क्षणानुरागी, बिल की इच्छुक सर्पिणी सदृश पर-छिद्रान्वेषी और रात्रि सदृश अन्धकारमय होती है।।९९९ ।।

सिकता-तृण-कल्लोल-रोमाणि भुवनत्रये।
यावन्ति सन्ति तावन्ति, मानसानि मृगीदृशाम् ।१००० ।।

अर्थ - तीनो लोको में बालू के जितने कण हैं, जितने तृण है, समुद्र में जितनी लहरे हैं और मनुष्यों के शरीरो पर जितने रोम हैं, दुराचारिणी स्त्रियो के मनो-विकल्प उनसे भी अधिक होते हैं।।१००० ।।

नग-भूमि-नभोऽम्भोधिसलिलक्षर्नभ: स्वताम्।
शक्यन्ते परिमा कर्तुं, स्त्री-चित्तानां न सर्वथा ।।१००१ ।।

अर्थ - ससार मे पर्वत, भूमि, आकाश, सागर का जल और नभ के तारे, इन पदार्थों का कुछ तो परिमाण जानना शक्य है किन्तु व्यभिचारिणी नारी के मन मे निरन्तर उत्पन्न होने वाले सकल्प-विकल्पों का परिमाण जान लेना अशक्य है।।१००१ ।।

यथा समीरणोल्काम्भो-बुद्बुदाश्चिर-रोचिष: ।
एकत्र नावतिष्ठन्ते, तथैताश्चल-वृत्तय: ।।१००२ ।।

अर्थ - जैसे वायु, उल्का, जल के बुलबुले एव बिजली बहुत समय तक एक स्थान पर नहीं टिकते, वैसे ही कुलटा स्त्रियो की प्रीति एक पुरुष में बहुत समय तक नहीं रहती।।१००२ ।।

गृहीतुं शक्यते जातु, परमाणुरपि ध्रुवम्।
न सूक्ष्मं योषितां स्वान्तं, दुष्टानामिव चञ्चलम्॥१००३॥

अर्थ - कदाचित् मनुष्य द्वारा परमाणु का ग्रहण शक्य है किन्तु दुष्ट मनुष्यों के चचल मन सदृश स्त्रियों के चित्तगत सूक्ष्म अभिप्राय को समझ पाना शक्य नहीं है॥१००३॥

क्रुद्धः कण्ठीरवः सर्पः, स्वीकर्तुं जातु शक्यते।
न चित्तं दुष्ट-वृत्तीनामेतासामतिभीषणम्॥१००४॥

अर्थ - क्रोधित सिंह, क्रोधित सर्प एव गज आदि को पकड़ना शक्य है किन्तु दुष्ट एव दुराचारिणी इन स्त्रियों की अतिभीषण चित्तवृत्ति को पकड़ लेना शक्य नहीं है॥१००४॥

रूपं सन्तमसि द्रष्टुं, विद्युत्-द्योतेन पार्यते।
चेतश्चल-स्वभावानां,योषाणां न कथञ्चन॥१००५॥

अर्थ - बिजली के प्रकाश मे अपने नेत्र में स्थित रूप को देखना शक्य है, किन्तु स्त्रियो के अति चचल चित्त को जान लेना या पकड़ लेना शक्य नहीं है॥१००५॥

हरन्ति मानसं रामा, नराणामनुवर्तनैः।
तावद्यावन्न जानन्ति, रक्तं कुटिल-चेतसः॥१००६॥

अर्थ - कुटिल स्वभाव वाली स्त्रियाँ अपनी मधुर वाणी एव हास्य आदि के द्वारा पुरुष के अनुकूल वर्तन कर उसके चित्त का तब तक हरण करती हैं जब तक कि उस पुरुष को अपने मे अनुरागयुक्त हुआ नहीं जानतीं॥१००६॥

हसितैः रोदनैर्वाक्यैः, शपथैर्विविधैः शठाः।
अलीकैर्मानसं पुंसां, गृह्णन्ति कुटिलाशयाः॥१००७॥

अर्थ - कपट मन वाली शठ स्त्रियाँ बनावटी हास्य वचनो से, बनावटी रुदन से, विविध वाक्यो से और नाना प्रकार की झूठी शपथो से पुरुष के चित्त का हरण करती रहती हैं॥१००७॥

हरन्ति पुरुषं वाचा, चेतसा प्रहरन्ति ताः।
वाचि तिष्ठति पीयूषं, विषं चेतसि योषिताम्॥१००८॥

अर्थ - कुटिल स्त्रियों के वचनों मे अमृत और हृदय मे विष भरा रहता है, अत वे मधुर वचनो द्वारा पुरुष के चित्त को आकृष्ट करती हैं और पापपूर्ण हृदय से उसका घात करती हैं॥१००८॥

पाषाणोऽपि तरेत्तोये, न दहेदपि पावकः।
न चित्तं पुरुषे स्त्रीणां, प्राञ्जलं जातु जायते॥१००९॥

अर्थ - कदाचित् पाषाण जल मे तैरने लग जाय, अग्नि अपना दाहक स्वभाव छोड़कर शीतल हो जाय, किन्तु दुराचारिणी स्त्री का मन पुरुष के प्रति कभी सरल नहीं हो सकता॥१००९॥

प्राञ्जलत्वं विना स्त्रीषु, विस्रम्भो जायते कथम्।
विस्रम्भेण विना तासु, जायते कीदृशी रतिः ॥१०१०॥

अर्थ - जिन स्त्रियों में सरलता नहीं है, उनमें विश्वास कैसे कर सकते हैं और विश्वास के बिना उनमें रति किस प्रकार हो सकती है॥१०१०॥

बाहुभ्यां जलधेः पारं, तीर्त्वा याति परं ध्रुवम्।
न माया-जलधेः स्त्रीणां बहु-विभ्रम-धारिणः ॥१०११॥

अर्थ - जो महाबलशाली पुरुष अपनी भुजाओं के बल से तैर कर समुद्र का किनारा प्राप्त कर सकता है, वह पुरुष भी माया रूपी जल से भरे और अत्यधिक विभ्रमरूपी भँवर वाले स्त्री रूपी समुद्र को पार करने मे समर्थ नहीं होता है॥१०११॥

सव्याघ्रेव गुहा रत्नैर्बहु-भेदैर्विराजते।
रमणीया सदोषा च, जायते महिला सदा ॥१०१२॥

अर्थ - जैसे नाना प्रकार के बहुत रत्नों से भरी किन्तु व्याघ्र के निवास से युक्त गुफा भयानक होती है, वैसे ही अति सुन्दर एव सदा मधुर बोलने वाली भी कपटयुक्त स्त्री सदोष होती है॥१०१२॥

न दृष्टमपि सद्भावं, वक्र-धीः प्रतिपद्यते।
गोधान्तर्द्धिं विधत्ते सा, पुरुषे कुल-पुत्र्यपि ॥१०१३॥

अर्थ - जैसे गोह जिस भूमि को पकड लेती है या जिस स्थान पर चिपक जाती है, बल पूर्वक छुड़ाये जाने पर भी वह उसे नहीं छोड़ती, वैसे ही उत्तम कुल मे उत्पन्न भी कुटिल बुद्धि वाली स्त्री पुरुष के द्वारा देख लिये गये अपराध को भी न स्वीकार करती है और न उस दोष को छोड़ती है॥१०१३॥

स्त्रीवाचक शब्दों की निरुक्ति अर्थ से भी स्त्री के दोष प्रगट होते हैं। यथा-

दोषाच्छादनतः सा स्त्री वधूर्वध-विधानतः।
प्रमदा गदिता प्राज्ञैः, प्रमाद-बहुलत्वतः ॥१०१४॥

अर्थ - प्राज्ञ पुरुष नारी को दोषो का आच्छादन करने के कारण 'स्त्री', अपने पति का भी वध करने मे नहीं चूकती अत 'वधू' और प्रमाद की बहुलता के कारण उसे 'प्रमदा' कहते हैं॥१०१४॥

नारिर्यतः परोस्त्यस्यास्ततो नारी निगद्यते।
यतो विलीयते दृष्ट्वा, पुरुषं विलया ततः ॥१०१५॥

अर्थ - 'न अरि. इति नारी' इस निरुक्ति अर्थानुसार पुरुष के लिए इससे बढ़कर अन्यकोई वैरी नहीं है, इसलिए इसे 'नारी' कहते हैं और पुरुष के लिए अनर्थकारी है अथवा पुरुष को देखकर विलीन हो जाती है या छिप जाती है, इसलिए इसे 'विलया' कहते हैं॥१०१५॥

कुत्सिता नुर्यतो मारी, कुमारी गदिता ततः।
बिभेति धर्म-कर्मभ्यो, यतो भीरुस्ततो मता ॥१०१६॥

अर्थ - पुरुष के कुत्सित मरण का उपाय करने वाली होने से 'कुमारी' और सदा धर्मकार्य से डरती है अत उसे 'भीरु' कहते हैं ॥१०१६॥

यतो लाति महादोषं, महिलाभिहिता ततः।
अबला भण्यते तेन, न येनास्ति बलं हृदि ॥१०१७॥

अर्थ - पुरुष पर दोषारोपण करती है अथवा महादोष लाती है अत 'महिला' और उसके हृदयमे धैर्यरूपी बल नहीं रहता अत उसे 'अबला' कहते है ॥१०१७॥

जुषते प्रीतितः पापं, यतो योषा ततो मता।
यतो ललति दुर्वृत्ते ललना भणिता ततः ॥१०१८॥

अर्थ - प्रीतिपूर्वक पाप सेवन करने से, अथवा पुरुष को दुख से योजित करती है अत 'योषा' या 'युवती' कहते हैं, तथा खोटे आचरण मे लगी रहती है अत 'ललना' कहते है ॥१०१८॥

नामान्यपि दुरर्थानि, जायन्ते योषितामिति।
समस्तं जायते प्रायो, निन्दितं पाप-चेतसाम् ॥१०१९॥

अर्थ - इस प्रकार नारियों के नाम प्राय खोटे अर्थ वाले ही होते हैं क्योकि जिनके चित्त मे सदा पाप विद्यमान रहता है, प्राय उनके सर्व नामादि निन्दित ही हुआ करते है ॥१०१९॥

स्त्रियो के और भी अन्य दोष

मत्सराविनयायास-क्रोध-शोकायशोभियाम्।
सर्वासां कारण रामा, विषाणामिव सर्पिणी ॥१०२०॥

अर्थ - जैसे विष का कारण सर्पिणी है, वैसे ही मत्सर, अविनय, कष्ट, क्रोध, शोक, अयश और भय का कारण स्त्री है ॥१०२०॥

कुल-जाति-यशो-धर्म-शरीरार्थ-शमादय.।
नाश्यन्ते योषया सर्वे, वात्यया तोयदा इव ॥१०२१॥

अर्थ - जैसे आँधी द्वारा मेघ नष्ट कर दिये जाते हैं उसी प्रकार कुलटा स्त्री द्वारा कुल, जाति, यश, धर्म, शरीर, धन और प्रशमभाव आदि समस्त प्रशस्त पदार्थ नष्ट कर दिये जाते है ॥१०२१॥

पावकः सुख-दारूणां, आवासो दुःख-पाथसाम्।
प्रव्ययो व्रत-रत्नानामनर्थानां निकेतनम् ॥१०२२॥

अर्थ - कुटिला नारियाँ सुखरूपी लकड़ियों को जलाने के लिए अग्नि सदृश हैं, दुख रूपी जल के ठहरने का स्थल हैं, व्रतरूपी रत्नों के नाश का कारण हैं और सर्व अनर्थों का घर हैं॥१०२२॥

असत्यानां गृहं योषा, वञ्चनानां वसुन्धरा।
कुठारी धर्म-वृक्षाणां, सिद्धि-सौध-महार्गला॥१०२३॥

अर्थ - स्त्री असत्य भाषणों का घर है, ठगाई या मायाचारी की भूमि है, धर्मरूपी वृक्षों को काटने के लिए कुठारी है और मोक्षमहल की महा अर्गल है॥१०२३॥

दोषाणामालयो रामा, मीनानामिव वाहिनी।
गुणानां नाशिका माया, व्रतानामिव जायते॥१०२४॥

अर्थ - जैसे मछलियो के रहने का स्थान नदी है, वैसे ही दोषों का स्थान नारी है। जैसे छल-कपट रूप माया व्रतो को नष्ट करने वाली है, वैसे ही गुणों को नष्ट करने वाली स्त्री है॥१०२४॥

बंधने महिला पाशः, खड्गः पुंसां निकर्तने।
छेदने निशितः कुन्तः, पङ्कोऽगाधो निमज्जने॥१०२५॥

अर्थ - यह नारी पुरुषादि को बाँधने के लिए पाश अर्थात् जाल के सदृश, उन्हे काटने के लिए तलवार सदृश, छेदने के लिए पैने भाला सदृश और उन्हे डूबने के लिए अगाध कीचड के सदृश है॥१०२५॥

नराणां भेदने शूलं, वहने नग-वाहिनी।
मारणे दारुणो मृत्युर्मलिनी-करणे मषी॥१०२६॥

अर्थ - यह नारी पुरुषो को छेदन करने के लिए शूल सदृश, बहा कर ले जाने के लिए पर्वतीय नदी सदृश, मारने के लिए दारुण मृत्यु सदृश एव मलिन करने के लिए स्याही सदृश है॥१०२६॥

अनलो दहने पुंसां, मुद्गरश्चूर्णने परः।
ज्वलन्ती पवने कण्डूः, करपत्रं विपाटने॥१०२७॥

अर्थ - नारी पुरुषो को जलाने के लिए मानो अग्नि ही है, चूर्ण कराने मे मुद्गर समान है, वासना रूप अग्नि को वृद्धिंगत करने के लिए पवन है और पुरुष का हृदय विदारण करने के लिए करोत है॥१०२७॥

उष्णश्चन्द्रो रविः शीतो, जायते गगनं घनम्।
नादोषा प्रायशो रामा, कुलपुत्र्यपि जातु चित्॥१०२८॥

अर्थ - कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो सकता है, सूर्य शीतल हो सकता है, गगन घनीभूत हो सकता है, किन्तु कुलवन्ती स्त्रियाँ भी प्राय दोषरहित नहीं देखी जाती हैं॥१०२८॥

सर्पिणीव कुटिला विभीषणा, वैरिणीव बहु-दोषकारिणी।
मण्डलीव मलिना नितम्बिनी, चाटुकर्म वितनोति यच्छतम्॥१०२९॥

अर्थ - यह स्त्री सर्पिणी सदृश कुटिला, वैरी के सदृश भयङ्कर, बहुत दोषो को करने वाली होती है और मण्डली के सदृश मलिन यह नारी पुरुष को वश मे करने के लिए सैकड़ों चाटुकर्म करती रहती है॥१०२९॥

नारीभ्य: पश्यतो दोषानेतानन्यांश्च सर्वथा।
चित्तमुद्विजते पुंसो, राक्षसीभ्य इव स्फुटम्॥१०३०॥

अर्थ - जैसे राक्षसी से सदा अतिशय भय लगता है, वैसे ही नारी द्वारा होने वाले उपर्युक्त दोषो को तथा और भी अन्य दोषो को देखकर पुरुष का चित्त उनसे सर्वथा उद्विग्न हो जाता है॥१०३०॥

योषास्त्यजन्ति विद्वान्सो, दोषान् ज्ञात्वेति दूरत:।
व्याघ्रीरिव कृपा-हीना:, परामिष परायणा:॥१०३१॥

अर्थ - जैसे निर्दय एव पर के मास मे आसक्त व्याघ्री को चतुर मनुष्य दूर से छोड़ देता है अर्थात् उससे दूर रहता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष स्त्री विषयक इन दोषों को जानकर उनसे दूर रहते हैं अर्थात् स्त्रियों को दूर से ही छोड देते हैं॥१०३१॥

स्त्रियों से भी अधिक दोष पुरुषो में होते है अत. ऐसे पुरुष भी त्याज्य हैं

दोषा ये सन्ति नारीणां, नराणां ते विशेषत:।
द्रष्टव्या दुष्ट-शीलानां, प्रकृष्ट-बल-तेजसाम्॥१०३२॥

अर्थ - स्त्रियो मे जो दोष हैं वे दोष नीच एव दुष्ट स्वभाव वाले पुरुषो में भी होते हैं। प्रत्युत् बल, तेज एव शक्ति अधिक होने से उनमे स्त्रियो से भी अधिक दोष होते हैं। स्त्रियों को भी पुरुषो के दोष देखकर अपनी रक्षा करनी चाहिए॥१०३२॥

व्याघ्रा इव परित्याज्या, नरा दूरं कुचेतस·।
रामाभि: शुद्ध-शीलाभी, रक्षन्तीभिर्निजं व्रतम्॥१०३३॥

अर्थ - शुद्ध शीलवती एव अपने ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करने वाली नारियो द्वारा खोटी बुद्धि वाले पुरुष उसी प्रकार दूर से छोड देने चाहिए जिस प्रकार व्याघ्र दूर से छोड दिया जाता है॥१०३३॥

यथा नरा विमुञ्चन्ते, वनिता ब्रह्मचारिण:।
त्याज्यास्ताभिर्नरा ब्रह्मचारिणीभिस्तथा सदा॥१०३४॥

अर्थ - जैसे अपने शील की रक्षा हेतु ब्रह्मचारी पुरुषो द्वारा स्त्रियाँ त्याज्य हैं, वैसे ही शीलरक्षा हेतु ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली स्त्रियो द्वारा पुरुष भी सदा त्याज्य होते हैं॥१०३४॥

स्त्री-प्रशसा

न रामा निखिला: सन्ति, दोषवन्त्य: कदाचन।
देवता इव दृश्यन्ते, वन्दिता बहव: स्त्रिय:॥१०३५॥

अर्थ - कभी भी सभी स्त्रियाँ दोषयुक्त नहीं होतीं। बहुत सी स्त्रियाँ तो देवताओं के सदृश वन्दनीय भी देखी जाती हैं॥१०३५॥

मातारस्तीर्थकर्तृणां, भुवनोद्योतकारिणाम्।
जायन्ते वनिता धन्याः, शक्र-वन्द्य-क्रमाम्बुजाः ॥१०३६॥

अर्थ - तीनों लोकों में उद्योत करने वाले तीर्थंकर देव की माताएँ श्रेष्ठ, धन्य तथा इन्द्र द्वारा वन्दनीय चरण कमल वाली भी होती हैं॥१०३६॥

शलाका-पुरुषास्ताभिर्जन्यन्ते भुवनार्चिताः।
धात्रीभिरिव शुद्धाभिर्मणयः पुरु-तेजसः ॥१०३७॥

अर्थ - जैसे शुद्ध पृथ्वी द्वारा उत्कृष्ट तेजस्वी रत्न उत्पन्न किये जाते हैं, वैसे ही अनेक धन्य माताओं द्वारा त्रिभुवनपूज्य शलाका महा-पुरुष उत्पन्न किए जाते हैं॥१०३७॥

पुंरत्नानि न जायन्ते, शुद्ध-शीलाः स्त्रियो विना।
विना नीरद-मालाभिः, पानीयानां क्व सम्भवः॥१०३८॥

अर्थ - शुद्ध शीलवती महिलाओ के बिना तीर्थंकर एव बलभद्र जैसे नररत्न उत्पन्न नहीं हो सकते। क्या कभी मेघमालाओं के बिना भी जल की उत्पत्ति हो सकती है ? नहीं हो सकती॥१०३८॥

आजन्म विधवाः काश्चिद्, ब्रह्मचर्यमखण्डितम्।
धरन्ति दुर्धरं धन्या, ज्वलद्दीपमिवोज्ज्वलम्॥१०३९॥

अर्थ - कितनी ही महिलाएँ आजीवन विधवा रहती हुई अपने ब्रह्मचर्य व्रत को अखण्डित रखती हैं। अनेक धन्य महिलाएँ प्रारम्भ से ही जलते हुए दीपक के सदृश उज्ज्वल एव दुर्धर ब्रह्मचर्य धारण करती हैं॥१०३९॥

कन्याभिरार्यिकाभिश्च, चीयते दुश्चरं तपः।
विच्छिद्य शम-शस्त्रेण, मन्मथ-प्रतिबन्धकम्॥१०४०॥

अर्थ - कुमारी कन्याओं द्वारा एव आर्यिकाओ द्वारा प्रशम भाव रूप शस्त्र से ब्रह्मचर्य व्रत के प्रतिबन्धक मन्मथ को छेद कर घोर तपश्चरण किया जाता है॥१०४०॥

ध्रियते शुद्ध-शीलाभिर्यावज्जीवमदूषितम्।
पति-ब्रह्मव्रतं स्त्रीभिः, पराभिः पूजितं सताम्॥१०४१॥

अर्थ - शुद्ध स्वभाव वाली अनेक-अनेक श्रेष्ठ नारियाँ यावज्जीवन निर्दोष एकपतिव्रत का पालन करती हुई, राजा आदि सज्जन पुरुषो द्वारा पूजित होती हैं॥१०४१॥

देवेभ्यः प्रातिहार्याणि, प्राप्ता विख्यात-कीर्तयः।
योषाः शील-प्रसादेन, श्रूयन्ते बहवो भुवि॥१०४२॥

अर्थ - विख्यात है कीर्ति जिनकी ऐसी अनेकानेक महिलाएँ इस पृथ्वीतल पर सुनी जाती हैं जिन्होंने अपने शुद्ध शील के प्रभाव से देवेन्द्रों द्वारा प्रातिहार्य प्राप्त किये थे॥१०४२॥

प्रश्न - इस काल मे ऐसी कौन सी नारियाँ लब्धप्रतिष्ठ हुई हैं?

उत्तर - इस हुण्डावसर्पिणी काल मे भी सीता, अजना, द्रौपदी, अनन्तमती, रयणमजूषा एव चन्दना आदि अनेक श्रेष्ठ नारियाँ सुनी जाती हैं जिन्होने अपने शुद्ध शील के प्रभाव से देवों के आसन कम्पायमान किये थे, उनके द्वारा सिंहासन, छत्र, चमर, देवदुन्दुभिनाद एव पुष्पवृष्टि आदि प्रातिहार्य प्राप्त किये थे एव अपनी निर्मल कीर्ति द्वारा जगत् को प्रकाशमान किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे सब पुरुष दुष्ट एव व्यभिचारी नहीं होते, ऐसे ही सर्व स्त्रियाँ दुष्टा, कुलटा एव दुराचारिणी नहीं होती हैं।

शीलवन्त्यो विलोक्यन्ते, ता धन्या बुध-वन्दिताः।
समर्थाः शीतली-कर्तुं, या ज्वलन्तं हुताशनम् ॥१०४३॥

अर्थ - इस ससार में वे शीलवन्ती, धन्य नारियाँ भी देखी जाती हैं, जो जलती हुई अग्नि को शीतल करने मे समर्थ हुई हैं और बुद्धिमानों अर्थात् बलभद्र-नारायणों द्वारा वन्दित हुई हैं॥१०४३॥

सर्व-शास्त्र-समुद्राणां, वन्दितानां जगत्त्रये।
सवित्र्यः सन्ति शीलाढ्याः, साधूनां चरमाङ्गिनाम् ॥१०४४॥

अर्थ - इस जगत् में ऐसी भी शील-सम्पन्न माताएँ हुई हैं जिन्होंने समस्त शास्त्र-समुद्र के पारगामी, त्रैलोक्यवन्दित एव चरमशरीरी साधुओ को जन्म दिया है॥१०४४॥

निमज्ज्यन्ते न पानीयैर्नीयन्ते न नदी-जलैः।
सत्यो व्यालैर्न भक्ष्यन्ते, न दह्यन्ते,हुताशनैः ॥१०४५॥

अर्थ - जो सत्य है अर्थात् जिसका उत्तम शील है वह जल द्वारा डुबोया नहीं जा सकता, नदी के जलसमूह द्वारा बहाया नहीं जा सकता, व्याल-व्याघ्र आदि जगली पशुओ द्वारा भक्षण नहीं किया जा सकता और अग्नि द्वारा जलाया भी नहीं जा सकता॥१०४५॥

मोहोदयेन जायन्ते, स्त्री-पुंसामशुभाः शुभाः।
परिणामा इति ज्ञात्वा, मोहो निन्द्यो न जन्तवः ॥१०४६॥

अर्थ - इस ससार मे स्त्री और पुरुष दोनो के ही मोह के उदय से अशुभ और शुभ दोनो प्रकार के परिणाम हुआ करते हैं, ऐसा जान कर मोह की निन्दा करनी चाहिए, जीवो की नहीं॥१०४६॥

साधारणेऽत्र सर्वेषां, जीवानामनिवारिते।
दुष्टाः सन्ति परीणामास्ततः कार्योऽस्य निग्रहः ॥१०४७॥

अर्थ - इस विचित्र ससार मे सभी जीवो के भले-बुरे अर्थात् सुशील एव कुशील रूप अनेक परिणाम निर्बाध-रूप से होते रहते हैं। इनमे जो खोटे परिणाम हैं उनका कारण मोह का तीव्रोदय है अत मोह का ही निग्रह करना चाहिए॥१०४७॥

श्लाघ्या भवंति नार्योऽपि, शुद्ध-शीला महीयसा।
स्त्री-पुमानिति कुर्वन्ति, शेमुषीं मन्द-मेधसः ॥१०४८॥

अर्थ - ससार में शुद्ध शीलवती नारियाँ भी महापुरुषों के द्वारा प्रशसनीय होती हैं। जो मन्दबुद्धि हैं वे ही अपनी बुद्धि मे स्त्री पुरुष का भेद रखते हैं॥१०४८॥

प्रश्न - स्त्री-पुरुष दोनों एक कैसे हो सकते हैं, इनमें तो स्पष्टत· भेद है, फिर भेद करने वाला मन्दबुद्धि कैसे ?

उत्तर - यहाँ प्रकरण सदाचार और दुराचार का है। इस दृष्टि से स्त्री हो या पुरुष यदि दुष्ट और कुशील हैं तो दोनों ही निन्दनीय हैं और यदि दोनों शीलवान एव सदाचारी हैं तो दोनों प्रशसनीय हैं। इस दृष्टि से दोनों मे कोई भेद नहीं है।

सामान्येन ततो नेह, निंदिता: सन्ति योषित:।
शुद्ध-शीला न गच्छन्ति, दूषणं हि कदाचन॥१०४९॥

अर्थ - इसलिए उपर्युक्त सर्व प्रकरण पढ़कर कोई यह न समझ ले कि केवल स्त्रियों की ही निन्दा की गई है। स्त्री हो या पुरुष यदि कुशील एव दुराचारी हैं तो दोनों निन्दनीय हैं। शुद्ध शील स्वभाव वाली स्त्रियाँ कभी दूषण को प्राप्त नहीं होतीं॥१०४९॥

शुद्ध-शील-कलितासु जायते, नाङ्गनासु चरितं मलीमसम्।
आस्पदं हि विदधाति तामसं, हंस-रश्मिषु कदाचनापि किम्॥१०५०॥

इति स्त्री दोषा:॥

अर्थ - शुद्ध शीलवान स्त्रियो मे चरित्र की मलिनता नहीं पाई जाती। क्या कभी सूर्य की उज्ज्वल किरणो मे अन्धकार स्थान पा सकता है ? नहीं पा सकता, वैसे शीलवती नारियों का आचरण कभी मलिन नहीं होता॥१०५०॥

प्रश्न - इस ग्रन्थ मे स्त्रियो के इतने अधिक दोष क्यो कहे गये है ?

उत्तर - मात्र इस ग्रन्थ मे ही नहीं, अपितु जिन किन्हीं ग्रन्थो मे भी ब्रह्मचर्य व्रत का विषय आता है वहाँ यही पद्धति दृष्टि-गोचर होती है कि प्रथम स्त्रियो के दोष सविस्तर दर्शाये जाते हैं, पश्चात् अति सक्षेप मे पुरुषो के दोष कहे जाते है।

यहाँ आचार्य अमितगति ने पुरुषो को अर्थात् विशेषतया मुनिराजो को स्त्रियों के आकर्षण से विरक्ति दृढ कराने के लिए स्त्रियों के दोष दर्शाये हैं। पुनश्च नारियों को पुरुषो से विरक्त करने हेतु पुरुषों के दोष भी दर्शाये हैं। इतना अवश्य है कि पुरुषों के दोष अति अल्प श्लोकों द्वारा कहे गये हैं।

प्रश्न - जब स्त्री-पुरुष दोनो का दुराचरण समान रूप से निन्दनीय है तब मात्र स्त्रियो के दूषणो का सविस्तर वर्णन करने का क्या हेतु है? ग्रन्थ रचना आचार्यों ने की है, गणिनी आर्यिकाओं ने नहीं। क्या इस कारण यह अतिक्रमण स्त्रियो पर हुआ है ?

उत्तर - ग्रन्थों का मूल स्रोत भगवान जिनेन्द्र की दिव्य ध्वनि है और जिनेन्द्र का पद पुरुषों को ही प्राप्त

हो सकता है, स्त्रियों को नहीं, अत· जिनेन्द्र के लघु नन्दनो अर्थात् आचार्यों को ही मूल ग्रन्थ लिखने का अधिकार है, क्योंकि वे ही जीवन पर्यन्त के लिए नौ कोटी से सत्य महाव्रत पालन की एव सत्य महाव्रत के बाधक स्वरूप हिंसा आदि पापों को नौ कोटी से त्यागने मे समर्थ होते हैं।

ब्रह्मचर्यव्रत के वर्णन मे प्रधानतया स्त्री सम्बन्धी दोषो का सविस्तर वर्णन करने के तीन हेतु और हैं। यथा-

प्रथम हेतु - मुक्ति की प्राप्ति पुरुष को ही हो सकती है अत· मोक्षमार्ग पर पुरुष ही निर्बाध गति से गमन करने मे सक्षम है। स्त्रियाँ भी मोक्षमार्ग पर चलती हैं किन्तु उनकी पर्यायजन्य विवशता के कारण वे परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर पातीं अत उनका गन्तव्य पर्यन्त निर्बाध गमन नहीं हो पाता। जो मार्ग पर तो चले किन्तु उसे पूर्ण करने मे असमर्थ हो, उसे उस मार्ग सम्बन्धी कथन मे मुख्यता कैसे प्राप्त हो सकती है ?

दूसरा हेतु - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की पराकाष्ठा का स्पर्श पुरुष ही पूर्ण रूप से करने मे सक्षम होते हैं अत वे ग्रन्थो की रचना में चरित्रनायक के स्थानीय होते हैं और शास्त्ररचना की नीत्यनुसार चरित्रनायक के दोषो का विस्तृत वर्णन किया नहीं जाता है। अत पुरुषों के अधिक दोष नहीं कहे जाते।

तीसरा हेतु - जो व्यक्ति प्रारम्भ किये हुए कार्य को अन्त-पर्यन्त पूर्ण कर सके उसी को उस कार्य सम्बन्धी उपदेश मुख्य रूप से दिया जाता है। लौकिक पद्धति भी यही है।

प्रश्न - इतने अधिक दोष कहने का क्या हेतु है ?

उत्तर - "अङ्गारसदृशी नारी, नर घृतोपमो मत " इस नीत्यनुसार स्त्री-पुरुष दोनो का परस्पर चुम्बक और सुई के सदृश आकर्षण बनता है। आकर्षण उत्पन्न होते ही परस्पर स्मितहास्य पूर्वक वार्तालाप, बार-बार सम्पर्क करना, कटाक्ष आदि फेकना, इन क्रियाओ से अनुराग वृद्धिंगत होता जाता है, तब घृत के सदृश पुरुष का हृदय पिघल जाता है जिससे सर्व अनर्थ सम्पन्न हो जाते हैं। आचार्यों ने परस्पर का अनुराग तोडने का एक ही अचूक उपाय दर्शाया है कि "जब किसी भी वस्तु से अनुराग तोड़ना हो तब उस वस्तु के दुर्गुण देखना और उन्हीं का चिन्तन प्रारम्भ कर देना, इससे अनुराग टूट जाएगा"। यहाँ आचार्यदेव का यह अभिप्राय है कि मुनिमुद्रा शतेन्द्र वन्दनीय है, इस मुद्रा को धारण कर स्त्रियो के प्रति अनुराग उत्पन्न न हो और यदि उत्पन्न हो गया है तो शीघ्र ही नष्ट हो जावे, अत स्त्री सम्बन्धी दोषों का सविस्तार वर्णन किया गया है।

कल्याणेच्छु जीवो का यह कर्त्तव्य है कि वे शास्त्र के हार्द को समझे, किसी विवाद मे न पडे। तात्त्विक दृष्टि अपना कर स्त्री और पुरुष दोनो को अपने ब्रह्मचर्य व्रत का निर्दोष रीत्या पालन कर आत्मोत्थान करना चाहिए।

इस प्रकार स्त्रीदोष-कथन प्रकरण समाप्त हुआ।

मुनिजन को विरक्ति उत्पन्न कराने हेतु स्त्रियों के दोषो का सविस्तार कथन किया गया। **अब उन्हें वैराग्य** में दृढ करने हेतु शरीर सम्बन्धी दोषों का प्रतिपादन किया जा रहा है।

मनुष्य-शरीर के कथन हेतु बारह प्रकरण हैं

देहस्य बीज-निष्पत्ति-क्षेत्रान्धो जन्म-वृद्धय:।
अंसाश्च निर्गमोऽशौचं, ज्ञेयं व्याधिरनित्यता ॥१०५१॥

अर्थ - शरीर का बीज, उसकी निष्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, गर्भ में आने के क्षण से शरीर की वृद्धि, अवयव, निर्गम, अशुचित्व, असारता, व्याधि और अनित्यता, इन बारह प्रकरणों द्वारा शरीर का वर्णन करेंगे ॥१०५१॥

देह के बीज का वर्णन

देहस्याशुचिनिर्बीजं, यतो लोहित-रेतसी।
ततोऽसावशुचिर्ज्ञेयो, यथा गूथाज्य-पूरक: ॥१०५२॥

अर्थ - जैसे विष्ठा (मल) से बना घेवर अशुचि अर्थात् अपवित्र होता है, वैसे ही इस शरीर का बीज माता का रक्त और पिता का वीर्य है। जो स्वय अपवित्र है अत: शरीर भी अपवित्र है ॥१०५२॥

द्रष्टुं घृणायते देहो, वर्चो-राशिरिव स्फुटम्।
स्प्रष्टुमालिङ्गितुं भोक्तुं, तद्बीजो भुज्यते कथम् ॥१०५३॥

अर्थ - जैसे विष्ठा देखने योग्य नहीं है अपितु उसके देखते ही ग्लानि उत्पन्न होती है, वैसे ही जब शरीर को देखने मात्र से घृणा होती है तब उसका स्पर्शन करना, आलिंगन करना एव मैथुन सेवन रूप भोगना कैसे शक्य है ? ॥१०५३॥

कणिका-शुद्धित: शुद्ध:, कणिका-घृत-पूरक:।
वर्चो-बीज: कथं देहो, विशुद्ध्ययति कदाचन ॥१०५४॥

इति बीजं॥

अर्थ - जैसे गेहूँ के आटे से बना घेवर शुद्ध होता है क्योकि वह शुद्ध आटे से बना है, किन्तु जिसका बीज अशुद्ध है, उससे बना हुआ शरीर शुद्ध कैसे हो सकता है ॥१०५४॥

शरीर के बीज का वर्णन समाप्त ॥१॥

शरीर की निष्पत्ति

दशाहं कललीभूतं, दशाहं कलुषी-कृतम्।
दशाहं च स्थिरीभूतं, बीजं गर्भेऽवतिष्ठते ॥१०५५॥

अर्थ - गर्भ मे स्थित माता का रज और पिता का वीर्य रूप बीज दस दिन तक कललरूप में, फिर आगे दस दिन तक कलुषित या कालिमा रूप में और आगे दस दिन तक स्थिर रहता है ॥१०५५॥

प्रश्न - कलल अवस्था का क्या अर्थ है ?

उत्तर - जैसे ताँबा एव चाँदी को गला कर विलीन कर दिया है, वैसे ही रज और वीर्य का एक दूसरे में विलीन हो जाना कललावस्था है।

मासेन बुद्बुदी-भूतं, तन्मासेन घनी-कृतम्।
मांसपेशी च मासेन, जायते गर्भ-पञ्जरे ॥१०५६॥

अर्थ - दूसरे मास में वह वीर्य बुलबुले के सदृश रहता है, पुन· तीसरे मास में घनीभूत अर्थात् कठोररूप में, फिर चतुर्थ मास में वह उस गर्भपजर मे मांसपेशी की आकृति को धारण कर लेता है॥१०५६॥

मासेन पुलकाः पञ्च, मासेनाङ्गानि षष्ठके।
उपाङ्गानि च जायन्ते, गर्भवास-निवासिनः ॥१०५७॥

अर्थ - गर्भवास मे निवास करने वाले उस जीव के पाँचवे मास मे उस मासपिण्ड में से पाँच अकुर अर्थात् पुलक दो हाथ, दो पैर एव एक सिर रूप में उत्पन्न होते हैं। तथा छठे मास में उस बालक के अग और उपाग बन जाते हैं॥१०५७॥

चर्म-रोमाणि जायन्ते, मासे तस्यात्र सप्तमे।
स्पन्दोऽष्टमे विनिर्याणं, नवमे दशमे ततः ॥१०५८॥

अर्थ - उस गर्भस्थ पिण्ड पर सातवें मास मे चर्म, रोम और नख बन जाते हैं। आठवे मास मे हलन-चलन होने लगता है। तथा नौवे अथवा दसवे मास मे उसका जन्म हो जाता है॥१०५८॥

यतोऽशुचीनि सर्वाणि, कललादीनि कारणम्।
वर्चासीव ततो देहो, जुगुप्स्यो महतां सदा ॥१०५९॥

इति निष्पत्तिः ॥२॥

अर्थ - रज और वीर्य की कलिलादि सभी अवस्थाएँ अत्यन्त अपवित्र हैं, अत महापुरुषो द्वारा सदा ही यह देह विष्ठा की राशि के सदृश ग्लानि करने योग्य है॥१०५९॥

इस प्रकार शरीर-रचना का वर्णन समाप्त ॥२॥

क्षेत्र कथन

तिष्ठत्यामाशयस्याध, ऊर्ध्वं पक्वाशयस्य सः।
जरायुर्वेष्टितो मासान्नवात्रामेध्य-मध्यगः ॥१०६०॥

अर्थ - आमाशय के नीचे और पक्वाशय के ऊपर, इन दोनों अशुचि स्थानों के मध्य में जाल सदृश जरायु से वेष्टित यह गर्भ नव या दस मास पर्यन्त रहता है। आमाशय एव पक्वाशय के मध्य में रहने से इसे अमेध्य मध्यग कहते हैं॥१०६०॥

प्रश्न - आमाशय और पक्वाशय किसे कहते हैं ?

उत्तर - उदराग्नि के द्वारा खाया हुआ भोजन पूर्णरूपेण नहीं पकता अत: उसे आम कहते हैं और उसके स्थान को आमाशय कहते हैं, तथा जठराग्नि अथवा उदराग्नि के द्वारा पकाये हुए भोजन को पक्व कहते हैं और उसके स्थान को पक्वाशय कहते हैं। इन अपक्व एव पक्व के मध्य मे गर्भस्थान होता है। रुधिर तथा मास के जाल को वस्तिपटल या जरायु कहते हैं। गर्भस्थ बालक इस जरायु द्वारा चारो ओर से वेष्टित रहता है।

मासमेकं स्थितोऽध्यक्षं, वर्चो-मध्ये जुगुप्स्यते।
निजोऽपि न कथं गर्भे, वान्ते नव-दश स्थित: ।।१०६१ ।।

इति क्षेत्रम् ।।

अर्थ - गन्दे वमन के मध्य मे एक मास पर्यन्त प्रत्यक्षरूप से रहने वाला व्यक्ति, भले वह अपना निकट बन्धु ही क्यो न हो, तो भी ग्लानि का ही पात्र होता है। तब माता द्वारा खाये गये वमनरूप स्थान में अर्थात् माता के अपवित्र गर्भ में नौ-दस मास तक रहने वाला यह शरीर ग्लानि का पात्र क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा ।।१०६१ ।।

इस प्रकार क्षेत्र का वर्णन समाप्त ।।३ ।।

माता के उदर में प्राप्त होने वाला आहार

पिच्छिलं चर्वितं दन्तैर्मिश्रितं श्लेष्मणा च यत्।
अन्नं मात्राशितं युक्तं, पित्तेन कटुकात्मना ।।१०६२ ।।

अमेध्य-सदृशं वान्तं, समीरेण पृथक्कृतम्।
ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति, विगलन्तमसौ रसम् ।।१०६३ ।।

अर्थ - माता के द्वारा खाया हुआ अन्न, प्रथम तो दाँतो से चबाया हुआ, फिर कफ के साथ मिलकर चिकना हुआ, फिर कटुक पित्त से युक्त वह मल एव वमन समान गन्दा होता है। उस अन्न का खलभाग और रस भाग वायु के द्वारा अलग-अलग किया जाता है। ऊपर से गिरती हुई उसके रस की कड़वी बूद को वह गर्भस्थ पिण्ड सर्वांग से सदैव ग्रहण करता रहता है ।।१०६२-१०६३ ।।

ततोऽस्ति सप्तमे मासे, नाभी ह्युत्पलनालवत्।
ततो नाभ्या तया वान्तं, तदादत्ते स गर्भग: ।।१०६४ ।।

अर्थ - छह मास इसी प्रकार बीतते हैं। पश्चात् सातवें मास में कमलनाल सदृश (नाभि स्थान पर नाभि सहित) नाल उत्पन्न हो जाती है, तब से वह गर्भस्थ बालक उस नाल द्वारा माता द्वारा वमन किया हुआ आहार ग्रहण करता है ।।१०६४ ।।

अमेध्यं भक्षयन्नेकं, मासं दृष्टो जुगुप्स्यते।
निजोऽपि न कथं गर्भे, मासान्नवदशानसौ ।।१०६५ ।।

इति आहार ।।

अर्थ - यदि कोई एक मास तक मल आदि अशुचि पदार्थ खाते हुए देख लिया जाता है, भले ही वह अपना प्रिय बन्धु ही क्यों न हो फिर भी उससे ग्लानि हो जाती है। तब जो नव या दस मास तक उस वमन एव मल तुल्य आहार को ग्रहण करता रहा है, ऐसा शरीर ग्लानि का पात्र क्यों नहीं होगा? अवश्यमेव होगा।।१०६५।।

इस प्रकार गर्भस्थ के आहार का कथन समाप्त।।४।।

जन्म का कथन

शोणित-प्रस्रव-द्वारं, दुर्गन्धं जठराननम्।
अवाच्य-जन्मभूतस्य, लज्जनीयमशौचकम्।।१०६६।।

अर्थ - जठर अर्थात् उदर का मुख स्त्रियो की योनि है। मानव-शरीर का जन्म इसी योनि से होता है। यह योनि मूत्र एव रक्त निकलने का द्वार है, दुर्गन्धित है। उसका नाम लेने में भी लज्जा आती है क्योंकि वह सबसे अधिक अपवित्र है।।१०६६।।

परो वस्ति-मुख-स्पर्शी, महद्भिर्निन्द्यते यदि।
उदरद्वार-संस्पर्शी, विनिन्द्यो न तथा कथम्।।१०६७।।

इति जन्म।।

अर्थ - यदि दूसरे के वस्तिमुख अर्थात् गुदा आदि का स्पर्श करने वाला व्यक्ति महापुरुषो के द्वारा निन्दनीय होता है, तो जो योनि का स्पर्श कर उसका आस्वादन लेता है, वह निन्दनीय कैसे नहीं होगा ? अवश्यमेव होगा।।१०६७।।

इस प्रकार जन्म-वर्णन समाप्त।।५।।

शरीर की वृद्धि का कथन

निन्द्यानि लज्जनीयानि, कर्माणि कुरुते शिशुः।
कृत्याकृत्यमजानानो, सेव्यासेव्य च मूढ-धीः।।१०६८।।

अर्थ - छोटा शिशु निन्दनीय और लज्जाकारक कार्यों को करता रहता है। वह मूढ़ बुद्धि अज्ञानी शिशु कार्य-अकार्य को तथा सेव्य-असेव्य को भी नहीं जानता।।१०६८।।

स चर्म-पूय-मांसास्थि-वर्चो-मूत्र-कफादिकम्।
स्वस्यापरस्य वा वक्त्रे, क्षिपते विगत-त्रपः।।१०६९।।

अर्थ - वह शिशु अपना अथवा दूसरे का चमडा, पीप, मास, हड्डी, मल, मूत्र एव कफादि अपवित्र पदार्थ निर्लज्ज होता हुआ मुख मे रख लेता है।।१०६९।।

यत्किञ्चित्कुरुते ब्रूते, बालः खादत्यलज्जितः।
हदते विगत-ज्ञानः, प्रदेशे यत्र तत्र वा।।१०७०।।

अर्थ - वह अज्ञानी बालक जो कुछ भी करता है, निर्लज्ज होकर जो कुछ भी बोलता रहता है, जो कुछ भी खा लेता है, यहाँ-वहाँ किसी भी स्थान पर मल-मूत्र कर देता है ॥१०७० ॥

बाले यदि कृतं कोऽपि, कृत्यं संस्मरति स्वयम्।
तदात्मन्यऽपि निर्वेदं, यात्यन्यत्र न किं पुनः ॥१०७१ ॥

अर्थ - यदि बाल्यावस्था में किये गये कार्यों का भी कोई स्मरण करले तो दूसरे स्त्री-पुत्र आदि की तो बात ही क्या, अपने स्वय से ही वैराग्य हो जाय ॥१०७१ ॥

अमेध्यस्य कुटी गात्रममेध्येनैव पूरिता।
अमेध्यं स्रवते छिद्रं, अमेध्यमिव भाजनम् ॥१०७२ ॥

इति वृद्धि ॥

अर्थ - यह शरीर विष्ठादि मलिन वस्तुओं की कुटी है, अमेध्य अर्थात् अपवित्र पदार्थों से भरी है एव मल से भरे सछिद्र पात्र के सदृश सदैव अमेध्य अर्थात् मल को ही झराता रहता है ॥१०७२ ॥

इस प्रकार शरीरवृद्धि वर्णन समाप्त ॥६ ॥

शरीर के अवयवों का वर्णन

शतानि त्रीणि सन्त्यस्थ्नां, मज्जा-पूर्णानि विग्रहे।
सन्धीनामपि तावन्ति, सन्ति सर्वत्र मानुषे ॥१०७३ ॥

अर्थ - इस मानवशरीर में मज्जा नामक दुर्गन्ध धातु से युक्त तीन सौ हड्डियाँ हैं, तथा तीन सौ ही सन्धियाँ हैं ॥१०७३ ॥

मांसपेशी-शिरा-स्नायु-शतान्यङ्गे यथा-क्रमम्।
पञ्च सप्त नव प्राज्ञाः, सर्वदापि प्रचक्षते ॥१०७४ ॥

अर्थ - प्राज्ञ पुरुषों ने कहा है कि इस शरीर मे मासपेशियाँ पाँच सौ, शिराएँ सात सौ और स्नायु नौ सौ है। ये यथाक्रम लेने चाहिए ॥१०७४ ॥

शिरा-जालानि चत्वारि, कण्डराणि च षोडश।
शिरा-मूलानि षट् चैव, मांस-रज्जु-द्वयं तथा ॥१०७५ ॥

अर्थ - शरीर मे शिराओ के जाल चार हैं, कण्डरा अर्थात् रक्त से पूर्ण महाशिराएँ सोलह हैं, शिराओं के मूल छह हैं और मास रज्जू दो है ॥१०७५ ॥

कालेयकानि सप्ताङ्गे, त्वचः सप्त निवेदिताः।
सर्वत्र कोटि-लक्षाणामशीती रोम-गोचरा ॥१०७६ ॥

अर्थ - शरीर मे कालेयक अर्थात् मास खण्ड सात हैं, त्वचाएँ सात हैं और रोम अस्सी लाख करोड़ हैं ॥१०७६ ॥

आम-पक्वाशय-स्थानं, षोडशैवान्त्र-यष्टयः।
कुथितस्याश्रयाः सप्त, शरीरे सन्ति मानुषे ॥१०७७॥

अर्थ - आमाशय और पक्वाशय मे सोलह आँतें हैं तथा मनुष्य के इस शरीर में कुथिताश्रय अर्थात् मलस्थान सात हैं॥१०७७॥

नव सन्ति व्रणास्यानि, मुच्यमानानि कश्मलम्।
तिस्रः स्थूणाशतं देहे, मर्मणां सप्त-संयुते ॥१०७८॥

अर्थ - इस शरीर में नित्य ही दुर्गन्धित मल बहाने या झराने वाले नौ व्रणमुख अर्थात् मलद्वार हैं, वात, पित्त और कफ ये स्थूणाएँ है तथा एक सौ सात मर्म स्थान हैं॥१०७८॥

शुक्र-मस्तिष्क-मेदांसि, प्रत्येकं सूरयो विदुः।
स्वकीयाञ्जलि-मानानि, मनुष्याणां कलेवरे ॥१०७९॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि मनुष्यों के शरीर में अपनी अजुलि प्रमाण वीर्य, अंजुलि प्रमाण मस्तिष्क और अजुलि प्रमाण ही मेद है॥१०७९॥

षडञ्जलिमितं पित्तं, वसाञ्जलि-त्रय-प्रमा।
श्लेष्मा पित्त-समो रक्तमर्द्धाढकमितं मतम् ॥१०८०॥

अर्थ - इस शरीर मे छह अञ्जुलि प्रमाण पित्त, तीन अजुलि प्रमाण वसा अर्थात् चर्बी, पित्त प्रमाण छह अजुलि कफ और अर्ध आढक या बत्तीस पल प्रमाण रक्त है॥१०८०॥

षट्-प्रस्थ-प्रमितं वर्चो, मूत्रमर्द्धाढक-प्रमम्।
नखानां विंशतिर्दन्ता, द्वात्रिंशत्प्रकृता मताः ॥१०८१॥

अर्थ - विष्ठा छह प्रस्थ प्रमाण, मूत्र अर्ध आढ़क प्रमाण, नख बीस और दाँत बत्तीस, स्वभावत शरीर मे इतने प्रमाण अवयव होते हैं॥१०८१॥

कायः कृमि-कुलाकीर्णः, कृमिणो वा व्रणोऽखिलः।
तं सर्वं सर्वतो व्याप्य, स्थिताः पञ्च-चरण्यवः ॥१०८२॥

अर्थ - जैसे घाव मे कीड़े भरे रहते हैं, वैसे ही यह शरीर कीड़ो के समूह से भरा है। समस्त शरीर को घेरे हुए पाँच वायु स्थित हैं॥१०८२॥

इत्यङ्गेऽवयवाः सन्ति, सर्वे कुथित-पुद्गलाः।
नैकोऽप्यवयवस्तत्र, पवित्रो विद्यते शुचिः ॥१०८३॥

अर्थ - उपर्युक्त प्रकार से शरीर के सर्व अवयव सड़े हुए पुद्गल स्वरूप ही हैं। एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र और शुचि हो॥१०८३॥

दग्ध-निःशेष-चर्माणं, पाण्डुरङ्गीं गलत्रसाम्।
दिदृक्षतेऽपि नो कोऽपि, वल्लभामपि वल्लभः ॥१०८४॥

अर्थ - जिसके देह की सब चमड़ी जल जाने से शरीर सफेद वर्ण का हो गया है और जिसमें सदैव पीव बह रहा है, ऐसी नारी हो अथवा अपना कोई प्रिय व्यक्ति भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नहीं चाहता ॥१०८४॥

अभविष्यन्न चेद्गात्रं, पिहितं सूक्ष्मया त्वचा।
को नामेदं तदा स्प्रक्ष्यन्मक्षिका-पत्र-तुल्यया ॥१०८५॥

अर्थ - यदि यह शरीर मक्खी के पंख सदृश पतली त्वचा से वेष्टित न हो तो कौन व्यक्ति इसे स्पर्श करता ? ॥१०८५॥

इस प्रकार शरीर अवयव वर्णन समाप्त ॥७॥

निर्गम का कथन

इस शरीर में क्या-क्या पैदा होता है और क्या-क्या निकलता है। इसका कथन-

कर्णयोः कर्ण-गूथोऽस्ति, तथाक्ष्णोर्मलमश्रु च।
सिंङ्घाणकादयो निन्द्या, नासिका-पुटयोर्मलाः ॥१०८६॥

अर्थ - कानों से कान का मल उत्पन्न होता है, नेत्रों में नेत्रों का मल और आँसू रहते हैं तथा नासिका पुटों में सिंघान आदि निन्द्य मल रहता है ॥१०८६॥

लाला-निष्ठीवन-श्लेष्म, पुरोगा विविधा मलाः।
जायते सर्वदा वक्त्रे, दन्त-कीटाकुल-व्रणे ॥१०८७॥

अर्थ - जिस मुख मे दन्त पक्ति के आधारभूत मसूड़ों में कीड़ों का समूह और व्रण रहते हैं। उस मुख मे लार, थूक, कफ, वमन, दन्त-मल, जिह्वामल, वमन एव खखार आदि उत्पन्न होते रहते हैं ॥१०८७॥

ये मेह-गुदयोः सन्ति, वर्चो-मूत्रादयो मलाः।
न वक्तुमपि शक्यन्ते, वीक्षितुं ते कथं पुनः ॥१०८८॥

अर्थ - मेहन और गुदा में क्रमश मूत्र एवं मल आदि भरे रहते हैं। बिना ग्लानि के जिन्हें कहना भी शक्य नहीं है तब उनका देखना तो किस प्रकार शक्य है ॥१०८८॥

चिक्कणो रोम-कोपेषु, स्वेदः सर्वेषु सर्वतः।
यूकाः षट्पदिका लिक्षा, जायन्ते सर्वदा ततः ॥१०८९॥

अर्थ - शरीर के सब रोम कूपों में से चिपचिपा अर्थात् चिकना पसीना सदैव निकलता रहता है, जिसके कारण शरीर में जूँ, लीख एव षट्पदिका अर्थात् चर्म-यूका उत्पन्न होती रहती हैं ॥ १०८९॥

गात्रैर्मुञ्चति वर्चांसि, विग्रहो निखिलैरपि।
गूथ-पूर्णो घटो गूथं, छिद्रितो विवरैरिव ॥१०९०॥

अर्थ - जैसे विष्ठा से भरे सछिद्र घड़े के चारों ओर से मल झरता है, वैसे ही शरीर के सारे अवयवो से सतत ही मल निकलता रहता है ॥१०९०॥

गुह्यैरवयवै: स्त्रीणां, निचितैर्विविधैर्मलै:।
सारासार-प्रदृष्टानां मानसं ह्रियते कथम् ॥१०९१॥

अर्थ - स्त्रियों के विविध मलो से भरे हुए गुह्य अवयवों में सार-असार को देखने वाले मनुष्यो का मन कैसे लज्जित नहीं होता ॥१०९१॥

लज्जनीयेऽति-बीभत्से, मूढ-धी रमते कथम्।
योनौ क्लिन्ने स्रवद्रक्ते, निन्द्ये कृमिरिव-व्रणे ॥१०९२॥

अर्थ - अति लज्जा की कारण, अति घिनावनी, आर्द्र, रक्त झरती हुई निन्द्य योनि मे मूढबुद्धि मनुष्य कैसे रमता है ? यह रमना तो वैसा हुआ, जैसे घाव में कीड़े रमते हैं ॥१०९२॥

अङ्गारस्येव कायस्य, बहिरन्तश्च दृश्यते।
नैकोप्यवयव: शुद्ध:, सर्वथा मलिनात्मन: ॥१०९३॥

इति निर्गम· ॥

अर्थ - जैसे कोयले का बाह्य एव अभ्यन्तर शुक्ल नहीं होता, सर्वत काला ही होता है , वैसे ही शरीर का एक भी अवयव पवित्र दिखाई नहीं देता, कारण कि शरीर ही अपवित्र है ॥१०९३॥

इस प्रकार निर्गम वर्णन समाप्त ॥७॥

शरीर की अशुचिता का कथन

कायो जलै: पयोधीनां, धाव्यमानोऽखिलैरपि।
स्वभाव-मलिनो जातु, नाङ्गार इव शुध्यति ॥१०९४॥

अर्थ - जैसे समुद्र के सम्पूर्ण जल से धोने पर भी कोयला श्वेत नहीं होता, उसमे से कालापन ही निकलता है , वैसे ही स्वभावत मलिन शरीर सागर के सम्पूर्ण जल से धोने पर भी शुद्ध नहीं होता, उसमे से मल निकलता ही रहता है ॥१०९४॥

अभ्यङ्गोद्वर्तन-स्नान-मुख-दन्ताक्षि-धावनै:।
शश्वद्विशोध्यमानोऽपि, दुर्गन्धं वाति विग्रह: ॥१०९५॥

अर्थ - अभ्यग अर्थात् तेल, इत्र, सेन्ट आदि लगाने से उबटन, स्नान द्वारा तथा मुख, दाँत तथा नेत्रादि को सदैव बार-बार धोने पर भी यह शरीर सदा दुर्गन्ध को ही बाहर फेंकता है। अर्थात् दुर्गन्धमय पदार्थों को ही बाहर फेंकता रहता है ॥१०९५॥

मृत्तिकाञ्जन-पाषाण-धातु-त्वङ्मूलवल्लिभि:।
केशास्यवास-ताम्बूल-धूप-पुष्प-दलादिभि: ॥१०९६॥

प्रच्छाद्य निन्दितं गन्धं, भुज्यतेऽन्य-कलेवरम्।
हिङ्ग्वादिभिरिव द्रव्यैः, पिशितं विघृणात्मभिः ॥१०९७॥

अर्थ - काली या मुलतानी आदि मिट्टी द्वारा, अजन, पाषाण स्वरूप अनेक प्रकार के रत्न, धातु अर्थात् जल या स्वर्णादि द्वारा, वनस्पतियों की छाल, जड़ एवं बेल आदि पदार्थों द्वारा केशों को, मुखवास अर्थात् मुख को सुगन्धित करने वाले ताम्बूल आदि द्वारा तथा धूप, पुष्पमाला एवं अनेक प्रकार के पत्रों द्वारा दूसरे के शरीर की दुर्गन्ध को दूर करके मूढ़ जन मोहित होते हुए पराये शरीर को वैसे ही भोगते हैं जैसे मांसभोजी मनुष्य हींग, मिर्चादि मसाले मिलाकर दूसरो के शरीर का दुर्गन्धयुक्त मास खाते हैं ॥१०९६-९७॥

मयूर-देहवद्देहो, यद्यभास्यन्निसर्गतः।
अभविष्यत्तदा शोभा, तस्मिन्नीक्षण-तोषिणी ॥१०९८॥

अर्थ - मयूर का शरीर स्वभाव से ही सुन्दर होता है, वैसे ही यदि यह शरीर स्वभाव से अर्थात् इत्र, फुलेल, स्नान एव उबटन आदि के सस्कार बिना ही मनोहर होता तो उसकी शोभा नेत्रो को प्रसन्न करती, किन्तु यह स्वत सुन्दर एव पवित्र नहीं है ॥१०९८॥

आत्मनः पतितो खेलो, यदि स्प्रष्टुं घृणायते।
तदा रामा-मुखाम्भो हि, पीयते कुथितं कथम् ॥१०९९॥

इति अशौचं ॥

अर्थ - मनुष्य अपने मुख से बाहर पड़े अर्थात् गिरे हुए कफ या थूक का स्पर्श करने में जब घृणा का अनुभव करता है, तब स्त्री के मुख से उत्पन्न हुई दुर्गन्धयुक्त लार को कैसे पीवेगा ॥१०९९॥

इस प्रकार अशौच का वर्णन समाप्त ॥९॥

असारता कथन

वीक्ष्यमाणे मनुष्याणां, बहिरन्तश्च वीक्ष्यते।
एरण्ड-दण्डवद्देहो, न सारोऽत्र कदाचन ॥११००॥

अर्थ - मनुष्यों के शरीर को जब भीतर से एव बाहर से देखते हैं तो वह एरण्ड दण्ड के समान असार ही नजर आता है, इसमे कदाचित् भी सार दृष्टिगोचर नहीं होता ॥११००॥

चमरीणां कचं क्षीरं, गवां शृङ्गाणि खड्गिनाम्।
भुजङ्गानां मणिः पिच्छं, बर्हिणां करिणां रदः ॥११०१॥

कस्तूरिका कुरङ्गाणामित्थं सारो विलोक्यते।
शरीरे न पुनर्नृणां, कोऽपि क्वापि कदाचन ॥११०२॥

अर्थ - चमरी गाय के केश, गायो का दूध, हिरन के सींग, सर्पों की मणि, मयूर के पख, हाथी के दाँत और हिरणों के नाभि की कस्तूरी इतने पदार्थ तिर्यंच के शरीर से कदाचित् कथचित् सारभूत देखे जाते हैं किन्तु मनुष्यों के शरीर में कहीं पर कदाचित् भी कोई पदार्थ सारभूत दृष्टिगोचर नहीं होता ॥११०१-११०२॥

कुथित-सद्मनि वा कुथितैः कृते, कृमि-कुलैर्विविधैरभितो भृते।
शुचि नृणां सकलाशुचि-मन्दिरे, भवति किञ्चन नात्र कलेवरे ॥११०३॥

इति असारता ॥

अर्थ - यह मानव शरीर सड़े पदार्थों का घर है, सडे-गले पदार्थों से ही निर्मित है, नाना प्रकार के कीड़ों के समुदाय से चारों ओर भरा हुआ है एव सम्पूर्ण अशुचियो का खजाना है; ऐसे इस कलेवर में पवित्र तथा सारभूत वस्तु कुछ भी नहीं है॥११०३॥

इस प्रकार असारता का वर्णन समाप्त ॥१०॥

व्याधि वर्णन

एक शरीर में रोगों की सख्या

यदि षण्णवति रोगाः, सम्भवन्ति विलोचने।
कियन्तस्ते तदा नृणां सर्वत्रापि कलेवरे ॥११०४॥

कोट्यः पञ्चाष्ट-षष्टीश्च, लक्षाः सह सहस्रकैः।
नवभिर्नवतिः पञ्चशत्याशीतिश्चतुर्युता ॥११०५॥

इति वाधि-गदं ॥

अर्थ - यदि एक नेत्र मे छ्यानवे रोग सम्भव हैं, तो मानव के इस सम्पूर्ण शरीर मे कितने रोग होगे ? इस सारे शरीर में पाँच करोड, अडसठ लाख, निन्यानवे हजार, पाँच सौ चौरासी अर्थात् ५६८९९५८४ रोग सम्भव हैं॥११०४-११०५॥

इस प्रकार व्याधि प्रकरण समाप्त ॥११॥

अध्रुव अर्थात् अनित्यता का वर्णन

शरीर की अध्रुवता

पीन-स्तनीन्दुवक्त्रा या, तारुण्ये हरते मनः।
अनिष्टा जायते जीर्णा, सेक्षु-यष्टिरिवारसा ॥११०६॥

अर्थ - पुष्ट स्तन वाली, पूर्ण चन्द्रमा सदृश मुख वाली तथा अति सुन्दरी जो नारी तरुण अवस्था मे मन को हरती थी, वही नारी वृद्धावस्था मे नीरस अर्थात् सूखे गन्ने के सदृश हो जाती है॥११०६॥

या यौवने प्रिया कान्ता, सर्वावयव-सुन्दरी।
दुर्गन्धा कुथिता सास्ति, बीभत्सा विरसा मृता ॥११०७॥

अर्थ - जो कान्ता यौवन मे सर्वांग सुन्दरी और अत्यन्त प्रिय अर्थात् सुहावनी थी, मर जाने पर वही नारी दुर्गन्धित, बीभत्स, ग्लानि युक्त एव विरस हो जाती है॥११०७॥

दाम्पत्य जीवन की अध्रुवता

म्रियते वल्लभा पूर्वं, स्वयं वा म्रियते पुरा।
जीवन्ती जीवतो वान्यैर्ह्रियते बलिभिर्बलात् ॥११०८॥

अर्थ - कभी किसी की पत्नी पहले मर जाती है, किसी का पति पहले मर जाता है। कभी पति के जीवित रहते हुए अन्य कोई बलवान पुरुष पति के ही सामने उसकी पत्नी को हरण करके ले जाता है, अत. पति-पत्नी सयोग भी अनित्य है॥११०८॥

विरज्यते स्वयं तस्याः, सा वा तस्य विरज्यते।
परेण वा समायाति, तिष्ठन्ती वा विरुध्यते ॥११०९॥

अर्थ - अथवा दोनों के जीवित रहते भी कभी पति अपनी पत्नी से विरक्त हो जाता है, या कोई पत्नी अपने पति से विरक्त हो जाती है, अथवा कोई पत्नी अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुष के साथ चली जाती है, कोई पत्नी को छोडकर दूसरी स्त्री को रख लेता है और कभी पति-पत्नी साथ रहते हुए भी विरुद्ध रहते हैं॥११०९॥

शरीर की अध्रुवता

चिरं तिष्ठति संस्कारे, काष्ठ-ग्रावादि-रूपकम्।
कलेवरं मनुष्याणां, न संस्कारे महत्यपि ॥१११०॥

अर्थ - सार-सम्हाल करते रहने पर लकड़ी एव पाषाण आदि के रचित स्त्री-पुरुषों की आकृतियाँ चिरकाल तक रह जाती हैं, किन्तु स्नान, आहार तथा व्यायामादि रूप सार-सम्हाल करते हुए भी मनुष्यो का शरीर चिरकाल तक नहीं रह पाता॥१११०॥

यौवनेन्द्रिय-लावण्य-तेजो रूप-बलादयः।
गुणाः क्षणेन नश्यन्ति, शारदा इव नीरदाः ॥११११॥

अर्थ - शरद्कालीन मेघ सदृश शरीर का यौवन, इन्द्रियाँ, लावण्य, तेज, रूप एव बलादि सर्वगुण क्षण-मात्र मे नष्ट हो जाते हैं॥११११॥

गतस्याहार-दानार्थं, सुरतस्य तपस्विनः।
क्षणान्न किं महादेव्या, नष्टः कुष्ठेन विग्रहः ॥१११२॥

अर्थ - सुरत नाम का राजा, रानी के पास से उठकर साधु को आहार देने गया। इतने मे ही क्या उस पटरानी का सुन्दर शरीर क्षण मात्र मे कुष्ठ रोग से व्याप्त नहीं हो गया था? ॥१११२॥

❀ सुरत राजा की कथा ❀

अयोध्याका नरेश सुरत नामका था। पाँचसौ रानियोकी शिरोमणि सती नामकी प्रमुख रानी पर अत्यधिक स्नेह होनेसे सदा उसके निकट रहता था। राजाके मनमे मुनिदानका तो बहुत भाव रहता था। उसने सब राजकार्य छोड दिये थे किन्तु मुनियों को आहार देनेका कार्य हमेशा करता रहता, अन्य सब कार्य मत्रियो पर छोड़ा था।

एक दिन अपनी प्राणप्रियाके कपोल पर तिलक-रचना कर रहा था। इतने में आहारार्थ मुनिका आगमन हुआ। राजा रानीका शृगार करना छोडकर आहार देनेको चला गया। रानीको इससे क्रोध आया। उस पापिनीने बहुत अपशब्द गाली अपवाद आदिसे मुनिकी महान् निदा की। सब सखी दास-दासियोंके समक्ष बहुत कुछ दुष्ट निंद्य वाक्य कहती ही रही। इससे मुनिनिंदारूप भयकर पापसे उसके शरीरमे तत्काल गलित कुष्ठ हो गया। दुर्गंध आने लगी। राजा आहार देकर लौटता है और रानीकी दशा देखकर स्तभित हो जाता है। उसको वैराग्य होता है। सर्व राज्यपाट छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करता है। रानी कुछ समय बाद मरकर दुर्गतिमें चली जाती है। इस प्रकार यौवनका जोश, रूपका गर्व करनेसे रानीकी दुर्दशा हुई।

हन्तुमग्रे कृतो मूढो, दुर्निवारेण मृत्युना।
सेवते विषयं वध्यः, पाणेनेव सुरादिकम् ॥१११३॥

अर्थ - जैसे किसी अपराधी को मारने के लिए ले जाते समय भी वह मरने की चिन्ता न करके मस्ती से शराब पिये एव पान खावे, वैसे ही मूढ़ मनुष्य मृत्यु निकट आ जाने पर भी उसकी चिन्ता न करके विषयों का सेवन करता है॥१११३॥

व्याघ्रेणाग्रे कृतो हन्तुं, बिले साऽजगरे गतः।
छिद्यमाने दृढं लग्नो, मूले विविध-मूषकैः॥१११४॥

अपश्यन्नग्रतो मृत्युं, यथा कश्चन मूढ-धीः।
पतन्मधुकणास्वादे, विधत्ते परमां रतिम्॥१११५॥

मृत्यु-व्याघ्रेक्षितो दुःख-सर्पे जन्म-बिले गतः।
लूयमानस्तथा मूढो, बहुभिर्विघ्न-मूषकैः॥१११६॥

आशा-मूले दृढं लग्नो, विषयास्वादने रतिम्।
महती कुरुते नाशमपश्यन्नग्रतः स्थितः॥१११७॥

इति अध्रौव्यम्॥

अर्थ - जैसे मारने हेतु पीछे लगे व्याघ्र के भय से भागता हुआ कोई मनुष्य ऐसे कुए मे जा गिरा जिसमे अजगर रहता था। उस कुए की दीवाल के सहारे एक वृक्ष था। उस वृक्ष की जड़ को पकडकर वह व्यक्ति लटक गया, उस जड़ को चूहे काट रहे थे, किन्तु उस वृक्ष पर मधुमक्खियो का एक छत्ता लगा हुआ था और उसमे से टपकने वाली मधु की बूँद उसके होठो पर आ रही थी। ऐसी भयानक स्थिति मे पड़ा हुआ वह मूढ़-बुद्धि आगे खडी मृत्यु को नहीं देखता अपितु उन टपकती हुई मधुबिन्दुओ के स्वाद मे परम रति करता हुआ आसक्त हो जाता है।

उसी महामूढ मनुष्य के सदृश मृत्युरूपी व्याघ्र से भयभीत प्राणी अनेक दुखरूपी सर्पों से भरे हुए ससार रूपी कूप में पड़ा हुआ है, और आशा रूपी वृक्ष की जड को दृढता से पकड़े हुए है, किन्तु उस जड़ को विघ्न रूपी चूहे काट रहे हैं। इस भयानक स्थिति मे भी वह महामूढ़ निर्लज्ज निर्भय होकर आगे खड़ी मृत्यु को न

देखता हुआ स्त्री आदि पचेन्द्रियों के विषयस्वाद में अत्यन्त प्रीति करता हुआ आसक्त हो रहा है॥१११४-१११७॥

प्रश्न - इस ससार वृक्ष के दृष्टान्त का क्या आशय है ?

उत्तर - इस दृष्टान्त का यह आशय है कि इस चतुर्गतिरूपी महावन में मानव देह रूपी वृक्ष है। सघन वन में समीचीन मार्ग भूल कर भटकने वाला पथिक "मैं स्वय हूँ"। मृत्यु रूपी व्याघ्र प्रतिपल मेरे सामने आ रहा है। मैं भयभीत हुआ भागा, तो आकस्मिक दुख रूप हाथी ने मेरा पीछा किया। मैं दौड़ कर आयु कर्म रूपी डाल पकड़कर लटक गया। उस डाल को कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष रूपी दो चूहे प्रति समय कुतर रहे हैं। अर्थात् वेगपूर्वक मृत्यु के क्षण निकट आ रहे हैं। वृक्ष की डाली के उपरिम भाग में स्त्री-पुत्रादि परिवार रूपी मधुमक्खियों का गृहरूपी छत्ता लगा हुआ है, जो भोजन, पान, वस्त्राभूषण एव सगीत आदि पचेन्द्रिय के विषय रूपी मधु से भरा हुआ है। ऐसी भयंकर विकट परिस्थिति मे पड़ा हुआ भी मैं उस विषयसेवन रूपी मधु की बिन्दुओं के स्वाद मे आसक्त होता हुआ आशा के सहारे लटक रहा हूँ। अहो! बडा आश्चर्य है। **"धिक्-धिक् मां" "किमाश्चर्यमतः परम्"**।

इस प्रकार अध्रुव का वर्णन समाप्त॥१२॥

शरीर की अशुचिता का अन्य भी कथन

रामा-वर्चो-मध्यवर्ती मनुष्यः, क्रीडत्येषोऽमेध्य-रूपः शिशुर्वा।
वर्चो-लिप्तोऽमेध्य-मध्यं प्रवृत्तो, कीदृक्, सारं निन्दनीय-स्वभावम्॥१११८॥

अर्थ - विष्ठा से लिप्त बालक जैसे विष्ठा मे ही क्रीड़ा करता है अर्थात् उसमें सुख मानता है, वैसे ही यह मूढ मनुष्य स्वय अत्यन्त मलिन है अत कामोद्रेक मे स्त्रीरूपी विष्ठा के मध्यवर्ती प्रदेश में क्रीड़ा करता है। अहो! मनुष्य का यह निन्दनीय स्वभाव कैसे सारभूत हो सकता है ? नहीं हो सकता॥१११८॥

अमेध्य-निर्माणममेध्य-पूर्णं, निषेवमाणैर्वनिताशरीरम्।
यैर्मन्यते स्वं शुचिरस्त-बोधैर्हास्यास्पदं कस्य न ते भवन्ति॥१११९॥

अर्थ - स्त्रियो का शरीर अशुचि पदार्थों से निर्मित है और अशुचि अर्थात् दुर्गन्धयुक्त मलादि से ही भरा हुआ है। जो नष्टबुद्धि मनुष्य, स्त्रियो के ऐसे शरीर का सेवन करते हुए भी अपने को पवित्र मानते हैं, उनकी यह पवित्रता या उनकी मान्यता किसके हास्यास्पद नहीं होगी? सभी के होगी॥१११९॥

बीजादयो येन शरीर-धर्माश्चित्ते क्रियन्ते बुध-निन्दनीयाः।
निषेव्यतेऽमेध्यमयी न नारी, कदाचनामेध्य-कुटीव तेन॥११२०॥

अर्थ - बीज, निष्पत्ति, क्षेत्र एव आहार आदि निन्दनीय शरीर के धर्म जिन बुद्धिमान् पुरुषो के द्वारा चिन्तनीय हैं, उनके द्वारा कभी भी अशुचि की कुटी सदृश अशुचिरूप नारी सेवित नहीं होती॥११२०॥

निरीक्षते यो वपुषः स्वभावं, वर्चो-निवासस्य विनश्वरस्य।
देहे स्वकीयेऽपि विरज्यतेऽसौ, दोषास्पदायाः किमु नाङ्गनायाः॥११२१॥

इति अशौचम्॥

अर्थ - मल के भण्डार इस विनश्वर शरीर के स्वभाव को जानने-देखने वाला मनुष्य जब अपने शरीर से भी विरक्त हो जाता है तब वह दोष के स्थान स्वरूप स्त्री के शरीर से क्या विरक्त नहीं होगा ? अवश्य होगा॥११२१॥

इस प्रकार कामदोष और स्त्रीदोष के पश्चात् देह की अशुचिता का वर्णन समाप्त हुआ।

ब्रह्मचर्यव्रत की सहायक वृद्धसेवा

वृद्धैर्वृद्धा नराः शीलैस्तरुणैस्तरुणा यतः।
जायन्ते तरुणा वृद्धास्ततः शीलं बुधैः स्तुतम्॥११२२॥

अर्थ - साधु अवस्था से वृद्ध हो या तरुण हो, जिनके शील अर्थात् ब्रह्मचर्य, क्षमा, मार्दव, आर्जव एव सन्तोषादि गुण वृद्धिंगत हैं वे वृद्ध हैं। तथा अवस्था से वृद्ध हो या तरुण जिनके शीलादि गुण वृद्धिंगत नहीं हैं, या अल्प हैं या अभी वे गुण किंचित् भी नहीं हैं, वे साधु तरुण हैं, क्योंकि शीलवान् को ही यहाँ वृद्ध कहा है। अत बुद्धिमानों द्वारा शील ही स्तुत्य है॥११२२॥

यथा-यथा वयो हानिः, पुरुषस्य तथा-तथा।
मन्दाः काम-रतिक्रीडा-दर्परूप बलादयः॥११२३॥

अर्थ - जैसे-जैसे मनुष्य की वयहानि अर्थात् युवा एव मध्य-अवस्था बीतती जाती है वैसे-वैसे उसकी कामवासना, रतिक्रीड़ा की वाछा, घमण्ड, रूप एव बल आदि मन्द होते जाते हैं॥११२३॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या आशय है ?

उत्तर - इसका आशय यह है कि तरुण अवस्था मे जो काम-विकारादि दुर्निवार होते हैं वे विकार जैसे-जैसे वृद्धत्व आता जाता है, वैसे-वैसे स्वय मन्द होते जाते हैं, अत आयु से वृद्ध जनो का सहवास भी ब्रह्मचर्य आदि अनेक गुणो के उत्कर्ष मे परम सहयोगी सिद्ध होता है।

शान्तोऽपि क्षोभ्यते मोहो, युव-सङ्गेन देहिनः।
कर्दमः पतता क्षिप्रं, प्रस्तरेणेव वारिणः॥११२४॥

अर्थ - जैसे तालाब मे गिरा हुआ पत्थर उसके तल मे जमी हुई कीचड़ को उभार कर निर्मल जल को एक क्षण में मलिन कर देता है, वैसे ही तरुणो का ससर्ग प्रशान्त मन वाले पुरुष के भी मोह को उद्रिक्त कर परिणामो को एक क्षण मे ही मलिन कर देता है॥११२४॥

उदीर्णोऽप्यङ्गिनो मोहो, वृद्ध-सङ्गेन निश्चितम्।
पङ्कः कतक-योगेन, सलिलस्येव शाम्यति॥११२५॥

अर्थ - जैसे मलिन जल भी कतक फल के सयोग से स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही कलुषित भी मोह शील-वृद्धों के ससर्ग से शान्त हो जाता है॥११२५॥

शान्तोप्युदीयते मोहः, पुंसस्तरुण-सङ्गतः।
लीनः किं मृत्तिका-गन्धो, नोदेति जल-योगतः॥११२६॥

अर्थ - प्रशान्त हो जाने वाला भी पुरुष का मोह तरुण पुरुष की सगति से पुन प्रगट हो जाता है अथवा

वृद्धिंगत हो जाता है। सत्य है, क्या मिट्टी में तल्लीन अर्थात् अप्रगट गन्ध जल का आश्रय पाकर प्रकट नहीं हो जाती? अवश्य ही हो जाती है॥११२६॥

रहितो युव-सङ्गत्या, मोहः सन्नपि लीयते।
जीवस्य जल-सङ्गत्या, पुष्पगन्ध इव स्फुटम्॥११२७॥

अर्थ - जैसे मिट्टी की गन्ध मिट्टी में रहते हुए भी जल के ससर्ग बिना प्रगट नहीं होती, वैसे ही तरुण के ससर्ग बिना मनुष्य का मोह प्रगट नहीं होता॥११२७॥

युवाऽपि वृद्ध-शीलोऽस्ति, नरो हि वृद्ध-सङ्गतः।
मानापमान-भी-शङ्का-धर्मबुद्धि-त्रपादिभिः॥११२८॥

अर्थ - वृद्ध पुरुषों के सम्पर्क से तरुण पुरुष भी मान-अपमान के भय से, शका से, लज्जा से एव धर्मबुद्धि आदि से वृद्ध सदृश ही आचरण करने लगता है॥११२८॥

वृद्धस्तरुण-शीलोऽस्ति, नरस्तरुण-सङ्गतः।
विश्रम्भनिर्विशङ्कत्व-मोह-प्रकृति-योगतः॥११२९॥

अर्थ - तरुण पुरुष जैसे स्त्रियो पर विश्वास करके निर्भय एव निशक रहता है, वृद्ध पुरुष भी यदि ऐसे तरुण की सगति करता है तो वह भी मोह प्रकृति के उदय से उस तरुण पुरुष के सदृश ही हो जाता है॥११२९॥

इन्द्रियार्थरतिर्जीवो, युव-गोष्ठ्या विमूढ-धीः।
शौण्ड-गोष्ठ्या यथा शौण्डः, सुरां काङ्क्षति सर्वदा॥११३०॥

अर्थ - जैसे मद्य पीने वालो की गोष्ठी मे बैठने वालो को मद्य पीने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही तरुणो की गोष्ठी मे रहने वाले विमूढ़ बुद्धि वाले वृद्धजन भी इन्द्रिय-विषयों मे प्रेम करने लगते हैं॥११३०॥

विश्रब्धश्चपलाक्षो यः, स्वैरी तरुण-सङ्गतः।
महिला-विषयं दोषं, स शीघ्रं लभते नरः॥११३१॥

अर्थ - जो वृद्ध तरुणो की सगति मे रहता है, उसकी इन्द्रियाँ चचल हो जाती है, मन चलायमान हो जाता है, इससे वह स्त्रियो पर विश्वास करने लगता है। फलत. शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर स्त्रीविषयक दोषो का भागी हो जाता है॥११३१॥

ध्वान्तैकान्त-कुशीलेह-दर्शनैः करणैस्त्रिभिः।
कुत्सितो जायते भावः, स्त्री-पुंसानामसंशयम्॥११३२॥

अर्थ - एकान्त स्थान मे स्त्री के साथ पुरुष का या पुरुष के साथ स्त्री का होना, दोनो का अन्धकार मे मिलना और स्त्री-पुरुष की रतिक्रीड़ा को प्रत्यक्ष देखना। इन तीन कारणो से स्त्री या पुरुष के मन में काम-सेवन की अभिलाषा के कुत्सित भाव उत्पन्न हो जाते हैं। स्त्री-पुरुष का एकत्र सहवास भी इसका एक प्रबल निमित्त-कारण है॥११३२॥

प्रश्न - पूर्वकाल की अपेक्षा वर्तमानकाल मे कुशील का प्रभाव विशेष बढ़ता दिखाई दे रहा है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर - पूर्वकाल की सर्व व्यवस्था धर्मसापेक्ष एव न्याय-नीति पूर्ण थी। बचपन से ही बालक-बालिकाएँ अपने माता-पिता, गुरुजन एवं अन्य भी महापुरुषों को शील एवं धर्म नीति में दृढ़ देखकर उसी का अनुकरण करते थे। रात्रि मे घर-घर शील कथा एव दर्शन कथा का वाचन होता था। शिक्षा धर्मसापेक्ष थी। नारियों की तथा बालिकाओ की सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ न्याय-नीति पूर्ण थीं, उनके कार्यक्षेत्र पुरुषों से भिन्न थे, अत शीलधर्म का उत्कर्ष था, जिसके प्रभाव से उनके दोनो भव सुधरते थे तथा महान् कीर्ति फैलती थी। सुदर्शन सेठ, जयकुमार, सीता, अजना, चन्दना, सोमा तथा अनन्तमती आदि की शील-कीर्ति अद्यावधि इस देश के आकाशप्रदेशो मे यथावत् व्याप्त है। किन्तु अब टी वी. अर्थात् दूरदर्शन के कुत्सित धारावाही दर्शन ने उस कीर्ति को जड़-मूल से विलुप्त कर दिया है। आज के नर-नारियों को उनकी कथाएँ काल्पनिक लगती हैं। टी वी के पूर्व इस देश मे जोर-शोर से सिनेमा का प्रचलन हुआ था, जिसमे कुशील वृद्धि के तीनो साधन, अर्थात् एकान्त, अन्धकार और सामने के चित्रपट पर रतिक्रीडा के अश्लील दृश्य एक साथ उपलब्ध कराये जाते थे। फिर भी उसके देखने का समय निर्धारित था। अश्लील दृश्य देखने की असीम-अभिलाषा ने ही टी वी को जन्म दिया। अहर्निश इन्हीं दृश्यो को देखना, कॉलेजो आदि मे धर्मनिरपेक्ष वह भी एक साथ की शिक्षा, अर्थार्जन भी एक साथ मिलकर करना तथा लज्जा, मर्यादा, न्याय, सदाचार एव नीति को अपने-अपने घरो से निष्कासित कर देना , उसी का प्रभाव है कि आज देश एव समाज मे सर्वत्र कुशील का ही साम्राज्य है। इसका कुफल स्वास्थ्य हानि, धन हानि, गुप्त रोगो की वृद्धि, स्वच्छन्द वृत्ति, कदाचरण, वर्ण व्यवस्था का लोप तथा भावावेश मे लड़कियो का जिस किसी भी यार-दोस्त के साथ भाग जाने से समीचीन विवाह व्यवस्था पर आघात आदि हमारे सामने हैं। इन वृत्तियो से जीवो के दोनो भव बिगड़ रहे है अत जिन्हे नपुसक पर्याय मे तथा नरकादि दुर्गतियो मे जाने का भय है उन्हे पूर्वाचार्यो के आदेशानुसार अपने शीलधर्म को दृढ रखते हुए सदाचार का पालन करना चाहिए। यही सुख का मार्ग है।

निसर्ग-मोहित-स्वान्तो, दृष्ट्वा श्रुत्वाभिलष्यति।
विषय सेवितुं जीवो, मदिरामिव-मद्यप: ॥११३३॥

अर्थ - जैसे मद्यपी किसी को मदिरा पीते देखकर या सुनकर मद्य पीने की अभिलाषा से आतुर हो जाता है, वैसे ही निसर्गत मोह से मोहित हृदय वाले मनुष्य रतिक्रीड़ा को देखकर या उसकी वार्ता को रसास्वादन पूर्वक सुनकर कामसेवन की अभिलाषा से द्रवित हो जाते हैं॥११३३॥

चारुदत्तो विनीतोऽपि, जात: संसर्ग-दोषत:।
वेश्या-मांस-सुरासक्त:, कुल-दूषण-कारक: ॥११३४॥

अर्थ - विनयवान भी चारुदत्त सेठ अपने व्यसनी चाचा के सगति-दोष से वेश्या, मास एव मदिरापानादि मे आसक्त हुआ और अपने कुल का दूषक हुआ॥११३४॥

❋ चारुदत्त सेठ की कथा ❋

चपापुरीमे भानुदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी पत्नी सुभद्रासे चारुदत्त नामका गुणी पुत्र हुआ। कुमार कालसे विद्याका अधिक प्रेमी होनेसे विवाह होनेपर भी स्त्री सपर्कसे दूर रहकर सदा विद्याभ्यास कला आदिमें

ही लगा रहता था। किसी दिन माता आदि कुटुबीके द्वारा किये गये उपायसे वह वसतसेना वेश्या पर मोहित होकर उसीके यहाँ रहने लगा। घरका सब धन बरबाद हुआ। परिवारको बहुत पश्चाताप हुआ लेकिन अब क्या हो सकता था? जब चारुदत्त को धनरहित देखा तब वसतसेनाकी माताने कपटसे उसे घरसे बाहर निकाल दिया। चारुदत्त अत्यत लज्जित एवं दु:खी होकर धनोपार्जनके लिये विदेशयात्रा करता है। धन संग्रहकर जहाज द्वारा जैसे ही वापिस लौटता है कि जहाज तूफान द्वारा डूब जाता है। पुन: अनेक कष्टोंका सामना करते हुए धन कमाता है किन्तु दुर्दैववश फिर जहाज डूबता है ऐसा सात बार होता है किन्तु आयुके प्रबल होनेसे सातों बार लकड़ी के सहारे किनारे लगता है। इसी बीचमें एक ठग सन्यासी द्वारा अधकूपमे गिराया जाता है। वहाँ कूपमें उसीके समान धोखेसे पहुँचे हुए मरणासन्न पुरुषको णमोकार मंत्र सुनाकर समाधि कराता है जिससे वह देव बनता है। वहासे किसी उपायसे निकल आता है। परिवारके रुद्रदत्त नामके व्यक्तिसे भेंट होती है उसके साथ द्वीपातर जानेका विचार होता है। दुष्ट रुद्रदत्त बकरे को मारकर उसकी खालको उल्टीकर उसमें बैठकर पक्षी द्वारा रत्नद्वीपमें जानेका उपाय बताता है। चारुदत्तके मना करते हुए भी उसके सो जानेके बाद रुद्रदत्त बकरे को मारता है, चारुदत्तकी नींद खुलती है, उसने मरते हुए बकरेको णमोकार मत्र सुनाया। द्वीपातरमें चारुदत्त पहुचा। पापी रुद्रदत्त बीचमे मर गया। उक्त द्वीपमे चारुदत्तको महामुनिके दर्शन होते हैं। वहाँसे विद्याधरकी सहायतासे वह अपने चपापुर मे सुरक्षित पहुँच जाता है। इसप्रकार कुशीलकी सगतिसे चारुदत्तने महान् कष्ट भोगे।

तरुणस्यापि वैराग्यं, शील-वृद्धेन जायते।
क्रियते प्रस्नुत-क्षीरा, वत्स-स्पर्शेन गौ न किम्॥११३५॥

अर्थ - वय, ज्ञान एव तप से वृद्ध पुरुषो की सगति तरुण-पुरुषों में भी वैराग्य उत्पन्न कर देती है। क्या बछडे के स्पर्श से गाय के स्तनो मे दूध उत्पन्न नहीं हो जाता?॥११३५॥

य: करोति गुरु-भाषितं मुदा, संश्रये वसति वृद्ध-सङ्कुले।
मुञ्चते तरुणलोक-सङ्गति, ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति॥११३६॥

अर्थ - जो गुरुजनो की आज्ञा का पालन करता है, वय, ज्ञान, शील एव तप से वृद्ध पुरुषो के निवासस्थान में रहता है तथा तरुण जनो की सगति छोड़ देता है, वही ब्रह्मचर्यव्रत की निर्मलतापूर्वक रक्षा कर सकता है॥११३६॥

रजो धुनीते हृदयं पुनीते, तनोति सत्वं विधुनोति कोपम्।
मानेन पूतं विनयं नयन्ति, किं वृद्ध-सेवा न करोत्यभीष्टम्॥११३७॥

इति वृद्ध-सङ्गति:॥

अर्थ - यह वृद्धसेवा पाप को नष्ट करती है, हृदय को पवित्र करती है, शक्ति को वृद्धिंगत करती है, क्रोध का नाश करती है, मान से रहित करती है और विनय से युक्त करती है। इस प्रकार यह वृद्ध सेवा किस अभीष्ट सिद्धि को प्रदान नहीं करती ? सभी इष्टफलों को देती है॥११३७॥

इस प्रकार वृद्धसेवा वर्णन समाप्त।

स्त्रीसंसर्ग से उत्पन्न होने वाले दोष

मानस: स्वल्प-सत्वस्य, स्त्री-संसर्गे विनश्यति।
जघन-स्तन-वक्त्राणि, पश्यतो बहु चल्यते ॥११३८॥

अर्थ - जिस पुरुष मे सत्त्व अर्थात् धैर्य अल्प होता है उस पुरुष का मन स्त्रियों के संसर्ग से विकारी हो जाता है। स्त्रियो के स्थूल नितम्ब, पुष्ट स्तन एवं सुन्दर मुखादि को बार-बार ताकते रहने से उनका चित्त अत्यन्त चचल हो जाता है॥११३८॥

निरस्यति ततो लज्जां, संस्तवं कुरुते तत:।
ततो भवति नि:शङ्कस्ततो विश्वसिति ध्रुवम्॥११३९॥

अर्थ - हृदय विचलित होते ही उसकी लज्जा समाप्त हो जाती है, वह उनकी स्तुति अर्थात् चाटुकारिता करने लगता है, फिर गुरुजनो का भय समाप्त हो जाता है, तब निशक होकर वह उस स्त्री पर दृढ़ विश्वास कर बैठता है॥११३९॥

विश्वासे सति विश्रम्भो, विश्रम्भ: प्रणये सति।
रामासु परमा पुंस:, प्रणये जायते रति: ॥११४०॥

अर्थ - उस स्त्री के प्रति अपने मन मे विश्वास दृढ हो जाने पर उस स्त्री का भी विश्वास करने लगता है, इस परस्पर के विश्वास से प्रणय होता है, इस प्रकार उस पुरुष की उस स्त्री मे परम रति हो जाती है॥११४०॥

नारीणां दर्शनोद्देश, भाषण-प्रतिभाषणै:।
आकृष्यते मनो नृणामयस्कान्तैरिवायसम्॥११४१॥

अर्थ - आसक्ति बढते ही बार-बार परस्पर मे देखना एव भाषण-प्रतिभाषण करना, इससे पुरुषो का मन उनके प्रति ऐसा आकर्षित हो जाता है, जैसे चुम्बक द्वारा लोहा आकर्षित हो जाता है॥११४१॥

हासोपहास-लीलाभिर्गुप्त-गात्र-प्रकाशनै:।
विलासैर्विभ्रमैर्हावैर्भावै: सह गमागमै: ॥११४२॥

अर्थ - स्त्रियो के द्वारा मन्द एव मधुर मुस्कान युक्त हास-उपहास किये जाने से, लीलापूर्वक गमनादि क्रियाओ से, स्तन आदि गुप्त अग दिखाये जाने से, कटाक्षपूर्ण अवलोकन से, विलासपूर्ण चेष्टा से, अन्य भी विकारपूर्ण हाव-भावो से तथा साथ-साथ देशादि मे गमनागमन करने से पुरुष का मन चचल हो जाता है॥११४२॥

मन्मनै: कोमलैर्वाक्यैर्हृद्यैर्विस्रम्भ-भाषणै:।
गति-स्थिति-द्युति-क्रीडा-नर्म विव्वोक-मोट्टनै: ॥११४३॥

वक्रावलोकनै: स्त्रीणां, वैराग्यं ह्रियते नृणाम्।
शरीर-स्पर्शिभि: क्रुद्धै:, पन्नगैरिव जीवितम्॥११४४॥

अर्थ - मन को हरण करने वाले कोमल वचनों द्वारा, हृदय को सन्तुष्ट करने वाले सम्भाषण द्वारा, मद भरी चाल चलना, कमर पर हाथ रखना, डोलते हुए खड़े होना, शरीर की कान्ति, क्रीड़ा, मजाक, विव्वोक अर्थात् दोनों भौंहो के मध्यभाग को सिकोड़ना, मोहित करना, एव कटाक्षपूर्ण तिरछी दृष्टि से देखना, इत्यादि। स्त्रियों की इन कुचेष्टाओ से पुरुषों का वैराग्य उसी प्रकार नष्ट कर दिया जाता है, जिस प्रकार धोखे से पैर आदि के नीचे आ जाने वाले क्रोधित सर्प के द्वारा जीवन नष्ट कर दिया जाता है॥११४३-११४४॥

योषितां नर्तनं गानं, विकारो विनयो नय:।
द्रावयन्ति मनो नृणां, मदन पावका इव॥११४५॥

अर्थ - स्त्रियो के विकारयुक्त नृत्य देखना, गीत सुनना, उनकी विनय करना एव उन्हें कहीं लाना-ले जाना, इत्यादि क्रियाएँ मनुष्य की मनोगत कामवासना को उसी प्रकार द्रवित कर देती हैं जैसे अग्नि घी को पिघला देती है॥११४५॥

महिला मन्मथावास-विलासोल्लासितानना।
स्मृतापि हरते चित्तं, वीक्षिता कुरुते न किम्॥११४६॥

अर्थ - महिला मन्मथ की आवास है। विलास भाव से उल्लसित मुखवाली महिला जब स्मरण में आ जाने मात्र से मन को हरण कर लेती है, तब वह देख लिए जाने पर क्या नहीं करेगी?॥११४६॥

निर्मर्यादं मन: सङ्गात्, सम्मूढं सुरतोत्सुकम्।
पूर्वापरमनादृत्य, शील-शालं विलङ्घते॥११४७॥

अर्थ - स्त्री के सहवास से मोहित हुआ पुरुष का मन मर्यादा को तोड़ कर रतिक्रीड़ा के लिए उत्सुक हो उठता है और पूर्वापर का कुछ भी विचार न करके सुन्दर शीलरूपी परकोटे का उल्लघन कर डालता है॥११४७॥

प्रश्न - मर्यादा किसे कहते हैं ?

उत्तर - सभ्य अर्थात् नीतिपूर्ण व्यवहार को मर्यादा कहते हैं। यहाँ ब्रह्मचर्य विषय का प्रकरण है अत एक पुरुष का पर-स्त्री के साथ कैसा सभ्य या शालीनता पूर्ण या नीतियुक्त व्यवहार होना चाहिए, उसका नाम मर्यादा है।

कषायेन्द्रिय-संज्ञाभिर्गारवैर्गुरुका: सदा।
सर्वे स्वभावत: सङ्गादुद्भवन्त्यचिरेण ते॥११४८॥

अर्थ - स्वभावत सभी ससारी प्राणी कषाय, इन्द्रियवशता, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह सज्ञा तथा ऋद्धिगारव, रस गारव एव सात गारव से युक्त होते हैं, अत स्त्री आदि का साहाय्य पाकर वे इन्द्रियादि विषय रूप अशुभ परिणाम तत्क्षण प्रबल हो उठते हैं॥११४८॥

मातृ-स्वसृ-सुता: पुंस, एकान्ते श्रयतो मन:।
शीघ्रं क्षोभं व्रजत्येव, किं पुन: शेष-योषित:॥११४९॥

अर्थ - एकान्त में अपनी माता, बहिन एव पुत्री को पाकर भी जब पुरुष का मन शीघ्र ही क्षोभ को प्राप्त हो जाता है तब शेष स्त्रियों के साथ एकान्तवास के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है !॥११४९॥

निःसारां मलिनां जीर्णां, विरूपां रोगि-दुर्दृशम्।
तिरश्ची वा समीहेत, नृ-मनो मैथुनं प्रति॥११५०॥

अर्थ - मनुष्य का मन सारहीन, मलिन, अतिवृद्धा, विरूप, रोगी एव देखने में भयंकर कुरूप स्त्री को भी मैथुन के लिए चाहता है तथा काम के तीव्र उद्रेक मे तिर्यञ्चिनी के साथ भी मैथुन सेवन कर लेता है॥११५०॥

अन्य प्रकार से स्त्री-ससर्ग

दृष्ट-श्रुतानुभूतानां, विषयाणां रुचि-स्मृतिः।
नारी-ससर्ग एषोऽपि, विरहेऽप्यस्ति योषितः॥११५१॥

अर्थ - निकट मे स्त्री के विद्यमान न रहते हुए भी देखे, सुने तथा अनुभूत विषयो की रुचि जाग्रत हो जाना या स्मृति आ जाना भी स्त्रीससर्ग ही कहा जाता है॥११५१॥

वृद्धो गणी तपस्वी च, विश्वास्यो गुणवानपि।
अचिराल्लभते दोषं, विश्वस्तः प्रमदा-जने॥११५२॥

अर्थ - वृद्ध हो, या आचार्य हो, या घोर तपस्वी हो, या सब का विश्वासभाजन हो, या गुणवान् हो, यदि वह स्त्रियो के विषय मे विश्वस्त है, या उनसे ससर्ग रखता है तो वह शीघ्र ही अपयश का भागी होता है॥११५२॥

किं पुनर्विकृता-कल्पाः, स्वैरिणः शेष-साधवः।
नारी-संसर्गतो नष्टा, न सन्ति स्वल्प-कालतः॥११५३॥

अर्थ - जब महामुनि एव महातपस्वियो की भी ऐसी गति हो जाती है, तब जो विकृत मन वाले है, स्वच्छन्द हैं एव तरुण हैं ऐसे शेष साधु नारी के ससर्ग से स्वल्प काल मे क्या नष्ट नहीं हो सकते ? हो ही सकते हैं॥११५३॥

जैनिका-सङ्गतो नष्टश्चरणाच्छकटो यतिः।
वेश्यायाः सह संसर्गान्नष्टः कूपवरस्तथा॥११५४॥

रुद्रः पाराशरो नष्टो, महिला-रक्त्या दृशा।
देवर्षि. सात्यकि-देवपुत्रश्च क्षण-मात्रतः॥११५५॥

अर्थ - शकट मुनि जैनिका नामक ब्राह्मणी के ससर्ग से चारित्रभ्रष्ट हुए, कूपवर मुनि वेश्या की सगति के कारण चारित्रभ्रष्ट हुए, रुद्र एव पाराशर ऋषि स्त्रियो को आसक्तिपूर्वक देखने से नष्ट हुए थे और देवर्षि, देवपुत्र एव सात्यकि मुनि स्त्री सम्पर्क से क्षणमात्र में नष्ट हो गये थे॥११५४-११५५॥

❋ शकट नामक भ्रष्ट मुनि की कथा ❋

शकट नामक एक मुनि आहारके लिये वनसे कौशाबी नगरीके निकट आ रहे थे। मार्ग कुछ लबा था। नगरके बाहर एक कुटीमें शून्य स्थान समझकर वे बैठ गये, वहाँ कुटियामें एक दासकर्म करनेवाली स्त्री रहती थी, मुनिने उसे पहिचान लिया कि पहले बालक अवस्थामें यह और मैं एक साथ पढ़ते थे। मुनि अपने आहारके प्रयोजनको भूल गये और उस जैनिका-जयनी नामकी स्त्रीसे वार्तालाप करने लगे। इसमें दोनोंका मन परस्परमें आकृष्ट हो गया और शकट मुनिने अपना निर्मल चारित्र उस स्त्रीकी किंचित् कालकी सगतिसे ही छोड़ दिया।

❋ कूपार नामक भ्रष्ट मुनि की कथा ❋

पाटलीपुत्र नगरमें अशोक नामका राजा था। उसका एक अत्यन्त पराक्रमी पुत्र कूपार (कूपकार) नामका था। किसी दिन विहार करते हुए वरधर्म आचार्य सघ सहित नगरके बाह्य उद्यानमें आकर ठहर गये। नागरिक समूह दर्शनार्थ जा रहा था, कूपार राजकुमार भी उनके साथ गया, आचार्यसे वैराग्यप्रद धर्मोपदेशको सुनकर कुमारको ससारसे विरक्ति हुई और उसने जिनदीक्षा ग्रहण की। किसी दिन एक विषम पर्वत पर वे कूपार मुनि ध्यानारूढ़ हुए। इधर उनके पिता अशोक राजाको पुत्र वियोगका अत्यत दु.ख हुआ, उस राजाके यहाँ एक गणिका वीरवती नामकी नृत्यकारिणी थी। उसने राजाको कहा, "मैं आपके पुत्रको वापस ला सकती हूँ, आप चिता शोक न करे।" इतना कहकर उसने आर्यिका वेष लिया। साथमे बहुतसी दासियोंको भी आर्यिकाका वेष दिलाकर वे सभी जिस पर्वतपर ध्यानारूढ कूपार मुनि थे, वहाँ आईं। वीरवती तो पर्वतके नीचे ठहर गयी और अन्य स्त्रियाँ ऊपर जाकर मुनिसे कहती हैं कि "भो योगीश्वर ! हम सब आर्यिकायें तो यहाँ दर्शनार्थ आ चुकीं किन्तु एक आर्यिका पर्वतपर चढ़नेमे असमर्थ है, आप कृपा करके उन्हे दर्शन देवे।" मुनि धर्मवात्सल्यसे नीचे आये, उनके आते ही गणिकाने उन्हे हावभाव विलास द्वारा अपने वशमे कर लिया। इसतरह वे कूपार यति उस गणिका वीरवतीके निमित्तसे भ्रष्ट होगये।

❋ सात्यकि और रुद्रकी कथा ❋

गधार देशमे महेश्वर नगरका राजा सत्यधर था। उसके पुत्रका नाम सात्यकि था, इसकी सगाई राजा चेटककी पुत्री जेष्ठाके साथ हो चुकी थी। किसी कारणवश जेष्ठा राजपुत्रीने आर्यिका दीक्षा ली। जब सात्यकिको यह ज्ञात हुआ तो उसने भी समाधिगुप्त मुनीश्वरके समीप जिनदीक्षा ग्रहण की। एक दिन जेष्ठा आदि अनेक आर्यिकायें अपनी गणिनीके साथ महावीर भगवान् के समवशरणमें जा रही थीं। मार्गमें पानी बरसने लगा। इससे सब आर्यिकासघ तितर-बितर हो गया। जेष्ठा आर्यिका एक गुफामें पहुँची। वहाँ साड़ी खोलकर निचोड़ रही थी, गुफामें सात्यकि मुनि तपश्चरण कर रहे थे। वहाँ अकस्मात् जेष्ठाको देखकर उनका मन विचलित हुआ। दोनोका समागम हुआ। अनतर वर्षाके समाप्त होनेपर आर्यिकासघ एकत्र हुआ। जेष्ठा ने अपनी गणिनी यशस्वती आर्यिकासे घटित घटना बतायी। गणिनीने अपवाद न हो इस उद्देश्यसे जेष्ठाको उसकी बड़ी बहिन राजा श्रेणिककी पट्टदेवी चेलनाके पास रखा। नव मास व्यतीत होनेपर बालक हुआ। उसके पालनका भार चेलना ने लिया। जेष्ठा पुन छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होकर तपमे लीन हुई। सात्यकिने भी अपने गुरुके निकट तत्काल पुनर्दीक्षा ग्रहण की। इसप्रकार स्त्रीके निकट होनेसे सात्यकि मुनि भ्रष्ट हुए।

इधर उनका पुत्र चेलनाके पास वृद्धिंगत हुआ, उसका नाम रुद्र था। यह क्रूर स्वभाव वाला होनेसे अपने समीपवर्ती बालकोंको पीटता रहता, इससे उलाहना आनेपर चेलनाने कुपित होकर कह दिया कि किसका पुत्र और किसको कष्ट दे रहा है ? इतना सुनकर रुद्रने राजा श्रेणिकसे अपने जन्मका वृत्तांत विदित किया और उसने उदास हो दीक्षा ली। वह ग्यारह अग और दश पूर्व क्रमसे पढ रहा था। दसवे विद्यानुवाद पूर्व का अध्ययन पूर्ण होनेपर रोहिणी आदि विद्यायें उसके समक्ष उपस्थित हुईं। रुद्रमुनिने लोभवश विद्यायें स्वीकार करलीं। अब वह स्वच्छद भ्रमण करने लगा। एक दिन वनमे सरोवर पर अनेक राजकन्यायें स्नानार्थ आयी थीं, उन्हें देखकर रुद्र कामबाणसे बिद्ध हुआ और उसने विद्याके बलसे सबका हरणकर उन्हे अपना बना लिया। कन्याओंके पिताने उससे युद्ध किया किन्तु रुद्रके पास विद्याका बल होनेसे राजा हार गये और इसतरह रुद्र मुनि भ्रष्ट होकर उन स्त्रियोके साथ रमने लगा। अतमे मरकर नरक गया। इसप्रकार स्त्रीससर्गसे रुद्रकी दुर्गति हुई।

❋ पाराशरकी कथा ❋

पाराशर नामका एक जटाधारी तापसी था। उसने कुतप द्वारा कुछ विद्याएँ सिद्ध की थीं। एक दिन नौका द्वारा नदी पार कर रहा था। नौका को एक धीवरकी सत्यवती नामकी लड़की चला रही थी, जो सुदर थी। उसपर पाराशर मोहित हो गया। धीवरसे उसको मागकर जगलमे उसके साथ रहने लगा। इसतरह वह तपस्वी लडकीको देखकर कामुक हो अपने तपसे भ्रष्ट हो गया। अत स्त्रीसे सदा दूर रहना ही साधु-व्रतीको श्रेयस्कर है।

कथा समाप्त।

ब्रह्मचर्यव्रत को स्थिर रखने का उपाय

भुजङ्गीनामिव स्त्रीणां, सदा संङ्गं जहाति यः।
तस्य ब्रह्मव्रतं पूतं, स्थिरी-भवति योगिनः ॥११५६॥

अर्थ - नागिन के सदृश जो सदा के लिए स्त्रियो का सम्पर्क छोड़ देता है, उसी योगी का ब्रह्मचर्य व्रत पवित्र एव स्थिर रहता है॥११५६॥

अविश्वस्तोऽप्रमत्तो यः, स्त्री-वर्गे सकले सदा।
यावज्जीवमसौ पाति, ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥११५७॥

अर्थ - जो साधु या पुरुष सम्पूर्ण स्त्रीवर्ग मे विश्वास नहीं करता एव प्रमादरहित अर्थात् सावधान रहता है, वही पुरुष यावज्जीवन अपने ब्रह्मचर्य व्रत को अखण्डित रूप से सुरक्षित रख सकता है॥११५७॥

अह वर्ते कथं किं मे, जनः पश्यति भाषते।
चिन्ता यस्येदृशी नित्यं, दृढ-ब्रह्मव्रतोऽस्ति सः।११५८॥

अर्थ - मेरी प्रवृत्ति कैसी है अर्थात् मैं किस प्रकार चल रहा हूँ ? अन्य लोग मुझे किस दृष्टि से देखते हैं? और लोग मेरे सम्बन्ध मे क्या कहते हैं ? ऐसा चिन्तन जो पुरुष सतत करता है, उसका ब्रह्मचर्य दृढ रहता है॥११५८॥

प्रश्न - इस प्रकार के चिन्तन की प्रेरणा किसे और क्यो दी गई है ?

उत्तर - यह प्रेरणा मुख्यत· साधु को दी गई है। उसे चिन्तन करना चाहिए कि मैंने यह सर्वोत्कृष्ट व्रत धारण किया है। इसमें मेरे द्वारा कोई दोष तो नहीं लग रहा? मेरी प्रवृत्ति आगमानुकूल है या नहीं? जनसमुदाय में मेरा अपवाद तो नहीं हो रहा? मेरा अपमान ही इस उत्तम साधु पद का अपमान है, इत्यादि प्रकार से जो चिन्तन करता है, और जो लज्जावान् है, वही अपने ब्रह्मचर्यव्रत को अखण्ड रख सकता है। किन्तु जिसे लोक-लाज की चिन्ता नहीं, शर्म नहीं एव जिसे धर्म की अप्रभावना का भय नहीं वह स्वच्छन्द आचरण कर अपने ब्रह्मचर्य मे शिथिल होता है।

न पश्यत्यङ्गना-रूपं, ग्रीष्मार्कमिव यश्चिरम्।
क्षिप्रं संहरते दृष्टिं, तस्य ब्रह्मव्रतं स्थिरम्॥११५९॥

अर्थ - जैसे ग्रीष्मऋतु मे मध्याह्न के सूर्य को कोई स्थिर दृष्टि से देर तक नहीं देख सकता (और कदाचित् देख भी ले तो तत्काल वहाँ से दृष्टि हटा लेता है) उसी प्रकार जो महापुरुष स्त्रियों के रूप को स्थिर दृष्टि से चिरकाल तक नहीं देखता, अर्थात् यदि कदाचित् दृष्टि चली जाय, तो तत्काल उसे संकोच लेता है, वही अपने ब्रह्मचर्य व्रत को स्थिर रख सकता है॥११५९॥

गन्धे रूपे रसे स्पर्शे, शब्दे स्त्रीणां न सज्जति।
जातु यस्य मनस्तस्य, ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥११६०॥

अर्थ - जिस पुरुष का मन स्त्रियो के मनोहर गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द में कभी आकर्षित नहीं होता, उसी का ब्रह्मचर्य व्रत अखण्डित रहता है॥११६०॥

स्त्री-दोषो के कथन का उपसहार

द्विपमिव हरिकान्ता मङ्क्षु मीनं बकीव, भुजगमिव मयूरी मूषिकं वा विडाली।
गिलति निकटवृत्तिः संयतं निर्दया स्त्री, निकटमिति तदीयं सर्वदा वर्जनीयम्॥११६१॥

अर्थ - जिस प्रकार समीप मे आये हुए हाथी को सिंहनी खा जाती है, समीप आये हुए मत्स्य को बगुली शीघ्र ही खा जाती है, मयूरी सर्प को मार डालती है एव बिल्ली चूहे को खा जाती है, उसी प्रकार निर्दय हृदय कुशील स्त्री यदि सयत मुनि के समीप आ जावे तो वह उनके सयम को नष्ट कर डालती है, अत स्त्री की निकटता सदैव ही त्याज्य है। दूर से ही छोडने योग्य है॥११६१॥

प्रथयति भव-मार्गं मुक्ति-मार्गं वृणक्ति,
दवयति शुभ-बुद्धिं पाप-बुद्धिं विधत्ते।
जनयति जन-जल्पं श्लोक-वृक्षं लुनीते,
वितरति किमु कष्टं सङ्गतिर्नाङ्गनानाम्॥११६२॥

इति स्त्री-संसर्ग-दोषाः॥

अर्थ - स्त्रियों की सगति ससार-मार्ग को विस्तृत करती है एव मुक्तिमार्ग को नष्ट करती है, पुण्यरूप धर्मबुद्धि को जला देती है तथा पापरूप अधर्मबुद्धि को उत्पन्न करती है। जनापवाद को उत्पन्न करती है और

प्रशंसारूप वृक्ष को काट डालती है। अहो ! स्त्री की यह संगति क्या-क्या कष्ट नहीं देती ? सभी कष्ट देती है॥११६२॥

इस प्रकार स्त्री-संसर्ग-दोष वर्णन समाप्त।

महाव्रतों के उपदेश के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य नामक चतुर्थ महाव्रत का विस्तार पूर्वक उपदेश देते हुए निर्यापकाचार्य कह रहे हैं कि -

यदि ते जायते बुद्धिर्लोक-द्वितय मैथुने।
उद्योग: पञ्चधा कार्य:, स्त्री-वैराग्ये तदा त्वया॥११६३॥

अर्थ - हे क्षपक ! इस लोक एवं परलोक में तुम्हारे परिणाम यदि मैथुन-सेवन के बन जाएँ तो पाँच प्रकार के स्त्री-वैराग्य में मन को लगाओ। अर्थात् स्त्रीकृत दोष, मैथुन के दोष, स्त्रीसंसर्ग दोष, शरीरगत अशुचिता एवं वृद्धसेवा का चिन्तन करो, जिससे आपके अति अशुभ परिणाम नष्ट हो जायेंगे॥११६३॥

प्रश्न - स्त्रीवैराग्य के लिए कौनसे पाँच विषयों का चिन्तन आवश्यक है और क्यों ?

उत्तर - ब्रह्मचर्यव्रत का अखण्ड एवं निर्दोषरीत्या पालन करने हेतु विस्तृत उपदेश देते हुए आचार्य-देव कहते हैं कि - हे क्षपक ! यदि तुम्हारे मन में कहीं स्त्रीभोगजन्य आसक्ति के संस्कार पड़े हों, उनके प्रति रागभाव उत्पन्न हो रहा हो तो तुम अपनी कामवासना के शमन हेतु सर्व प्रथम जो काम अति-निन्दनीय है उसके दोषों का चिन्तन करो। पश्चात् जो दोषों का भण्डार है ऐसी स्त्री के दोषों का चिन्तन करो। पश्चात् जिस शरीर से भोगना है और जिस शरीर को भोगना है, वे दोनों कितने वीभत्स हैं, इस प्रकार शरीरगत दोषों का चिन्तन करो। पश्चात् वृद्धसेवा का चिन्तन करो कि जो साधु शीलवान् गुरुजनों की सेवा करता है वही ब्रह्मचर्य व्रत को अखण्ड रखने में समर्थ हो सकता है क्योंकि शिथिलशील वालों की संगति से ब्रह्मचर्य व्रत में शिथिलता आने की संभावना रहती है। पश्चात् स्त्री-संसर्ग में क्या-कैसे दोष हैं, इस विषय का चिन्तन करो। वैराग्यपरक इन पाँचों विषयों का चिन्तन करते रहने से ब्रह्मचर्य व्रत में सदा दृढता बनी रहेगी।

लिप्यते वर्तमानोऽपि, विषयेषु न तैर्यति:।
पद्मजात जले वृद्धं, जातु किं लिप्यते जलै:॥११६४॥

अर्थ - जैसे जल में ही उत्पन्न हुआ और जल में ही वृद्धिगत हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही विषयों के मध्य रहता हुआ भी साधु, वैराग्यपरक कामदोषादि इन पाँच विषयों का चिन्तन करता है तो उन विषयों से लिप्त नहीं होता॥११६४॥

विषयैर्विष्टपस्थस्य, चित्तमस्पर्शनं यते:।
सागरं गाहमानस्य, सलिलैरिव जायते॥११६५॥

अर्थ - जैसे समुद्र में अवगाहन करके भी समुद्र के जल से शरीर का अलिप्त रहना आश्चर्यकारी है, वैसे ही विषय रूपी समुद्र के मध्य रह कर विषयरूपी जल से चित्त का अलिप्त रहना अर्थात् विषयों में चित्त का न जाना महान् आश्चर्यकारी है॥११६५॥

न दोष-श्वापदे भीमे, वञ्चना-गहने यति:।
नश्यति स्त्री-वनेऽलीक-पादपेऽशुचिता-तृणे॥११६६॥

अर्थ - जिसमें दोष रूपी श्वापद आदि जगली पशु रहते हैं, वचना अर्थात् मायाचारी से जो गहन हो रहा है, अत्यन्त भयावह है, असत्यरूपी वृक्षो से सघन है तथा अशुचि अगोपाग रूपी घास-फूस से व्याप्त है, ऐसे स्त्री रूपी वन में कल्याणेच्छु साधु कभी नहीं भटकता। अर्थात् स्त्रीरूपी वन के मध्य रहता हुआ भी नष्टशील नहीं होता॥११६६॥

प्रश्न - यहाँ स्त्री को भयानक वन की उपमा क्यों दी गई है ?

उत्तर - जैसे कोई पुरुष भयकर वन मे भटक जाये तो उसे वहाँ जगली पशुओ द्वारा, सघन वृक्ष एव नुकीली घास आदि के द्वारा महान् कष्ट होता है। यहाँ मोक्षमार्ग के पथिक मुनिजनो को स्त्री ही एक भयानक वन है। वन मे जैसे जगली पशु रहते है, स्त्री मे वैसे ही चचलता, भीरुता, असूया, उन्मत्तता एव चुगली आदि दोष रूपी पशु भरे पड़े हैं। लता-गुल्मादि के कारण वन का रास्ता गहन होता है, स्त्री मायाचार रूपी गुल्म से गहन है। वन के सघन वृक्षों के सदृश स्त्री मे असत्य और वचना रूप वचन ही सघन वृक्ष हैं। वन की घास के सदृश स्त्री के अपवित्र अवयव हैं। ऐसे भयकर स्त्रीरूपी वन मे मुनिराज कभी दिग्मूढ नहीं होते, यही उनकी सबसे बडी महानता है।

भूरि-शृङ्गार-कल्लोला, यौवनाम्बुर्वधू-नदी।
न विलासास्पदा हास-फेना वहति संयतम्॥११६७॥

अर्थ - स्त्री एक नदी के सदृश है। स्त्री मे शृगार रूपी बहुत तरगे है, यौवन रूप जल है, विलास और विभ्रमरूप वेग है तथा मन्द-मन्द हास्य रूप फेन है। ऐसी स्त्री रूपी नदी सयत-मुनि को बहाकर ले जाने मे समर्थ नहीं हो पाती॥११६७॥

विलास-सलिलोत्तीर्णा, यैस्तीव्रा यौवनापगा।
अग्रस्ताः प्रमदा-ग्राहैस्ते धन्या मुनि-पुङ्गवाः॥११६८॥

अर्थ - जो मुनिराज विलास रूप जल से भरी हुई, यौवन रूपी तीव्र वेग वाली स्त्री रूपी नदी को पार करते समय उन स्त्री रूपी मगर-मच्छो द्वारा ग्रस्त नहीं हुए वे ही धन्य है॥११६८॥

धन्यं स्त्री-व्याध-निर्मुक्ताः, कटाक्षेक्षण-सायकाः।
विध्यन्ति विषयारण्ये, वर्तमानं न योगिनम्॥११६९॥

अर्थ - विषयो से व्याप्त इस ससाररूपी वन मे स्थित जो मुनिजन स्त्रीरूपी शिकारी द्वारा छोड़े गये कटाक्ष दृष्टिवाणो से वेधित नहीं होते, वे मुनि ही धन्य है॥११६९॥

न विव्वोक-रदोऽभ्येति, विलास-नखरो मुनिम्।
कटाक्षाक्षोऽङ्गना-व्याघ्रस्तारुण्यारण्य-वर्तिनम्॥११७०॥

अर्थ - स्त्री व्याघ्र के सदृश है। भृकुटिविकार उसके तीक्ष्ण दाँत हैं, विलास रूपी नख हैं और कटाक्ष रूपी नेत्र हैं; ऐसा स्त्रीरूपी व्याघ्र, यौवन रूपी वन में विचरण करने वाले जिन महामुनि को नहीं पकड़ पाता, वे मुनि धन्य हैं॥११७०॥

त्रिलोक-दाही विषयोद्ध-तेजाः, तारुण्य-तृण्या-ज्वलितः स्मराग्निः।
न प्लोषते यं स्मृति-धूमजालः, स वन्दनीयो विदुषा महात्मा ॥११७१॥

अर्थ - तीन लोकरूपी वन को जलाने वाली, विषयरूपी बढ़ते हुए तेज से युक्त, यौवनरूपी घास-फूस से प्रदीप्त एव स्मृतिरूपी धुआजाल से व्याप्त, ऐसी काम रूपी अग्नि जिसे नहीं जलाती वही महात्मा विद्वानों द्वारा वन्दनीय है ॥११७१॥

विपुल-यौवन-नीरमनाकुलो, विषय-नीरनिधिं रति-वीचिकम्।
इह वधू-मकरैरकदर्थितस्तरति धन्यतमः पर-दुस्तरम् ॥११७२॥

इति चतुर्थं ब्रह्मचर्यव्रतम् ॥

अर्थ - इस विषय रूपी समुद्र मे यौवनरूपी विपुल जल है, स्त्री की रतिक्रीड़ारूपी लहरें हैं, स्त्री रूप भयकर मगरमच्छ हैं और इसे पार करना अति कठिन है। मगर-मच्छादि से अछूते रहकर जो इस समुद्र को पार कर जाते हैं, वे महापुरुष ही इस ससार मे धन्य पुरुषो में भी महाधन्य है ॥११७२॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य नामक चतुर्थव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ।

अपरिग्रह नामक पाँचवाँ महाव्रत

परिग्रह के भेद-प्रभेद

बाह्यमाभ्यन्तर सङ्गं, कृत-कारित-मोदनैः।
विमुञ्चस्व सदा साधो ! मनो वाक्काय-कर्मभिः ॥११७३॥

अर्थ - हे साधो ! तुम बाह्य और अभ्यन्तर दोनो परिग्रहो का मन, वचन, काय एव कृत, कारित अनुमोदना से सदा के लिए त्याग कर दो ॥११७३॥

अभ्यन्तर परिग्रह

मिथ्यात्व-वेद-हास्यादि-क्रोध-प्रभृतयोऽन्तराः।
एक-त्रि-षट्-चतुः संख्या, सङ्गाः सन्ति चतुर्दश ॥११७४॥

अर्थ - मिथ्यात्व एक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक वेद के भेद से तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा के भेद से छह नोकषाय तथा क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार कषायें, इस प्रकार अन्तरग परिग्रह चौदह प्रकार का है ॥११७४॥

बाह्य परिग्रह

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदम्।
यान शय्याशनं कुप्यं, भाण्डं सङ्गा बहिर्दश ॥११७५॥

अर्थ - **क्षेत्र**-खेती आदि का स्थान, **वास्तु**-मकान-महलादि, **धन**-सुवर्ण, चाँदी, रत्न आदि, **धान्य**-अनाजादि, **द्विपद**-दास, दासी, सेवकादि, **चतुष्पद**-हाथी, घोडा, गाय भैंस आदि, **यान**-पालकी तथा विमानादि, **शय्या**-**आसन**-**कुप्य**-वस्त्र और **भाण्ड**, ये दस प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं ॥११७५॥

बाह्य परिग्रह के त्याग की महत्ता

नाभ्यन्तरः ससङ्गस्य, साधोः शोधयितुं मलः।
शक्यते सतुषस्येव, तन्दुलस्य कदाचन॥११७६॥

अर्थ - जैसे तुष सहित चावल का तुष दूर किए बिना उसके अन्तर-मल का शोधन करना अशक्य है। वैसे ही बाह्य परिग्रह के त्याग बिना कषायादि अभ्यन्तर परिग्रह का शोधन करना अशक्य है॥११७६॥

उदीयते यदा लोभो, रागः संज्ञा च गारवम्।
शरीरी कुरुते बुद्धिं, तदादातुं परिग्रहम्॥११७७॥

अर्थ - जब लोभ नामक कर्मप्रकृति की उदय-उदीरणा होती है, तब लोभ, राग, सज्ञा एव गारव रूप अशुभ परिणाम होते हैं। तब यह ससारी प्राणी परिग्रह को ग्रहण करने की बुद्धि करता है॥११७७॥

प्रश्न - लोभ, राग, सज्ञा एव गारव के क्या लक्षण हैं और इनका क्या फल है ?

उत्तर - धनादि के गुणो मे आसक्ति रूप परिणाम को लोभ कहते हैं। 'यह मेरा है' इस परिणाम का नाम राग है। 'मेरे पास कुछ होता तो अच्छा होता' इस प्रकार के ममत्व परिणाम को सज्ञा कहते हैं और परिग्रह विषयक तीव्र-अभिलाषा को गारव कहते हैं। ये सब परिणाम अशुभ हैं, इन्हीं परिणामो से कर्मबन्ध होता है।

ग्रन्थो लोक-द्वये दोषं, विदधाति यतेस्ततः।
स्थिति-कल्पो मतः पूर्वं, चेलादि-ग्रन्थ-मोचनः॥११७८॥

अर्थ - आगम मे दस प्रकार का स्थितिकल्प (मुनियो का आचरण विशेष) कहा गया है। उसमे वस्त्रादि परिग्रह के त्यागरूप प्रथम स्थिति कल्प आचेलक्य है। यत परिग्रह इहलोक और परलोक सम्बन्धी दोषो को लाता है, अत जो साधुजन दोनो लोक सम्बन्धी दोषो से बचना चाहते है, उन्हे दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए।॥११७८॥

आचेलक्य का अर्थ वस्त्र है, किन्तु इससे सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग का निर्देश है

उद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम्।
लुप्तोऽथवादि-शब्दोऽत्र, ताल-प्रालम्ब-सूत्रवत्॥११७९॥

अर्थ - सूत्र मे 'आचेलक्य' पद देशामर्शक है। इस पद मे चेल शब्द उपलक्षणरूप है, अत चेल-वस्त्र के साथ अन्य परिग्रह का निषेध भी हो जाता है। अथवा इस सूत्र मे तालप्रलम्ब सूत्रानुसार आदि शब्द का लोप हो गया है॥११७९॥

प्रश्न - स्थितिकल्प किसे कहते हैं और वे कौन-कौन से हैं?

उत्तर - मुमुक्षुओ को जो कार्य नियमत. करना ही चाहिए उसे स्थिति कहते हैं और उसके भेदो को कल्प कहते हैं। यह स्थितिकल्प का अर्थ है। सुस्थितादि नामक पाँचवें अधिकार में निर्यापकाचार्य के आचारवान्, आधारवान् आदि आठ गुण कहे गये हैं। इनमे आचारवान् गुण के अन्तर्गत दश स्थितिकल्पों का कथन किया

है। उनके नाम इस प्रकार हैं- १ अचेलकत्व, २ उद्दिष्ट शय्या-त्याग, ३ उद्दिष्ट आहार त्याग, ४ राजपिड त्याग, ५ कृतिकर्म प्रवृत्त, ६ व्रतारोपण अर्हत्व, ७ ज्येष्ठत्व, ८ प्रतिक्रम, ९. मासैक-वासिता और १० पर्या अर्थात् चातुर्मास मे विहार नहीं करना।

प्रश्न - आचेलक्य का क्या अर्थ है ?

उत्तर - आचेलक्य शब्द का निरुक्ति अर्थ है ''न चेल इति अचेल, चेलग्रहण परिग्रहोपलक्षण, तेन सकल-धन-धान्यादि-परिग्रह-त्याग गृह्यते'' अर्थात् चेल शब्द मे वस्त्रत्याग उपलक्षण रूप है, अत इस शब्द के अर्थ के साथ अन्य उसके समान धन-धान्यादि सर्व प्रकार के परिग्रहत्याग करने का उपदेश ग्राह्य है।

प्रश्न - उपलक्षण का क्या भाव है ?

उत्तर - जिस उक्त अर्थात् कहे हुए एक शब्द के साथ उसके ही समान अर्थ वाले अन्य सभी का ग्रहण स्वत हो जाता है, उसे उपलक्षण कहते हैं। जैसे किसी ने कहा - ''काकेभ्यो रक्षता सर्पि '' अर्थात् ''कौवे से घी की रक्षा करो''। इस वाक्य मे कौवा शब्द उपलक्षण है क्योंकि जो घी की रक्षा चाहता है उसका भाव है कि कौवा एव कौवे के सदृश बिल्ली, कुत्ता आदि जो-जो प्राणी घी को नष्ट करने वाले हैं उन सभी से घी की रक्षा करो। इस प्रकार चेल अर्थात् वस्त्र शब्द यहाँ उपलक्षण है।

प्रश्न - श्लोक मे जो ''तालप्रलम्बसूत्रवद्'' पद आया है उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - साधुसमाज की योग्य चर्या दर्शाने वाले कल्पग्रन्थ मे एक सूत्र आया है कि ''ताल पलब ण कप्पदि'' अर्थात् ''साधु को ताल प्रलम्ब वनस्पति नहीं खानी चाहिए''॥ सूत्रगत 'ताल' शब्द का तो मात्र इतना अर्थ है कि ताड़वृक्ष नामक वनस्पति नहीं खानी चाहिए, किन्तु मात्र इतना अर्थ ग्राह्य नहीं है, कारण कि इस सूत्र मे 'आदि' शब्द का लोप हो गया है और यह सूत्र देशामर्शक भी है, अत इस सूत्र से भी यही ग्राह्य होगा कि साधु को ताड़ादि वनस्पतियो का भक्षण नहीं करना चाहिए। अर्थात् किसी भी प्रकार के हरित तृण, पत्ते, लता बेल, गुच्छे, फूल एव स्कन्धादि नहीं खाने चाहिए।

मूल प्रलम्ब और अग्र प्रलम्ब के भेद से प्रलम्ब दो प्रकार का है। जो भूमि के भीतर ही रहते है ऐसे कन्दमूल आदि को मूल प्रलम्ब कहते है और अकुर, प्रवाल, पत्ते, फूल एव फल आदि वनस्पति अग्र प्रलम्ब है।

प्रश्न - देशामर्शक किसे कहते है ?

उत्तर - जिस सूत्र मे प्रयोजनीय वस्तु का मात्र एकाश कहा जाता है किन्तु वह एकाश ही वस्तु के सर्वांश को ध्वनित करता है उसे देशामर्शक कहते हैं। यहाँ भी 'चेल' शब्द सर्व परिग्रह के त्याग को ध्वनित करता है। अर्थात् अपरिग्रह महाव्रत मे वस्त्र सहित बाह्याभ्यन्तर सर्व परिग्रह का त्याग करना आवश्यक है।

आचार्य का भी यही अभिमत है

चेल-मात्र-परित्यागी, शेष-सङ्गी न संयत:।
यतो मतमचेलत्वं, सर्वं ग्रन्थोज्झनं तत: ॥११८०॥

अर्थ - वस्त्र मात्र का त्याग करने से और शेष सर्व परिग्रह रखने से कोई सयमी साधु नहीं हो सकता, अत· 'अचेलत्व' शब्द से सर्व परिग्रह का त्याग करना ही अभिमत है। अर्थात् सर्व परिग्रह का त्याग ही अपरिग्रह महाव्रत का समीचीन लक्षण है ॥११८०॥

परिग्रहार्थं प्रणिहन्ति देहिनो, वदत्यसत्यं विदधाति मोषणं।
निषेवते स्त्रीं श्रयते परिग्रहं, न लुब्ध-बुद्धिः पुरुषः करोति किम् ॥११८१॥

अर्थ - ससारी प्राणी परिग्रह के लिए असि, मषि, कृषि आदि षट्कर्मों द्वारा जीवों का घात करता है एव मनुष्यो तक का वध कर देता है, असत्य भाषण करता है, चोरी करता है, स्त्रीसेवन करता है एव धन के लोभ मे पर के साथ भी मैथुनसेवन का कार्य करता रहता है, परिग्रह का आश्रय लेता है। इस प्रकार लोभग्रसित बुद्धि वाला पुरुष क्या-क्या अयोग्य कार्य नहीं करता ? सर्व पाप करता है ॥११८१॥

संज्ञा-गौरव-पैशून्य-विवाद-कलहादयः।
दोषा ग्रन्थेन जन्यन्ते, दुर्नयेनेव सर्वदा ॥११८२॥

अर्थ - जैसे दुर्नय द्वारा कुनय या अनीति से विवाद आदि दोष उत्पन्न होते हैं, वैसे ही परिग्रह के द्वारा आहारादि की वाछारूप सज्ञाएँ रसगारवादि रूप दर्प, चुगली, विवाद और कलहादि दोष उत्पन्न होते रहते हैं ॥११८२॥

प्रश्न - परिग्रह से उपर्युक्त दोष कैसे उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - परिग्रह मे आसक्ति होने से परिग्रह आदि चारो सज्ञाओ की वृद्धि होती है। अधिक धन एव भोगोपभोग की सामग्रियाँ उपलब्ध हो जाने से गारव पुष्ट होते हैं। परिग्रही पुरुष धनप्राप्ति हेतु दूसरे के दोषों को इधर-उधर कहता फिरता है। धन के लिए विवाद करता है, कलह करता है, झगडा करता है, कठोर वचन कहता है, कभी मायाचारी से मधुर वचन भी बोलता है, यह व्यक्ति अमुक को देता है, मुझे नहीं देता, इस प्रकार के खोटे परिणाम रूप ईर्षा करता है और धनाढ्यजनो की धनाढ्यता न सहन करने रूप असूया करता है।

क्रोध लोभं भयं मायां, विद्वेषमरतिं रतिम्।
द्रवणार्थी निशा-भुक्तिं, विदधाति विचेतनः ॥११८३॥

अर्थ - धन का इच्छुक मोहित पुरुष क्रोध, लोभ, भय, माया, विद्वेष, अरति, रति एव रात्रि भोजनादि अनेक पाप करता है ॥११८३॥

प्रश्न - मनुष्य को जैसे क्रोध प्रकृति के उदय से क्रोध आता है, वैसे ही लोभ, भय एव रति-अरति कर्म प्रकृतियों के उदय से तद्रूप परिणाम होते हैं, फिर ऐसा क्यो कहा जा रहा है कि परिग्रह के लिए क्रोधादि करता है ?

उत्तर - क्रोधादि उत्पन्न होने में अभ्यन्तर कारण तत्-तत् कर्म-प्रकृतियो का उदय है किन्तु बाह्य कारणों में परिग्रह पाप ही प्रमुख हेतु है। यथा-धन उपार्जन की प्रतिकूलताओं मे, इष्ट धन प्राप्ति न होने या उसमें किसी के बाधक बन जाने पर क्रोध करता है। धनादि की वृद्धि हो जाने पर गर्व करता है, धनार्जन मे या धन

के आदान-प्रदान में मायाचार करता है। धनार्जन में अधिकाधिक लाभ की वांछा करता है, लाभ हो जाने पर और अधिक की प्राप्तिरूप लोभ करता है, निर्धन को देखकर हँसता है, अपने द्रव्य में रति करता है, द्रव्य का नाश हो जाने पर अरति करता है, द्रव्यहरण की शका से भय करता है, धन-हरण हो जाने पर शोक करता है, परिग्रह की विरूपता पर ग्लानि करता है तथा स्वामी की सेवा मे रत रहने के कारण, या फैक्ट्री आदि के सचालन की या धनोपार्जन की गृद्धता के कारण रात्रि मे भोजन करता-कराता है, इस प्रकार परिग्रह के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा एव रात्रिभोजनादि रूप अनेक पाप करता है। इससे सिद्ध होता है कि परिग्रह ही सर्व अनर्थ कराता है।

ग्रन्थो महाभयं नृणामेकरथ्ये सहोदरौ।
ग्रन्थार्थं हिंसितुं बुद्धिं, यतोऽकार्ष्टां परस्परम्।।११८४।।

अर्थ - एकरथ्या ग्राम मे दो सहोदर रहते थे। परिग्रह के लिए उन्होने एक दूसरे को मारने की बुद्धि की थी। इससे सिद्ध होता है कि यह परिग्रह महाभयरूप है।।११८४।।

❋ दो सगे भाइयों की कथा ❋

दशार्ण देशमे एकरथ नामका नगर था। उसमे दो सगे भाई रहते थे। दुर्भाग्यवश उनके दरिद्रता आयी। दोनो अपने मामाके समीप गये। उन्होने आठ रत्न दिये और कहा कि इनसे आप अपनी आजीविका का साधन बनाओ। दोनो भाई धनदेव और धनमित्र अपने नगर की ओर आ रहे थे। मार्गमे रत्नोंको अकेले ही हड़पने की दुर्भावना से एक दूसरे को मार डालने का विचार आया, किन्तु कुछ दूर जानेपर सुबुद्धि आयी और बुरे विचार एक दूसरेको बताकर उन्होने रत्नो को नदीमे फेक दिया। उन रत्नो को बड़ी मछलीने निगल लिया। धीवरने जब उस मछली को चीरा तो उसके पेटसे वे रत्न निकले। किन्तु धीवर उनकी कीमत नहीं जानता था अत बाजारमे बेचने आया, कर्म-सयोग वश उन धनदेव धनपुत्र की माताने उनको खरीदा, जब उसे 'ये रत्न हैं,' ऐसा मालूम हुआ तो उसके लोभमे उसने पुत्रोको मारना चाहा, फिर पश्चात्ताप कर उसने उन रत्नोको अपनी लड़की धनमित्राको दिया, रत्नोको पाते ही उसके भी भाव सबको मारने के हुए। फिर सँभल कर माताको मनका बुरा भाव बताया। सबने बैठकर विचार किया कि अहो ! यह रत्न आदि धन परिग्रह अत्यत दु खप्रद है, यह ससार असार है, धिक् है मोह माया को। ऐसा विचार कर वे सभी दीक्षित हो गये। इस प्रकार परिग्रहके ममत्वसे भाइयो की बुद्धि भ्रष्ट हुई थी।

तस्कराणां भयं जातमन्योन्य-द्रविणार्थिनाम्।
मद्ये मांसे विषं घोरं, यत: संयोज्य मारिता:।।११८५।।

अर्थ - एक दूसरे के हिस्से का धन ग्रहण करने की इच्छा वाले चोरो को आपस मे भय उत्पन्न हुआ और उन्होंने शराब तथा मास मे घोर विष मिलाकर एक दूसरे को मार डाला।।११८५।।

❋ चोरों की कथा ❋

धनदत्त, धनमित्र आदि बहुतसे सेठ-पुत्र व्यापारके लिए बहुतसा धन लेकर एकवनसे जा रहे थे। मार्गमें

चोरोने उन्हें लूट लिया। विशाल धनको प्राप्तकर उन चोरोंकी नियत बिगड़ गयी। सबके मनमें यह भाव आया कि मुझ अकेले के हाथ सब धन आ जाय। रात्रिमें भोजन करने बैठे, उन्हींमेंसे एक ने खानेके लिये लाये गये निंद्य मासमें विष मिला दिया। सबने उसे खा लिया। यहाँतक कि जिसने विष मिलाया था उसने भी भ्रमवश खा लिया। एक सागरदत्त नामके वैश्यपुत्रने नहीं खाया था, वह बच गया। उसने धनलोभके दुष्परिणामको साक्षात् देखा था इससे उसको वैराग्य हुआ। सब धन वहीं पड़ा रहा, एक बचा हुआ सागरदत्त मुनिके निकट दीक्षित हो गया। इसप्रकार एक धनलिप्सा सर्व चोरों की मृत्युका कारण बनी, ऐसा जानकर धनकी लालसा का त्याग करना चाहिए।

सङ्गो महाभयं यस्माच्छ्रावकेण कदर्थितः।
निहितेऽपहृते द्रव्ये, तनूजेन तपोधनः ॥११८६॥

अर्थ - परिग्रह महा भयरूप है, क्योंकि भूमि में गाड़े गये धन को उनका स्वयं का पुत्र ही ले गया, किन्तु उस सत्पुरुष श्रावक को भी साधु पर सन्देह हो गया कि मेरा धन ये ही ले गये हैं और उस श्रावक ने कथाओ द्वारा साधु पर अपना सन्देह प्रगट कर उन्हे व्याकुल किया॥११८६॥

❋ धनलोभी जिनदत्तकी कथा ❋

उज्जैन नगरीमे एक जिनदत्त नामका सेठ था। उसके पुत्रका नाम कुबेरदत्त था। एक दिन नगरके श्मशानमें मणिमाली यति मृतक शय्यासे ध्यान कर रहे थे। एक कापालिक विद्यासिद्धि के लिये वहाँ आया और मुनिराजको मृतक समझकर उनके मस्तकका तथा अन्य दो शवोंके मस्तकोंका चूल्हा बनाकर उसने आग जलायी। उस चूल्हे पर हाडी चढाकर चावल पकाने लगा। मुनिराज आत्मध्यानमे लीन हुए। वे आत्मा और शरीरके पृथक्-पृथक्पनेका विचार करने लगे किन्तु उनका मस्तक अकस्मात् हिल गया। उससे हाडी गिर पड़ी चूल्हा बुझ गया और कापालिक डरकर भाग गया। प्रात हुआ। किसीने मुनिको कष्टमय स्थितिमें देखा और जिनदत्त सेठको वह समाचार दिया। सेठ अतिशीघ्र वहाँ पहुँचा। मुनिकी स्थितिको देखकर उसको बहुत दु ख हुआ। तत्काल मुनिराजको अपने गृह चैत्यालयमे ले गया। चतुर वैद्यकी सलाहसे लाक्षामूल तेल द्वारा मुनिराजका जला हुआ मस्तक ठीक हो गया। जिनदत्तने गुरुकी महान् वैयावृत्य की। चातुर्मासका समय अत्यत निकट था अत· सेठकी प्रार्थनापर मुनिने गृह चैत्यालयमे वर्षा-योग स्थापित किया। किसी दिन अपने व्यसनी पुत्र कुबेरदत्तसे धनकी रक्षा हेतु सेठने मुनिराजके बैठनेके स्थानमे धन गाड़ दिया। इस बातको कुबेरदत्तने छिपकर देखा था, अत· मौका पाकर उसने धनको उक्त स्थानसे निकाल कर अन्यत्र गाड़ दिया। वर्षायोग पूर्ण होनेपर मुनिराज विहार करते हैं, सेठने उनके जाते ही खोदकर धनको देखा तो मिला नहीं। अब उसको भ्रम हुआ कि मुनिने धनको चुराया है। वह मुनिराजके निकट जगलमे पहुँच जाता है और कथाओंके माध्यमसे धनहरणकी बात कहता है। मुनिराज भी समझ जाते हैं और वे भी कथाओं द्वारा अपनी निर्दोषता कहते हैं। उन कथाओंके, नाम-दूत, ब्राह्मण, व्याघ्र, बैल, हाथी, राजपुत्र, पथिक, राजा, सुनार, वानर, नेवला, वैद्य, तपस्वी, चूतवन, लोक और सर्प। इन कथाओको सेठपुत्र कुबेरदत्त भी सुन रहा था। मुनिराजके प्रति होनेवाले पिताके दुर्भावको जानकर उसको वैराग्य हुआ। उसने पिताको सब सत्य वृत्तात कह दिया कि मैने धनको खोदके निकाला है। उसने धनलिप्साकी बड़ी भारी निंदा की। जिनदत्तको भी बडा पश्चात्ताप हुआ। दोनो पिता-पुत्रने मुनिराजसे क्षमा मागी और उन्हींके निकट जिनदीक्षा ग्रहण की।

वर्षं वातं क्षुधं तृष्णां, तापं शीतं श्रमं क्लमम्।
दुर्भुक्तं सहतेऽर्थार्थी, भारं वहति पुष्कलम्॥११८७॥

अर्थ - परिग्रह का इच्छुक मनुष्य वर्षा, वायु, क्षुधा, तृषा, ताप, शीत, परिश्रम, दुख, खोटा भोजन तथा बहुत भार ढोना आदि अनेक कष्ट भोगता है॥११८७॥

कृषति दीव्यति सीव्यति खिद्यते, वपति पश्यति त्रस्यति याचते।
धमति धावति वल्गति सेवते, रुदति ताम्यति नृत्यति गायते॥११८८॥

अर्थ - कुलीन भी धनार्थी मनुष्य खेती करता है, क्रीड़ा करता है, वस्त्र सींता है, खेदित होता है, धान्य बोता है, दूसरो की ओर आशा से देखता है, घबराता है, याचना करता है, अग्नि धोंकता है, कुछ पाने की इच्छा से आगे-पीछे दौड़ता है, यद्वा-तद्वा बकता है, सेवा करता है, दीनता पूर्वक रोता है, दुखी होता है, नाचता है और गाता है॥११८८॥

पठति जल्पति लुण्ठति लुम्पते, हरति रुष्यति नश्यति लिख्यते।
रजति कस्यति दहति सिञ्चति, (लवति) मुह्यति वन्दते॥११८९॥

अर्थ - पढता है, चिल्लाता है, डाकू के सदृश दूसरों का धन लूटता है, धन लेकर छिपता है, अपहरण करता है, रोष करता है, सन्तुष्ट होता है, नष्ट हो जाना चाहता है, किसी का लेखन-कार्य करता है, रक्षक बनता है, कृषक बनता है, जलता है, बगीचे आदि मे जल सींचता है, लकडी आदि काटता है, मोहित होता है और धन के लिए जिस किसी को नमस्कार आदि करता है॥११८९॥

श्वसिति रोदिति माद्यति लज्जते, हसति तृष्यति दृप्यति नृत्यति।
तुदति गृध्यति रज्यति सज्जते, द्रविणलुब्धमनाः कुरुते न किम्॥११९०॥

अर्थ - जोर-जोर से श्वास लेता है, रोता है, मतवाला हो जाता है, लज्जित होता है, हँसता है, तृष्णा करता है, देखता है, नृत्य करता है, खेद करता है, गृद्धि करता है, रजित होता है और कभी अपने आप को सज्जित करता है। इस प्रकार जिसका मन धन मे लुब्ध हुआ है वह क्या-क्या नहीं करता है॥११९०॥

क्रीणाति वयते वस्त्रं, गो-महिष्यादि रक्षति।
अर्थार्थी लोह-काष्ठास्थि-स्वर्णकर्म करोति ना॥११९१॥

अर्थ - धनार्थी मनुष्य वस्त्र बेचता है, वस्त्र बुनता है, गाय-भैंसादि पशुओ की रक्षा करता है, लौह कर्म, काष्ठ कर्म, अस्थि कर्म एव स्वर्ण कर्म आदि करता है॥११९१॥

रुधिर-कर्दम-दुर्गममाहवं, निशित-शस्त्र-विदारित-कुञ्जरम्।
हरिपुरस्सर जन्तु-विभीषणं, भ्रमति वित्त-मना गहनं वनम् ॥११९२॥

अर्थ - पैने-पैने शस्त्रों से जहाँ हाथी विदारित किये गये हैं और जो रुधिर के कीचड़ से दुर्गम है, धनार्थी मनुष्य ऐसे रणक्षेत्र मे भी प्रवेश करता है तथा जिसका मन धन मे लुब्ध है वह मनुष्य शेर-व्याघ्र आदि बहुत से जगली पशुओ से भीषण गहन-वन मे भी प्रवेश करता है॥११९२॥

विपुल-वीचि-विगाढ-नभस्तलं,
मकर-पूर्वक-वार्चरसंकुलम्।
जलनिधिं द्रविणार्जन-लालसो-
विशति जीवित-निस्पृह-मानसः ॥११९३॥

अर्थ - धनार्जन में आसक्त मन वाला व्यक्ति मगर-मच्छ आदि भयकर जलचर जीवो से व्याप्त एव विशाल लहरो द्वारा आकाश को ही छू रहा है मानो, ऐसे समुद्र मे अपने जीवन से ही निस्पृह होता हुआ, प्रवेश कर जाता है॥११९३॥

निधनमृच्छति तत्र यदेकको,
भवति कस्य तदा धनमर्जितम्।
विविध-विघ्न-विनाशित-विग्रहो,
जनतयाखिलयापि जुगुप्सते॥११९४॥

अर्थ - धनार्थी पुरुष एकाकी ही धन कमाता हुआ जब मरण को प्राप्त हो जाता है तब उसका वह अर्जित धन किसका होता है ? नाना प्रकार की विघ्न बाधाओ द्वारा नष्ट कर डाला है अपने ही शरीर को जिसने ऐसा पुरुष तो समस्त जनता द्वारा निन्दनीय ही होता है॥११९४॥

लुनीते धुनीते पुनीते कृणीते, न दत्ते न भुङ्क्ते न शेते न विंत्ते।
सदाचारवृत्तेर्बहिर्भूत-चित्तो, धनार्थी विधेयं विधत्ते निकृष्टम्॥११९५॥

अर्थ - धनार्थी मनुष्य खेत की फसल काटता है, रुई आदि धुनता है, खलिहान आदि साफ करता है, धान्य बेचता है, अपना धन न तो दान मे या पुत्रादि को देता है और न स्वय खाता है, न सोता है एव न ज्ञान प्राप्त कर कुछ जान ही पाता है। वह धनार्थी तो सदाचार वृत्ति से बहिर्भूत चित्तवाला होकर नि कृष्ट कार्य ही करता रहता है॥११९५॥

गिरि-कन्दर-दुर्गाणि, भीषणानि विगाहते।
अकृत्यमपि वित्तार्थं, कुरुते कर्म मूढ-धीः॥११९६॥

अर्थ - मूढ बुद्धि मनुष्य धन के लिए भीषण गिरिकन्दराओ मे और दुर्गादि मे प्रवेश कर जाता है तथा और अनेक प्रकार अकृत्य कर-कर के धन कमाता है॥११९६॥

जायते धनिनो वश्यः कुलीनोऽपि महानपि।
अपमानं धनाकाङ्क्षी, सहते मानवानपि॥११९७॥

अर्थ - उत्तम कुल मे जन्म लेकर भी, स्वय महान् होते हुए भी तथा स्वाभिमानी होते हुए भी धन की वांछा से धनाढ्य पुरुषों के आधीन होकर अपमान सहता है॥११९७॥

काम्पिल्य-नगरेऽर्थार्थं, परितापं दुरुत्तरम्।
प्राप्य पिण्याकगन्धोऽगाल्लल्लकं नरकं कुधीः॥११९८॥

अर्थ - धन के लिए कठोर परिताप को प्राप्त होकर पिण्याकगन्ध नामकलोभी और कुबुद्धि मनुष्य मर कर लल्लक नामक नरक बिल मे उत्पन्न हुआ ॥११९८॥

❋ पिण्याकगंधकी कथा ❋

कापिल्य नगरमें रत्नप्रभ राजा राज्य करता था। उसी नगरमे एक पिण्याकगध नामका सेठ था। वह करोड़पति होकर भी अत्यत लोभी कृपण और मूर्ख था। न स्वय धनका भोग करता था, न किसी परिवार जन को करने देता था। सब कुछ होते हुए भी खल खाया करता था इसलिये उसका नाम पिण्याकगध पड़ा था। पिण्याक खलीको कहते हैं। यह सेठ उस पिण्याक को सूघकर गध लेकर खाया करता अत पिण्याकगध नामसे पुकारा जाता था। एक दिन राजाने तालाबका निर्माण कराया, उसकी खुदाईमे एक नौकरको लोहेकी सदूक मे बहुतसी सलाइयाँ मिलीं। नौकरने एक-एक करके पिण्याक के यहाँ उन सलाइयोको बेचा। पहले सलाई लेते समय तो उस सेठको मालूम नहीं पडा कि यह सलाई किस धातुकी है, लोहे की समझकर खरीदी। पीछे ज्ञात हुआ किन्तु लोभवश लोहेके मूल्यमे खरीदता रहा। किसी दिन वह अन्यत्र गया हुआ था। जब नौकर सलाई बेचने आया तो सेठके पुत्रने सलाई खरीदनेको मना किया। नौकर दूसरी जगह बेचनेको गया। इतनेमे सिपाहीने उसे पकड़ लिया और राजाके समक्ष उपस्थित किया। नौकर ने सब बात बतादी कि पिण्याकगधको सलाई बेची है और लोहेके भावमें बेची है। राजाको क्रोध आया। उसने सेठका सारा धन छीन लिया। जब पिण्याकगधको अपने धनका नाश होना मालूम हुआ तो अत्यत रौद्रभावसे उसने कुपित होकर अपने पैर काट डाले कि इन पैरोसे मैं यदि दूसरे ग्राम नहीं जाता तो मेरा धन नहीं लुटता। इसतरह पैरों के कट जानेसे तीव्र वेदनाके साथ वह मर गया और छठे नरकके लल्लक नामके तीसरे इन्द्रक बिलमे उत्पन्न हुआ। वहाँ पर भयकर वेदना सहता रहा। इसप्रकार परिग्रहका मोह महान् परितापका कारण है, ऐसा जानकर भव्योको उसका त्याग करना चाहिये।

पिण्याकगधकी कथा समाप्त।

कुर्वतोऽपि परां चेष्टामर्थ-लाभो न निश्चितम्।
सञ्चीयते विपुण्यस्य, नार्थो लब्धोऽपि जातुचित् ॥११९९॥

अर्थ - अत्यधिक पुरुषार्थ करने पर भी धन का लाभ होना निश्चित नही है, तथा पुण्य रहित जीव के कदाचित् कुछ धन हो भी जाय, तो वह सचित नहीं रह पाता, अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है ॥११९९॥

नार्थे सञ्चीयमानेऽपि, पुरुषो जातु तृप्यति।
अपथ्येन यथा व्याधिर्लोभो लाभेन वर्धते ॥१२००॥

अर्थ - कदाचित् धन का सचय हो भी जाय तो भी लोभी पुरुष कभी तृप्त नहीं होता। जैसे अपथ्य सेवन से व्याधि वृद्धिगत होती जाती है, वैसे ही धन-लाभ से पुन पुन लोभ बढ़ता जाता है ॥१२००॥

नदी-जलैरिवाम्भोधिरिन्धनैरिव पावकः।
लोकैस्त्रिभिरपि प्राप्तैर्न, जीवो जातु तृप्यति ॥१२०१॥

अर्थ - जिस प्रकार नदियो से सागर और ईधन से अग्नि तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार तीन लोक की सम्पत्ति प्राप्त हो जाने पर भी लोभी जीव कभी तृप्त नहीं होता है ॥१२०१॥

महाधन-समृद्धोपि, पटहस्ताभिधो वणिक्।
जातस्तृप्तिमनासाद्य, लुब्ध-धीर्दीर्घ-संसृतिः ॥१२०२॥

अर्थ - पटहस्त नामक एक वणिक् महा समृद्धिशाली था किन्तु अत्यधिक लोभबुद्धि होने से निरन्तर धनासक्त रहता था। उसे किंचित् भी सन्तोष नहीं था, अतः धनासक्त अवस्था में ही मरण कर दीर्घ ससारी हुआ॥१२०२॥

❋ फणहस्त-पटहस्त वणिककी कथा ❋

चपापुरीमें राजा अभयवाहन अपनी पुडरीका रानीके साथ सुखपूर्वक राज्य करता था। उस नगरीमें एक महाकजूस लुब्धक नामका सेठ था, सेठानी नागवसु थी। वर्षाऋतुका समय था। रात्रिके समय नदीमे बहकर आयी हुई लकड़ियोंको लुब्धक इकट्ठी कर रहा था। रानी पुडरीकाने इस दृश्यको देखा और लुब्धकको दरिद्री समझ कर राजासे धन देनेको कहा। राजाने पता लगाकर सेठको बुलाया और कहा कि तुम्हें जो द्रव्य चाहिये सो खजानेसे ले जाओ। सेठने कहा-मुझे एक बैल चाहिये, राजाने कहा-गोशालामेंसे जैसा चाहिये वैसा बैल ले जाओ। सेठने उत्तर दिया, राजन् ! मैं जैसा चाहता हूँ वैसा बैल आपकी गौशालामें नहीं है। तब आश्चर्ययुक्त होकर राजाने पूछा कि तुम्हे कैसा बैल चाहिये ? सेठने कहा-मेरे पास एक बैल तो है किन्तु उसका जोड़ा नहीं होनेसे चिंतित हूँ। राजा विस्मित हो उसका बैल देखनेको चला, राजाको घरपर आये देख सेठ-सेठानीने उनका स्वागत किया। तलघरमे स्थित मयूर, हस, सारस, मैना, अश्व, हाथी आदि पशु-पक्षियोके रत्नसुवर्णनिर्मित युगलोको दिखाकर सेठने कहा कि इनमें एक बैल कम है। उसके लिये मैं परेशान हूँ। राजा उसका वैभव देखकर दग रह गया तथा इतने धनके होते हुए भी लकड़ियाँ इकट्ठी करने जैसे निंद्य-कार्यमे प्रवृत्त देखकर उसके चाहकी दाहपर बडा खेद भी हुआ।

राजा जब वापिस जाने लगा तब सेठानी नागवसुने सेठके हाथमे रत्नोंका भरा सुवर्णथाल राजाको भेंटमे देनेके लिये दिया। सेठका सारा रक्त मानों सूख ही गया। इतने रत्नोंके देते समय उसके दोनों हाथ लोभ और क्रोधके मारे काँपने लगे, राजाकी तरफ थाल करते वक्त उसके हाथ नागफणके सदृश राजाको दिखाई पड़े। राजा समझ चुका था कि यह सेठ महालोभी, कृपण, नीच एव निंद्य है। उसके भावोके अनुसार उसके हाथोंका परिवर्त्तन देखकर राजाने उसकी निंद्य भावना एव परिग्रह लोभकी बहुत निंदा की और ''यह फण-हस्त है'' ऐसा उसका नामकरण करके राजा अपने महलमे लौट आया। इधर सेठ धन कमाने हेतु विदेश गया था। वहाँसे लौटते समय समुद्रके मध्य उपार्जित धन के साथ डूब गया और परिग्रहजन्य महालोभ के कारण मर कर नरक चला गया।

हा-हा-भूतस्य जीवस्य, किं सुखं तृप्तितो विना।
आशया ग्रस्यमानस्य, पिशाच्येव निरन्तरम् ॥१२०३॥

अर्थ - जो सदा तृष्णा से व्याकुल रहता है ऐसे हाय-हाय करने वाले धन-लम्पटी को धन प्राप्त हो जाने पर भी तृप्ति के बिना क्या सुख प्राप्त हो सकता है ? जैसे पिशाची से ग्रसित मनुष्य निरन्तर दुखी रहता है, वैसी आशा पिशाची से ग्रस्त मानव धनाढ्य होते हुए भी कभी सुखी नहीं होता ॥१२०३॥

हन्यते ताड्यते बध्यते रुध्यते, मानवो वित्त-युक्तोऽपराधं विना।
पक्षिभिः किं न पक्षी गृहीतामिषः खाद्यते लुञ्च्यते दोष-हीनः परैः ।।१२०४।।

अर्थ - जैसे मास को ग्रहण करने वाला पक्षी निरपराध होते हुए भी मासलोलुपी अन्य पक्षियों के द्वारा नोचा जाता है एव खाया जाता है, वैसे ही लोभी धनाढ्य मनुष्य निरपराध होते हुए भी अन्य धनलोलुपी मनुष्यों के द्वारा घाता जाता है, ताड़ित किया जाता है, बाँधा जाता है और रोका जाता है।।१२०४।।

प्रिया-सवित्री-पितृ-देहजादौ, सदापि विश्वासमनादधानः।
न त्रायमाणः सकलां त्रि-यामां, प्रयाति निद्रां धन-लुब्ध-बुद्धिः ।।१२०५।।

अर्थ - जिसकी बुद्धि धन मे ही आसक्त है वह मनुष्य अपनी प्रिय पत्नी, माता, पिता एव पुत्र-पुत्री आदि में भी विश्वास नहीं करता। तीन प्रहर प्रमाण समस्त रात्रियो मे जाग्रत रहकर स्वय धन की रक्षा में सलग्न रहता है।।१२०५।।

अरण्ये नगरे ग्रामे, गृहे सर्वत्र शङ्कितः।
आधारान्वेषणाकाङ्क्षी, स्व-वशो जायते कदा।।१२०६।।

अर्थ - धनासक्त मनुष्य स्वाधीन कब होता है ? वह सदा धन के आधीन रहता है। वन, नगर, ग्राम एव गृहादि में सदा शकित रहता है कि कोई मेरा धन न चुरा ले। इसीलिए वह धन की रक्षा के आधारभूत स्थान की खोज मे लगा रहता है।।१२०६।।

धीरैराचरितं स्थानं, विविक्तं धन-लालसः।
विहाय भूरि-लोकानां, मध्ये गेहीव तिष्ठति।।१२०७।।

अर्थ - धनासक्त पुरुष, एकान्त मे कोई मेरा धन न चुरा ले इस भय से धीर-वीर महापुरुषो द्वारा सेवित एकान्त स्थान को छोडकर बहुत जन समुदाय के मध्य मे गृहस्थवत् रहता है।।१२०७।।

शब्दं कञ्चिदसौ श्रुत्वा, सहसोत्थाय धावति।
सर्वतः प्रेक्षते द्रव्य, परामृशति मुह्यति।।१२०८।।

अर्थ - धनलुब्ध मानव रात्रि में किंचित् भी शब्द सुनकर एकदम उठता है, सब ओर देखता है, अपने धन को बार-बार टटोलता है और लेकर भागता है। अथवा मूर्छित हो जाता है।।१२०८।।

आरोहति नगं वृक्षमुत्पथेन पलायते।
निघ्नंस्तनुमतो भीतो, ह्रदं विशति दुस्तरम्।।१२०९।।

अर्थ - धनासक्त मनुष्य कहीं पर्वत पर एव वृक्ष पर चढ जाता है, कुमार्ग अर्थात् ऊबड-खाबड मार्ग से भागता-फिरता है, जीव-जन्तुओ का घात करते हुए कहीं भी घुस जाता है और भयभीत होता हुआ कभी अगाध सरोवर मे प्रविष्ट हो जाता है।।१२०९।।

अवशस्य नरस्यार्थो, हठतो बलिभिः परैः।
दायादैस्तस्करैर्भूपैस्त्रायमाणोऽपि लुट्यते।।१२१०।।

अर्थ - अन्य कोई बलवान मनुष्य उसे परवश करके उसका धन बलात् छीन लेते हैं, भाई आदि भागीदार ले लेते हैं, तथा रक्षित किया हुआ भी उसका धन चोर एव राजा आदि के द्वारा लूट लिया जाता है॥१२१०॥

कलिं कलकलं वैरं, कुरुते नाथते परम्।
म्रियते मार्यते लोकैर्हस्यते चार्थलम्पटः॥१२११॥

अर्थ - धन के कारण मनुष्य झगड़ा करता है, बकबक करता है, वैर करता है, दूसरों से धन की याचना करता है, धन-रक्षणार्थ मर जाता है या दूसरों के द्वारा मार दिया जाता है एव अधिक लोभी कृपण की लोक हँसी भी करते हैं॥१२११॥

कृशानु-मूषिकाम्भोभिः, सञ्चितोऽर्थो विनाश्यते।
तत्र नष्टे पुनर्बाढं, दह्यते शोक-वह्निना॥१२१२॥

अर्थ - अत्यधिक प्रयास से सचित धन कभी अग्नि या मूषक या जलादि द्वारा नष्ट हो जाता है। धन नष्ट हो जाने पर वह धनासक्त बहुत अधिक शोक रूपी अग्नि मे जलने लगता है अर्थात् धन का विनाश मनुष्य को तीव्र सन्ताप देता है॥१२१२॥

श्वसिति रोदिति सीदति वेपते, गतवति द्रविणे ग्रहिलोपमः।
कर-निविष्ट-कपोलतलोऽधमो, मनसि शोचति पूत्कुरुतेऽभितः॥१२१३॥

अर्थ - जिसका धन नष्ट हो जाता है, वह मनुष्य जोर-जोर से श्वास लेने लगता है, रोता है, खेद करता है, काँपता है, धन चले जाने पर पागल के समान चेष्टा करता है, कपोलो पर हाथ रखकर वह अधम अपने मन मे चिन्ता करता है और चारो ओर पुकार मारता रहता है॥१२१३॥

अन्तरे द्रव्य-शोकेन, पावकेनेव ताप्यते।
बुद्धिर्मन्दायते बाढं, मुह्यत्युत्कण्ठते तराम्॥१२१४॥

अर्थ - जैसे अग्नि से जला मनुष्य सतापित होता है, उससे भी अधिक अपने अन्तरग मे शोक रूपी अग्नि से वह सन्तापित होता है जिसका धन नष्ट हो जाता है। उसकी बुद्धि मन्द अर्थात् मूढ़ हो जाती है अतः वह कभी मूर्च्छित जैसा हो जाता है और कभी उत्कठित हो जाता है॥१२१४॥

उन्मत्तो बधिरो मूको, द्रव्ये नष्टे प्रजायते।
चेष्टतो पुरुषो मर्तुं, गिरि-प्रपतनादिभिः॥१२१५॥

अर्थ - धन नष्ट हो जाने पर यह मनुष्य पागल हो जाता है, बहिरा एव गूगा हो जाता है, और प्रायः पर्वतादि से गिर कर मरने की चेष्टा करता है॥१२१५॥

परिग्रह हिंसा का आयतन है

चेलादयोऽखिला ग्रन्थाः, संसजन्ति समन्ततः।
सन्ति सन्निहिताश्चित्रास्तस्मिन्नगन्तुकास्तथा॥१२१६॥

अर्थ - वस्त्रादि सर्व परिग्रह चारों ओर से सम्मूर्च्छन जीवों से संसक्त होता है और नाना प्रकार के नये जीव भी उस परिग्रह में उत्पन्न होते रहते हैं॥१२१६॥

बन्धने छोटने छेदने भेदने, पाटने धूनने चालने शोषणे।
वेष्टने क्षालने स्वीकृतौ क्षेपणेऽर्थस्य पीड़ा परा जायते देहिनाम्॥१२१७॥

अर्थ - परिग्रह को बाँधने, छोड़ने, छेदने, भेदने, उखाड़ने, हिलाने, छानने, सुखाने, वेष्टित करने, धोने, पहनने एव फेकने आदि की क्रियाएँ करने मे परिग्रहों में रहने वाले और उसके आस-पास स्थित जीवो को अत्यधिक पीड़ा होती है॥१२१७॥

तेभ्यो निरसने तेषां, ध्रुवा योनि-वियोजना।
दोषा मर्दन-सङ्घट्ट-विताप-मरणादयः॥१२१८॥

अर्थ - परिग्रह अर्थात् वस्त्रादि मे से जब उन जीवो को अलग किया जाता है तब भी वही दोष लगते हैं, क्योंकि वस्त्रो आदि से उन जन्तुओ को दूर करते समय उनका मर्दन, सघटन एव परितापन होता है और योनि स्थान छूट जाने से मरण भी हो जाता है॥१२१८॥

सचित्ता अङ्गिनो घ्नन्ति, स्वयं संसक्त-मानसाः।
गृहीतुर्जायते पापं, तन्निमित्तमसंशयम्॥१२१९॥

अर्थ - परिग्रह मे आसक्त मन वाले दासी-दासादि सचित्त परिग्रह स्वय जीवो का घात करते हैं, तथा उन्हे खेती आदि कार्यों में लगाये रहने से वे जो पापाचरण करते हैं उसका पाप भी स्वामी को नियमत लगता है॥१२१९॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या आशय है ?

उत्तर - इस श्लोक का यह आशय है कि अचित्त परिग्रह से मात्र उसके स्वामी को पापबन्ध होता है, किन्तु सचित्त परिग्रह से दोनो को पापबन्ध होता है। यथा-जो दास-दासी खेती आदि कार्यों में नियुक्त किये जाते हैं वे स्वय भी परिग्रह मे आसक्त होते हैं और अविवेकपूर्ण कार्य करते हैं अत· जीवों का घात भी बहुत होता है, इसलिए उनको कृतजन्य कर्मबन्ध होता है, तथा जो स्वामी उन्हे नियुक्त करता है उसे कारितजन्य कर्मबन्ध होता है।

परिग्रह से इन्द्रियजन्य अभिलाषा उत्पन्न होती है

देहस्याक्ष-मयत्वेन, देह-सौख्याय गृण्हतः।
अक्ष-सौख्याभिलाषोऽस्ति, सकलस्य परिग्रहः॥१२२०॥

अर्थ - शरीर इन्द्रियमय है, क्योंकि यह स्पर्शनादि पाँचो इन्द्रियों का अभिन्नभूत आधार है। वर्षा, हवा एव धूप आदि अनिष्ट स्पर्श से बचाव के लिए एव इन्द्रियजन्य सुख के लिए ही मनुष्य वस्त्रादि ग्रहण करता है। वस्त्रालकार आदि से शरीर को विभूषित कर मनुष्य दूसरे में अभिलाषा उत्पन्न करता है, पश्चात् शरीर ससर्ग से उत्पन्न अनुराग का इच्छुक होकर उसका सेवन करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सर्व परिग्रह अभिलाषा उत्पन्न करता है॥१२२०॥

रक्षण-स्थापनादीनि, कुर्वाणोऽर्थस्य सर्वदा।
निरस्ताध्ययनो ध्यानं, व्याक्षिप्तः कुरुते कथम् ॥१२२१॥

अर्थ - सर्वदा परिग्रह के रक्षण में, रखने-उठाने एव सार-सम्हाल में लगे रहने के कारण मनुष्य का मन उसी में आकुल-व्याकुल रहता है अत· उसका स्वाध्याय छूट जाता है, और जो स्वाध्याय ही नहीं करता वह ध्यान कैसे कर सकता है॥१२२१॥

प्रश्न - परिग्रहवान् यदि स्वाध्याय एव ध्यान नहीं भी कर पाता, तो उसकी क्या हानि है ?

उत्तर - परिग्रह मे संसक्त मनुष्य का मन नियमत विक्षिप्त एव चचल रहता है, अत· परिग्रह स्वाध्याय एव ध्यान नामक तप में विघ्न उत्पन्न करता है, तथा स्वाध्याय और ध्यान के बिना सवर और निर्जरा नहीं होते, सवर-निर्जरा के बिना कर्मों का नाश नहीं होता और कर्मों के नाश बिना ससार-भ्रमण के दुखों से छुटकारा नहीं हो सकता। यही जीव की सबसे बड़ी हानि है।

अर्थ-प्रसक्त-चित्तोऽस्ति, निःस्वो बहुषु जन्मसु।
ग्रासार्थमपि कर्माणि, निन्द्यानि कुरुते सदा॥१२२२॥

अर्थ - जिसका चित्त सदैव परिग्रह मे आसक्त रहता है, वह भव-भव में दरिद्र होता है। एक-एक ग्रास की भीख माँगता है, तथा भोजन-प्राप्ति की इच्छा से जूते बेचना, स्वामी के जूते साफ करना, पालकी उठाना, बोझा ढोना, पगचम्पी करना एव टट्टी-पेशाब आदि साफ करना, इत्यादि नीच कार्य भी उसे करने पड़ते हैं॥१२२२॥

लभते यातनाश्चित्रा, ग्रन्थ-हेतून्भवान्तरे।
संक्लिश्यत्याशया ग्रस्तो, हा-हा-भूतोऽर्थ-लुब्ध-धीः ॥१२२३॥

अर्थ - धनलुब्ध बुद्धि वाला मनुष्य भवान्तरो मे भी धन के लिए अनेक यातनाओं को प्राप्त होता है। तृष्णा से ग्रसित हो धन के लिए हाहाकार करता है और धन की आशा से ग्रस्त हुआ सदा ही सक्लेश करता रहता है॥१२२३॥

यहाँ तक परिग्रह-संचय के दोष कहे। अब परिग्रहत्याग के गुणों का प्रतिपादन करते हैं

अमीभिरखिलैर्दोषैर्ग्रन्थ-त्यागी विमुच्यते।
भूरिभिस्तद्विपक्षैश्च, निलयी-क्रियते गुणैः ॥१२२४॥

अर्थ - परिग्रहत्यागी उपर्युक्त सर्व दोषों से छूट जाता है और उन दोषों के विपरीत वह अनेक गुणों का निलय अर्थात् स्थान बन जाता है॥१२२४॥

प्रश्न - दोषों के विपक्षी गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - परिग्रहासक्त में कृपणता, निन्दा,पाप-सचय, गृद्धता एव दरिद्रतादि दोष होते हैं और परिग्रह-त्यागी में इन दोषों के विपरीत उदारता, कीर्ति, पुण्यसचय, निर्लोभता, निश्चिन्तता, निस्पृहता एवं सम्पन्नतादि गुण होते हैं।

अङ्कुशो गत-सङ्गत्वं, विषयेभ-निवारणम्।
इन्द्रियाणां परा गुप्तिः, पुरीणामिव खातिका ॥१२२५॥

अर्थ - जैसे अकुश हाथी को रोकने में निमित्त है, वैसे ही परिग्रह का त्याग इन्द्रियो के विषयरूपी हाथी को रोकने में निमित्त है। जैसे परिघा (खाई) नगर की रक्षा करती है वैसे ही परिग्रह का त्याग ही परम गुप्ति है। अर्थात् परिग्रह का त्याग राग की उत्पत्ति मे निमित्तभूत इन्द्रियों से आत्मा की रक्षा करता है॥१२२५॥

विषयेभ्यो दुरन्तेभ्यस्त्रस्यति ग्रन्थ-वर्जितः।
अल्प-मन्त्रौषधो मर्त्यः, सर्पेभ्य इव सर्वदा ॥१२२६॥

अर्थ - परिग्रह का त्यागी सदा पचेन्द्रियों के दुरन्त विषयो से उसी प्रकार भयभीत रहता है, जिस प्रकार अल्प औषधि एवं अल्प मत्र वाला मनुष्य सर्पों से भयभीत रहता है॥१२२६॥

प्रश्न - इस दृष्टान्त एव दार्ष्टान्ति का क्या आशय है ?

उत्तर - इसका यह आशय है कि जिस मनुष्य को सर्प का विष दूर करने का ज्ञान नहीं है अथवा जो विष उतारने वाले मन्त्र एव औषधि का प्रयोग करना नहीं जानता, वह मनुष्य सर्पों से युक्त वन आदि में बहुत सावधानी से रहता है। वैसे ही जो निर्ग्रन्थ साधु क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र एव केवल-ज्ञानरूप मन्त्र-विद्या एव औषधि से रहित हैं, अर्थात् जब-तक ये प्राप्त नहीं होते हैं तब-तक राग-द्वेषरूप सर्पों से भरे विषय-रूप वन में उन्हे सावधान होकर रहना चाहिए। कारण कि मन में बाह्य द्रव्य के प्रति जो अनुराग विद्यमान है वह राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले मोहनीय कर्म का सहकारी कारण है, और मोहनीय कर्म ही इस जीव का ससार है, अत बाह्य परिग्रह का त्याग करने पर राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति नहीं होती, रागद्वेष के अभाव मे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि परिग्रह का त्याग ही मोक्ष का उपाय है।

रागो मनोहरे ग्रन्थे, द्वेषश्चास्त्यमनोहरे।
रागद्वेष-परित्यागो, ग्रन्थ-त्यागे प्रजायते ॥१२२७॥

अर्थ - मनोहर इष्ट पदार्थ मे रागभाव होता है और अमनोज्ञ अनिष्ट पदार्थ मे द्वेष भाव होता है, अत परिग्रह का त्याग कर देने से राग-द्वेष का त्याग स्वत हो जाता है॥१२२७॥

प्रश्न - रागद्वेष रूप भाव सत्तास्थित कर्म से होते हैं या परिग्रह से होते हैं ?

उत्तर - कर्मबन्ध का मूल निमित्त रागद्वेषरूप भाव हैं और राग-द्वेष का मूल निमित्त परिग्रह है, कारण कि बाह्य द्रव्य को मन से स्वीकार-अस्वीकार करना अर्थात् इष्ट-अनिष्ट मानना ही रागद्वेष का बीज है अत परिग्रह का त्याग कर देने पर राग-द्वेष का त्याग हो जाता है। परिग्रह रूप सहकारी कारण के अभाव में केवल सत्तास्थित कर्म मात्र से रागद्वेष उसी प्रकार उत्पन्न नहीं होते जिस प्रकार मिट्टी के होने पर भी दण्ड-चक्र आदि सहकारी कारणो के अभाव मे घट की उत्पत्ति नहीं होती।

शीतादयोऽखिलाः सम्यग्, विषह्यन्ते परीषहाः।
शीतादि-वारकं सङ्गं, योगिना त्यजता सदा ॥१२२८॥

अर्थ - शीत-उष्णादि की बाधाओं को निवारण करने वाले वस्त्रादि परिग्रहों का जो साधु नियम से त्याग कर देता है उसके द्वारा सदा शीत, उष्ण, दंशमसक आदि सर्व परीषह भली-प्रकार सहन किये जाते हैं॥१२२८॥

प्रश्न - दुख आने पर परिणामों का सक्लेशित न होना ही परीषहजय है। फिर श्लोक में शीत, उष्ण, दशमसक आदि को परीषहजय कैसे कहा ? शीतोष्णादि पुद्गल के परिणाम हैं या आत्मा के परिणाम हैं ?

उत्तर - शीत, उष्ण, भूख, प्यासादि शब्द तो पौद्गलिक हैं किन्तु इन शब्दों का यहाँ तात्पर्यार्थ है, इनसे होने वाले दुख को सहन करना। यही परीषहजय है और यह परीषहजय ही कर्मों की निर्जरा का उपाय है।

साधुजन कर्मों की निर्जरा के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। "तपसा निर्जरा च" एव "पूर्वोपात्त-कर्म-निर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा" इन आगम वाक्यो से सिद्ध है कि निर्जरा के मुख्य हेतु तप और परीषहजय हैं। गृह, वस्त्रादि परिग्रह का त्याग कर देने से एव अनशन, अवमोदर्य आदि करने से शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि की बाधाओ से होने वाले कष्ट स्वत और सहज ही सहन हो जाते हैं अत परीषहजय से होने वाली कर्मनिर्जरा में परिग्रह त्याग को महत्त्व दिया गया है।

शरीर के ममत्व का त्याग

शीत-वातातपादीनि, कष्टानि सहते यत:।
क्रियतेऽनादरो देहे, नि:सङ्गेन तत: परम्॥१२२९॥

अर्थ - यत परिग्रह त्यागी साधु शीत, वायु, आतप, डाँसमच्छर आदि के अनेक कष्ट सहता है, उससे उसके शरीर मे भी अनादरभाव प्रगट होता है। अर्थात् कष्ट सहन के अभ्यास से शरीर मे ममत्व नहीं रहता॥१२२९॥

प्रश्न - शरीर में अनादर भाव रखने का क्या अर्थ है?

उत्तर - समस्त हिंसा आदि से जो असयम होता है उसका मूल कारण शरीर का ममत्वभाव ही है। अर्थात् जिस साधु का शरीर में आदरभाव है वह असयम से नहीं बच सकता, क्योकि शरीरजन्य ममत्व की पूर्ति के लिए उसे किसी-न-किसी रूप मे परिग्रह ग्रहण करना ही होगा, किन्तु जब शरीर से ममत्वभाव दूर हो जाता है तब हिंसादि सर्व पापो का त्याग हो ही जाता है अत शरीर मे अनादर भाव होने का आशय है सर्व परिग्रहो में अनादर भाव होना।

व्याक्षेपोस्ति यतस्तस्य, न ग्रन्थान्वेषणादिषु।
ध्यानाध्ययनयोर्विघ्नो, नि:सङ्गस्य ततोऽस्ति नो॥१२३०॥

अर्थ - मुनि के धन आदि परिग्रहों का अन्वेषण आदि करने रूप क्रियाओं मे व्याकुलता नहीं रहती अत उस नि:सग मुनि के ध्यान और अध्ययन मे कोई विघ्न बाधा उत्पन्न नहीं होती॥१२३०॥

प्रश्न - श्लोक में आये हुए "आदि" शब्द से अन्य क्या-क्या ग्रहण किया जा सकता है ?

उत्तर - परिग्रह के अन्वेषणादि के निमित्त से जो-जो अध्यवसान बनते हैं वे सभी "आदि" शब्द से ग्रहण किये जा सकते हैं। यथा - इष्ट परिग्रह की खोज मे अनिर्वचनीय कष्ट होता है, कदाचित् इष्ट वस्तु मिल

भी जाय तो उसके स्वामी को खोजने मे कष्ट होता है, स्वामी भी मिल जाय तो उससे याचना करनी पड़ती है। याचना करने पर वस्तु मिल जाय तो सन्तोष और आह्लाद होता है, न मिलने पर दीनता के भाव बनते हैं, मिल जाने पर उसे यथास्थान ले जाने मे, सस्कार करने मे, पश्चात् उसकी रक्षा करने मे अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं। रक्षा करते हुए भी यदि वह वस्तु कहीं चली गयी या कोई ले गया, तो भी नाना प्रकार की चिन्ता होती है कि वह मेरी अभिलषित वस्तु कहाँ गई ? कहाँ मिलेगी ? यहाँ कौन-कौन आया था ? कौन ले गया ? इस व्याकुलता मे विवेकहीन होता हुआ कभी-कभी पूज्य एव सज्जन पुरुषो पर भी सन्देह कर बैठता है, इतना ही नहीं उनसे पूछ भी लेता है कि मेरी वस्तु आप ने उठाई है क्या ? इत्यादि अध्यवसान ''आदि'' शब्द से ग्रहण हो जाते हैं।

ये सब परेशानियाँ निष्परिग्रही के नहीं होती, अत. चित्त मे किसी प्रकार की व्याकुलता न होने से निर्ग्रन्थ साधु के शास्त्र-स्वाध्याय और ध्यान निर्विघ्न सम्पन्न होते हैं। सब तपो मे स्वाध्याय तथा ध्यान प्रधान तप है और इन तपो की सिद्धि का उपाय परिग्रहत्याग है।

दर्शितास्ति मन:शुद्धि:, सङ्ग-त्यागेन तात्त्विकी।
सङ्गासक्तमना जातु, सङ्ग-त्यागं करोति किम् ॥१२३१॥

अर्थ - परिग्रह के त्याग से मन की तात्त्विकी अर्थात् यथार्थ शुद्धि प्रगट होती है, क्योंकि जिसका मन परिग्रह में आसक्त रहता है वह परिग्रह त्याग करने का कभी विचार भी कर सकता है क्या ? नहीं कर सकता ॥१२३१॥

नि:सङ्गे जायते व्यक्त, कषायाणां तनू-कृति:।
कषायो दीप्यते सङ्गैरिन्धनैरिव पावक: ॥१२३२॥

अर्थ - जैसे लकड़ी आदि ईंधन डालने से अग्नि वृद्धिंगत होती है वैसे ही परिग्रहो से कषाय वृद्धिगत होती है, अत परिग्रही की कषाये तीव्र होती हैं और परिग्रह-रहित नि सग मुनि मे कषायो की कृशता व्यक्त होती है ॥१२३२॥

लघु: सर्वत्र नि:सङ्गो, रूपं विश्वास-कारणम्।
गुरु: सर्वत्र सग्रन्थ:, शङ्कनीयश्च जायते ॥१२३३॥

अर्थ - अपरिग्रही मुनि आने-जाने मे सर्वत्र लघु/हल्का या भार-रहित होता है और परिग्रही परिग्रह के भार से भारी एव परिग्रह के रक्षणादि की चिन्ता से सदा चिन्तित रहता है। निर्ग्रन्थ साधु का नग्न दिगम्बर रूप विश्वासकारी होता है और परिग्रहधारी को देख कर लोग शका करते हैं कि यह वस्त्रों मे कुछ शस्त्र छिपाकर लाया है ? कुछ उपद्रव करेगा ? या हमारा धन वस्त्रो मे छिपाकर ले जायेगा ? ॥१२३३॥

प्रतिबन्ध-प्रतीकार-प्रतिकर्म-भयादय:।
निर्ग्रन्थस्य न जायन्ते, दोषा: संसार-हेतव: ॥१२३४॥

अर्थ - संसार के हेतुभूत, प्रतिबन्ध, प्रतिकार, प्रतिकर्म एवं भयादि सर्वदोष निर्ग्रन्थ साधु को स्पर्श नहीं कर पाते। अर्थात् निर्ग्रन्थ साधु इन दोषों से रहित होते हैं॥१२३४॥

प्रश्न - प्रतिबन्ध, प्रतिकार, प्रतिकर्म एवं भयादि दोषों के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - आने-जाने में रुकावट होना, अर्थात् पराधीन होना प्रतिबन्ध है। कषाय के वशीभूत हो किसी से बदला लेना, या उससे कोई बदला ले वह प्रतिकार है और "यह कार्य तो पहले कर लिया है, इसको अब पीछे करूँगा" ऐसे विचार को प्रतिकर्म कहते हैं तथा "मेरा धन कोई चुरा लेगा" यह भय है। ऐसे अनेक दोष और भी हैं जो परिग्रही मन में सदा विद्यमान रहते हैं किन्तु परिग्रहत्यागी इन दोषों से सदा अलिप्त रहते हैं।

परिग्रहत्याग से महान् सुख होता है

महाश्रमकरे भारे, रथसाद् भारवानिव।
निरस्ते सकले ग्रन्थे, निर्वृतो जायते यतिः ॥१२३५॥

अर्थ - जैसे भार से लदा हुआ मनुष्य महाश्रम के कारणभूत भार को उतार कर सुखी हो जाता है, वैसे ही सकल परिग्रह का त्याग कर देने पर साधु भी निर्वृत्त अर्थात् शान्त और सुखी हो जाता है॥१२३५॥

प्रश्न - सुख का क्या लक्षण है ?

उत्तर - बाधा का अभाव ही सुख का लक्षण है। जैसे लोक में भी भोजन-पान के द्वारा भूख-प्यास की बाधा का शमन हो जाने से जो स्वस्थता उत्पन्न होती है उसी को सुख कहा जाता है।

भवन्तो भाविनो भूता, ये भवन्ति परिग्रहाः।
जहाहि सर्वथा तांस्त्वं, कृत-कारित-मोदितैः ॥१२३६॥

अर्थ - (निर्यापकाचार्य क्षपक को उपदेश दे रहे हैं कि देखो ! परिग्रह रखने से दोनों लोको मे बहुत दोष होते हैं अत) तुम वर्तमान मे जो परिग्रह है, जो भूत मे था और भविष्य मे होगा उस सबका मन, वचन, काय एव कृत-कारित और अनुमोदना से सर्वथा त्याग कर दो॥१२३६॥

प्रश्न - वर्तमान में विद्यमान परिग्रह दोष का अर्थात् कर्मबन्ध का कारण है, किन्तु अतीत एव अनागत का परिग्रह कर्मबन्ध का कारण कैसे हो सकता है जिससे उसका त्याग कराया जा रहा है?

उत्तर - अतीतगत परिग्रह नष्ट हो जाने से या उसका वियोग हो जाने से यद्यपि उसके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा है फिर भी 'अमुक वस्तु मेरी थी' या मेरे पास थी, या अमुक ने चुरा ली या तोड़ दी थी, इत्यादि रूप से उसका स्मरण होना, उसमें अनुराग होना, ये सब अशुभ परिणाम हैं अत. यही कर्मबन्ध के कारण हैं, अत गत वस्तु का स्मरण मत करो और तज्जन्य अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'आगामी काल में मेरे पास अमुक धन होगा' ऐसा चिन्तन भी मत करो क्योंकि यह भी कर्मबन्ध का कारण है।

यावन्तः केचन ग्रन्थाः, सम्भवन्ति विराधकाः।
निर्वृत्तः सर्वथा तेभ्यः, शरीरं मुञ्च निःस्पृहः ॥१२३७॥

अर्थ - हे क्षपक ! इस लोक में आराधना, समाधि एवं रत्नत्रय की विराधना करने वाले जितने भी परिग्रह हैं उन सबको छोड़ो, पश्चात् नि स्पृह होकर शरीर को छोड़ो ॥१२३७॥

इत्थं कृत-क्रियो मुञ्च, विषयं सार्वकालिकम्।
तृष्णामाशां त्रिधा सङ्गं, ममत्वं त्यज सर्वदा ॥१२३८॥

अर्थ - इस प्रकार आराधना सम्बन्धी समस्त क्रियाओं को अर्थात् आहार, शरीर आदि के त्यागरूप जो कर्तव्य हैं उन्हे जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीनो काल सम्बन्धी परिग्रहो में एव उनके विषयो मे मन, वचन और कायसे तृष्णा, आशा, सग एव ममत्व को सर्वथा छोड़ दो ॥१२३८॥

प्रश्न - तृष्णा, आशा, सग, ममत्व एव मूर्च्छा किसे कहते हैं ?

उत्तर - ये 'इष्ट धनादि पदार्थ मुझ से कभी और किंचित् भी अलग नहीं होने चाहिए' इस प्रकार की अभिलाषा को तृष्णा कहते हैं। ये मनोज्ञ पदार्थ मुझे चिरकाल तक प्राप्त होते रहे, ऐसे परिणामो को आशा कहते हैं। परिग्रह मे अत्यधिक आसक्ति रूप परिणामो का नाम सग है। 'ये पदार्थ मेरे योग्य है और मैं इनका भोक्ता हूँ' ऐसा सकल्प ममत्व है और पदार्थ के प्रति होने वाली अनुराग युक्त आसक्ति को मूर्च्छा कहते हैं।

परिग्रहत्याग से इसी भव में अतिशय सुख प्राप्त होता है

समस्त-ग्रन्थ-निर्मुक्तः, प्रसन्नो निर्वताशयः।
यत् प्रीति-सुखमाप्नोति, तत्कुतश्चक्रवर्तिनः ॥१२३९॥

अर्थ - बाह्य और अभ्यन्तर समस्त परिग्रह से जो निर्मुक्त है, परिग्रह की चिन्ता से रहित होने के कारण जो प्रसन्न है एव आगामी काल सम्बन्धी व्याकुलता न होने से जो निर्वृत्ताशय है, उस साधु को जो परम प्रीति एव सुख प्राप्त होता है, वह प्रीति और वह सुख चक्रवर्ती को कहाँ है।।१२३९॥

चक्रवर्ती का सुख कम क्यों है ? इसका कारण

गृद्ध्याकाङ्क्ष-कारण सेवते यच्चक्री सौख्य राग-पाकं वितृप्ति।
सौख्यस्येदं नास्त-सङ्गस्य तुल्यं, स्वस्थोऽस्वस्थैः सौख्यमाप्नोति कुत्र ॥१२४०॥

अर्थ - चक्रवर्ती जो विषय-सुख भोगता है वह लम्पटता को उत्पन्न करता है, काक्षा की वृद्धि का कारण है, रागरूप फल वाला है और अतृप्तिकारक है। चक्रवर्ती के ऐसे सुख की तुलना निष्परिग्रही मुनिराज के आत्मीक सुख के साथ कदापि नहीं हो सकती। जैसे नीरोग पुरुष जो सुख प्राप्त करता है क्या वैसा ही सुख रोगी पुरुष प्राप्त कर सकता है ? नहीं। वैसे ही निर्ग्रन्थ मुनि के आत्मीक, वीतरागरूप तथा सहज शान्त स्वभावी सुख को चक्रवर्ती प्राप्त कर सकता है? नहीं॥१२४०॥

दुःखानि नश्यन्ति शर्माणि पुष्यन्ति, कर्माणि त्रुट्यन्ति चित्राणि सङ्गे।
अगृहीते यतःसंयतस्यापि हेयस्ततः सर्वदासौ पटिष्ठेन पुंसा ॥१२४१॥

इति परिग्रहत्यागपचम व्रतम् ॥

अर्थ - परिग्रह ग्रहण नहीं करने पर अथवा परिग्रह का सर्वदा त्याग कर देने पर मुनिजनो के समस्त दुख नष्ट हो जाते हैं, सुख-शान्ति की पुष्टि होती रहती है एवं अनेक कर्मों के बन्धन टूट जाते हैं अत: सयत मुनि के लिए परिग्रह सर्वथा हेय है। चतुर मनुष्यो द्वारा भी परिग्रह सर्वदा त्याज्य है॥१२४१॥

इस प्रकार परिग्रहत्याग नामक पाँचवें महाव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ॥

महाव्रत शब्द की निरुक्ति एवं अन्वर्थता

साधयन्ति महार्थं यन्महद्भिः सेवितानि यत्।
महान्ति यत्स्वयं सन्तो, महाव्रतान्यतो विदुः॥१२४२॥

अर्थ - क्योकि ये असयम के निमित्त से होने वाले नवीन कर्म समूह के निवारण रूप महान् प्रयोजन को साधते हैं या महापुरुषार्थ स्वरूप हैं अत इन्हें महाव्रत कहते हैं। क्योंकि तीर्थंकर एव गणधरादि जैसे महापुरुषों के द्वारा इनका आचरण किया जाता है अत ये महाव्रत हैं। और क्योकि ये हिंसादि पापों के त्याग रूप होने से स्वय में महान् हैं अत इन्हे महाव्रत कहते हैं॥१२४२॥

प्रश्न - महाव्रतरूप परिणाम क्यो और कैसे बनते हैं तथा ये स्वय मे महान् कैसे हैं ?

उत्तर - नोआगमभाव व्रत की अपेक्षा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के साथ चारित्रमोह के क्षयोपशम या उपशम या क्षय से जीव के जो हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम बनते हैं कि मैं जीवन पर्यन्त नौ कोटि से हिंसा नहीं करूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, बिना दिया हुआ दाँत साफ करने वाला तृण भी ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन नहीं करूँगा और किंचित् भी परिग्रह स्वीकार नहीं करूँगा। ऐसे ये पाँच महाव्रत हैं। ये महाव्रत हिंसादि पापो से विरतिरूप होने के कारण शुद्ध चिद्रूप स्वरूप होते हैं अत स्वय मे महान् हैं।

महाव्रतों की रक्षा के उपाय

रक्षणाय मता तेषां, निवृत्ती रात्रि-भुक्तितः।
राद्धान्त-मातरश्चाष्टौ, सर्वाश्चापि च भावनाः॥१२४३॥

अर्थ - सिद्धान्त मे पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन से निवृत्ति, आठ प्रवचन मातृका और सभी भावनाएँ कही गई हैं॥१२४३॥

प्रश्न - रात्रिभोजननिवृत्ति क्यो कही गई है ?

उत्तर - रात्रिभोजन करने से जिनेन्द्राज्ञा का लोप होता है। हिंसा होती है, क्योंकि दिन मे भी जिनका परिहार कठिन होता है उन त्रस-स्थावरजीवो का घात रात्रि में भिक्षार्थ भ्रमण करने पर अवश्यमेव होने की सम्भावना होती है, अत. एषणा समिति का पालन नहीं होता। रात्रि में दाता के आवागमन का मार्ग, आहार रखने का स्थान, उच्छिष्ट गिरने का स्थान एव दाता द्वारा दिये गये आहार का शोधन हो पाना अशक्य है। अत· रात्रिभोजन करने से हिंसा पाप अवश्यम्भावी है और जहाँ हिंसा पाप है वहाँ अन्य चार पाप भी होते हैं, किन्तु रात्रिभोजनत्याग करने से सब व्रत सम्पूर्ण रीत्या सुरक्षित रहते हैं।

प्रश्न - आठ प्रवचन माता कौन-कौन हैं और इन्हें व्रत की रक्षक कैसे कहा जा रहा है ?

उत्तर - रत्नत्रय को प्रवचन कहते हैं और पाँच समिति एव तीन गुप्ति इन आठ को प्रवचन माता कहते हैं। जैसे माता अपने पुत्र का उपाय से रक्षण करती है वैसे ही ये समिति और गुप्ति पाँच महाव्रतों का रक्षण करती हैं।

प्रश्न - भावना किसे कहते हैं और ये कितनी होती हैं ?

उत्तर - वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम और चारित्रमोह के उपशम या क्षयोपशम की अपेक्षा जो आत्मा के द्वारा भाई जाती हैं या बार-बार जिनका चिन्तन किया जाता है उन्हें भावना कहते हैं। प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। इस प्रकार ये पच्चीस भावनाएँ भी महाव्रतो का रक्षण करती हैं।

प्रश्न - व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर - "मैं आमरण पाँचों पाप नहीं करूँगा" आत्मा मे इस प्रकार का जो परिणाम उत्पन्न होता है उसे व्रत कहते हैं। अथवा चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर हिंसादि परिणामो का अभाव होता है, उसे अहिंसादिव्रत कहते हैं।

जैसे दुर्ग के सद्भाव मे राजा का रक्षण होता है और दुर्ग के अभाव मे राजा का नाश होता है। वैसे ही रात्रिभोजनत्याग, अष्ट प्रवचन माता और भावनाओ के सद्भाव मे आत्मा हिंसादि पापो से परावृत्त होता है और इनके अभाव मे यह आत्मा इन पापो से परावृत्त नहीं होता, अत आचार्य ने इन्हें व्रतरक्षणार्थ अर्थात् व्रतो की रक्षक माना है।

प्रश्न - रक्षक किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसके नहीं होने पर जो नष्ट हो जाता है और जिसके होने पर जो नष्ट नहीं होता वह उसका रक्षक कहा जाता है।

रात्रिभोजन से हानि

हिसादीनां मुनेः प्राप्तिः, पञ्चानां सह-शङ्कया।
विपत्तिर्जायते स्वस्य, रात्रिभुक्तेस्तथा स्फुटम्॥१२४४॥

अर्थ - रात्रि मे आहार-पान करने से मुनि को शका बनी रहती है कि मेरे से हिसादि पाप तो नहीं हो रहे हैं ? इसके साथ-साथ उसे पाँचो पापो का दोष लगता है और रात्रि मे आहारार्थ करते हुए स्वय साधु को ढूँठ, कण्टक एव सर्पादि से विपत्ति का सामना करना पड़ सकता है॥१२४४॥

प्रवचन मातृका के अन्तर्गत मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का लक्षण

मनसो दोष-विश्लेषो, मनोगुप्तिरितीष्यते।
वाग्गुप्तिश्चाप्यलीकादेर्निवृत्तिर्मौनमेव च॥१२४५॥

अर्थ - मन के रागादि दोष नष्ट होना मनोगुप्ति है और असत्य से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना वचन गुप्ति है॥१२४५॥

प्रश्न - "मन की रागादि से निवृत्ति होना मनोगुप्ति है" मनोगुप्ति का ऐसा लक्षण क्यों कहा गया है?

उत्तर - यहाँ मन शब्द से नोइन्द्रियजन्य मति का ग्रहण किया गया है। यह मति आत्मा में रागादि परिणामों के साथ एक ही काल में प्रवृत्तिशील होती है। विषयो के अवग्रहादि ज्ञान बिना रागद्वेष में प्रवृत्ति नहीं होती, यह अनुभवसिद्ध है और जो मानसज्ञान वस्तुतत्त्व के अनुसार होता है, उस ज्ञान के साथ रागद्वेष नहीं होते यह बात आत्म-साक्षिक है। अत. यह सिद्ध हुआ कि तत्त्व को ग्रहण करने वाले मन का रागादि भावों के साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है। इसीलिए ये मन की रागादि से निवृत्ति को मनोगुप्ति कहा गया है।

प्रश्न - मन और ज्ञान का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर - 'मन' शब्द ज्ञान का उपलक्षण है, अत रागद्वेष की कालिमा से रहित ज्ञान मात्र मनोगुप्ति है। यही कारण है कि जब आत्मा इन्द्रियज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान या मन पर्ययज्ञान रूप से परिणत होती है उस समय भी मनोगुप्ति होती है।

अथवा जो आत्मा पदार्थों को जानता है वह मन है और उस मन का रागद्वेष परिणमन नहीं करना मनोगुप्ति है।

प्रश्न - वचन गुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - विपरीत अर्थ की प्रतिपत्ति मे निमित्तभूत और दूसरो के दुख की उत्पत्ति मे निमित्तभूत जो वचन अधर्ममूलक हैं उनसे निवृत्ति करना वचन गुप्ति है।

प्रश्न - वचन जो पौद्गलिक हैं, वे आत्मा के परिणाम नहीं हैं फिर अधर्म मूलक वचन-निवृत्ति को वचनगुप्ति कैसे कहा जा रहा है ?

उत्तर - वचन पौद्गलिक हैं, यह सत्य है, किन्तु जैसे पौद्गलिक पत्थर की मार से होने वाला घाव आत्मा की पीड़ा मे कारण है, उसी प्रकार मिथ्यावचन, कठोर वचन, स्वप्रशसा एव पर की निन्दा करने वाले और दूसरो मे उपद्रव कराने वाले वचनो से स्व-पर की आत्मा मे राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे कर्मबन्ध होता है अत जिन वचनो के माध्यम से आत्मा अशुभ भावो मे प्रवृत्ति कर कर्मबन्ध करता है उन वचनों से आत्मा को निवृत्त करना वचन गुप्ति है।

काय गुप्ति का लक्षण

काय-क्रिया-निवृत्तिर्वा, देह-निर्ममतापि वा।
हिसादिभ्यो निवृत्तिर्वा, वपुषो गुप्तिरिष्यते॥१२४६॥

अर्थ - शारीरिक क्रियाओं से अर्थात् गमन करने, खड़े होने, बैठने, हस्त-पैरादि को फैलाने एव सकोच करने वाली क्रियाओ से निवृत्त होना कायगुप्ति है। अथवा शरीर से निर्ममत्व होना, अथवा हिंसादि पापो से निवृत्त होना कायगुप्ति है॥१२४६॥

प्रश्न - उठने-बैठने आदि की क्रियाएँ तो आत्मा द्वारा प्रवर्तित होती हैं तब आत्मा औदारिक आदि काय की क्रियाओं से कैसे निवृत्त होगा ?

उत्तर - यहाँ काय सम्बन्धी क्रिया की कारणभूत आत्मा की क्रिया को काय क्रिया कहा गया है अत. उसकी निवृत्तिकाय गुप्ति है। अथवा कर्मग्रहण में जो-जो क्रियाएँ निमित्त बनती हैं, उन समस्त क्रियाओं से निवृत्त होना कायगुप्ति है।

प्रश्न - जब शरीर आयु कर्मरूपी साँकल से बँधा है तब कायोत्सर्ग में शरीर का त्याग कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर - यहाँ कायोत्सर्ग शब्द से 'शरीर का त्याग' अर्थ ग्राह्य नहीं है अपितु यह शरीर अपवित्र है, असार है और आपत्तियो का निमित्त है, ऐसा जान कर शरीर से ममत्व छोड़ना कायोत्सर्ग गुप्ति है।

आगम मे काय शब्द से हिंसादि पाँचों पाप भी ग्रहण किये है, अत हिंसादि पाँच पापो से निवृत्त होना कायगुप्ति है।

गुप्तियों का कार्य

पुरस्य खातिका यद्वत्, क्षेत्रस्य च यथा वृति:।
तथा पापस्य संरोधे, साधूनां गुप्तयो मता: ॥१२४७॥

अर्थ - जैसे नगर की रक्षा हेतु खाई होती है वैसे ही, अथवा जैसे खेत की बाड़ होती है वैसे ही पाप का निरोध करने के लिए साधुओ की गुप्तियाँ मानी गई हैं अर्थात् गुप्तियाँ पाप का निरोध कर साधुओ की रक्षा करती हैं॥१२४७॥

क्षपक को कर्त्तव्य बोध

तस्मान्मनो-वच: काय-प्रयोगेषु समाहित:।
भव त्वं सर्वदा जात-स्वाध्याय-ध्यान-सङ्गति: ॥१२४८॥

अर्थ - इस प्रकार गुप्तियो का माहात्म्य जान कर हे क्षपक ! तुम सदा मन के खोटे विचार रूप मन प्रयोग में, कुवचन रूप वचनप्रयोग मे और शरीर की कुचेष्टारूप अथवा बिना प्रयोजन शारीरिक क्रिया रूप काय-प्रयोग मे सावधान रहते हुए अर्थात् इन्हें रोकते हुए स्वाध्याय एव ध्यान मे तत्पर रहो॥१२४८॥

प्रवचनमातृका के अन्तर्गत ईर्या समिति का लक्षण

मार्गोद्योतोपयोगानामालम्बस्य च शुद्धिभि:।
गच्छत: सूत्र-मार्गेण, मतेर्यासमितिर्यते: ॥१२४९॥

अर्थ - मार्गशुद्धि, उद्योत शुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियो के द्वारा आगमानुसार गमन करने वाले साधु के ईर्या समिति होती है॥१२४९॥

प्रश्न - उपर्युक्त चारो शुद्धियो के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - **मार्गशुद्धि** - जो मार्ग कीट, चींटी, मकोड़े आदि त्रस जीवों से रहित हो, हरित तृण, पत्ते, डण्ठल, अकुर, बीज एव कीचड़ आदि से रहित हो, स्त्री, पुरुष, पशु एव सवारियों के आवागमन से प्रासुक

हो चुका हो तथा धूप की ताप से तप चुका हो, ऐसे मार्ग से दिन में नेत्रो की ज्योति ठीक रहते गमनागमन करने वाले साधु की यह मार्गशुद्धि कही जाती है।

उद्योतशुद्धि - दिन मे सूर्य के प्रकाश मे गमनागमन करना ही उद्योतशुद्धि है, कारण कि सूर्य-प्रकाश में स्पष्ट फैलाव एव व्यापकता होती है। चन्द्रमा एव नक्षत्र का प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक का प्रकाश व्यापक नहीं होता अत. इनसे उद्योतशुद्धि नहीं रहती।

उपयोगशुद्धि - अन्यमनस्कता, चित्त की अस्थिरता एव वार्तालापादि से रहित, पैर उठाने एवं रखने के क्षेत्र मे जीवों की रक्षा मे ही चित्त सावधान रहना, उपयोगशुद्धि है।

आलम्बनशुद्धि - तीर्थवन्दना, चैत्यवन्दना, यतिवन्दना, गुरुवन्दना, अपूर्व शास्त्र पठन अथवा शास्त्र के अपूर्व अर्थग्रहण हेतु गमन करना, या मुनियों के योग्यक्षेत्र की खोज करना, वैयावृत्य हेतु विहार करना, अनियत आवास के उद्देश्य से गमन करना, स्वास्थ्य लाभ हेतु विहार करना, श्रम पर विजय प्राप्त करने हेतु विहार करना, शिष्य समुदाय को प्रतिबोध कराने हेतु विहार करना अथवा नाना देशो की भाषा सीखने के उद्देश्य से विहार करना आलम्बन शुद्धि है।

प्रश्न - श्लोक मे आये हुए 'सूत्रानुसार गमन' का क्या भाव है ?

उत्तर - सूत्रानुसार गमन का अर्थ है ईर्यासमिति पूर्वक ही गमनागमन करना। यथा - आगे चार हाथ भूमि देखते हुए चलना, भय एव आश्चर्य का त्याग कर चलना, दोनो भुजा लटका कर चलना, हरे तृण, अकुर एव वृक्षादि से एक हाथ दूर रह कर विहार करना, विरुद्धयोनि वाले जीवो के उत्पत्ति-स्थानों मे प्रवेश करते समय अपने शरीर से त्रस जीवो को कोई बाधा न हो इसलिए बार-बार पिच्छिका से शरीर की प्रतिलेखना करते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, बैल, कुत्ता एव घोड़े आदि पशुओं से चतुराई पूर्वक बचाव करते हुए गमन करना, धान्य का भूसा, शालि धान्य के छिलके, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, पानी, पत्थर, तृण का ढेर एव फलकादि का परिहार करते हुए गमन करना, चोर, डाकू, लडाकू एव शराबी आदि से दूर रह कर गमन करना, अपने पैरो से किसी वस्तु का एव किसी प्राणी का टकराव एव प्रवेश न हो ऐसे गमन करना, पशु, पक्षी, मृग एव बालको आदि को भयभीत करते हुए गमन न करना, अपने शरीर को इतर लोगो का या इतर लोगो का अपने शरीर को धक्का न लगे, इस प्रकार गमन करना, अति वेग से एव अति मन्दरूप से गमन नहीं करना, बहुत दूर-दूर पाद-निक्षेप करते हुए गमन नहीं करना, अधिक ऊँचे तक पैर उठा कर गमन नहीं करना, लीला पूर्वक या क्रीड़ा करते हुए गमन नहीं करना, दौडते हुए या किसी ऊँची डोली आदि को लाँघते हुए गमन नहीं करना और विकार पूर्वक, चपलता पूर्वक एव ऊपर और तिर्यगवलोकन करते हुए गमन नहीं करना।

भाषा समिति का लक्षण

व्यलीकादि-विनिर्मुक्तं, सत्यासत्यमृषाद्वयम्।
वदतः सूत्र-मार्गेण, भाषासमितिरिष्यते ॥१२५०॥

अर्थ - अलीक, परुष एव कर्कशादि वचनो से रहित सत्य और असत्यमृषा ऐसे दो प्रकार के वचन आगमानुसार बोलना भाषा समिति कही जाती है ॥१२५०॥

प्रश्न - वचनो के कितने भेद हैं और उनके लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - सत्य, असत्य, सत्यसहित मृषा एव असत्यमृषा के भेद से वचन चार प्रकार के होते हैं। "सतां हिता सत्या" इस नीत्यनुसार सज्जनों की हितकारी वाणी 'सत्य' कहलाती है। जो सत्य नहीं है वह 'असत्य' हैं। जैसे मृगमरीचिका को जल कहना। जिसमें सत्य-असत्य दोनो प्रकार के वचन हैं वह 'सत्यमृषा' वचन है। इसे उभय वचन भी कहते हैं। जैसे कमण्डलु को घट कह देना, क्योंकि कमण्डलु घट के सदृश जलधारण करता है अत. सत्य है किन्तु आकार-प्रकार घडे के सदृश नहीं है अत असत्य है। जो सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है उसे असत्यमृषा या अनुभय वचन कहते हैं।

प्रश्न - साधु की भाषा समिति मे कौन-कौन से वचन बोलने का विधान है ?

उत्तर - सत्य और असत्यमृषा अर्थात् अनुभय ऐसे दो प्रकार के वचन तथा सूत्रानुसार वचन बोलना, साधु की भाषा समिति है।

प्रश्न - सूत्रानुसार वचन का क्या अर्थ है ?

उत्तर - आगम के अनुकूल वचन बोलना सूत्रानुसार वचन कहलाते हैं।

प्रश्न - सत्य महाव्रत मे, भाषा समिति मे एव सत्य धर्म मे सत्य बोलने का ही आदेश है, तब इन तीनों मे क्या अन्तर है ?

उत्तर - सत्य महाव्रत मे साधुजन, साधु और असाधु दोनों से सत्य भाषण कर सकते है, तथा अधिक भी बोल सकते हैं। भाषा समिति मे उन्हीं दोनों प्रकार के पुरुषो के साथ सत्य किन्तु परिमित अर्थात् अल्प बोलने का विधान है । किन्तु सत्यधर्म का पालन करने वाला साधु केवल साधु जनो से ही सम्भाषण कर सकता है। वह उनके साथ कुछ अधिक भी बोल सकता है। इन तीनो में यही अन्तर है।

सत्य वचन के दस भेद

देश-सम्मति-निक्षेप-नाम-रूप-प्रतीतिता।
सम्भावनोपमाने च, व्यवहारे भाव इत्यपि॥१२५१॥

अर्थ - देश सत्य, सम्मति सत्य, निक्षेप सत्य, रूप सत्य, प्रतीतिसत्य, सम्भावना सत्य, उपमा सत्य, व्यवहार सत्य और भाव सत्य के भेद से सत्य-वचन दस प्रकार के होते हैं॥१२५१॥

प्रश्न - इन दस प्रकार के सत्य वचनों के लक्षण क्या-क्या हैं?

उत्तर - **जनपद सत्य**-तत्तद्देशवासी मनुष्यो के व्यवहार मे जहाँ जो शब्द रूढ हो जाते हैं, उन्हे जनपद सत्य कहते हैं। जैसे एक ही भात को अन्य-अन्य देशो मे अलग-अलग भात, भक्त, भाटु, भेदु, वटक, मूकुडु, कूलू, कूर, ओदन, चोरु और चोखा कहते हैं और ये सब अपने-अपने देश की अपेक्षा सत्य हैं।

सम्मति सत्य - बहुत मनुष्यो की सम्मति से जो शब्द सर्व साधारण में रूढ़ हो जाते हैं उन वचनो को सम्मति सत्य कहते हैं। जैसे मनुष्य होते हुए भी राजा-रानी को देव-देवी कहना। अथवा किसी मनुष्य मे राजा सदृश सम्पन्नता देखकर उसे राजा, राव, राणा या नरेन्द्र कहना।

निक्षेप सत्य - किसी वस्तु मे उससे भिन्न वस्तु के समारोप करने वाले वचन को निक्षेप सत्य या स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे चन्द्रप्रभु भगवान की प्रतिमा को चन्द्रप्रभु कहना।

नाम सत्य - जाति, गुण एव क्रिया आदि की अपेक्षा न रख कर केवल व्यवहार चलाने के लिए जो किसी का सज्ञाकर्म किया जाता है, उसे नाम सत्य कहते हैं। जैसे जिनदत्त या महावीर आदि।

रूप सत्य - पुद्गल के रूपादि अनेक गुणो में से रूपगुण की प्रधानता से जो वचन कहा जाता है उसे रूप सत्य कहते हैं। जैसे शरीर मे पुद्गल के अनेक गुण एव वर्णादि होते हुए भी कौआ को काला और बगुला को श्वेत कहना।

प्रतीतिसत्य - किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा किसी दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना प्रतीति सत्य है। जैसे किसी छोटे या पतले पदार्थ या मनुष्य को देखकर अन्य पदार्थ या मनुष्य को मोटा या काला कहना।

सम्भावना सत्य - असम्भवता का परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म के निरूपण करने मे प्रवृत्त वचन को सम्भावना सत्य कहते हैं। जैसे सोमदत्त भुजाओं से समुद्र पार कर सकता है। या इन्द्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है।

उपमा सत्य - दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। इसके आश्रय से जो वचन बोला जाय उसे उपमा सत्य कहते हैं। जैसे चन्द्रमुखी कन्या, पल्योपम, सागरोपमादि।

व्यवहार सत्य - यद्यपि वर्तमान काल मे वस्तु मे वह परिणाम नहीं है तथापि अतीत और अनागत परिणामरूप यही द्रव्य है ऐसा मान कर कहा गया वचन व्यवहार सत्य है। भात पकाओ या चटाई बुनो। यहाँ ये दोनो परिणाम वर्तमान मे नहीं हैं, क्योकि चावल पक जाने पर ही भात बनता है और बुन लेने पर ही चटाई कहलाती है फिर भी अनागत परिणाम की अपेक्षा इनका व्यवहार होता है। अथवा - नैगमादि नयों की प्रधानता से जो वचन बोला जाय उसे व्यवहार सत्य कहते हैं। जैसे 'भात पकाता हूँ' यह नैगम नय की अपेक्षा सत्य है और सग्रहनय की अपेक्षा 'सम्पूर्ण सत्य है' अथवा 'अमुक बात सम्पूर्ण असत्' है आदि।

भाव सत्य - जिस वचन के द्वारा अहिसारूप भाव का पालन किया जाता है, वह वचन भाव सत्य है। जैसे 'देखकर सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करो' इत्यादि। अथवा आगमोक्त विधि-निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थो मे सकल्पित परिणामो को भाव सत्य कहते है। जैसे शुष्क, पक्व, तप्त और नमक, मिर्च, खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक है। यद्यपि यहाँ पर सूक्ष्म जीवो को इन्द्रियो से नहीं देख सकते तथापि आगम प्रामाण्य से उस द्रव्य की प्रासुकता सत्य है। इस प्रकार ये दस भेद वाले सत्य कहे गये हैं, इसी प्रकार और अन्य भी जान लेना चाहिए।

इन उपर्युक्त सत्य वचनो के अतिरिक्त जो वचन हैं वे असत्य हैं। दोनो मिले हुए उभयरूप वचन 'सत्यमृषा' हैं, इनमे अप्रशस्त वचन असत्य हैं और 'मैंने सब दे दिया', 'मैंने सब भोग लिया' इत्यादि वचन उभयरूप हैं।

भाषा समिति मे प्रवृत्त साधु अनुभय अर्थात् असत्यमृषा वचन बोल सकते हैं अत. उन ग्राह्य वचनों के भेद गद्य द्वारा दर्शाये जा रहे हैं -

आज्ञापनी, सम्बोधनी, प्रच्छनी, प्रत्याख्यानी, याचनी, प्रज्ञापनीच्छानुलोमा, साशयिकी, निरक्षरा चेति नवधा असत्यमृषा-भाषा मन्तव्या ॥१२५२॥

दृष्टान्त सहित लक्षण

आज्ञापनी - अनुशासन के वचन अथवा आज्ञा वचनों को आज्ञापनी कहते हैं। जैसे स्वाध्याय करो, असंयम छोड़ो, इत्यादि।

सम्बोधनी - इसे आमन्त्रणी भाषा भी कहते हैं। जिस वचन से दूसरो को बुलाया जाता है वह सम्बोधनी वचन है। जैसे हे देवदत्त ! यहाँ आओ।

प्रच्छनी - प्रश्नवचनो को प्रच्छनी या सपृच्छनी या आपृच्छनी कहते हैं। जैसे क्या मैं अमुक कार्य करूँ ? आपका स्वास्थ्य कैसा है ?

प्रत्याख्यानी - त्याग रूप भाषा को प्रत्याख्यानी कहते हैं। जैसे मैं एक मास पर्यन्त दूध का त्याग करता हूँ, इत्यादि।

प्रश्न - 'मैं एक मास के लिए दूध का त्याग करता हूँ' यह भाषा तो निर्णयात्मक है, इसमे अनुभयपना कैसे सिद्ध होगा?

उत्तर - दूध त्याग की यह प्रतिज्ञा गुरु की आज्ञा के बिना की गई है। दूध त्याग करने वाले का नियम निर्णयात्मक है अत उसके वचन मे सत्यता का अश है किन्तु त्याग की मर्यादा पूर्ण होने के पूर्व ही यदि रुग्णता आदि का लक्ष्य करके गुरु ने कहा कि 'दूध लो' तब उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नहीं रहा और त्यागी हुई वस्तु गुरु आज्ञा से ग्रहण की है अत दोष न होने से सर्वथा असत्य भी नहीं है। इसलिए उसका वह प्रत्याख्यान वचन अनुभय रूप है।

याचनी - प्रार्थना वचनो को याचनी कहते हैं। जैसे यह पुस्तक मुझे दो, पीछी मुझे दो इत्यादि।

प्रज्ञापनी - धर्मकथा को अथवा सूचनात्मक भाषा को प्रज्ञापनी कहते हैं। जैसे मैं कुछ कहूँगा या कुछ करूगा, इत्यादि।

इच्छानुलोमा - गुरुजनों के इच्छानुकूल भाषा इच्छानुलोमा है। अथवा इच्छा को प्रगट करने वाली भाषा इच्छानुलोमा है। जैसे 'मुझे भी ऐसा ही बनना चाहिए', इत्यादि।

सांशयिकी - सशय रूप अथवा सदिग्ध वचन साशयिकी हैं। जैसे यह बलाका है ? अथवा पताका? इत्यादि।

निरक्षरा - अक्षर रचना रहित ध्वनि निरक्षरा-अनक्षरा भाषा है। जैसे ताली बजाना, चुटकी बजाना,मुख से चटकारा करना इत्यादि द्वीन्द्रियादिक असज्ञिपचेन्द्रिय पर्यन्त जीवो की भाषा अनक्षरात्मक ही होती है।

प्रश्न - ये सभी भाषाएँ अनुभय अर्थात् असत्यमृषारूप क्यो हैं ?

उत्तर - ये सब भाषाएँ न सत्य ही हैं और न असत्य ही हैं क्योकि इन भाषाओ को सुनकर व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अशों का बोध होता है। अर्थात् सामान्य अश के व्यक्त होने से इन्हे असत्य भी नहीं कह सकते और विशेष अश व्यक्त न होने से सत्य भी नहीं कह सकते। अत इन्हे अनुभय वचन कहते हैं। जैसे-'हे देवदत्त'

यहाँ आओ !' यह वचन सुनकर यदि देवदत्त नहीं आता तो वचन सत्य नहीं रहा और यदि वचन सुनते आ जाता है तो असत्य नहीं रहा। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिए।

एषणा समिति

आहारमुपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिभिः।
विमुक्तं गृह्णतः साधोरेषणा समितिर्मता ॥१२५३॥

अर्थ - आहार, पीछी-कमण्डलु एव शास्त्ररूप उपकरण एव शय्या अर्थात् वसतिका आदि को उद्गम तथा उत्पादनादि दोषो से रहित ग्रहण करने वाले साधु के एषणा समिति होती है॥१२५३॥

प्रश्न - यहाँ आदिशब्द से और कौन-कौन दोष ग्रहण किये गये हैं और उन सबके संक्षिप्त लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - साधुजन दिन मे एक बार दाता के द्वारा दिया हुआ आहार कर-पात्र मे ग्रहण करते हैं। दाता द्वारा प्रदत्त ही पीछी-कमण्डलु एव वसतिका आदि ग्रहण करते हैं। इन्हे ग्रहण करने में छियालीस प्रकार के दोष तथा आहार मे इन दोषों के साथ बत्तीस प्रकार के अन्तरायों की भी सम्भावना होती है। इन छियालीस दोषों और बत्तीस अन्तरायो को टाल कर ग्रहण किया हुआ आहार आदि ही एषणा समिति की कोटि में आता है।

इन दोषो का सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है -

उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजना, अप्रमाण, इगाल, धूम और कारण ये आठ प्रधान दोष आहार सम्बन्धी माने गये है।

१ दाता के निमित्त से आहार मे जो दोष लगते हैं, वे **उद्गम** दोष हैं।

२ साधु के निमित्त से आहार मे जो दोष लगते हैं, वे **उत्पादन** दोष हैं।

३ आहार सम्बन्धी दोष **एषणा** दोष हैं।

४ सयोग से उत्पन्न होने वाले **संयोजना** दोष हैं।

५ प्रमाण से अधिक आहार लेना **अप्रमाण** दोष है।

६ लम्पटता से आहार लेना **इगाल** दोष है।

७ निन्दा करते हुए आहार लेना **धूम** दोष है।

८ विरुद्ध कारणों से आहार लेना **कारण** दोष है।

इनमे से उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १० तथा सयोजना, प्रमाण, इगाल और धूम ये ४, ऐसे १६+१६+१०+४=४६ दोष हैं। यथा -

१६ उद्गम दोष

(१) उद्गम दोष - जो अन्न स्व, सयत, पाखडी आदि किसी का भी उद्देश्य लेकर बनाया जाय तो उद्दिष्ट दोष लगता है।

(२) अध्यवधि दोष - रसोई हो जाने के बाद सयत को आया हुआ देखकर अथवा सयत के आ जाने के बाद और अधिक चावल आदि डालना अध्यवधि दोष है।

(३) पूर्ति दोष - जिस प्रासुक कासी आदि के पात्र से मिथ्यादृष्टि साधुओ को आहार दिया गया है उसी पात्र मे रखा हुआ अन्न दिगम्बर साधु को आहार में दिया जाय तो पूर्ति दोष लगता है।

(४) मिश्र दोष - प्रासुक और अप्रासुक को मिलाकर आहार देना मिश्र दोष है।

(५) स्थापित दोष - पाक-भाजन से अन्न को निकालकर स्वगृह मे अथवा अन्य किसी के घर मे स्थापित कर के देना वा एक भाजन से निकालकर दूसरे भाजन मे स्थापित करना, उस भाजन से फिर तीसरे मे रखना स्थापित दोष है।

(६) बलि दोष - यक्षादि की पूजा के निमित्त बनाया हुआ आहार सयत को देना बलि दोष है।

(७) प्राभृत दोष - इस महीने, इस ऋतु अथवा इस तिथि को मुनियो को आहार दूगा, इस प्रकार के नियम से आहार देना प्राभृत दोष है।

(८) प्राविष्कृत दोष - हे भगवन्! यह मेरा घर है। इस प्रकार गृहस्थ के द्वारा घर बतलाकर आहार दिया जाना अथवा भाजनादि का सस्कार करना, भाजन को स्थानान्तर मे ले जाना प्राविष्कृत दोष है।

(९) प्रामृष्य दोष - यतियो के दान के लिए ब्याज देकर वस्तु लाना अथवा थोड़ा कर्ज लेना प्रामृष्य दोष है।

(१०) क्रीत दोष - विद्या से खरीद कर अथवा द्रव्य, वस्त्र, भाजन आदि के विनिमय से अन्नादि खरीद कर लाना और साधु को आहार मे देना क्रीत दोष है।

(११) परावर्त्त दोष - अपने घर के चावल, घृत आदि को देकर बदले मे दूसरे चावल आदि लाकर आहार देना परावर्त्त दोष है।

(१२) अभिहित दोष - एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे अथवा एक मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले मे ले जाकर साधु को आहार देना अभिहित दोष है। सरल पक्ति-बद्ध सात घरो से लाया हुआ आहार साधुओ को देने योग्य है, सात घरो के परे स्थित घरो से लाया हुआ आहार साधुओ को देने योग्य नही है। इस विधि का उल्लघन करके आहार देना अभिहित दोष है।

(१३) उद्घाटित दोष - आहार के लिए साधु के आ जाने के अनन्तर मुद्रा आदि का भेद कर या किसी पत्थर आदि से आच्छादित वस्तु को खोल कर देना उद्घाटित दोष है।

(१४) मालिकारोहण दोष - ऊपर भाग मे रखी हुई खान-पान आदि की वस्तु को सीढी लगाकर उतारना और साधुओ को देना मालिकारोहण दोष है।

(१५) आच्छेद्य दोष - राजादि के भय से जो आहार दिया जाता है, वह आच्छेद्य दोष है।

(१६) अनिसृष्ट दोष - ईश और अनीश के अनभिमत से अथवा स्वामी और अस्वामी के अनभिमत से आहार देना अनिसृष्ट दोष है।

ये १६ उद्गम दोष श्रावको के आश्रित हैं।

१६ उत्पादन दोष

(१) **धातृ दोष** - बालको के लालन-पालन की शिक्षा देकर आहार ग्रहण करना धातृ दोष है।

(२) **दूतत्व दोष** - दूरस्थ बन्धुओ के समाचार लाना-ले जाना दूतत्व दोष है।

(३) **भिषग्वृत्ति दोष** - आहार के लिए गजचिकित्सा, बाल-चिकित्सा, विषचिकित्सा आदि बतलाना भिषग्वृत्ति दोष है।

(४) **निमित्त दोष** - स्वर, अन्तरिक्ष, भौम, अङ्ग, व्यजन, छिन्न, लक्षण और स्वप्न-इन आठ निमित्त कारणो को बताकर भिक्षा उपार्जन करना निमित्त दोष है।

(५) **इच्छाविभाषण दोष** - किसी श्रावक के यह पूछने पर कि हे मुनिवर ! दीन-हीन प्राणियो को दान देने से पुण्य होता है या नहीं ? उस श्रावक की इच्छानुसार उत्तर देना इच्छाविभाषण दोष है।

(६) **पूर्वस्तवन दोष** - हे जिनदत्त ! तू जगत् में विख्यात दाता है-तेरे पिता भी महान् दानी थे- इस प्रकार प्रशसा-वचनो द्वारा गृहस्थ को आनन्दित करके आहार करना पूर्वस्तवन दोष है।

(७) **पश्चात्स्तवन दोष** - आहार करने के बाद हे जिनदत्त ! तू बडा दानी है, तेरे घर के आहार जैसा आहार किसी के यहाँ नहीं बनता-इस प्रकार की प्रशसा करना पश्चात्स्तवन दोष है।

(८) **क्रोध दोष** - क्रुद्ध होकर आहार लेना क्रोध दोष है।

(९) **मान दोष** - मान-कषाय सहित आहार लेना मान दोष है।

(१०) **माया दोष** - मायाचार से आहार लेना माया दोष है।

(११) **लोभ दोष** - लोभ-कषाय सहित आहार लेना लोभ दोष है।

(१२) **वश्य कर्म** - वशीकरण मन्त्र के द्वारा आहार प्राप्त करना वश्यकर्म दोष है।

(१३) **स्वगुणस्तवन दोष** - अपने कुल, जाति, तप आदि का गुणगान करना स्वगुणस्तवन दोष है।

(१४) **मन्त्रोपजीवन दोष** - अङ्ग-शृगारकारी पुरुषो को पठित सिद्ध आदि मन्त्रो का उपदेश देना मन्त्रोपजीवन दोष है।

(१५) **चूर्णोपजीवन दोष** - चूर्णादि का उपदेश देकर अन्नोपार्जन करना चूर्णोपजीवन दोष है।

(१६) **विद्योपजीवन दोष** - आहार के लिए गृहस्थों को सिद्ध-विद्या साधित-विद्या प्रदान करना विद्योपजीवन दोष है।

ये १६ उत्पादन दोष पात्र के आश्रित हैं।

१० एषणा दोष

(१) **शंकित दोष** - यह वस्तु सेव्य है अथवा असेव्य-ऐसी शका करते हुए उस वस्तु को आहार मे लेना शकित दोष है।

(२) म्रक्षित दोष - घृत आदि से चिकने पात्र से या हाथ से आहार लेना म्रक्षित दोष है।

(३) निक्षिप्त दोष - सचित्त कमल-पत्र आदि पर रखा हुआ आहार लेना निक्षिप्त दोष है।

(४) पिहित दोष - सचित्त कमलपत्रादि से ढके हुए अन्न को ग्रहण करना पिहित दोष है।

(५) उज्झित दोष - आम, केला आदि फल का अधिक भाग नीचे गिराकर स्वल्प ग्रहण करना अथवा दाता के द्वारा दिये हुए आहार के बहुभाग को नीचे गिराकर थोड़ा सा ग्रहण करना उज्झित दोष है।

(६) व्यपहार दोष - आहार देने के पात्रादि को अच्छी तरह से देखे बिना आहार देना व्यपहार दोष है।

(७) दातृ दोष - बिना वस्त्र पहने अथवा एक कपड़ा पहनकर आहार देना नपुसक, जिसके भूत लगा है, जो अन्धा है, पतित या जाति-बहिष्कृत है, मृतक का दाह-सस्कार करके आया है, तीव्र रोग से आक्रान्त है, जिसके फोडा-फुन्सी है, जो कुलिगी है, नीचे स्थान में खडा है या साधु से ऊँचे आसन पर खड़ा है, जो स्त्री पाँच महीनो से अधिक गर्भवाली है, वेश्या है, दासी हैं, लम्बा घूघट निकाले हुए है, अपवित्र है, मुख मे कुछ खा रही है - इस प्रकार के दाता का आहार देना दातृ दोष है।

(८) मिश्र दोष - सचित्तादि से अथवा षट्काय के जीवो से मिश्रित आहार लेना मिश्र दोष है।

(९) अपक्व दोष - जिस पानी आदि के रूप, रस, गन्धादि का अग्नि आदि के द्वारा परिवर्तन नहीं हुआ हो उसे आहार मे देना अपक्व दोष है।

(१०) लिप्त दोष - आटे आदि से लिप्त चम्मच आदि से अथवा सचित्त जल आदि से लिप्त पात्र या हस्तादि से दिये हुए आहार को लेना लिप्त दोष है।

४ अगार दोष

(१) संयोजन दोष - स्वाद के लिए शीत वस्तु मे उष्ण वस्तु अथवा उष्ण वस्तु मे शीत वस्तु मिलाकर आहार करना सयोजन दोष है। इस प्रकार के आहार से अनेक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं एव असयम की वृद्धि भी होती है।

(२) प्रमाणातिरेक दोष - मुनियो के लिए आहार-विधि इस प्रकार बतायी गयी है-कुक्षि के अर्धभाग को अन्न से भरे, एक भाग पेय पदार्थ से पूरित करे तथा एक भाग वायु के सचार के लिए खाली रखे। आहार के प्रति अत्यधिक लालसा होने के कारण जब इस विधि का उल्लघन किया जाता है तो प्रमाणातिरेक दोष लगता है। प्रमाणातिरेक आहार से ध्यान भग होता है, अध्ययन का विनाश तथा निद्रा एव आलस्य की उत्पत्ति होती है।

(३) अंगार दोष - इष्ट अन्न-पानादि की प्राप्ति हो जाने पर राग के वशीभूत होकर अधिक सेवन करना अगार दोष है।

(४) धूम दोष - अनिष्ट अन्न-पानादि की प्राप्ति होने पर द्वेष करते हुए आहार करना धूम दोष है।

इनके अतिरिक्त और दोष है उन्हे बताते हैं -

आहारमें नख, बाल, हड्डी, मास, पीप, रक्त, चर्म द्वीन्द्रिय आदि जीवोंका कलेवर आजाय तो आहारको छोड़ देते हैं तथा कण, कुड, बीज, कद, मूल और अछिन्न फल आजाय तो यथाशक्य परिहार या अतराय करते हैं-आहारको छोड़ देते हैं।

बत्तीस अन्तराय

(१) काक-आहारको जाते समय या आहार लेते समय यदि कौवा आदि बींट कर देवे, तो काक नामका अतराय है।

(२) अमेध्य-अपवित्र विष्ठा आदिसे पैर लिप्त हो जावे।

(३) छर्दि-वमन हो जावे।

(४) रोधन-आहारको जाते समय कोई रोक देवे।

(५) रक्तस्राव-अपने शरीरसे या अन्यके शरीरसे चार अगुल पर्यंत रुधिर बहता हुवा दीखे।

(६) अश्रुपात-दु खसे अपने या परके अश्रु गिरने लगे।

(७) जान्वधपरामर्श-यदि मुनि जघाके नीचेका भाग स्पर्श करले।

(८) जानूपरिव्यतिक्रम-यदि मुनि जघाके ऊपरका व्यतिक्रम कर ले अर्थात् जघासे ऊँची सीढ़ी पर-इतनी ऊँची एक ही डडा या सीढी पर चढे तो जानूपरिव्यतिक्रम अतराय है।

(९) नाभ्योनिर्गमन-यदि नाभिसे नीचे शिर करते आहारार्थ जाना पडे।

(१०) प्रत्याख्यात सेवन-जिस वस्तुका देव या गुरुके पास त्याग किया है वह खानेमे आ जाय।

(११) जतुवध-कोई जीव अपने सामने किसी जीवका वध कर देवे।

(१२) काकादि पिडहरण-कौवा आदि हाथसे ग्रासका अपहरण कर ले।

(१३) ग्रासपतन-आहार करते समय मुनिके हाथसे ग्रास प्रमाण आहार गिर जावे।

(१४) पाणौ जतुवध-आहार करते समय कोई मच्छर, मक्खी आदि जतु हाथमे मर जावे।

(१५) मासादि दर्शन-मास, मद्य या मरे हुए का कलेवर देख लेनेसे अतराय है।

(१६) पादातर जीव-यदि आहार लेते समय पैरके बीचमे से पचेन्द्रिय जीव चूहा आदि निकल जाय।

(१७) देवाद्युपसर्ग-आहार लेते समय देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि उपसर्ग कर देवे।

(१८) भाजनसपात-दाताके हाथसे कोई बर्तन गिर जाय।

(१९) उच्चार-यदि आहारके समय शरीर से मल निकल जावे।

(२०) प्रस्रवण-यदि आहारके समय मूत्र-विसर्जन हो जावे।

(२१) अभोज्य गृहप्रवेश-यदि आहारके समय चाडालादि का घरमे प्रवेश हो जावे।

(२२) पतन-आहार करते समय मूर्छा आदिसे गिर जाने पर।

(२३) उपवेशन-आहार करते समय बैठ जानेपर।

(२४) सदश-कुत्ते-बिल्ली आदिके काट लेने पर।

(२५) भूमिस्पर्श-सिद्धभक्तिके अनतर हाथसे भूमि का स्पर्श हो जाने पर।

(२६) निष्ठीवन-आहार करते समय कफ, थूक आदि निकलने पर।

(२७) वस्तुग्रहण-आहार करते समय हाथसे कुछ वस्तु उठा लेने पर।

(२८) उदर कृमिनिर्गमन-आहार करते समय उदरसे कृमि आदि निकलने पर।

(२९) अदत्तग्रहण-नहीं दी हुई किञ्चित् भी वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

(३०) प्रहार-स्वय अपने ऊपर या अन्य किसी के ऊपर शत्रु आदि के द्वारा शस्त्र आदि से प्रहार कर दिये जाने पर।

(३१) ग्रामदाह-आहार के समय ग्राम आदि में अग्नि लग जाने पर।

(३२) पादेन ग्रहण-पैरो से किञ्चित् भी वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

इन बत्तीस कारणो के तथा इसी प्रकार के अन्य भी कारण मिलने पर साधुजन आहार का त्याग कर देते हैं।

आदाननिक्षेपण समिति

सहसा दृष्ट-दुर्दृष्टाप्रत्यवेक्षण-मोचिनः।
भवत्यादाननिक्षेप-समितिर्व्रत-वर्तिनः ॥१२५४॥

अर्थ - पीछी, कमण्डलु, शास्त्र एव चौकी आदि वस्तुओ को देख-शोध कर रखना और उठाना आदाननिक्षेपण समिति है।

बिना देखे और बिना मार्जन किये शास्त्रादि का ग्रहण करना या रखना सहसा नामका प्रथम दोष है। नेत्रों से देखे बिना मात्र मार्जन करके वस्तु को रखना-उठाना अनाभोग नाम का द्वितीय दोष है। नेत्रों से देखकर किन्तु मार्जन किये बिना वस्तु को रखना-उठाना दुष्प्रमृष्ट या दुर्दृष्ट नामका तृतीय दोष है और देख भी लिया तथा प्रमार्जन भी कर लिया किन्तु ये दोनों क्रियाएँ उन्मनस्कता पूर्वक करके वस्तु रखी-उठाई गई तो अप्रत्यवेक्षण नामका चतुर्थ दोष होता है। इन चार दोषो का परिहार करते हुए भली प्रकार वस्तु का ग्रहण-मोचन करना ही साधु की आदाननिक्षेपण समिति है॥१२५४॥

प्रतिष्ठापन समिति

अनेनैव प्रकारेण, प्रतिष्ठापनका मता।
समितिस्त्यजतस्त्याज्यं प्रदेशे स्थण्डिले यते: ॥१२५५॥

अर्थ - जिस प्रकार आदाननिक्षेपण समिति में देखने-शोधने का विधान है उसी विधान से त्यागने योग्य मल-मूत्र आदि का जन्तुरहित और छिद्ररहित प्रदेश मे त्याग करना साधु की प्रतिष्ठापन समिति है॥१२५५॥

प्रश्न - प्रतिष्ठापन समिति के निर्दोष पालन हेतु और कौन-कौन से विधान हैं तथा रात्रि में मल-त्याग की क्या विधि है?

उत्तर - साधुजन मल-मूत्र का विसर्जन निर्जन्तुक स्थान में करते हैं। यह स्थान वसतिका से दूर हो, रुकावट रहित हो, हरित तृणादि से रहित हो, गूढ़ हो, विशाल हो, पर्वत के निकट का ठोस प्रदेश हो, ऊसर भूमि हो तथा चट्टान आदि जीवरहित स्थान हो। ऐसे मे ही साधुजन अपने शरीर का मलक्षेपण करते हैं। कदाचित् रात्रि मे मल-विसर्जन की बाधा हो जावे तो दिन में स्थविर-साधु द्वारा देखे गये स्थान में जाकर वहाँ अपने उल्टे हाथ से भूमि का स्पर्श कर देखें कि कोई आगन्तुक जीव तो नहीं है। इस प्रकार जमीन को देख-शोध कर मल-मूत्र का त्याग करना प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति कहलाती है।

समितिवान् साधु की विशेषता

आभि: समितिभिर्योगी, लोके षड्-जीव-सङ्कुले।
दोषैर्हिंसादिभिर्नैव लिप्यते विहरन्नपि ॥१२५६॥

अर्थ - इन पाँच समिति का सदा पालन करने वाला साधु छह-काय के जीव-समूहो से भरे हुए इस लोक मे गमनागमन करता हुआ भी हिंसा आदि दोषो से लिप्त नहीं होता॥१२५६॥

प्रश्न - श्लोक मे आये हुए 'आदि' शब्द से यहाँ किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर - प्रमत्तयोग से प्राणघातादि करने का नाम हिंसा है अत हिंसा आदि से सहित कर्म भी हिंसा ही कहे जाते है, क्योकि कार्य मे कारण की प्रवृत्ति अतिप्रसिद्ध है। आदाननिक्षेपण एव प्रतिष्ठापन आदि समिति मे निमित्तभूत गुणो से युक्त साधु प्रवृत्ति करते हुए भी हिसा आदि पापो से लिप्त नहीं होता। अर्थात् उसको पापबन्ध नहीं होता, कारण कि वह मुनि प्रमादरहित है। श्लोक मे आये हुए 'आदि' शब्द से पृथिवीकायिक आदि पाँच स्थावरकाय और द्वीन्द्रियादि त्रसकाय, इन छह काय के जीवो का परितापन करना अर्थात् उन्हें कष्ट देना, उनका परस्पर मे सघट्टन कर देना तथा उनके अगोपागों को छिन्न-भिन्न करना इत्यादि दोष भी ग्रहण किये गये हैं।

समितो लिप्यते नाघैर्जीव-मध्ये चरन्नपि।
स्निग्धं कमलिनीपत्रं, सलिलैरिव वा: स्थितम् ॥१२५७॥

अर्थ - जैसे चिकना कमलिनी पत्र जल मे स्थित रहते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता वैसे ही पाँचों समितियों का प्रतिपालक मुनि जीवो के मध्य आचरण करता हुआ भी कभी पापो से लिप्त नहीं होता॥१२५७॥

बध्यते समितो नाघै:, काय-मध्ये भ्रमन्नपि।
सन्नद्धो विध्यते कुत्र, शर-वर्षे रणाङ्गणे ॥१२५८॥

अर्थ - षट्काय जीवसमूह के मध्य विचरण करता हुआ भी समितिधारक मुनि हिंसादि पापों से नहीं बँधता। क्या कभी रणाभ्यासी एव दृढ़ कवच से युक्त योद्धा युद्धभूमि मे बाणो की वर्षा होते हुए भी बाणो से बेधित होता है? अर्थात् नहीं होता॥१२५८॥

बालश्चरति यत्रैव, तत्रैव परिहारवित्।
बध्यते कल्मषैर्बाल, इतरो मुच्यते पुन: ॥१२५९॥

अर्थ - जीवो की रक्षा के उपायो को न जानने वाला अज्ञानी जहाँ अर्थात् जिस क्षेत्र मे विचरण करता हुआ जिन-जिन क्रियाओ को करता हुआ पापो से बँधता है, जीवो की रक्षा के उपायो को जानने वाला साधु वहीं अर्थात् उसी क्षेत्र मे विचरण कर, वही क्रियाएँ करता हुआ पापकर्म से बद्ध नहीं होता अपितु उन पापो से मुक्त ही होता है॥१२५९॥

समितियों का उपसहार

यदा तदा ततश्चेष्टा, चिकीर्षु: समितो भव।
पुराणं क्षिप्यते कर्म, नाप्नोति समितो नवम् ॥१२६०॥

अर्थ - निर्यापकाचार्य क्षपक को शिक्षा देते हुए कहते है कि हे क्षपक ! तुम जब-जब गमनागमन करना चाहो, बोलना चाहो, आहार-पानादि करना चाहो तब-तब समितियो मे तत्पर रह कर ही करो। क्योकि सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला साधु नवीन-नवीन कर्मो का बन्ध नही करता अपितु पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही करता है॥१२६०॥

राद्धान्त-मातरौऽष्टौ, ता. पान्ति रत्नत्रयं यते:।
जनन्यो यत्नतो नित्यं, तनुजस्येव जीवितम् ॥१२६१॥

अर्थ - जैसे माता, बालक के जीवन की नित्य ही यत्नपूर्वक रक्षा करती है, वैसे ही पॉच समिति एव तीन गुप्तिरूप अष्ट प्रवचन माता मुनि के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की रक्षा करती है॥१२६१॥

चारित्राराधना - पाँच महाव्रत, पॉच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र को जो साधु निर्दोषरीत्या पालन करते है उन्ही के चारित्र आराधना होती है।

अहिसा आदि व्रतो को स्थिर करने के लिए एक-एक व्रत की पॉच-पॉच भावनाएँ कही गई हैं।

अहिंसाव्रत की भावनाएँ

मनोगुप्त्येषणादान-निक्षेपेर्येक्षिताशिता:।
महाव्रते मता जैनैरादिमा: पञ्च भावना. ॥१२६२॥

अर्थ - महाव्रतो मे प्रथम महाव्रत अहिसा है। मनोगुप्ति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्या समिति और आलोकित आहार-पान, इसकी ये पॉच भावनाएँ जैनो के द्वारा मानी गई हैं॥१२६२॥

प्रश्न - इन भावनाओं के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - मनोगुप्ति और समितियों के लक्षण पूर्व में कहे जा चुके हैं, सूर्य के स्पष्ट प्रकाश में शोधन करके आहार-पान ग्रहण करना आलोकित आहार-पान नाम की पाँचवीं भावना है।

प्रश्न - एषणा के लिए कौन-कौन से काल कहे गये हैं?

उत्तर - एषणा अर्थात् आहार की खोज के लिए मुख्यत भिक्षा-काल, बुभुक्षा काल और अवग्रह काल के भेद से तीन काल कहे गये हैं।

भिक्षाकाल - अमुक मासो मे, अमुक ग्राम एव नगरो मे, अमुक मुहल्ले मे एव अमुक कुल आदि में उनके भोजन का कौन सा समय है, धुँआ आदि के चिह्न देखकर भिक्षा के समय का निर्धारण करना।

बुभुक्षा काल - मेरी क्षुधा आज मन्द है, मध्यम है या तीव्र है, इस प्रकार अपने शरीर की स्थिति की परीक्षा करना।

अवग्रह काल - मैंने पहले अमुक-अमुक का त्याग किया था कि मैं इस प्रकार का आहार नहीं लूँगा और आज मे यह-यह नियम और लूँगा। या आज मेरा यह नियम है, इस प्रकार का विचार करना।

प्रश्न - आहार को जाते समय कौन-कौन सी सावधानियाँ आवश्यक हैं ?

उत्तर - आहार को जाते समय ईर्या समिति से चार हाथ जमीन देखकर चलना, न अधिक शीघ्रता से, न रुक-रुक कर तथा किसी भी प्रकार वेग एव उद्वेग के बिना गमन करना चाहिए। गमन के समय दोनो हाथ लटकते हो, चरण निक्षेप अधिक अन्तराल से न हो, शरीर विकार एव कुचेष्टा रहित हो, सिर थोड़ा झुका हुआ हो, मार्ग मे जल एव कीचड न हो एव त्रस जीवो की तथा हरितकाय की बहुलता न हो, तथा यदि मार्ग मे ऊँट, बैल, हाथी आदि पशुओ की या कलहकारी स्त्री-पुरुषो की बहुलता हो तो अपना मार्ग बदल दें, अथवा उनसे दूर होकर निकले, पक्षी तथा तृण खाने वाले मृगादि पशु भयभीत न हों, और अपना भोजन-पान छोड़कर न भागे। आवश्यकता होने पर पीछी से अपने शरीर की प्रतिलेखना करते जावे।

प्रश्न - गमनागमन करते हुए शरीर की प्रतिलेखना की आवश्यकता क्यो होगी ?

उत्तर - यदि मार्ग मे निरन्तर इधर-उधर फलादि बिखरे पडे हो या त्रसजीवो की बहुलता होने से या मार्ग का मोड़ आदि आ जाने से मार्ग बदलना पड़े तो, या छाया से धूप में, धूप से छाया मे जाना पडे तो, या भिन्न वर्णवाली भूमि मे प्रवेश करना पड़े तो पीछी से अपने शरीर की प्रतिलेखना आवश्यक है।

प्रश्न - आहार के लिए कौन-कौन स्थान त्याज्य है ?

उत्तर - जिस घर मे गाना-नाचना हो रहा हो, झण्डियाँ लगी हो उन घरो में न जावें। तथा मतवाले, शराबी, जुआरी, वेश्या, लोकनिन्दित कुल, शूद्र, यज्ञशाला, नाट्यशाला, गायनशाला, दानशाला, विवाह वाला घर, जिन घरो मे प्रवेश करने का निषेध हो, आगे रक्षक खडा हो और जहाँ प्रत्येक व्यक्ति न जा सकता हो वहाँ अथवा ऐसे घरो में न जावे। दरिद्रकुलो मे एव आचारहीन सम्पन्न कुलो में भी न जावे। द्वार की साकल अथवा कपाट बन्द हो तो उन्हे खोल कर प्रवेश न करे, बालक, बछड़ा, कुत्ता एव मेढ़ा आदि का उल्लघन करके न जावें, बीज, पुष्प एव फूलादि पर पैर रख कर न जावे। तत्काल लीपी हुई अथवा एकदम गीली भूमि पर न जावे, जिस घर पर अन्य भिक्षार्थी भिक्षा के लिये ही खड़े हो उन घरो मे प्रवेश न करे। जिस परिवार

के लोग घबराये हों, उनके मुख पर भय, विषाद एव दीनता या असमर्थता झलक रही हो उन घरो में प्रवेश न करें अथवा वहाँ न ठहरें। सभी भिक्षार्थियो का जहाँ तक प्रवेश है वहाँ से आगे न जावे। अपना आगमन बताने के लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे। एकान्त घर मे, उद्यान गृह में, केले, लता तथा झाड़ियो आदि से बने घरो मे आदरपूर्वक आतिथ्य प्राप्त होने पर भी प्रवेश न करें। जो स्थान जीव-जन्तु से रहित हो, पवित्र हो, रोक-टोक से रहित हो एव आने-जाने के मार्ग से रहित हो वहाँ सुकुल गृहस्थों की प्रार्थना से ठहरें।

प्रश्न - साधु को अपनी एषणा समिति की शुद्धि के लिए आहार के समय और क्या-क्या सावधानियाँ आवश्यक है ?

उत्तर - गृहप्रवेश कर नवधा भक्ति के उपरान्त साधु सम और छिद्र रहित जमीन पर दोनो पैरो के मध्य में मात्र चार-अगुल का अन्तर रख कर निश्चल खडा हो, उस समय दीवाल या स्तम्भादि का सहारा न ले। दाता के आने-जाने का मार्ग, उसके खड़े होने का स्थान तथा करछलु आदि बर्तनो की शुद्धता की ओर ध्यान रखे। जो स्त्री बालक को दूध पिलाती हो, पाँच मास से अधिक गर्भिणी हो, मुख पर घूँघट हो, अथवा लज्जा से मुख फेर कर खड़ी हो एव जो दाता शकालु हो, गूँगा हो, रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ, अन्धा, डरपोक, दुर्बल एव दाता के गुणो से रहित या बिलकुल अनभिज्ञ हो उनसे आहार न लेवे। टूटे-फूटे बर्तनो से या जूठे पात्रों से या कमलपत्र से ढके हुए बर्तनो से आहार ग्रहण न करे।

मास, मधु, मक्खन और कन्द सर्वथा ग्रहण न करे, बिना विदारे फल, हरे मूल, पत्र एव अकुरित वनस्पति और धान्य भी ग्रहण न करे, इन पदार्थों से स्पर्शित हो जाने वाला आहार भी ग्रहण न करे। जिस भोजन का रूप, रस, गन्ध बिगड गया हो, जिस पर फफून्द आ गई हो, जिसमे दुर्गन्ध आ रही हो, जो पुराना या अमर्यादित हो गया हो तथा जिसमें जीव-जन्तु गिर गये हो ऐसा पदार्थ न तो खाना चाहिए, न किसी को देना/दिलाना चाहिए और न वह छूना ही चाहिए। जो आहार छियालीस दोषो मे से और बत्तीस अन्तरायो मे से एक भी दोष या एक भी अन्तराय से दूषित हो तो वह भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। ये सब एषणा शुद्धि के समीचीन उपाय हैं।

असत्य महाव्रत की भावनाएँ

हास्य-लोभ-भय-क्रोध-प्रत्याख्यानानि योगिनः।
सूत्रानुसारि-वाक्यं च, द्वितीये पञ्च भावनाः॥१२६३॥

अर्थ - हास्य का त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, क्रोध का त्याग और सूत्रानुसार वचन बोलना, साधुओ के भाने योग्य द्वितीय व्रत की ये पाँच भावनाएँ कही गई है॥१२६३॥

प्रश्न - "सूत्रानुसार सम्भाषण करना अर्थात् बोलना", इसका क्या भाव है ?

उत्तर - सत्य, असत्य, सत्यासत्य एव न सत्य न असत्य अर्थात् अनुभय, इस प्रकार वचन के चार भेद हैं। इनमें से असत्य और उभय ये दो प्रकार के वचन साधु को नहीं बोलने चाहिए। झूठ बोलने के जितने कारण हैं उन सब को त्याग देने पर ही असत्य वचन का त्याग हो सकता है, अन्यथा नहीं। आगमानुसार साधु को सत्य और अनुभय ये दो प्रकार के वचन ही बोलने चाहिए, यही 'सूत्रानुसार संभाषण' का भाव है।

अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ

असम्मताग्रह: साधो:, सम्मतासक्त-बुद्धिता।
दीयमानस्य योग्यस्य, गृहीतिरुपकारिण: ॥१२६४॥

अप्रवेशोऽननुज्ञाते, योग्य-याञ्चा-विधानत:।
तृतीये भावना: पञ्च, प्राज्ञै: प्रोक्ता महाव्रते ॥१२६५॥

अर्थ - असम्मत का अग्रहण, सम्मत मे भी अनासक्त बुद्धि, दीयमान योग्य वस्तु में अपनी उपकारी वस्तु का ही ग्रहण, अननुज्ञात मे अप्रवेश और योग्य वस्तु की याचना तृतीय अचौर्य महाव्रत की ये पाँच भावनाएँ प्राज्ञ पुरुषो द्वारा कही गई हैं॥१२६४-१२६५॥

प्रश्न - इन पाँचो भावनाओ का विशेष विवरण किस प्रकार है ?

उत्तर - इनका विशेष विवरण इस प्रकार है -

असम्मत का अग्रहण - ज्ञानादि के उपकरण एव कमण्डलु आदि जिस साधु के हैं उनकी स्वीकृति बिना उन्हे ग्रहण नहीं करना।

सम्मत मे भी अनासक्ति - स्वामी की स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तु में भी आसक्ति नहीं रखना। अर्थात् यह वस्तु बहुत सुन्दर है, यदि मैं इसे वापिस न दूँ तो कैसा रहेगा? अथवा जब तक वे मुझे ऐसी ही वस्तु मगा कर नहीं देगे तब तक यह वस्तु मै वापिस नहीं दूँगा, या ऐसी ही वस्तु मैं मगा कर ही चैन लूँगा, इत्यादि प्रकार के आसक्तिरूप परिणाम नहीं करना।

दीयमान मे भी मात्र उपकारी वस्तु का ही ग्रहण - अन्य साधुजनो द्वारा योग्य वस्तु दी जाने पर भी ''बस, इतनी वस्तु से ही मेरा प्रयोजन सिद्ध हो जायगा, मुझे इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहिए'' ऐसी उत्तम भावना से प्रयोजनभूत का ही ग्रहण करना।

अननुज्ञात मे अप्रवेश - आहारचर्या के समय एव वसतिका मे गृह-स्वामी की आज्ञा बिना घर मे प्रवेश नहीं करना। अथवा ''आप यहाँ ठहरे'' इस प्रकार कह कर जब तक गृहस्वामी आज्ञा न दे तब तक वहाँ न आहार हेतु रुके, न वसतिका मे ही प्रवेश करे। अथवा गृहस्वामी ने प्रवेश के लिए मना कर दिया हो तो भी प्रवेश न करे।

योग्य वस्तु की याचना - ज्ञान एव सयमोपकरण की आपको आवश्यकता हो और वे उपकरण शास्त्र-अविरुद्ध हो तो उन्हें भी दूसरो से याचना करके ही लेना। इस प्रकार अचौर्यव्रत की ये पाँच भावनाएँ हैं।

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

महिलालोकनालापौ, चिरन्तन-रत-स्मृतिम्।
वासं संसक्त-वस्तूनां, बलिष्ठाहार-सेवनम्॥१२६६॥

योगिनो मुच्यमानस्य, विरागीभूत-चेतसः।
तुरीये भावनाः पञ्च, सम्पद्यन्ते महाव्रते॥१२६७॥

अर्थ - स्त्री के रूप का अवलोकन, स्त्रियो से सम्भाषण, पूर्व मे भोगे हुए भोगों की चिरकाल तक स्मृति, स्त्रियो द्वारा ससर्गित स्थान पर निवास या उठना-बैठना और बलिष्ठ आहार का सेवन, इन पाँच प्रकार के कार्यों को छोड़ देने वाले विरागी चित्त युक्त साधु के चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ सम्पन्न होती है॥१२६६-१२६७॥

अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

यते. स्पर्शे रसे गन्धे, वर्णे शब्दे शुभाशुभे।
रागद्वेष-परित्यागो, भावनाः पञ्च पञ्चमे॥१२६८॥

अर्थ - शुभ और अशुभ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द मे क्रमश राग और द्वेष का त्याग कर देना साधुओ के पाँचवे परिग्रहत्याग महाव्रत की पॉच भावनाएँ कही गई हैं॥१२६८॥

प्रश्न - भावना किसे कहते है और इनसे क्या लाभ है ?

उत्तर - वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की, चारित्रमोह कर्म के उपशम या क्षयोपशम की एव अगोपाग नामकर्मोदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, उन्हे भावना कहते हैं। अथवा जाने हुए अर्थ को पुन पुन चिन्तन करना भावना है।

लाभ - जैसे औषधि मे आँवले की या पीपल आदि के रस की बार-बार भावना देने से उसके गुण-धर्म या उसकी शक्ति बढ जाती है, यदि सौ बार भावना दी गई है या हजार बार भावना दी गई है तो उस औषधि मे रोगनाशक शक्ति शतगुणी या सहस्रगुणी बढ़ जाती है, वैसे ही बार-बार भावनाएँ भाने से महाव्रतो की शक्ति वृद्धिगत हो जाती है। उनसे अधिक-से-अधिक कर्म रूपी रोग नष्ट हो जाते हैं अर्थात् निर्जरा हो जाती है।

प्रश्न - भावनाओं का कथन कौन-कौन से ग्रन्थों में है और उनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर -

पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ				
महाव्रत	मरणकण्डिका पृ ३६४ से	मूलाचार (वट्टकेर) पृ २७७ से	तत्त्वार्थ सूत्र अ ७	पाक्षिक प्रतिक्रमण
अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ	मनोगुप्ति एषणा समिति ईर्या समिति आ निक्षेपण स आलोकित आहार	मनोगुप्ति एषणा समिति ईर्या समिति आ निक्षेपण स आलोकित भोजन	मनोगुप्ति वचन गुप्ति ईर्या समिति आ निक्षेपण स आलोकित भोजन	मन से गुप्त वचन से गुप्त ईर्या समिति शरीर सयमित एषणा समिति
सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ	हास्य त्याग लोभ त्याग भय त्याग क्रोध त्याग सूत्रानुसार भाषण	क्रोध त्याग भय त्याग लोभ त्याग हास्य त्याग अनुवीचि भाषण	क्रोध त्याग लोभ त्याग भय त्याग हास्य त्याग अनुवीचि भाषण	क्रोध त्याग लोभ त्याग भय त्याग हास्य त्याग अनुवीचि भाषण
अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ	असमत का अग्रहण समत मे अनासक्ति प्रयोजनभूत का ग्रहण अननुज्ञात मे अप्रवेश योग्य वस्तु की याचना	याचना समनुज्ञापना अपनत्व का अभाव व्यक्त प्रतिसेवना उप का अनु सेवन	शून्यागार वास विमोचिता वास परोपरोधाकरण भिक्षा शुद्धि सधर्माविसवाद	शरीरमात्र धन है शरीर की अशुचिता शरीर मे अनित्यत्व परिग्रह में निर्वृत्ति भोजन सतुष्टि
ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ	स्त्री अवलोकन त्याग स्त्री सभाषण त्याग पूर्वभुक्त चितन त्याग स्त्रीससर्गित निवासत्याग बलिष्ठाहार त्याग	स्त्री अवलोकन त्याग पूर्वभुक्त अस्मरण ससक्त वसतिका विरति विकथा त्याग प्रणीत रस विरति	स्त्रीरागकथा श्र त्याग स्त्री अगावलोकन त्याग पूर्वभुक्त अनुस्मरण वृष्येष्ट रस त्याग स्वशरीर सस्कार त्याग	स्त्री कथा त्याग स्त्री ससर्ग त्याग स्त्री से हास्य त्याग स्त्री से क्रीड़ा त्याग स्त्री अवलोकन त्याग
अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ	शुभाशुभ स्पर्श मे रागद्वेष त्याग रस मे रागद्वेष त्याग गध में रागद्वेष त्याग वर्ण में रागद्वेष त्याग शब्द में रागद्वेष त्याग	स्पर्श मे रागद्वेषाभाव रस मे रागद्वेषाभाव गध मे रागद्वेषाभाव वर्ण मे रागद्वेषाभाव शब्द में रागद्वेषाभाव	मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्श में रागद्वेष त्याग रस मे रागद्वेष त्याग गन्ध में रागद्वेष त्याग वर्ण में रागद्वेष त्याग शब्द मे रागद्वेष त्याग	सचित्त द्रव्य विरति अचित्त द्रव्य विरति बाह्य द्रव्य विरति अभ्यन्तर द्रव्य वि २४ परिग्रह विरति

इस प्रकार पाँच महाव्रतों की पाँच-पाँच भावनाओं मे अमितगति आचार्य, वट्टकेर स्वामी, उमास्वामी और गौतम स्वामी के विवेचन में सत्य-महाव्रत की भावनाओं में तो समानता है किन्तु शेष में जो क्वचित् अन्तर है वह भाव की अपेक्षा तो सदृश ही है, नाम से अवश्य भेद है।

भावनाओं का माहात्म्य

भावना भावयन्नेता:, संयतो व्रत-पीडनम्।
विदधाति न सुप्तोऽपि, जागरूक:, कथं पुन: ॥१२६९॥

अर्थ - इन पच्चीस भावनाओ को भाने वाला साधु गहरी निद्रा मे सोता हुआ भी अपने व्रतो का घात नहीं करता अर्थात् व्रतों में दोष नहीं लगाता, तब जाग्रत अवस्था में तो दोष कैसे लगा सकता है? ॥१२६९॥

क्षपक को आचार्य का उपदेश

त्वमत: समिती: पञ्च, भावयस्वैक-मानस:।
महाव्रतान्यखण्डानि, निश्छिद्राणि भवन्ति ते ॥१२७०॥

भावना: समिति-गुप्तयो यतेर्वर्धयन्ति फलदं महाव्रतम्।
शर्मकारि रजसां निरासकाश्चारु-सस्यमिव काल-वृष्टय: ॥१२७१॥

इति महाव्रत-वृष्टि:।

अर्थ - इन भावनाओ का माहात्म्य जान कर हे क्षपक ! तुम एकाग्र मन से इन भावनाओ को भावो और पाँच समितियों का पालन करो। इससे तुम्हारे महाव्रत अखण्ड और निर्दोष बने रहेगे ॥१२७०॥

हे क्षपक ! जैसे धूल-मिट्टी आदि का निरसन करने वाली समायानुकूल होने वाली वर्षा सुन्दर एव सुखदायक धान्य की वृद्धि करती है, उसी प्रकार पच्चीस भावनाएँ, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ, मुनि को मुक्तिरूपी फल देने वाले महाव्रतो की वृद्धि करती हैं, अत· इनका प्रमाद रहित होकर पालन करो ॥१२७१॥

इस प्रकार महाव्रतो की वृद्धि करने वाली भावनाओं का वर्णन समाप्त।

शल्य व्रतरूप परिणामों के घात मे निमित्त होते हैं, अत. उनके त्याग का उपदेश

महाव्रतानि जायन्ते, नि:शल्यस्य तपस्विन:।
निदान-वञ्चना-मिथ्यादर्शनैर्हन्यते व्रतम् ॥१२७२॥

अर्थ - नि शल्य तपस्वी के ही महाव्रत होते हैं, क्योकि निदान, माया और मिथ्यादर्शन इन तीन शल्यो द्वारा व्रतो का घात होता है ॥१२७२॥

प्रश्न - शल्य किसे कहते हैं ? और वे कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है उसे शल्य कहते है। जैसे शरीर में घुस जाने वाला बाण या काँटा कष्ट देता है, वैसे ही अन्तरंग में घुसा हुआ मिथ्यात्वादि रूप परिणाम प्राणी को कष्ट पहुँचाने में निमित्त है अत उसे भी 'शल्य' कहा जाता है। मिथ्यात्व, माया और निदान-ये तीन शल्य होते हैं।

प्रश्न - इन तीन शल्यों के सामान्य लक्षण क्या हैं और ये शल्य व्रतों के घात में निमित्त कैसे बनते हैं ?

उत्तर - तत्त्वों की अश्रद्धारूप आत्म-परिणाम मिथ्यात्व शल्य है। छल-कपटरूप परिणाम माया शल्य है और धार्मिक अनुष्ठान से भोगप्राप्तिरूप आत्मपरिणाम निदान शल्य है।

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व का घातक है और सम्यक्त्व बिना चारित्र सम्यक्‌चारित्र नहीं होता तथा सम्यक्‌चारित्र बिना व्रत नहीं होता, अत स्वत सिद्ध हो गया कि मिथ्यात्व शल्य व्रत का घातक है। अपने व्रतो में लगे हुए दोषो को छिपाना माया है और यदि आलोचना करके दोषों की शुद्धि नहीं की जायगी तो व्रतों का ही घात होगा। साधु का रत्नत्रय धर्म के अतिरिक्त भोगादि मे उपयोग जाना निदान है। ऐसे परिणामों से सम्यक्त्व मलिन होता है, जो व्रत के घात का प्रकर्षतम निमित्त है, इसीलिए शल्यों को व्रत-घातक कहा गया है।

निदान शल्य और उसके भेद

निषेद्धृ सिद्धि-लाभस्य, विभवस्येक-कल्मषम्।
निदानं त्रिविधं शस्तमशस्तं भोग-कारणम्॥१२७३॥

अर्थ - प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोगकृत निदान के भेद से निदान शल्य तीन प्रकार का है। मुक्तिलाभ का कारण रत्नत्रय है और एकमात्र पापस्वरूप होने के कारण यह निदान शल्य रत्नत्रय का निषेधक अर्थात् घातक है॥१२७३॥

प्रशस्त निदान

नृत्वं सत्त्व बलं वीर्यं, संहतिं पावनं कुलम्।
वृत्ताय याचमानस्य, निदानं शस्तमुच्यते॥१२७४॥

अर्थ - पूर्ण चारित्र पालने के लिए मुझे पुरुषत्व, सत्त्व, बल, वीर्य, सहति एव पवित्र कुल प्राप्त हो, इस प्रकार याचना करना प्रशस्त निदान है॥१२७५॥

प्रश्न - इन नृत्व, सत्त्वादि के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - **नृत्व** - सयम पालने योग्य पुरुषत्व, सत्त्व-आत्मिक उत्साह, **बल** - शरीरगत दृढ़ता, **वीर्य**- - वीर्यान्तराय कर्म प्रकृति के क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, **संहति** - उत्तमोत्तम चारित्रधारण मे निमित्तभूत अस्थियो के बन्धन विशेष रूप वज्रवृषभनाराच सहनन एव अनिन्दित पवित्र कुल, ये उत्कृष्ट सयम के साधन मुझे प्राप्त हो, चित्त में इस प्रकार के विचार होना प्रशस्त निदान है।

अप्रशस्त निदान

अर्हद्गणधराचार्य-सुभगादेयतादिकम्।
प्रोक्तं प्रार्थयतेऽशस्तं, मानेन भव-वर्धकम्॥१२७५॥

अशस्तं याचते क्रुद्धो, मरणेऽन्य-वधं कुधीः।
अयाचतोग्रसेनस्य, वसिष्ठो हननं यथा॥१२७६॥

अर्थ - मान कषाय के वश होकर अर्हन्त पद, गणधर, आचार्य, सौभाग्य एव आदेयता आदि प्राप्ति की प्रार्थना करना, ससार को बढ़ाने वाला अप्रशस्त निदान है ॥१२७५॥

क्रोध कषाय के वश होकर अपने मरण के समय ऐसी याचना करना "कि मैं अन्य के वध का कारण बनूँ" इस प्रकार की खोटी बुद्धि भी अप्रशस्त निदान है। जैसे वशिष्ठ मुनि ने मरते समय उग्रसेन राजा के घात का निदान किया था ॥१२७६॥

* वशिष्ठ मुनिकी कथा *

वशिष्ठ नामका जटाधारी तपस्वी था। उसे एक बार समीचीन जैनधर्मका उपदेश मिला और कालादि लब्धिको प्राप्त होकर वह जैन दिगबर मुनि बन गया। अब उन्होंने कठोर तपश्चरण करना प्रारम्भ किया। किसी दिन मथुरा नगरीके निकट वनमें आकर मासोपवास एव प्रतिमा योग धारण किया। मथुराके राजा उग्रसेन को मुनिकी तपस्या ज्ञात हुई तब वह बडी भक्तिसे उनके दर्शन करनेके लिये वनमे गया। राजाने नगरमें कहलाया कि वशिष्ठ मुनिके मासोपवासका पारणा मेरे यहाँ ही होगा। पारणा का दिन आया, महाराज नगरमे प्रविष्ट हुए अन्यत्र पड़गाहन नहीं होनेसे वे राज-महलमे आये किन्तु उस दिन राजा किसी राज्य सबधी महत्त्वपूर्ण कार्यमें उलझा हुआ था, अत आहारकी बातको भूल गया। मुनिराज बिना आहार किये वनमे चले गये और पुन एक मासका उपवास धारण किया। पुन आहारके लिये आये किन्तु राजा उन्हे आहार नहीं दे पाया। ऐसा तीन बार हुआ। अबकी बार मुनि अत्यत क्षीणशक्ति हो चुके थे, मार्गमे लौटते हुए चक्कर आनेसे गिर पडे। तब नागरिक लोग दु खी होकर कहने लगे कि अहो ! यह हमारा राजा बडा निर्दय हो गया है। देखो ! हमको आहार नहीं देने देता और आप भी नहीं देता, इत्यादि। इस वार्ताको वशिष्ठ मुनिने सुना, उनको राजापर अत्यधिक क्रोध आया और क्रोध मे आकर निदान कर डाला कि मैं इसी उग्रसेनका पुत्र होऊँ और राजाको कष्ट देऊँ। इसी भावमे उनकी मृत्यु हुई। राजाके यहाँ जन्म हुआ। बालकका नाम कस रखा। इसने आगे जाकर उग्रसेनको बहुत यातना दी। इसप्रकार अप्रशस्त निदानसे वशिष्ठ मुनिकी तपस्या दूषित हुई।

भोगकृत निदान

स्वर्गभोगि-नरनाथ-कामिनीः, श्रेष्ठि-चक्रि-बल-सार्थवाहिनाम्।
भोग-भूतिमधियो निदानकं, कांक्षतो भवति भोग-कारणम् ॥१२७७॥

अर्थ - स्वर्ग की, धरणेन्द्र पद की एव राजापना, भोगो के लिए-नारीपना, श्रेष्ठिपना, चक्रवर्तीपना, बलदेव-नारायणपना, सार्थवाहपना प्राप्त होने की जो कुबुद्धि वाछा करता है, उसका यह सब चित्तविकार भोगनिदान है ॥१२७७॥

वृद्ध-संयम-तपः पराक्रमः, शुद्ध-गुप्तिकरणोऽपि ना ततः।
याति जन्मजलधिं सुदुस्तरं, कापरस्य गणना कुचेतसः ॥१२७८॥

अर्थ - जो उत्कृष्ट सयमधारी हो, तपवृद्ध हो, पराक्रमी हो और भलीप्रकार गुप्तियो का पालन करने

वाला हो तो भी निदान दोष के कारण वह सुदुस्तर भवसमुद्र को प्राप्त होता है। अर्थात् जिसे पार करना कठिन है ऐसे संसार में परिभ्रमण करता है तो फिर खोटी बुद्धिवाले अन्य सामान्य साधु की तो क्या गिनती है ? वह तो ससार सागर में डूबेगा ही॥१२७८॥

निदानजन्य मूर्खता

निदानं योल्प-सौख्याय, विधत्ते सौख्य-निस्पृहः।
काकिण्या स मणिं दत्ते, शङ्के कल्याण-कारणम्॥१२७९॥

अर्थ - जो मुक्ति के उत्कृष्ट सुख का अनादर करके भोगजन्य अल्प सुखों का निदान करता है, वह बहुमूल्य मणि में शका करता है। (कि यह उपयोगी है या नहीं) और कल्याणकारी मणि देकर एक कौड़ी खरीद लेता है॥१२७९॥

स सूत्राय मणिं भिन्ते, नावं लोहाय भस्मने।
कुधीर्दहति गोशीर्षं, निदानं विदधाति यः॥१२८०॥

अर्थ - जो धर्म धारण कर निदान करता है वह दुर्बुद्धि धागे के लिए मणिनिर्मित हार को तोड़ता है, लोहे की कील के लिए वस्तुओ से भरी नाव को तोड़ता है तथा भस्म के लिए गोशीर्ष चन्दन को जलाता है॥१२८०॥

तापार्थं प्लोषते कुष्ठी, स लब्ध्वेक्षुं रसायनम्।
श्रामण्यं नाश्यते तेन, भोगार्थं सिद्धि-साधनम्॥१२८१॥

अर्थ - जैसे कोई कुष्ठी मनुष्य अपने रोग के लिए रसायन सदृश ईख को प्राप्त कर उसे तपने के लिए जला देता है, वैसे ही भोगो के लिए निदान करके मूर्ख मुनि मुक्ति के साधनभूत श्रामण्य पद को नष्ट कर देता है॥१२८१॥

नरत्वादि-निदानं च, न कांक्षन्ति मुमुक्षवः।
नरत्वादिभवं तस्मात्, संसारस्तन्मयो यतः॥१२८२॥

अर्थ - मोक्ष के अभिलाषी मुनिगण पुरुषत्व एव वज्रऋषभनाराच सहननादि की प्राप्ति रूप निदान भी नहीं करते क्योकि पुरुष आदि पर्यायें भी भवरूप हैं और पर्याय के परिवर्तन स्वरूप होने से ससार भवमय हैं। अर्थात् बार-बार पर्यायें ग्रहण करना ही तो ससार है॥१२८२॥

समाधिमरणं बोधिर्दुःख-कर्म-क्षयस्ततः।
प्रार्थनीयो महाप्राज्ञैः, परं नातः कदाचन॥१२८३॥

अर्थ - अत महाप्राज्ञ पुरुषो द्वारा समाधिमरण, बोधिलाभ, दु खक्षय एव कर्मक्षय की ही प्रार्थना की जानी चाहिए। इनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु प्रार्थना करने योग्य नहीं है॥१२८३॥

प्रश्न - साधुजन अपने भक्तिपाठ में और श्रावकजन अपने पूजापाठ मे नित्य ही यह बोलते हैं कि

- "दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमण, समाहिमरण, जिणगुणसपत्ति होउ मज्झ"। इसमें दु:ख कितने प्रकार के हैं और यह पाठ निरन्तर बोलने के पीछे क्या रहस्य है ?

उत्तर - उपर्युक्त पाठ बोलने का मूल रहस्य यह प्रशस्त निदान ही है क्योकि साधु एव श्रावक अर्थात् प्रत्येक ससारी प्राणी शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक इन तीन प्रकार के दु:खों मे से किसी-न-किसी दु.खसे पीडित अवश्य है। दुखी मनुष्य घबरा कर जब प्रार्थना या याचना करता है कि - हे प्रभो। मेरे दु खो का नाश हो। उसे उत्तर मिलता है कि हे भव्य ! दु खो का नाश तो कर्मक्षय हो जाने पर ही होगा।

प्रश्न - प्रभो ! कर्मो का क्षय कैसे होगा ?

उत्तर - इन कर्मों का क्षय रत्नत्रय स्वरूप बोधिलाभ हो जाने पर ही होता है।

प्रश्न - प्रभो ! बोधिलाभ का उपाय ?

उत्तर - बोधिलाभ उत्तम गति मे हो सकता है।

प्रश्न - प्रभो! उत्तम गति कैसे प्राप्त होगी ?

उत्तर - समाधिपूर्वक मरण करने से उत्तम गति की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न - प्रभो ! समाधियुक्त मरण कैसे होगा ?

उत्तर - भगवान् जिनेन्द्र के गुणो की तल्लीनता अर्थात् शरीर-निस्पृहता और कषायकृशता समाधिमरण की प्राप्ति का उपाय है। इसलिए ही इस प्रकार के निदान की आज्ञा है, क्योकि इस निदान रूप शृखला की प्रत्येक कड़ी एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। और इन कड़ियो की प्राप्ति के बिना ससारी प्राणी दुखो से कदापि नहीं छूट सकता, अत प्रत्येक भव्य जीव को इतना निदान अवश्यमेव करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य कोई निदान नहीं करना चाहिए।

नरत्व-संयम-प्राप्ती, परत्र भवत: स्वयम्।
निदानमन्तरेणाऽपि, दृगाद्याराधनाङ्गिन: ।।१२८४।।

अर्थ - जो साधु सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओ की आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्मो मे पुरुषत्वादि की और सयम की प्राप्ति तो स्वयमेव हो जाती है।।१२८४।।

मुमुक्षु का कर्तव्य

भव-शरीर-निर्वेद-मानदोष-विचिन्तनम्।
कर्तव्य मान-भङ्गाय, संसारान्तं यियासता ।।१२८५।।

अर्थ - निर्यापकाचार्य शिक्षा देते है कि - हे क्षपक ! यदि तुम यथार्थत ससार का अन्त करना चाहते हो तो मान कषाय का नाश करने के लिये तुम्हे ससार-निर्वेद अर्थात् वैराग्य का, शरीर से वैराग्य का और मान के दोषों का चिन्तन निरन्तर करना चाहिए।।१२८५।।

प्रश्न - यहाँ मान कषाय का नाश करने की शिक्षा क्यों दी जा रही है ?

उत्तर - मानकषाय की पुष्टि या अभिमान के वशीभूत होकर साधुजन भी देवादि पर्याय या सुन्दर-सुडौल शरीर की इच्छा रूप अप्रशस्त निदान कर बैठते हैं, जिसका फल अत्यन्त कष्टप्रद अर्थात् ससार परिभ्रमण स्वरूप होता है, अत. मानकषाय के नाश का उपदेश दिया गया है।

प्रश्न - शरीर का चिन्तन मानकषाय को दूर करने मे निमित्त कैसे हो सकता है? मान कषाय के दोष कौन-कौन से हैं और ससार-निर्वेगता क्या है ?

उत्तर - यद्यपि 'मान' शब्द सामान्य मान का वाची है, तथापि यहाँ उसे रूप विषयक अभिमान के अर्थ में ग्रहण किया है। यह रूपादि का अभिमान शरीर निर्वेगता से नष्ट हो जाता है, अत· "शरीर चिन्तन से मान कषाय नष्ट हो जाती है" यह कथन सिद्ध है।

नीच कुलों मे जन्म, आदरणीय गुणों का अभाव, सबका अपने से द्वेष करना एव रत्नत्रयादि का लाभ न होना ये सब मान कषाय के दोष हैं। अर्थात् मान करने के कटुफल हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव परिवर्तनरूप ससार से विमुख होना ससार-निर्वेद है। ससार निर्वेद मे चित्त लगाने से अहकार के भाव और उसके निमित्तो का विनाश हो जाता है। क्योकि अहकार मे निमित्त होने वाले अनेक निन्दनीय दुर्गुण अनेक प्राणियो मे पाये जाते हैं, तथा अपने मे जो गुण हैं उनसे भी अतिशयशाली अनेक गुण अन्य महापुरुषो मे सहज ही विद्यमान रहते हैं अत उनका अभिमान कैसा ? ससार निर्वेद रूप ऐसा चिन्तन भी मानकषाय को नष्ट कर देता है।

कुल के मान का निषेध

उच्चं भवे कुलं नीचो, नीचमुच्चः प्रपद्यते।
कुलानि सन्ति जीवानां, पान्थानामिव विश्रमः ॥१२८६॥

अर्थ - जीवो को प्राप्त होने वाले कुल, पथिक के विश्रामस्थल सदृश हैं। अर्थात् जैसे पथिक के विश्रामस्थल अनियत होते हैं वैसे ही कुल भी नियत नहीं है। क्योकि ससार-भ्रमण करने वाला जो जीव आज उच्चकुलीन है वही मर कर नीच कुल मे जन्म ले लेता है, वैसे ही नीचकुलीन मर कर उच्चकुल मे जन्म ले लेता है, अत कुलाभिमान नहीं करना चाहिए॥१२८६॥

प्रश्न - श्लोक मे 'कुलानि' यह बहुवचनान्त पद क्यो दिया गया है ?

उत्तर - यह बहुवचनान्त पद कुलो की बहुतायत दर्शाने हेतु दिया गया है क्योकि कुलो की बहुतायत ही कुलो की अनित्यता को प्रगट करने वाला है।

उच्च-नीच कुलों से आत्मा की वृद्धि-हानि नहीं होती

हानि-वृद्धी प्रजायेते, नीचोच्चासु न योनिषु।
सर्वत्रोत्पद्यमानस्य, जीवस्य सम-मानता ॥१२८७॥

अर्थ - नीच और उच्च कुलो मे जन्म लेने से जीव के आत्मप्रदेशो में हानि-वृद्धि नहीं होती। वह तो सर्वत्र एव सर्व कुलो में नियमत असख्यात प्रदेश वाला ही रहता है॥१२८७॥

प्रश्न - योनि किसे कहते हैं और वह नीच-उच्च कैसे होती है ?

उत्तर - जिसमें रह कर जीव अपने शरीर को रचता है उसे योनि कहते हैं। योनि कभी नीच या उच्च नहीं होती।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो श्लोक मे ''नीचोच्चासु योनिषु'' पद क्यों दिया गया है ?

उत्तर - यहाँ योनि शब्द से कुल ही ग्रहण किया गया है। अत इसका अर्थ ऐसा है कि जीव मान्य एव उच्च कुल में जन्म ले अथवा नीच कुल मे उत्पन्न हो किन्तु उसके आत्मप्रदेशो का प्रमाण तो असख्यात ही रहता है। उनमे कभी वृद्धि-हानि नहीं होती।

ससार मे भ्रमण करने वाले इस जीव का कोई भी कुल स्थायी नही रहा। अपने कर्म के वशवर्ती होकर वही जीव राजा-दास, ब्राह्मण-चाण्डाल, सम्पन्न-दरिद्री एव दाता और भिखारी हो जाता है। अथवा उत्तम, मध्यम तथा नीच कुलों मे जन्म ले-लेकर मरता रहता है, फिर उच्च कुलो मे जन्म लेकर गर्व कैसा? और नीच कुल मे जन्म लेकर घृणा कैसी ?

गर्व करना हो तो धर्म पर करना चाहिए और घृणा पाप से करनी चाहिए

लाभं लाभमनन्ताश्च, नीचामुच्चा प्रपद्यते।
तथाप्युच्चा अपि प्राप्ता, अनन्ता योनयो भवे ॥१२८८॥

अर्थ - यह ससारी प्राणी नीच कुलो के समान उच्च कुलो को भी अनन्तानन्त बार प्राप्त करता है। अनन्तबार नीच गोत्र मे जन्म लेता है तब कहीं एक बार उच्चगोत्र मे जन्म ले पाता है। इस प्रकार होने पर भी यह जीव अनन्तबार उच्चगोत्र मे जन्म ले चुका है। इस प्रकार उदयानुसार नीच-उच्च कुलो का परिवर्तन होता रहता है। इसका क्या अभिमान करना॥१२८८॥

उच्चत्वे बहुशः कोऽत्र, लब्ध्वा त्यक्तेऽस्ति विस्मयः।
नीचत्वे चास्ति किं दुःखं, लब्ध्वा त्यक्ते सहस्रशः॥१२८९॥

अर्थ - इस प्रकार बहुत-बहुत बार जन्म लेकर छोड़े हुए उच्च कुल मे जन्म लेने का आश्चर्य अथवा गर्व कैसा ? और हजारो बार जन्म लेकर छोड़े हुए नीच कुल में जन्म लेने का दु ख कैसा ? अर्थात् यदि प्रथम बार ही उच्चकुल प्राप्त हुआ हो तो गर्व करो और प्रथम बार ही नीच कुल मे जन्म लिया हो तो दुख करो॥१२८९॥

उच्चत्वे जायते प्रीतिः, सङ्कल्पवशतोऽङ्गिनः।
नीचत्वेऽपि महादुःखं, कषायवशवर्तिनः॥१२९०॥

अर्थ - उच्च गोत्र और नीच गोत्र स्वय सुख-दुख नहीं देते, अपितु ''मेरा कुल उच्च है'' मन मे ऐसा सकल्प होने से जीव को उच्चकुल मे प्रीति होती है और मान कषाय के उदय से नीचगोत्र का जन्म दु.ख का कारण होता है॥१२९०॥

उच्चत्वमिव नीचत्वं, चेतसा यो निरीक्षते।
उच्चत्व इव नीचत्वे, किमसौ न सुखायते ॥१२९१॥

अर्थ - जो मनुष्य अपने मन से नीच गोत्र को उच्च गोत्र के सदृश ही देखता है, वह उच्च कुल के समान नीच कुल में भी क्या सुखी नहीं होता ? होता ही है॥१२९१॥

प्रश्न - इस श्लोक का हार्द क्या है ?

उत्तर - यथार्थत· सुख एव दु ख सकल्प के आधीन हैं। अर्थात् नीचत्व-उच्चत्व को अच्छा-बुरा मान कर सुख या दु.ख की अनुभूति का अनुभव व्यक्ति के संकल्पाधीन है। कोई चाण्डाल कुल में जन्म लेकर भी अपने को श्रेष्ठ मानता हुआ सुखी हो सकता है और कोई उच्चकुलीन भी दुखानुभव कर सकते हैं।

जो नीचकुलीन ऐसा विचार कर लेता है कि ''जो जिसे प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है। जो प्राप्त नहीं है वह श्रेष्ठ भी है तो उससे क्या ?'' ऐसा विचार आते ही उच्चकुल के समान नीचकुल मे भी सुखानुभव हो जाता है।

उच्च कुल मे जन्म लेकर यदि जिनदीक्षा ग्रहण की जाती है तो उच्चकुल-प्राप्ति की सार्थकता है। अन्यथा उच्चकुल के झूठे अभिमान मात्र से क्या सुख !

यो नीचत्वमिवोच्चत्वं, विकल्पयति मानसे।
तस्योच्चत्वे न किं दुःखं, नीचत्वमिव जायते ॥१२९२॥

अर्थ - जो अपने मन से नीचत्व के समान ही उच्चत्व को मानता है, उसको उच्चकुल मिलने पर भी क्या नीचत्व सदृश दुख नहीं होता ? अपितु होता ही है॥१२९२॥

ततो नोच्चत्व-नीचत्वे, कारणं प्रीति-दुःखयोः।
परमुच्चत्व-नीचत्व-संकल्पः कारणं तयोः ॥१२९३॥

अर्थ - अत यह सिद्ध हुआ कि उच्चत्व और नीचत्व सुख एव दु ख नहीं देते अपितु उच्चत्व तथा नीचत्व का सकल्प ही सुख और दु ख का कारण है॥१२९३॥

नीचगोत्रं नरं मानो, विधत्ते बहु-जन्मसु।
प्राप्ता लक्ष्मीमतिर्नीचा योनिर्मानेन भूरिशः ॥१२९४॥

अर्थ - यह मान कषाय पुरुष को अनेक जन्मो तक नीचगोत्री बनाती है। देखो ! लक्ष्मीमती ''मैं सुन्दर हूँ'' इस मान द्वारा अनेक बार नीच गोत्र में उत्पन्न हुई थी॥१२९४॥

❋ लक्ष्मीमती की कथा ❋

लक्ष्मी नामके ग्राममे सोमशर्मा ब्राह्मणके लक्ष्मीमती नामक अत्यत रूपवती पत्नी थी। उसको अपने रूपका बड़ा भारी गर्व था। वह सदा ही अपने रूपको सँवारने मे लगी रहती। एक दिन पक्षोपवासी समाधिगुप्त नामके मुनिराज आहारके लिये आये। आँगनमे आते हुए देखकर लक्ष्मीमतीने उनकी बहुत निंदा की, गालियाँ

दीं और घरका दरवाजा बद कर दिया। उसे उस समय अपना शृगार करना था। उसमे मुनिको आहार देनेसे व्यवधान पड़ता, इस कारणसे तथा मुनिके स्नान रहित शरीरसे ग्लानि होनेसे लक्ष्मीमतीने अपने रूपके गर्वमे आकर मुनिनिंदाका महान् पापकर डाला। मुनि शातभावसे अन्यत्र चले गये। किन्तु मुनिनिदाके पापसे लक्ष्मीमतीको सातवें दिन गलित कुष्ठ रोग होगया। उसे लोगोने दुर्गंधताके कारण गाँवके बाहर निकाल दिया। वहाँ वेदना सहन नहीं होनेसे वह आगमें जलकर मरी और गधी हुई। पुन क्रमश सुअरी, दो बार कुत्ती हुई। फिर धीवरकी दुर्गंधा पुत्री हुई। इस पर्यायमे उन्हीं समाधिगुप्त मुनिराज द्वारा धर्म श्रवणकर शातभावको प्राप्त हुई। इसप्रकार मानकषायके दोषसे लक्ष्मीमतीको अनेक भवोमे महान् कष्ट सहना पड़ा। नीचगोत्री तिर्यंचनी पर्यायको बार-बार प्राप्त करना पडा।

सुभगत्वमसौभाग्यं, स्वरूपत्वं विरूपता।
आज्ञानाज्ञादरो निन्दा, चित्ते कृत्या न धीमता ॥१२९५॥

अर्थ - अत बुद्धिमानो द्वारा सौभाग्य एव दुर्भाग्य, सुन्दरता और विरूपता तथा आज्ञा और अनाज्ञा आदि होने पर न आदर भाव होना चाहिए और न निन्दा भाव ही होना चाहिए। अर्थात् चित्त मे मध्यस्थता रखनी चाहिए ॥१२९५॥

प्रश्न - यहाँ मान कषाय के सदृश सौभाग्य आदि मे आदर-भाव करने का और दुर्भाग्यादि मे निन्दा भाव करने का निषेध क्यो किया जा रहा है?

उत्तर - क्योकि ये सौभाग्य-दुर्भाग्य आदि न शाश्वत हैं और न आत्म-प्रदेशों की वृद्धि-हानि ही करते हैं, इनके सकल्प मात्र से प्रीति और सन्ताप उत्पन्न होते हैं, इसीलिए बुद्धिमान मनुष्यो को चिन्तन करना चाहए कि जो अपने निर्मल गुणो के कारण मधुर वचन पुजो से स्तुत्य होता है, वही किसी एक दिन निन्दा का पात्र हो जाता है। मनुष्यो का स्वामी होकर भी दास हो जाता है, पवित्र होकर पुन अपवित्र हो जाता है, सभी को प्रिय होते हुए भी दुर्भाग्य आने पर द्वेष का पात्र बन जाता है, जो कभी उत्तम रत्नाभरणो से विभूषित देखा जाता है, वही कभी दरिद्री देखा जाता है तथा जो कभी बन्धु-बान्धवो एव मित्रो से घिरा हुआ देखा जाता है, विपत्ति आने पर वही एकाकी देखा जाता है। इस प्रकार ससाररूपी अटवी मे भटकता हुआ यह प्राणी अनेक प्रकार के कर्मफल भोगता है और निरन्तर सुखी-दुखी होता रहता है। इस मिथ्या कल्पना जाल से बचने के लिए ही इनमे आदर भाव और निन्दा भाव करने का निषेध किया गया है।

एतेषां चिन्तनान्मानो, वर्धते सर्वदाऽग्निवत्।
संसार-वर्धक: सद्यो, हीयते तत्त्व-चिन्तने ॥१२९६॥

अर्थ - इन सौभाग्य एव सम्पत्ति आदि के चिन्तन से मनुष्य का अभिमान अग्नि सदृश सदा वृद्धिगत होता रहता है, जो ससार की वृद्धि का ही कारण होता है, किन्तु इन सौभाग्य-दुर्भाग्य एवं उच्चत्व-नीचत्वादि के परिवर्तनो का और उसके कारणो के यथार्थ बोध के साथ तत्त्वचिन्तन करने पर अभिमान तत्काल नष्ट हो जाता है और कषायें उपशान्त हो जाती हैं जिससे ससार का किनारा निकट आ जाता है ॥१२९६॥

उच्चत्वादि-निदानेऽपि, संसारं लभते यदि।
तदा वध-निदानेऽङ्गी, भव-भागीति का कथा? ॥१२९७॥

अर्थ - उच्चकुल एव पुरुषत्व आदि जो परम्परा से मोक्ष के कारण हैं, जब उनका निदान करना भी ससार-वृद्धि का कारण है तब जो व्यक्ति अपने मन मे किसी के बध का निदान करता है उसकी क्या कथा? वह तो ससार-वृद्धि का भागी बनेगा ही॥१२९७॥

रत्नत्रय में अतिशय लाभ की भावना से आचार्य एव गणधरादि पदों का निदान भी बुरा है

निदानेऽपि कुलादीनि, जायन्ते नात्र जन्मनि।
संयमं विदधानस्य, मानिनो यातना परा॥१२९८॥

अर्थ - उच्चकुल एव आचार्य पद आदि का निदान करने पर वे उसी भव में तो प्राप्त होते नहीं हैं, क्योकि वह निदान मान कषाय का द्योतक है। मन्द कषाय एव उत्कृष्ट सयम पालन से वे गणधरादि पद कथचित् मिल भी जॉय तो भी अभिमान के कारण उनसे यातना ही प्राप्त होती है, मुक्ति नहीं, अत आचार्यत्वादि का निदान करना भी व्यर्थ है॥१२९८॥

भोगजन्य निदान की निन्दा

मधुराः सेवमाना हि, विपाके दुःखदायिनः।
चिन्तनीयाः सदा भोगाः, विपाकफल-संनिभाः॥१२९९॥

अर्थ - इन्द्रियो के भोग किपाक फल सदृश हैं। जैसे किंपाक फल खाते समय स्वादिष्ट लगता है किन्तु उसका परिणाम प्राणघातक होता है, वैसे ही इन्द्रिय भोग भोगते समय मधुर लगते है किन्तु उस समय जो पापबन्ध होता है उसका उदय आने पर महादु ख भोगना पडता है। ऐसा सदा चिन्तन करते रहने से भोगों के निदान का भाव नहीं होता॥१२९९॥

भोग निदान के दोष

भोगार्थमेव चारित्र, निदाने सति जायते।
कर्म कर्मकरस्येव, द्रविणार्थ-विचारणे॥१३००॥

अर्थ - जैसे कर्मकर अर्थात् नौकर की क्रियाएँ मात्र धन के लिए हुआ करती हैं, वैसे ही निदान करने वाले मुनियो का चारित्र भोग के लिए ही रह जाता है, उससे कर्मनिर्जरा नहीं होती॥१३००॥

भवत्यब्रह्मचर्यार्थं, सनिदान तपो यतः।
अपसारो विघातार्थं, मेषस्येवास्ति मेषतः॥१३०१॥

अर्थ - जैसे एक भेड दूसरी भेड़ पर अभिघात करने हेतु ही पीछे हटती है, वैसे ही निदान करनेवाले साधु का ब्रह्मचर्य आदि तप का अनुष्ठान अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन के लिए ही होता है॥१३०१॥

विक्रीणाति तपोनर्घं, भोगेन सनिदानकः।
माणिक्यमिव काचेन, सारासाराविचारकः॥१३०२॥

अर्थ - सार-असार को न जानने वाला अज्ञानी व्यापारी जैसे बहुमूल्य माणिकरत्न में काँच का टुकड़ा खरीद लेता है, वैसे ही निदान करनेवाला मुनि अपने अमूल्य तप को बेचकर उसके बदले तुच्छ भोग खरीद लेता है॥१३०२॥

भोगजन्य निदान करने वाले मुनिजनों की निन्दा

संसर्गस्यानिवृत्तस्य, चित्तेनाब्रह्मचारिणः।
कायेन शीलवाहित्वं, व्यर्थं नटयतेरिव॥१३०३॥

अर्थ - जैसे नट, श्रमण का वेश धारण कर लेता है, वैसे ही जिस मुनि का चित्त भोगो मे ससक्त है वह मन से अब्रह्मचारी है और जिसके परिणाम परिग्रह से निवृत्तरूप नहीं हैं, अर्थात् जो भोगों के लिए निदान करता है वह केवल शरीर द्वारा शील पालन करता है। उस भ्रष्ट मुनि का बाह्य व्रतादि का पालन करना व्यर्थ है, क्योकि वह उस नट श्रमण के सदृश वेश मात्र से मुनि है, अतरग मे तो अब्रह्मरूप ही भाव हैं॥१३०३॥

आकांक्षति महादुःखं, निदानी भोग-तृष्णया।
रोगित्व प्रतिकाराय, कुबुद्धिरिव कश्चन॥१३०४॥

अर्थ - जैसे कोई खोटी बुद्धि वाला मनुष्य रोगो का प्रतिकार करने वाली औषधि के सुख की अभिलाषा से रोगी होना चाहता है, वैसे ही निदान करने वाला मुनि भोगो की लालसा या तृष्णा से महादुख की काक्षा करता है॥१३०४॥

भोगार्थं वहते साधुर्निदानित्वेन सयमम्।
स्कन्धेनेव कुधीर्गुर्वीमासनाय महाशिलाम्॥१३०५॥

अर्थ - "मैं इस पर सुखपूर्वक बैठूँगा" ऐसा मान कर जैसे कोई दुर्बुद्धिवाला मनुष्य अत्यन्त भारी शिला को कन्धे पर रख कर ढोता फिरता है, वैसे ही कोई साधु (निदान द्वारा) भोगप्राप्ति के लिए दुर्द्धर सयम का भार ढोता है। अर्थात् मोक्षरूप महाफल देने वाले सयम को तुच्छ और विनश्वर भोगो की आकाक्षा से गँवा देता है॥१३०५॥

यत् सुखं भोगजं जन्तोर्यद्दुःखं भोग-नाशजम्।
भोग-नाशोत्थितं दुःखं, सुखाधिकतमं मतम्॥१३०६॥

अर्थ - इस जीव को भोगोपभोग से अर्थात् सुस्वादु भोजन-पान से एव स्त्री, वस्त्र तथा अलकारो से उत्पन्न होने वाले सुख की तुलना मे भोगनिमित्तक वस्तुओ के नष्ट हो जाने पर जो दु ख होता है वह उस भोगजन्य सुख से अधिक है॥१३०६॥

क्षुधादि-पीडिते देहे, समासक्तः कथं सुखी ?
दुःखस्याऽस्ति प्रतीकारो, हृस्वीकारोऽथवा सुखम्॥१३०७॥

अर्थ - भूख, प्यास, शीत, उष्ण एव रोगादि से पीड़ित इस शरीर मे जो आसक्त है, उसे क्या सुख

है ? अर्थात् वह जीव किस प्रकार सुखी हो सकता है? ससारी प्राणियो का वह सुख तो दु:खों के प्रतिकार स्वरूप ही होता है। अर्थात् दु:खों को कम करना ही उनके सुख का स्वरूप है॥१३०७॥

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं, न दु:खं बाधते नरम्।
अनपेक्ष्य तथा दु:खं, न सुखं विद्यते जने॥१३०८॥

अर्थ - जैसे सुख की अपेक्षा के बिना, मनुष्य को दु.ख दुखित नहीं करता है, वैसे ही दु:ख की अपेक्षा के बिना मनुष्य को सुख नहीं होता है॥१३०८॥

प्रश्न - इस श्लोक से आचार्यदेव क्या कहना चाहते हैं ?

उत्तर - आचार्यदेव कह रहे हैं कि दु ख और सुख ये दोनो सापेक्ष धर्म हैं। जब सुख की वाछा जाग्रत हो जाती है तभी दु·ख दुखित कर सकते हैं। जैसे भोजन से तृप्त होने की भावना ही भूखे व्यक्ति को व्याकुल कर देती है तभी वह भोजन-पान खोजता है। शीत से ठिठुरने वाला मनुष्य बिस्तर खोजता है। वायु, धूप, वर्षादि से पीडित मकान खोजता है, थका हुआ मनुष्य शय्या खोजता है और विरूपता दूर करने के लिए अथवा सुन्दरता वृद्धिगत करने के लिए सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालकार चाहता है, इत्यादि।

इसी प्रकार जिस कारण मनुष्य दु ख का अनुभव करता है उन कारणो के दूर होते ही उसे सुख का अनुभव होने लगता है क्योकि कारणो के होने पर कार्य अवश्य होते हैं।

एक वर्ष तक एक आसन से तपस्या करने वाले भगवान बाहुबली को आहारजन्य सुख की वाछा नहीं थी अत भूख-प्यास की वेदना उन्हे दुखित नहीं कर सकी। ऐन्द्रिय सुख की वाछा के बिना दु ख दुखी नहीं कर सकते और दु ख के बिना कोई भी ऐन्द्रिय सुख मनुष्य को सुखी करने में असमर्थ है अत सुख की अभिलाषा करने वाला प्राणी प्रथम दु ख की ही अभिलाषा कर रहा है, ऐसा सिद्ध होता है।

सेवमानो यथा वह्निं, न कुष्ठी लभते शमम्।
भुञ्जानो न तथा भोगं, सन्तोषं प्रतिपद्यते॥१३०९॥

अर्थ - जैसे अग्नि को सेवन करने वाला कोई भी कुष्ठी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे ही भोग भोगता हुआ जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं कर सकता॥१३०९॥

प्रश्न - भोग भोगने वाले को सन्तोष प्राप्त क्यो नहीं हो सकता ?

उत्तर - 'जो जिसकी वृद्धि का कारण है वह उसे कदापि शान्त नहीं कर सकता' यह नियम है। जैसे अग्नि का सम्पर्क कुष्ठरोग की वेदना को बढ़ाने वाला है अत उसका सेवन करने वाले कुष्ठी को शान्ति प्राप्त नहीं होती, वैसे ही स्त्री आदि का सगम स्त्री विषयक भोग की अभिलाषा को वृद्धिगत करता है, अत जो भोग भोगने मे तत्पर है उसका भोगाभिलाषा रूप रोग एक क्षण को भी शान्त नहीं होता। भोगों का त्याग ही भोगों की सन्तुष्टि का उपाय है।

मैथुनं सेवमानोऽङ्गी, सौख्यं दु:खेऽपि मन्यते।
शितै: कण्डूयमानो वा, कच्छूं कररुहै: कुधी:॥१३१०॥

अर्थ - जैसे अपने पैने नखो से खाज खुजाता हुआ दुर्बुद्धि मनुष्य उस दाहरूप दु.ख को सुख मानता है, वैसे ही मैथुन सेवन करता हुआ पुरुष उस दु.ख को ही सुख मानता है ॥१३१०॥

सेवमानो नरो नारीं, दु:खदां सुखदां कुधी:।
मन्यते मधुरां वह्निं, कृमिर्घोषातकीमिव ॥१३११॥

अर्थ - जैसे कोई कीट या लट घोषातकी नामक अति कडवे फल को खाते हुए उसे स्वादिष्ट मान लेता है, वैसे ही खोटी बुद्धि वाला पुरुष नारी का दुखदायी सेवन करता हुआ भी उसे सुखदायी मानता है ॥१३११॥

सम्पद्यते सुखं भोगे, सेव्यमाने न किञ्चन।
सारो नोऽन्विष्यमाणोऽपि, रम्भा-स्तम्भे विलोक्यते ॥१३१२॥

अर्थ - जैसे भली प्रकार अन्वेषण अर्थात् खोज करने पर भी केले के वृक्ष के मूल (स्तम्भ), मध्य एव अन्त मे कहीं भी कुछ सार नहीं मिलता, क्योकि उसमे सार है ही नहीं। वैसे ही भोगो को सेवन करने मे किंचित् भी सुख प्राप्त नहीं होता है ॥१३१२॥

भोग ही महाशत्रु हैं

विश्वस्ता यै: प्रतार्यन्ते, विमुच्यते निषेधका:।
प्रवर्द्धका. प्रपीड्यन्ते, कस्तैर्भोगै: समो रिपु: ॥१३१३॥

अर्थ - जिन भोगो के द्वारा विश्वस्त जन ठगाये जाते हैं, सेवा करने वाले छोड दिये जाते हैं और वृद्धि करने वाले पीड़ित किये जाते हैं, उन भोगो के समान क्या कोई अन्य शत्रु है ? अपितु नहीं है ॥१३१३॥

प्रश्न - इस श्लोक का तात्पर्य (अर्थ) क्या है ?

उत्तर - इसका तात्पर्य यह है कि इस लोक मे विश्वासपात्र पुरुष विश्वास करने वाले को ठगता नहीं है, सेवा करने वाले को कोई छोडता नहीं है और धन, सम्मान आदि की वृद्धि करने वाले को कोई दु ख नहीं देता, किन्तु ये भोग विचित्र हैं, अत जो मनुष्य इन भोगो पर विश्वास करता है उसे ठग कर ये भोग कुगति मे ले जाते हैं, इन भोगो की सेवा करने वाले को अर्थात् भोगी पुरुष को एक दिन ये भोग अवश्य छोड़ देते हैं और जो इन भोगो को बढाता है उसे ये भोग ससार-परिभ्रमण कराकर पीडित करते हैं, अत· ये भोग ही जीव के महाशत्रु है।

निषेव्यमाणो वनिता-कलेवर, स्वदेह-खेदेन सुखायते जन:।
श्वा व्यश्नुवानो रसमस्थि नीरसं, स्व-तालु-रक्ते मनुते सुखं यथा ॥१३१४॥

अर्थ - जैसे कुत्ता सूखी और नीरस हड्डी को चबाता हुआ अपने तालु से निकलते हुए रक्त में रस की कल्पना कर सुख मानता है वैसे ही यह मोही मनुष्य स्त्री के शरीर का सेवन करते समय अपने शरीर के श्रम को ही सुख मानता है ॥१३१४॥

नग्नो बाल इवास्वस्थ:, स्वनन्नव्यक्त-जल्पन:।
श्वासाकुलो जनो नार्यां, कीदृशीं श्रयते रतिम्॥१३१५॥

अर्थ - नारी के साथ रमण करने वाला पुरुष बालक सदृश नग्न, अस्वस्थ, सीत्कार करता हुआ, अव्यक्त शब्द करता हुआ तथा जोर-जोर से श्वास लेने के कारण आकुलित होता हुआ किस प्रकार की रति को प्राप्त करता है ? महत् आश्चर्य है॥१३१५॥

आरटन्तीं भराक्रान्तां, दीनामुष्ट्रीमिवाकुलाम्।
किं सुखं लभते मूढ:, सेवमानो नितम्बिनीम्॥१३१६॥

अर्थ - शब्द करती हुई, भार से आक्रान्त एव दीन ऐसी ऊँटनी के सदृश व्याकुल हुई स्त्री का सेवन करता हुआ मूढ पुरुष क्या सुख पाता है? ॥१३१६॥

विभीमरूपा: कुटिल-स्वभावा, भोगा भुजङ्गा इव रन्ध्र-संस्था:।
ये स्मर्यमाणा जनयन्ति दु:खं, ते सेविता: कस्य भवन्ति शान्त्यै॥१३१७॥

अर्थ - जैसे सर्प भयावह होते हैं, टेढी चाल चलने से कुटिल स्वभावी होते हैं, रन्ध्रसस्था अर्थात् बिल मे रहते हैं तथा स्मरण मात्र आ जाने पर दुख उत्पन्न कर देते हैं, वैसे ही जो इह-परलोक मे दुखदायी होने से भयावह हैं, कषाय तथा मायाचारादि से युक्त होने के कारण कुटिल स्वभावी हैं, स्त्री की योनिरूपी बिल मे रहते है और स्मरण आ जाने मात्र से व्याकुलता उत्पन्न कर देते है, सेवन किये गये ऐसे भोग किसकी शान्ति के लिए हो सकते है ? किसी की शान्ति के लिए नहीं॥१३१७॥

प्रदर्श्य सौख्यं वितरन्ति दु:खं, विश्वासमुत्पाद्य च वञ्चयन्ति।
ये पीडयन्ते परिचर्यमाणास्ते सन्ति भोगा: परमा द्विषन्त:॥१३१८॥

अर्थ - जो सुख का आभास करा कर या दिखा कर दुख देते हैं, विश्वास उत्पन्न करा कर अर्थात् हितचिन्तक जैसे बन कर ठग लेते है और परिचर्या किये जाने पर अर्थात् परिचय मे आ जाने पर पीडा पहुँचाते है, ऐसे ये भोग यथार्थत महान् शत्रु ही हैं, ऐसी दृढ श्रद्धा रखनी चाहिए॥१३१८॥

भोगों में सुख न होने पर भी दुर्बुद्धियों को उनमें सुख का बोध होता है

कामिभिर्भोग-सेवायामसत्यं दृश्यते सुखम्।
कुरङ्गैर्मृगतृष्णायां, पानीय तृषितैरिव॥१३१९॥

अर्थ - जैसे प्यास से व्याकुल हरिणो को मृगतृष्णा मे जल दिखाई देता है किन्तु वह यथार्थत जल नहीं होता, वैसे ही राग के प्यासे कामी पुरुषो को भोग भोगते समय सुख का अनुभव होता है किन्तु वह यथार्थ सुख नहीं है॥१३१९॥

कुथित-स्त्री-तनु-स्पर्शे, नष्ट-बुद्धि: सुखायते।
अवगुह्य शवं व्याघ्र:, श्मशाने किं न तृप्यति॥१३२०॥

अर्थ - जैसे श्मशान में मुर्दे का भक्षण कर क्या व्याघ्र तृप्ति का या सुख का अनुभव नहीं करता ? करता ही है, वैसे ही नष्टबुद्धि कामी पुरुष स्त्री के दुर्गन्धित शरीर के आलिगन मे सुख मानते हैं॥१३२०॥

मध्यं दिनार्क-तप्तस्य, यावच्छाया-व्यतिक्रमे।
वेगतो धावत: सौख्यं, तावद्-भोग-निषेवणे॥१३२१॥

अर्थ - जैसे ग्रीष्म ऋतु मे अत्यन्त वेग से दौडते हुए और मध्यकाल के सूर्य की किरणों से सन्तप्त मनुष्य को मार्ग मे स्थित एक वृक्ष की छाया को लाघते समय धूप की किचित् कमी होने से जो थोड़ा-सा सुख होता है वैसा ही अत्यल्प सुख भोगों के सेवन में है॥१३२१॥

स्रोतसा नीयमानस्य, यावदाशा-सुखं भवेत्।
पादाङ्गुष्ठे क्षिति-स्पर्शे, तावद्-भोग-सुखं स्फुटम्॥१३२२॥

अर्थ - अथवा नदीप्रवाह के द्वारा बहा कर ले जाते हुए मनुष्य का भूमि से पैर के अगूठे का स्पर्श हो जाने पर जैसा आशा सम्बन्धी अल्प सुख होता है कि 'मैं तट पर लग जाऊँगा' वैसा ही भोग सम्बन्धी सुख अति अल्प होता है, ऐसा स्पष्ट रूप से समझना चाहिए॥१३२२॥

येऽनन्तशोऽङ्गिना भुक्ता, भोगा: सर्वे त्रिकालगा:।
को नाम तेषु भोगेषु, भुक्त-त्यक्तेषु विस्मय:॥१३२३॥

अर्थ - ससारी प्राणी द्वारा तीन काल सम्बन्धी सम्पूर्ण भोग अनन्तबार भोगे जा चुके हैं अत भोग कर छोडे गये उन उच्छिष्ट सदृश भोगो मे क्या उत्सुकता ? या क्या आश्चर्य ? अर्थात् जिनका परिचय अनन्तो बार हो चुका है और जो उच्छिष्ट है उन पदार्थों की प्राप्ति मे आश्चर्य नहीं करना चाहिए॥१३२३॥

यथा-यथा निषेव्यन्ते, भोगास्तृष्णा तथा-तथा।
भोगा हि वर्धयन्ते तामिन्धनानीव पावकम्॥१३२४॥

अर्थ - जैसे ईंधन डालते रहने से अग्नि वृद्धिंगत होती रहती है, वैसे ही जैसे-जैसे भोग भोगे जाते है, उनकी तृष्णा वृद्धिगत होती जाती है॥१३२४॥

भुज्यमानैश्चिरं भोगैस्तृप्तिर्नास्ति शरीरिणाम्।
उत्पूरमुद्धत चित्तं, विना तृप्त्यात्र जायते॥१३२५॥

अर्थ - ससारी जीवो को चिरकाल तक भोग भोग लेने पर भी तृप्ति नहीं होती और तृप्ति न होने से चित्त उन भोगों के लिए सदा अत्यन्त उत्कठित ही रहता है॥१३२५॥

नदी-जलैरिवाम्भोधिर्विभावसुरिवेन्धनै:।
सेव्यमानैरयं भोगैर्न जीवो जातु तृप्यति॥१३२६॥

अर्थ - जैसे हजारो नदियो से भी समुद्र तृप्त नहीं होता और ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती, वैसे ही भोगे हुए या भोगते हुए भी यह जीव कभी भोगों से तृप्त नहीं होता॥१३२६॥

भोगेषु भोगि-गीर्वाण-बल-केशव-चक्रिणः।
न तृप्तिं ये तु गच्छन्ति, तत्र तृप्यन्ति किं परे॥१३२७॥

अर्थ - स्वर्गवासी देव एव इन्द्र, बलभद्र, अर्धचक्री और चक्रवर्ती भी भोगों से तृप्ति को प्राप्त नहीं होते तब साधारण मनुष्य इन भोगो से कैसे तृप्त हो सकता है? ॥१३२७॥

प्रश्न - इन्द्रादि से साधारण मनुष्य की तुलना करने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - इसका अभिप्राय यह है कि सर्वार्थसिद्धि के देव तैंतीस-सागर पर्यन्त, भोगभूमिज मनुष्य तीन पल्य पर्यन्त, छ्यानवे हजार रानियो का एक साथ भोग करने की शक्ति युक्त तथा नव निधियों से प्राप्त विपुल भोग दीर्घकाल पर्यन्त भोगते हुए भी जब चक्रवर्ती तृप्ति को प्राप्त नहीं होते तब अल्प बल, अल्पायु और अल्प भोगसामग्री वाले साधारण मनुष्य कैसे तृप्त हो सकते हैं ? अपितु कभी तृप्त नहीं हो सकते।

व्याकुली भवति प्राणी, ग्रहणे रक्षणेऽर्जने।
नाशे सम्पदि तत्तस्य, भोगाय्योत्कण्ठितश्चलः॥१३२८॥

अर्थ - सम्पत्ति होते हुए भी मनुष्य अप्राप्य द्रव्य के अर्जन में, अर्जित-द्रव्य के रक्षण में तथा दूसरों को दी हुई सम्पत्ति को उनसे ग्रहण करने में सदैव व्याकुल रहता है। इसी प्रकार प्राप्त भोगसामग्री को भोगने में एव भोग-सम्पदा नाश हो जाने पर भी मनुष्य का चित्त व्याकुल रहता है और अन्य-अन्य भोगो के लिए उत्कठित रहता है॥१३२८॥

व्याकुलस्य सुखं नास्ति, कुतः प्रीतिर्विना सुखम्।
कुतो रतिर्विना प्रीतिमुत्कण्ठां वहतः परम्॥१३२९॥

अर्थ - जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख प्राप्त नहीं होता, सुख के बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति अर्थात् तृप्ति के बिना रति नहीं होती। इस प्रकार कामुक एव व्याकुल चित्त मनुष्य को अतिशयरूप से मात्र उत्कण्ठा ही रहती है॥१३२९॥

निःसार भोगों का त्याग कर देने वाले साधु को यदि रमने की इच्छा हो तो वह कहाँ रमे ?

निरस्त-दारादि-विपक्ष-सङ्गती, रिरंसुरध्यात्म-सुखे निरन्तरम्।
रतिं विधत्तां शिव-शर्म-कारणे, तया समा नास्ति जगत्त्रये रतिः॥१३३०॥

अर्थ - जो सत्यार्थ सुख का विपक्षी है ऐसे स्त्री, पुत्र एव धनादि का त्याग कर देने वाले साधुओं को यदि रमण करने की इच्छा है तो उन्हें निरन्तर मोक्षसुख के कारणभूत अध्यात्म अर्थात् आत्मोत्थ सुख मे रति करनी चाहिए, क्योंकि तीन लोक में इस रति के सदृश सर्वोत्कृष्ट और कोई रति नहीं है॥१३३०॥

स्वस्थाध्यात्म-रतिर्जन्तोर्नैव भोगरतिः पुनः।
भोगरत्यास्ति निर्मुक्तो, परया न कदाचन॥१३३१॥

अर्थ - अपने स्वस्थ अर्थात् आत्मस्वभावी अध्यात्म में जीवों को जैसी रति होती है वैसी रति भोगों मे नहीं होती, क्योंकि भोगरति से तो निर्मुक्त हो जाता है किन्तु अध्यात्म रति से कभी निर्मुक्त नहीं होता॥१३३१॥

प्रश्न - अध्यात्मरति, भोगरति सदृश क्यों नहीं है ?

उत्तर - अध्यात्मरति के लिए पर-द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती अत: वह स्वाधीन है, किन्तु पर-द्रव्य के अवलम्बन बिना भोगरति नहीं होती अत. वह पराधीन है। अध्यात्म रति स्वाधीन है अतः उसमें कभी थकावट नहीं होती, भोगरति मे पर-पदार्थों की सयोजना आदि में कष्ट एव थकावट होती है, तथा स्वभावभूत होने से अध्यात्म रति सदा-सर्वदा साथ ही रहती है, इसके विपरीत भोग-रति सदा नहीं रह सकती, परावलम्बी एव श्रमसाध्य होने के कारण उससे मुक्त होना ही पड़ता है।

नाशो भोगरतेरस्ति, प्रत्यूहाश्च सहस्रशः।
नाशोऽध्यात्म-रतेर्नास्ति, न प्रत्यूहा: कुतश्चन ॥१३३२॥

अर्थ - भोगरति का नियम से विनाश होता है और उसमे विघ्न बाधाएँ आती हैं किन्तु भावित अध्यात्म रति का कभी विनाश नहीं होता और उसमे किसी कारण विघ्न भी नहीं आते। अथवा भोगरति से आत्मा का घात होता है किन्तु अध्यात्म रति से आत्मा का विकार रूप घात नहीं होता और भोगरति नश्वर तथा अध्यात्मरति अविनश्वर है॥१३३२॥

कुर्वन्तो देहिना दुःखं, जायन्ते यदि शत्रवः।
तदानीं न कथं भोगा, लोक-द्वितय-दुःखदा: ॥१३३३॥

अर्थ - जो जीवो को दुख देते हैं उन्हे यदि शत्रु मानाजाता है तो इस लोक और परलोक मे दुख उत्पन्न करने वाले भोग किस प्रकार शत्रु नहीं हैं ? अपितु वे शत्रु ही हैं॥१३३३॥

प्रश्न - भोग किसे कहते हैं? और वे दुख के कारण क्यो है?

उत्तर - इन्द्रियजन्य सुख को भोग कहते हैं और जो स्त्री एव वस्त्रालकार आदि पर-द्रव्य का निमित्त मिलने से ही उत्पन्न होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते हैं। यह इन्द्रियसुख धनहीन दरिद्री को अति-दुर्लभ है। धनादि की प्राप्ति कृषि आदि मे परिश्रम किये बिना नहीं होती और कृषि आदि आरम्भ-समारम्भ के बिना नहीं होती, आरम्भ-समारम्भ अर्थात् हिंसादि पापों की प्रवृत्ति महान् कर्मास्रव का कारण है। वे स्वोपार्जित कर्म उसे ऐसे ससार मे डाल देते हैं जिसका पार पाना अति दुष्कर होता है। यह जीव उसी मे पड़ा-पड़ा दीर्घकाल तक अनेकानेक प्रकार के असह्य दुख भोगता रहता है अत भोगो को दुख का कारण कहा गया है।

शत्रवो यान्ति मित्रत्वमिह वामुत्र वा भवे।
मित्रत्वं प्रतिपद्यन्ते, भोगा लोकद्वयेऽपि नो ॥१३३४॥

अर्थ - इस जन्म मे अथवा अन्य किन्हीं भवों में शत्रु अपनी शत्रुता छोड़कर मित्र बन जाते हैं किन्तु भोग तो इह एव पर-अर्थात् दोनो भवों मे मित्रपने को प्राप्त नहीं होते। ये तो दोनो भवों मे शत्रु से भी अधिक दुख देते हैं॥१३३४॥

वैरिणो देहिनां दुःखं, यच्छन्त्येकत्र जन्मनि।
सन्ततं दुस्सहं दुःखं, भोगा जन्मनि जन्मनि ॥१३३५॥

अर्थ - जीवों को शत्रुजन तो एक ही भव में दुख देते हैं किन्तु भोग जन्म-जन्म में सतत दुस्सह दुख ही दुख देते हैं॥१३३५॥

निदानी प्रेक्षते भोगान्न, संसारमनारतम्।
मध्वेव प्रेक्षते पातं, तट-स्थायी न दुस्सहम्॥१३३६॥

अर्थ - जैसे कुए की दीवार के तटभाग पर लटका हुआ कोई अज्ञानी मनुष्य मक्खियों के छत्ते से गिरती हुई मधु बूंद को तो देखता है अर्थात् इसके स्वाद का लोलुपी है किन्तु अपने कूप-पतन को और उससे होने वाले दुस्सह दुखों को नहीं देखता अर्थात् नहीं सोचता, वैसे ही निदान करने वाला साधु भोगों को तो देखता है किन्तु अपने दीर्घ ससार को नहीं देखता। अर्थात् ये भोग मुझे चिरकाल तक ससार वन में भटकाएँगे, यह नहीं सोचता॥१३३६॥

भोग-मध्ये प्रदीव्यन्ति, जन्म-दुःखमनारतम्।
अपश्यन्तो मृति-त्रासं, जाल-मध्ये झषा इव॥१३३७॥

अर्थ - जैसे धीवर के जाल मे फँसी हुई मछली मरण-त्रास को न देखते हुए जाल में क्रीड़ा करती है, वैसे ही भोग लोलुपी अज्ञानी निरन्तर एव अनेक जन्मों मे दुख देने वाले भोगो के मध्य रमता है किन्तु उससे होने वाले दुखों को नहीं देखता॥१३३७॥

प्राप्यापि कृच्छ्रतो जीवो, देव-मानव-सम्पदम्।
प्रवासीव निजं स्थानं, कुयोनिं याति निश्चितम्॥१३३८॥

अर्थ - जैसे देशान्तर मे गया हुआ मनुष्य सर्वत्र घूमकर अपने घर को ही जाता है, वैसे ही सयम का कष्ट उठाकर किन्तु निदान के वशीभूत होकर कष्ट से प्राप्त होने वाली देव एव अर्धचक्री आदि की सम्पदा को अर्थात् भोगो को भोग कर आयु पूर्ण होते ही पुन नरक-तिर्यंचरूप कुयोनियो मे चला जाता है॥१३३८॥

कि करिष्यन्ति ते भोगा, योनिं यातस्य कुत्सिताम्।
किं कुर्वन्ति मृता वैद्या, म्रियमाणस्य देहिनः॥१३३९॥

अर्थ - क्या कभी मरा हुआ वैद्य किसी अन्य रोगी की चिकित्सा कर सकता है ? अपितु नहीं ही कर सकता। उसी प्रकार क्या निदान से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति या स्त्री आदि भोग कुयोनियों मे जाने-वाले भोगी एव पापी जीव का कुछ भी उपकार कर सकते हैं ? कदापि नहीं कर सकते॥१३३९॥

संसारं पुनरायान्ति, निदानेन नियन्त्रिताः।
दूरं यातोऽपि पक्षीव, रश्मिना निजमास्पदम्॥१३४०॥

अर्थ - जैसे लम्बे धागे से बँधा हुआ पक्षी सुदूर जाकर भी पुन. वहीं लौट आता है वैसे ही निदान द्वारा नियंत्रित अर्थात् निदान रूपी रस्सी से बँधा हुआ प्राणी स्वर्गादि में जाकर भी पुनः पुन· कुयोनियों में जन्म-मरण करता रहता है॥१३४०॥

अधमर्णो निजे गेहे, रोधमुक्तो सुखं वसेत्।
दत्वार्थं समये प्राप्ते, यथा भूयो निरुध्यते ॥१३४१॥

इदानीं चरणं कृत्वा, सुखं भुक्त्वाऽवतिष्ठते।
त्रिदिवे समये प्राप्ते, तथा याति पुनर्भवम् ॥१३४२॥

अर्थ - जैसे कर्जदार व्यक्ति कुछ धन देकर बन्धनमुक्त हो कुछ समय के लिए अपने घर में सुख पूर्वक रहता है किन्तु जब कर्ज लौटाने का समय आता है तब कर्ज देने वालों के द्वारा पुन· बन्धन में डाल दिया जाता है, वैसे ही निदान करने वाला मुनि चारित्र पालन कर स्वर्गादि मे क्लेशरहित सुख भोगता है किन्तु समय-आयु पूर्ण होते ही वहाँ से च्युत होकर ससार-परिभ्रमण ही करता है ॥१३४१-१३४२॥

देवश्चक्री सुखं भुक्त्वा, सम्भूतो हि निदानतः।
निरन्तरं महादुःखं, प्राप्तश्च प्रतिवासितम् ॥१३४३॥

अर्थ - सम्भूत नामक मुनि ने निदानपूर्वक तपश्चरण किया। मर कर देव हुआ, वहाँ से च्युत हो ब्रह्मदत्त नाम का चक्रवर्ती हुआ। पश्चात् मर कर नरक मे निरन्तर महादुख को प्राप्त हुआ ॥१३४३॥

❋ संभूत की कथा ❋

वाराणसी नगरीमें दो भाई रहते थे। बड़े भाई का नाम चित्त और छोटे भाई का नाम सभूत था। ये दोनों नृत्यकलामें अति निपुण हुए। स्त्रीका वेष लेकर जब वे नृत्य करते तब सब जनता अत्यत मुग्ध होती, कोई भी नहीं पहिचानता कि ये दोनो पुरुष हैं। नृत्यकला ही इन दोनोंकी आजीविका थी।

किसी दिन दिगबर जैन मुनि गुरुदत्तके मुखकमलसे श्रेष्ठ जैनधर्मका उपदेश सुनकर दोनो भाइयोको वैराग्य हुआ और उन्होंने उन्हीं गुरुदेवके निकट दैगबरी दीक्षा ग्रहण की। गुरुचरणके समीप समस्त आगमका अभ्यास किया। अब दोनों मुनि सर्वत्र देशोमे विहार करते हुए तपस्या करने लगे। उनकी उग्र तपस्यासे प्रसन्न हुआ कोई देव चक्रवर्तीका रूप धारण करके मुनियुगलकी सेवा करने लगा। चक्रवर्तीका वैभव देखकर सभूत नामके छोटे मुनिने निदान किया कि मैं अपनी इस श्रेष्ठ तपस्या द्वारा आगामी भवमें चक्रवर्ती बनूँ। यथासमय मरणकर सभूत मुनि प्रथम सौधर्म स्वर्गमे देव बना और वहासे च्युत होकर भरत क्षेत्रका इस अवसर्पिणी कालका अतिम बारहवाँ चक्री ब्रह्मदत्त नामका हुआ। निदान द्वारा प्राप्त वैभवमे अत्यत आसक्ति होनेके कारण ब्रह्मदत्त आयुके अतमे मरकर नरकमें चला गया।

इस प्रकार सभूत मुनिने निदान द्वारा अपनी सारभूत तपस्याको नष्ट किया और अतमे कुगतिमें चला गया। अत कभी भोगादि का अप्रशस्त निदान नहीं करना चाहिये।

अतर्पकमविश्रामं, भोग-सौख्यं विनश्वरम्।
दुरन्तं सर्वथा त्यक्त्वा, मुक्ति-सौख्ये मतिं कुरु ॥१३४४॥

अर्थ - भोगो से उत्पन्न होनेवाला सुख अतृप्तिकारक है, अनित्य है, विनश्वर है और ऐसा दुख देता

है जिसका अन्त होना दुष्कर है अतः हे क्षपक ! तुम उस भोगवांछा को सर्वथा छोड़ दो और अपनी बुद्धि मोक्षसुख में लगाओ। अर्थात् ऐसा उपाय करो जिससे शाश्वत सुख देने वाला मोक्ष प्राप्त हो॥१३४४॥

निदान रहित तपश्चरण के गुण

विशोध्य दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रितयं यतिः।
निर्निदानो विशुद्धात्मा, कर्मणां कुरुते क्षयम्॥१३४५॥

अर्थ - निदान न करने वाले मुनिजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को भली प्रकार शुद्ध कर तथा विशुद्धात्मा होकर तप के द्वारा सब कर्मों का क्षय कर देते हैं॥१३४५॥

दोषानिति सुधीर्बुद्ध्वा, निदानं विदधाति नो।
जानानो दारुणं मृत्युं, को हि भक्षयते विषम्॥१३४६॥

अर्थ - बुद्धिमान जन इस प्रकार दोषों को जान कर कभी निदान नहीं करते हैं क्योंकि ऐसा कौन पुरुष है जो दारुण मृत्युदायक विष को जानता हुआ भक्षण करेगा ?॥१३४६॥

लुम्पति पातकलोपि चरित्रं, सिद्धि-सुखं विधुनोति पवित्रम्।
देहवतामुरु-दोष-निधानं, किं कुशलो न शृणाति निदानम्॥१३४७॥

अर्थ - यह निदान पापो का नाश करने वाले चारित्र को लूट लेता है तथा पवित्र सिद्धिसुख को नष्ट कर डालता है, ऐसे महान् दोषो के भण्डार स्वरूप निदान बन्ध को क्या बुद्धिमान् कुशल मुनिजन नष्ट नहीं कर देगे ? अवश्यमेव नष्ट कर देगे॥१३४७॥

आलोचनाधिकारस्य, मायाशल्यस्य दूषणम्।
उक्तं मिथ्यात्व-शल्यस्य, मिथ्यात्व-वमन-स्तवे॥१३४८॥

अर्थ - (निर्यापकाचार्य क्षपक को स्मरण दिला रहे हैं कि हे क्षपक !) आलोचनाधिकार मे मायाशल्य के दोष कहे जा चुके हैं, 'मिथ्यात्व-वमन प्रकरण में मिथ्यात्वशल्य के भी दोष कहे गये हैं अत इस निदान शल्य के साथ-साथ तुम माया और मिथ्याशल्य का भी त्याग करो॥१३४८॥

माया शल्य का त्याग न करने से ससारभ्रमण करना पड़ता है, उसका दृष्टान्त इस प्रकार है

मायाशल्येन ही बोधेः, प्रभ्रष्टा कुथिताननना।
दासी सागरदत्तस्य, पुष्पदन्तार्जिका-भवे॥१३४९॥

अर्थ - पुष्पदन्ता नामक आर्यिका मायाशल्य के कारण रत्नत्रय से भ्रष्ट होकर अगले भव में सागरदत्त सेठ के यहाँ दुर्गन्धित मुखवाली दासी हुई थी॥१३४९॥

❋ पुष्पदंता आर्यिका की कथा ❋

अजितावर्त्त नगरके राजा पुष्पचूलकी पट्टरानीका नाम पुष्पदता था। किसी दिन संसारसे विरक्त हो राजाने दैगबरी दीक्षा ग्रहण की। देखादेखी पुष्पदताने भी आर्यिकाप्रमुख ब्रह्मिला के निकट आर्यिका दीक्षा ली किन्तु इसे अपने रूप, सौभाग्य पट्टरानी पदका बहुत अभिमान था जिससे वह किसी अन्य आर्यिकाका विनय नहीं करती, न किसीको नमस्कार करती, सदा अपनी उच्चताका प्रदर्शन करती रहती। अपने शरीरमें सुगधित तैलादिका सस्कार करती। एक दिन गणिनी ब्रह्मिला आर्यिकाने उसे बहुत समझाया कि देखो ! आर्यिका पदमे ऐसा शरीर-सस्कार वर्जित है तथा तुम्हें गुरुजनोंका, आर्यिकाओका विनय करना चाहिये इत्यादि। किन्तु पुष्पदताने मायाचारसे असत्य वचन कहा कि मेरे शरीरमें निसर्गत सुगध आती है मैं कुछ नहीं लगाती, इत्यादि। इस मायाचारके साथ उसकी मृत्यु हुई अर्थात् उसने अततक माया शल्यको नहीं छोड़ा। फलस्वरूप वह चपापुरीके सेठ सागरदत्तके यहाँ दासी होकर जन्मी।

निदान-माया-विपरीतदर्शनैर्विदार्यतेऽङ्गी निशितैः शरैरिव ॥
विबुध्य दोषानिति शुद्ध-बुद्धयस्त्रिधापि शल्यं दवयन्ति यत्नतः ॥१३५०॥

अर्थ - निदान, माया एव मिथ्यात्व इन तीन शल्यो द्वारा यह प्राणी इसप्रकार विदीर्ण किया जाता है मानो पैने और नुकीले बाणो द्वारा ही विदीर्ण हुआ हो, अत इन शल्यो के दोषो को जानकर शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष प्रयत्नपूर्वक मन, वचन एव काय से सदा के लिए इन शल्यो को दूर कर देते हैं॥१३५०॥

विद्धो मिथ्यात्व-शल्येन, धार्मिको वत्सलाशयः।
मरीचिरभ्रमद्भीमे, चिर संसार-कानने ॥१३५१॥

अर्थ - जो धर्मप्रेमी एव साधुओ के प्रति वात्सल्यभाव रखने वाला था, ऐसा गुणज्ञ मरीचिकुमार मिथ्याशल्य से वेधित हो जाने के कारण चिरकाल पर्यन्त ससाररूपी भयानक वन मे भटकता रहा॥१३५१॥

❋ मरीचि की कथा ❋

आदिनाथ तीर्थंकरके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्त्तीके हजारो पुत्रोमे एक मरीचिकुमार नामका पुत्र था। आदिनाथ भगवान् जब विरक्त होकर दीक्षित हुए तब उनके साथ यह मरीचि भी दीक्षित हुआ था किन्तु क्षुधा आदिसे पीड़ित होकर अन्य राजाओ के समान यह भी भ्रष्ट हो गया। वृक्षकी छाल पहनकर जटाधारी तापसी बन गया। आत्मा सर्वथा शुद्ध है, भोक्तामात्र है, कर्त्ता नहीं, कर्त्ता तो प्रकृति है, इत्यादि साख्याभिप्रायानुसार मिथ्यात्वका चिरकाल तक प्रचार करता रहा। वृषभदेवको केवलज्ञान प्राप्त होनेके अनतर उन भ्रष्ट राजाओने समवशरणमें दिव्यध्वनिको सुनकर जिनदीक्षा ग्रहण की किन्तु मरीचिने तीव्र मिथ्यात्वके कारण दीक्षा नहीं ली। आयुके अतमे मरकर वह स्वर्गमें देव हुआ। पुन· मनुष्य लोकमें ब्राह्मण कुलमे उत्पन्न होकर पूर्वभवके सस्कारवश उसी मिथ्यामतमें परिव्राजक साधु बन गया। पुनः स्वर्ग गया। इसके अनतर यत्र तत्र चारों गतियोंमे, चौरासी लाख योनियोंमे, त्रस-स्थावर पर्यायोंमें चिरकाल तक-इक्कीस हजार वर्ष कम एक कोटा कोटी सागर प्रमाण

कालतक भटकता रहा। पुनः सिंहकी पर्यायमे चारणऋद्धिधारी मुनियुगलसे धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्वको ग्रहण किया और महादु.खदायी मिथ्यात्वका त्याग किया। आगामी कुछ भवोंके अनंतर अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर बनकर सिद्धपद पाया। इसप्रकार मरीचिने मिथ्यात्व शल्यके कारण घोर कष्ट सहा।

निर्यापकाचार्य द्वारा सस्तुत साधुवर्ग के साथ-साथ क्षपक को महाव्रत-आदि के निर्दोष परिपालन हेतु उपदेश-

प्रव्रज्यागंत्रिकां गुप्ति-चक्रां ज्ञान-महाधुरम्।
समित्युक्षाणमारुह्य, क्षपको दर्शनादिकम्॥१३५२॥

प्रस्थितः साधु-सार्थेन, व्रतभाण्डभृता सह।
सिद्धि-सौख्य-महाभाण्डं, ग्रहीतुं सिद्धि-पत्तनम्॥१३५३॥

अर्थ - जिसमे तीन गुप्ति रूप पहिये लगे हैं, जो ज्ञानरूपी महाधुरा से युक्त है और समितिरूपी बैलों द्वारा ले जाई जाती है ऐसी जिन-दीक्षारूपी गाडी है। महाव्रतरूपी माल साथ लेकर जाने वाले अन्य व्यापारियों के साथ एक क्षपक साधुरूपी व्यापारी अपने सम्यग्दर्शनादि को लेकर उस गाडी पर चढ़ जाता है और निर्वाण सुखरूपी माल खरीदने के लिए वह निर्वाणनगर के प्रति प्रस्थान कर देता है॥१३५२-१३५३॥

सार्थः संस्क्रियमाणोऽसौ, भीमां जन्म-महाटवीम्।
आचार्य-सार्थवाहेन, महोद्योगेन लङ्घ्यते॥१३५४॥

अर्थ - उन व्यापारियो के सघाधिपति निर्यापकाचार्य है। उनके द्वारा समीचीन मार्गदर्शन प्राप्त कर वह आराधक साधु समुदाय ससाररूपी भयावह अटवी को महान् उद्योग अर्थात् पुरुषार्थ के साथ पार कर जाता है॥१३५४॥

तं भावना-महाभाण्डं, त्रायते भव-कानने।
कषाय-व्यालतः सूरिरिन्द्रिय-स्तेनतस्तथा॥१३५५॥

अर्थ - वे सार्थवाहियो के सघाधिपति निर्यापकाचार्य भावनारूपी बहुमूल्य माल ले जाने वाले साधु-समुदाय की उस ससार रूपी भयकर वन मे कषायरूपी अनेक जगली हिसक पशुओं से एव इन्द्रियविषयरूपी चोर लुटेरो से रक्षा करते हैं॥१३५५॥

प्रश्न - भावनारूपी बहुमूल्य माल क्या है और इस श्लोक का तात्पर्य अर्थ क्या है ?

उत्तर - यहाँ पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ ही बहुमूल्य धन कहा गया है। ससार रूपी वन में पद-पद पर कषाय रूपी हिंसक पशु और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एव शब्दादि इन्द्रिय विषय रूपी चोर व्याप्त हैं। इनके अर्थात् इष्टानिष्ट इन्द्रिय विषयों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष प्रमादी साधु के चारित्र को नष्ट कर देते हैं, किन्तु सघाधिपति निर्यापकाचार्य क्षपक सहित सर्व सघ को ध्यान एवं अध्ययन में लगा कर

निष्प्रमादी अर्थात् जाग्रत रखते हैं, जिससे उनका चारित्ररूपी धन सुरक्षित रह जाता है, क्योंकि निष्प्रमादी साधु को विषयरूपी चोर लूट नहीं पाते। उक्त कथन का यही तात्पर्य अर्थ है।

अवसन्न नामक भ्रष्ट मुनि

प्रमाद-वशतो यातो, भ्रष्टो विषय-कानने।
तदीयं व्रत-सर्वस्वं, लुप्यतेऽक्षमलिम्लुचैः ॥१३५६॥

अर्थ - जो साधु विषयरूपी वन मे प्रमाद के वशीभूत हो मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं, उनके व्रतरूपी सर्वस्व धन को इन्द्रियरूपी चोर बलात् लूट लेते हैं॥१३५६॥

तमसंयम-दन्ष्ट्राभिः, संक्लेश-दशनैः शितैः।
कषाय-श्वापदाः क्षिप्रं, दूरक्षा भक्षयन्ति च ॥१३५७॥

अर्थ - अथवा निर्यापकाचार्य को छोड़कर मार्गभ्रष्ट स्वच्छन्द रहने वाले साधु को कषायरूपी दुष्ट श्वापद असयमरूपी दाढ़ों से और सक्लेश रूपी पैने दाँतो से शीघ्र खा जाते हैं॥१३५७॥

यः साधुः सार्थतो भ्रष्टः, सिद्धि-मार्गानुयायिनः।
सोऽवसन्न-क्रियाः साधुः, सेवमानोऽस्त्यसंयतः ॥१३५८॥

कषायाक्ष-गुरुत्वेन, तपस्वी सुख-भावनः।
अवसन्न-क्रियो भूत्वा, सेवते करणालसः ॥१३५९॥

(इति अवसन्नः)

अर्थ - जो साधु निर्वाणमार्ग मे साथ चलने वाले सार्थ अर्थात् सघ को छोड़कर भ्रष्ट हो जाता है, वह अवसन्न क्रिया अर्थात् आवश्यक क्रियाओ मे शिथिल होता हुआ असयमी हो जाता है।

सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की इच्छायुक्त वह तपस्वी कषाय एव इन्द्रिय विषयो के आधीन होकर तेरह प्रकार के चारित्र में आलसी होता हुआ शिथिलाचारी हो जाता है। ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है॥१३५८-१३५९॥

इस प्रकार अवसन्न साधु प्रकरण पूर्ण हुआ।

पार्श्वस्थ नामक भ्रष्ट मुनि

हृषीक-तस्करैर्भीमैः, कषाय-श्वापदैरपि।
विमोच्य नीयते मार्गे, साधुः सार्थस्य पार्श्वतः ॥१३६०॥

अर्थ - जो साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी श्वापदों अर्थात् हिंसक जीवों द्वारा पकड़े जाने के कारण सुखी जीवन में आसक्त होता हुआ साधुरूपी व्यापारियों को छोड़ देता है और स्वच्छन्द होकर पार्श्वस्थ अर्थात् भ्रष्ट मुनियों का आचरण करने लगता है वह पार्श्वस्थ कहलाता है॥१३६०॥

साधुः सार्थं परित्यज्य, नीयमानो महाभयम्।
सहते दारुणं दुःखं, प्राप्तो गौरव-काननम्॥१३६१॥

अर्थ - साधु समूह रूपी सार्थ को छोडकर वे पार्श्वस्थ साधु ऋद्धि-गौरव, रस गौरव एव सात गौरव से भरे गहन वन में प्रविष्ट होकर दारुण अर्थात् तीव्र दुख सहन करते हैं॥१३६१॥

शल्य-दुःकण्टकैर्विद्धाः, पतिता दुःखमासते।
एकाकिनोऽटवीं याता, विद्धा वा विष-कण्टकैः॥१३६२॥

अर्थ - जैसे विषैले काँटो से विधे हुए मनुष्य अटवी मे अकेले पड़े हुए दुख पाते है, वैसे ही मिथ्या, माया और निदान शल्य रूपी काँटो से विद्ध हुए वे पार्श्वस्थ मुनि महादुखमयी स्थान को प्राप्त होते हैं॥१३६२॥

साधुः सार्थपथं त्यक्त्वा, स पार्श्वे याति संयतः।
पार्श्वस्थानां क्रियां याति, यश्चारित्र-विवर्जितः॥१३६३॥

अर्थ - वह पार्श्वस्थ साधु सार्थपथ अर्थात् साधुवर्ग के मार्ग को छोड़कर ऐसे मुनि के पास चला जाता है जो चारित्र से भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियो के सदृश आचरण करता है॥१३६३॥

कषायाक्ष-गुरुत्वेन, पश्यन्वृत्तं तृणं यथा।
भूत्वा निर्धर्मको याति, पार्श्वस्थानां सदा क्रियाः॥१३६४॥

(इति पार्श्वस्थः)

अर्थ - जो भ्रष्ट मुनि की सगति करता है वह कषाय एव इन्द्रियो की तीव्रता के भार से युक्त होता हुआ महाव्रतादि रूप चारित्र को तृण सदृश तुच्छ समझता है। इस प्रकार धर्मरहित होता हुआ वह साधु पार्श्वस्थ अर्थात् भ्रष्ट मुनि का आचरण करने लगता है॥१३६४॥

प्रश्न - पार्श्वस्थ मुनि को चारित्रभ्रष्ट क्यों कहा गया है?

उत्तर - कषाय और इन्द्रिय विषयो की तीव्रता से राग-द्वेषरूप अशुभ परिणाम होते हैं। ये अशुभ परिणाम तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक हैं, अत उस मुनि का ज्ञान दूषित हो जाता है जिससे वह चारित्र को सारहीन मानता है। चारित्र में आदरभाव न होना ही चारित्रभ्रष्टता है। चारित्रभ्रष्ट होकर वह मुनि पार्श्वस्थ मुनियो की सेवा में लग जाता है।

॥ इस प्रकार पार्श्वस्थ का कथन पूर्ण हुआ॥

कुशील नामक भ्रष्टमुनि

अक्ष-चौर-हताः केचित्, कषाय-व्याल-भीतितः।
उन्मार्गेण पलायन्ते, साधु-सार्थस्य दूरतः॥१३६५॥

अर्थ - कोई साधु इन्द्रिय रूपी चोरों द्वारा पीड़ित होकर तथा कषाय रूपी हिंसक पशुओं से भयभीत सार्थ अर्थात् सघ को दूर से छोड़ कर उन्मार्ग अर्थात् रत्नत्रय से विपरीत मार्ग पर भाग जाते हैं॥१३६५॥

ततोऽपथेन धावन्तः, कुशीलानां क्रियावने।
क्लेश-स्रोतोभिरुह्यन्ते, याताः संज्ञा-महानदीः ॥१३६६॥

अर्थ - कुमार्ग पर दौड़ते हुए वे साधु कुशीलरूप वन मे स्थित आहार, भय, मैथुन और परिग्रह सज्ञा रूपी महानदी को प्राप्त हो क्लेशरूपी प्रवाह द्वारा बहा कर ले जाये जाते हैं॥१३६६॥

संज्ञा-नदीषु ते मग्नाः, क्वचिदप्यनवस्थिताः।
पश्चाज्जन्मोदधिं यान्ति, दुःख-भीम-झषाकुलम् ॥१३६७॥

अर्थ - सज्ञारूपी महानदी मे डूब जाने वाले उस साधु को वहाँ कहीं पर भी स्थिर ठहरने का स्थान नहीं मिलता अत· वे आगे-आगे बहते जाते हैं और अन्ततोगत्वा भयानक दुखरूपी मछलियो से व्याप्त जन्म-मरणरूपी ससार-समुद्र मे प्रविष्ट हो जाते है॥१३६७॥

दुराशा-गिरि-दुर्गाणि, गत्वा दण्ड-शिलोत्करे।
भ्रष्टाः सन्ताश्चिरं कालं, गमयन्ति महाव्यथाः ॥१३६८॥

अर्थ - ससार-समुद्र मे प्रविष्ट हो जाने पर वे मुनि आशारूपी पर्वतो के दुर्गम स्थानो को लाघते हुए दण्ड रूपी निष्ठुर शिला पर गिरते हैं। अर्थात् मन, वचन और काय की असत् प्रवृत्तियो मे तल्लीन हो जाते है, इस प्रकार चारित्र से भ्रष्ट होकर चिरकाल तक महादुख भोगते हुए समय बिताते हैं।।१३६८॥

पापकर्म-महाटव्यां, विप्रनष्टाः कदाचन।
सुख-मार्गमपश्यन्तस्तत्रैवायान्ति ते पुनः ॥१३६९॥

अर्थ - अशुभ कर्मरूप महा भयकर अटवी मे दिग्मूढ़ हुए वे मुनि निर्वाणमार्ग कभी न देख पाने से पुन पुन वहीं भ्रमण करते हैं। अर्थात् सर्वप्रथम वे उत्तर गुण छोड़ते है फिर मूलगुण और सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट होकर अनन्तकाल पर्यन्त ससार मे भटकते रहते है॥१३६९॥

साधु-सार्थं स दूरेण, त्यक्त्वोन्मार्गेण नश्यति।
क्रिया यान्ति कुशीलानां, या सूत्रे प्रतिदर्शिताः ॥१३७०॥

अर्थ - ऐसे साधु साधर्मियो के सग को दूर से ही त्याग कर कुमार्ग मे दौड़ते हुए चारित्रभ्रष्ट हो जाते है और आगम मे कही हुई कुशील मुनियो की क्रियाओ के सदृश ही आचरण करने लगते हैं॥१३७०॥

कषायाक्ष-गुरुत्वेन, वृत्तं पश्यंस्तृणं यथा।
सेवते ह्रस्वको भूत्वा, कुशील-विषयाः क्रियाः ॥१३७१॥

(इति कुशीलः)

अर्थ - वे मुनि इन्द्रिय और कषायरूप परिणामो की तीव्रता के कारण चारित्र को तृण के सदृश मानते हैं और अत्यन्त हीन अर्थात् निर्लज्ज होकर कुशील विषयजन्य क्रियाओ का आचरण करते हैं॥१३७१॥

॥ इस प्रकार कुशील मुनि का कथन पूर्ण हुआ॥

स्वच्छन्द नामक भ्रष्ट मुनि

केचित्सिद्धि-पुरासन्नाः, कषायेन्द्रिय-तस्करैः।
मुक्तमाना निवर्तन्ते, लुप्त-चारित्र-सम्पदः ॥१३७२॥

अर्थ - कोई मुनि निर्वाणनगर के निकट तक जाकर भी कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरो के द्वारा चारित्ररूपी सम्पदा चुरा लेने के कारण सयम का अभिमान त्याग, मिथ्यात्वी होते हुए वापिस लौट आते हैं॥१३७२॥

ततः शील-दरिद्रास्ते, लभन्ते दुःखमुल्वणम्।
बहुभेद-परीवारा, निर्धना इव सर्वदा ॥१३७३॥

अर्थ - जैसे बहुत परिवार वाला दरिद्री मनुष्य तीव्र दुख पाता है, वैसे ही वे शील से दरिद्री भ्रष्ट मुनि ससार के महाभयकर दुख भोगते हैं॥१३७३॥

स सिद्धि-यायिनः साधुर्निर्गतः साधु-मार्गतः।
स्वच्छन्द-स्वेच्छमुत्सूत्रं, चरित्रं यः प्रकल्पते ॥१३७४॥

अर्थ - निर्वाण मार्ग मे चलने वाले साधु सघ से निकल कर पूर्वाचार्यों द्वारा नहीं प्रतिपादित आगमविरुद्ध मार्ग की जो अपनी स्वेच्छानुसार कल्पना करते हैं, वे चारित्रभ्रष्ट स्वच्छन्द साधु होते हैं॥१३७४॥

यज्जायते यथाछन्दो, नितरामपि कुर्वतः।
वृत्तं न विद्यते तस्य, सम्यक्त्व-सह चारितः ॥१३७५॥

अर्थ - जो बाह्य मे उत्कृष्ट सयमाचरण का दिखावा करते हुए भी मनचाही प्रवृत्तियों मे यथाछन्द हो गया है उसके सम्यक्त्व का सहचारी चारित्र नहीं होता॥१३७५॥

प्रश्न - यथाछन्द साधु के सम्यक्त्व नहीं होता, यह कैसे जाना ?

उत्तर - पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित आगम पर दृढ श्रद्धा रखते हुए यथाशक्ति आचरण स्वय करना और शिष्य समुदाय से कराना यही सम्यक्त्वी का लक्षण है, किन्तु जो स्वच्छन्द होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार ही आचरण करता/कराता है और उसी का प्रचार-प्रसार करता है, आगम का अनुसरण नहीं करता, अत सिद्ध हो जाता है कि उसके सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के तो आगम ही प्राण होते हैं।

जिनेन्द्र-भाषितं तथ्यं, कषायाक्ष-गुरुकृतः।
प्रमाणी-कुरुते वाक्यं, यथाछन्दो न दुर्मनाः ॥१३७६॥

(इति स्वच्छन्दः)

अर्थ - कषाय और इन्द्रियों की प्रबलता के भार से आक्रान्त यथाछन्द भ्रष्ट साधु खोटे मन वाला होता है, अत· वह आगम को प्रमाण नहीं मानता और जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए अर्थ को अपनी इच्छानुसार विपरीत रूप से ग्रहण कर उसे ही प्रमाणभूत मानता है॥१३७६॥

॥ स्वच्छन्द नामक भ्रष्ट मुनि का कथन पूर्ण हुआ॥

संसक्त नामक भ्रष्ट मुनि

कषायेन्द्रिय दोषेण, वृत्तात् सामान्य-योगतः।
यः प्रभ्रष्टः परिश्रान्तः, स भ्रष्टः साधु-सार्थतः ॥१३७७॥

अर्थ - जो कषाय एव इन्द्रियों के दोष के कारण सामान्य ध्यानादि से विरक्त हो चारित्र से गिर जाता है वह अपने आचरण से परिश्रान्त अर्थात् च्युत होता हुआ साधुसघ से पृथक् हो जाता है अर्थात् साधु-संघ को छोड़ देता है॥१३७७॥

स्थानानि तानि सर्वाणि, कषायाक्ष-गुरुकृताः।
संसक्ताः सकलैर्दोषैः केचिद्गच्छन्ति दुर्धियः ॥१३७८॥

अर्थ - कोई दुर्बुद्धि मुनि कषाय एव इन्द्रियो की तीव्रता द्वारा निर्मित सम्पूर्ण दोषों से ससक्त अर्थात् युक्त होकर उन सब अशुभ स्थानो को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् सर्व अशुभ परिणामो को प्राप्त हो जाते हैं॥१३७८॥

इत्येते साधवः पञ्च, निन्दिता जिन-शासने।
प्रत्यनीक-क्रियारम्भाः, कषायाक्ष-गुरुकृताः ॥१३७९॥

अर्थ - इस प्रकार अवसन्न, पार्श्वस्थ, कुशील, यथाछन्द और ससक्त ये पाँच प्रकार के साधु जिनागम मे निन्दनीय कहे गये हैं। ये सदा कषायो एव इन्द्रिय विषयो में आसक्ति की प्रबलता के कारण साधु पद के विरुद्ध आचरण करते हैं॥१३७९॥

दुरन्ताश्चञ्चला दुष्टा, वृत्त-सर्वस्व-हारिणः।
दुर्जयाः सन्ति जीवानां, कषायेन्द्रिय-तस्कराः ॥१३८०॥

अर्थ - इन्द्रिय-विषय एव कषायरूप परिणाम ही यथार्थत दुर्जय चोर हैं। ये अन्त मे अत्यन्त खोटा फल देते हैं, दुष्ट हैं, अनवस्थित होने से चचल हैं और साधुओ का चारित्ररूपी धन हरण करने वाले हैं॥१३८०॥

प्रश्न - साधुओ के भी कषायरूप परिणाम और इन्द्रिय-विषयभोग के परिणाम क्यो होते हैं? और इन्हे चचल एव नित्यादि क्यो कहा है?

उत्तर - ससारी जीवों के साथ जब तक चारित्र मोहनीय कर्म का सम्बन्ध रहेगा तब तक आत्मा मे इन्द्रिय-विषयों का और कषायो का सद्भाव रहेगा-ही-रहेगा। जिन जीवो के चारित्रमोह के क्षयोपशम की प्रकर्षता नहीं होती वे जीव बड़े कष्ट से इन पर विजय प्राप्त कर पाते हैं। इन्हीं मे से जो जीव इनके आधीन हो जाते हैं वे चारित्र से भ्रष्ट होकर बह जाते हैं। इन्द्रियों और कषायों का परम्परागत सम्बन्ध बना रहता है अत ये नित्य सदृश हैं। कषाय परिणाम कभी एक स्वरूप मे नहीं रहते, कभी क्रोध, कभी मान कभी लोभादि रूप होते रहते हैं अत इन्हें चचल कहा है। यह अनुभवसिद्ध बात है कि भोगों के अलाभ में या प्राप्ति हो जाने पर या उनका नाश हो जाने पर जीवो को कष्ट होता है अत इन भोगों को दुष्ट कहा गया है।

छिद्रापेक्षाः सेव्यमाना विभीमा, नो पार्श्वस्थाः कस्य कुर्वन्ति दुःखम्।
क्रोधाविष्टाः पन्नगा वा, द्विजिह्वाः विज्ञायेत्थं दूरतो वर्जनीयाः ॥१३८१॥

अर्थ - ये पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनि दूसरों के दोष ढूढने वाले हैं, भयानक हैं और क्रोधित सर्प के समान या दुमुँही के समान हैं। जो इनकी संगति करता है उनमें से ये किसको दुख नहीं देते ? अपितु सभी को दुख देते हैं। ऐसा जान कर इन्हे दूर से ही छोड़ देना चाहिए॥१३८१॥

तृण-तुल्यमवेत्य विशिष्टफलं, परिमुच्य चरित्रमपास्तमलम्।
बहुदोष-कषाय-हृषीक-दशा, निवसन्ति चिरं कुगतावबशाः ॥१३८२॥

(इति संसक्ता)

अर्थ - अनुपम फल देने वाले निर्दोष चारित्र को तृण के समान मान कर छोड़ देते हैं और अत्यधिक दोषो के निधान स्वरूप कषायों एव इन्द्रियो के आधीन हो जाते हैं। इस प्रकार अशुभ भावों के वशवर्ती हो ये भ्रष्ट मुनि कुगतियो में चिरकाल तक निवास करते हैं॥१३८२॥

इस प्रकार संसक्त मुनि का कथन पूर्ण हुआ॥

दृष्टान्त पूर्वक भ्रष्ट मुनियों की अवस्था

कश्चिद्दीक्षामुपेतोऽपि, कषायाक्षं निषेवते।
तैलमागुरवं बस्तः, प्रतिवाति पिबन्नपि ॥१३८३॥

अर्थ - जैसे अगुरु चन्दन का अत्यन्त सुगन्धित तेल पीता हुआ भी बकरा अपनी दुर्गन्ध नहीं छोड़ता, वैसे ही जिनदीक्षा लेकर अर्थात् असयम का परित्याग कर देने पर भी कोई-कोई साधु कषायों और इन्द्रिय-विषयो का आनन्द से सेवन करते हैं। अर्थात् कषायो और विषयो की भयकर दुर्गन्ध नहीं छोड़ पाते॥१३८३॥

मुक्त्वापि कश्चन ग्रन्थं, कषायाक्षं न मुञ्चति।
हित्वापि कञ्चुकं सर्पो, विजहाति विषं नहि॥१३८४॥

अर्थ - जैसे सर्प काचली छोड देता है किन्तु विष नहीं छोड पाता, वैसे ही कितने मनुष्य बाह्य परिग्रह त्याग करके भी कषायो एव इन्द्रिय-विषयों को नहीं छोड़ पाते॥१३८४॥

दीक्षितोप्यधमः कश्चित्, कषायाक्षं चिकीर्षति।
शूकरः शोभनैः रत्नैर्मलं तृप्तोपि कांक्षति॥१३८५॥

अर्थ - जैसे सूकर सुन्दर एव उत्तम रत्न स्वरूप उत्तमोत्तम भोजन से तृप्त हो जाने पर भी मल (विष्ठा) की इच्छा करता रहता है, वैसे ही कोई-कोई नीच मनुष्य दीक्षित होकर भी कषाय भावों की मलिनता एव इन्द्रिय भोगो की वाछा करते रहते हैं अर्थात् उन्हें नहीं छोड पाते॥१३८५॥

प्रश्न - इस श्लोक का तात्पर्यार्थ क्या है ?

उत्तर - इसका तात्पर्य यह है कि जैसे सूकर विष्ठाभक्षण का ही अभ्यासी है अत: वह कदाचित् अच्छे

पदार्थ खाकर तृप्त हो गया हो, फिर भी सस्कारों की वशवर्तिता से विष्ठा को देखते ही उसे खाने की इच्छा करेगा। वैसे ही मनुष्य को गृहस्थावस्था मे पद-पद पर राग, द्वेष, लोभ, ईर्षा, मात्सर्य एव मायाचार के भाव तथा मनोहर भोजन-पानादि विषयो के सेवन का अभ्यास रहता है अत: दीक्षित होकर भी कदाचित् कोई अधम पूर्व सस्कारों के वशवर्ती हो उन्हीं कषायों एव विषयों मे तल्लीन रहते हैं और उन्हीं को चाहते हैं।

दृष्टान्तों द्वारा कहते हैं कि गुरु के उपदेश से एवं स्वय के पुरुषार्थ से भोगों का तथा परिग्रह का त्याग करके भी पुन: उन्हीं की वांछा करता है

विहाय हरिणो यूथं, व्याध-भीत: पलायित:।
स्वयं पुनर्यथा याति, वागुरां यूथ-तृष्णया ॥१३८६॥

अर्थ - जैसे शिकारी के भय से भागा हुआ कोई हिरण अपने झुण्ड को जाल में फँसा देखकर भी झुण्ड को प्राप्त करने की तृष्णा से स्वय आकर पुन उस जाल मे फँस जाता है॥१३८६॥

आरामे विचरन्स्वेच्छं, पतत्री पञ्जर-च्युत:।
यथा याति पुनर्मूढ:, पञ्जरं नीड-तृष्णया ॥१३८७॥

अर्थ - जैसे पिंजरे से मुक्त हुआ पक्षी उद्यानो मे स्वेच्छा पूर्वक विचरण करते हुए स्वय ही अपने नीड़ अर्थात् आवासप्रेम की आसक्ति से उसी पिंजरे मे चला जाता है॥१३८७॥

उत्तारित: करीन्द्रेण, पङ्कत: कलभो यथा।
स्वयमेव पुन: पङ्कं, प्रयाति जल-तृष्णया ॥१३८८॥

अर्थ - जैसे महती कीचड़ मे फँसा हाथी का बच्चा हाथी के द्वारा निकाल दिया गया, किन्तु जल की तृष्णावश अर्थात् जल पीने की इच्छा से वह स्वय ही जाकर उसी कीचड मे फँस गया॥१३८८॥

उड्डीय शाखिन: पक्षी, सर्वतो वह्निवेष्टितात्।
तत्रैव नीड-लोभेन, यथा याति पुन: स्वयम्॥१३८९॥

अर्थ - पूर्णरूपेण अग्नि से घिरे हुए वृक्ष का त्याग कर अपने घोसले के लोभ से जैसे कोई पक्षी पुनरपि स्वय उसी वृक्ष पर आ जाता है॥१३८९॥

लङ्घ्यमानोऽहिना सुप्तो, जाग्रतोत्थापितो यथा।
कौतुकेन तमादातुं, कश्चिदिच्छति मूढ-धी: ॥१३९०॥

अर्थ - जैसे किसी सोते हुए मनुष्य के ऊपर से सर्प जा रहा था। किसी दयावान् मनुष्य ने उसे जगाकर उठा दिया, किन्तु वह मूढ़ बुद्धि उठ कर कौतूहलवश उस सर्प को पकड़ना चाहता है॥१३९०॥

स्वयमेवाशनं वान्तं, निर्लज्जो निर्घृणाशय:।
सारमेयो यथाश्नाति, कृपणोऽशन-तृष्णया ॥१३९१॥

अर्थ - जैसे कोई कृपण, निर्लज्ज और घिनावना कुत्ता भोजन की तृष्णावश अपने ही वमन किये हुए भोजन को लोलुपता से खाता है॥१३९१॥

गृहवासं तथा त्यक्त्वा, कश्चिद्दोष-शताकुलम्।
कषायेन्द्रिय-दोषार्तो, याति तं भोग-तृष्णया ॥१३९२॥

अर्थ - वैसे ही सैकड़ो दोषो से युक्त गृहवास को छोड़कर कोई दीक्षा ग्रहण करता है किन्तु भोगों की तृष्णा के वशवर्ती हो कषाय और इन्द्रियविषयो की पीड़ा से भरे हुए गृहवास को पुनः स्वीकार कर लेता है॥१३९२॥

प्रश्न - गृहवास को सैकड़ों दोष युक्त एव बुरा क्यों कहा जा रहा है ?

उत्तर - गृहस्थाश्रम ममत्व का अनुष्ठान अर्थात् "यह मेरा है" इस ममत्व का मूल कारण है, इसके स्वामी को माया एव लोभ के जनक ऐसे जीवनोपाय सदैव करने पड़ते हैं, यह सर्व कषायों की खान है, दूसरों को पीड़ा देने तथा दूसरों का अनुग्रह करने मे सदैव तत्पर रहता है, षट्काय के जीवसमूह के विघात का द्वार है, परिजनों द्वारा दुराचारादि का सेवन कर लेने के कारण अपकीर्ति होती है अत यह मलिनता का कारण है। इसका निवासी मन, वचन, काय से सचित्ताचित्त द्रव्यों के ग्रहण और वृद्धि का सदैव प्रयास करता रहता है। इसमे रह कर मनुष्य असार में सारता, अनित्य में नित्यता, अशरण मे शरणता, अशुचि में शुचिता, दुख में सुखपना, अहित मे हितपना, अनाश्रय मे आश्रयपना तथा शत्रु में मित्रता मानता हुआ सब ओर दौड़ता है। जिससे निकलना कठिन है ऐसे काल रूपी लोहे के पिंजरे रूपी पेट मे गये सिंह के सदृश, जाल मे फँसे हिरणो के सदृश, अन्याय रूपी कीचड मे धँसे वृद्ध हाथी के सदृश, पाशबद्ध पक्षी सदृश, जेल में बन्द चोर सदृश, व्याघ्रो के मध्य बैठे हुए निर्बल हिरण के सदृश एव जाल में फँसे मगरमच्छ के सदृश, जिस गृहस्थाश्रम मे रहने वाला गृहस्थ काल रूपी अत्यन्त गाढ अन्धकार के पटल से आच्छादित हो जाता है ; उसे सदा राग रूपी महानाग सताते रहते है, चिन्ता रूपी डाकिनी सदा मुख फाडे रहती है, शोक रूपी भेड़िये उसके पीछे दौडते रहते हैं, कोप रूपी अग्नि सतत जलाती रहती है, दुराशारूपीलताएँ उसे चारो ओर से वेष्टित किये रहती हैं, प्रिय वियोगरूपी वज्रपात उसके हृदय के टुकड़े-टुकडे कर देता है, माया रूपी बुढ़िया उससे निरन्तर चिपकी रहती है, तिरस्कार रूपी कठोर कुठार उसे काटता रहता है, अपयश रूपी मल से उसका चित्त मलिन रहता है, महामोह रूपी सबल हाथी के द्वारा वह मारा जाता है, पाप रूपी पातकों द्वारा वह ज्ञान-शून्य कर दिया जाता है, भय रूपी सुइयो से सतत कौंचा जाता है, प्रतिदिन श्रमरूपी कौओं के द्वारा खाया जाता है। ईर्षारूपी काजलसे विरूप किया जाता है, परिग्रह रूपी मगरमच्छो द्वारा पकड़ा जाता है, असूयारूपी पत्नी का प्यारा होता है, मानरूपी दानव का स्वामी होता है। वह सयममार्ग पर पैर नहीं रख पाता, अपने आप को संसाररूपी जेल से नहीं छुडा पाता, मृत्यु रूपी विषवृक्ष को नहीं जला पाता, मोहरूपी साँकल को नहीं तोड़ पाता, अपने को नाना प्रकार की योनियो मे जाने से नहीं रोक पाता, कर्मों का जडमूल से विनाश नहीं कर पाता, विशाल एव धवल चारित्र रूपी तीन छत्रो की छाया का सुख प्राप्त नहीं हो पाता एव अपनी आत्मा को सुखभूत स्थान पर नहीं ले जा पाता, इसी कारण गृहवास को दोषपूर्ण कहा गया है।

दीक्षा लेकर भी विषय-कषायों के वशीभूत होने वालो की स्थिति

बन्ध-मुक्तः पुनर्बन्धं, निश्चितं स यियासति।
यो दीक्षितः कषायाक्षान्सिषेवयिषते कुधीः ॥१३९३॥

अर्थ - जो दीक्षित होकर भी कषायों एव इन्द्रियों के विषयों का सेवन करने की इच्छा करता है वह दुर्बुद्धि निश्चित ही बन्धनमुक्त होकर मानों पुन: बन्धन मे पड़ना चाहता है ॥१३९३॥

दीक्षित्वापि पुनः साधुः, कषायाक्ष-कलिं यदि।
जिघृक्षति कलिं मुक्त्वा, पुनः स्वीकुरुते कलिम् ॥१३९४॥

अर्थ - जो दीक्षित होकर भी कषाय एव इन्द्रिय विषय रूपी कलह को चाहता है वह मनुष्य कलह का त्याग कर मानों पुन. उसी कलह को स्वीकार करता है, क्योंकि इस लोक में कषायों एव इन्द्रियविषयों के कारण ही कलह होती है ॥१३९४॥

विधाय ज्वलितं हस्ते मुर्मुरं स बभुक्षते।
आक्रामति स कृष्णाहिं, व्याघ्रं स्पृशति सक्षुधम् ॥१३९५॥

अर्थ - जो दीक्षित होकर पुनरपि कषाय एव इन्द्रिय विषयो को स्वीकारता है वह हाथ में स्थित धधकते अलात को मानों नहीं छोड़ना चाहता, या कृष्ण सर्प को लाघ कर जाना चाहता है, या क्षुधा-पीडित व्याघ्र का स्पर्श करना चाहता है ॥१३९५॥

कण्ठालग्न-शिलोऽगाधं, सोऽज्ञानो गाहते ह्रदम्।
अबलो वापि यो दीक्षां, कषायाक्षं प्रपद्यते ॥१३९६॥

अर्थ - जो दीक्षा लेकर भी कषायो एव इन्द्रियो के आधीन रहता है वह अज्ञानी मानों अपने गले मे पत्थर की शिला बाँध कर अगाध समुद्र में प्रवेश करता है ॥१३९६॥

गृहीतोऽक्ष-ग्रहाघ्रातो, नापरो ग्रह-पीडितः।
अक्षयः स सदा दोषं, विदधाति कदाग्रहः ॥१३९७॥

अर्थ - जो इन्द्रिय रूपी ग्रह से पकड़ा हुआ है, वही यथार्थत ग्रहपीड़ित है। जो शनि आदि ग्रह से पीड़ित है वह ग्रह पीड़ित नहीं है, क्योकि ग्रह तो कदाचित् (अधिक से अधिक एक भव में) ही कष्ट देते हैं किन्तु इन्द्रियरूपी ग्रह भव-भव मे सतत कष्ट देते हैं ॥१३९७॥

कषाय-मत्त उन्मत्तः, पित्तोन्मत्तोऽपि नो पुनः।
प्रमत्तं कुरुते पापं, द्वितीयो न तथा स्फुटम् ॥१३९८॥

अर्थ - जो कषाय से उन्मत्त है, वही यथार्थत उन्मत्त/पागल है, जो पित्त प्रकोप से उन्मत्त है वह उन्मत्त नहीं है, क्योकि जो कषाय से उन्मत्त है वह जैसा पाप करता है, पित्तज्वर से उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता ॥१३९८॥

प्रश्न - कषायोन्मत्त और पित्त से उन्मत्त, इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर - पित्तज्वर से उत्पन्न उन्माद मात्र विवेकमूलक ज्ञान का ही तिरस्कार करता है किन्तु एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसादि पापों में और विषय-वासनाओं में प्रवृत्ति कराती है। वे प्रवृत्तियाँ कर्मों के स्थितिबन्ध एव अनुभागबन्ध के साथ-साथ जीव के ससार-भ्रमण को भी वृद्धिंगत करती हैं, अत· इन दोनो प्रकार के उन्मादों मे बहुत बड़ा अन्तर है।

कषायाक्ष-पिशाचेन, पिशाची-क्रियते जनः।
जनानां प्रेक्षणीभूतस्तीव्र-पाप-क्रियोद्यतः ॥१३९९॥

अर्थ - कषाय एव इन्द्रियरूपी पिशाच मनुष्य को पिशाचरूप ही कर देता है, पिशाच तो अदृश्य रहकर कुचेष्टा कराता है किन्तु कषाय और इन्द्रियरूपी पिशाच अन्य मनुष्यो के देखने योग्य तीव्र पापमयी कुचेष्टाएँ कराते हैं॥१३९९॥

कुलवान संयमी साधुओं का कर्त्तव्य

संयतस्य कुलीनस्य, योगिनो मरणं वरम्।
लोकद्वय-सुख-ध्वंसि, न कषायाक्ष-पोषणम् ॥१४००॥

अर्थ - सयमी और कुलीन साधु का मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इस लोक और परलोक के सुख का नाश करने वाले कषायो एव इन्द्रियो का पोषण उसे कभी नहीं करना चाहिए॥१४००॥

निन्द्यते संयतः सर्वैः, कषायाक्ष-वशंगतः।
सन्नद्धो धृत-कोदण्डो, नश्यन्निव रणाङ्गणे ॥१४०१॥

अर्थ - जैसे धनुष-बाण हाथ मे लेकर युद्ध के लिए तैयार हुआ कोई योद्धा यदि युद्धक्षेत्र से भागता है तो वह सभी के द्वारा निन्दा का पात्र होता है, वैसे ही दीक्षित साधु यदि कषायो एव इन्द्रियो के आधीन होता है तो वह भी सभी के द्वारा निन्दनीय होता है॥१४०१॥

कषायाक्ष-वश-स्थायी, दूष्यते कैर्न सयतः।
याचमानो यथा भिक्षां, भूषितो मुकुटादिभिः ॥१४०२॥

अर्थ - जैसे मुकुट, हार एव कुण्डलादि आभूषणो से सुशोभित कोई भिक्षार्थ भ्रमण करता है तो हँसी एव निन्दा का पात्र होता है, वैसे ही दीक्षित होकर कषायो तथा इन्द्रियो के वशीभूत होने वाला साधु हँसी का पात्र होता है॥१४०२॥

सर्वाङ्गीण-मलालीढो, नग्नो मुण्डो महातपाः।
जायते सकषायाक्षश्चित्र-श्रमण-सन्निभः ॥१४०३॥

अर्थ - अस्नान मूलगुण की पालना के कारण जो सर्वांग मे मललिप्त है, वस्त्रमात्र का त्याग होने से जो नग्न है, केशलोच करने के कारण मुण्ड है और अनशनादितप करने के कारण महातपस्वी है किन्तु यदि वह कषाय एव इन्द्रिय-विषयजन्य परिणामो से युक्त है तो वह साधु चित्र-अकित श्रमण सदृश है अर्थात् श्रमणरूप का धारी होने पर भी श्रमण नहीं है॥१४०३॥

कषाय एव इन्द्रिय विजय से लाभ

ज्ञानदोषविनाशाय, कषायेन्द्रिय-निर्जयः।
शस्त्रं शत्रु-विघाताय, जायते सत्व-सम्भवे ॥१४०४॥

अर्थ - जैसे धैर्यशाली मनुष्य का शस्त्र ही शत्रु का विघात करता है, वैसे ही कषाय एव इन्द्रिय विजेता साधु का ही ज्ञान, दोषों का अर्थात् कर्मों का क्षय करने में समर्थ होता है॥१४०४॥

दोषाय जायते ज्ञानं, कषायेन्द्रिय-दूषितम्।
आहारो हरते किं न, जीवितं विष-मिश्रितम्॥१४०५॥

अर्थ - कषाय और इन्द्रिय-विषय रूप परिणामों के दोष से ज्ञान भी साधुओं में दोष ही उत्पन्न करता है। अर्थात् दूषित ज्ञान कर्मबध का कारण है। सो ठीक ही है, क्या विषमिश्रित आहार जीवन का नाश नहीं करता अपितु करता ही है॥१४०५॥

विदधाति गुणं ज्ञानं, कषायेन्द्रिय-वर्जितम्।
वपुर्योग्यं करोत्यन्नं, बल-वर्णादि-सुन्दरम्॥१४०६॥

अर्थ - जैसे शरीर के योग्य विष रहित उत्तम आहार बल, रूप, तेज एव लावण्यादि को बढ़ाता है, वैसे ही कषाय एव इन्द्रिय विषय रूप परिणामो से रहित ज्ञान साधुओ के गुणो को वृद्धिंगत करता है॥१४०६॥

कषायेन्द्रिय-दोषेण, ज्ञानं नाशयते गुणम्।
शस्त्रमात्म-विनाशाय, किन्न भीरु-करस्थितम्॥१४०७॥

अर्थ - कषाय एव इन्द्रिय रूप परिणामो के दोष से ज्ञान साधुओ के गुणों को नष्ट कर देता है। ठीक ही है, कायर पुरुष के हाथ मे आया हुआ शस्त्र क्या उसके ही वध मे निमित्त नहीं होता ? अपितु होता ही है॥१४०७॥

कषायेन्द्रिय-दोषार्तः, शास्त्रज्ञोऽप्यवमन्यते।
कि प्रेतः शस्त्र-हस्तोऽपि, न खगैः परिभूयते॥१४०८॥

अर्थ - कषाय एव इन्द्रियो के दोष से भली प्रकार शास्त्रो का ज्ञाता विद्वान् साधु भी अपमान का पात्र होता है। ठीक है, हाथ मे शस्त्र होते हुए भी मृत योद्धा के शव को क्या गृद्ध आदि पक्षी नहीं खा जाते ? अपितु खा ही जाते है॥१४०८॥

वर्त्ते नाक्ष-कषायार्तः, श्रुतज्ञोऽपि प्रवर्तते।
उड्डीयते कुतः पक्षी, लून-पक्षः कदाचन॥१४०९॥

अर्थ - जैसे कटे हुए पख वाला पक्षी इच्छा करते हुए भी उड नहीं सकता, वैसे ही इन्द्रियविषयो एव कषायो के वशवर्ती हुआ बहुश्रुतज्ञ विद्वान् भी चारित्र मे उद्यम नहीं कर पाता॥१४०९॥

स्रंसते बह्वपि ज्ञानं, कषायेन्द्रिय-दूषितम्।
सशर्करमपि क्षीरं, सविषं मंक्षु नश्यति॥१४१०॥

अर्थ - जैसे शर्करा या मिश्री मिश्रित भी दूध विष के सम्पर्क से शीघ्र ही नष्ट अर्थात् विषैला हो जाता है, वैसे ही कषायो एव इन्द्रियों के योग से विशाल ज्ञान भी नष्ट हो जाता है॥१४१०॥

ज्ञानं परोपकाराय, कषायेन्द्रिय-दूषितम्।
किमूढमुपकाराय, रासभस्य हि चन्दनम्॥१४११॥

अर्थ - कषायों और इन्द्रियो से दूषित ज्ञान मात्र परोपकार के लिए होता है। ठीक ही है, गधे के द्वारा ढोया हुआ चन्दन क्या कभी गधे का उपकार करता है? अपितु नहीं करता॥१४११॥

प्रश्न - दूषित ज्ञान पर का उपकारी होता है, यह कैसे कहा?

उत्तर - गधे को चन्दन की सुगन्ध का ज्ञान नहीं होता अत उसकी पीठ पर लदे हुए चन्दन से गधे को कोई लाभ नहीं होता, उसका लाभ अन्य लोग ही लेते हैं। वैसे ही शास्त्रज्ञान का फल है कषायों का शमन एव इन्द्रियों के विषयो से विरक्ति। किन्तु जिनका ज्ञान इन्हीं दूषणों से दूषित है, वह ज्ञान परोपकार के लिए ही माना जायेगा। आत्मा, ज्ञान गुण से भिन्न नहीं है अत उसे स्वय अपना ही उपकार करना चाहिए, किन्तु दूषित हो जाने से वह स्वोपकारी नहीं बन पाता, उपदेश आदि के निमित्त से दूसरो का उपकार अवश्य कर देता है। स्वोपकार मे कषाये एव भोग-विषय बाधक बन जाते हैं।

कषायाक्ष-गृहीतस्य, न विज्ञानं प्रकाशते।
निमीलितेक्षणस्येव, दीप: प्रज्वलितो निशि॥१४१२॥

अर्थ - जैसे जिसने अपने नेत्र बन्द कर रखे हैं उसके लिए रात्रि मे तीव्रता से जलता हुआ भी दीपक पदार्थो को प्रकाशित करने मे समर्थ नहीं होता, वैसे ही जिसका ज्ञान इन्द्रियों एव कषायो से प्रभावित रहता है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूप का प्रकाशक नहीं होता॥१४१२॥

बहिर्निभृत-वेषेण, गृहीते विषयान्सदा।
अन्तरामलिन· कङ्को, मीनानिव दुराशय:॥१४१३॥

अर्थ - जैसे बाह्य से श्वेत एव निश्चल खड़ा बगुला अन्तरग के खोटे परिणामो से युक्त होने के कारण अपनी ही चोच से मछलियो को खाता है, वैसे ही बाह्य मे नग्न दिगम्बर मुद्रा एव गमनागमनादि क्रियाओ के द्वारा अन्तरग मे स्थित इन्द्रियविषयो एव कषाय युक्त मलिन परिणामो को मायाचार द्वारा छिपाते हुए सदा विषयो का सेवन करता है॥१४१३॥

घोटकोच्चार-तुल्यस्य, किमन्त: कुथितात्मन:।
दुष्टस्य बक-चेष्टस्य, करिष्यति बहि: क्रिया॥१४१४॥

अर्थ - जैसे घोड़े की लीद ऊपर से चिकनी किन्तु भीतर खुरदरी एव दुर्गन्धित होती है अत: उससे क्या लाभ? वैसे ही जो साधु दुष्ट-स्वभावी बगुले के सदृश चेष्टा करता है उसकी प्रतिक्रमणादि बाह्य क्रियाएँ एव अनशनादि बाह्य तपोवृत्तियाँ (अभ्यन्तर तपोवृत्ति नष्ट कर देने वाले) उस कुथित आत्मा को क्या फल प्रदान करेगी ? कुछ भी नहीं॥१४१४॥

मता बहि: क्रिया-शुद्धिरन्तर्मल-विशुद्धये।
बहिर्मल-क्षयेनैव, तन्दुलोऽन्तर्विशोध्यते॥१४१५॥

अर्थ - अन्तरग मल की विशुद्धि के लिए बाह्य क्रियाशुद्धि मानी जाती है क्योंकि चावल के तुषादि बाह्यमल के क्षय होने पर ही उसकी लालिमादि अन्तरग मल की विशुद्धि होना सम्भव है॥१४१५॥

प्रश्न - बाह्य तप भी अपना फल देता है तब उसे गौण क्यों किया जा रहा है ?

उत्तर - "जो जिसके लिए होता है वही प्रधान होता है" इस नीत्यनुसार अभ्यन्तर तप प्रधान है। जैसे चावल का तुषादि बाह्य मल निकालने के बाद ही उसका लालिमादि अन्तरग मल शुद्ध किया जा सकता है वैसे ही शीघ्र ही बहुत सारे कर्मों की निर्जरा करने की क्षमता वाले अभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिए अनशनादि बाह्य तप किये जाते हैं, फिर भी जैसे चावल का बाह्य तुष पहले निकाला जाता है पश्चात् अभ्यन्तर की लालिमा निकलती है, उसी प्रकार सर्वप्रथम बाह्य-क्रियाशुद्धि होती है, पश्चात् अन्तरग शुद्धि होती है। यदि अन्तरग शुद्धि नहीं हुई तो बाह्य क्रियाशुद्धि व्यर्थ है।

अन्तः शुद्धौ बहिः शुद्धिर्निश्चिता जायते यतः।
बाह्यं हि कुरुते दोषमन्तर्दोषं विना कुतः॥१४१६॥

अर्थ - अन्तरग शुद्धि होने पर नियमत बाह्य शुद्धि होती है, क्योकि इन्द्रियकषायादि परिणामरूप अभ्यन्तर दोषो के बिना साधु असत्य भाषणादि बाह्य दोष कहाँ से करेगा ? नहीं करेगा, अत अन्तरग परिणाम निर्मल बनाये रखने का पुरुषार्थ सतत करते रहना चाहिए॥१४१६॥

बहिः शुद्धिर्यतो लिङ्गमन्तः शुद्धेः प्रजायते।
नान्तः कोप-विमुक्तेन, भृकुटिः क्रियते बहिः॥१४१७॥

अर्थ - जो अन्तरग मे क्रोधादि कषायो से रहित है वह पुरुष बाह्य मे भौंहादि टेढी नहीं करता, इससे सिद्ध होता है कि अनशनादि तप विषयक बाह्य शुद्धि अभ्यन्तर परिणामो की विशुद्धि का चिह्न है।१४१७॥

प्रश्न - बाह्य एव अन्तरग शुद्धि मे क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर - जैसे आग होने पर ही धूम्र होता है वैसे ही बाह्य शुद्धि, अभ्यन्तर शुद्धि पर अवलम्बित है। जैसे धूम्र लिंग है और अग्नि लिगी है, वैसे ही साधु की बाह्य शुद्धि लिंग है और अभ्यन्तर शुद्धि लिगी है। इन दोनों शुद्धियो मे जैसे लिग-लिंगी सम्बन्ध है, वैसे ही अविनाभाव सम्बन्ध भी है।

प्रश्न - अविनाभाव सम्बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसके होने पर जो होता ही है उसे अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। जैसे जहाँ धूम्र होता है, वहाँ अग्नि अवश्य होती है, वैसे ही जिन साधुओ की अभ्यन्तर शुद्धि होती है उनकी बाह्य शुद्धि अवश्यभावी है, होती ही है।

यत्र प्रयान्ति स्थिति-जन्म-वृद्धीस्तद्दह्यते यैर्हृदयं कषायैः।
काष्ठं हुताशैरिवतीव्र-तापैस्ते कस्य कुर्वन्ति न दुःखमुग्रम्॥१४१८॥

अर्थ - जैसे तीव्र ताप युक्त अग्नि के द्वारा काष्ठ सन्तप्त किया जाता है, अर्थात् जलाया जाता है वैसे ही जिन कषायों के द्वारा हृदय सतप्त किये जाते हैं और जहाँ अर्थात् जिनसे ससार की स्थिति एव जन्म की वृद्धि होती है, वे कषाये किसको भयकर दुख नहीं देतीं ? सभी को दुख देती हैं॥१४१८॥

यैः पोष्यन्ते दुःख-दान-प्रवीणास्तेषां पीडां ये ददन्ते दुरन्ताम्।
भीमाकारा व्याधयो वा प्ररूढाः, सन्त्यक्षार्थाः कस्य ते न क्षयाय ॥१४१९॥

॥ इति सामान्याक्ष-कषाय-दोषाः ॥

अर्थ - जो भयकर दुख देने में प्रवीण हैं, प्राणियों को दुरन्त पीड़ा देने वाले अशुभ कर्मों को जो पुष्ट करते हैं और जो उत्पन्न हुए भयकर रोगो के सदृश है वे इन्द्रियजन्य विषय किसका नाश नहीं करते ? अपितु सभी को भयकर दुख देते हैं॥१४१९॥

इस प्रकार सामान्यरूप से कषायों एवं इन्द्रियों के दोषों का कथन पूर्ण हुआ॥

ये रामा-काम-भोगानां, प्रपञ्चेन निरूपिताः।
अक्षाणामपि ते दोषा द्रष्टव्याः सकलाः स्फुटम्॥१४२०॥

अर्थ - स्त्री और काम भोगो के जो दोष विस्तार पूर्वक पहले कहे गये हैं, वे सभी दोष इन्द्रिय-विषयों मे होते हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिए॥१४२०॥

इन्द्रियजन्य दोषों का विशेष कथन

मधु-लिप्तामसेर्धारां, तीक्ष्णां लेढि स मूढ-धीः।
इन्द्रियार्थं सुखं भुङ्क्ते, यो लोकद्वय-दुःखदम्॥१४२१॥

अर्थ - जो मनुष्य दोनो लोको मे दुख देने वाले इन्द्रिय-भोगो को सुख मान कर भोगता है, वह मूढबुद्धि मानों मधुलिप्त तलवार की तीक्ष्णधार को जिह्वा से चाटता है॥१४२१॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या भाव है ?

उत्तर - इसका भाव यह है कि जैसे मधुलिप्त तलवार की तीक्ष्ण धार जिह्वा से चाटते समय मधु के कारण प्रारम्भ मे थोडा सुख होता है किन्तु जिह्वा कट जाने से बहुत दुख होता है, वैसे ही विषय-भोगों में सुख अल्प होता है और दुख भयकर होते है।

रूप-शब्द-रस-स्पर्श-गन्धासक्ता यथा-क्रमम्।
पतङ्ग-मृग-मीनेभ-भ्रमराः प्रलयं गताः॥१४२२॥

अर्थ - तिर्यंचगति मे जन्म लेने वाला रूपासक्त पतगा, शब्दासक्त मृग, रसासक्त मछली, स्पर्शासक्त हाथी एव गन्धासक्त भ्रमर नष्ट हो जाता है अर्थात् एक-एक विषय की आसक्ति भी इन प्राणियो के लिए प्राण-घातक होती है॥१४२२॥

मनुष्यगति का विषय राग

रूप-शब्द-रस-स्पर्श-गन्धानां यदि हन्यते।
एकैकेन तदा कस्य, सौख्यं पञ्चनिषेविणाम्॥१४२३॥

अर्थ - जब रूप, शब्द, रस, स्पर्श एव गन्ध इन पाँच विषयों में से एक-एक विषयाधीन पतंगे आदि

प्राणी नष्ट हो जाते हैं तब जो एक ही पुरुष पाँचों इन्द्रियो के द्वारा पाँचो विषयो का सेवन करता है वह कौनसा सुख प्राप्त कर सकेगा? ॥१४२३॥

सरय्वां गन्ध-मित्राख्यो, घ्राणेन्द्रिय-वशं गतः।
विष-प्रसूनमाघ्राय, विपद्य नरकं गतः॥१४२४॥

अर्थ - अयोध्यापुरी का राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर नदी में विषैले फूल को सूघ कर मरा और नरक चला गया॥१४२४॥

❋ गधमित्र की कथा ❋

अयोध्यानरेश विजयसेन के दो पुत्र थे, जयसेन और गधमित्र। एक दिन राजा ने बड़े पुत्र जयसेन को राजा एव छोटे पुत्र को युवराजका पद दिया और स्वय मुनि दीक्षा लेकर वन मे चले गये। गधमित्र को युवराजपद अच्छा नहीं लगा, उस अन्यायी ने कूटनीति द्वारा जयसेन को राज्य से च्युत कर दिया। इससे जयसेन भी कुपित हुआ और गधमित्र को मारने का विचार करने लगा। गधमित्र विविध प्रकार के फूलो को सूघने मे सदा आसक्त रहता था। एक दिन रानियो के साथ वह सरयू नदी में जलक्रीड़ा कर रहा था। जयसेन ने मौका पाकर नदी के प्रवाह मे ऊपर की ओर से भयकर विष जिनमे छिडका गया है ऐसे फूलो को छोड़ दिया। गधमित्र ने उन फूलों को सूघा, उससे वह तत्काल प्राण रहित हुआ और घ्राणेन्द्रिय के विषय सुगधि की आसक्ति के कारण नरकगति मे उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार एक घ्राणेन्द्रिय के विषय के दोष से राजा महादु:ख को प्राप्त हुआ था।

मूर्च्छिता पाटलीपुत्र, श्रव्य-पञ्चाल-गीतितः।
मृता गन्धर्वदत्तापि, प्रासादात्पतिता सती॥१४२५॥

अर्थ - पाटलीपुत्र नगर मे पाचाल नामक गायनाचार्य का गीत सुन कर गन्धर्वदत्ता नामक गणिका मूर्छित हो महल से नीचे गिरकर मर गई॥१४२५॥

❋ गंधर्वदत्ता की कथा ❋

पाटलीपुत्रके नरेशकी गधर्वदत्ता नामकी अनिद्य सुदरी राजकन्या थी। वह गानविद्या मे महानिपुण थी उसने प्रतिज्ञा की कि जो मुझे गायन कलामे जीतेगा उसे मैं वरूगी। बहुतसे राजकुमार उसकी सुदरतासे आकृष्ट होकर आये किन्तु कोई उस कन्याको जीत नहीं सका। एक दिन बहुत दूर देशसे एक गानविद्या का पडित पचाल नामका सगीताचार्य अपने पॉचसौ शिष्यो के साथ उस नगरीमे आया। राजकन्याकी प्रतिज्ञासे वह परिचित हुआ। उसने राजासे कहा कि आपकी कन्या गानविद्या मे चतुर है। मैं भी इस विद्यासे परिचित हूँ। मैं आपकी पुत्रीका गीत-सगीत सुननेका इच्छुक हूँ। इसतरह की युक्तिसे उसने गधर्वदत्ताके महलके पास अपना निवास स्थान प्राप्त किया। मध्य रात्रिके अनतर शात वातावरणमें वीणा की झकारके साथ उसने सुमधुर गान प्रारभ किया। गधर्वदत्ता गहरी नींदमे सो रही थी, धीरे-धीरे उसके कर्णप्रदेशमे सगीतकी लहरियाँ पहुँची और सहसा वह उठी। सगीत की ध्वनिने उसको ऐसा आकृष्ट किया कि वह बेभान हो जिधरसे वह मधुर शब्द आरहा था, उधर दौड़कर जाने लगी और उसका पैर चूक जानेसे महलसे गिरकर मृत्युको प्राप्त हुई।

मर्त्य-मांस-रसासक्तः, काम्पिल्य-नगराधिपः।
राज्य-भ्रष्टो मृतः प्राप्तो, भीमःश्वभ्रमुरुव्यथाम्॥१४२६॥

अर्थ - काम्पिल्य नगर का राजा भीम मनुष्य के मास रस का प्रेमी था, जिस कारण राज्य से भ्रष्ट हुआ और मरकर नरक की महावेदना को प्राप्त हुआ था॥१४२६॥

❋ भीम राजाकी कथा ❋

कापिल्य नगरका शासक राजा भीम था। वह दुर्बुद्धि मासभक्षी होगया। नदीश्वर पर्व मे उसे मास का भोजन नहीं मिला तो उसने रसोइये को कहा कि कहीं से मास लाओ। रसोइया इधर-उधर खोजकर जब मास को नहीं प्राप्त कर सका तो श्मशानसे मरे बालक को लाकर उसका मास राजा को खिलाया। राजा तबसे नरमासका लोलुपी हो गया। रसोइया उसके लिये गली-गलीमें घूमकर छोटे-छोटे बच्चो को कुछ मिठाई देकर इकट्ठा करता और छलसे एक बालक को पकडकर मार देता था और उसका मास राजा को खिलाता। नगर मे चद दिनो बाद इस कुकृत्य का भडाफोड़ हुआ और नागरिको ने राजा तथा रसोइये को देश से निकाल दिया। दोनो पापी जगल में घूमने लगे। राजा ने भूख से पीडित हो रसोइये को मारकर खा लिया। अत में वह पापी नरभक्षक वासुदेव द्वारा मारा गया और अपने पाप का फल भोगने के लिये नरक में पहुँचा।

सुवेगस्तस्करो दीनो, रामा-रूप-विषक्त-धीः।
बाण-विद्धेक्षणो मृत्वा, प्रपेदे नारकीं पुरीम्॥१४२७॥

अर्थ - सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियो के रूप को देखने का अनुरागी था, वह बाणो से विद्ध होकर मरा और नरकपुरी को प्राप्त हुआ॥१४२७॥

❋ सुवेग चोर की कथा ❋

मद्दिल्ल नामके नगरमे एक भर्तृमित्र नामका श्रेष्ठी पुत्र रहता था। उसकी पत्नीका नाम देवदत्ता था। वसत ऋतुका समय था। सेठ भर्तृमित्र अपने अनेक मित्रोके साथ वसतोत्सवके लिये वनमे गया था। वहाँ पर वसतसेन नाम के मित्र ने बाण द्वारा आम्र मजरी को तोडकर अपनी पत्नी को कर्णाभूषण पहनाये। उसे देखकर देवदत्ता ने अपने पति भर्तृमित्र से कहा-हे प्राणनाथ ! आप भी बाण द्वारा मजरी तोड़कर मुझे दीजिये। भर्तृमित्र को बाणविद्या नहीं आती थी अतः वह उसे मजरी नहीं दे सका। उसे बहुत लज्जा आयी। भर्तृमित्र ने मन मे निश्चय किया कि मुझे बाणविद्या अवश्य सीखनी है। मेघपुर नामके नगरमे धनुर्विद्याका पडित रहता था, उसके पास जाकर भर्तृमित्रने बहुत से रत्न देकर तथा उसकी सेवा करके बाणविद्या मे अत्यत निपुणता प्राप्त की। पुनश्च उस नगरके राजाकी कन्या मेघमालाको चद्रक वेध प्रणमे जीतकर उसके साथ विवाह किया। दोनों सुखपूर्वक रहने लगे। किसी दिन भर्तृमित्रके घरसे समाचार आनेसे उसने राजासे विदा ली। राजवैभवके साथ रथमें सवार हो मेघमाला एव भर्तृमित्र मद्दिल नगरकी ओर जा रहे थे। रास्तेमे वनमे भीलोंकी पल्ली आयी। वनमे आगत पथिकोंको लूटना ही उन भीलोका काम था। उनका सरदार सुवेग नामका था। सुवेग मेघमालाका मनोहर रूप देखकर मोहित हुआ और उसका अपहरण करनेके लिये युद्ध करने लगा। मेघमाला उसका मन युद्ध से विचलित करनेके लिये उसकी तरफ जाने लगी। सुवेग उसके रूपको देखने लगा इतनेमें भर्तृमित्र ने बाण द्वारा उसके दोनों

नेत्र नष्ट कर दिये। उससे सुवेग घायल हो मृत्यु को प्राप्त हुआ। भर्तृमित्र मेघमालाके साथ निर्विघ्नरूपसे अपने नगरमे पहुँच गया।

इसप्रकार सुवेग नेत्रेन्द्रिय के विषय मे आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

गोपासक्ता सुतं हत्वा, नासिक्य-नगरे मृता।
पापा गृहपतेर्भार्या, दुहित्रा मारिता सती ॥१४२८॥

अर्थ - नासिक्य नगर मे गृहपति सागरदत्त की पत्नी नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रिय के कारण एक ग्वाले पर आसक्त थी, उस पापिनी ने अपने पुत्र को मारा, इस कृत्य से कुपित हो उसकी पुत्री श्रीषेणा ने अपनी माँ को मार दिया ॥१४२८॥

दु:ख-दान-निपुणा निषेविता:, स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-निस्वना:।
दुर्जना इव विमोह्य मानवं, योजयन्ति कुपथे प्रथीयसि ॥१४२९॥

अर्थ - जैसे दुर्जनो की सगति करने वाले को वे दुर्जन लोग मोहित करके सप्त व्यसनरूपी महान् खोटे मार्ग में फँसा देते हैं, वैसे ही दुख देने मे निपुण ऐसे सेवन किये गये ये स्पर्श, रस, गन्ध, रूप एव शब्द मनुष्य को कुगतिरूपी भयकर मार्ग मे लगा देते हैं ॥१४२९॥

अग्निनेव हृदयं प्रदह्यते, मुह्यते नु विषयैर्विशक्तित:।
तत्कथं विषय-वैरिणो जना:, पोषयन्ति भुजगानिवाधमान् ॥१४३०॥

इति इन्द्रिय-विशेष-दोषा:।

अर्थ - शक्तिहीन विषयासक्त पुरुषो का हृदय विषयो द्वारा मोहित होता हुआ अग्नि से जलाये गये के सदृश अतिशय रूप से जलता रहता है। ऐसे सर्प सदृश अधम विषयरूपी वैरियो को मनुष्य कैसे पुष्ट कर सकते हैं ? अपितु कदापि नहीं कर सकते ॥१४३०॥

इस प्रकार इन्द्रियो के विशेष दोषो का कथन पूर्ण हुआ।

कोपजन्य दोष

अरत्यर्चि: करालेन, श्यामली-कृत-विग्रहम्।
प्रस्विद्यति तुषारेऽपि, तापित: कोप-वह्निना ॥१४३१॥

अर्थ - क्रोधरूपी अग्नि से तप्तायमान मनुष्य अरतिरूपी अग्नि से सतप्त होता है, उसके शरीर का रग काला हो जाता है, क्रोधाग्नि से तपाये जाने से ठण्ड मे भी उसे पसीना आने लगता है ॥१४३१॥

अभाष्यां भाषते भाषामकृतां कुरुते क्रियाम्।
कोप-व्याकुलितो जीवो, ग्रहार्त इव कम्पते ॥१४३२॥

अर्थ - क्रोध से व्याकुलित हुआ मनुष्य अयोग्य भाषा बोलने लगता है, अयोग्य क्रियाएँ करने लगता है तथा ग्रह से पीड़ित हुए के सदृश काँपने लगता है ॥१४३२॥

त्रिवली-कलितालीको, रक्त-स्तब्धी-कृतेक्षण:।
दन्त-दष्टाधरो दुष्टो, जायते राक्षसोपम: ॥१४३३॥

अर्थ - भृकुटी चढ़ जाने से मस्तक पर तीन रेखाएँ पड़ जाती हैं, लाल-लाल निश्चल आँखें बाहर आ जाती हैं एव दाँतों से ओठो को चबाने लगता है, इस प्रकार क्रोधी मनुष्य दूसरे मनुष्यों के लिए साक्षात् राक्षस के सदृश भयानक एव दुष्ट हो जाता है॥१४३३॥

आददानो यथा लोहं, पर-दाहाय कोपत:।
स्वयं प्रदह्यते पूर्वं, पर-दाहे विकल्पनम्॥१४३४॥

विदधानस्तथा कोपं, पर-घाताय मूढ-धी:।
स्वयं निहन्यते पूर्वमन्य-घातो विकल्प्यते॥१४३५॥

अर्थ - जैसे कोई क्रोध मे आकर दूसरे को जलाने के लिए गर्म लोहा उठाता है, किन्तु उससे पहले वह स्वय जलता है, दूसरा जले अथवा न भी जले। वैसे ही कोई मूढ़बुद्धि पर का घात करने हेतु क्रोध करता है किन्तु उस क्रोध से पहले वह स्वय जलता है। अन्य का घात कर सके अथवा न भी कर सके, इसमें दोनों विकल्प सम्भव हैं॥१४३४-१४३५॥

आधारं पुरुषं हत्वा, पाप: कोप: पलायते।
प्रदह्य जनकं काष्ठं, वह्नि: किं नोपशाम्यति॥१४३६॥

अर्थ - यह पापी क्रोध अपने आधारभूत पुरुष को नष्ट करके स्वय भाग जाता है। अर्थात् निराधार हो जाने से स्वय नष्ट हो जाता है, सो ठीक है! देखो! अपने को उत्पन्न करने वाली अग्नि आधारभूत लकड़ी को जला कर क्या शान्त नहीं हो जाती? अपितु हो ही जाती है॥१४३६॥

शत्रूपकाराद्रोषो य:, स्व-बन्धूनां च शोककृत्।
स्थानं कुलं बलं क्रोध, हत्वा नाशयते नरम्॥१४३७॥

अर्थ - यह क्रोध शत्रु का उपकार करता है और स्व-जनो को शोक कराने वाला है, यह स्थान, कुल एव बल को नष्ट करके अन्त मे मनुष्य का भी नाश करा देता है॥१४३७॥

प्रश्न - क्रोध शत्रु का उपकार एव स्वजनों का अपकार कैसे करता है?

उत्तर - जब मनुष्य कुपित हो जाता है तब उसके शत्रुओं को आनन्द आता है और वे ऐसी भावना भाते हैं कि यह सदैव इसी प्रकार क्रोध पिशाच के वशीभूत बना रहे, अत कहा गया है कि क्रोध शत्रुओं का उपकार करता है।

क्रोधी मनुष्य के स्वजन दुखी रहते हैं क्योकि क्रोध में आकर वह अपने परिवार को कष्ट देता है। क्रोध से अपने उच्च पद, शारीरिक बल और कुल को भी नष्ट कर देता है अत: कहा गया है कि क्रोधी मनुष्य स्वजनो को शोक-सन्तप्त करता रहता है।

गुणागुणौ न जानाति, वचो जल्पति निष्ठुरम्।
नरो रौद्रमना रुष्टो, जायते नारकोपमः ॥१४३८॥

अर्थ - क्रोधी मनुष्य अत्यन्त क्रूर परिणामी हो जाता है, वह जिस पर क्रोध करता है उसके गुण-अवगुण नहीं देख पाता, उसके गुणो की भी निन्दा करता है और कठोर तथा असभ्य वचन बोलता है। इस प्रकार क्रोध के आवेश मे मनुष्य नारकी के समान हो जाता है॥१४३८॥

धान्यं कृषीवलस्येव, पावकः क्लेशतोऽर्जितम्।
श्रामण्यं प्लोषते रोषः, क्षणेन व्रतिनोऽखिलम्॥१४३९॥

अर्थ - जैसे आग एक वर्ष पर्यन्त अनेक क्लेश सहन करके श्रम से प्राप्त खलिहान मे आये किसान के धान्य को जला देती है, वैसे ही क्रोधाग्नि श्रमण के जीवन भर मे उपार्जित पुण्य रूपी धान्य को अर्थात् श्रामण्यधर्म को क्षणमात्र मे जला देती है॥१४३९॥

यथैवोग्र-विषःसर्पः, क्रुद्धो दर्भ-तृणाहतः।
निर्विषो जायते शीघ्रं, निःसारोऽस्ति तथा यतिः॥१४४०॥

अर्थ - जैसे उग्र विषवाले सर्प को घास के एक तिनके से मारने पर वह रोष मे आकर उस तिनके पर अपना विष वमन कर तत्काल निर्विष हो जाता है, वैसे यति भी क्रोध के कारण अपने रत्नत्रय का विनाश कर नि सार हो जाता है॥१४४०॥

सुरूपोऽपि नरो रुष्टो, जायते मर्कटोपमः।
कोपोपार्जित-पापश्च, विरूपो जन्म-कोटिषु॥१४४१॥

अर्थ - सुन्दर मनुष्य भी क्रोधित होने पर बन्दर जैसे मुख वाला अर्थात् कुरूप हो जाता है और उस क्रोध के द्वारा उत्पन्न हुए पाप के कारण करोड़ो जन्मो मे कुरूप ही होता रहता है॥१४४१॥

द्वेष्यो जनः प्रकोपेन, जायते वल्लभोऽपि सन्।
अकृत्य-कारिणस्तस्य, नश्यति प्रथितं यशः॥१४४२॥

अर्थ - क्रोध करने से अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी अप्रिय बन जाता है तथा वह क्रोधावेश मे अकृत्य भी करने लगता है, जिससे उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है॥१४४२॥

कुपितः कुरुते मूढो, बान्धवानपि विद्विषः।
परं मारयते तैर्वा, मार्यते म्रियते स्वयम्॥१४४३॥

अर्थ - मूढ बुद्धि मनुष्य क्रोध करके अपने निकट बन्धुजनों को या सम्बन्धियों को भी शत्रु बना लेता है, उनको मारता है, या उनके द्वारा मारा जाता है या स्वय मर जाता है॥१४४३॥

रुषितः पूजनीयोऽपि, मण्डलो वापमन्यते।
समस्तं लोक-विख्यातं, माहात्म्यं च पलायते॥१४४४॥

अर्थ - पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करने से कुत्ते के सदृश तिरस्कृत होने लगता है और उसका लोक-प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१४४४॥

कृत्वा हिंसानृत-स्तेय-कर्माणि कुपितो यथा।
सर्वं हिंसानृत-स्तेय-दोषमाप्नोति निश्चितम् ॥१४४५॥

अर्थ - क्रोधावेश मे मनुष्य हिंसा, झूठ एव चोरी आदि पाप क्रियाओ को जिस प्रकार करता है, उसको वे हिंसा, झूठ एव चोरी आदि सभी दोष निश्चित ही प्राप्त होते हैं ॥१४४५॥

प्रश्न - क्रोधी मनुष्य को हिंसादि दोष कैसे प्राप्त होते हैं ?

उत्तर - क्रोधावेश मे मनुष्य यहाँ किसी की हिंसा करता है, मूठादि मार देता है या मरवा देता है, या किसी पर झूठे आरोप लगा देता है, पर-धन चुरा लेता है या दूसरो पर छापे आदि डलवा देता है उससे पापबन्ध होता है, जब वह पापकर्म उदय मे आता है तब अन्य लोग वैसी ही क्रियाएँ उसके प्रति करते हैं, उसे मार डालते है, उसके साथ असत्य व्यवहार करते हैं या उस पर झूठे आरोप लगा देते हैं, तथा कोई उसका धन हरण कर लेते हैं, इस प्रकार वह क्रोध के फलस्वरूप उन्हीं दोषों को प्राप्त करता हुआ भव-भव मे भयकर दुख भोगता है।

द्वीपायनेन नि:शेषा, दग्धा द्वारावती रुषा।
पापं च दारुणं दग्धं, तेन दुर्गति-भीतिदम् ॥१४४६॥

इति कोप: ॥

अर्थ - द्वीपायन मुनि ने क्रोधावेश में समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी। वह स्वय उसी में जला और दारुण पाप-सचय कर भयकर दुख देने वाली दुर्गति का पात्र बना ॥१४४६॥

❋ द्वीपायन मुनिकी कथा ❋

सोरठ देशमे प्रसिद्ध द्वारिका नगरी थी। इसमें बलदेव और कृष्ण नारायण राज्य करते थे। किसी दिन दोनो बलभद्र नारायण भगवान् नेमिनाथके दर्शनके लिये समवसरणमे गये। धर्मोपदेश सुननेके अनतर बलभद्रने प्रश्न किया कि यह द्वारिका कबतक समृद्धिशाली रहेगी। दिव्यध्वनिमे उत्तर मिला कि बारह वर्ष बाद शराबके कारण द्वीपायन द्वारा द्वारिका भस्म होगी एव जरत्कुमार द्वारा श्रीकृष्णकी मृत्यु होगी। इस भावी दुर्घटनाको सुनकर सभीको दु:ख हुआ। बहुतसे दीक्षित हुए। द्वीपायनने भी मुनिदीक्षा ग्रहणकर दूर देशमे जाकर तपस्या की। द्वारिकाकी सब शराब वनमें डाली गयी। बारह वर्षमे कुछ दिन शेष थे। द्वीपायन मुनि नगरके निकट आकर ध्यान करने लगे। बहुत से यदुवशी राजकुमार वनक्रीड़ाके हेतु गये थे, वहाँ तृषासे पीड़ित होकर शराब मिश्रित पानीको उन्होने पी लिया और उन्मत्त हो गये, पासमे द्वीपायन मुनिको देखकर वे कुमार उनको पत्थरोंसे मारने लगे। मुनिको क्रोध आया और उनके कधेसे तैजस पुतला निकल गया, उस तैजस पुतलेसे समस्त द्वारिका भस्म हो गयी। द्वीपायन भी भस्म हुए और कुगतिमे चले गये।

इस प्रकार क्रोध के दोषों का कथन समाप्त हुआ।

मान कषाय के दोष

जाति-रूप-कुलैश्वर्य-विज्ञानाज्ञा-तपो-बलैः।
कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं, गोत्रं बध्नाति मानवः ॥१४४७॥

अर्थ - जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, श्रुत, आज्ञा, तप एव बल आदि से जो अपने को बड़ा मानकर अहकार करता है वह नीच गोत्र नामक कर्म का बन्ध करता है॥१४४७॥

दृष्ट्वात्मनः परं हीनं, मूर्खो मानं करोति ना।
दृष्ट्वात्मनोऽधिकं प्राज्ञो, मानं मुञ्चति सर्वथा ॥१४४८॥

अर्थ - अपने से हीन व्यक्ति को देखकर मूर्ख जन अहकार करते हैं किन्तु विद्वान् लोग अपने से बडो को देखकर मान का त्याग कर देते है॥१४४८॥

द्वेषं कलिं भयं वैरं, युद्धं दुःखं यशः क्षतिम्।
पूजा-भ्रंशं पराभूतिं, मानी लोकद्वयेऽस्तुतः ॥१४४९॥

अर्थ - अभिमानी मनुष्य से सब द्वेष करते हैं। वह कलह, भय, वैर, युद्ध और दुख देने वाले ही कार्य करता है या इनका पात्र होता है। उसके यश का नाश हो जाता है, पूजा अर्थात् प्रतिष्ठा भग हो जाती है तथा दूसरो के द्वारा तिरस्कृत होता रहता है और दोनों लोको मे निन्दा को प्राप्त होता है॥१४४९॥

सर्वेऽपि कोपिनो दोषा, मानिनः सन्ति निश्चितम्।
मानी हिंसानृत-स्तेय- मैथुनानि निषेवते ॥१४५०॥

अर्थ - पहले जो क्रोध के दोष कहे गये है वे सब दोष मानकषाय के भी जानने चाहिए। मानी मनुष्य भी हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील आदि पापो मे प्रवृत्ति करने लगता है॥१४५०॥

निरभिमानी की प्रशसा

निर्मानो लभते पूजां, दुःखं गर्वमपास्यति।
कीर्तिं साधयते शुद्धामास्पदं भवति श्रियाम् ॥१४५१॥

अर्थ - निरभिमानी व्यक्ति स्वजनो-परजनो से आदर प्राप्त करता है, दुख देने वाले गर्व को दूर कर देता है, निर्मल कीर्ति को सिद्ध कर लेता है और अन्त मे मोक्षलक्ष्मी के शुद्ध स्थान को प्राप्त कर लेता है॥१४५१॥

मार्दवं कुर्वतो जन्तोः, कश्चनार्थो न हीयते।
सम्पद्यते पर सद्यः, कल्याणानां परम्परा ॥१४५२॥

अर्थ - मान के अभाव में अर्थात् मार्दव गुण युक्त जीवो के किसी भी प्रयोजन की हानि नहीं होती, अपितु मार्दव धर्मधारी विनयवान मनुष्यो को अभ्युदयादि कल्याणों की परम्परा तत्काल प्राप्त हो जाती है॥१४५२॥

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा, महाबलाः षष्ठि-सहस्र-संख्याः।
दृढेन भिन्नाः कुलिशेन तुङ्गा, धराधरेन्द्रा इव भूरि-सत्वाः ॥१४५३॥

॥ इति मानः ॥

अर्थ - जैसे बहुत ऊँचे और सत्त्वशाली अर्थात् मजबूत भी पर्वतराज दृढ़ वज्र द्वारा चूर-चूर हो जाते हैं, वैसे ही सगर चक्रवर्ती के पुत्र सख्या में साठ हजार एव महाबलशाली होते हुए भी मानकषाय रूपी वज्र से मृत्यु को प्राप्त हो गये थे॥१४५३॥

❋ सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों की कथा ❋

इस अवसर्पिणी कालके बारह चक्रवर्तियो मे से सगर दूसरे चक्री हुए। उनके साठ हजार पुत्र थे। वे सभी बल-वीर्य-पराक्रमके धारक थे, उन सबने मिलकर एक दिन पितासे कहा कि हम सबको कोई राज्य आदि सबधी कार्य बताइये। पिताने कहा-पुत्रो ! यहाँ कार्य करनेकी क्या आवश्यकता ! सुखपूर्वक रहो। किन्तु पुत्रों का अधिक आग्रह होनेसे चक्रीने कहा-कैलाश पर्वतके चारो ओर खाई खोदकर उसमे गगाजल भर दो। सब पुत्र प्रसन्न हुए। उन्हे अपने बल पराक्रम का बड़ा ही अभिमान था। दण्डरत्न को लेकर वे खाई खोदने कैलाश पर्वतकी ओर चल पड़े।

सगर चक्रवर्तीका पूर्व जन्मका एक मित्र देव हुआ था। वह सगरको जिनदीक्षा दिलाना चाहता था इस विषयमे उसने पहले प्रयत्न भी किये थे किन्तु वे प्रयत्न सफल नहीं हुए थे। अत दण्डरत्नसे धरणीको खोदते हुए चक्रीके उन पुत्रोंको देखकर चक्रीको वैराग्य उत्पन्न कराने हेतु उस देवने अपनी मायासे सब पुत्रोंको बेहोश कर दिया (मार दिया)। जब यह वार्ता मत्री आदिको विदित हुई तब वे अत्यत विचारमे पड़ गये कि यह हाल चक्रीको कैसे सुनाया जाय। फिर भी किसी बहानेसे चक्री तक यह वार्त्ता पहुँचाई। प्रथम सगर ने बहुत शोक किया किन्तु फिर वैराग्य रूप अमृत जलसे शोकाग्नि को शात कर उसने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। अब उस मित्रवर देवका मनोरथ पूर्ण हुआ। उसने सगर मुनिराजकी तीन प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया और सर्व सत्य वृत्तात कह दिया। सगर अब सपूर्ण मोह मायासे मुक्त हो चुके थे। उन्हे कुछ सताप नहीं हुआ। वैराग्य तथा ज्ञान शक्तिसे उन्होने अपना कल्याण कर लिया। इसप्रकार बलके अभिमानके कारण चक्रीके सब पुत्र नष्ट होगये थे।

इस प्रकार मान के दोषों का कथन पूर्ण हुआ।

माया कषाय के दोष

विदधानोऽपि चारित्रं, माया-शल्येन शल्यित:।
न धृति लभते कुत्र, शल्येनेव धनर्द्धिक:॥१४५४॥

अर्थ - जैसे विपुल धन का स्वामी होने पर भी यदि शरीर मे चुभे हुए काँटे से पीड़ित है तो वह कहीं पर भी स्थिरता एव सुख प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे ही चारित्रादि से समृद्ध होने पर भी यदि साधु के हृदय मे माया शल्य घुसा है तो वह शल्य युक्त साधु कहीं पर भी आत्मोत्थ सुख रूप स्थिरता को प्राप्त नहीं हो सकता॥१४५४॥

द्वेषमप्रत्ययं निन्दां, पराभूतिमगौरवम्।
सर्वत्र लभते मायी, लोकद्वय-विरोधक:॥१४५५॥

अर्थ - माया कषाय से दूषित मनुष्य सर्वत्र द्वेष, अविश्वास, निन्दा, तिरस्कार एव नीचता का पात्र होता है और उसे दोनों लोकों में सुख प्राप्त नहीं होता। अर्थात् उसके दोनो लोक बिगड़ते हैं॥१४५५॥

अरतिर्जायते मायी, बन्धूनामपि दारुण:।
महान्तमश्नुते दोषमपराध-निराकृत: ॥१४५६॥

अर्थ - मायावी मनुष्य सभी को अप्रिय लगता है, वह बन्धु-बाधवो को भी दारुण दुखदायी प्रतीत होता है एव वह अपराध रहित होने पर भी महादोषी माना जाता है। अथवा मायाचारी के कारण महादोष को प्राप्त हो जाता है॥१४५६॥

एका सत्य-सहस्राणि, माया नाशयते कृता।
मुहूर्तेन तुषाणीव, नित्योद्वेग-विधायिनी॥१४५७॥

अर्थ - एक बार भी की जाने वाली मायाचारी हजार सत्यो का विनाश कर देती है। यदि वह मायाचारी बार-बार की जाय तो शरीर मे प्रविष्ट काँटे के सदृश वह नित्य ही सन्ताप देती है॥१४५७॥

मित्र-भेदे कृते सद्य:, कार्यं नश्यति मायया।
विष-मिश्रमिव क्षीरं, समायं नश्यति व्रतम्॥१४५८॥

अर्थ - मायाचारी करने से मित्रता नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्बन्धी सर्व कार्यों का विनाश हो जाता है, तथा विष-मिश्रित दूध के सदृश मुनिधर्म सम्बन्धी सर्व व्रत नष्ट हो जाते हैं॥१४५८॥

स्त्रैण-षंढत्व-तैरश्च्य-नीचगोत्र-पराभवा:।
माया-दोषेण लभ्यन्ते, पुंसा जन्मनि-जन्मनि॥१४५९॥

अर्थ - मायाचारी के दोष से जीव को भव-भव मे स्त्रीपना, नपुसकपना, तिर्यँचपना, नीचगोत्र एव पराभव प्राप्त होते रहते हैं॥१४५९॥

य: क्रोध-मान-लोभानामाविर्भावोस्ति मायिन:।
सम्पद्यन्तेऽखिला दोषास्ततस्तेषामसंयमम्॥१४६०॥

अर्थ - जहाँ मायाचारी है वहाँ नियमत क्रोध, मान एव लोभ की उत्पत्ति होती ही है, उस कारण से अर्थात् क्रोधादि उत्पन्न हो जाने से उनमे अन्य सब दोष उत्पन्न हो जाते हैं, पश्चात् वह साधु असयम को प्राप्त हो जाता है॥१४६०॥

सप्त-वर्षाणि नि:शेष, कुम्भकारेण कोपिना।
भस्मितं भरत-ग्रामशस्यं प्राप्तेन वञ्चनाम्॥१४६१॥

अर्थ - रुष्ट हुआ कुम्भकार मायाचार से भरत नामक ग्राम का धान्य पूर्णरूप से सात वर्ष तक जलाता रहा॥१४६१॥

❋ मायावी कुम्हारकी कथा ❋

अगक नामक देश के बृहद् ग्राम मे एक कुम्हार रहता था। एक दिन मिट्टीके बहुत से बर्तनों को बैल पर लादकर वह कुम्हार दूसरे ग्राम मे बेचने के लिये गाँवके बाहर बैलको खड़ाकरके ठहर गया। ग्रामीण लोगों,

बालकों, स्त्रियों आदिने उससे घड़े, दीये, सकोरे आदि खरीद लिये और कुम्हारको भोला जानकर किसीने उसको बर्तनोंका मूल्य नहीं दिया। उसको कहा कि कल देवेंगे। बालक उसके साथ हँसी-मजाक करने लगे। सध्या हो गयी। कुम्हारने दुःखित मनसे रात पूर्ण की। रातमें किसी ने उसके बैलको भी चुरा लिया। प्रात जब किसीने बर्तनोके रुपये नहीं दिये तब कुम्हार अत्यत कुपित हो गया। उसने घर-घर जाकर पैसे मांगे किन्तु किसीने कुछ नहीं दिया। कुम्हारने उस गाँवमे आग लगादी। सात वर्ष तक धान्योसे भरे उस ग्राम को वह जलाता रहा। इससे उसने महान् पाप का सचय किया। इसप्रकार क्रोधके वशमें हुए कुम्हार के उभय लोक नष्ट होगये।

धर्म-पादप-निकर्तन-शस्त्री, जन्म-सागर-निपातन-कर्त्री।
दुःख-शोक-भय-वैर-सहाया, निन्दितं किमु करोति न माया॥१४६२॥

इति मायादोषः।

अर्थ - यह माया कषाय धर्मरूप वृक्ष को काटने के लिए करोत के समान है एव जन्मरूप सागर में गिराने वाली है। दुख, भय, शोक एव वैर स्वरूप अवगुण इस माया के सहायक है। ऐसा कौन सा निन्द्य कर्म है जिसको माया कषाय नहीं करती है ? अपितु माया सर्व ही निन्द्यकार्य करती है॥१४६२॥

इस प्रकार मायादोष का कथन समाप्त हुआ।

लोभ कषाय के दोष

लोभतो लभते दोषं, पातकं कुरूते परम्।
जानीते परमात्मानं, नीचमुच्चं न नष्ट-धीः॥१४६३॥

अर्थ - यह मानव लोभ कषाय के वशवर्ती होकर अत्यन्त अशुभ पाप करता हुआ अनेक दोषों को प्राप्त होता है। वह नष्टबुद्धि अपने आप को श्रेष्ठ और पर को नीच मानता है, वह पर को कभी श्रेष्ठ मानता ही नहीं है॥१४६३॥

लोभस्तृणेऽपि पापार्थमितरत्र किमुच्यते।
मुकुटादि-धरस्यापि, निर्लोभस्य न पातकम्॥१४६४॥

अर्थ - जब एक नि सार तृण मे भी उत्पन्न हुआ लोभ पापबध का कारण है तब फिर अन्य सारभूत विशिष्ट धन-धान्यादि मे उत्पन्न लोभ का तो कहना ही क्या है ? जो मनुष्य लोभाधीन नहीं होते उनके शरीर पर मुकुट, हार एव कुण्डलादि परिग्रह होने पर भी वे तज्जन्य कर्मबन्ध नहीं करते। अर्थात् मूल्यवान पदार्थ भी लोभ के अभाव मे बन्ध का कारण नहीं होता॥१४६४॥

सुखं त्रैलोक्य-लाभेऽपि, नासन्तुष्टस्य जायते।
सन्तुष्टो लभते सौख्यं, दरिद्रोऽपि निरन्तरम्॥१४६५॥

अर्थ - ('समाधानवृत्ति सन्तोष के आधीन रहती है द्रव्य के आधीन नहीं' इसी कारण) असन्तुष्ट व्यक्ति को तीनो लोको की सम्पत्ति प्राप्त हो जाने पर भी सुख नहीं होता और ममत्वभाव के अभाव में सन्तुष्ट व्यक्ति दरिद्री होते हुए भी निरन्तर सुखी रहता है॥१४६५॥

जायन्ते सकला दोषा, लोभिनो ग्रन्थ-तापिन:।
लोभी हिंसानृत-स्तेय-मैथुनेषु प्रवर्तते ॥१४६६ ॥

अर्थ - परिग्रहरूपी सन्ताप से पीड़ित लोभी मनुष्य में सर्व दोष होते हैं क्योंकि लोभी व्यक्ति ही हिंसा, झूठ, चोरी एवं मैथुनादि पापो मे प्रवृत्त होता है ॥१४६६ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य, गृहीत्वा लुब्ध-मानस:।
कार्तवीर्यो नृप: प्राप्त:, सकुल: सबल: क्षयम् ॥१४६७ ॥

अर्थ - परशुराम अथवा श्वेतराम एव महेन्द्रराम जमदग्नि नामक तापसी के पुत्र थे। तापसी के पास कामधेनु गाय थी, लुब्धमन वाले कार्तवीर्य नामक राजा ने हठात् उस कामधेनु का हरण कर लिया उससे वह राजा अपने पूरे वश एव सेना के साथ नष्ट हो गया था ॥१४६७॥

❋ कार्त्तवीर्य की कथा ❋

एक वनमें जटाधारी तापसियोंका आश्रम था। उसमे जमदग्नि नामका एक मिथ्या तापसी रेणुका स्त्री एव श्वेतराम और महेन्द्रराम नामके दो पुत्रोके साथ रहता था। एक दिन उस वनमे हाथी पकडनेको कार्त्तवीर्य नामका राजा आया। वह थककर विश्राम हेतु जमदग्निकी कुटीके पास बैठा था। रेणुका ने उसको मिष्टान्न द्वारा तृप्त किया। आश्चर्ययुक्त हो राजाने प्रश्न किया कि इतना श्रेष्ठ भोजन तुम लोगोके पास इस निर्जन वनमें कहाँसे आया ? रेणुका ने कहा कि हमारे पास कामधेनु है। उसके द्वारा सब कुछ मिलता है, राजाको कामधेनुका लोभ सताने लगा। उसने उसकी याचना की किन्तु जमदग्नि ने मना किया तब उस लोभी अन्यायी राजाने हठात् कामधेनुका हरण कर लिया और जमदग्निको मारकर अपने नगरमे लौट आया। इधर श्वेतराम महेन्द्रराम वनसे ईंधन लेकर कुटीमे पहुँचे और पिताको मरा देखकर बहुत दु खी होगये। दोनो पुत्र अत्यत पराक्रमी थे। उन्हे देवोपनीत शस्त्र परशु भी प्राप्त था। उन्होने कार्त्तवीर्यको सेना सहित नष्ट कर दिया, सर्व वश का सर्वथा नाश कर डाला और दोनो भाई उस राज्यके स्वामी बन गये।

इसप्रकार लोभ के कारण कार्त्तवीर्य नरेश मारा गया और मरकर नरकमे चला गया।

लोभेन लोभ: परिवर्धमानो, दिवा-निशं वह्निरिवेन्धनेन।
निषेव्यमाणो मलिनत्वकारी, न कस्य तापं कुरुते महान्तम् ॥१४६८ ॥

इति लोभ:।

इति कषाय-विशेष-दोषा:।

अर्थ - जैसे ईंधन से अग्नि वृद्धिंगत होती है, वैसे ही लोभ से लोभ अहर्निश बढ़ता जाता है। लोभ का सेवन करने से आत्मा मे मलिनता आती है। इस प्रकार यह लोभ किसको महा सन्तापित नहीं करता ? अपितु सभी को सन्तापित करता है ॥१४६८ ॥

इस प्रकार लोभ दोष का कथन पूर्ण हुआ।

इस प्रकार चारों कषायों के विशेष दोषों का कथन पूर्ण हुआ ॥

कषायों को जीतने का सामान्य कथन

शत्रु-सर्पानल-व्याघ्राः, कदाचित्तन्न कुर्वते।
यं करोति महादोषं, कषायारिः शरीरिणाम् ॥१४६९॥

अर्थ - ससारी जीवों के कषायरूपी शत्रु जिस महादोष को करते हैं, उस महादोष को शत्रु, सर्प, अग्नि एव व्याघ्र भी कभी नहीं करते ॥१४६९॥

कषायेन्द्रिय-दुष्टाश्वैर्दोष-दुर्गेषु पात्यते।
त्यक्त-निर्वेद-खलिनैः, पुरुषो बलवानपि ॥१४७०॥

अर्थ - वैराग्य रूपी लगाम से रहित शक्तिशाली पुरुष को भी ये कषाय और इन्द्रिय रूपी दुष्ट घोड़े दोषरूपी अर्थात् पापरूपी विषम स्थान मे गिरा देते है ॥१४७०॥

कषायेन्द्रिय-दुष्टाश्वैर्दृढ-निर्वेद-यन्त्रितैः।
दोष-दुर्गेषु पात्यन्ते, न सद्ध्यान-कशावशैः ॥१४७१॥

अर्थ - किन्तु जिनको वैराग्य रूपी दृढ़ लगाम से नियन्त्रित कर लिया जाता है तथा उत्तम ध्यानरूपी चाबुक से वश कर लिया जाता है वे कषाय एव इन्द्रिय रूपी दुष्ट भी घोड़े पापरूपी विषम स्थानो मे नहीं गिराते ॥१४७१॥

विचित्र-वेदना-दष्टाः, कषायाक्ष-भुजङ्गमैः।
नष्ट-ध्यान-सुखाःसद्यो, मुञ्चन्ते वृत्त-जीवितम् ॥१४७२॥

अर्थ - कषाय एव इन्द्रियरूपी सर्पों से डसे हुए एव उसकी विषम वेदना से पीड़ित साधु ध्यानरूपी सुख से रहित होकर चारित्ररूपी प्राणो को तत्काल छोड देते है। अर्थात् वे चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१४७२॥

सद्ध्यान-मन्त्र-वैराग्य-भेषजैर्निर्विषी-कृताः।
न साधोस्ते क्षमा हर्तुं, दीर्घं संयम-जीवितम् ॥१४७३॥

अर्थ - किन्तु वे कषाय एव इन्द्रियरूपी सर्प सम्यग्ध्यान या शुभ ध्यान या धर्मध्यान या शुक्लध्यानरूपी मन्त्र तथा वैराग्यरूपी सिद्ध-औषधियो द्वारा निर्विष कर दिये जाते हैं तब साधु के सयमरूपी दीर्घ जीवन को हरण करने मे समर्थ नहीं होते ॥१४७३॥

हृषीक-मार्गणास्तीक्ष्णाश्चिन्ता-पुंखाः स्मृतिस्यदाः।
नरं मनो-धनुर्मुक्ता, विध्यन्ति सुख-हारिणः ॥१४७४॥

अर्थ - चिन्तारूपी पुख से युक्त, स्मरणरूपी वेग वाले तथा आत्मीक सुख का हरण करने मे समर्थ ये मनरूपी धनुष के द्वारा छोड़े गये इन्द्रिय रूपी तीक्ष्ण बाण नियमत साधुओ को वेध देते हैं ॥१४७४॥

प्रश्न - यहाँ इन्द्रियो को बाण की उपमा क्यों दी गई है ?

उत्तर - बाण में पुख होते हैं, वेग होता है, गति होती है, वह विषसे लिप्त होता है, धनुष द्वारा छोड़ा

जाता है और अपने शिकारका वेध करता है। इन्द्रियो में भी भोगे हुए भोगों का स्मरण रूपी पुख है, आगामी भोगो की चिन्तारूप वेग है, रति इनकी गति है, ये विषय रूपी विष से लिप्त हैं, मनरूपी धनुष द्वारा छोड़े जाते हैं एव साधुरूपी हिरन का वेध करते है अत: इन्हे बाण की उपमा दी गई है।

संयमीजन ही इन्द्रियरूपी बाणों का निवारण कर सकते हैं

हृषीक-मार्गणास्तीक्ष्णा, साधुभिर्धृति खेटकैः।
ध्यान-सायकमादाय, खण्ड्यन्ते ज्ञान-दृष्टिभिः ॥१४७५॥

अर्थ - धैर्यशाली श्रमण योधा सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से देखकर, धैर्य रूपी फलक एव ध्यानरूपी बाणो द्वारा इन्द्रियरूप तीक्ष्ण बाणो को खण्डित कर देते हैं॥१४७५॥

प्रमाद-वदनाः साधुं, चरन्तं सङ्ग-कानने।
धृत्युपानद्विनिर्मुक्तं, विध्यन्तीन्द्रिय-कण्टकाः ॥१४७६॥

अर्थ - परिग्रह रूपी घनघोर जगल मे धैर्यरूपी जूतो से रहित विचरण करने वाले साधुओं को प्रमादरूप तीक्ष्ण नोक अर्थात् मुख वाले इन्द्रिय रूपी काँटे बींध देते हैं॥१४७६॥

आबद्ध-धृत्युपानत्कमुपयोग-विलोचनम्।
कषाय-कण्टकाः साधु, न विध्यन्ति मनागपि ॥१४७७॥

अर्थ - जिस मुनि ने धैर्य रूपी पादत्राण पहन रखे हैं और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग रूप दृष्टि से सम्पन्न है, उस मुनि को वे कषाय-रूपी काँटे किंचित् भी नहीं बींधते/दुख नहीं देते॥१४७७॥

कषाय-मर्कटा लोलाः, परिग्रह-फलैषिणः।
लुम्पन्ति संयमारामं, योगिनो निग्रहं विना॥१४७८॥

अर्थ - कषाय रूपी बन्दर चचल हैं एव परिग्रहरूपी फलो मे आसक्त हैं, यदि इनका निग्रह नहीं किया तो ये साधुओ के सयमरूपी बगीचे को अवश्य ही नष्ट-भ्रष्ट कर डालते है॥१४७८॥

त्रिकाल-दोषदा नित्यं, चञ्चला मुनि-पुङ्गवैः।
कषाय-मर्कटा गाढं, बध्यन्ते वृत्त-रज्जुभिः ॥१४७९॥

अर्थ - त्रिकालवर्ती दोषो को उत्पन्न करने वाले तथा सदा चचल स्वभावी इन कषाय रूपी बन्दरो को श्रेष्ठ मुनिजन चारित्ररूपी रस्सी से दृढ़ बाँध कर रखते हैं॥१४७९॥

महोपशम-सत्वाढ्यैर्ज्ञानास्त्रैर्धृति-वर्मितैः।
साधु-योधैर्विजीयन्ते, कषायेन्द्रिय-विद्विषः ॥१४८०॥

अर्थ - महा उपशमरूपी शक्ति, सम्यग्ज्ञानरूपी शस्त्र एव धैर्यरूपी कवच युक्त साधुरूपी योद्धाओं के द्वारा ही कषाय रूपी शत्रु जीते जा सकते है॥१४८०॥

कषायाक्ष-द्विषो बद्धा, भावनाभिस्तपस्विना।
शृङ्खलाभिरिव स्तेना, न दोषं जातु कुर्वते ॥१४८१॥

अर्थ - जैसे शृंखला से बँधे हुए चोर चोरी आदि दोष नहीं कर पाते वैसे ही तपस्वीजनों द्वारा कषायरूपी शत्रु अहिंसादि महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं की अथवा शुभध्यान रूपी भावों की साकल से बाँध दिये जाने पर सयमरूपी धन का अपहरण आदि नहीं कर पाते॥१४८१॥

कषायाक्ष-महाव्याघ्राः, संयम-प्राण-भक्षिणः।
अधिरोप्य नियम्यन्ते, वैराग्य-दृढ-पञ्जरे॥१४८२॥

अर्थ - कषाय और इन्द्रियरूपी महाव्याघ्र साधुके सयमरूपी प्राणों का भक्षण करने वाले होते हैं। इन्हें वैराग्यरूपी दृढ पिंजरे मे बन्द करके ही रोका जा सकता है॥१४८२॥

नीता व्रत-महावारिं, कषायाक्ष-मतङ्गजाः।
वशा सन्त्यवशाः सन्तो, बद्धा विनय-रश्मिभिः ॥१४८३॥

अर्थ - कषाय एव इन्द्रिय रूपी हाथी स्वच्छन्द होने से अवश हैं अर्थात् किसी के वशीभूत नहीं होते, किन्तु यदि इन्हे व्रतरूपी बाड़े मे ले जाकर विनयरूपी रस्सी से बाँध दिया जाता है तो वे वश में हो जाते हैं॥१४८३॥

कषायाक्ष-गजाः शील-परिखा-लङ्घनैषिणः।
धर्तव्याः सहसा वीरैर्धृति-कर्ण-प्रतोदनैः ॥१४८४॥

अर्थ - कषाय एव इन्द्रियरूपी हाथी शील रूपी खाई को उल्लघन करना चाहते हैं, अतः वीर पुरुषो को अकस्मात् जाकर उन्हे धैर्यरूपी कर्णप्रहारो से पकड लेना चाहिए॥१४८४॥

कषायाक्ष-द्विपा मत्ता, दुःशील-वन-कांक्षिणः।
ज्ञानाङ्कुशैर्विधीयन्ते, तरसा वशवर्तिनः ॥१४८५॥

अर्थ - कषाय एव इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथी सदा दुःशीलरूपी वन में प्रवेश करना चाहते हैं, अत उन्हे ज्ञानरूपी अकुश द्वारा वश में रखना चाहिए॥१४८५॥

ध्यान-योधा-वशीभूता, राग-द्वेष-मदाकुलाः।
ज्ञानाङ्कुशं विना यान्ति, तदा विषय-काननम् ॥१४८६॥

अर्थ - जो ध्यानरूपी योधाओ द्वारा वश किये जा सकते हैं ऐसे रागद्वेष रूपी मद से आकुलित हाथी ज्ञानरूपी अकुश के बिना नियमतः विषय रूपी वन मे चले जाते हैं॥१४८६॥

तदा शम-वने रम्ये, कषायाक्ष-महागजाः।
रम्यमाणा न कुर्वन्ति, दोषं साधोर्मनागपि ॥१४८७॥

इति सामान्य-कषाय-निर्जयः।

अर्थ - कषाय एव इन्द्रियरूपी महागज जब ज्ञानाकुश द्वारा वश में कर लिये जाते हैं तब वे समता-भाव रूपी रमणीक वन में ही रमते रहते हैं, फिर वे साधु के सयम में किचित् भी दोष उत्पन्न नहीं करते ॥१४८७॥

इस प्रकार सामान्य से कषायों को जीतने का कथन पूर्ण हुआ ॥

सामान्यत: इन्द्रियविजय कथन

शब्दे वर्णे रसे गन्धे, स्पर्शे साधुः शुभाशुभे।
राग-द्वेष-परित्यागी, हृषीक-विजयी मतः ॥१४८८॥

अर्थ - शुभ एव अशुभ शब्द, वर्ण, रस, स्पर्श और गध में राग तथा द्वेष का परित्याग करने वाला साधु इन्द्रियविजयी माना जाता है ॥१४८८॥

हृषीक-विजयः सद्भिः, कटुकोऽपि निषेव्यते।
भेषज्यमिव वांछद्भिर्नित्य-सौख्यं यथाञ्जसा ॥१४८९॥

अर्थ - यद्यपि पाँचो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है फिर भी जैसे जीवन का इच्छुक रोगी पुरुष कडवी औषधि भी पीता है, वैसे शाश्वत सुख के इच्छुक साधुजनो के द्वारा अत्यन्त कठिन भी इन्द्रियजय का सेवन किया जाना चाहिए ॥१४८९॥

इन्द्रियविजय का उपाय

पुद्गला ये शुभाः पूर्वमशुभाः सन्ति तेऽधुना।
अशुभाः पूर्वमासन्ये, साम्प्रतं सन्ति ते शुभाः ॥१४९०॥

अर्थ - इन्द्रिय-विषयो मे शुभपना एव अशुभपना सदा स्थिररूप से नहीं रहता। इन्द्रियो के विषयभूत जो पुद्गल पूर्व मे शुभ थे वे ही इस समय अशुभ होते और जो पूर्व मे अशुभ थे वे शुभ होते देखे जाते हैं। अथवा जो वर्तमान में शुभ या अशुभ हैं वे ही भविष्य मे अशुभ एव शुभ होते देखे जाते है अत इन विषयो मे रागद्वेष करना योग्य नहीं है ॥१४९०॥

भुक्तोज्झिताः कृताः सर्वे, पूर्वं तेऽनन्तशोऽङ्गिना।
को मे हर्षो विषादो वा, द्रव्ये प्राप्ते शुभाशुभे ॥१४९१॥

अर्थ - ससारी प्राणियो ने अतीत भवो मे स्पर्श-रसादि शुभ-अशुभ विषय अनन्तबार भोगे हैं और अनन्तबार त्यागे हैं। अब मुझ ज्ञानी साधु को शुभ अथवा अशुभ पदार्थो की प्राप्ति मे क्या तो हर्ष और क्या विषाद ? साधुजनो को इस प्रकार विचार करना चाहिए ॥१४९१॥

रूपे शुभाशुभे न स्तः, साधनं सुख-दुःखयोः।
सङ्कल्प-वशतः सर्वं, कारणं जायते तयोः ॥१४९२॥

अर्थ - कोई अच्छा या बुरा रस-गन्धादिरूप पुद्गल सुख या दुख का साधन नहीं है। सुख या दुख के जितने भी कारण बनते हैं वे सब सकल्पवश अर्थात् मन की कल्पनावश ही उत्पन्न होते हैं ॥१४९२॥

विदधाति यतश्चक्षुर्महादोषमनिर्जितम्।
निर्जेतव्यं ततः सद्भिः, सर्वथा तदतन्द्रितैः ॥१४९३॥

अर्थ - चक्षु-इन्द्रिय पर विजय प्राप्त न करने से यह महादोष उत्पन्न करती है अतः साधुजनो को सर्व प्रकार से इस चक्षु-इन्द्रिय को ही जीतना चाहिए॥१४९३॥

शब्द-गन्ध-रस-स्पर्श-गोचराण्यपि यत्नतः।
जेतव्यानि हृषीकाणि, योगिना शम-भागिना ॥१४९४॥

अर्थ - प्रशम भाव को धारण करने वाले साधुजनों को प्रयत्नपूर्वक स्पर्श, रस, गन्ध एव शब्द को विषय करने वाली स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय एव कर्णेन्द्रिय को भी जीतना चाहिए। अर्थात् स्पर्शादि विषयों मे रागद्वेष का सकल्प करना छोड़ कर सम भावना रखनी चाहिए॥१४९४॥

दुर्जयान्नर-निर्लिप-भर्तृभिः, पञ्च यो विजयतेऽक्ष-विद्विषः।
तस्य सन्ति सकलाः कर-स्थिताः, सम्पदो भुवननाथ-पूजिताः ॥१४९५॥

इति इन्द्रिय-निर्जयः।

अर्थ - मनुष्यों के अधिपति चक्रवर्ती एव देवों के ईश इन्द्र के द्वारा भी जो जीते नहीं जाते उन पचेन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जो साधु जीतता है, पृथिवीपति द्वारा आदरणीय ऐसी सकल सम्पदाएँ स्वयमेव आकर उसके हाथ मे स्थित हो जाती हैं। अर्थात् अन्य सम्पदाओ के अतिरिक्त इन्द्रियविजयी साधु को मोक्षसम्पदा भी प्राप्त हो जाती है॥१४९५॥

इस प्रकार इन्द्रियविजय का कथन पूर्ण हुआ।

कषायविशेष को जीतने का दिशा निर्देश

क्षमा गुण का स्वरूप

दत्ते शापं विना दोषं, नाय मेऽस्तीति सह्यते।
कृपा कृत्येत्ययं पापं, वराकः कर्ममर्जति ॥१४९६॥

अर्थ - यदि कोई व्यक्ति बिना किसी अपराध के गाली आदि दे रहा है और मुझ में वह दोष नहीं है तो इसमे मेरी क्या हानि है ? यह बेचारा झूठ बोल कर व्यर्थ ही पापबन्ध कर रहा है। अहो ! यह तो दया का पात्र है। इस प्रकार के चिन्तन द्वारा गाली आदि के कटु वचन सहन करने चाहिए॥१४९६॥

सत्येऽपि सर्वतो दोषे, सहनीयं मनीषिणा।
विद्यते मम दोषोऽयं, न मिथ्यानेन जल्पितम् ॥१४९७॥

अर्थ - यदि कोई विद्यमान दोष भी कहता है तो भी बुद्धिमान साधु को सहन ही करना चाहिएं और चिन्तन करना चाहिए कि यह जो कह रहा है वे दोष तो मुझ मे विद्यमान हैं अतः यह झूठ तो कह नहीं रहा फिर क्रोध किस बात का, यह तो क्षमा का ही पात्र है॥१४९७॥

शप्तोऽस्मि न हतोऽनेन, निहतोऽस्मि न मारितः।
मरणेऽपि न मे धर्मो, नश्यतीति विषह्यते ॥१४९८॥

अर्थ - गाली आदि देने वाले के प्रति साधु को चिन्तन करना चाहिए कि यह व्यक्ति मुझे केवल गाली दे रहा है, मार तो नहीं रहा, यह समता रूपी गुण तो इसमे है। अथवा मात्र मार रहा है, मेरे प्राण तो नहीं ले रहा है। अथवा यह केवल मेरे प्राण ले रहा है किन्तु सर्व सुख देने में समर्थ ऐसे मेरे रत्नत्रय धर्म को तो नष्ट नहीं कर रहा है। इस प्रकार के पावन विचारो से एव समतारूपी सम्बल से क्रोध पर विजय प्राप्त करते रहना चाहिए ॥१४९८॥

क्रोध को जीतने का अन्य उपाय

क्रोधो नाशयते धर्मं, विभावसुरिवेन्धनम्।
पापं च कुरुते घोरमिति मत्वा विषह्यते ॥१४९९॥

अर्थ - जैसे अग्नि ईंधन को जलाती है वैसे ही क्रोध रत्नत्रय धर्म को जला देता है और घोर पापोपार्जन करता है, ऐसा जान कर साधु को क्षमा ही धारण करनी चाहिए ॥१४९९॥

प्रश्न - क्रोध को अग्नि की उपमा क्यो दी गई है ?

उत्तर - क्रोध मे अग्नि के सदृश गुण-धर्म पाये जाते हैं अत उसको अग्नि की उपमा दी गई है। यथा- यह क्रोधरूपी अग्नि अज्ञानरूपी काष्ठ से उत्पन्न होती है, अपमान रूपी वायु से वृद्धिंगत होकर भडकती है, इसमे से कठोर वचनरूपी स्फुलिंग निकलते हैं, हिंसा इसकी शिखा है, अत्यन्त बढ़ता हुआ वैर इसका धूम है और यह क्रोधाग्नि धर्मरूपी उद्यान को भस्मसात् कर देती है अत साधु को क्षमा धारण करनी चाहिए।

पर-दुःख-क्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम।
ऋण-मोक्षोऽधुना प्राप्तो, विज्ञायेति विषह्यते ॥१५००॥

अर्थ - पूर्व भव में दूसरो को दुख देकर या गाली देकर या मार कर अथवा अन्य भी पाप क्रिया से मैंने जो पापोपार्जन किया था उसी का फल अब उदय मे आया है, सो अच्छा ही है। अब 'मैं ऋणमुक्त हो जाऊँगा' ऐसा चिन्तन कर क्रोध नहीं करना चाहिए ॥१५००॥

अनुभुक्तं स्वयं यावत्काले न्यायेन तत्समम्।
अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ॥१५०१॥

अर्थ - निर्धन व्यक्ति साहूकार से कर्ज लेकर स्वय उसका उपभोग करता है। कर्ज का अवधिकाल आने पर उतना धन साहूकार को देना ही न्याय है। क्या कोई भी कर्जदार लिया हुआ कर्ज वापिस देते समय दुखी होता है ? नहीं, न्यायवान् को दुख नहीं होता। वैसे ही पूर्वभव मे मैने जिनका अहित किया था, या अपराध किया था उससे जो पाप कर्म उपार्जित किया था, अब उसका अवधिकाल आ चुका है, अर्थात् यह जो व्यक्ति मुझे गाली दे रहा है, या मार रहा है यह सब उसी पापकर्म की उदीरणा का फल है अत इसे न्यायपूर्वक शान्ति से सहन करना ही मेरा कर्त्तव्य है, इस समय क्रोध करना तो अन्याय है। इस प्रकार के चिन्तन द्वारा साधु क्रोध पर विजय प्राप्त करता है ॥१५०१॥

निषेवितः कोप-रिपुर्यतोऽङ्गिनां, ददाति दुःखान्युभयत्र जन्मनि।
निकर्तनीयः शम-खड्गधारया तपो-धियोधैः स ततोऽन्य-दुर्जयः ॥१५०२॥

।इति क्रोधनिर्जयः।

अर्थ - यह क्रोध रूपी शत्रु अपने सेवन करने वाले जीवों को इस भव में और परभव मे भी दुख देता है अतः तपोधन साधुओं को अपनी समताभाव रूपी तलवार से उसे काट देना चाहिए, क्योंकि यह क्रोध-रूपी शत्रु साधुओं के अतिरिक्त अन्य किसीके भी द्वारा जीता नहीं जा सकता॥१५०२॥

इस प्रकार क्रोध-विजय का कथन पूर्ण हुआ।

मार्दव भाव

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे कोऽत्र विस्मयः।
नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति, नित्यत्वं हि कदाचन॥१५०३॥

अर्थ - नीचत्व और उच्चत्व ये दोनो धर्म अनित्य हैं, ये शाश्वत नहीं रहते, अत यदि किसी न मेरा सम्मान नहीं किया, उच्चासन नहीं दिया तो इससे मुझे क्या दुख ? तथा कदाचित् किसी ने उच्च पद पर आरूढ़ भी कर दिया, अथवा भाग्य से कोई उच्च पद प्राप्त भी हो गया तो इसमे क्या आश्चर्य ? इन्हे तो मैंने अनन्तबार प्राप्त किया है अत इसमे मुझे कोई हर्ष-विषाद नहीं है॥१५०३॥

परेषु विद्यमानेषु, किं दुःखमधिकेषु मे।
योनि-हीनेष्वहङ्कारः, संसारे परिवर्तिनि॥१५०४॥

अर्थ - कुल, रूप, ज्ञान एव तपादि मे मुझ से अधिक श्रेष्ठ व्यक्ति इस जगत् मे विद्यमान हैं अत· जो कुछ ज्ञानादि मुझे प्राप्त हुआ है उसमे अभिमान कैसा ? इस परिवर्तनशील ससार में मैं अनेक बार नीच-योनियों मे जन्म ले चुका हूँ अत वर्तमान के इस उच्च कुलादि मे भी क्या अहकार ? इस प्रकार के चिन्तन द्वारा अभिमान पर विजय प्राप्त करनी चाहिए॥१५०४॥

न मानी कुरुते दोषमपमानकरं न यः।
न कुर्वाणः पुनर्मानमपमान-विवर्धकम्॥१५०५॥

अर्थ - जो पुरुष अपमान के कारणभूत कारणो का त्याग करता है और सदा दोष रहित-प्रवृत्ति करता है वही यथार्थत मानी है। गुणरहित होते हुए भी अभिमान करने वाला मानी नहीं होता॥१५०५॥

द्वितय-लोक-भयङ्करमुत्तमो, विविध-दुःख-शिलातत-दुर्गमम्।
प्रबल-मार्दव-वज्र-विघाततो, नयति मान-नगं शत-खण्डनम्॥१५०६॥

इति मान-निर्जयः।

अर्थ - जो इस लोक एव पर-लोक में भयकर है तथा घोर दुखरूपी विषम पाषाण की शिलाओं के समूह से दुर्गम है, ऐसे मानरूपी पर्वत के उत्तम साधुजन प्रबल मार्दव भावरूपी वज्र के आघात से सहस्रों खण्ड कर डालते हैं अर्थात् साधुजनों को मान कषाय रूपी पर्वत को मार्दव भाव द्वारा नष्ट कर देना चाहिए॥१५०६॥

इस प्रकार मानकषाय विजय का कथन पूर्ण हुआ।

माया कषाय पर विजय प्राप्त करने का उपाय

दोषो निगुह्यमानोऽपि, स्पष्टतां याति कालतः।
निक्षिप्तं हि जले वर्चो, न चिरं व्यवतिष्ठते ॥१५०७॥

अर्थ - जैसे जल मे डाला गया मल अधिक समय तक नीचे नहीं ठहरता, ऊपर आ ही जाता है, वैसे भली प्रकार अर्थात् सतर्कता पूर्वक भी छिपाये गये दोष समय पर प्रगट हो ही जाते हैं अतः मायाचार करने से क्या लाभ ? ॥१५०७॥

प्रकटोऽपि जनैर्दोषः, सभाग्यस्य न गृह्यते।
समलं मलिनं केन, गृह्यते सारसं जलम् ॥१५०८॥

अर्थ - जैसे तालाब का जल मैला हो तो भी लोग उसे मैला नहीं मानते, वैसे ही भाग्यशाली जीवो का दोष प्रगट भी हो जावे तो भी लोगो द्वारा वह दोष ग्रहण नहीं किया जाता है ॥१५०८॥

प्रश्न - इस श्लोक का तात्पर्यार्थ क्या है ?

उत्तर - इसका तात्पर्य अर्थ यह है कि दोषो का प्रगट होना और न होना पुण्य-पाप के आधीन है। दोष प्रगट हो जाने पर भी लोग पुण्यवान को हीन नहीं मानते और भाग्यहीन का छिपाया हुआ भी दोष उसके तिरस्कार का कारण बन जाता है।

मान्यता या प्रतिष्ठा विनाश के भय से ही मनुष्य दोषो को छिपाते हैं, किन्तु पुण्यवान जीव के दोष प्रगट हो जाने पर भी जगत् मे उसकी मान्यता यथावत् बनी रहती है अत भाग्यशाली पुरुष को मायाचार करने से कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार भाग्यहीन को भी मायाचार करने से कोई लाभ नहीं, क्योकि छिपाये जाने पर भी उसके दोष छिपे नहीं रह पाते। पापोदय के कारण वे दोष उसका तिरस्कार एव मान्यता या प्रतिष्ठा की हानि कराते ही है, अत किसी को भी मायाचार नहीं करना चाहिए।

नीचेन छाद्यमानोऽपि, स्पष्टतामेति निर्मलः।
राहुणा पिहितश्चन्द्रो, भूयः किं न प्रकाशते ॥१५०९॥

अर्थ - भाग्यहीन पुरुष द्वारा प्रयत्नपूर्वक भी छिपाया हुआ दोष प्रगट हो जाता है, सो ठीक ही है, राहु द्वारा चन्द्रमा का ग्रसित होना क्या प्रगट नहीं होता ? अपितु होता ही है ॥१५०९॥

दम्भेऽर्थः क्रियमाणेऽपि, विपुण्यस्य न जायते।
आयाति स्वयमेवासौ, सुकृते विहिते सति ॥१५१०॥

अर्थ - व्यापारादि मे अत्यधिक छल-कपट करने पर भी भाग्यहीन व्यक्ति को धन प्राप्त नहीं होता और पुण्य करने पर वही धन अपने आप अवश्यमेव आ जाता है, अत मायाचार पूर्वक धन कमाने की चेष्टा करना व्यर्थ है ॥१५१०॥

वितरति विपुला निकृति-धरित्री, बहुविधमसुखं दुरित-सवित्री।
इयमिति निहता विपुल-मनस्कै, ऋजुगुण-पविना विमल-यशस्कैः ॥१५११॥

इति माया-निर्जयः।

अर्थ - पाप उत्पन्न करने में माता सदृश यह मायाचारी रूप धरित्री जीवों को अनेक प्रकार के दुख देती है, ऐसा जानकर विमल यश के धारक बुद्धिमान साधुजन इस माया कषाय को आर्जव धर्मरूपी वज्र से नष्ट कर देते हैं॥१५११॥

इस प्रकार मायादोष के विजय का कथन पूर्ण हुआ॥

लोभ कषाय पर विजय प्राप्त करने के उपाय

सम्पद्यते सपुण्यस्य, स्वयमेत्यान्यतो धनम्।
हस्त-प्राप्तमपि क्षिप्रं, विपुण्यस्य पलायते॥१५१२॥

अर्थ - लोभ करने पर भी पुण्यहीन मनुष्य के हाथ मे आया हुआ भी धन क्षणमात्र में विलय हो जाता है और वही धन पुण्यवानों के पास अन्य स्थान से स्वय आकर प्राप्त हो जाता है॥१५१२॥

प्रश्न - धनप्राप्ति का मूल कारण अथवा उपाय क्या है ?

उत्तर - धनप्राप्ति का मूल निमित्त धन का लोभ नहीं है अपितु पुण्य[१] ही उसका मूल हेतु है अत. जब धन पुण्य का ही अनुसरण करता है, अर्थात् पुण्योदय में ही प्राप्त होता है तब उस धनार्जन के लिए रात्रिभोजन, लोभ, मायाचारी, कृपणता एव हिंसादि में प्रवृत्ति करके दूसरों के प्रति अन्याय करना योग्य नहीं है। ऐसा चिन्तन कर धनासक्ति का त्याग कर देना चाहिए।

संसारेऽटाट्यमानेन, प्राप्ताः सर्वे सहस्रशः।
विस्मयो लब्ध-मुक्तेषु, कस्तेषु मम साम्प्रतम्॥१५१३॥

अर्थ - ससार मे परिभ्रमण करते हुए मैंने सर्व सम्पत्तियाँ और सर्व वैभव सहस्रों बार प्राप्त किये हैं। त्याग करके पुन प्राप्त होने वाले वैभव में अब आश्चर्य कैसा ?॥१५१३॥

लोक-द्वये दुःखफलानि दत्ते, गार्धक्य-तोयेन विवर्धितोऽयम्।
सन्तोष-शस्त्रेण निकर्तनीयः, स लोभ-वृक्षो बहुलः क्षणेन॥१५१४॥

अर्थ - जो गृद्धतारूपी जल से वृद्धिगत हुआ है और दोनो लोको मे भयंकर दुख रूपी फल देता है, ऐसे इस बहुत विस्तृत लोभ रूपी वृक्ष को सन्तोष-रूपी शस्त्र द्वारा तत्काल काट देना चाहिए॥१५१४॥

कषाय-चौरानति-दुःखकारिणः, पवित्र-चारित्र-धनापहारिणः।
शृणाति यश्चारु-चरित्र-मार्गणैः, कर-स्थितास्तस्य मनीषिताः श्रियः॥१५१५॥

इति लोभ-निर्जयः।

अर्थ - पवित्र चारित्ररूपी धन को लूटने में तत्पर इन अतिदुखदाई कषायरूपी चोरों को जो अपने निर्दोष आचरण रूपी बाणों से नष्ट कर देता है उस महापुरुष के हाथ मे मनोवाछित सम्पत्ति अर्थात् मोक्षरूपी लक्ष्मी स्थित हो चुकी है, ऐसा मानना चाहिए॥१५१५॥

इस प्रकार लोभ विजय का कथन पूर्ण हुआ।

---

१ अर्थासक्तिरर्थ-लाभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया . । भगवती आराधना पृ ६८०, जीवराज ग्रन्थमाला।

इस प्रकार निर्यापकाचार्य ने क्षपक को यहाँ तक कषायविजय एव इन्द्रियविजय के उपायों का उपदेश दिया है।

निद्रा-विजय के उपाय

निद्रां जय नरं निद्रा, विद्धाति विचेतनम्।
सुप्तः प्रवर्तते योगी, दोषेषु सकलेष्वपि ॥१५१६॥

अर्थ - हे क्षपकराज ! तुम निद्रा पर विजय प्राप्त करो, क्योंकि यह निद्रा मनुष्य को अचेतन बना देती है। निद्रित साधु सकल दोषों मे प्रवृत्ति करता है॥१५१६॥

प्रश्न - यहाँ अचेतन का क्या अर्थ है ? क्या सोता हुआ व्यक्ति निर्जीव हो जाता है ?

उत्तर - जो गहरी नींद मे सोता है वह उस समय योग्यायोग्य के विवेक से शून्य हो जाता है, इस अभिप्राय से आचार्यदेव ने उसे अचेतन कहा है अर्थात् यहाँ अचेतन का अर्थ 'विवेकज्ञान से रहित होना' है।

यदा प्रबाधते निद्रा, स्वाध्यायं त्वं तदाश्रय।
अर्थानणीयसो ध्यायन्, कुरु संवेग-निर्विदौ ॥१५१७॥

अर्थ - भो क्षपक ! यदि तुम्हे निद्रा बाधक है, अर्थात् निद्रा सताती है तो तुम स्वाध्याय करो और स्वाध्याय के आश्रय से सूक्ष्म अर्थो का चिन्तन करो, अथवा सवेग तथा निर्वेद को वृद्धिंगत करने वाली कथाएँ सुनो या पढो॥१५१७॥

निद्राविजय के उपाय

निद्रा प्रीतौ भये शोके, यतः पुंसो न जायते।
निर्जयाय ततस्तस्यास्त्वमिद त्रितय भज ॥१५१८॥

अर्थ - प्रीति, भय एव शोक होने पर मनुष्यो को स्वभावत निद्रा नहीं आती, अत हे क्षपक! तुम निद्रा पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रीति, भय एव शोक का सेवन करो॥१५१८॥

प्रीति आदि के आधार

ज्ञानाद्याराधने प्रीतिं, भयं संसार-दुःखतः।
पापे पूर्वार्जिते शोकं, निद्रां जेतुं सदा कुरु ॥१५१९॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुम निद्रा पर विजय प्राप्त करने के लिए सदैव ज्ञान-दर्शनादि आराधनो मे प्रीति, ससार के दुखों से भय एव पूर्वोपार्जित पापो मे शोक करो॥१५१९॥

प्रश्न - प्रीति, भय एव शोक ये तीनो मोह की पर्याय होने से अशुभ हैं, अत ये अशुभ कर्मास्रव मे ही कारण पडेगी, इस प्रकार इनमे और निद्रा मे कोई अन्तर नहीं रहा, फिर जो सवर के इच्छुक हैं उनके द्वारा इनका सेवन करना कैसे योग्य है ?

उत्तर - समस्त आपत्तियो के समूह का विनाश करने के लिए, शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए, असार

शरीर का भार उतारने के लिए, अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी को आकर्षित करने के लिए, मोक्ष एव स्वर्गादि सुख प्राप्त करने के लिए एवं कर्मरूपी विषवृक्ष को उखाड़ने के लिए मैं दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना एव तप आराधना में प्रीति करता हूँ। अहो ! आज मैं ऐसी अपूर्व आराधनाओ की आराधना करने में उद्यमशील हूँ जिसे मैंने कभी अनन्तभवों में भी प्राप्त नहीं किया है। आज मैं धन्य हूँ, पुण्य स्वरूप हूँ इत्यादि। इस प्रकार चारों आराधनाओ में एव रत्नत्रय में प्रीतिरूप भावना की जाग्रति से निद्रा भाग जाती है।

शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक एव स्वाभाविक ऐसे चार प्रकार के महाभयकर दुख इस परिभ्रमणरूप संसार मे मैंने अनन्त बार भोगे हैं, मैं इन दुखों से अब अत्यधिक भयभीत हूँ। यदि इन उत्तम आराधनाओं से मैं च्युत होता हूँ तो मुझे भविष्य में पुन. ऐसे ही दुख भोगने पड़ेंगे, इस विचार से मेरा हृदय कम्पित हो रहा है एव भय के कारण मेरे शरीर मे कम्पन आ रहा है। इस प्रकार भयातुर परिणामो के चिन्तन से भी निद्रा नहीं आती है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, मिथ्यात्व, कषाय एव अशुभ मन, वचन एव काय ये सब नाना प्रकार के कर्मास्रव के मूल हैं और चार प्रकार के बन्ध मे निमित्त हैं। मै अभागा निरन्तर इन्हीं पापों में लिप्त रहा। क्योंकि हिताहित के विचार मे मूढबुद्धि होने से, या सन्मार्ग का उपदेश देने वालों की प्राप्ति न होने से, या प्रबल ज्ञानावरण कर्म का उदय होने से, या उनके द्वारा कहे गये अर्थ एव तत्त्व को न जान सकने के कारण, या जान लेने पर भी श्रद्धा न बन पाने के कारण तथा चारित्र मोहनीय कर्म की वशवर्तिता के कारण सन्मार्ग में प्रवृत्ति न कर पाने के कारण मैं भयानक दुख समुद्र मे डूबा रहा। इस प्रकार के चिन्तन से चित्त उद्विग्न हो जाता है और उद्विग्न चित्त वाले को निद्रा नहीं आती।

व्यवहार में भी यही देखा जाता है कि जब कोई विवाहादि का प्रीतिजन्य कार्य घर मे उपस्थित हो जाता है तब निद्रा नहीं आती, घर में सर्पादि का भय हो जाने पर निद्रा नहीं आती और इष्टवियोग या इष्ट वस्तु के नष्ट हो जाने पर शोकाकुल मनुष्य को या उद्विग्न चित्त वाले को निद्रा नहीं आती।

सदैवमुपयुक्तेन, निद्रां निर्जयता त्वया।
न ध्यानेन विना स्थेयं, पवित्रेण कदाचन ॥१५२०॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुम निद्रा पर विजय प्राप्त करने में सदा उद्यमशील रहो । देखो ! पवित्र या शुभ ध्यान के बिना कदाचित् भी चित्त मे स्थिरता नहीं आ सकती है अत ध्यान बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए॥१५२०॥

न दोषाननपाकृत्य, स्वप्तुं जन्मनि युज्यते।
अनर्थकारिणो रौद्रान्, पन्नगानिव मन्दिरे ॥१५२१॥

अर्थ - जिस घर म अनर्थकारी एव क्रूर सर्प घुस गया हो उस घर में जैसे सोना शक्य नहीं है, वैसे ही इस जन्म में अथवा साधु पर्याय मे मिथ्यात्वादि दोषों को दूर किये बिना सोना उचित नहीं है॥१५२१॥

संसारे युज्यते स्वप्तुं, कस्य दोषैः प्रदीपिते।
महाताप-करैर्गेहे, पावकैरिव भीषणे ॥१५२२॥

अर्थ - महासन्तापकारी अग्नि के द्वारा जाज्वल्यमान भयानक घर में सोना जैसे उचित नहीं है, वैसे ही जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि, शोक, भय एवं हिंसादि दोषो से भरे हुए इस भयावह ससार में निद्रा लेना किसे अथवा किसके लिए उचित है ? ॥१५२२॥

को दोषेष्वप्रशान्तेषु, निरुद्वेगोऽस्ति पण्डितः।
द्विषत्स्विव समीपेषु, विविधानर्थकारिषु ॥१५२३॥

अर्थ - नाना प्रकार के अनर्थ करने वाले शत्रुओं के निकट रहने पर जैसे कोई निर्भय होकर नहीं सो सकता, वैसे ही ससार की वृद्धि करने वाले राग-द्वेषादि दोषों को उपशान्त किये बिना कौन ऐसा ज्ञानी है जो निरुद्वेग अर्थात् निर्भय होकर सो सकता है ॥१५२३॥

नास्ति निद्रा-तमस्तुल्यं, परं लोके यतस्तमः।
सर्व-व्यापार-विध्वंसि[1], जयेद सर्वदा ततः ॥१५२४॥

अर्थ - इस लोक मे निद्रा रूपी अधकार के सदृश और कोई अन्धकार नहीं है, क्योकि यह निद्रा ध्यानादि सर्व ही शुभ कार्यो को ध्वस करती है, अत हे क्षपक ! तुम निद्रा को जीतने का सदैव प्रयत्न करो ॥१५२४॥

निद्रा-विमोक्ष-काले त्वं, निद्रां मुञ्चाथवा यते।
यथा वा क्लान्त-देहस्य, समाधानं तथा कुरु ॥१५२५॥

अर्थ - अथवा यदि निद्रा पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते हो तो हे क्षपक ! रात्रि का तृतीय पहर का जो समय आगम मे निद्रात्याग का कहा है, उस समय तुम निद्रा को अवश्य त्यागो। अथवा उपवास, विहार या रोगादि के कारण शरीर क्लान्त हो रहा हो तो जिस प्रकार आपके परिणामो मे शान्ति एव समाधान रहे उस प्रकार निद्रा का त्याग करो ॥१५२५॥

कर्मास्रव-निरोधेऽयमुपायः कथितस्तव।
कल्मषस्य पुराणस्य, तपसा निर्जरा पुनः ॥१५२६॥

अर्थ - हे क्षपक ! जिसके द्वारा कर्मास्रव रुक जाता है और तपादि के माध्यम से प्राचीन बधे कर्मों की निर्जरा हो जाती है ऐसे कषाय-विजय एव इन्द्रियविजय के साथ तुम्हारे लिए मैंने निद्रा विजय नाम का यह एक अचूक उपाय बताया है ॥१५२६॥

उदीयमानेन महोद्यमेन, क्षत्रेण ? निद्रा तमसां सवित्री।
प्रशस्त-कर्म-व्यवधान-शक्ता, विजीयते भानुमतेव रात्रिः ॥१५२७॥

इति निद्रा-निर्जयः ॥

अर्थ - जैसे उदित होते हुए महाप्रचण्ड सूर्य के द्वारा प्रशस्त कार्यो मे विघ्न उपस्थित करने वाली एव

---

१ निद्रा मूलमनर्थाना, निद्रा श्रेयो विघातिनी। निद्रा प्रमाद-जननी, निद्रा ससार-वर्धिनी ॥

अन्धकार की जननी स्वरूप रात्रि जीती जाती है वैसे ही महाउद्यमशील उदित क्षपक के द्वारा-सामायिक तथा ध्यानादि प्रशस्त कार्यों में व्यवधान करने वाली एवं पापान्धकार की जननी सदृश निद्रा जीती जाती है। अर्थात् जो महान् उद्यमशील एवं वैराग्य युक्त साधु हैं वे ही निद्रा को जीत सकते हैं, अन्य नहीं॥१५२७॥

इस प्रकार निद्राविजय वर्णन पूर्ण हुआ।

अंतरंग-बहिरंग एवं अंतरंग तप का कथन

यतस्वाभ्यन्तरे बाह्ये, स्वां शक्तिमनिगूहयन्।
तपस्यनलसः स त्वं, देह-सौख्य-पराङ्मुखः॥१५२८॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुम शरीर और सुख से पराङ्मुख हो, अर्थात् शरीर एव सुखियापने की आसक्ति तथा आलस्य छोड़कर, अपनी शक्ति को न छिपाते हुए अभ्यन्तर और बाह्य तप मे उद्यम करो॥१५२८॥

प्रश्न - देह-सुख एव आलस्य क्यो छुड़ाये जा रहे हैं ?

उत्तर - शरीर एव सुख की आसक्ति तथा आलस्य ये तीनो तप मे विघ्न करने वाले हैं, क्योकि जो शरीर और सुख मे आसक्त है अथवा उनमे जिसका आदर भाव है या जो आलसी या प्रमादी है वह कदापि तप में प्रयत्न नहीं कर सकता, अत तप के इच्छुक को इन तीनो के छोड़ने की प्रेरणा दी गई है।

आलस्य-सुख-शीलत्वे, शरीर-प्रतिबन्धने।
विदधाति तपो भक्त्या, स्व-शक्ति-सदृशं न यः॥१५२९॥

तस्य शुद्धो न भावोऽस्ति, माया तेन प्रकाशिता।
शरीर-सौख्य-सक्तस्य, धर्म-श्रद्धा न विद्यते॥१५३०॥

अर्थ - आलस्य से, सुखिया स्वभाव होने से एव अपने शरीर के प्रति प्रतिबद्ध होने से जो अपनी शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक तप नहीं करता उसके भावो की शुद्धि नहीं है। शक्ति के अनुसार तप मे प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है। तथा सुख और शरीर मे आसक्ति होने से उसकी धर्म मे तीव्र श्रद्धा नहीं है, अर्थात् यथाशक्ति तप न करने वाला धर्माचरण से जी चुराने वाला सिद्ध होता है॥१५२९-१५३०॥

वीर्यं निगूह्यते येन, तेनात्मा वञ्च्यते स्वयम्।
सुख-शीलतया तेन, कर्मासातं च बध्यते॥१५३१॥

अर्थ - जो साधु अपनी शक्ति को छिपाता है, अर्थात् शक्ति के अनुसार तप मे तत्पर नहीं होता वह अपनी ही आत्मा को ठगता है। तथा सुख मे आसक्त रहने से भयकर दुख देने वाले असाताकर्म को बाँधता है॥१५३१॥

आलस्य दोष

वीर्यान्तराय-चारित्र-मोहावर्जयतेऽलसः।
शरीर-प्रतिबन्धेन, जायते सपरिग्रहः॥१५३२॥

अर्थ - आलस्य के कारण अर्थात् आलसी साधु वीर्यान्तराय एव मोहनीय कर्म का बन्ध करता है, तथा शरीर की प्रतिबन्धता अर्थात् आसक्ति से वह साधु परिग्रही भी होता है॥१५३२॥

माया-दोषा: पुरोद्दिष्टा:, समस्ता: सन्ति मायया।
धर्मेऽपि नि:प्रियाशस्य, धर्मोऽस्य सुलभ: कथम्॥१५३३॥

अर्थ - तप मे अपनी शक्ति छिपाने रूप मायाचारी में वे ही सब दोष होते हैं जो पूर्व मे मायाचारी के दोष कहे गये हैं। इस प्रकार उत्तम तप धर्म में जिसका प्रीतिभाव नहीं है, अर्थात् जो धर्म में अनादर भाव रखता है उसको दूसरे आगामी भवो मे सुलभता पूर्वक धर्म की प्राप्ति कैसे होगी ? अपितु नहीं होगी॥१५३३॥

अकुर्वाणस्तप: सर्वैर्वञ्चितोऽस्ति तपो-गुणै:।
माया-वीर्यान्तरायौ च, तीव्रौ बध्नाति कर्मणी॥१५३४॥

अर्थ - पूर्व में जो सवर एव निर्जरादि तप के गुण कहे हैं, तप न करने वाला साधु उन सब गुणो से वचित रहता है, तथा इसके विपरीत वह साधु अपनी शक्ति छिपाने के कारण माया कषाय एव वीर्यान्तराय कर्मों का तीव्र कर्मबन्ध करता है॥१५३४॥

अकुर्वतस्तपोऽन्येऽपि, दोषा: सन्ति तपस्विन:।
कुर्वाणस्य पुन: शक्त्या, जायन्ते विविधा: गुणा:॥१५३५॥

अर्थ - जो साधु शक्ति के अनुसार तप नहीं करते वे ये दोष एव अन्य भी दोषो को उत्पन्न करते हैं तथा शक्त्यनुसार तप मे तत्पर साधु को नाना प्रकार के गुणो की प्राप्ति होती है॥१५३५॥

तप के गुण

लोक-द्वये परा: पूजा:, प्राप्यन्ते कुर्वता तप:।
आवर्ज्यन्तेऽखिला देवा., पुरन्दर-पुर:सरा॥१५३६॥

अर्थ - सम्यक् तप करने वाले साधु इह लोक एव परलोक मे भी सातिशय पूजा अर्थात् आदर-सत्कार प्राप्त करते हैं, तथा तप के माहात्म्य से इन्द्र जिनके आगे है ऐसे सर्व देव उन्हे प्रणाम करते हैं॥१५३६॥

तप: फलति कल्याणं, कृतमल्पमपि स्फुटम्।
बहु-शाखोपशाखाढ्यं, वट-बीजं यथा वटम्॥१५३७॥

अर्थ - जैसे छोटा सा वट का बीज बहुत सी शाखा-प्रशाखाओ से युक्त विस्तृत वटवृक्ष रूप से फलता है, वैसे ही विधि या सयम पूर्वक किया गया अल्प सा भी तप अत्यधिक कल्याणकारी होता है॥१५३७॥

विधिनोप्तस्य सस्यस्य, विघ्ना: सन्ति सहस्रश:।
तपसो विहितस्यास्ति, प्रत्यूहो न मनागपि॥१५३८॥

अर्थ - धान्यादि की खेती विधिपूर्वक, बहुत सावधानी एव परिश्रम से सम्पन्न करते हुए भी उसमें सहस्रो विघ्न-बाधाये आ जाती हैं। किन्तु आगमोक्त विधि से किये जाने वाले सम्यक् तप की फल-प्राप्ति मे किंचित् भी कोई विघ्न नहीं आते अर्थात् तपश्चरण का फल निर्विघ्न प्राप्त होता है॥१५३८॥

मृत्यु-जन्म-जरार्तस्य, तपः सुख-विधायकम्।
महारोगातुरस्येव, भैषज्यं वीर्य-संयुतम्॥१५३९॥

अर्थ - जैसे महारोग से आकुलित रोगी को यत्न पूर्वक दी गई अत्यन्त शक्तिशाली औषधि सुख कारक होती है, वैसे ही जन्म, जरा एव मृत्युरूपी रोगों से पीडित प्राणियों को सम्यक् प्रकार से किया हुआ तप ही औषधि के सदृश सुख देने वाला है॥१५३९॥

संसारस्याविषह्येन, ग्रीष्मकस्येव भास्वतः।
तापेन तप्यमानस्य, तपो धारा-गृहायते॥१५४०॥

अर्थ - जैसे सूर्य की किरणों से तप्तायमान मनुष्य के शरीर का ताप धारागृह से शान्त हो जाता है, वैसे ही ससाररूपी असह्य महादाह से जलते हुए प्राणियों के लिए तप जलगृह के सदृश शान्ति देने वाला है। अर्थात् तप कर्मों का नाश कर शाश्वत सुख देता है॥१५४०॥

विदधानस्तपो भक्त्या, निरालस्यो विधानतः।
देशान्तरमपि प्राप्तः, स बन्धुरिव गृह्यते॥१५४१॥

अर्थ - जो आलस्य छोडकर श्रद्धा एव भक्ति से गद्‌गद होता हुआ विधिपूर्वक तपश्चरण करता है वह देशान्तर मे भी बन्धु जनो के सदृश सभी को प्रिय होता है। अर्थात् यह 'जगत् विश्वसनीयता गुण' तपश्चरण से ही प्राप्त होता है॥१५४१॥

मातेवास्ति सुविश्वास्यः, पूज्यो गुरुरिवाखिलैः।
महानिधिरिव ग्राह्यः, सर्वत्रैव तपोधनः॥१५४२॥

अर्थ - तपस्वी मुनि सर्वत्र माता सदृश विश्वासपात्र, गुरु सदृश सभी से पूज्य एव महानिधि के सदृश ग्रहण करने योग्य होता है॥१५४२॥

लभ्यन्ते नर-देवानां, सर्वाः कल्याण-सम्पदः।
परमं सिद्धि-सौख्यं च, कुर्वता निर्मलं तपः॥१५४३॥

अर्थ - निर्मल एव सम्यक् तपश्चरण करने वाले साधु को अर्धचक्री, चक्रवर्ती एव इन्द्रों की सर्व ही कल्याणप्रद सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं तथा सर्वोत्कृष्ट मोक्षसुख भी प्राप्त होता है॥१५४३॥

चिन्तामणिस्तपः पुंसो, धेनुः कामदुधा तपः।
तिलकोऽस्ति तपो भव्यस्तपो मान-विभूषणम्॥१५४४॥

अर्थ - सम्यक्तप मनुष्य के लिए चिन्तामणिरत्न है, कामदुधा कामधेनु गाय है, मनुष्य के मस्तक पर शोभित होने वाले तिलक के समान है और मान का विशिष्ट आभूषण है॥१५४४॥

प्रश्न - तप को चिन्तामणिरत्नादि की उपमा क्यों दी गई है ?

उत्तर - जैसे चिन्तामणिरत्न चिन्तित वस्तुएँ देता है वैसे तप भी मनोवाछित फल देता है। जैसे कामधेनु

गाय सभी प्रकार के इच्छित पदार्थ देती है, वैसे ही तप इच्छित पदार्थ देता है। जैसे तिलक मनुष्य के ललाट की सुन्दरता को वृद्धिगत करता है वैसे तप भी साधु जीवन की शोभा को वृद्धिगत करता है तथा जैसे विशिष्ट आभूषण देना मानवृद्धि का द्योतक है वैसे ही सर्व जगत् के द्वारा तप करने वाले मान्य साधुओं का सम्मान सुशोभित होता है अत तप को इन उत्तम पदार्थों की उपमा दी गई है।

अज्ञान-तिमिरोच्छेदि, जायते दीपकस्तपः।
पितेव सर्वावस्थासु, करोति नृ-हितं तपः ॥१५४५॥

अर्थ - सम्यक् तप अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में विचरण करने वालो के लिए दीपक के सदृश है और सर्व अवस्थाओ मे मनुष्य को हित में लगाने के लिए पिता के सदृश है॥१५४५॥

विभीम-विषयाम्भोधेस्तपो निस्तारणे प्लवः।
तप उत्तारकं ज्ञेयं, विभीम-विषयावटात् ॥१५४६॥

अर्थ - यह सम्यक् तप अतिभयानक विषयरूपी समुद्र से पार होने के लिए नौका सदृश है और अत्यन्त भयावह पचेन्द्रियो के विषयरूपी गर्त से निकालने मे समर्थ है॥१५४६॥

इन्द्रियार्थ-महातृष्णाच्छेदकं सलिलं तपः।
दुर्गतीनामगम्यानां, निषेधे परिघस्तपः ॥१५४७॥

अर्थ - यह सम्यक् तप इन्द्रियो की विषयरूपी महातृष्णा को उपशान्त करने के लिए जल के समान है और अत्यन्त दुखदाई दुर्गति को रोकने के लिए अर्गला के सदृश है॥१५४७॥

मनः कायासुख-व्याघ्र-त्रस्तानां शरणं तपः।
कल्मषाणामशेषाणां, तीर्थं प्रक्षालने तपः ॥१५४८॥

अर्थ - जो प्राणी मानसिक एव शारीरिक दुख रूपी व्याघ्र से भयभीत हैं, उनके लिए यह सम्यक् तप शरणभूत है, तथा सम्पूर्ण पापरूपी मैल को धो डालने के लिए यही तप तीर्थ है, अर्थात् नदी का स्नानतट है।

तपः संसार-कान्तारे, नष्टानां देशकं यतः।
दीर्घे भव-पथे जन्तोस्तपः सम्बलकायते ॥१५४९॥

अर्थ - ससाररूपी भयावह वन मे जो प्राणी दिशा भूल गये हैं, उन्हे उपदेश अर्थात् मार्गदर्शन देने वाला यह सम्यक् तप ही है। सुदीर्घ भव-रूपी भयानक वन के लम्बे मार्ग को पार करने के लिए यह तप कलेवा के सदृश सहायक है॥१५४९॥

श्रेयसामाकरो ज्ञेयं, भयेभ्यो रक्षकं तपः।
सोपानमारुरुक्षूणामबाधं सिद्धि-मन्दिरम् ॥१५५०॥

अर्थ - यह सम्यक् तप अभ्युदय सुखो की खान है, भयभीत प्राणियों का रक्षक है और अविनाशी सुख स्वरूप मोक्षमन्दिर मे जाने के लिए नसैनी अर्थात् सीढ़ियों के सदृश है॥१५५०॥

तन्नास्ति भुवने वस्तु, तपसा यन्न लभ्यते।
तपसा दह्यते कर्म, वह्निनेव तृणोत्करः ॥१५५१॥

अर्थ - जैसे अग्नि तृणसमूह को जला देती है, वैसे ही सम्यक् तप कर्मों को जला देता है अत. लोक मे कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो सम्यक् प्रकार किये गये तप के द्वारा प्राप्त न होती हो ॥१५५१॥

चिन्तितं यच्छतो वस्तु, सर्वं चिन्तामणेरिव।
तपसः शक्यते वक्तुं, न माहात्म्यं कथञ्चन ॥१५५२॥

अर्थ - चिन्तामणि रत्न सदृश चिन्तित पदार्थ को देने वाले इस सम्यक् तप का माहात्म्य किसी प्रकार भी कहना शक्य नहीं है ॥१५५२॥

इति विलोक्य तपः फलमुत्तमं, विमल-वृत्त-निवेशित-मानसः।
तपसि पूत-मतिर्यतते यतिः, कुतपसः स फले विगतादरः ॥१५५३॥

अर्थ - इस प्रकार जिन यतिजनो का मन निर्दोष चारित्रपालन मे स्थिर है, वे तपस्या के उत्कृष्ट फल को देख कर पवित्र बुद्धि युक्त हो सम्यक् तप मे ही प्रयत्नशील होते हैं, खोटे तप के फल में आदर नहीं करते ॥१५५३॥

तपः क्रियायामनिशं स्व-विग्रहो, नियोजनीयो यतिना हितैषिणा।
नियोज्यते किं न गृहीत-वेतनो, मनीषिते कर्मणि न स्व-चेटकः ॥१५५४॥

अर्थ - आत्मा का हित चाहने वाले यतिजनो द्वारा अपने-अपने शरीर को तपस्या की क्रियाओ मे अहर्निश लगाये रखना चाहिए। देखो ! जिसने अपना वेतन/पारिश्रमिक ले लिया है उस भृत्य को क्या इच्छित कार्य मे नहीं लगाया जाता ? लगाते ही है ॥१५५४॥

गुणैरशेषैः कलिते मनोरमैर्निरस्त-दोषे कथिते तपोधनैः।
सदात्र धर्मे शिव-सौख्य-कारणे, प्रमाद-मुक्तैः क्रियतां महादरः ॥१५५५॥

इति तपसः क्रमः ॥

अर्थ - निर्यापकाचार्य महोदय कह रहे हैं कि हे क्षपक ! सम्पूर्ण मनोरम गुणो से सयुक्त एव दोषो से रहित, तपोधन गणधरादि महात्माओ द्वारा कहा हुआ मोक्ष-सुख के कारण-स्वरूप यह उत्तम तप धर्म है, अत प्रमाद छोड़कर आप सभी को इस सम्यक् तप मे आदर करना चाहिए। अर्थात् इस तप का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करते रहना चाहिए ॥१५५५॥

इस प्रकार तपश्चरण के क्रम का वर्णन पूर्ण हुआ।

उपदेश सुनने वाले क्षपक की स्थिति

क्षपकानन-राजीवं, ततो भाति विकाशितम्।
हत-मोह-तमस्काण्डैः, सूरि-वाक्य-मरीचिभिः ॥१५५६॥

अर्थ - इस प्रकार तप का माहात्म्य सुनकर मोहरूपी अन्धकार समूह को नष्ट कर देने वाले निर्यापकाचार्यरूपी सूर्य के वचनरूपी किरण-समूह से क्षपक का मुख कमल विकसित/प्रफुल्लित हो जाता है॥१५५६॥

प्रश्न - *क्या क्षपक का मुख उदास रहता है ?*

उत्तर - क्षपक उदास नहीं रहता, फिर भूख, प्यास या रोगादि की पीड़ा से अथवा अनशनादि तप के से श्रम से मुखाकृति पर कुछ विरूपता या थकावटजन्य ग्लानि आ जाती है तो गुरुमुख से प्रसारित शिक्षा-रूपी वचन-किरणों से वह विरूपता नष्ट हो जाती है और उसमें से रत्नत्रय की प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है, तथा चित्त प्रसन्न एव हृदय आह्लादित हो उठता है।

सूरेर्भाति प्रभावेण, तत्सदो मुख-पङ्कजैः।
सरोवरमिवाकीर्णं, पद्मैर्विकसितैः रवैः ॥१५५७॥

अर्थ - सूर्य की किरणो से विकसित हुए कमलो के द्वारा भरा हुआ सरोवर जैसे सुशोभित होता है, वैसे ही आचार्य के वचन प्रभाव से मुनियो के विकसित हुए मुखरूपी कमलो द्वारा वह परिषद् अत्यन्त सुशोभित होती है॥१५५७॥

प्राप्तोपदेश-पीयूषं, क्षपकोऽजनि निर्वृतः।
समस्त-श्रम-विध्वंसि, तृषार्त इव पानकम्॥१५५८॥

अर्थ - जैसे प्यास से पीडित पुरुष समस्त श्रम और प्यास को शमन करने वाले पेय को प्राप्त कर प्रसन्न होता है, वैसे ही क्षपक आचार्य श्री के उपदेश रूपी धर्मामृत को पीकर सुखी एव आनन्दित होता है॥१५५८॥

क्षपक द्वारा आचार्य की वन्दना एव विनय पूर्वक प्रज्ञप्ति

ततोऽमुं शासनं श्रव्यं, श्रुत्वा संविग्न-मानसः।
उत्थाय वन्दते सूरिं, स नम्री-कृत-विग्रहः ॥१५५९॥

अर्थ - तदनन्तर कर्णप्रिय वचनो द्वारा जिनशासन के अथवा तप धर्म के माहात्म्य को सुनकर वह क्षपक वैराग्य से भर जाता है अत सस्तर से उठकर बैठ जाता है, पश्चात् सर्वांगो को अति नम्रीभूत कर श्रद्धा एव विनय पूर्वक आचार्यश्री की वन्दना करता है॥१५५९॥

तवेमां देशनां कृत्वा, शेषामिव शिरस्यहम्।
यथोक्तमाचरिष्यामि, पराजित-परीषहः ॥१५६०॥

अर्थ - क्षपक कहता है कि हे गुरुदेव ! आपके द्वारा दिये हुए इस सम्यग्ज्ञानामृत रूप उपदेश को मै शेषाक्षत के सदृश मस्तक पर धारण कर तथा परीषहो को जीत कर वैसा ही आचरण करूँगा जैसा कि आपने मार्गदर्शन किया है॥१५६०॥

यथा मे निस्तरत्यात्मा, तुष्टिरस्ति यथा तव।
सङ्घस्य सर्वस्य यथा, तवास्ति सफलः श्रमः ॥१५६१॥

अर्थ - जिस प्रकार से मेरी आत्मा ससार-समुद्र से पार हो, जिस प्रकार से आपको परम सन्तुष्टि प्राप्त हो तथा मेरे कल्याण मे सलग्न आपका एव सर्वसघ का परिश्रम सफल हो, मैं उसी प्रकार का आचरण और तप करूँगा ॥१५६१ ॥

यथात्मनो गणस्यापि, कीर्तिरस्ति प्रथीयसी।
अहमाराधयिष्यामि, तथा सङ्घ-प्रसादत: ॥१५६२ ॥

अर्थ - भो गुरुदेव ! जिस प्रकार मेरी और संघ की कीर्ति विस्तार से फैले, मैं सर्व सघ की कृपा से उसी प्रकार रत्नत्रय की आराधना करूँगा ॥१५६२ ॥

याराधिता महाधीरैरधीरैर्मनसापि नो।
अस्ताघां साधयिष्यामि, देवीमाराधनामहम् ॥१५६३ ॥

अर्थ - हे पूज्यवर! महाधीर-वीर पुरुषों ने जो आराधना की है, या रत्नत्रय की वृद्धि के लिए जो आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मन से कल्पना भी नहीं कर सकते, पापों को नष्ट करने वाली उस आराधना देवी की मैं सिद्धि करूँगा ॥१५६३ ॥

तवोपदेश-पीयूषं, पीत्वा को नाम पावनम्।
बिभेतीह क्षुधादिभ्य:, कातरोऽपि नर: प्रभो ! ॥१५६४ ॥

अर्थ - हे प्रभो ! आपके धर्मोपदेशरूपी पवित्र अमृत को पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख-प्यास एव मृत्यु आदि से डरेगा ? अपितु कोई भी नहीं डरेगा ॥१५६४ ॥

पलालैरिव नि:सारैर्बहुभिर्भाषितै: किमु।
प्रत्यूह-करणे शक्तो, न मे शक्रोऽपि निश्चितम् ॥१५६५ ॥

अर्थ - घास-फूस के सदृश बहुत अधिक बोलने से क्या प्रयोजन, आपकी अनुकम्पा से इन्द्रादि देव भी मेरी आराधना में नियमत विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकते ॥१५६५ ॥

ध्यान-विघ्नं करिष्यन्ति, किं क्षुधादि-परीषहा:।
कषायाक्ष-द्विषो वा मे, त्वत्प्रसादमुपेयुष: ॥१५६६ ॥

अर्थ - हे गुरुदेव ! आपकी कृपा को प्राप्त हुए मुझ क्षपक के ध्यान में ये भूख-प्यास आदि परीषह और कषाय एव इन्द्रियरूपी शत्रु क्या विघ्न कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते ॥१५६६ ॥

स्थानतश्चलति नाक-पर्वत:, पुष्करं वसुमतिं प्रपद्यते।
त्वत्प्रसादमुपगम्य न प्रभो ! जातु यामि विकृतिं मनागपि ॥१५६७ ॥

अर्थ - हे प्रभो ! कदाचित् सुमेरु पर्वत अपने स्थान से चलायमान हो जाये और पुष्कर अर्थात् सरोवर पृथिवीपने को प्राप्त हो जावे किन्तु आपके अनुग्रह से मैं किंचित् भी विकार को प्राप्त नहीं होऊँगा ॥१५६७ ॥

मनसा वपुषा वचसा भगवन्ननुशासनमेतदनन्य-मतिः।
तव यो विदधाति सदा, विधिना शिवतातिमुपैति स मुक्त-मलः ॥१५६८॥

इति अनुशिष्टिः॥

अर्थ - हे प्रभो ! आपके इस अनुशासन अर्थात् उपदेश को जो भव्य-पुरुष अनन्य मति अर्थात् एकाग्रचित्त होकर मन, वचन और काय से विधिपूर्वक सदा धारण करता है वह पुरुष कर्ममल से मुक्त होता हुआ मोक्षसुख की परम्परा को प्राप्त होता है॥१५६८॥

इस प्रकार अनुशिष्टि नामक महाधिकार पूर्ण हुआ॥३३॥

विशेषार्थ - इस **मरणकण्डिका** ग्रन्थ मे समाधिमरण की सिद्धि हेतु अर्ह, लिग एव शिक्षादि चालीस अधिकार हैं। उनमे से अनुशिष्टि नामक यह ३३ वाँ अधिकार अति विस्तृत है। इस अधिकार में निर्यापकाचार्य का क्षपक के लिए जो उपदेश दिया गया और क्षपक ने जिस विनम्रता से उसे ग्रहण किया है तथा उसमे दृढ़ रहने की जो प्रतिज्ञा की है वह सब हृदयग्राही है।

इस अधिकार के प्रारम्भ मे क्षपक को जो निर्देश दिया गया था कि आहार और उपधि को निर्दोष ग्रहण करना, शल्य त्याग, मिथ्यात्व वमन, सम्यक्त्व की भावना, भक्ति, पच नमस्कार मे प्रीति, ज्ञानाभ्यास की प्रेरणा, महाव्रतो का विस्तृत विवेचन, कषायनिग्रह, इन्द्रियविजय एव निद्राविजय तथा अन्त मे तपस्या का माहात्म्य, उसके गुण एव उसके फल का निरूपण करते हुए यह अनुशिष्टि नामक तैंतीसवाँ अधिकार पूर्ण किया गया है।

(८)

सारणादि अधिकार

आचार्य की शिक्षा तप मे और तप निर्जरा मे कारण है

निर्जरां कुरुते गुर्वी, कुर्वाणः क्षपकस्तपः।
दत्ते निर्यापकः शिक्षामनिर्विण्णः प्रियम्वदः॥१५६९॥

अर्थ - इस प्रकार हित एव प्रियवचन बोलने वाले निर्यपकाचार्य बिना विरक्त हुए अथवा बिना विश्राम के क्षपक को शिक्षा देते हैं, जिससे वह विशिष्ट तप करता हुआ पूर्वबद्ध कर्मों की एकदेश अथवा उनके बहुभाग की निर्जरा करता है॥१५६९॥

पानक के भेद एव उनका त्याग

कटु-तिक्त-कषायाम्ल-लवण-स्वादुभी-रसैः।
पानकं मध्यमैर्युक्तं, तस्मै क्षीणाय दीयते॥१५७०॥

अर्थ - समाधिमरण में उद्यत क्षीणकाय क्षपक के लिए कटुक, तीखा, कषायला, नमकीन, स्वादु एव मीठा इन रसों में से मध्यम रसो का पानक देना चाहिए॥१५७०॥

प्रश्न - 'क्षपक को मध्यम रसों का पानक देना चाहिए' इसमें मध्यम शब्द का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - मध्यम शब्द का यह भाव है कि वह अधिक कटुक न हो, चरपरा न हो, खट्टा न हो, कषायला न हो, खारा न हो, मीठा न हो, अधिक गर्म या ठण्डा न हो, स्वादहीन न हो, दुर्गन्धित न हो, वात, पित्त एव कफादि को उत्पन्न करने वाला न हो, समाधि में विघ्न उत्पन्न करने वाला न हो, स्वच्छ हो एवं कपड़े से छान लिया गया हो। ऐसा पानक संस्तरारूढ क्षीणकाय क्षपक को देना योग्य है।

पानक का भी त्याग

यदासौ नितरां क्षीणस्तदपि त्याज्यते तदा।
पटीयांसो न कुर्वन्ति, निरर्थकं नियोजनम् ॥१५७१॥

अर्थ - जब सस्तरारूढ क्षपक अतिक्षीण हो जाय तब 'हानि' नामक सूत्र में कही गई विधि के अनुसार पानक का भी त्याग करा देना चाहिए। ठीक है, बुद्धिमान पुरुष व्यर्थ का नियन्त्रण नहीं करते अर्थात् निर्यापकाचार्य क्षपक की क्षमतानुसार शनै शनै क्रमश ही पानक का त्याग कराते हैं॥१५७१॥

वेदनादि उत्पन्न हो जाने पर करने योग्य कर्त्तव्य

इत्थं शुश्रूषमाणस्य, संस्तरस्थस्य वेदना।
पूर्व-कर्मानुभावेन, काये काप्यस्य जायते॥१५७२॥

अर्थ - इस प्रकार निर्यापकाचार्य के निर्देशानुसार जिसकी सेवा एव वैयावृत्य हो रही है ऐसे सस्तरारूढ क्षीणकाय क्षपक के शरीर मे पूर्वबद्ध असाताकर्मोदयसे विघ्नकारी वेदना उत्पन्न हो सकती है॥१५७२॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपो-रत्न-भृतस्ततः।
संसार-सागरे घोरे, यति-पोतो निमज्जति॥१५७३॥

अर्थ - भयकर वेदना के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एव तप रूपी रत्नो से भरी हुई यह क्षपक मुनि रूपी नौका घोर ससार सागर मे डूब सकती है॥१५७३॥

निमज्जन्तं भवाम्भोधौ, यो दृष्ट्वा तमुपेक्षते।
अधार्मिको निराचारो, नापरो विद्यते ततः॥१५७४॥

अर्थ - सम्यग्दर्शनादि गुणों से भरी क्षपक रूपी नाव को ससार-समुद्र मे डूबते हुए देखकर जो निर्यापकाचार्य उसकी उपेक्षा करता है उससे अधिक अधार्मिक एव आचारहीन अन्य कोई नहीं है॥१५७४॥

वैयावृत्य-गुणाः पूर्वं, कथिता ये प्रपञ्चतः।
तैरुपेक्षापरो नीचस्त्यज्यते निखिलैरपि॥१५७५॥

अर्थ - जो क्षपक की उपेक्षा करता है वह नीच है और पूर्व में वैयावृत्य के विस्तार पूर्वक जो गुण कहे गये हैं, उन सब गुणों से वह भ्रष्ट होता है॥१५७५॥

वैयावृत्यं ततः कार्यं, चिकित्सां जानता स्वयम्।
वैद्योपदेशतश्चास्य, शक्तितो भक्तितः सदा ॥१५७६॥

अर्थ - अत उस क्षपक के रोग की चिकित्सा जानने वाले निर्यापकाचार्य को स्वय अथवा चतुर वैद्य के परामर्श से शक्ति और भक्ति पूर्वक सदा वैयावृत्य करना चाहिए॥१५७६॥

विज्ञाय विकृति तस्य, वेदनायाः प्रतिक्रिया।
औषधैः पानकैः कार्या, वात-पित्त-कफापहैः ॥१५७७॥

अर्थ - उस क्षपक की वेदना के विकार को जानकर वात, पित्त या कफ की नाशक प्रासुक पेय औषधि द्वारा उसका प्रतिकार करना चाहिए॥१५७७॥

अभ्यङ्ग-स्वेदनालेप-वस्ति-कर्माङ्ग-मर्दनैः।
परिचर्या-परेणापि, कृत्यास्य परिकर्मणा॥१५७८॥

अर्थ - तेल लगाना, पसीना लाना, लेप लगाना, वस्तिकर्म अर्थात् एनिमा लगाना, अग मर्दन करना, गर्म पानी से सेकना अथवा शीतल आदि अन्य-अन्य उपचार करके क्षपक की वेदना को शमन करने योग्य परिचर्या करनी चाहिए॥१५७८॥

कस्यचित् क्रियमाणेऽपि, बहुधा परिकर्मणि।
पाप-कर्मोदये तीव्रे, न प्रशाम्यति वेदना॥१५७९॥

अर्थ - इस प्रकार अनेक उपचार किये जाने पर भी तीव्र पाप-कर्म के उदय से कभी क्षपक की वेदना शान्त नहीं होती है॥१५७९॥

प्रश्न - उपचार के उपरान्त भी वेदना शान्त क्यो नहीं होती ?

उत्तर - यह अनुभव सिद्ध बात है कि जो बाह्य औषधि किसी व्यक्ति के रोगशमन में सहायक होती देखी जाती है वही औषधि किसी अन्य के उसी रोगशमन मे सहायक नहीं होती है। इसका कारण है कि अन्तरग कारण के बिना मात्र बाह्य कारण से कार्य सम्पन्न नहीं होते। पुण्योदय के योग मे ही औषधि आदि बाह्य द्रव्य अपना कार्य करने मे समर्थ होते हैं।

क्षपको जायते तीव्रैरुपसर्ग-परीषहैः।
अभिभूतः परायत्तो, विह्वलीभूत-चेतनः ॥१५८०॥

अर्थ - तीव्र उपसर्गों से अथवा भूख-प्यासादि परीषहों से अभिभूत होता हुआ क्षपक कभी-कभी वेदना के आधीन हो जाता है, जिससे उसकी चेतना विह्वल हो जाती है अर्थात् वह क्षपक मूर्छित हो जाता है॥१५८०॥

व्याकुलो वेदना-ग्रस्तः, परीषह-करालितः।
प्रलपत्य-निबद्धानि, वाक्यानि स विचेतनः ॥१५८१॥

अर्थ - अथवा वेदनाग्रस्त क्षपक व्याकुलता से या परीषहों की असह्य पीड़ा से स्व वश में नहीं रह पाता, तब वह असम्बद्ध एव अयोग्य कुछ भी बकने लग जाता है॥१५८१॥

अयोग्यमशनं पानं, रात्रि-भुक्तिं स कांक्षति।
चारित्र-त्यजनाकांक्षी, जायते वेदनाकुलः॥१५८२॥

अर्थ - वेदना से आकुलित होता हुआ क्षपक अयोग्य भोजन-पान की एव रात्रि में भोजन करने की भावना से प्रेरित होता हुआ चारित्र को त्यागने की आकाक्षा करने लगता है॥१५८२॥

तथेति मोहमापन्नः सारणीयो गणेशिना।
यथास्ति शुद्ध-लेश्याकः, स प्रत्यागत-चेतनः॥१५८३॥

अर्थ - इस प्रकार मोह अर्थात् मूर्च्छा की विषम परिस्थिति से घिरे हुए क्षपक का मूर्च्छाभाव दूर करने के लिए निर्यापकाचार्य उचित सारणा करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार क्षपक अपने व्रतादिको का स्मरण कर सके तथा सावधान हो शुद्ध लेश्या मे आ सके उसी प्रकार का प्रयत्न करते है॥१५८३॥

सारणा के उपाय

कस्त्वं किं नाम ते कालः, साम्प्रतं कः क्व वर्तसे।
कोऽहं किं मम नामेति, तं पृच्छति गणी यतिम्॥१५८४॥

अर्थ - आचार्य क्षपक को सावधान करने हेतु पूछते हैं कि तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? अभी दिन है या रात्रि है ? तुम कौन से देश मे रह रहे हो? बताओ मैं कौन हूँ और मेरा नाम क्या है॥१५८४॥

इत्थं क्षपकमापृच्छ्य, चित्तं जिज्ञासता सता।
वत्सलत्वेन कर्तव्या, सारणा तस्य सूरिणा॥१५८५॥

अर्थ - इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक से बार-बार पूछ कर यह परीक्षा करते हैं कि यह सचेत है अथवा बेसुध है। यदि क्षपक बेसुध है तो वात्सल्य भाव से अर्थात् धर्मस्नेह से प्रेरित हो वे आचार्य सयम-रक्षणार्थ उसे सचेत करने का उपाय करते हैं ॥१५८५॥

मुह्यतः क्षपकस्येत्थं, यः करोति न सारणम्।
तेनासौ वर्जितो नूनं, जिनधर्म-इवोज्ज्वलः॥१५८६॥

अर्थ - यदि मोहित हुए उस क्षपक की सारणा नहीं करते हैं अर्थात् व्रतादि का स्मरण दिलाने का उपाय नहीं करते हैं तो समझना कि आचार्य ने नियमतः क्षपक का त्याग किया है और क्षपक का त्याग ही उज्ज्वल जिनधर्म का त्याग करना है॥१५८६॥

प्रश्न - "क्षपक का त्याग ही जिनधर्म का त्याग है" ऐसा क्यो कहा ?

उत्तर - "न धर्मो धार्मिकैः बिना" धर्म धर्मात्मा के बिना नहीं रह सकता। अर्थात् जैनधर्म रत्नत्रय स्वरूप है और रत्नत्रय धर्म साधुओं मे ही रहता है, इसीलिए साधुको धर्मात्मा कहते हैं। इससे स्वयमेव यह सिद्ध हो जाता है कि धर्मात्मा क्षपक का त्याग ही जिनधर्म का त्याग है।

तस्येति सार्यमाणस्य, कस्यचिज्जायते स्मृतिः।
तीव्र-कर्मोदये नान्यः, स्मरणं प्रतिपद्यते ॥१५८७॥

अर्थ - इस प्रकार सारणा करने पर अर्थात् स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक स्मृति को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु तीव्र कर्मोदय से कोई-कोई क्षपक स्मृति को प्राप्त नहीं हो पाते अर्थात् सचेत नहीं हो पाते ॥१५८७॥

प्रश्न - सचेत एव अचेत होने के अभ्यन्तर कारण क्या हैं और सचेत हो जाने वाला क्षपक क्या करता है?

उत्तर - अभ्यन्तर मे नोइन्द्रिय-मतिज्ञानावरण कर्मप्रकृति की उदीरणा हो जाने के कारण क्षपक स्मृति को प्राप्त नहीं हो पाते तथा जिनके इसकी उदीरणा नहीं होती और चारित्र मोह अथवा असातावेदनीय का भी उपशम[1] हो जाता है वे सचेत होकर स्मृति को प्राप्त कर लेते हैं।

स्मृति आते ही वे विचार करते हैं कि अहो ! मैं व्याकुल होकर अपने चारित्र से च्युत हो रहा हूँ, अकाल मे खाने-पीने की इच्छा करना मेरे लिए योग्य नहीं है। जिन वस्तुओ का मैं त्याग कर चुका हूँ उन्हे तो काल मे भी ग्रहण करना योग्य नहीं है, तब अकाल मे कैसे ? यह मुझसे महानतम अपराध हुआ है, इसका मैं पश्चाताप पूर्वक प्रायश्चित्त करता हूँ और इन परमोपकारी करुणानिधान गुरु की असीम कृपा से अपने चित्त को धर्म मे स्थिर करता हूँ। इस प्रकार स्मृति को प्राप्त क्षपक स्वय को पुन धर्म मे स्थिर कर लेता है।

संतत-सारण-वारणकारी, काम-कषाय-हृषीक-निवारी।
धर्मवतो विदधीत समाधिं, सर्वमपास्य गणी तरसाधिम् ॥१५८८॥

इति सारणं।

अर्थ - काम, कषाय और इन्द्रियों का निवारण करने वाला वह धर्मात्मा आचार्य सतत ही क्षपक की सारणा-वारणा करता है तथा उसकी पीड़ा को शीघ्रता से दूर करता हुआ समाधि कराता है ॥१५८८॥

इस प्रकार सारणा अधिकार पूर्ण हुआ ॥३४॥

३५. कवच-अधिकार

स्मृति न आने पर अथवा अयोग्य क्रिया करने पर आचार्य का कर्त्तव्य

प्रतिकर्म विधातव्यं, तस्य स्मृतिमगच्छतः।
उपदेशोऽपि कर्त्तव्यः, स्मरणारोपण-क्षमः ॥१५८९॥

अर्थ - स्मृति को प्राप्त न होने वाले क्षपक के प्रति भी निर्यापकाचार्य को निरन्तर प्रतिकार करते रहना चाहिए एव स्मृति आ जाने पर उपदेश अवश्य देना चाहिए ॥१५८९॥

---

१ भगवती आराधना गाथा १५०३ की टीका।

परीषहातुर: कश्चिज्जानानोऽपि न बुध्यते।
आर्त: पूत्कुरुते दीनो, मर्यादां च बिभित्सति ॥१५९०॥

अर्थ - कोई क्षपक चेतना को प्राप्त करके भी कर्मोदय से परीषहों की वेदना से पीड़ित होकर अपने ग्राह्य चारित्र का बोध नहीं कर पाता है तथा दुखी होता है, या चिल्लाता है, दीन होता है, रोता है और अपनी व्रत प्रतिज्ञा को भग करना चाहता है ॥१५९०॥

न विभीष्य: स नो वाच्यो, वचनं कटुकादिकम्।
न त्याज्य: सूरिणा तस्य, कर्त्तव्यासादना न च ॥१५९१॥

अर्थ - इस प्रकार क्षपक की विपरीत चेष्टा देखकर भी आचार्य भय न दिखावें, कटुवचन न कहें, उसका तिरस्कार न करे और उसका त्याग न करे ॥१५९१॥

कठोर व्यवहार से हानि

विराधितो भवन्मानो, वचनैः कटुकादिभि:।
जिघृक्षत्यसमाधानं, प्रत्याख्यानं जिहासति ॥१५९२॥

अर्थ - क्योकि कटुक वचनादि से विराधित होने वाला क्षपक भड़क कर अशान्ति या आर्तध्यान कर सकता है और अपने द्वारा ग्राह्य सयमादि को छोड़ने की भी इच्छा कर सकता है ॥१५९२॥

निर्यापकेन मर्यादां, तस्य मंक्षु मुमुक्षत:।
कर्त्तव्य: कवचो गाढ:, परीषह-निवारण: ॥१५९३॥

अर्थ - यदि क्षपक अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादा को तोडने का इच्छुक है तो निर्यापकाचार्य का कर्त्तव्य है कि उसकी रक्षा के लिए वात्सल्य पूर्वक ऐसा गाढ़ कवच करें जो परीषहो का निवारण कर सके ॥१५९३॥

गम्भीरं मधुरं स्निग्धमादेयं हृदयङ्गमम्।
सूरिणा शिक्षणीयोऽसौ, प्रज्ञापन-पटीयसा ॥१५९४॥

अर्थ - समझाने की कला मे निपुण आचार्य को गम्भीर, मधुर, स्निग्ध एवं हृदय मे प्रवेश कर जाने वाली शिक्षा द्वारा उसे धीरे-धीरे समझा कर विश्वास मे लेना चाहिए ॥१५९४॥

सन्तोष-बलतस्तीव्रास्ता रोगान्तक-वेदना:।
अकारतो जयामूढो, वृत्त-विघ्नं च सर्वथा ॥१५९५॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुम कायरता एव मूढ़ता को छोडो, सावधान होओ और चारित्र में विघ्न डालने के लिए आई हुई इन छोटी-बड़ी व्याधियो को तथा तीव्र वेदना को सन्तोष बल से सर्वथा नष्ट कर दो ॥१५९५॥

प्रश्न - चारित्र में विघ्न डालने वाले कौन हैं ?

उत्तर - राग और द्वेष के त्याग का नाम चारित्र है। अत: आचार्यदेव क्षपक को समझाते हैं कि तुम व्याधियों के प्रतिकारक उपायों मे एव उपाय करने वालों में राग मत करो और व्याधियों से एवं उनके द्वारा उत्पन्न वेदनाओं से द्वेष मत करो, क्योकि ये राग-द्वेष ही चारित्र रूपी सम्पत्ति को लूटने वाले हैं।

त्वं पराजित्य निःशेषानुपसर्ग-परीषहान्।
समाधानपरो भद्र !, मृत्यावाराधको भव ॥१५९६॥

अर्थ - हे भद्र ! तुम समस्त परीषहो और उपसर्गों को जीतो और सावधानी पूर्वक मरणकाल में इन चतुर्विध आराधनाओ की आराधना मे उद्यम करो ॥१५९६॥

प्रश्न - उपसर्गों एव परीषहो को कैसे जीतना चाहिए ?

उत्तर - मन, वचन एव काय के अशुभ या विपरीत परिणमन पर नियन्त्रण करना ही उपसर्ग एव परीषहो का जीतना है। यथा-यह साधु डरपोक है, या क्षीणकाय है या आराधनारत है अत दया करके भूख-प्यासादि की वेदनाएँ उसे दुख नहीं देगी ? ऐसी बात नहीं है, कारण कि द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भावादि सहकारी कारणों की उपस्थिति मे असातावेदनीय कर्म उदय मे आता ही है, उसकी शक्ति को रोकना अशक्य है, अत· वह कष्ट देता ही है, तब मैं उसे धैर्यरूपी शक्ति से जीतूँगा, कायरता नहीं आने दूँगा, मैं वीर की सन्तान हूँ अत वीरता के कार्य ही करूँगा, ऐसी भावनाएँ उत्पन्न होना मन से जीतना कहलाता है।

अयोग्य वचन नहीं बोलना और उदार या हितकारी वचन ही बोलना, इन दो प्रकारो से परीषहो आदि पर विजय प्राप्त करना। यथा - मैं अत्यन्त थक गया हूँ, ये भूख-प्यास के दुख अति दु सह हैं, मेरी इस अतिकष्टकर और दु सह वेदना युक्त अवस्था को देखो, मेरे शरीर मे आग लगी है, मैं इन असह्य पीडाओ द्वारा पीटा जा रहा हूँ, इत्यादि दीनता प्रकट करने वाले अयोग्य वचन मुख से नही बोलना। यह वचन से परीषहजय है। अथवा-मैने पूर्व मे नरकादि गतियो को प्राप्त कर इन भूख-प्यासादि की असह्य वेदनाओ को अनन्त बार सहन किया है, मैने अनन्त बार घोर उपसर्गों का भी अनुभव किया है, जोर-जोर चिल्लाने पर या रोने पर या हाय-हाय करने पर भी ये दुख मुझे छोडेगे तो नहीं ? एकत्र जनसमुदाय भी मेरे दुखो का बँटवारा नहीं करेगा? अपितु मेरी निन्दा ही करेगा कि देखो ! यह क्षपक अति कायर है, धैर्यगुण से रहित है, दीन है, बार-बार रोता और चिल्लाता है। मैं धीर-वीर हूँ, ये तो क्या, इससे भी भयकर उपसर्गादि मुझे मेरे चारित्र से भ्रष्ट करने मे समर्थ नहीं है, मेरी आत्मा इनके आधीन नहीं है, इत्यादि उदार, उत्साहवर्धक एव धैर्ययुक्त योग्य वचन बोलना वचन से परीषह एव उपसर्ग जय है।

भूख-प्यासादि की असह्य वेदना होने पर भी मुख पर दीनता न दिखाना, आँखो से कायरता प्रकट न होने देना, मुखादि की विपरीत चेष्टा न करना, हाथ-पैर न पटकना, छटपटाहट या तडफन व्यक्त न होने देना, शरीर को निश्चल रखना, मुख पर प्रसन्नता और हृदय का आह्लादित होना ये शरीर से परीषह और उपसर्ग जय हैं। इस प्रकार इन उपसर्गों एव परीषहो पर विजय प्राप्त कर आराधनाओ की आराधना मे सम्यक् प्रकार से सलग्न रहने पर ही रत्नत्रय की सिद्धि होती है। उपसर्गो एव परीषहो से जिसका चित्त व्याकुल रहता है वह कदापि आराधक नहीं हो सकता।

अहमाराधयिष्यामि, प्रतिज्ञा या त्वया कृता।
मध्ये सङ्घस्य सर्वस्य, तां स्मरस्यधुना न किम् ॥१५९७॥

अर्थ - अहो क्षपक! तुमने चतुर्विध सघ के मध्य जो महती प्रतिज्ञा की थी कि "मैं सम्यगाराधना करूँगा" क्या आज तुम्हें वह प्रतिज्ञा स्मरण नहीं है ? क्या तुम उसे भूल गये हो ? ॥१५९७॥

जन-मध्ये भुजास्फालं, विधाय बल-गर्वितः।
कः कुलीनो रणे मानी, शत्रु-त्रस्तः पलायते॥१५९८॥

अर्थ - जन समुदाय के बीच अपनी भुजाओं को ठोक-ठोक कर युद्ध में शत्रुओ को हराने की घोषणा करने वाला कुलीन एव स्वाभिमानी कौन ऐसा योद्धा है जो सामने आये हुए शत्रु से डर कर भाग जायगा ?॥१५९८॥

कः कृत्वा स्व-स्तव, मानी, सङ्घ मध्ये तपोधनः।
परीषह-रिपु-त्रस्तः, क्लिश्यत्यापात-मात्रतः॥१५९९॥

अर्थ - ऐसा कौन स्वाभिमानी तपोधन है जो चतुर्विध सघ के मध्य अपनी सम्यक् समाधि की प्रशसा करके आपत्तियो की प्रतिकूलता में मात्र परीषहरूपी शत्रुओं से त्रस्त हो क्लेशित होगा? अपितु नहीं होगा॥१५९९॥

प्रविशन्ति रणं पूर्वं, शत्रु-मर्दन-लालसाः।
यच्छन्ति नासु-नाशेऽपि, शत्रूणां प्रसरं पुनः॥१६००॥

मानिनो योगिनो धीराः, परीषह-निषूदिनः।
सहन्ते वेदना घोराः, प्रपद्यन्ते न विक्रियाम्॥१६०१॥

अर्थ - जैसे शत्रुओं को पराजित करने की इच्छा से जो शूरवीर योद्धा रण मे प्रविष्ट होते हैं वे प्राण नष्ट होने पर भी शत्रुओ के आधीन नहीं होते हैं। वैसे ही स्वाभिमानी योगी धीर-वीर मुनिजन परीषहों को सहन करने वाले होते हैं वे कभी भी कातरता, दीनता एव तीव्र वेदना की क्लेशता रूप विकारभाव को प्राप्त नहीं होते हैं॥१६००-१६०१॥

रणारम्भे वरं मृत्युर्भुजा-स्फालन-कारिणः।
यावज्जीवं कुलीनस्य, न पुनर्जन-जल्पनम्॥१६०२॥

संयतस्य वरं मृत्युर्मानिनोऽसक-ताडिनः।
न दीनत्व-विषण्णत्वे, परीषह-रिपूदये॥१६०३॥

अर्थ - जैसे जनसमूह मे भुजा-स्फालन द्वारा युद्ध की प्रतिज्ञा करने वाले कुलीन योद्धा का रणागण मे मरण हो जाना श्रेष्ठ है, किन्तु जीवन-पर्यन्त यह जनापवाद श्रेष्ठ नहीं कि "यह युद्धभूमि से भाग कर आया था"। वैसे ही सघ के मध्य समाधि की प्रतिज्ञा करने वाले स्वाभिमानी सयत का मरण हो जाना श्रेष्ठ है, किन्तु परीषहरूपी शत्रु के आने पर दीनपने और विषादपने का प्रदर्शन करना श्रेष्ठ नहीं है॥१६०२-१६०३॥

प्रश्न - सयत का मरण हो जाना श्रेष्ठ क्यो कहा है ?

उत्तर - यहाँ अभिप्राय यह है कि चारित्र या सल्लेखनाव्रत या रत्नत्रय की ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा पर अटल होकर रागद्वेष रहित अवस्था का मरण श्रेष्ठ है किन्तु रत्नत्रय से च्युत होना, प्रतिज्ञा भग करना, चित्त मे व्याकुलता होना, भयभीत होना एव "मैं अब प्रतिज्ञा-पालन में असमर्थ हूँ" ऐसे दीन वचन बोलकर निन्दा के या हास्य के पात्र बनना श्रेष्ठ नहीं है।

वरं मृत्युः कुलीनस्य, पुत्र-पौत्रादि-सन्ततेः।
न युद्धे नश्यतोऽरिभ्यः, कर्तुं स्व-कुल-लाञ्छनम् ॥१६०४॥

मा कार्षी-र्जीवितार्थं त्वं, दैन्यं स्व-कुल-लाञ्छनम्।
कुलस्य स्वस्य सङ्घस्य, मा गास्त्वं वेदनावशम् ॥१६०५॥

अर्थ - जैसे कुलीन योद्धा की मृत्यु हो जाना श्रेष्ठ है किन्तु मात्र एक अपने जीवन के लिए युद्ध-भूमि से भाग कर अपने पुत्र-पौत्रादि के लिए अपवाद का कारण बनना एव अपने कुल को लाछन लगाना श्रेष्ठ नहीं है। वैसे ही हे क्षपक ! तुम मात्र अपने जीवन के लिए दीनता प्रदर्शित करके अपने कुल को लाछित मत करो। वेदना के वशीभूत होकर तुम अपने आचार्य को एव चतुर्विध सघ को लोकापवाद का पात्र मत बनाओ ॥१६०४-१६०५॥

म्रियन्ते समरे वीराः, प्रहाराकुलिता अपि।
कुर्वन्ति भृकुटी-भङ्गं, न पुनर्वैरिणां पुरः ॥१६०६॥

कातरत्वं न कुर्वन्ति, परिषह-करालिताः।
किं पुनर्दीनतादीनि, करिष्यन्ति महाधियः ॥१६०७॥

अर्थ - जैसे शस्त्रप्रहार से पीडित हुए भी वीर योद्धा युद्ध मे मर जाते हैं किन्तु शत्रुओ के सामने अपनी भृकुटि भग नहीं करते अर्थात् कायरता नहीं दिखाते और शत्रुओ को पीठ दिखा कर भागते नहीं हैं, वैसे ही महाबुद्धिशाली मुनि परीषहो से आक्रान्त हो जाने पर भी भयभीत नहीं होते। और जो परीषहो से भयभीत ही नहीं होते वे क्या दीनता या मुख-विवर्णता या विषाद आदि करेगे ? अपितु नहीं ही करेगे ॥१६०६-१६०७॥

अग्नि-मध्य-गताः केचिद्दह्यमानाः समन्ततः।
अवेदना वितिष्ठन्ते, जल-मध्ये गता इव ॥१६०८॥

अर्थ - कितने ही वीर-धीर पुरुष अग्नि के मध्य चारों ओर से आग मे जलते हुए भी जल के मध्य प्रविष्ट हुए पुरुष के सदृश शान्त भाव से बैठे रहते हैं ॥१६०८॥

साधुकारं परे तत्र, कुर्वन्त्यङ्गुलि-नर्तनैः।
आनन्दित-जन-स्वान्ता, उत्कृष्टिं कुर्वते परे ॥१६०९॥

अर्थ - अन्य कोई धीर-वीर पुरुष अग्नि के मध्य जलते हुए भी अपने अगुलि-सचालन द्वारा साधुकार करते हैं और कोई वीर पुरुष विशिष्ट शब्दो द्वारा हृदयगत आनन्द प्रगट करते हैं ॥१६०९॥

प्रश्न - साधुकार का क्या भाव है ?

उत्तर - "कितना अच्छा हुआ कि आज इस अग्नि के निमित्त से मेरा पूर्वबद्ध अशुभ कर्म क्षय को प्राप्त हुआ" ऐसा अभिप्राय अगुलि-सचालन द्वारा प्रकट करना साधुकार है। अथवा कोई हृदयगत उछलते हुए आनन्द को विशिष्ट शब्दो द्वारा प्रगट करते हुए आगत उपसर्ग को सहन कर लेते हैं।

वेदनायामसह्यायां, कुर्वन्त्यज्ञानिनो धृतिम्।
लेश्यया भव-वर्धिन्या, सुखास्वादपरा यदि॥१६१०॥

तदा धृतिं न कुर्वन्ति, किं भवच्छेदनोद्यताः।
ज्ञात-संसार-नैःसार्या, वेदनायां तपोधनाः॥१६११॥

अर्थ - यदि संसार को वृद्धिंगत करने वाली अशुभ लेश्या से युक्त अनेक अज्ञानी मनुष्य सासारिक या इन्द्रियजन्य सुख-स्वाद की लालसा से तीव्र वेदना भी धैर्यपूर्वक सहन कर लेते हैं, तब जो तपोधन क्षपक ससार की नि·सारता को भली प्रकार जानते हैं और ससार का उच्छेद करने में उद्यतशील हैं, वे तपोधन मुनिराज क्या वेदना के आने पर धैर्य धारण नहीं करेगे ? अवश्य ही धैर्य धारण करेगे॥१६१०-१६११॥

दुर्भिक्षे मरके कक्ष-भये रोगे दुरुत्तरे।
मानं क्वापि विमुञ्चन्ति-कुलीना जातु नापदि॥१६१२॥

अर्थ - दुर्भिक्ष मे, मरी आदि रोग मे, भयानक बन मे, अत्यन्त प्रगाढ़ रोग में और अनेक आपत्तियो मे भी कुलीन पुरुष कभी अपना स्वाभिमान नहीं छोड़ते हैं॥१६१२॥

सेवन्ते मद्य-गोमांस-पलाण्ड्वादि न मानिनः।
कर्मान्यदपि कृच्छ्रेऽपि, लज्जनीयं न कुर्वते॥१६१३॥

अर्थ - कुल का स्वाभिमान रखने वाले सामान्य गृहस्थजन प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित हो जाने पर भी शराब नहीं पीते, गोमास एव लहसुन-प्याज आदि नहीं खाते तथा अन्य भी निन्दनीय कन्दादि का सेवन नहीं करते। इसी प्रकार अन्य भी कोई लज्जास्पद कार्य नहीं करते॥१६१३॥

कुल-सङ्घ-यशस्कामाः, कि कर्म-जगदर्चिताः।
मानं विमुच्य कुर्वन्ति, लज्जनीयं तपोधनाः॥१६१४॥

अर्थ - जब सामान्य गृहस्थो की यह बात है तब फिर जो कुल, गण एव सघ के यश की कामना करने वाले हैं और जगत् पूज्य हैं वे साधु अपना स्वाभिमान त्याग कर लज्जाजनक पद के विपरीत कार्य करेंगे क्या? अर्थात् नहीं करेगे॥१६१४॥

लघ्वीं विपत्तिमुर्वीं, वा यः प्रयातो विषीदति।
नरा वदन्ति तं षण्ढं, धीराः पुरुष-कातरम्॥१६१५॥

अर्थ - जो छोटी-बड़ी विपत्ति आने पर खेद-खिन्न होता है, धीर-वीर पुरुष उस कायर को नपुसक कहते है॥१६१५॥

समुद्रा इव गम्भीरा, निःकम्पाः पर्वता इव।
विपद्यपि महिष्ठायां, न क्षुभ्यन्ति महाधियः॥१६१६॥

अर्थ - महाबुद्धिमान् सज्जन पुरुष महती विपत्ति आ जाने पर भी कभी क्षुब्ध नहीं होते, वे समुद्र सदृश गम्भीर एव सुमेरु सदृश अकम्प रहते हैं॥१६१६॥

स्वारोपित-भरा: केचिन्नि:सङ्गा नि:प्रतिक्रिया:।
गिरि-प्राग्भारमापन्नाश्चित्र-श्वापद-सङ्कटम् ॥१६१७॥

अर्थ - कितने ही महापुरुष समस्त परिग्रह का त्याग कर और अपने आत्मा को आत्मा में ही आरोपित कर, आगत विपत्तियो के प्रतिकार से रहित हो, हिंस्रश्वापद आदि पशुओ से भरे हुए पर्वतों की गुफाओं में जाकर रत्नत्रय की सिद्धि करते हैं॥१६१७॥

राधान्त-सचिवा: सन्त:, सन्तुष्टा: शुद्ध-वृत्तय:।
साधयन्ति स्थिता: स्वार्थं, व्याल-दन्तान्तरेष्वपि॥१६१८॥

अर्थ - जो सिद्धान्तग्रन्थों मे कुशल हैं अर्थात् श्रुत के पारगामी हैं, सतोष-भावयुक्त हैं एव अत्यन्त शुद्ध चारित्रधारी हैं, ऐसे सन्त पुरुष क्रूर सिंहादि पशुओ की दाढ़ो के मध्य जाकर भी उत्तमार्थ रत्नत्रय-रूप अपने स्वार्थ को सिद्ध कर लेते हैं॥१६१८॥

धीरोऽवन्तिकुमारोऽगात्त्रिरात्रं शुद्ध-मानस:।
शृगाल्या खाद्यमानोऽपि, देवीमाराधनां प्रति॥१६१९॥

अर्थ - अहो क्षपक! देखो! अत्यन्त धीर एवं शुद्धमानस अर्थात् शुद्धचारित्र के धारी अवन्ति सुकुमार महामुनि तीन रात्रि पर्यन्त शृगाली द्वारा खाये जाने पर भी आराधना देवी अर्थात् रत्नत्रय की आराधना को प्राप्त हुए॥१६१९॥

❋ सुकुमाल मुनिकी कथा ❋

अवन्ति देश के उज्जैन नगरमे रहने वाले सुरेन्द्रदत्त सेठ और यशोभद्रा सेठानी के एक सुकुमाल नामका पुत्र था, जो इतना सुकुमार था कि उसको आसन पर पड़े हुए राई के दाने भी चुभते थे। दीपक की लौ भी वे देख नहीं सकते थे और अतुल वैभव के बीच स्वर्गोपम भोगोको भोगते हुए सुखपूर्वक अपना जीवन यापन कर रहे थे। एक दिन आपके मामा यशोभद्र मुनिराज त्रिलोकप्रज्ञप्ति का पाठ कर रहे थे, उसे सुनकर इन्हे जातिस्मरण हो गया। उसी समय महल से निकलकर मुनिराज के पास जाकर दीक्षित हो गये। अपनी आयु मात्र तीन दिन की जानकर सुकुमाल मुनि जगलमें चले गये और वहाँ प्रायोपगमन सन्यास लेकर आत्मध्यानमे लीन हो गये। उसी समय पूर्व-भवके वैर सस्कारके वशीभूत होती हुई एक स्यालनी बच्चो सहित आई और उनके शरीरको खाना शुरू कर दिया तथा तीन दिन तक निरन्तर खाती रही। इस भयकर उपसर्गके आ जाने पर भी सुकुमाल मुनि सुमेरु सदृश निश्चल रहे और अपनी चारो आराधनाओ के अवलम्बन से समतापूर्वक शरीर त्याग कर अच्युत-स्वर्ग मे महर्धिक देव हुए।

शिश्रायाराधनां देवीं, मुद्गलाद्रौ सुकोशल:।
भक्ष्यमाणो मुनिर्व्याघ्र्या, सैद्धार्थिरविषण्ण-धी:॥१६२०॥

अर्थ - मुद्गल नामक पर्वत पर सिद्धार्थ राजा के पुत्र निर्मल बुद्धिधारी सुकौशल महामुनि (पूर्व जन्म की माता) व्याघ्री द्वारा खाये जाने पर भी आराधनादेवी को अर्थात् उत्तमार्थ को प्राप्त हुए॥१६२०॥

❋ सुकौशल मुनिकी कथा ❋

अयोध्या नगरीमें प्रजापाल राजा राज्य करते थे। उसी नगरमें सिद्धार्थ नामके सेठ अपनी सहदेवी आदि ३२ स्त्रियोंके साथ सुखसे रहते थे। बहुत समय व्यतीत हो जाने के बाद उनके सुकौशल नामका पुत्र हुआ, जिसका मुख देखते ही सिद्धार्थ सेठ मुनि हो गये। सुकौशलकुमार का भी ३२ कन्याओंसे विवाह हुआ, उनके साथ वे महाविभूतिका उपभोग करते हुए सुखसे जीवन यापन करने लगे। एक समय विहार करते हुए सिद्धार्थ मुनि भिक्षार्थ अयोध्या आये। "इन्हें देखकर मेरा पुत्र मुनि हो जायेगा" इस भयसे सेठानी ने उन्हें नगरसे बाहर निकलवा दिया। "जो एक दिन इस नगरके स्वामी थे, उन्हींका आज इतना अनादर किया जा रहा है" यह सोचकर सुकौशलकी धायको बहुत दु.ख हुआ और वह रोने लगी। सुकौशलने उसके रोनेका कारण पूछा। धायसे (अपने पिता) मुनिराजके अपमानकी बात सुनकर उन्हे दु.ख हुआ और उसी समय उन्हीं मुनिराजके पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा की बात सुनते ही सुकौशल की माँ अत्यन्त दु.खी हुई और पुत्रवियोगजन्य आर्त्तध्यानसे मरकर मगध देशके मौद्गिल नामक पर्वतपर व्याघ्री हुई। सिद्धार्थ और सुकौशल मुनिराज ने उसी पर्वत पर योग धारण किया था। योग समाप्त होनेपर भिक्षाके लिए पर्वतसे उतरते हुए युगल मुनिराजोंको व्याघ्रीने देखा और झपट कर अपने ही पुत्र सुकौशल मुनिको खाने लगी। मुनिराजने उपसर्ग प्राप्त होनेपर समाधि द्वारा प्राण त्यागे और सर्वार्थसिद्धिमे गये।

धरण्यामार्द्र-चर्मेव, किल-कीलित-विग्रहः।
प्रापद्-गजकुमारोऽपि, स्वार्थं निर्मल-मानसः ॥१६२१॥

अर्थ - पृथ्वी के साथ गीले चमड़े के सदृश शरीर मे कीले ठोक कर एकमेक कर देने पर भी निर्मल परिणाम वाले महामुनि गजकुमार उत्तमार्थ को प्राप्त हुए। अर्थात् अन्त कृत केवली हुए॥१६२१॥

❋ गजकुमार मुनि की कथा ❋

श्रीकृष्ण नारायणके सुपुत्र गजकुमार अति सुकुमार थे। वे अपने पिता आदि के साथ धर्मोपदेश सुननेके लिए भगवान् नेमिनाथके समोशरणमे जा रहे थे। मार्गमे एक ब्राह्मण की नव-यौवना, सर्वगुणसम्पन्ना, सुलक्षणा और सौन्दर्यमूर्ति पुत्रीको देखकर श्रीकृष्ण ने उसे उसके पितासे गजकुमारके लिए मगनी कर ली और उसे अन्त पुरमे भिजवा दिया। भगवान का उपदेश सुनकर श्रीकृष्ण तो सपरिवार द्वारका लौट आये परन्तु गजकुमार नहीं लौटे और जैनेश्वरी दीक्षा धारण करके किसी एकान्त स्थानमे ध्यानारूढ हो गये। जिस लड़की का सबध गजकुमार से हुआ था उसका पिता जगलसे काष्ठ-भार लेकर लौट रहा था, उसकी दृष्टि जैसे ही गजकुमार पर पडी, वह आगबबूला हो उठा और बोला - "अरे दुष्ट ! मेरी अत्यन्त प्रिय सुकुमारी पुत्रीको विधवा बनाकर तू साधु बन गया है, मैं देखता हूँ तेरी साधुता को।" ऐसा कहकर उस दुष्ट ने मुनिराज के शरीरमें कीले ठोक दीं।

उस घोर वेदना को सहनकर गजकुमार महामुनि अतकृत केवली हुए।

कास-शोषारुचिश्च्छर्दि-कच्छु-प्रभृति-वेदनाः।
सोढाः सनत्कुमारेण, यतिना शरदां शतम् ॥१६२२॥

अर्थ - सनत्कुमार मुनि ने सौ वर्षों तक कास, शोष, अरुचि, वमन एव खुजली आदि की वेदनाएँ धैर्यपूर्वक सहन की थीं॥१६२२॥

❋ सनत्कुमार मुनि की कथा ❋

भारतवर्षके अन्तर्गत वीतशोक नगरमें राजा अनन्तवीर्य रानी सीताके साथ कालयापन करते थे। उनके सनत्कुमार नामका अत्यन्त रूपवान् पुत्र उत्पन्न हुआ जो महापुण्योदयसे चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्तकर नवनिधि और १४ रत्नो का स्वामी हुआ। एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा मे उनके रूप की प्रशसा कर रहा था, जिसे सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नामके दो देव गुप्त भेषमे आये और स्नान करते हुए चक्रवर्ती का त्रिभुवनप्रिय सर्व सुन्दर रूप देखकर आश्चर्यान्वित हुए। इसके बाद उन देवोने अपने असली वेषमें आकर वस्त्रालंकारोसे अलकृत, सिहासन पर स्थित चक्रवर्तीके रूपको देखा और खेदित हो उठे। राजाने इसका कारण पूछा, तब देव बोले-महाराज ! यथार्थमे आपका रूप देवोको भी दुर्लभ है, इसकी तो हमे प्रसन्नता है किन्तु मनुष्य का रूप क्षणक्षयी है यह देखकर हमे खेद हुआ। जो रूप कुछ समय पहले स्नानगृहमें देखा था, वह अब दिखाई नहीं देता। यह बात सभासदोकी समझमे नहीं आई, तब देवोने एक पानीसे भरा हुआ घडा मगाया और उसमे से एक बूद जल निकालकर सभासदोसे पूछा कि बताओ पहलेसे इस घडेमे कुछ विशेषता दिखाई दी क्या ? यह सब चमत्कार देखकर चक्रवर्तीको वैराग्य हो गया और वे जैनेश्वरी दीक्षा धारण करके तपश्चरणमे सलग्न हो गये। पूर्व पापोदयसे उनके सारे शरीरमे भयकर कुष्ठ रोग उत्पन्न हो गया। एक देव उनके धैर्यकी परीक्षा लेनेके लिए वैद्यका वेष धारण करके आया और उपचार करानेका आग्रह करने लगा। तब मुनिराज बोले-भो वैद्य ! मुझे जन्म-मरण का भयकर रोग दु ख दे रहा है, यदि आप इस रोगकी चिकित्सा कर सकते हो तो करो। महाराज की बात सुनकर वैद्य अत्यन्त लज्जित हुआ और चरणोमे गिरकर बोला-स्वामिन् ! इस रोग की रामबाण औषधि तो आपके पास ही है। इसप्रकार देव मुनिराजके निर्दोष चारित्र की और शरीरमे निर्मोहपनेकी प्रशसा करता हुआ स्वर्ग चला गया और सनत्कुमार मुनिराजने अपने धैर्यसे उस परीषह पर विजय प्राप्त की और अष्ट कर्मोको नष्टकर मोक्षलक्ष्मीके स्वामी बने।

गङ्गायां नावि मग्नायां, एणिका-तनयो यतिः।
अमूढ-मानसः स्वार्थं, साधयामास शाश्वतम्॥१६२३॥

अर्थ - गगा नदी के मध्य नाव डूबने पर एणिका के पुत्र पणिक मुनिराज निर्मोही होकर आराधनाओ को साधते हुए शाश्वत धाम अर्थात् मोक्ष पधारे॥१६२३॥

❋ एणिका पुत्र पणिक मुनि की कथा ❋

पणीश्वर नामक नगरमें राजा प्रजापाल राज्य करते थे। वहाँ एक सागरदत्त सेठ अपनी एणिका नामकी स्त्रीके साथ आनन्दसे रह रहा था। उन दोनोके एक पणिक नाम का पुत्र था, जो सरल, शान्त और पवित्र हृदय का था। एक दिन पणिक भगवान के समवसरणमे गया। वहाँ उसने गधकुटीमे स्थित वर्द्धमान स्वामी का दिव्य स्वरूप देखा, जिससे उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। भगवान की स्तुति और पूजन आदि कर चुकनेके बाद पणिकने धर्मोपदेश सुना और अपनी आयुके विषयमें प्रश्न भी किया तथा अल्प आयु जानकर वह वहीं दीक्षित

हो गया। दीक्षा लेकर पणिक मुनिराज अनेक देशोंमे विहार करते हुए गगापार करनेके लिए एक नावमें बैठे। मल्लाह सुचारु-रीत्या नाव खे रहा था कि अचानक भयंकर आँधी आई, नाव डगमगाने लगी, उसमे पानी भर गया, फलस्वरूप नाव डूबने ही वाली थी कि पणिक मुनिराज विशेष आत्म-विशुद्धि के साथ शुक्लध्यान में लीन हो गये और केवलज्ञान की प्राप्तिके साथ ही उन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया।

अवमोदर्य-मन्त्रेण, भद्रबाहुर्महामना:।
बुभुक्षा-राक्षसीं जित्वा, स्वीचकारार्थमुत्तमम् ॥१६२४॥

अर्थ - भद्रबाहु नामक महामुनिराज ने अवमोदर्यतप रूप मन्त्र द्वारा क्षुधारूपी राक्षसी को जीतकर उत्तम रत्नत्रय रूप महाअर्थ को प्राप्त किया ॥१६२४॥

मासोपवास-सम्पन्नश्चम्पायां तृड्-ज्वरार्दित:।
धर्मघोषो मुनि: प्राप्त:, स्वार्थं गङ्गनदी-तटे ॥१६२५॥

अर्थ - चम्पानगरी मे गगानदी के तट पर एक मास के उपवास करने-वाले धर्मघोष नामक महामुनि तीव्र प्यास से पीड़ित होकर आराधनाओं की आराधना करते हुए मोक्ष पधारे ॥१६२५॥

❋ धर्मघोष मुनिकी कथा ❋

धर्ममूर्ति परम तपस्वी धर्मघोष मुनिराज एक माहके उपवास करके चम्पापुरी नगरमे पारणाके अर्थ गये थे। पारणा करके तपोवन की ओर लौटते हुए रास्ता भूल गये जिससे चलनेमे अधिक परिश्रम हुआ और उन्हे तृषा वेदना उत्पन्न हो गई। वे गगा किनारे आकर एक छायादार वृक्षके नीचे बैठ गये। उन्हे प्याससे व्याकुल देख गगादेवी पवित्र जलसे भरा हुआ लोटा लाकर बोली-''योगिराज ! मैं ठण्डा जल लाई हूँ, आप इसे पीकर अपनी प्यास शात कीजिए।'' मुनिराज ने जल तो ग्रहण नहीं किया और प्राण हरण करने वाली तृषा वेदनाके मात्र ज्ञाता द्रष्टा बनते हुए ध्यानारूढ़ हो गये। यह देखकर देवी चकित हुई और विदेह क्षेत्र जाकर उसने समवसरणमे प्रश्न किया कि जब मुनिराज प्यासे हैं तो जल ग्रहण क्यो नहीं करते ? वहाँ गणधर-देवने उत्तर दिया कि दिगम्बर साधु न तो असमय भोजन-पान ग्रहण करते हैं और न देवो द्वारा दिया गया आहार आदि ही ग्रहण करते हैं। यह सुनकर देवी बहुत प्रभावित हुई और उसने मुनिराजको शाति प्राप्त कराने हेतु उनके चारो ओर सुगन्धित और ठण्डे जलकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। यहाँ मुनिराज ने आत्मोत्थ अनुपम सुखके रसास्वाद द्वारा कर्मोत्पन्न तृषा वेदना पर विजय प्राप्त की और चार घातिया कर्मोंका नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

पूर्व-काराति-देवेन, कृतै: शीतोष्ण-मारुतै:।
श्रीदत्त: पीड्यमानोऽपि, जग्राहाराधनां सुधी: ॥१६२६॥

अर्थ - पूर्व भव के वैरी देव द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत एवं उष्ण वायु से पीड़ित होते हुए भी बुद्धिमान श्रीदत्त नामक महामुनिराज ने सम्यक्त्वादि चारो आराधनाएँ ग्रहण की थीं ॥१६२६॥

❋ श्रीदत्तमुनिकी कथा ❋

इलावर्धन नगरीके राजाका नाम जितशत्रु था। उनकी इला नामकी रानी थी जिससे श्रीदत्त नामक पुत्रने जन्म लिया। श्रीदत्तकुमार का विवाह अयोध्याके राजा अशुमान की पुत्री अंशुमतीसे हुआ था। अंशुमतीने एक तोता पाल रखा था। चौपड़ आदि खेलते हुए जब राजा विजयी होता तब तो तोता एक रेखा खींचता और जब रानी जीतती थी तब वह तोता चालाकी से दो रेखाएँ खींच देता था। उसकी यह शरारत दो-चार बार तो राजाने सहन करली आखिर उसे गुस्सा आ गया और उसने तोतेकी गरदन मरोड़ दी। तोता मरकर व्यन्तर देव हुआ। श्रीदत्त राजाको एक दिन बादलकी टुकडी को छिन्न-भिन्न होते देखकर वैराग्य हो गया और उन्होने ससार-परिभ्रमणका अन्त करने वाली जैनेश्वरी दीक्षा धारण करली। अनेक प्रकारके कठोर तपश्चरण करते हुए और अनेक देशोंमें विहार करते हुए श्रीदत्त मुनिराज इलावर्धन नगरी आये और नगरके बाहर कायोत्सर्ग ध्यानसे खड़े हो गये। ठण्ड कड़ाके की पड़ रही थी। उसी समय शुकचर व्यन्तर देवने पूर्व वैरके कारण मुनिराज पर घोर उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया। वैसे ही ठण्डका समय था और उस देवने शरीरको छिन्न-भिन्न कर देनेवाली खूब ठण्डी हवा चलाई, पानी बरसाया तथा खूब ओले गिराये। पर मुनिराजने अपने धैर्यरूपी गर्भगृहमे बैठकर तथा समता रूपी कपाट बन्द करके सयमादि गुणरत्नोंको उस जलके प्रवाहमे नहीं बहने दिया, उसके फलस्वरूप वे उसी समय केवलज्ञानको प्राप्त करते हुए मोक्ष पधारे।

मारुतं ग्रैष्मकं तापं, वह्नि-तप्तं शिला-तलम्।
सोढ्वा वृषभसेनोऽपि, स्वार्थं प्रापदनाकुलः ॥१६२७॥

अर्थ - अति उष्ण वायु, अत्यन्त गर्म आताप और अग्नि से तप्तायमान शिलातल की उष्ण बाधाओ को सहन करके अनाकुलभाव से आराधनाओं की आराधना करते हुए वृषभसेन महामुनिराज उत्तमार्थ अर्थात् मोक्षपुरी को प्राप्त हुए॥१६२७॥

❋ वृषभसेन मुनिकी कथा ❋

उज्जैनके राजा प्रद्योत एक दिन हाथी पर बैठकर हाथी पकड़नेके लिये जगल की ओर जा रहे थे। मार्ग मे हाथी उन्मत्त हो उठा और उन्हे भगाकर बहुत दूर लेगया। राजा प्रद्योत एक वृक्षकी डाल पकड़कर ज्यो-त्यो बचे। प्याससे व्याकुल चलते हुए वे खेट ग्रामके कुए पर पहुँचे। उसी समय जल भरनेके निमित्त आई हुई जिनपाल की पुत्री जिनदत्ताने उन्हे जल पिलाया और पितासे जाकर सब समाचार कह दिये। ''ये कोई महापुरुष हैं'' ऐसा विचारकर जिनपाल उन्हे आदरसत्कार पूर्वक अपने घर ले गया और जिनदत्ताके साथ उसकी शादी कर दी। जिनदत्ताको पटरानीके पदपर नियुक्त कर राजा सुखसे रहने लगा। समय पाकर उन दोनो के वृषभसेन नामका पुत्र हुआ। वृषभसेन जब आठ वर्षके थे तब राजा प्रद्योत पुत्रको राज्य-भार देकर दीक्षा लेना चाहते थे। पुत्रने दीक्षा लेनेका कारण पूछा। पिताने कहा-बेटा! राज्य का भोग भोगते हुए सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती, उसके लिये तपश्चरण आवश्यक है। सच्चे सुखकी बात सुनकर बहुत समझाए जानेपर भी पुत्रने इन्द्रिय-सुखोंके कारणभूत राज्यको ग्रहण नहीं किया और पिताके साथ ही जिनदीक्षा धारण कर ली। वृषभसेन मुनिराज तपस्या करते एव अकेले ही अनेक देशोंमे घूमते हुए कौशाम्बी नगरीमे आये और छोटी सी पहाड़ी पर ठहर गये। गर्मीका

समय था, धूप तेज पड़ रही थी। मुनिराज एक पवित्र शिलापर बैठकर ध्यान करते थे। कड़ी धूपमें इस प्रकारकी योग साधना तथा आत्मतेजसे उनके शरीरका सौन्दर्य इतना देदीप्यमान हो उठा कि लोगोके मनमें उनके प्रति श्रद्धा अति दृढ़ होती गयी जिससे जैनधर्मका प्रभाव वृद्धिंगत होने लगा। एक दिन महाराज जब शहरमें भिक्षार्थ गये थे तब जैनधर्मद्वेषी एक बौद्ध भिक्षुने दुष्टतासे महाराजके ध्यान करनेके लिये बैठनेकी शिलाको अग्निसे तपा दिया। मुनिराज आहारसे लौटे, शिला को सतप्त देखसमझ गये कि यह उपसर्ग आया है। उन वीर-धीर मुनिराजने उसी तप्त शिला पर आरूढ़ हो समाधिपूर्वक आराधनाको साधते हुए प्राण त्याग किया और उत्तमगति प्राप्त की।

अग्निराजसुतः शक्त्या विद्धः, क्रौञ्चेन संयतः।
रोहेडकपुरे सोढ्वा, देवीमाराधनां श्रितः॥१६२८॥

अर्थ - रोहेडक नामक नगर में क्रौंच राजा द्वारा शक्ति नामक शस्त्र से वेधे गये अग्निदत्त राजा के पुत्र कार्तिकेय महामुनिराज ने असह्य पीडा सहकर भी आराधना देवी के आश्रय से उत्तम गति प्राप्त की॥१६२८॥

❋ कार्तिकेय मुनिकी कथा ❋

राजा अग्निदत्तके वीरवती रानीसे कृत्तिका नामकी पुत्री हुई। जब वह यौवनवती हुई तो राजा उसपर मोहित हो गया। उसने छलसे राजसभामे प्रश्न किया कि राजमहलमे जो भी पदार्थ हैं उन सबका स्वामी कौन होता है? मत्री आदिने कहा, आप ही तो स्वामी हैं। किन्तु वहाँ पर उपस्थित जैन मुनिने कहा राजन्! कन्याओंको छोडकर और सब पदार्थोंके स्वामी आप हैं। राजाको यह मुनिवाक्य रुचा नहीं। रुचता भी कैसे ? कामीको कभी गुरुके वाक्य रुचते नहीं। राजाने जबरदस्ती अपनी पुत्री कृत्तिकाके साथ विवाह कर लिया।

कुछ समय बाद उसके दो सताने हुईं - एक पुत्र और एक पुत्री। यथा समय पुत्री वीरमतीका विवाह रोहेडक नामक नगरके राजा क्रौचके साथ हुआ। पुत्र कार्तिकेय अभी अविवाहित था। एक दिन मित्रोके यहाँ उनके नानाके घरसे आये वस्त्राभूषण देख उसने मातासे प्रश्न किया कि हमारे नानाके यहाँसे वस्त्राभूषण क्यो नहीं आते ? पुत्रका प्रश्न सुनकर माताके हृदयपर मानो वज्रपात ही हुआ। नयन नीरसे भर आये। माताकी दशा देखकर पुत्रने कारण पूछा। बहुत हठ करनेपर माताने सब कह डाला कि तुम्हारा पिता ही तुम्हारा नाना है, कार्त्तिकेयका हृदय ग्लानिसे भर गया। उसने कहा माता ! ऐसा कुकृत्य करते हुए राजा को किसी ने नहीं रोका? माता ने कहा-जैनमुनिने रोका था किन्तु राजा ने सुना नहीं, उलटे उन मुनिको नगरसे बाहर निकलवा दिया। कार्त्तिकेय का मन वैराग्ययुक्त हुआ। उसने वनमे जाकर मुनिराजसे जिनदीक्षा ग्रहण की। क्रमश· विहार करते हुए कार्त्तिकेय मुनि रोहेडक नगरीमे आये जहाँ उनकी बहिन राजा क्रौंच से ब्याही थी। मुनिराज को राजमार्ग से आते हुए देखकर वीरमती बहिन ने उन्हें पहिचान लिया और धर्मप्रेम तथा भ्राता प्रेमसे विह्वल हो समीपमें बैठे राजाको बिना पूछे ही वह शीघ्रता से महलसे उतरकर मुनिराजके चरणोमे गिरी। राजा विधर्मी था, मुनिके स्वरूप को नहीं जानता था। उसने क्रोधमे आकर कर्मचारियोको आज्ञा दी कि इस व्यक्ति की चमड़ी-चमड़ी छील डालो। कर्मचारियों द्वारा मुनिराज पर महान् उपसर्ग प्रारभ हुआ। उनका सारा तन छेदा गया किन्तु भेदज्ञानी परम ध्यानमे लीन मुनिराज ने अत्यत शात भावसे सल्लेखना पूर्वक प्राणत्याग किया। धन्य है कार्त्तिकेय मुनिराज जिन्होंने घोर वेदनामें भी आत्मध्यान नहीं छोड़ा।

काकन्द्यां चण्डवेगेन, छिन्न-निःशेष-विग्रहः।
विषह्याभयघोषोऽपि, पीडामाराधनां गतः ॥१६२९॥

अर्थ - काकन्दी नगरीमे चण्डवेग नामक दुष्ट व्यक्ति द्वारा सारा शरीर छेद डालने पर भी अभयघोष महामुनिराज उस असह्य पीडा को सहन कर चारों आराधनाओं के माध्यम से मोक्षगति को प्राप्त हुए॥१६२९॥

❋ अभयघोष मुनिकी कथा ❋

काकन्दीपुरमे राजा अभयघोष राज्य करते थे। उनकी रानीका नाम अभयमती था। इन दोनो मे अत्यन्त प्रीति थी। एक दिन राजा अभयघोष घूमने जा रहे थे। रास्ते में उन्हे एक मल्लाह मिला जो जीवित कछुए के चारो पैर बाँधकर लकड़ी मे लटकाये हुए जा रहा था। राजा ने अज्ञानता वश तलवार से उसके चारों पैर काट दिये। कछुआ तड़फड़ा कर मर गया और अकाम निर्जरा के फल से उसी राजा के चण्डवेग नाम का पुत्र हुआ।

एक दिन चन्द्रग्रहण देखकर राजा को वैराग्य हो गया, उसने पुत्र को राज्य-भार सौपकर दीक्षा धारण करली। वे कई वर्षों तक गुरु के समीप रहे। इसके बाद ससार समुद्र से पार करने वाले और जन्म, जरा तथा मृत्यु को नष्ट करने वाले अपने गुरु महाराज से आज्ञा लेकर और उन्हे नमस्कार करके धर्मोपदेशार्थ अकेले ही विहार कर गये। कितने ही वर्षों बाद घूमते-घूमते काकन्दीपुर आये और वीरासनमें स्थित होकर तपस्या करने लगे। इसी समय जो कछुआ मरकर उनका पुत्र चण्डवेग हुआ था वह वहाँ से आ निकला और पूर्वभव (कछुआ की पर्याय) की कषायके सस्कारवश तीव्र क्रोधसे अन्धे होते हुए उस चण्डवेग ने उनके हाथ पैर काट दिये और तीव्र कष्ट दिया। इस भयकर उपसर्ग के आजाने पर भी अभयघोष मुनिराज मेरु सदृश निश्चल रहे और शुक्लध्यानके बलसे अक्षयानन्त मोक्षलाभ किया।

प्रपेदे मशकैर्दंशैः, स्वाद्यमानो महामनाः।
विद्युच्चोर-मुनिः स्वार्थं, सोढ-दुःसह-वेदनः ॥१६३०॥

अर्थ - डाँस-मच्छरो द्वारा खाये जाने पर भी उदारमना विद्युच्चर महामुनिराज ने अत्यन्त घोर वेदना को सहन कर उत्तमार्थ प्राप्त किया अर्थात् मोक्षपद प्राप्त किया।१६३०॥

❋ विद्युच्चर मुनिकी कथा ❋

मिथिलापुर के राजा वामरथ के राज्य मे यमदण्ड नामका कोतवाल और विद्युच्चर नामका चोर था। विद्युच्चर चोरियाँ बहुत करता था, पर अपनी चालाकीके कारण पकड़ा नहीं जाता था। वह दिनमे कुष्ठी का रूप धारण कर किसी शून्य मन्दिर मे गरीब बनकर रहता था और रात्रिमें दिव्य मनुष्य का रूप धारण कर चोरी करता था। एक दिन उसने अपने दिव्यरूप से राजा को मोहित कर उनके देखते-देखते हार चुरा लिया। राजाने कोतवाल को बुलाकर सात दिन के भीतर चोर को पकड लाने की आज्ञा दी। छह दिन व्यतीत हो जाने पर भी चोर नहीं पकड़ा गया, सातवें दिन देवी के सुनसान मन्दिर में एक कोढ़ी को पड़ा हुआ देखकर कोतवाल को उसके ऊपर सन्देह हुआ और उसने उसे बहुत अधिक मार लगाई परन्तु कोढी ने अपने को चोर स्वीकार नहीं किया। तब राजा ने कहा-अच्छा, मैं तेरा सर्व अपराध क्षमा करता हूँ और अभय का वचन देता हूँ, तू यथार्थ बात बतला

दे। अभय की बात सुनते ही कोढ़ी रूपधारी विद्युच्चर बोला-महाराज ! मैं आभीर प्रान्त के अन्तर्गत वेनातट शहर के राजा जितशत्रु और रानी जयावती का विद्युच्चर नाम का पुत्र हूँ और यह यमदण्ड उसी राजाके यमपाश कोतवाल का पुत्र है। मैंने बचपन में विनोद के लिए चौर्यशास्त्र का अध्ययन किया था और अपने मित्र यमदण्ड से कहा था कि जहाँ आप कोतवाली करेगे, वहीं मैं चोरी करूँगा। हम दोनों के पिता अपना-अपना कार्यभार हम लोगो को सौंपकर दीक्षित हो गये। मेरे भय से यमदड यहाँ भाग आया और अपनी बचपन की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के उद्देश्य से मैंने भी यहाँ आकर चोरी का कार्य प्रारम्भ कर दिया। विद्युच्चर की बात सुनकर राजा वामरथ बड़ा प्रसन्न हुआ। विद्युच्चर अपने मित्र यमदण्ड को लेकर अपने नगर चला गया। किन्तु इस घटना से उसे वैराग्य हो गया और उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। सघ सहित विहार करते हुए विद्युच्चर मुनिराज ताम्रलिप्तपुरी की ओर आये। सघ सहित नगरमे प्रवेश करने को थे कि वहाँ की चामुण्डा देवी ने कहा- "हे साधो ! अभी मेरी पूजाविधि हो रही है। आप भीतर मत जाइये।" इसप्रकार रोके जाने पर भी महाराजश्री अपने शिष्यो के आग्रह से भीतर चले गये और परकोटे के पास की भूमि देखकर बैठ गये तथा ध्यानारूढ़ हो गये। अपनी अवज्ञा जानकर देवी को क्रोध आगया और उसने कबूतरो के आकार के, खून पीने वाले डाँस-मच्छरो की सृष्टि करके मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया। मुनिराज ने यह उपसर्ग बड़ी शान्ति से सहन किया और अपने मन को चारो आराधनाओं में रमाते हुए मोक्षनगर के स्वामी बने।

वास्तव्यो हास्तिने धीरो, द्रोणीमति-महीधरे।
गुरुदत्तो यतिः स्वार्थं, जग्राहानल-वेष्टितः ॥१६३१॥

अर्थ - हस्तिनापुरवासी महामुनि गुरुदत्त द्रोणमति/द्रोणगिरि पर्वत पर ध्यानस्थ थे, किसी दुष्ट ने उनका शरीर सेमर की रुई से वेष्टित कर आग लगा दी। उस घोर वेदना मे भी वे धीर-वीर रत्नत्रयरूप स्वार्थ की सिद्धि कर मोक्षपद को प्राप्त हो गये॥१६३१॥

❋ गुरुदत्त मुनिकी कथा ❋

हस्तिनापुरमे गुरुदत्त नामके राजा राज्य करते थे। उसी समय द्रोणीमति पर्वतके समीप चन्द्रपुरी नगरीमे राजा चन्द्रकीर्त्ति था, उसकी अभयमती नामकी अनिंद्य-सुदरी कन्या हुई। गुरुदत्तने उस कन्या की माग की किन्तु चन्द्रकीर्त्तिने मना किया। उससे कुपित होकर गुरुदत्तने उसपर चढ़ाई कर दी। अभयमती को जब यह वृत्तात ज्ञात हुआ तब उसने पिता से प्रार्थना की कि मेरा इस जन्ममे गुरुदत्त ही पति हो, ऐसा मेरा प्रण है अत· आप उसीसे विवाह कर दीजिये। पुत्री की बात पिता को माननी पड़ी। मगल वेलामे विवाह सम्पन्न हुआ। गुरुदत्त राजा अभयमतीके साथ आनदसे रहने लगा। द्रोणीमति पर्वतमे रहने वाला एक सिंह जनता को बहुत कष्ट दे रहा है, ऐसा सुनकर गुरुदत्त राजा वहाँ आया और सिंहकी गुफामें चारो ओर आग लगाकर सिंहको जला दिया। सिंह अकामनिर्जरा करके उसी चन्द्रपुरीमें ब्राह्मण का पुत्र हुआ।

गुरुदत्त नरेश कुछ समय तक राज्य करके दीक्षित होते हैं और क्रमश· विहार करते हुए उसी द्रोणीमति पर्वतके निकट उसी कपिल ब्राह्मणके खेतमे ध्यानस्थ होते हैं। उस समय कपिल अपनी पत्नी को खेत पर भोजन लानेके लिये कहकर खेत पर आया। वहाँ मुनि को देखकर उस खेत को जोतना उचित नहीं समझा अत· दूसरे

खेतमें जाने का सोचा। उसने मुनिराजसे कहा-मैं दूसरे खेत पर जा रहा हूँ। मेरी पत्नी भोजन लेकर आयेगी, उसको कह देना। मुनि ध्यानस्थ थे। उन्होने कपिल की पत्नी को पूछने पर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। ब्राह्मणी घर चली गयी। कपिल को समय पर भोजन नहीं मिला अत: उसने घर आनेपर अपनी पत्नी को पीटना प्रारंभ किया, ब्राह्मणी ने घबराकर कहा कि मैं तो खेत पर गयी थी किन्तु आप नहीं मिले, वहाँ एक महात्मा बैठे थे। उन्हे भी पूछा किन्तु कुछ उत्तर नहीं मिलनेसे वापिस आयी हूँ। इतना सुनते ही कपिलका क्रोध और अधिक बढ़ गया। उसने तत्काल खेतमें जाकर सेमर नाम की रुई से मुनिराज गुरुदत्त को लपेट दिया और आग लगा दी। उस घोर उपसर्गकी धीर वीर मुनिने अत्यत शातभावसे सहा। वे शरीर की ममताका त्यागकर शुक्ल ध्यानमें लीन हो गये और उन्होने ध्यान द्वारा केवलज्ञानको प्राप्त किया।

केवलज्ञान की पूजाके लिये चतुर्निकाय के देव आये। कपिल ब्राह्मण को बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने गुरुदत्त केवलीसे पुन· पुन क्षमा मांगी और उनकी दिव्य देशना द्वारा अपना कल्याण किया। देखो! संवलिथाली के समान शरीर जलते हुए भी गुरुदत्त मुनिराज आत्मामे लीन हुए और केवलज्ञान प्राप्त किया।

प्रश्न - सवलिथाली किसे कहते हैं?

उत्तर - मिट्टी के घडे मे उडद की फलियाँ भर कर उसका मुख ढाक के पत्तो से बन्द कर उसे जमीन पर उल्टा अर्थात् मुख नीचा कर रखते हैं, पश्चात् घडे को चारों ओर से अग्नि द्वारा वेष्टित कर देते हैं। उसे सवलिथाली कहते हैं।

गुरुदत्त महामुनि को सेमर की रुई लपेट कर आग लगा दी गई थी, वे सिर से पैरो पर्यन्त चारो ओर से जल रहे थे।

गाढ-प्रहार विद्धोऽपि, कीटिकाभिरनाकुल:।
स्वार्थं चिलातपुत्रोऽगाच्चालनी-कृत-विग्रह: ॥१६३२॥

अर्थ - चिलातपुत्र नामक महामुनि का शरीर कीडो के तीव्र डक प्रहार से चलनी के सदृश बिंध गया था, फिर भी अनाकुल भावो के प्रभाव से उन्होने उत्तमार्थ मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥१६३२॥

❋ चिलातपुत्र मुनिकी कथा ❋

राजगृह नगरीमे राजा उपश्रेणिक राज्य करते थे। एक दिन वे घोडे पर बैठकर घूमने गये। घोड़ा दुष्ट था सो उसने उन्हे एक भयानक वनमे छोडा। उस वन का मालिक यमदण्ड नाम का भील था। उसके एक तिलकवती नामकी सुन्दर कन्या थी। राजा ने उसकी मागकी। "इसका पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा" इस शर्तके साथ भील ने कन्या राजा को सौंप दी। उससे चिलातपुत्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा अपने वचनानुसार राज्यका भार उसे सौंपकर दीक्षित हो गये। राजा बनते ही चिलातपुत्र प्रजापर नाना प्रकारके अन्याय करने लगा। जब कुमार श्रेणिक ने यह बात सुनी तब उन्होने अपने पौरुषसे चिलातपुत्र को राज्यसे बहिष्कृत करके पिताका राज्य सभाला अर्थात् वे मगधके सम्राट् बन गये। चिलातपुत्र मगधसे निकलकर किसी वनमें जाकर बस गया और आस-पास के ग्रामोसे जबरदस्ती कर वसूल कर उनका मालिक बन बैठा। उसके एक भर्तृमित्र नामका मित्र था। भर्तृमित्रने अपने मामा रुद्रदत्तसे उनकी कन्या सुभद्रा चिलात-पुत्रके लिए माँगी। रुद्रदत्तने इसे स्वीकार नहीं किया, तब

चिलातपुत्र ने विवाह-स्नान करती हुई सुभद्राका हरण कर लिया। जब यह बात श्रेणिक ने सुनी तब वह सेना लेकर उनके पीछे दौड़ा। श्रेणिकसे अपनी रक्षा न होते देख चिलात ने उस कन्या को निर्दयतापूर्वक मार डाला और आप अपनी जान बचाकर वैभार पर्वत परसे भागा जा रहा था कि उसे वहाँ मुनियो का एक सघ दिखाई दिया और उसने उनसे दीक्षाकी याचना की। "तेरी आयु अब मात्र आठ दिन की रही है" ऐसा कहकर आचार्य ने उसे दीक्षा दे दी। दीक्षा लेकर चिलात मुनिराज प्रायोपगमन संन्यास लेकर आत्मध्यानमें लीन हो गये। सेना सहित पीछा करने वाले श्रेणिक ने जब उन्हें इस अवस्थामें देखा तब वे बहुत आश्चर्यान्वित हुए और मुनिराजको भक्ति-पूर्वक नमस्कार करके राजगृह लौट आए। चिलातपुत्रने जिस कन्या को मारा था वह मरकर व्यंतर देवी हुई और "इसने मुझे निर्दयता पूर्वक मारा था" इस वैरका बदला लेने हेतु वह चील का रूप ले चिलात मुनिके सिर पर बैठ गई। उसने उनकी दोनों आँखे निकाल ली और सारे शरीर को छिन्न-भिन्न कर दिया। जिससे उनके घावों मे बडे-बड़े कीड़े पड़ गये। इसप्रकार आठ दिन तक वह देवी उन्हे अनिर्वचनीय वेदना पहुँचाती रही, किन्तु मन, इन्द्रियो और कषायों को वशमे करने वाले मुनिराज अपने ध्यानसे किंचित् भी विचलित नहीं हुए तथा समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति की।

यमुनावक्र-निक्षिप्तः, शर-पूरित-विग्रहः।
अध्यास्य वेदनां चण्डः, स्वार्थं शिश्राय धीर-धीः ॥१६३३॥

अर्थ - चण्ड या दण्ड या धन्य नामक महामुनिराज के शरीर को यमुनावक्र नामक राजा ने तीक्ष्ण बाणों से छेद कर भर दिया, फिर भी धैर्य-बुद्धिशाली वे मुनिराज उस असह्य वेदना को सहन करके उत्तमार्थ को प्राप्त हुए अर्थात् अन्त कृत केवली होकर मोक्ष को प्राप्त हुए॥१६३३॥

❃ (धन्य) चंड या दंड नामके मुनिकी कथा ❃

पूर्व विदेहक्षेत्रकी प्रसिद्ध राजधानी वीतशोकपुर का राजा अशोक अत्यन्त लोभी था। वह धान्यका दाय करते समय बैलो के मुख बँधवा दिया करता था जिससे वे अनाज न खा सके और रसोई गृहमे रसोई करने वाली स्त्रियो के स्तन बँधवा देता था ताकि उनके बच्चे दूध न पी पावे। एक समय राजा अशोक के मुखमें कोई भयकर रोग हो गया। उसने उस रोगकी औषधि बनवाई। वह उसे पीने ही वाला था कि इतने में उसी रोगसे पीड़ित एक मुनिराज आहारके लिए इसी ओर आ निकले। राजा ने पथ्य सहित वह औषधि मुनिराज को पिला दी, जिससे उनका बारह वर्ष पुराना रोग ठीक हो गया। उस पुण्यके फलसे आगामी भवमे राजा अमलकपुरके राजा नदीसेन और रानी नन्दमतीके धन्य नामका पुत्र हुआ। समय पाकर उसने राज्य-सिंहासन को सुशोभित किया। एक समय धन्य राजा भगवान नेमिनाथके समवशरणमें धर्मोपदेश सुननेके लिए गये थे। वहाँ उन्हे वैराग्य हो गया और वे वहीं दीक्षित हो गये। पूर्वभव में जो बच्चो और पशुओ के भोजनमे अन्तराय डाला था उस पापोदयसे प्रतिदिन गोचरी को जाते हुए भी उन्हे लगातार नौ माह तक आहारका लाभ नहीं हुआ अन्तिम दिन वे सौरीपुरके निकट यमुनाके किनारे ध्यानस्थ हो गये। उस दिन वहाँका राजा बनमे शिकार खेलने आया, पर दिनभरमे उसे कुछ भी हाथ न लगा। नगर को लौटते हुए राजा की दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उन्हे देखते ही उसका क्रोध उबल पड़ा कि इसने ही आज अपशकुन किया है। प्रतिशोध की भावना से राजा ने मुनि के शरीरको तीक्ष्ण बाणों से बींध डाला। सैकड़ो बाणों के एक साथ प्रहारसे मुनिराज का शरीर चलनी की सदृश जर्जरित हो गया और सारे शरीर से रक्त

धाराएँ फूट पड़ीं। मुनिराज ने उपसर्ग प्रारम्भ होते ही प्रायोपगमन संन्यास ग्रहण कर लिया और चारों आराधनाओं में संलग्न होते हुए अन्तकृत केवली होकर मोक्ष पधारे।

यन्त्रेण पीड्यमानाङ्गाः, प्राप्ताः पञ्च-शतः प्रमाः।
कुम्भकारकटे स्वार्थमभिनन्दन-पूर्वगाः ॥१६३४॥

अर्थ - कुम्भकारकट नामक नगर मे अभिनन्दनादि पाँच सौ महामुनिराज यन्त्र मे अर्थात् कोल्हू मे पेल दिये जाने पर भी रत्नत्रय की आराधना करके उत्तमार्थ को प्राप्त हुए॥१६३४॥

❋ अभिनंदन आदि पाँचसौ मुनिराजोंकी कथा ❋

दक्षिण भारतमे स्थित कुम्भकारकट नगरके राजा का नाम दण्डक, रानी का नाम सुव्रता और राजमन्त्री का नाम बालक था। बालक मन्त्री जैनधर्म का विरोधी और अभिमानी था। एक समय उस नगरमें अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनिराज पधारे। मन्त्री बालक उनसे शास्त्रार्थ करनेके लिए जा रहा था। मार्गमे उसे खण्डक नामके मुनिराज मिले और वह उन्हीं से विवाद करने लगा। महाराजश्री के स्याद्वाद सिद्धान्त के सामने वह एक क्षण भी न टिक सका और लज्जित होता हुआ घर लौट गया, पर उसके हृदय मे अपमान की आग धधकने लगी। उसकी शान्ति के लिए उसने एक भाड को मुनि बनाकर रानी सुव्रता के महल मे भेज दिया और राजा को वहीं लाकर खड़ा कर दिया। उस मुनि भेषी भाड की कुत्सित क्रियाएँ देखकर राजा क्रोध से अन्धा हो गया और उसने उसी समय आदेश दिया कि नगरमे जितने दिगम्बर साधु हो वे सब घानी मे पेल दिये जाँय। मन्त्री तो यह चाहता ही था। उसने तत्काल सब मुनिराजो को घानी मे पेल दिया। इस महान् दु सह उपसर्ग को प्राप्त होकर भी साधु समूह अपने साम्य-भाव से विचलित नहीं हुआ और उसने उत्तमार्थ को प्राप्त किया।

कुलालेऽरिष्ट-सञ्ज्ञेन, दग्धायां वसतौ गणी।
सार्धं वृषभसेनोऽगादुत्तमार्थं तपोधनैः ॥१६३५॥

अर्थ - कुलाल नामक नगर मे अरिष्ट नामक दुष्ट मन्त्री के द्वारा वसतिका मे आग लगा देने के कारण आचार्य वृषभसेन अपने सघस्थ साधुओ के साथ रत्नत्रय स्वरूप आराधनाओं को प्राप्त हुए ॥१६३५॥

❋ आचार्य वृषभसेनकी कथा ❋

दक्षिण दिशा की ओर बसे हुए कुलाल नगरके राजा वैश्रवण बडे धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे। इनका मत्री इनसे बिल्कुल उल्टा मिथ्यात्वी और जैनधर्मका बडा द्वेषी था। सो ठीक ही है, चन्दन के वृक्षों के आसपास सर्प रहा ही करते हैं। एक दिन वृषभसेन मुनि अपने सघ को साथ लिये कुलाल नगर की ओर आये। वैश्रवण उनके आने का समाचार सुन बडी विभूति के साथ भव्यजनो को सग लिये उनकी वन्दना को गये। भक्ति से उसने उनकी प्रदक्षिणा की, स्तुति की, वन्दना की और पवित्र द्रव्यो से पूजा की तथा उनसे जैनधर्म का उपदेश सुना। मत्री ने मुनियों का अपमान करने की गर्ज से उनसे शास्त्रार्थ किया, पर अपमान उसी का हुआ। मुनियों के साथ उसे हार जाना पड़ा। इस अपमान की उसके हृदय पर गहरी चोट लगी। इसका बदला चुकाने का विचार कर वह शाम को मुनिसघ के पास आया और जिस स्थानमे संघ ठहरा था उसमें उस पापी ने आग लगा दी। पर तत्त्वज्ञानी, वस्तुस्थिति को जानने वाले मुनियो ने इस कष्ट की कुछ परवाह न कर बडी सहनशीलताके साथ सब

कुछ सह लिया और अन्तमें अपने-अपने भावों की पवित्रता के अनुसार उनमें से कितने ही तपोधन मोक्ष गये और कितने ही स्वर्ग गये।

अमी तपोधनाः प्राप्ताः, स्वार्थमेकाकिनो यदि।
अध्यास्य वेदनास्तीव्राः, निःप्रतीकार-विग्रहाः ॥१६३६॥

चतुर्विधेन सङ्घेन, विनीतेन निषेवितः।
तदाराधयसे न त्वं, देवीमाराधनां कथम् ॥१६३७॥

अर्थ - इस प्रकार यदि ये मुनिराज उपसर्गों का प्रतिकार किये बिना तीव्र वेदना को सहन करते हुए एकाकी होकर भी रत्नत्रय को प्राप्त हुए थे तब तो विनयवान् चतुर्विध सघ द्वारा सेवित तुम आराधनादेवी की आराधना क्यो नहीं कर सकते ? अर्थात् कैसे नहीं कर सकते ? ॥१६३६-१६३७॥

कर्णाञ्जलि-पुटैः पीत्वा, जिनेन्द्र-वचनामृतम्।
सङ्घ-मध्ये स्थितः शक्तः, स्वार्थं साधयितुं सुखम् ॥१६३८॥

अर्थ - हे क्षपक ! सघ के मध्य कर्णरूपी अजुलिपुटों द्वारा जिनेन्द्रदेव की वाणी रूप अमृत पीकर मोक्षरूप अपना स्वार्थ सुखपूर्वक साध लेना तुम्हारे लिए इस समय सरल है॥१६३८॥

चतुर्गति के दुखों का स्मरण

श्वभ्र-तिर्यग्नर-स्वर्ग-सुख-दुःखानि सर्वथा।
त्वं चिन्तय महाबुद्धे-भव-लब्धान्यनेकशः ॥१६३९॥

अर्थ - हे क्षपक ! हे महाबुद्धे ! अतीत काल में अनेक बार नरकगति, तिर्यंच-गति, मनुष्यगति एव देवगति के दुखो एव सुखो को तुमने सब प्रकारसे प्राप्त किया है, उनका अब तुम स्मरण करो अर्थात् एकाग्र मन से चिन्तन करो॥१६३९॥

नरके वेदनाश्चित्रा, दुःसहासात-दायिनीः।
देहासक्त-तया प्राप्ताश्चिरं यास्ता विचिन्तय ॥१६४०॥

अर्थ - हे क्षपक ! शरीर से मोह करने के कारण नरको मे तीव्र असाता को देने वाली नाना प्रकार की वेदनाओ को जो चिरकाल तक भोगा है, तुम उनका स्मरण करो/चिन्तन करो॥१६४०॥

प्रश्न - शरीर मे मोह करने से नरक मे क्यों जाना पडता है ?

उत्तर - यथार्थत तो मोह ही सबसे बडा पाप है, यह सर्व दुखों का मूल है। असाताजन्य जो वेदनाएँ नरक में हैं उस प्रकार की वेदनाएँ जगत् मे अन्यत्र कहीं नहीं है और इन वेदनाओ का मूल कारण शरीर है, क्योकि शरीरासक्त मनुष्य सयम धारण नहीं कर सकते। सयम के बिना वे असातावेदनीय कर्म का तीव्र बन्ध करते हैं और नरक चले जाते हैं। नरक मे उस असाता का प्रचुरता से उदय आता रहता है। इस प्रकार कारण की बहुलता से वेदना रूप कार्य निरन्तर होता रहता है।

नरकों में उष्ण-शीत की महत्ता

क्षिप्तः श्वभ्रावनौ क्षिप्रं, मेरु-मात्रोऽपि सर्वथा।
उष्णामुर्वीमनासाद्य, लोह-पिण्डो विलीयते॥१६४१॥

अर्थ - उष्ण नरकों मे इतनी भयकर उष्णता है कि यदि कोई देव-दानव मेरु बराबर लोहपिण्ड को उष्ण नरकों में फेके तो वह लोहपिण्ड वहाँ की भूमि को प्राप्त होने के पूर्व मार्ग मे ही विलीन हो जाएगा अर्थात् पिघल जाएगा॥१६४१॥

क्षिप्तस्तत्राग्निना तप्तो, मेरु-मात्रः सहस्रधा।
शीतामवनिमप्राप्य, लोह-पिण्डो विशीर्यते॥१६४२॥

अर्थ - उसी प्रकार अग्नि से तपे/पिघले हुए उस मेरु प्रमाण लोहपिण्ड को यदि शीत-नरकों में फेंक दिया जाय तो उन शीत-पृथिवियो को प्राप्त होने के पूर्व मार्ग मे ही वह हजारो खण्डरूप मे विशीर्ण हो जाय अर्थात् जमकर खण्ड-खण्ड हो जाय॥१६४२॥

शारीरिक वेदना की कल्पना

तादृशी वेदना श्वभ्रे, घोर-दुःखे निसर्गजा।
यादृशी चूर्णितस्यास्ति, क्षिप्त-क्षारस्य चेततः॥१६४३॥

अर्थ - किसी मूर्छा रहित मनुष्य के शरीर को मुद्गर आदि से पीट/कुचल कर खारे जल मे डाल दिये जाने पर जैसी वेदना होती है, वैसी ही वेदना घोर दुखो से भरे हुए नरको मे स्वभावत होती है॥१६४३॥

यच्छ्वभ्रावसथे भीमे, प्राप्नोदुःखमनेकधा।
निशितैः कण्टकैर्लोहैस्तुद्यमानः समन्ततः॥१६४४॥

अर्थ - उस भयकर नरक भूमि मे पैने/नुकीले लोहमयी काँटो के द्वारा चारो ओर से छेदे जाकर तुम अनेक बार दुखो को प्राप्त हो चुके हो। (उनका स्मरण करो)॥१६४४॥

यच्छूले कूट-शाल्मल्यामसिपत्र-वने गतः।
सर्वतो भक्ष्यमाणोऽयं, कङ्क-काकादि-पक्षिभिः॥१६४५॥

अर्थ - जहाँ कूट शाल्मलि वृक्ष हैं ऐसे असिपत्र वन मे जाने पर तुम सब ओर से कक और काक आदि पक्षियो के द्वारा खाये गये थे॥१६४५॥

प्रश्न - नरकों मे वृक्ष एव वन आदि होते हैं? तथा कूट शाल्मली वृक्ष और असिपत्र वन किसे कहते हैं?

उत्तर - नरक भूमियो मे वृक्षादि वनस्पतियाँ नहीं होतीं। नारकी जीव अपृथक् विक्रिया द्वारा स्वय वृक्ष एव वनादि का रूप धारणकर अन्य नारकियो को दुख देते हैं। शाल्मली वृक्ष काँटो से घिरे हुए होते हैं जिनमें से कुछ काँटे ऊपर की ओर मुख वाले और कुछ नीचे की ओर मुख वाले होते हैं, उन्हे कूट शाल्मली वृक्ष कहते हैं।

जिस वन में तलवार की धार सदृश पत्ते वाले वृक्ष होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं। ये वन भी विक्रियारूप हैं।

अन्य नारकियों के भय से भयभीत नये नारकी घबराकर ऐसे कूट-शाल्मली वृक्षो पर चढ़कर दुख पाते हैं। नारकियों द्वारा अथवा असुरकुमार देवों की विक्रिया द्वारा रचे गये विचित्र आयुध रूप पत्रो से युक्त होते हैं। उन आयुध सदृश पत्रों के गिरने पर नारकियों का सर्वांग छिद जाता है। उन वृक्षो पर बैठे हुए गिद्ध, कक एव काक पक्षीरूपधारी नारकी अपनी वज्रमयी चोंचो से उन्हें नोचते हैं, तीक्ष्ण आरे के सदृश पखो से प्रहार करते हैं और अत्यन्त तीक्ष्ण एव कठोर चरणरूपी अकुशों से मारते हैं। हे क्षपकराज ! ऐसे दुख तुमने अनेक बार भोगे हैं।

असुरैर्वैतरण्यां च, प्रापितो निर्घृणाशयैः।
कदम्ब-वालुका-पुञ्जं, गाढमाना यदा सृतः ॥१६४६॥

अर्थ - हे क्षपक ! निर्दय असुरकुमारो द्वारा वैतरणी मे तुम अनेक बार डुबोये गये हो और कदम्ब पुष्प की आकृति वाले बालू के पुज पर बलात् सुलाये गये हो, उस समय के दुख स्मरण करो॥१६४६॥

प्रश्न - वैतरणी नदी का क्या स्वरूप है और इसके माध्यम से नारकी जीव किस-किस प्रकार के दुख भोगते हैं ?

उत्तर - श्याम सबल नामक असुरकुमारो की पृथक् विक्रिया एव नारकियो की अपृथक् विक्रिया के द्वारा वैतरणी नदियों का उद्गम होता है, वे नदियाँ रगीन तरगो से व्याप्त और अगाध नीले जल से भरी होती हैं, विषय-सुख-सेवन की तरह तृष्णा की परम्परा को बढ़ाने वाली होती हैं, ससार के सदृश उन्हे पार करना कठिन होता है, आशा के समान विशाल होती हैं और कर्म पुद्गलो के स्कन्धो के समूह के समान अनेक विपत्तियो को लाने वाली होती हैं। जब प्यास से व्याकुल नारकी जल की खोज मे दौडते है, उनकी आँखे दीन हो जाती हैं, कण्ठ और तालू सूख जाता है तब दूर से ही उन नदियो को देखकर उनकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है और उन्हे विश्वास हो जाता है कि 'अब हम जी गये', ऐसा मानते हुए वे दौडकर नदी मे प्रवेश करते हैं। प्रवेश करते ही वे आतुरता पूर्वक हाथों की अजुलि से पिघले हुए ताबे के सदृश वह जल पीते हैं। वह जल कठोर वचनो के समान हृदय को जलाने वाला होता है तब वे चीत्कार करते हैं कि "अरे ! हम ठगाये गये हैं"। उसी क्षण तलवार की धार सदृश और कठोर वायु से प्रेरित नदी के जल की लहरें उनके हाथ-पैरो को काटती हुई निकल जाती हैं तब कालकूट विष के समान अत्यन्त खारा और गर्म जल उनके घावो में भरकर असहनीय पीड़ा देता है, उससे घबड़ाकर वे तट की ओर भागते हैं और उनके कटे हुए हाथ-पैर यथावत् जुड जाते हैं। अन्य नारकी उनकी गर्दनों में वज्रमयी साँकलों से भारी-शिलाएँ बाँध कर उन्हें पुन उसी वैतरणी मे डाल देते हैं, वे उसमें डूबने-उतराने लगते हैं। असुरकुमारो की विक्रिया से निर्मित भीमकाय मगर-मच्छो के प्रहार से उनके मस्तक छिन्न-भिन्न होकर गिरते और जुड़ते रहते हैं। वे पुन तट पर आते हैं, वहाँ निश्चल बाँध दिये जाते हैं और उन्हे लाखो तीक्ष्ण बाणो से बींध देते हैं। पश्चात् कदम्ब के फूलों के आकार वाली ऐसी बालू मे जिसमे बालिका के चित्त के समान प्रवेश करना कठिन है, जो वज्रमय दल से शोभित है तथा खैर की लकड़ी के अगारो के कण समूह के समान गर्म है उस पर बलपूर्वक घसीटे जाने पर जो वेदना होती है वह सहस्र जिह्वाओं से भी नहीं कही जा सकती है।

तप्ताय: प्रतिमाकीर्णे, यत्प्राप्तो लोह-मण्डपे।
आयसं पाय्यमानोऽपि, प्रतप्तं कललं कटु॥१६४७॥

अर्थ - लोहे से निर्मित मण्डप मे तपाये हुए लोहे से बनी प्रतिमारूपी युवतियो से बलपूर्वक आलिगन कराये जाने पर तथा खारा, कड़ुवा और तपा हुआ लोहा एव कलल पिलाये जाने पर जो भयकर दुख तुमने वहाँ भोगे हैं उनका स्मरण करो॥१६४७॥

प्रश्न - कलल किसे कहते हैं ?

उत्तर - ताम्बा, सीसा, सज्जी एव गूगलादि को पका कर जो काढ़ा बनाया जाता है, उसे कलल कहते है।

दु:स्पर्श्यं खाद्यमानो यल्लोहमङ्गार-सञ्चयम्।
पच्यमान: कन्दकासु, मण्डका इव रन्धित:॥१६४८॥

अर्थ - हे क्षपक ! जिनका स्पर्श करना भी कठिन है ऐसे धधकते हुए लोहे के अगार वहाँ तुम्हे बल पूर्वक खिलाये गये और तुम्हे कड़ाही मे डालकर मडको के समान तला गया। उनका स्मरण करो॥१६४८॥

चूर्णित: कुट्टितश्छिन्नो, यन्मुद्गर-मुसण्डिभि:।
बहुश: खण्डितो लोकैर्यच्छ्वभ्र-स्थैरितस्तत:॥१६४९॥

अर्थ - नरको मे इधर-उधर से आने-जाने वाले नारकी जीवो द्वारा तुम अनेक बार चूर्ण-चूर्ण कर दिये गये, कूटे गये, खण्ड-खण्ड कर दिये गये और मूसल एव मुसडी आदि के द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिये गये थे॥१६४९॥

प्रश्न - नरको मे नारकी जीवो को क्या-क्या दुर्लभ है? और उन्हे अन्य क्या-क्या दुख दिये जाते है? अथवा भोगने पडते हैं?

उत्तर - अनुकूल क्रिया, मिष्ट भाषा, सज्जनता, नम्रता, लज्जा, सुख-शीलता, परोपकार, दया, क्षमा, प्रसन्नता, दान, इन्द्रियदमन, मार्दव आदि जितने भी प्रशस्त सुगुण श्रेष्ठ पुरुषो मे होते है वे गुण नारकी जीवो मे वैसे ही दुर्लभ हैं जैसे घनघोर जगल मे मनुष्यों का मिलना दुर्लभ है।

मनुष्यादि लोक मे शत्रु, मित्र एव उदासीन, ऐसे तीन प्रकार के प्राणी होते हैं किन्तु नरको में सब नारकी एक दूसरे के शत्रु ही होते हैं। वे अपने विभग ज्ञान से पूर्वजन्म के वैरो का स्मरण कर और क्रोध से भर कर वज्र, बाण, करोत, नख, गदा, मूसल, शूल, भाला, लोष्ट, शकु, शक्ति, तलवार, छुरी, भाला, दण्डा, गुर्ज एव पाषाण से निर्मित शस्त्र तथा अन्य भी अनेक तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से जो वहाँ की पृथिवी के स्वभाव से स्वय उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रिया से निर्मित आयुधो से परस्पर मारते हैं, छेदते हैं, भेदते हैं, कोंचते हैं, लोचते हैं, बींधते हैं, खाते हैं और प्रहार करते हैं। अन्य नारकी कुत्ता, भेड़िया, सियार, व्याघ्र, गृद्ध एव सिंह आदि की विक्रिया बनाकर परस्पर अनिर्वचनीय कष्ट देते हैं। कुछ नारकी काष्ठ, पर्वत और शिलारूप बनकर दूसरे नारकियों पर बरसते हैं, कुछ नारकी जल बनकर दूसरों को डुबाते हैं, कुछ वायु बनकर उड़ाते हैं और कुछ अग्नि बनकर जलाते हैं। वे

परस्पर कभी और किसी भी परिस्थिति में दया नहीं करते। कठोर वचन बोलते हुए उनकी ओर दौड़ते हैं कि रे नीच दासीपुत्र ! ठहर जा, कहाँ भागा जाता है ? आज मैं तुझे मारकर ही छोड़ूँगा। तेरी मृत्यु आ चुकी है। पकड़ो, इसका छेदन करो, भेदन करो, खींचलो, जला दो, खालो, चीर डालो एव मार डालो इत्यादि अशुभ शब्द ही निरन्तर और सर्वत्र सुनाई देते हैं। इस प्रकार आयु पर्यन्त वे नारकी निरन्तर दुख भोगते रहते हैं।

उत्पाट्य बहुशो नेत्रे, जिह्वा संछिद्य मूलतः।
यन्नीतो नारकैर्दुखं, दुःखदान-विशारदैः ॥१६५०॥

अर्थ - हे क्षपक ! दुख देने मे अत्यधिक निपुण नारकी जीवो द्वारा तेरे नेत्रों को उपाड़ कर और मूलसे जिह्वा उखाड़कर जो दुख दिये गये हैं उनका स्मरण करो ॥१६५०॥

कुम्भी पाके महातापे, क्वथितो यत् समन्ततः।
अङ्गार-प्रकरैः पक्वो, यच्छूल-प्रोत-मांसवत् ॥१६५१॥

अर्थ - हे मुने ! तुम महासन्तापकारी कुम्भीपाक मे चारों ओर से अनेक बार पकाये गये हो और शूल में लगे मास के समान अगारो के समूह के मध्य पकाये गये हो, उस दुख का स्मरण करो ॥१६५१॥

शाकवद्-भृज्यमानो यत्, गाल्यमानो रसेन्द्रवत्।
चूर्णवच्चूर्ण्यमानो यद्, वल्लूरमिव कर्तितः ॥१६५२॥

अर्थ - तुम वहाँ नारकी जीवो द्वारा शाक-सब्जी के समान भूँजे गये हो, गुड के रस के समान पकाये गये हो, चूर्ण की तरह चूर्ण-चूर्ण किये गये हो और माँस के सदृश काटे गये हो ॥१६५२॥

दारितः क्रकचैश्छिन्नः, खड्गैर्विद्धः शरादिभिः।
यत्पाटितः परश्वाद्यैस्ताडितो मुद्गरादिभिः ॥१६५३॥

अर्थ - हे क्षपक ! वहाँ तुम करोत द्वारा विदारित किये गये हो, खड्ग द्वारा छिन्न-अवयव किये गये हो, बाणो द्वारा विद्ध किये गये हो, फरसा आदि के द्वारा उपाड़े गये हो एव मुद्गर आदि के द्वारा पीटे गये हो ॥१६५३॥

पाशैर्बद्धोऽभितो भिन्नो, द्रुघणैरवशो घनैः।
दुर्गमेऽधोमुखीभूतो, यत्क्षिप्तः क्षार-कर्दमे ॥१६५४॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुम पाश द्वारा चारो ओर से कस कर बाँधे गये हो, कुल्हाड़ी द्वारा छिन्न-भिन्न किये गये हो, घन द्वारा कूटे गये हो और पराधीन होकर खारे जल के गहन कीचड़ मे नीचे को मुख/मस्तक करके गाड़े गये हो ॥१६५४॥

यदापन्नः परायत्तो, नारकैः क्रूर-कर्मभिः।
लोह-शृङ्गाटके तीक्ष्णे, लोट्यमानोऽतिवेगतः ॥१६५५॥

अर्थ - क्रूर कर्म करने वाले नारकी जीवों द्वारा जब तुम पकड़े जाते थे तब लोहमयी तीक्ष्ण काँटों पर अतिवेग से लोटाये/घसीटे गये हो ॥१६५५॥

तष्ट्वा लोकेऽखिलं गात्रं, क्षुरप्रैर्निशितैश्चिरम्।
वीजितः क्षार-पानीयैः, सिक्त्वा सिक्त्वा निरन्तरम्॥१६५६॥

अर्थ - उस नरक लोक मे नारकियों ने पैने खुरपे से तुम्हारा सारा शरीर चिरकाल तक छीला था तथा निरन्तर खारे जल से सींच-सींच कर वेदना-वृद्धि हेतु पंखों से हवा की थी॥१६५६॥

शक्तिभिः सूचिभिः खड्गैर्यश्छिन्नाखिल-विग्रहः।
विगलद्रक्तधाराभिः, कर्दमी-कृत-भूतलः॥१६५७॥

अर्थ - वहाँ तुम्हारा सारा शरीर शक्ति नामक शस्त्र से, सुइयो से एव तलवारो से छिन्न-भिन्न किया गया था जिससे तुम्हारे शरीर से निकलती हुई रक्त की बड़ी-बड़ी धाराओ ने वहाँ के सारे भूतल को कीचड़-युक्त कर दिया था॥१६५७॥

प्रश्न - नारकियों के वैक्रियिक शरीर मे रक्त एव हड्डी आदि होते है क्या ?

उत्तर - किसी भी वैक्रियिक शरीर मे रक्त एव हड्डी आदि सप्त धातुएँ नहीं होती हैं। वहाँ ये सब वस्तुएँ दुख देने की दृष्टि से विक्रिया द्वारा ही दर्शायी जाती हैं।

यत् स्फुटल्लोचनो दग्धो, ज्वलिते वज्र-पावके।
यच्छिन्न-हस्त-पादादिच्छिद्यमानास्थि-सञ्चयः॥१६५८॥

अर्थ - हे क्षपक ! आँखे फोड़ देने पर, जलती हुई वज्रमयी अग्नि से शरीर दग्ध कर देने पर, हाथ-पैर काट देने पर और हड्डियाँ तोड देने पर तुमने वहाँ जो दुख भोगे हैं उनका स्मरण करो॥१६५८॥

शोषणे पेषणे कर्षणे घर्षणे, लोटने मोटने कुट्टने पाटने।
त्रासने ताडणे मर्दने चूर्णने, छेदने भेदने तोदने यच्छ्रितः॥१६५९॥

अर्थ - हे क्षपक ! नरको मे नारकी जीवो द्वारा शोषण करना, पीसना, कर्षण/कसना, घर्षण/घिसना, लुटाना, मोडना, कूटना, उपाड़ना, डराना, ताडना, मर्दन करना या मसलना, चूर्ण करना, छेदना, भेदना एव पीड़ा, इन क्रियाओ से जो भयकर दुख दिये गये हैं, उनका स्मरण करो॥१६५९॥

दुःकृतकर्म-विपाक-वशोत्थं, कालमपारमनन्तमसह्यम्।
सोढमिदं हृदये कुरु सर्वं, कातरतां विजहीहि सुबुद्धे !॥१६६०॥

इति श्वभ्र-गतिः।

अर्थ - हे क्षपकराज ! नरको मे तुमने अपार अर्थात् अनन्तानन्त काल मे अनन्त काल तक पूर्वोपार्जित पाप कर्म के उदय से उत्पन्न अपार, अनन्त और असह्य दुख सहन किये हैं। हे सुबुद्धे ! अब तुम उन सब भुक्त दुखो का हृदय मे विचार करो एव वर्तमान की किंचित् वेदना से आयी हुई इस कायरता को छोड़ दो, छोड़ दो॥१६६०॥

इस प्रकार क्षुधा-तृषा आदि की वेदना से आकुलित क्षपक को निर्यापकाचार्य ने नरकगति के दुखो का उपदेश देकर धैर्य दिलाया है।

इस प्रकार नरकगति के दुःखों का वर्णन समाप्त हुआ।

तिर्यंचगति के दुखों का कथन

जन्म-मृत्यु-जराकीर्णां, घोरां तिर्यग्गतिं गतः।
किं तीव्रां बहुशो लब्धां, स्मरसि त्वं न वेदनाम्॥१६६१॥

अर्थ - हे क्षपक! नरक से निकल कर तुम घोर दुख देने वाली तिर्यंच गति में आये। यह तिर्यंच गति भी जन्म, मृत्यु एवं जरा आदि से आकीर्ण/भरी हुई है, वहाँ तुमने बहुत बार जो तीव्र वेदनाएँ भोगी हैं, इस समय उन वेदनाओं का स्मरण क्यों नहीं करते हो?॥१६६१॥

एकेन्द्रिय पर्यायजन्य दुख

पञ्चधा स्थावरा जीवा, विमूढीभूत-चेतनाः।
लभन्ते यानि दुःखानि, कः शक्तस्तानि भाषितुम्॥१६६२॥

अर्थ - सुप्त है चेतना जिनकी ऐसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक एव वनस्पतिकायिक के भेद वाले पाँच स्थावर कायो मे जो-जो दुख तुमने भोगे हैं उनका वर्णन करने मे कौन समर्थ है ? कोई भी नहीं॥१६६२॥

प्रश्न - दुखो का स्मरण करने से क्या लाभ है?

उत्तर - कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा उसी पर्याय मे भोगे हुए दुख भी भूल जाते हैं फिर देखे हुए, सुने हुए, पढ़े हुए और दूसरो द्वारा भोगे हुए दुखों को भूल जाने मे क्या आश्चर्य है ? अत मनुष्यों द्वारा अनुभूत प्रमाद को दूर करने के लिए आचार्यदेव कहते हैं कि जिन दुखो का स्मरण करने से ससार से भय उत्पन्न करने वाला सवेग गुण प्रगट होता है और जिन्हे भूल जाने से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं ऐसे दुखो का सदा स्मरण करते रहना चाहिए।

प्रश्न - एकेन्द्रिय जीवो को क्या दुख हैं?

उत्तर - जो जगम प्राणी हैं वे शीत मे, वायु रहित स्थान मे, गर्मी मे तथा जलादि में भय उत्पन्न हो जाने पर आश्रयभूत निरापद स्थान पर जा सकते हैं और अपनी-अपनी भाषा के माध्यम से सकेत भी दे सकते हैं, किन्तु खेद है कि एकेन्द्रिय जीवो की ऐसी शक्ति नहीं है। जैसे मोक्ष के अभिलाषी विरागी मुनि सर्व उपसर्गों को बिना प्रतिक्रिया के मौनपूर्वक एक स्थान पर स्थिर रहकर सहन करते हैं। बेचारे एकेन्द्रिय जीव भी पराधीन होते हुए शीतोष्ण को आदि लेकर सर्व उपसर्ग बिना किसी प्रतिकार के सहन करते है, उनके दुखो को कह सकने का सामर्थ्य किसी मे भी नहीं है।

त्रस जीवों के भेद एवं दुख

सदा परवशी-भूताश्चतुर्धा त्रसकायिकाः।
दुःखं बहुविधं दीना, लभन्ते चिरमुल्वणम्॥१६६३॥

अर्थ - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पचेन्द्रिय के भेद से त्रस जीव चार प्रकार के होते हैं। ये सदा पराधीन रहते हैं और दीन होकर चिरकाल तक बहुत प्रकार के उत्कट एव घोर दुख भोगते हैं॥१६६३॥

प्रश्न - विकलत्रय जीव किस प्रकार के दुख भोगते हैं?

उत्तर - जैसे जन्म से अन्धे, गूँगे एव बहिरे बालक रक्षा एव शरण से विहीन हो जाने पर विवश हो मार्गों में हाथी, घोड़े एव रथादि सवारियों से कुचल कर मर जाते हैं, विकलेन्द्रिय जीवों की भी ऐसी ही दशा है। उनका दुख भी नारकियों के समान है, गृह, ग्राम एवं वन आदि मे उन्हे कहीं भी कोई शरण नहीं है। सदा ही उनकी घोर मृत्यु होती रहती है। वे मार्ग मे गाय-बैल आदि पशुओ से, सवारियो द्वारा कुचले जाते हैं। गाड़ी आदि के चक्को से पिस जाते है, परस्पर एक दूसरे के मुखो द्वारा पीड़ित होकर वे दुखो तथा मृत्यु को प्राप्त होते हैं, सिर आदि भग हो जाने पर, पैर आदि टूट जाने पर तथा रोगग्रस्त हो जाने पर बिना प्रतिकार के वे चिरकाल तक तड़फड़ाते रहते हैं। जो जल की एक बूँद मे भी डूब जाते हैं, प्राणियो की श्वास वायु से भी पीड़ित हो उठते हैं एव जरा सी भी गर्मी प्राप्त कर मर जाते है, उनकी क्या कथा कही जाय ?

जैसे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीडासक्त हो, सरोवर मे प्रवेश कर बहुत बार जल मे डूबता एव उतरता है, वैसे ही ये विकलत्रय जीव जन्म रूपी समुद्र के मध्य प्रवेश करके दुखरूपी कटुकजल पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्त मे अनेक बार जन्म लेते हैं और मरते हैं। जिनका ज्ञान अत्यल्प है, जिनका कोई रक्षक नहीं, जिन्हे भोजन-पान सहज उपलब्ध नहीं और उसके लिए विशेष पुरुषार्थ की सामर्थ्य नहीं उन्हे सुख कैसे हो सकता है ? माता का वियोग हो जाने पर भी मनुष्य को असह्य दुख होता है फिर जिनके माता ही नहीं, उनकी दुख-राशि का तो कहना ही क्या है ? इस प्रकार के और भी अनेक दुख विकलत्रय पर्याय मे अनन्त बार परवशता से भोगे हैं। उस दुखराशि का शताश दुख भी इस पर्याय में नहीं है अत उन पर्यायों के अपरिमित एव असह्य दुखो का चिन्तन कर हे क्षपक! समता धारण करने मे ही तुम्हारा कल्याण है।

पचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याय के दुख

ताडने वाहने बन्धने त्रासने, नासिका-तोदने कर्णयो:कर्तने।
लांछने दाहने दोहने हण्डने, पीडने मर्दने हिंसने शातने ॥१६६४॥

अर्थ - लकड़ी आदि से ताडना, बोझा लादना एव गाडी आदि मे जोतना, रस्सी आदि से बाँधना, भय दिखाना, नाक मे नकेल डालना, कान कतरना, शरीर की चमड़ी पर चिह्न बनाना, दाग लगाना, दुहना, कष्ट देना, यातनाएँ देना, मसल देना, मारना एव छीलना, इत्यादि क्रियाओ द्वारा बैल, गधा, ऊँट एव बकरा आदि पचेन्द्रिय तिर्यचो को भी नाना प्रकार के असह्य दुख भोगने पड़ते हैं॥१६६४॥

सलिल-मारुत-शीत-महातप-भ्रमण-भक्षण-पान-निरोधनै:।
दमन-तोदन-गालन-भञ्जनं, जल-वियोजन-भोजन-वर्जने॥१६६५॥

अर्थ - वर्षाऋतु मे जल से, शीत ऋतु में ठण्ड से, ग्रीष्म ऋतु मे महान् आतप से एव घुमाने और आहार-पान रोकने रूप अनेक क्रियाओं से अनेक कष्ट होते हैं। दमन अर्थात् इच्छित स्थान पर जाने से रोक देना, तोदन अर्थात् व्यथा पहुँचाना, पानी मे गीले रहना, पेलना, पानी नहीं दिया जाना एव घास आदि सामने होते हुए नहीं खाने देना, इस प्रकार के और भी अनेक कष्ट तिर्यंच जीवों को भोगने पड़ते हैं॥१६६५॥

अत्राण-पतितः क्षोण्यां, निःप्रतीकार-विग्रहः।
दुःसहां वेदनां सोढ्वा, बहुभिर्वासरैर्मृतः॥१६६६॥

अर्थ - जिन दीन पशुओ का कोई स्वामी नहीं होता अथवा स्वामी जिन अपंग या वृद्ध पशुओं को छोड़ देता है वे रक्षक विहीन पशु रोगादि हो जाने पर या चलने में असमर्थ हो जाने से कहीं भी जमीन पर या गड्ढे आदि में गिर जाने पर बिना औषधि-उपचार एवं रक्षण के वहीं पर पडे-पड़े दुःसह वेदना सहन करते रहते हैं। बहुत समय के बाद वे बेचारे भूखे-प्यासे, दीन एव अनाथ पशु मर जाते हैं॥१६६६॥

क्षुत्तृष्णा-व्याधि-संहार-विह्वलीभूत-मानसः।
यद्दुःखं बहुशः प्राप्तस्तत्सर्वं हृदये कुरु॥१६६७॥

अर्थ - हे क्षपकराज! अतीत काल में तिर्यंचगति मे अनन्तबार भूख-प्यास, भयकर रोग एव मार-पीट से विह्वल होकर तुम्हारा मन जितना दुखी हुआ है उन सब दुखों को हृदय में धारण कर स्मरण करो॥१६६७॥

तिर्यग्गति तीव्र-विचित्र-वेदनां, गतोजरा-जन्म-विपर्ययाकुलम्।
दुःखासिकां यां गतवाननारतं, विचिन्तयेस्तामपहाय दीनताम्॥१६६८॥

इति तिर्यग्गतिः॥

अर्थ - तिर्यंचगति को प्राप्त कर तुमने अत्यन्त तीव्र नाना प्रकार की वेदनाएँ भोगी हैं। जन्म, जरा, मरण आदि से आकुलित हो निरन्तर जिस दुखमय अवस्था को तुमने अतीतकाल मे पाया था उसका बार-बार चिन्तन करो। हे क्षपकोत्तम! तुम दीनता का त्याग करो और अतीत मे भोगे हुए कष्टो का ऐसा चिन्तन करो जिससे वर्तमान के क्षुधा-तृषादि जन्य अत्यल्प दुख सहन करने का साहस तुम्हे प्राप्त हो सके॥१६६८॥

प्रश्न - तिर्यचगति मे पचेन्द्रिय तिर्यंच और क्या-क्या दुख भोगते हैं?

उत्तर - पचेन्द्रिय तिर्यच परस्पर एक दूसरे से, पापी मनुष्यो से एव भूख, प्यास एव रोगादि से जो महा भयकर दुख भोगते है उनकी कोई उपमा नहीं है। वे अपने बच्चो को भी खा जाते है। परस्पर एक दूसरे का घात करने के लिए प्रहार करते हैं, उसको मारने के लिए दूसरा कोई पशु उसके पीछे दौडता है, उसी समय कोई अन्य तीसरा पशु उसे मार देता है, धिक्कार है ऐसी पर्याय को, इससे भयानक और क्या हो सकता है? जो एक दूसरे को मार कर ही जीना चाहते हैं, जो परस्पर मे एक-दूसरे के भय से निश्चितता पूर्वक सो भी नहीं सकते वे भला सुखी कैसे रह सकते है? वन मे रहने वाले मृग तृण खाकर और जल पीकर अपनी सहचरी हिरणी के साथ प्रेम से रहते हैं किन्तु वे अपराध बिना ही व्याघ्र आदि द्वारा या शिकारियो द्वारा अनायास मार दिये जाते हैं। स्वभाव से पापी, दुर्गति से न डरने वाले तथा शिकार आदि हिंसक कार्यों से ही अपना हित मानने वाले मनुष्यों द्वारा और हिसक पशुओ द्वारा अन्य पशु निरन्तर मारे जाते है, काटे जाते है, पेले जाते हैं, भूने जाते हैं, पकाये जाते हैं, घसीटे जाते हैं और नोच-नोच कर खाये जाते हैं। हाथी अंकुश आदि के भेदने से, घोडे कोड़े आदि की मार से और बैल पैनी आरी आदि के घात से मरण पर्यन्त मनुष्यों का कार्य करते हैं। जंगल मे लगी आग के वेग से जलते हुए अथवा महा जलसमूह के प्रबल प्रहार से बहाये जाते हुए मृग, सर्प, सरीसृप तथा पक्षी आदि बहुत से तिर्यंच जीव अनायास एक साथ मारे जाते हैं। इस प्रकार पचेन्द्रिय तिर्यंचों के दुख कहने मे कौन समर्थ है?

जो बुद्धिमान हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होने में और जो समाधिस्थ होकर भूख, प्यास एव रोगादि की आगत वेदना से व्याकुल हैं उन्हें धैर्य या दृढ़ता उत्पन्न करने में जिसे यह जीव अनन्त बार भोग चुका है ऐसे ये तिर्यंच गति के दुखों का स्मरण या चिन्तन निमित्त है।

इस प्रकार तिर्यंचगति के दुखों का प्रकरण समाप्त हुआ॥

मनुष्यगति के दुख

मानुषीं गतिमापद्य, यानि दुःखान्यनेकशः।
त्वमवाप्तश्चिरं कालं, तानि स्मर महामते !॥१६६९॥

अर्थ - हे महाबुद्धिमान् क्षपक ! तुमने मनुष्य गति मे जन्म ले-ले कर भी जिन महान् घोर दुखों को अनेक बार और बहुत समय तक भोगा था, उन दुखों का स्मरण करो॥१६६९॥

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे।
अलाभे याच्यमानस्य, सम्पन्नं मानसं स्मर॥१६७०॥

अर्थ - प्रियजनो के वियोग का दुख, अप्रियजनों या अप्रिय वस्तुओ के समागम का दुख और प्रार्थित वस्तु आदि न मिलने पर तुम्हे जो मानसिक दुख हुआ था, उसका स्मरण करो॥१६७०॥

प्रश्न - प्रिय और अप्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस व्यक्ति या वस्तु का नाम सुनने मात्र से सर्वाग रोमाचित हो जाता है, देखते ही नेत्र अमृतसिंचन सदृश शीतल हो जाते हैं और मन मयूर आह्लादित हो नाच उठता है उस व्यक्ति को या उस वस्तु को प्रिय कहते हैं। तथा जिस व्यक्ति या वस्तु के नाम श्रवण मात्र से मस्तक मे शूल उत्पन्न हो जाता है, देखते ही नेत्र लाल होकर घूमने जैसे लगते हैं और मन उद्वेग से भर जाता है उसे अप्रिय जन या अप्रिय वस्तु कहते हैं।

कर्कशे निष्ठुरे निःश्रवे भाषणे, तर्जने भर्त्सने ताडने पीडने।
अङ्कने दम्भने मुण्डने सेवने, बाधने वर्तने मर्दने छेदने॥१६७१॥

अर्थ - हे क्षपक ! मनुष्य पर्याय मे भी तुमने स्वामी आदि के द्वारा कहे गये कठोर वचन, निष्ठुर वचन, नहीं सुनने योग्य भी गाली आदि के अयोग्य वचन सुने थे। उनके द्वारा तर्जना, भर्त्सना, ताड़ना एव उनके द्वारा दी गई पीड़ा सहन की थी। रात्रि जागरण कर रोकड आदि मिलाना, दूसरो के द्वारा छले जाना, राजादि के द्वारा मुण्डन करा देना, धनाढ्यो की सेवा-चाकरी करना, अपने इच्छित कार्यों मे स्वामी आदि के द्वारा बाधा डालना, दूसरों के द्वारा किये जाने वाले निन्द्य बर्ताव सहन करना, कुपित मनुष्यो के द्वारा काँटो आदि पर सुलाकर घोर मर्दन करना एव नाक, कान आदि का छेदन करना ये सब दुख तुमने अनेक बार सहन किये थे॥१६७१॥

दुःसहं किङ्करीभूतः, करणे निन्द्य-कर्मणः।
यदवापश्चिरं दुःखं, तन्निवेशय मानसे॥१६७२॥

अर्थ - दूसरो का किंकर होकर पराधीन हो चिरकाल तक निन्द्य कार्य किये और आयु पर्यन्त असह्य दुख सहे। हे क्षपकराज ! तुम इन सब दुखों का हृदय में विचार कर चिन्तन करो॥१६७२॥

भी-शोक-मान-मात्सर्य-रागद्वेष-मदादिभिः।

तप्यमानो गतो दुःखं, पावकैरिव चिन्तय ॥१६७३॥

अर्थ - आजीविका आदि की विकट समस्याओं में, परिवार के पालन-पोषण आदि में एव धन-संरक्षण आदि में तुमने अनेक प्रकार के भय, शोक, अपमान, असहनशीलता, राग, द्वेष एवं मदादि से अग्नि में सतप्त हुए के समान जो दुख भोगे हैं, हे क्षपक ! तुम उन सबका चिन्तन करो ॥१६७३॥

स्तेनाग्नि-जल-दायाद-पार्थिवैर्धन-विप्लवे।

कशा-दण्डादिभिर्घाते, हस्त-पादादि-मर्दने ॥१६७४॥

अर्थ - मनुष्य पर्याय मे कष्ट पूर्वक सचित धन चुरा लिये जाने पर, दुकान-मकानादि में अग्नि लग जाने से, जलप्रवाह में बह जाने से साझेदार, भाई-बन्धु या राजा आदि के द्वारा धन नष्ट या हरण कर लेने से, किंकर अवस्था में कोड़ो की मार से और हाथ-पैर आदि अवयवो का मर्दन किये जाने से तुमने असह्य दुख भोगे हैं ॥१६७४॥

मूर्ध्नि प्रज्वालने वह्नेर्भक्त-पानादि-रोधने।

शृङ्खले रज्जुभिः काष्ठैर्हस्त-पादादि-बन्धने ॥१६७५॥

अर्थ - मस्तक पर अग्नि जला देने से, भोजन-पान रोक देने से, साकल, रस्सी या काष्ठ आदि द्वारा हाथ-पैर बाँध देने से अथवा पीछे हाथ करके बाँध देने से तुमने घोर कष्ट सहे हैं ॥१६७५॥

पराभवे तिरस्कारे, वृक्षशाखावलम्बने।

व्याघ्र-सर्प-विषाराति-रोगादिभ्यो विपर्यये ॥१६७६॥

अर्थ - शत्रुओं द्वारा या भाई-बन्धुओ द्वारा पराभव हो जाने से, तिरस्कार हो जाने से, गर्दन में रस्सी बाँध कर वृक्ष-शाखा पर लटका दिये जाने से, व्याघ्र से, सर्प से, विषादि से, शत्रुओं से एव रोगादि के निमित्त से तुमने असह्य दुखो का अनुभव किया है ॥१६७६॥

जिह्वा-कर्णोष्ठ-नासाक्षि-पाणि-पादादि-कर्तने।

शीत-वातातपोदन्या-बुभुक्षादि-कदर्थने ॥१६७७॥

अर्थ - जिह्वा उपाड़ लेने से, कर्ण, ओष्ठ एव नाक काट लेने से, नेत्र फोड़ देने से एव हाथ-पैर काट देने से घोर दुख सहे। शीत अर्थात् ठण्ड, गरमी, वायु एव भूख-प्यासादि के भी महान् कष्ट बार-बार भोगे हैं ॥१६७७॥

शारीरं मानसं दुःखं, साधो ! प्राप्तमनेकशः।

यद्दुःसहं त्वया नृत्वे, तत्त्वं चिन्तय यत्नतः ॥१६७८॥

अर्थ - हे साधो ! मनुष्य पर्याय मे भी शारीरिक एव मानसिक अनेक प्रकार के दु.सह दुख तुमने अनेक बार भोगे हैं, इस समय तुम उन घोर दुखों का प्रयत्नपूर्वक तात्त्विक चिन्तन करो ॥१६७८॥

गर्हितं दुरितकर्म-निर्मितं मानुषीं, गतिमुपेयुषा त्वया ॥

दुःसहं चिरमवाप्तमूर्जितं, किं न चिन्तयसि तत्त्वतोऽसुखम् ॥१६७९॥

इति नृ-गतिः।

अर्थ - मनुष्यगति प्राप्त होने पर तुमने गर्हित पाप कर्म किये, उससे अशुभ पापास्रव कर पापकर्म का बन्ध किया और उसके उदय मे दु:सह एव भयकर दुख भोगे हैं। भो क्षपक ! तुम तत्त्वदृष्टि से उन दुखों का चिन्तन क्यों नहीं करते हो ? हे धीर ! तुम्हें मनुष्यगति सम्बन्धी सभी दुखो का चिन्तन अवश्य ही करना चाहिए जिससे वर्तमान मे समाधिजन्य ये किंचित् कष्ट सहज ही सहन हो जावेगे ॥१६७९॥

इस प्रकार मनुष्यगति के दुखों का वर्णन समाप्त हुआ।

देवगतिजन्य दुख

देवत्वे मानसं दु:खं, घोरं कायिकतोऽङ्गिनः।
पराधीनस्य बाह्यत्वं, नीयमानस्य जायते ॥१६८०॥

अर्थ - देवगति मे यदि आभियोग्य जाति का देव हुआ तो पराधीन होकर इन्द्रादि देवों द्वारा वाहन बनाया गया, सवारी का रूप धारण कर अन्य ऋद्धिधारी देवो को यहाँ-वहाँ लाते-ले जाते समय जो मानसिक दुख होता था वह शारीरिक दुखो से अत्यधिक होता था ॥१६८०॥

गुर्वी दृष्ट्वामरो मानी, महर्धिक-सुर-श्रियम्।
तदा स श्रयते दु:खं, मान-भङ्गेन मानसम् ॥१६८१॥

अर्थ - अभिमानी देव हुआ तो अन्य महर्धिक देवो को देखकर मानभग की कल्पना से जो घोर मानसिक दुख भोगा था, उसका स्मरण करो ॥१६८१॥

प्रश्न - महर्धिक देवो को देखकर मानभग की कल्पना क्यो होती है ?

उत्तर - जिन किल्विषादि नीच देवो के ऋद्धियाँ और वैभव कम तथा अभिमान अधिक होता है वे महर्धिक देवो को देख-देख कर स्वभावत विचार करते रहते हैं कि देखो ! ये भी देव है और मै भी देव हूँ किन्तु ये कितने ऋद्धिसम्पन्न हैं, मुझे तो इनके समक्ष नीचा ही देखना पडता है। अहो ! मैने पूर्वभव मे चारित्र का या रत्नत्रय का निर्दोष पालन नहीं किया जिसके फलस्वरूप देवो मे उत्पन्न होकर भी मुझे अन्य देवो की दासता स्वीकार करनी पड रही है ? इस प्रकार के विचार उन्हे मानहानिजन्य असह्य मानसिक पीड़ा देते हैं।

सुन्दरास्त्रिदिव-वासि-सुन्दरीर्मुञ्चतो विबुधभोग-सम्पदः।
ध्यायतो भवति दु:खमुल्वणं, गर्भवास-वसति च निन्दिताम् ॥१६८२॥

अर्थ - माला आदि मुरझा जाने से जब मृत्यु के पाश गले मे आ पडने की सूचना प्राप्त हो जाती है तब उसे स्वर्ग का निवास, वहाँ के मनोहर और दिव्यभोग, विपुल-अनुपम सम्पदाये, दिव्य वस्त्रालकार, दिव्य शरीर, अनुपम सुन्दर देवागनाएँ एव अप्सराएँ छोड़ने का तथा मल से भरे अतिशय निन्द्य गर्भवास मे नौ-दस मास पर्यन्त रहने का ध्यान आते ही अतिशय और अनिर्वचनीय मानसिक दुख होता है ॥१६८२॥

पूर्वभवार्जित-दुष्कृत-जातं, उत्पन्नं त्रिदशत्वमशस्तम्।
दु:खमसह्यमपारमवाप्तं, चिन्तय भद्र विमुच्य विषादम् ॥१६८३॥

इति देवगतिः।

अर्थ - हे भद्र क्षपकराज ! पूर्वभव में उपार्जित पापोदय से उत्पन्न असह्य मानसिक दुखों की कारणभूत देव पर्याय से च्युत होते समय जीव को दिव्य देवत्व भी अप्रशस्त प्रतीत होने लगता है। हे कल्याणेच्छु! इस प्रकार तुमने ससार में सर्वत्र ही अपार दुख प्राप्त किये हैं। अब विषाद छोड़ो, अतीत के समस्त दुखो का चिन्तन करो और मन की समाधानता पूर्वक ग्रहण की हुई सल्लेखना में दृढ़ता पूर्वक सलग्न हो जाओ ॥१६८३॥

इस प्रकार देवगतिजन्य दुखों का वर्णन समाप्त हुआ।

सल्लेखनागत दुख शान्तिपूर्वक सहन करने का निर्देश

दुर्गतौ यत्त्वया प्राप्तमेवं दुःखमनेकशः।
न तस्यानन्त-भावोऽपि, भद्र ! दुःखमिदं स्फुटम् ॥१६८४॥

अर्थ - हे भद्र ! इस प्रकार तुमने चारो गतियो में जो अनेक प्रकार के दुख भोगे हैं उन दुखों की अपेक्षा समाधिमरण में भूख, प्यास एव रोगादि की तुम्हारी यह वेदना तो उसके अनन्तवेभाग प्रमाण भी नहीं है ॥१६८४॥

संख्यातमप्यसंख्यातं, कालमध्यास्य तादृशम्।
अल्पकालमिदं दुःखं, सहमानस्य का व्यथा ॥१६८५॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुमने अतीत मे सख्यात और असख्यात वर्ष प्रमाण काल मे निरन्तर भयकर दुःख सहन किये थे तब अब बहुत थोड़े से काल का यह किंचित्सा दुख सहते हुए क्या व्यथा मानना? अर्थात् यह थोड़ा सा दुख क्यों सहन नहीं कर पा रहे हो ? क्यो आकुलता करते हो? ॥१६८५॥

अवशेन त्वया सोढास्तादृश्यो वेदना यदि।
किं तदा धर्मबुद्ध्येयं, स्व-वशेन न सह्यते ॥१६८६॥

अर्थ - यदि तुमने परवशता से वैसी महावेदनाएँ सहन की थीं, तब इस समय धर्मबुद्धि से स्वाधीनता पूर्वक यह अल्पसा दुख क्यों नहीं सहन करते हो ? अर्थात् यह भूखादि की वेदना तो समतापूर्वक सहन करनी चाहिए ॥१६८६॥

संसारे भ्रमतस्तृष्णा, दुरन्ता या तवाभवत्।
न सा शमयितुं शक्या, सर्वाम्भोधि-जलैरपि ॥१६८७॥

बुभुक्षा तादृशी जाता, संसारे सरतस्तव।
न शक्या यादृशी हन्तुं, सर्व-पुद्गल-राशिना ॥१६८८॥

अर्थ - हे क्षपक ! ससार-भ्रमण करते हुए तुम्हे प्यास की ऐसी दुरन्त वेदना उत्पन्न हुई थी जिसका शमन करने के लिए सर्व समुद्रो का जल भी समर्थ नहीं था। उसी प्रकार चिरकाल से ससार-परिभ्रमण करने वाले तुम्हे भूख की ऐसी वेदना अनन्त बार हुई थी कि जिसका शमन करने के लिए समस्त पुद्गल राशि भी समर्थ नहीं थी ॥१६८७-१६८८॥

सोढ्वा तृष्णा-बुभुक्षे ते, त्वं नेमे सहसे कथम्।
स्व-वशे धर्म-वृद्ध्यर्थमल्पकाले महामते ! ॥१६८९॥

अर्थ - हे महामते ! यदि तुमने परवश होकर वैसी भूख-प्यास की घोर एव असह्य वेदना सही है तो अब रत्नत्रयधर्म की वृद्धि या रक्षण के लिए अल्प काल की यह किंचित् वेदना स्वेच्छा पूर्वक क्यों सहन नहीं करते हो ? ॥१६८९॥

समुद्रो लङ्घितो येन, मकरग्राह-सङ्कुलः।
गोष्पदं लङ्घतस्तस्य, न खेदः कोऽपि विद्यते ॥१६९०॥

अर्थ - देखो ! जिसने मकर-मत्स्यादि भयावह जलचर जीवों से व्याप्त समुद्र पारकर लिया है उसे गोष्पद प्रमाण जल का उल्लघन करने में कुछ भी खेद नहीं होता है ॥१६९०॥

प्रश्न - इस दृष्टान्त का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - इस दृष्टान्त का यह प्रयोजन है कि हे क्षपक ! जब तुम नरकादि दुर्गतियों मे सागरों पर्यन्त सागर के समान ही विशाल भूख-प्यास की दुरन्त वेदनाएँ अनेक बार सहन कर चुके हो तो अब समाधिकाल के शुभ समय में स्वय आमन्त्रित अल्पकालीन गोपदसदृश इस भूख-प्यास की वेदना को शान्तिपूर्वक सहन क्यो नहीं कर रहे हो ? क्यो चिल्लाते हो, क्यों सक्लेशित होते हो तथा दीनता दिखाकर या रो-रोकर क्यो धर्म को लजाते हो?

श्रुति-पानक-शिक्षान्न-श्रुत:ध्यानौषधैर्यते।
वेदनानुगृहीतेन, सोढुं तीव्रापि शक्यते ॥१६९१॥

अर्थ - हे मुने ! इस समय तुम भूख, प्यास एव रोग से आक्रान्त होकर आकुलित हो रहे हो अत हम उपदेश रूपी अमृतमयी पेय पिलाकर शिक्षा रूपी भोजन खिलाकर एव सूत्रार्थ की ध्यान रूपी औषधि का प्रयोग कर तुम्हारा अनुग्रह कर रहे हैं, इस भोजन-पान तथा औषधि से तुम इससे तीव्र भी वेदना सहन करने मे समर्थ हो जाओगे ॥१६९१॥

पीडानामुपकारस्य, सोपकारस्य चोदिता।
नाभीतस्य न भीतस्य, जन्तोर्नश्यति कर्मणि ॥१६९२॥

अर्थ - असातावेदनीय कर्म की उदीरणा से प्रेरित होकर जो वेदना उत्पन्न हो गई है, वह डरो या न डरो, प्रतिकार करो या न करो वह तो अब बिना भोगे नष्ट नहीं हो सकती है अर्थात् उदयागत वेदना तो अवश्यमेव भोगनी पड़ेगी ॥१६९२॥

औषधानि सवीर्याणि, प्रयुक्तान्यपि यत्नतः।
पापकर्मोदये पुंसः शमयन्ति न वेदनाम् ॥१६९३॥

अर्थ - जब मनुष्य के तीव्र पापकर्म का उदय होता है तब अतिशय शक्तिशाली, बड़े यत्न एव विधि-विधान पूर्वक प्रयुक्त हुई औषधियाँ भी वेदना को शान्त नहीं करती हैं ॥१६९३॥

असंयम-प्रवृत्तानां, पार्थिवादि-कुटुम्बिनाम्।
पीडा धन्वन्तरिः शक्तो, निराकर्तुं न कर्मजाम् ॥१६९४॥

दयालोः सर्व-जीवानामौषधेन व्यथा-शमम्।
प्रार्थनासेन किं साधोः, प्रासुकेन करिष्यति ॥१६९५॥

अर्थ - जो राजा आदि असंयमी हैं, बहुत कुटुम्बादि परिचारकों से युक्त हैं, प्रचुर सम्पत्तिवान् हैं एवं धन्वन्तरि जैसे वैद्य जिनके उपचारक हैं, तीव्र कर्मोदय के कारण जब उनके रोगों का या पीडा का भी शमन करने में कोई समर्थ नहीं है, तब जो निर्यापकाचार्य सब जीवों पर दया करने वाले हैं अर्थात् सयमी हैं वे याचना से प्राप्त प्रासुक औषधियों द्वारा क्षपक की वेदना का शमन कैसे कर सकेंगे ? ॥१६९४-१६९५॥

प्रश्न - यहाँ राजा आदि का दृष्टान्त क्यों दिया गया है ?

उत्तर - रोग की अत्यन्त पीड़ा से आकुलित कोई क्षपक ऐसा विचार करे कि इस समय यदि मैं राजा या मन्त्री होता और असयमी होता तो इतना कष्ट न भोगना पडता, मैं धन्वन्तरि आदि उत्तम वैद्यों की जिस किसी प्रकार की भी औषधियों का प्रयोग करके ठीक हो जाता। उसे आचार्यदेव समझा रहे हैं कि राजा आदि अतिशय धनवान् होते हैं, मन्त्री एव राजकुमार आदि उनके पुत्र शुश्रूषा करने में सदा तत्पर रहते हैं, धन्वन्तरि जैसे उत्तम वैद्य उनके रोग का निदान करते हैं, अति बहुमूल्य औषधियों का प्रयोग करने मे समर्थ हैं एव सयम या प्रासुकता की सीमा से बहुत दूर हैं। अर्थात् असयमवर्धक अप्रासुक औषधियो का भी प्रयोग कर लेते हैं तथा जो दिन मे कई बार औषधि ले रहे हैं, जब पापकर्म की प्रबलता के कारण उनकी वेदना का भी शमन नहीं हो पाता है तब जो दयालु हैं, सर्व परिग्रह के त्यागी हैं, वैद्य आदि की खोज मे कहीं जा-आ नहीं सकते हैं, उपचारक भी अल्प से अल्प हैं और जो भी हैं वे सब भी सयम-रक्षण की डोर से बँधे हैं, अप्रासुक औषधि के त्यागी हैं तथा औषधियाँ प्राप्त करने मे असमर्थ हैं और औषधि भी दिन मे एक बार से अधिक नहीं दे सकते हैं वे निर्यापकाचार्य पापोदय से प्रेरित तुम्हारी तीव्र वेदना का तत्काल शमन करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

संयतस्य वरं साधोर्मरणं मोक्ष-कांक्षिणः।
वेदनोपशमं कर्तुं, नाप्रासुक-निषेवणम् ॥१६९६॥

अर्थ - हे क्षपक ! मोक्ष के इच्छुक सयमी साधु का मरण हो जाना श्रेष्ठ है, किन्तु वेदना की शान्ति के लिए अप्रासुक एव अयोग्य औषधि का सेवन करना योग्य नहीं है ॥१६९६॥

एकत्र निधनं नाशो, न तु भाविषु जन्मसु।
असंयमः पुनर्नाशं, दत्ते बहुषु जन्मसु ॥१६९७॥

अर्थ - प्रासुक औषधि के अभाव में सयम की रक्षा करते हुए यदि मरण होता है तो उससे एक ही भव का विनाश है, भावी जन्मों का नाश नहीं है, किन्तु अप्रासुक औषधि अथवा पीड़ाजन्य शोकादि से प्राप्त असयम तो भविष्य के अनेक जन्मों का नाश कर देता है ॥१६९७॥

प्रश्न - प्रासुक औषधि प्राप्त न हो रही हो अथवा औषधि एव उपचार का प्रयोग करते हुए भी यदि पीड़ा शमित न हो रही हो तो पीड़ित साधु को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - असह्य पीड़ा होने पर भी साधु को शोक या व्याकुलता नहीं करना चाहिए; क्योंकि दुख, शोक,

पश्चाताप, रुदन, वध और हृदय को व्यथित करने वाला रुदन स्वय करे या दूसरे के रुदन आदि में निमित्त बने या ये दोनों करे तो असातावेदनीय कर्म का क्रमशः तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम आस्रव होता है जो पीड़ा आदि की वृद्धि में ही कारण बनता है। अधिक व्याकुलता जीव को असयमी बना देती है और असंयम असातावेदनीय के अनुभाग को बढ़ाता रहता है, अत पीड़ित साधु को पीड़ा, भूख एव प्यास आदि की वेदना से उपयोग हटा कर अपने सयम को दृढ़ रखते हुए रत्नत्रय की भावना भानी चाहिए क्योंकि जो सयमी रत्नत्रय की भावना में तत्पर रहते हैं, वेदना उनका पीछा नहीं करती अपितु रत्नत्रय की भावना असाता के उदय को मन्द-मन्द ही करती है।

कांक्षन्तोऽपि न जीवस्य, पाप-कर्मोदये क्षमाः।
वेदनोपशमं कर्तुं, त्रिदशाः सपुरन्दराः ॥१६९८॥

अर्थ - जीव के पाप कर्म का उदय आ जाने पर स्वर्गस्थ सब देवो सहित चाहते हुए अर्थात् इच्छा करते हुए भी इन्द्र मनुष्य की पीडा को दूर करने मे अथवा उसे सुखी करने मे समर्थ नहीं होता है॥१६९८॥

उदीर्ण-कर्मणः पीडां, शमयिष्यति किं परः।
अभग्नो दन्तिना वृक्षः, शशकेन न भज्यते॥१६९९॥

अर्थ - असातावेदनीय कर्म के उदय से होने वाली पीड़ा को रोकने मे जब इन्द्रादि भी असमर्थ हैं तब अन्य साधारण पुरुष क्या उसका शमन कर सकते हैं ? जिस वृक्ष को तोड़ने में महाबलशाली हाथी भी असमर्थ है उसे बेचारा कमजोर खरगोश नहीं तोड सकता अर्थात् नहीं गिरा सकता॥१६९९॥

कर्माण्युदीर्यमाणानि, स्वकीये समये सति।
प्रतिषेद्धुं न शक्यन्ते, नक्षत्राणीव केनचित्॥१७००॥

अर्थ - जैसे यथासमय उदित होने वाले नक्षत्रो का उदय रोकना अशक्य है, वैसे ही अपने-अपने समय पर या स्थिति पूर्ण हो जाने पर उदय मे आने वाले कर्मों को रोकना अति अशक्य है॥१७००॥

ये शक्राः पतनं शक्ता, न धारयितुमात्मनः।
ते परित्रां करिष्यन्ति, परस्य पततः कथम्॥१७०१॥

अर्थ - दिव्य एव विक्रिया शक्ति सम्पन्न इन्द्र, आयु पूर्ण हो जाने पर जब स्वय अपने आप को वहाँ से च्युत होते नहीं रोक सकते तब कर्मोदय से ग्रसित व्यक्तियो की अथवा गिरते हुए अन्य व्यक्तियों की रक्षा कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं कर सकते॥१७०१॥

तरसा येन नीयन्ते, कुञ्जरा मद-मन्थराः।
शशकानामसाराणां, तत्र स्रोतसि का स्थितिः॥१७०२॥

अर्थ - जिस जलप्रवाह मे मदोन्मत्त अर्थात् महाबली, महापराक्रमी और विशालकाय हाथी बह जाते हैं तब उस जलप्रवाह मे कमजोर खरगोशों की क्या स्थिति हो सकती है ?॥१७०२॥

त्रिदशा येन पात्यन्ते, विक्रिया-बलशालिनः।
नायासो विद्यते तस्य, कर्मणोऽन्य-निपातने॥१७०३॥

अर्थ - जो कर्मोदय (देवायु की पूर्णता और मनुष्य या तिर्यंचायुका उदय) विक्रियाशक्ति सम्पन्न देवो को भी स्वर्ग से गिरा देता है, उस कर्मोदय को अन्य सामान्य मनुष्यादि को गिरा देने में या दुखी करने में परिश्रम नहीं होसकता ॥१७०३॥

कर्मणा पततीन्द्रे तु, परस्य क्व व्यवस्थितिः।
मेरौ पतति वातेन, शुष्कपत्रं न तिष्ठति ॥१७०४॥

अर्थ - जिस वायु से मेरु सदृश पर्वतो का भी पतन हो जाता है उस वायु के सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है ? इसी प्रकार जो कर्म शक्तिशाली इन्द्र को भी गिरा देता है अर्थात् दुखी कर देता है उसके सामने अन्य की अर्थात् तुम्हारे जैसे क्षीण-बली एव मरणोन्मुख मनुष्य की क्या स्थिति या गिनती है ? ॥१७०४॥

बलीयेभ्यः समस्तेभ्यो, बलीयः कर्म-निश्चितम्।
तद्बलीयांसि मृद्नाति, कमलानीव कुञ्जरः ॥१७०५॥

अर्थ - जगत् मे जितने बलशाली पदार्थ हैं उन सब मे सर्वाधिक बलवान् कर्म है। जैसे हाथी कमलों को मसल देता है या निगल जाता है, वैसे ही कर्म सभी बलवान् पदार्थों को अर्थात् कोट, प्राकार, खाई, द्रव्य, ज्ञान, सेना एव परिवार आदि सर्वबलो को नष्ट कर देता है ॥१७०५॥

कर्मोदयमिति ज्ञात्वा, दुर्निवारं सुरैरपि।
मा कार्षीर्मानसे दुःखमुदीर्णे सति कर्मणि ॥१७०६॥

अर्थ - कर्मोदय दुर्निवार है, वह देवो द्वारा भी रोका नहीं जा सकता, ऐसा जान कर हे क्षपक !आये हुए इस कर्मोदय मे तुम मन मे दुख मत करो अर्थात् आगत पीड़ा को शान्तिपूर्वक सहन करो ॥१७०६॥

विषादे रोदने शोके, संक्लेशे विहिते सति।
न पीडोपशमं याति, न विशेषं प्रपद्यते ॥१७०७॥

अर्थ - विषाद करने पर, रोने पर, शोक करने पर तथा सक्लेश करने पर भी पीडा शान्त नहीं होती और उसमे कोई विशेषता भी नहीं आती है ॥१७०७॥

नान्योऽपि लभ्यते कोऽपि, संक्लेश-करणे गुणः।
केवलं बध्यते कर्म, तिर्यग्गति-निबन्धनम् ॥१७०८॥

अर्थ - हे क्षपक ! सक्लेश आदि करने से तुम्हे कोई विशिष्ट गुण प्राप्त होने वाले नहीं हैं अपितु तिर्यंचगति का कारणभूत कर्मबध ही होगा ॥१७०८॥

प्रश्न - सक्लेश आदि करने से कौनसे लाभ नहीं होंगे ? और तिर्यंच गति का बन्ध क्यो होगा?

उत्तर - बुद्धिमान मनुष्य वही कार्य प्रारम्भ करते हैं जिसमे उन्हें कोई लाभ होता है। मुमुक्षु क्षपक यदि दुख, शोक या सक्लेश आदि करता है तो उसे कोई भी लाभ नहीं होता, कारण-रोने, चिल्लाने से रोगजन्य पीड़ा का शमन नहीं होता, भूख-प्यास के कारण विषाद करने से भी निर्यापकाचार्य असमय मे, अयोग्य एव त्याग किये

हुए पदार्थों को तो कदापि देते नहीं फिर विषादादि से क्या लाभ। सक्लेश परिणामों से अमनोज्ञ-विप्रयोग नामक आर्तध्यान अर्थात् अनिष्ट पदार्थो के दूर होने का चिन्तन होता है। अथवा मेरा रोग कब दूर होगा? कौन सा उपाय करूँ? इसकी औषधि कहाँ मिलेगी ? इत्यादि चिन्तन या प्रलाप करने से पीड़ा-चिन्तन नामक आर्तध्यान उत्पन्न होगा। अथवा परिचारक अनुकूल वृत्ति वाले होने चाहिए, अमुक साधु मेरे पास नहीं आते हैं वे मेरे मन के अनुकूल आहार-पान एव औषधादि देते हैं अत. उन्हें मेरे पास से नहीं हटना चाहिए, इत्यादि चिन्तन से इष्ट वियोगज आर्तध्यान होगा। ये सब आर्तध्यान तिर्यंचायु का बन्ध कराने वाले हैं, अत तुम अपना परिणाम सम्हालो, समता परिणाम रखो अन्यथा वर्तमान में समाधिजन्य थोड़े से दुख में घबराने वाले या डरने वाले आपको यह सक्लेश परिणाम तिर्यंचगति रूपी ऐसी भँवर में डाल देगा जिससे निकलना बहुत ही कठिन है और जहाँ के दुख अनिर्वचनीय हैं।

संक्लेश निरर्थक ही होता है

हतं मुष्टिभिराकाशं, विहितं तुष-खण्डनम्।
सलिलं मथितं तेन, संक्लेशो येन सेवित: ।।१७०९ ।।

अर्थ - जैसे मुट्ठियो से आकाश को मारना, चावल के लिए तुष या छिलको को कूटना तथा घी के लिए जल का मन्थन करना निरर्थक है वैसे ही भूख, प्यास या रोगादि की पीड़ा होने पर सक्लेश करना निरर्थक है, कारण कि सक्लेश परिणाम किसी भी प्रकार की वेदना का शमन करने मे समर्थ नहीं हैं ।।१७०९ ।।

पूर्वं भुक्तं स्वयं द्रव्यं, काले न्यायेन तत्स्वयम्।
अधर्मणस्य किं दु:खमुत्तमर्णाय यच्छत: ।।१७१० ।।

अर्थ - जैसे कोई साहूकार से कर्ज लेकर उसका उपभोग करता है, उचित काल व्यतीत हो जाने पर जब वह लाया हुआ धन ब्याज सहित साहूकार को देता है तब अर्थात् देते समय क्या उसे दुख होता है ? नहीं होता, क्योकि 'लाया हुआ कर्ज समय पर देना' यह न्याय है। इसे वह कर्जदार भली प्रकार जानता है ।।१७१० ।।

कृतस्य कर्मण: पूर्वं, स्वयं पाकमुपेयुष:।
विकारं बुध्यमानस्य, कस्य दु:खायते मन: ।।१७११ ।।

अर्थ - यह दुख मेरे पूर्व में किये गये कर्मों का ही फल है, ऐसा जानो। भला, अपने किये कर्मविपाक को ऋणमुक्ति के समान भोगते हुए किस मनुष्य का मन दुखित होगा ? ।।१७११ ।।

पूर्व-कर्मागतासातं, सहस्व त्वं महामते !
ऋण-मोक्षमिव ज्ञात्वा, मा भूर्मनसि दु: खित: ।।१७१२ ।।

अर्थ - हे महामते ! पूर्व जन्म मे बाँधा हुआ तुम्हारा ही असाता कर्म उदय में आया है। यह तुम्हारा पूर्वकृत ऋण उतर रहा है। ऐसा विचार कर तुम इस पीड़ा को शान्तिपूर्वक सहन करो, मन में दुखी मत होओ ।।१७१२ ।।

स्वयं पुराकृतं कर्म ममाद्य फलितं स्फुटम्।
दोषो नैवात्र कस्यापि, मत्वा दुःखासिकां त्यज ॥१७१३॥

अर्थ - भो यते! तुम इस अल्प से पीड़ाजन्य दुख को छोड़ दो और विचार करो कि मैंने स्वयं ने पूर्वभवों में ऐसे असाताकर्म का बन्ध किया था, उसके उदय में आज स्पष्ट रूप से यह दुख रूप फल मिल रहा है, इसमें अन्य किसी का दोष नहीं है॥१७१३॥

अभूतपूर्वमन्येषामात्मनो यदि जायते।
तदा दुःखासिका कर्तुं मानसे युज्यते तव ॥१७१४॥

अवश्यमेव दातव्यं, काले न्यायेन वच्छतः।
सर्वसाधारणं दण्डं, दुःखं कस्य मनीषिणः ॥१७१५॥

अर्थ - भो मुने यदि यह दुख पूर्व में दूसरों को कभी नहीं हुआ हो केवल तुम्हें ही यह अभूतपूर्व दुख हो रहा हो तब तो तुम्हारा मन में इतना दुखी होना युक्त भी है, किन्तु वेदनाजन्य ये पीड़ाएँ अथवा ये दुख सर्वजीवों को भोगना एक सर्वसाधारण बात है। जैसे दण्ड या टैक्स या कर यथासमय अवश्यमेव देना ही न्याय है, उस कर को देते किस बुद्धिमान को दुख होगा ? वैसे ही पूर्वकृत कर्मों का फल सभी को भोगना सर्वसाधारण बात है, टैक्स देने के समान उसे भोगते समय किस बुद्धिमान को दुख होगा? अपितु नहीं होगा॥१७१४-१७१५॥

सर्व-साधारणं दुःखं, दुर्निवारमुपागतम्।
सहमानो मुने! माभूर्दुःखितस्त्वं भज स्मृतिम् ॥१७१६॥

अर्थ - भो मुने! कर्मोदय से प्राप्त यह दुख सर्व साधारण है और दुर्निवार है, अत: इसे भोगते हुए दुख मत करो। तुम शीघ्र ही अपने पद की अर्थात् अपने स्वरूप की स्मृति करो और धैर्य धारण करो॥१७१६॥

साक्षी-कृत्य गृहीतस्य, पञ्चापि परमेष्ठिनः।
संयतस्य वरं मृत्युः, प्रत्याख्यानस्य भङ्गतः ॥१७१७॥

अर्थ - भो क्षपक! पच परमेष्ठी (तन्निवासी देव और सर्व सघ) की साक्षी पूर्वक ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यान को अर्थात् आहार-जल त्याग की प्रतिज्ञा को भग करने की अपेक्षा तो तुम्हे मरण कर लेना अर्थात् तुम्हारा मरण हो जाना ही श्रेष्ठ है॥१७१७॥

अप्रमाणयता तेन, न्यक्कृताः परमेष्ठिनः।
कार्यान्निवर्तमानेन, साक्षी-कृत-नृपा इव ॥१७१८॥

अर्थ - जैसे राजा को साक्षी बना कर किये गये कार्य की प्रतिज्ञा में विसवाद या आनाकानी करने वाला पुरुष राजा की अवज्ञा करने का दोषी होता है, वैसे ही पंच परमेष्ठियों की साक्षीपूर्वक-स्वीकार किये गये आहार-जलादि के प्रत्याख्यान को अर्थात् प्रतिज्ञा को भग करने वाला अरहन्तादि को प्रमाण न मानने से उनकी अवज्ञा का दोषी होता है॥१७१८॥

प्रमाणी-कुरुते भक्तो, यो योगी परमेष्ठिनः।
तत्साक्षीकमसौ जातु, प्रत्याख्यानं न मुञ्चति ।।१७१९ ।।

अर्थ - जो योगी पंचपरमेष्ठी का सच्चा भक्त है और उन्हे प्रमाणभूत मानता है, वह कभी उनकी साक्षी में लिये हुए प्रत्याख्यान को अर्थात् प्रतिज्ञा को कभी नहीं छोड़ता है ।।१७१९ ।।

साक्षी-कृत्य पराभूताः, कुर्वतो परमेष्ठिनः।
पुनः सद्यो महादोषं, भूमिपाला इव स्फुटम् ।।१७२० ।।

अर्थ - जैसे राजा को साक्षी बनाकर फिर उनकी अवज्ञा करना मनुष्य को महादोष का भागी बनाता है, वैसे ही पच परमेष्ठी की साक्षी में आहार-जलादि के त्याग की प्रतिज्ञा लेकर उस प्रतिज्ञा का तिरस्कार करना ही परमेष्ठियो की आसादना है। इस आसादना से उस साधु को तत्काल घोर पाप का बध कराने वाला महादोष लगता है ।।१७२० ।।

सङ्घ-तीर्थकराचार्य-श्रुताधिक-महर्द्धिकान्।
पराभवति योगी च, स पराञ्चिकमञ्चति ।।१७२१ ।।

अर्थ - सघ, तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय एव महान् ऋद्धिधारी मुनिराजो की आसादना या तिरस्कार करने वाला साधु पारचिक नामक प्रायश्चित्त का भागी होता है। अर्थात् उस साधु की शुद्धि पारचिक प्रायश्चित्त द्वारा ही होती है, अन्य से नहीं ।।१७२१ ।।

तिरस्कृता नृपाः सन्तः, साक्षित्वेऽस्य शरीरिणः।
एकत्र ददते दुःखं, जिनेन्द्रा भव-कोटिषु ।।१७२२ ।।

अर्थ - साक्षी बनाये गये उस राजा की आसादना या तिरस्कार से तो जीवो को राजा द्वारा दण्डित आदि होने का दुख केवल उसी एक भव मे होता है, किन्तु जिनेन्द्रदेवादि की आसादना से अर्थात् उनकी साक्षी मे ली हुई प्रतिज्ञा को भग कर उनका तिरस्कार करने से कोटि-कोटि भवो मे महान् दुख भोगना पड़ता है ।।१७२२ ।।

मोक्षाभिलाषिणः साधोर्मरणं शरण वरम्।
प्रत्याख्यानस्य न त्यागो, जिन-सिद्धादि-साक्षिणः ।।१७२३ ।।

एकत्र कुरुते दोषं, मरणं न भवान्तरे।
व्रत-भङ्गः पुनर्जातो, भवानां कोटि-कोटिषु ।।१७२४ ।।

अर्थ - मोक्षाभिलाषी सयमी को मरण की शरण लेना श्रेष्ठ है किन्तु अरहन्त एव सिद्धादि परमेष्ठियो की साक्षी करके लिये गये त्याग का भग करना श्रेष्ठ नहीं है, क्योकि मरण एक भव का ही विनाश करता है उससे आगे के भवो का विनाश नहीं होता किन्तु व्रत का भग कर दिया जाय तो कोटि-कोटि भवों मे दोष होता है। अर्थात् अनन्त भवो तक दुर्गतिजन्य दुख भोगने पड़ते हैं ।।१७२३-२४ ।।

प्रत्याख्यानमनादाय, म्रियमाणस्य देहिनः।
न तथा जायते दोषः प्रत्याख्यात्यजने यथा ।।१७२५ ।।

अर्थ - त्याग ग्रहण किये बिना मनुष्यों के मर जाने पर इतना दोष नहीं होता जितना महादोष त्याग लेकर उसका भग करने पर होता है ॥१७२५॥

प्रश्न - इस श्लोक का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - इसका अभिप्राय यह है कि आहार के त्याग की प्रतिज्ञा किये बिना जो साधु मरण करते हैं उनके जलादिका त्याग तो नहीं हो पाता किन्तु व्रतभग के परिणामरूप संक्लेश नहीं होता अत. वह महान् दोष का भागी नहीं होता किन्तु आहार-जल के त्याग की प्रतिज्ञा लेने के बाद यदि भूख-प्यास की वेदना उत्पन्न हो जाती है और उसे क्षपक सहन नहीं कर पाता तब उसके मन मे प्रतिज्ञाभग करने रूप तीव्र सक्लेश रूप परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं या वह उस प्रतिज्ञा को तोड़ देता है तब वह महादोष का भागी होता है।

हिनस्ति देहिनोऽन्नार्थं, भाषते वितथं वच:।
परस्य हरते द्रव्यं, स्वीकरोति परिग्रहम् ॥१७२६॥

रत्नत्रयं जगत्सारमाहारार्थं विमुञ्चति।
निस्त्रपो भुवन-ख्यातं, मलिनी-कुरुते कुलम् ॥१७२७॥

अर्थ - जैसे ससारी प्राणी भोजन के लिए जीवो का घात करता है, झूठ वचन बोलता है, दूसरो का धन चुराता है और परिग्रह का सचय करता है, वैसे ही निर्लज्ज साधु आहार के लिए जगत् में सार-भूत अपने रत्नत्रय को छोड़ देता है और अपने जगत् विख्यात कुल को मलिन कर देता है ॥१७२६-१७२७॥

प्रश्न - प्रतिज्ञा भग करने से रत्नत्रय का नाश कैसे होता है और जगत्-विख्यात कुल कौन सा है ?

उत्तर - परमेष्ठी की साक्षी मे आहार-जल का त्याग कर यदि आहारादि ग्रहण कर लेता है तो परमेष्ठी के प्रति उस साधु की श्रद्धा के भाव नष्ट हुए, हिताहित का ज्ञान नष्ट हुआ और प्रतिज्ञा भग कर देने से चारित्र भी नष्ट हुआ। इस प्रकार प्रतिज्ञा भग करते ही साधु रत्नत्रय से भ्रष्ट हो जाता है।

दीक्षा का कुल तो अर्हन्त देव का कुल है, या आचार्य परम्परा का कुल है, या सघ ही साधु का कुल है अत दीक्षा का कुल तो जगत् विख्यात कुल ही कहा जाता है और आहारादि का त्याग कर पुन उसे ग्रहण करने वाले साधु का अपने जन्म का कुल भी महान् हो सकता है। प्रतिज्ञा भग करते ही ये दोनो कुल मलिन हो जाते हैं, क्योकि लौकिक जन अपवाद करते हैं कि देखो ! सुनो ! सुनो ! अमुक कुल में जन्मे या अमुक आचार्य परम्परा के साधु ने या अमुक सघस्थ साधु ने आहार-जल का त्याग कर दिया था किन्तु अब पुन ग्रहण कर रहा है। देखो ! अमुक सघ के साधु ने प्रत्याख्यान का भगकर दिया है, प्रतिज्ञा नष्ट कर दी है, इत्यादि।

जिह्वेन्द्रिय-वशस्याशु, बुद्धिस्तीक्ष्णापि नश्यति।
सम्पद्यते परायत्तो, योनिगश्लेषलप्रवत् ॥१७२८॥

अर्थ - तीक्ष्ण बुद्धि धारण करने वाला मनुष्य भी यदि जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत हो जाता है तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह आहारलोलुपी साधु वज्रमयी बन्धन से बँधे हुए के समान पूर्णत परतन्त्र जैसा हो जाता है ॥१७२८॥

धर्म-धैर्य-कृतज्ञत्व-माहात्म्यानि निरस्यति।
महान्तं कुरुतेऽनर्थं, गल-लग्नो यथा झष: ॥१७२९॥

अर्थ - जैसे जाल में फँसी हुई मछली जालगत खाद्य वस्तु के वशीभूत हो अपने प्राण खोनेरूप महा अनर्थ कर डालती है, वैसे ही आहारलुब्ध साधु आहार के पीछे रत्नत्रय धर्म, धैर्य, सघ की कृतज्ञता और सघ एव अपने स्वयं के माहात्म्य को खोकर अपना महान् अनर्थ कर लेता है॥१७२९॥

कुलीनो धार्मिको मानी, ख्यात-कीर्तिर्विचक्षण:।
अभक्ष्यं वल्भते वस्तु, विरुद्धां कुरुते क्रियाम्॥१७३०॥

अर्थ - कुलीन, धार्मिक, स्वाभिमानी, प्रसिद्ध कीर्तिशाली एव विलक्षण बुद्धिमान् मनुष्य भी आहार के वशीभूत हो कुल के विपरीत अयोग्य क्रियाओं के साथ-साथ अभक्ष्यभक्षण भी करने लगता है॥१७३०॥

दुर्भिक्षादिषु मार्जारी-शिंशुमाराहि-मानवा:।
वल्लभान्यप्यपत्यानि, भक्षयन्ति बुभुक्षिता: ॥१७३१॥

अर्थ - भूख से पीड़ित होने वाले बिल्ली, शिशुमार, सर्प तथा मनुष्य दुर्भिक्षादि कुसमय मे अपने प्रिय पुत्र-पुत्री आदि को भी खा जाते हैं॥१७३१॥

ये जन्म-द्वितये दोषा:, केचनानर्थकारिण:।
ते जायन्तेऽखिला जन्तोराहारासक्त-चेतस: ॥१७३२॥

अर्थ - उभय लोको मे मनुष्य का अनर्थ करने वाले अर्थात् उसे दुख देने वाले जो-जो दोष हैं, वे सब दोष आहार मे आसक्तचित्त वाले साधु या मनुष्य को आहार की लम्पटता से सहज प्राप्त हो जाते हैं॥१७३२॥

आहार-संज्ञया श्वभ्रं, महान्तं सप्तमं परम्।
गच्छन्ति तिमयो यात:, शालिसिक्थोऽपि नष्ट-धी: ॥१७३३॥

अर्थ - आहार सज्ञा के वशवर्ती महामत्स्य महाभयावह सातवे नरक मे जाते हैं, तथा नष्टबुद्धि तन्दुल मत्स्य भी सातवें नरक मे जाते हैं॥१७३३॥

प्रश्न - महामत्स्य और तन्दुलमत्स्य कौन हैं, कहाँ रहते हैं, कितने बड़े-छोटे होते हैं और दोनों सातवे नरक क्यों जाते हैं ?

उत्तर - मध्यलोक मे असख्यात समुद्र हैं। इनमे प्रथम लवण समुद्र, द्वितीय कालोदधि और अन्तिम स्वयम्भूरमण, ये तीन समुद्र कर्मभूमि सम्बन्धी हैं अत. इन तीन समुद्रो मे महामत्स्यादि जलचर जीव पाये जाते है, शेष असख्यात समुद्र जलचरजीवों से रहित हैं क्योकि वे जघन्य भोगभूमि के अन्तर्गत हैं। ये महामत्स्य इन्हीं तीन समुद्रो में रहते हैं। यथा-लवणसमुद्र[1] के तट पर रहने वाले मत्स्यो के शरीर की लम्बाई ९ योजन (अनुमानत ७२ मील), चौड़ाई ४, १/२ योजन (३६ मील) और ऊँचाई २, १/४ योजन (१८ मील) प्रमाण है। इसी

१ त्रिलोकसार गाथा ३२१ और उसकी टीका।

समुद्र के मध्य में रहने वाले मत्स्यों के शरीर की अवगाहनादि इससे दुगुणी अर्थात् लम्बाई १८ योजन (१४४ मील), चौड़ाई ९ योजन और ऊँचाई साढ़े चार योजन है।

दूसरे कालोदधि समुद्र तट के समीप रहने वाले मत्स्यो के शरीर की लम्बाई १८ योजन, चौड़ाई ९ योजन और ऊँचाई ४, १/२ योजन है, तथा मध्यगत मत्स्यों के शरीर की लम्बाई ३६ योजन (२८८ मील), चौड़ाई १८ योजन और ऊँचाई ९ योजन प्रमाण है।

अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्र के तटगत मत्स्यों के शरीर की लम्बाई ५०० योजन (४००० मील), चौड़ाई २५० योजन (२००० मील) और ऊँचाई १२५ योजन (१००० मील) है और इसी समुद्र के मध्य में रहने वाले महामत्स्यों के शरीर की लम्बाई १००० योजन (८००० मील), चौड़ाई ५०० योजन और ऊँचाई २५० योजन प्रमाण है।

जैसे शुक्ति[१] पुट में गिरे हुए जलबिन्दुओं का मुक्ताफल रूप से परिणमन हो जाता है उसी प्रकार इन महामत्स्यों की पीठगत पानी मे गिरे हुए शैल वृक्ष के पत्तों का शिला एव मिट्टी आदि रूप परिणमन हो जाता है अत इनकी पीठ पर मिट्टी का प्रचय, पत्थर, सर्ज नामक वृक्ष विशेष, अर्जुन, नीम, कदम्ब, आम, जामुन एवं जम्बीरादि के अनेक वृक्ष और सिह तथा हरिण आदि गर्भज पशु पाये जाते हैं। वर्षाकाल के प्रारम्भ में वर्षा के जल एव पृथ्वी के सम्बन्ध से मेढ़क, मछली, कछुआ एव चूहा आदि पचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीव भी उसकी उसी पीठ पर उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं।

स्वयम्भूरमण[२] समुद्र में ये तिमितिमिंगल नामक महामत्स्य छह मास पर्यन्त मुख खुला रखकर सोते रहते हैं। उस समय जल-प्रवाह के साथ अनेक जलचर जीव मुख मे आकर भी निकल जाते हैं। जाग्रत अवस्था में वे अपने मुखमे आये हुए मत्स्यो आदि को खाते रहते हैं अत मर कर सातवे नरक जाते हैं।

इनके कानों मे सालिसिक्थ नामक मत्स्य रहते हैं जो इनके कान का मैल खाकर जीवित रहते हैं। इनका शरीर मात्र चावल के बराबर होता है अत इन्हे सालिसिक्थ कहते हैं। कान में बैठे हुए ये मन में सतत सोचते रहते हैं कि यदि मेरा मुख इतना बड़ा होता तो क्या एक भी जीव बच कर जा सकता था? मैं तो सबको खा जाता। इस प्रकार के सकल्प मात्र से मरकर वे भी सातवें नरक ही जाते हैं।

चतुरङ्ग-बलोपेतः, सुभूमः फल-लालसः।
नष्टोऽम्भोधौ निजैः सार्धं, ततोऽपि नरकं गतः ॥१७३४॥

अर्थ - चतुरग बल से युक्त होते हुए भी सुभौम चक्रवर्ती फलों मे आसक्त होकर अपने परिवार सहित समुद्र मे नष्ट हुआ और मरकर सातवे नरक गया॥१७३४॥

---

१ धवल पु १४ सूत्र ५८० की टीका ।

२ भगवती आराधना, गाथा १६४२-४३ की टीका देखें।

❀ सुभौम चक्रवर्ती की कथा ❀

छह खड का अधिपति चक्रवर्ती सुभौम जिह्वालोलुपी था, निधियों द्वारा अनेक तरह के भोग-उपभोग प्राप्त होनेपर भी वह सदा अतृप्त ही रहता था। एक दिन अधिक गरम खीर परोसने के कारण उसने गुस्सेमें आकर अपने रसोइये जयसेन को थाली फेककर मारा, थाली मर्मस्थान पर लग जानेसे रसोइया तत्काल मर गया और अकामनिर्जरा के फलस्वरूप व्यतरदेव हो गया और कुअवधिज्ञान से जानकर चक्री पर कुपित होकर उसने उसको मारनेका षड़यत्र रचा। व्यतरदेव ने सोचा कि यह रसनेन्द्रिय के वश मे है अत इसे मधुर फल देकर छलसे मार देगे। वह देव ब्राह्मण वेष मे चक्री के पास आया। उसने दिव्य मधुर फल भेंट में देकर अपना परिचय दिया कि मैं समुद्र के उस पार रहता हूँ, मैं आपको अपना स्वामी मानता हूँ अत ये मिष्ट फल लाया हूँ। चक्री प्रसन्न हुआ और उसने प्रतिदिन फल लानेको कहा। ब्राह्मण वेषधारी देवने कहा-राजन् ! आप कृपाकर मेरे उस रम्य स्थानपर चलिये वहाँ अनेक उद्यान फलोंसे भरे हैं। चक्री उसके साथ चला, समुद्र से पार होते समय ठीक मध्य समुद्र में उस देवने अपना परिचय दिया कि "अरे दुष्ट ! तुमने मुझे थाली फेककर मारा था उस समय मैं निर्बल था, अब उसका बदला अवश्य लूगा।" इतना कहकर देवने नौका समुद्रमे डुबो दी।

सुभौम चक्रवर्ती उस अगाध समुद्र मे मरा और नरक चला गया। इस प्रकार भोजन की लम्पटता से सुभौम चक्रवर्ती को भी चिरकाल तक नरकवास के भयकर दुख भोगने पडे।

आहार-संज्ञया भद्र ! कृत्वा पापं दुरुत्तरम्।
चिरकालं भवाम्भोधौ, प्राप्तो दुःखमनारतम् ॥१७३५॥

अर्थ - हे भद्र ! आहार सज्ञा के वशवर्ती होकर ही अतीत काल मे तुमने अनेक बार अत्यन्त पाप सचय किया है और उसके फलस्वरूप चिरकाल तक इस ससार समुद्र मे सतत महान् दुख भोगे है॥१७३५॥

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि, भ्रमितुं भव-कानने।
दुःखदामशनाकांक्षां, येनाद्यापि न मुञ्चसि॥१७३६॥

अर्थ - हे क्षपकराज ! अब क्या तुम पुन इस ससाररूपी भयावह वन मे भ्रमण करना चाहते हो ? जो भोजन की इस दुखदायिनी इच्छा को आज भी नहीं छोड़ पा रहे हो? ॥१७३६॥

आहारं बल्भमानोऽपि, चिरं जीवो न तृप्यति।
उद्वृत्तं सर्वदा चित्तं, जायते तृप्तितो विना॥१७३७॥

अर्थ - हे क्षपकराज ! देखो ! चिरकाल तक भोजन करके भी जीव को कभी तृप्ति प्राप्त नहीं होती और तृप्ति न होने से सदा ही मन मे भोजन करने की उत्कण्ठा या व्याकुलता बनी रहती है॥१७३७॥

ईन्धनेनेव सप्तार्चिः, सलिलेनेव वारिधिः।
अन्धसा गृह्यमाणेन, जीवो जातु न तृप्यति॥१७३८॥

अर्थ - जैसे ईंधन से अग्नि की और जल से समुद्र की तृप्ति नहीं होती है वैसे ही ग्रहण किये हुए भोजन द्वारा यह जीव कभी तृप्त नहीं होता है॥१७३८॥

भोगिनश्चक्रिणो रामा, वासुदेवाः पुरन्दराः।
नाहारैस्तृप्तिमायातास्तृप्यन्त्यत्र परे कथम्॥१७३९॥

अर्थ - भोगभूमिज मनुष्य, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण और इन्द्रादि महान् जीव भी जब विशिष्ट आहार से भी तृप्त नहीं होते या नहीं हुए तब अन्य साधारण जीव साधारण आहार द्वारा कैसे तृप्त हो सकते हैं ? अपितु नहीं हो सकते॥१७३९॥

प्रश्न - चक्रवर्ती आदि का विशिष्ट आहार किस प्रकार का होता है ?

उत्तर - स्वर्ग में देवेन्द्रों का मानसिक आहार होता है। इन देवेन्द्रो के लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम बहुत तीव्र होता है अत: इन्हे शरीर की काति स्थिर रखने वाले आहार की प्राप्ति होती है। आयु प्रमाण के अनुसार नियत समय पर ही इन्हें भोजन की इच्छा उत्पन्न होती है जो कण्ठ से अमृत झरते ही पूर्ण हो जाती है किन्तु उस अमृत से भी वे इन्द्रादि देव सदा के लिए तृप्त नहीं हो पाते।

भोगभूमिज मनुष्य भोजनाग एव पानाग नामक कल्पवृक्षो से भोजन-पान प्राप्त करते हैं। भोजनाग वृक्ष इन्हें १६[1] प्रकार का आहार, १७ प्रकार के व्यजन, १४ प्रकार की दाल, १०८ प्रकार के खाद्य-पदार्थ, ३६३ प्रकार के स्वाद्य पदार्थ एव ६३ प्रकार के रस देते हैं, तथा पानाग वृक्ष ३२ प्रकार के पेय पदार्थ देते हैं। ऐसे उत्तम पदार्थों को खाकर भी वे जीव सदा के लिए तृप्त नहीं होते हैं।

चक्रवर्ती के भी तीन सौ साठ रसोइया होते हैं और वे सब मिल कर एक वर्ष का आहार एक दिन मे बनाते हैं। चक्रवर्तियो के लिए जो लड्डू बनते हैं वे इतने पौष्टिक होते हैं कि मात्र अर्ध लड्डू मे उनका पूरा कटक तृप्त हो जाता है। ऐसे उत्तम एव पौष्टिक भोजन से भी सदा के लिए उनकी भोजन वाछा तृप्त नहीं हो पाती। बलभद्र, नारायण एव प्रतिनारायणों की भी यही स्थिति है। आचार्यदेव क्षपक को समझा रहे हैं कि हे क्षपक ! जब दिव्यभोजी महापुरुष भी कभी इस भोजन से तृप्ति को प्राप्त नहीं हुए तब गोचरी वृत्ति से पराये घर मे किंचित् आहार से क्या तृप्ति होगी? अत अब अन्त समय मे आहार की इच्छा करना व्यर्थ है।

रत्याकुलित-चित्तस्य, प्रीतिर्नास्ति रतिं विना।
प्रीति विना कुतः सौख्यं, सर्वदा गृद्ध-चेतसा॥१७४०॥

अर्थ - 'यह आहार उत्तम है', इससे भी 'अधिक उत्तम यह आहार है' इस प्रकार जिस आहार-लम्पटी का चित्त चचल रहता है, उसके चित्त मे रति उत्पन्न नहीं होती। बिना रति के प्रीति उत्पन्न नहीं हो सकती और प्रीति के बिना मनुष्य को आहार से सुख प्राप्त कैसे हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता॥१७४०॥

पुद्गला विविधोपायैः, सकला भक्षितास्त्वया।
अतीतेऽनन्तशः काले, न च तृप्तिं मनः श्रितम्॥१७४१॥

अर्थ - हे क्षपक ! अतीत काल मे अनन्तबार अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य एव लेह्यादि अनेक उपायों के द्वारा तुमने समस्त पुद्गलो का भक्षण किया है फिर भी तुम्हारा मन तृप्त नहीं हुआ॥१७४१॥

१ तिलोयपण्णत्ती भाग दो, अधिकार चौथा, गाथा ३४७ से ३५२ तक।

भोज्यं कण्ठगत-प्राणैर्भुक्त्वा प्रार्थनयाहृतम्।
किमिदानीं पुनस्तृप्तिं, सुबुद्धे ! त्वं गमिष्यसि ॥१७४२॥

अर्थ - हे सुबुद्धे ! अब तुम्हारे प्राण कण्ठगत हैं। जब अतीत में विपुल एव पुष्ट भोजन से भी तुम्हें तृप्ति प्राप्त नहीं हुई तब इस मरण बेला में गोचरी द्वारा लाये हुए किंचित् आहार को खाकर क्या तृप्ति प्राप्त कर सकोगे ? नहीं कर सकोगे॥१७४२॥

न तृप्तिर्यस्य सम्पन्ना, पीते जलनिधेर्जले।
अवश्याय-कणैर्द्वि-त्रैः, पीतैः किमु स तृप्यति ? ॥१७४३॥

अर्थ - जिसे समुद्र को पीकर भी तृप्ति प्राप्त नहीं हुई क्या उसे ओस के दो-तीन बिन्दुकणो को चाट लेने से तृप्ति हो जायेगी ? कदापि नहीं हो सकती॥१७४३॥

भुक्त-पूर्वे यते ! कोऽस्मिन्नाहारे तव विस्मयः।
अपूर्वे युज्यते कर्तुमभिलाषो हि वस्तुनि॥१७४४॥

अर्थ - हे क्षपक ! जो आहार पूर्व मे तुम अनेक बार खा चुके हो उसमे तुम्हारी यह उत्सुकता या इच्छा या विस्मय कैसा ? क्योकि यह सब तो अनेक बार प्राप्त हो चुका है। अपूर्व वस्तु मे ही अभिलाषा जाग्रत होती है। यह आहार भी यदि अपूर्व होता तो उसमे अभिलाषा करना योग्य भी था। इस तथ्य का चिन्तन करो॥१७४४॥

आपात-सुखदे भोज्ये, न सुखं बहु विद्यते।
गृद्धितो जायते भूरि, दुःखमेवाभिलाप्यतः॥१७४५॥

अर्थ - आहार मे बहुत सुख नहीं है। केवल तत्काल मे सुखदायक इस भोज्य पदार्थ के स्पर्श मात्र का किचित् सुख है, किन्तु इच्छित आहार की गृद्धता या लिप्सा से जो दुख होता है वह दुख बहुत अधिक है॥१७४५॥

आहार में स्वल्प सुख होने का कारण

अतिक्रामति वाजीव, जिह्वामूलं स वेगतः।
तत्रैव बुध्यते स्वादं, भुञ्जानो न पुनः परे॥१७४६॥

अर्थ - जैसे उत्तम घोडा अतिवेग से दौडता है, वैसे ही भोज्य पदार्थ जिह्वा के मूलभाग का अतिवेग से उल्लघन कर जाते हैं। अर्थात् जिह्वा पर ग्रास आते ही वह झट पेट मे चला जाता है और आहार के स्वाद का ज्ञान या प्रतीति जिह्वा के अग्रभाग पर रहते हुए ही होती है, न पहले होती है और न पीछे होती है। अर्थात् भोजन करने वाले को आहार का आस्वादन उसके जिह्वा पर पहुँचने के पूर्व और जिह्वा के अग्रभाग से आगे बढ़ते एव गले से नीचे उतरते समय नहीं आता। इस प्रकार आहार का सुखानुभव अत्यन्त अल्प है॥१७४६॥

निमेष-मात्रके सौख्यमाहार-ग्रहणे परम्।
गृद्धितो गिलति क्षिप्रं, तया न हि विना सुखम्॥१७४७॥

अर्थ - इस प्रकार आहार ग्रहण से होने वाले सुख का काल एक निमेष मात्र का है। अर्थात् एक बार आँख की पलक बन्द करके पुन: आँख खोलने में जितना समय लगता है, उतना ही है। आहार की गृद्धता अर्थात् अभिलाषा से ही मनुष्य उसे जल्दी-जल्दी (वेग से) निगलता जाता है क्योकि अभिलाषा बिना इन्द्रियसुख नहीं होता॥१७४७॥

अशनं कांक्षतो नित्यं, व्याकुलीभूत-चेतसः।
दरिद्र-चेटकस्येव, गृद्धस्यास्ति कुतः सुखम्॥१७४८॥

अर्थ - आहारविषयक लम्पटता के साथ जिसके चित्त में नित्य ही आहार-आकाक्षा की व्याकुलता रहती है उसे सुख कहाँ से हो सकता है ? जैसे चिरकाल से अन्न की अभिलाषा करने वाले दरिद्र दास को सुख नहीं होता, वैसे ही आहार लम्पटी को सुख नहीं होता॥१७४८॥

को नामाल्प-सुखस्यार्थे, वञ्च्यते सुखतो बहोः।
सङ्क्लेश:क्रियते येन, मृतिकालेऽपि दुर्धिया॥१७४९॥

अर्थ - कौन ऐसा पुरुष है जो अल्प सुख के लिए बहुत सुख से वचित होना चाहेगा ? हे क्षपक! यदि तुम आहार के अल्प सुख में आसक्त हो जाते हो अर्थात् अल्प आहार के लिए समाधिमरण के शुभावसर पर भी दुर्बुद्धि से सक्लेश करते हो तो तुम्हे स्वर्गादि के महान् सुखों से वचित रहना पड़ेगा॥१७४९॥

मधु-लिप्तामसेर्धारां, निशातां स लिलिक्षति।
बुभुक्षते विषं घोरं, संन्यस्तो योऽशनायति॥१७५०॥

अर्थ - जो क्षपक सन्यास ग्रहण कर अयोग्य आहार की लिप्सा करता है वह शहद से लिप्त तलवार की तीक्ष्ण धार को चाटना चाहता है, अथवा घोर विष खाकर भूख शान्त करना चाहता है। अर्थात् जैसे मधुलिप्त तलवार चाटते समय मधु के स्वाद से सुख होता है किन्तु जिह्वा कट जाने से भयकर पीड़ा होती है, वैसे ही सन्यास में मरते समय यदि परमेष्ठी की साक्षीपूर्वक त्याग किये हुए आहार को खाता है तो तत्काल इच्छापूर्तिजन्य सुख होगा किन्तु आराधना गल जाने से दुर्गति में घोर वेदना होगी॥१७५०॥

असिधारा-विषे दोषमेकत्र कुरुते भवे।
अशनायाः पुनर्जन्तोर्दुरितं भव-कोटिषु॥१७५१॥

अर्थ - मधु लिप्त तलवार की धार और विष ये एक ही भव मे अनर्थ करते हैं किन्तु क्षपक द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उस जीव को करोड़ो भवो मे दुख देता है॥१७५१॥

शरीरं मानसं दु:खं,दृश्यते यज्जगत्त्रये।
तद्ददाति यतेः सर्वं, अशनाया विसंशयम्॥१७५२॥

अर्थ - तीन लोक में जो-जो शारीरिक और मानसिक दुख दिखाई देते हैं वे सब साधु को अयोग्य भोजन के फलस्वरूप मिलते हैं, इसमें सशय नहीं है। अर्थात् अनादि ससार में जीव को जो अनन्तबार शारीरिक और मानसिक दुख भोगने पड़ते हैं उसका कारण अयोग्य आहार ही है॥१७५२॥

यते ! देह-ममत्वेन, प्राप्तं दु:खमनारतम्।
इदानीं सर्वथा साधो ! ततस्त्वं निराकुरु ॥१७५३॥

अर्थ - हे मुने ! इस शरीर सम्बन्धी ममत्व से ही तुमने सतत दुख प्राप्त किया है, अत: हे साधो! अब इस समय तुम इस शारीरिक ममत्व को सर्वथा त्याग दो ॥१७५३॥

दु:खं जन्म-समं नास्ति, न मृत्यु-सदृशं भयम्।
जन्म-मृत्यु-करीं छिंद्धि, शरीर-ममतां तत: ॥१७५४॥

अर्थ - हे साधो ! इस ससार मे जन्म के सदृश कोई दुख नहीं है और मरण के सदृश कोई भय नहीं है और जन्म-मरण रूपी रोग का प्रधान कारण शरीरजन्य ममत्व है अत तुम शारीरिक ममत्व छेद डालो अर्थात् छोड़ दो ॥१७५४॥

परोऽयं विग्रह: साधो ! चेतनोऽयं यत: पर:।
ततस्त्वं विग्रह-स्नेहं, महाक्लेश-करं त्यज ॥१७५५॥

अर्थ - हे साधो ! क्योकि यह शरीर भिन्न है और तुम्हारी चेतनात्मा भिन्न है इसलिए तुम महाक्लेश को उत्पन्न करने वाली इस शरीर की ममता को छोड़ दो ॥१७५५॥

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्ग-परीषहान्।
नि:सङ्गस्त्वमसंक्लिष्टो, देह-मोहं तनूकुरु ॥१७५६॥

अर्थ - हे साधो ! तुम सब उपसर्गों को और सर्व परीषहो को सहन करते हुए नि सगत्व-भावना से सक्लिष्ट परिणामो के बिना मोह को कृश करो ॥१७५६॥

सक्लेश परिणामों के त्याग बिना समाधि नही

तृणादि-संस्तरो योग्यश्चतुर्धा सङ्घ-मीलनम्।
नि:फलं जायते साधो ! मृत्यौ संक्लिष्ट-चेतस: ॥१७५७॥

अर्थ - हे साधो ! (समाधि का अन्तरग कारण समता भाव है, शय्या एव सघ तो बहिरग कारण हैं अत) यदि मरते समय सक्लेश परिणाम होते हैं तो तृणादि चार प्रकार का योग्य सस्तर ग्रहण करना एव चतुर्विध सघ का एकत्र होना निष्फल है ॥१७५७॥

रत्नसम्भृत-पात्रस्था, वणिज: सागरे यथा।
पत्तनं निकषा साधो ! निमज्जन्ति प्रमादत: ॥१७५८॥

तथा सिद्धि-समीपस्था:, शुद्ध-संस्तर-यायिन:।
निपतन्ति भवावर्ते, जीवा: सङ्क्लेश-योगत: ॥१७५९॥

अर्थ - जैसे व्यापारी का रत्नों से भरा जहाज नगर के समीप तक आकर भी उसके प्रमाद के कारण समुद्र में डूब जाता है, वैसे ही शुद्ध-सस्तर में स्थित और समाधि सिद्धि के निकट पहुँचे हुए भी कई क्षपक सक्लेश परिणामो के योग से ससार-समुद्र मे डूब जाते हैं ॥१७५८-१७५९॥

सल्लेखना-श्रमं साधो ! चारित्रं च सुदुश्चरम्।
मास्म त्याक्षीर्जगत्सारमल्प-सौख्य-जिघृक्षया ॥१७६० ॥

अर्थ - हे साधो ! जगत् मे सारभूत इस सल्लेखना के श्रम को अर्थात् अनशन आदि तप द्वारा तथा जल आदि चारों प्रकार के आहार के त्याग द्वारा तुमने शरीर को कृश करने में जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन चारित्र धारण किया है, यह सब तुम्हें स्वर्ग और मोक्ष का सुख देने वाला है, इसे तुम आहारजन्य अल्प सुख की वांछा से छोड मत देना ॥१७६० ॥

पुरुषैः कथितं धीरैर्मार्गं सद्भिर्निषेवितम्।
निरपेक्षाः श्रिता धन्याः, संस्तरस्था निशेरते ॥१७६१ ॥

अर्थ - उपसर्ग एवं परीषहो के आने पर भी जो विचलित नहीं होते उन धीर-वीर पुरुषों द्वारा कहे गये एव श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित रत्नत्रय स्वरूप इस मार्ग को अपना कर पुण्यशाली क्षपक त्याग तथा ग्रहण के विकल्पो से निरपेक्ष होते हुए सस्तर पर आरूढ़ होकर ही विशुद्ध होते हैं अर्थात् रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त कर पाते हैं, सस्तरारूढ हुए बिना नहीं ॥१७६१ ॥

कलेवरमिदं त्याज्यमिति विज्ञाय निःस्पृहः।
सहस्व कर्मज दुःखं, निर्वेदन इवाखिलम् ॥१७६२ ॥

अर्थ - हे क्षपक ! यह शरीर त्यागने योग्य ही है, ऐसा मान कर शरीर से निस्पृह हो अर्थात् शरीर से ममत्व मत करो। असाताकर्म के उदय से उत्पन्न हुए दुखो को ऐसे सहन करो मानो कोई दुख है ही नहीं ॥१७६२ ॥

एवं प्रज्ञाप्य-मानोऽसौ, त्यक्त-सङ्क्लेश-वासनः।
अन्य-दुःखमिवात्मीयं, दुःखं पश्यति सर्वदा ॥१७६३ ॥

अर्थ - इस प्रकार उपदेश द्वारा समझाये जाने पर वह क्षपक पूर्व मे उत्पन्न सक्लेश वासना को अर्थात् परिणामो को छोड़ देता है और क्षुधा-तृषादि से उत्पन्न अपने दुखो को इस प्रकार देखता है मानो ये दुख उसके शरीर मे नहीं, किन्तु किसी दूसरे के शरीर मे हो रहे हैं ॥१७६३ ॥

मान-दान देकर कवच करने की प्रेरणा

धन्यस्य पार्थिवादीनामागमादि-प्रयोगतः।
क्षपकस्यापि दातव्यो, मानिनः कवचो दृढः ॥१७६४ ॥

अर्थ - ऐसे क्षपक को धन्य है जिसके दृढ़ कवच के लिए आचार्य प्रयोगत अर्थात् प्रेरणा पूर्वक राजा, मन्त्री एव ऐश्वर्यशालियों को बुला कर मान-दान देते हैं। क्योकि राजादि के आगमन को देखकर-स्वाभिमानी क्षपक विचार करता है कि इन राजादि के सामने मेरे प्राण जाँय तो भले चले जाँय किन्तु अब मैं व्रतभग भी नहीं करूँगा और दीनतापूर्ण वचनादि भी नहीं बोलूँगा ॥१७६४ ॥

प्रश्न - आचार्य प्रेरणा करके राजादि को बुलाकर स्वाभिमानी क्षपक को मान-दान देकर कवच क्यो करते हैं ?

उत्तर - येन-केन-प्रकारेण क्षपक के गृहीत व्रतों की रक्षा करना ही आचार्य का प्रमुख कर्त्तव्य है। अनेकानेक प्रकार के उपदेश द्वारा भी जब क्षपक का धैर्य स्थिर नहीं रहता है तब आचार्य क्षपक को प्रशसात्मक वाक्यों द्वारा व्रतों में एव प्रत्याख्यान आदि में कवचवत् दृढ़ बनाते हैं। अपनी प्रशसा सुन कर एवं राजा आदि का आगमन देखकर क्षपक मन मे विचार करता है कि मेरी समाधि की दृढ़ता देखने हेतु ये राजादि महापुरुष यहाँ पधारे हैं, इनके समक्ष मेरे प्राण चले जाँय तो भी कोई बात नहीं, मैं तो सर्वथा धैर्य ही धारण करूँगा। मैं धर्म की प्रतिष्ठा, संघ का आदर्श और अपना मान नष्ट नहीं करूँगा। इससे भी अधिक पीड़ा उत्पन्न हो जाय तो भी व्रत भग करके अपना अपयश नहीं कराऊँगा, इत्यादि। इस प्रकार क्षपक के मन मे स्वाभिमान की रक्षा के भाव उत्पन्न कराकर आचार्यदेव दृढ़ कवच करते हैं अर्थात् क्षपक के व्रतो की रक्षा करते हैं।

इत्येष कवचोऽवाचि, संक्षेपेण श्रुतोदितः।
विशेषेणापि कर्त्तव्यो, दुःखे सति दुरुत्तरे ॥१७६५॥

अर्थ - इस प्रकार यहाँ आगमानुसार कवच का सामान्य स्वरूप कहा है। यदि कर्मवशात् क्षपक को कोई दुरुत्तर दुख उत्पन्न हो जाय तो उसके परिणामों की स्थिरता हेतु विशेष रूप से भी कवच करना चाहिए॥१७६५॥

प्रश्न - कवच किसे कहते हैं ? तथा सामान्य कवच कब करना चाहिए और विशेष कवच कब करना चाहिए ?

उत्तर - कवच का अर्थ है, रक्षा करना। युद्ध मे कवच पहन कर जाने वाले योद्धा का हृदय जैसे बाणादि शस्त्रो से ताड़ित नहीं हो पाता, जिससे योद्धा मे युद्ध करने की फुर्ती रहती है और उत्साह यथावत् बना रहता है। वैसे ही प्रशसनीय या वैराग्य-वर्धक या सवेगवर्धक या शरीर की असारतावर्धक मधुर वचनों द्वारा क्षपक के हृदय को दृढ बनाये रखना और उसके धैर्य भावो की रक्षा करना 'कवच' कहलाता है।

जिसका मरण अभी दूर है उसके लिए ऊपर कहे अनुसार सामान्य रूप से कवच करना चाहिए किन्तु आसन्न मरण वाले क्षपक को ध्यान में या समता परिणामों में विघ्न डालने वाली कोई पीडा या भूख-प्यास का कोई विशेष दुख यदि तत्काल उत्पन्न हो जाता है तो उसे दूर करने के लिए अपवादरूप किन्तु यथायोग्य विशेष कवच करना चाहिए।

स्तोष्यते क्षपकः सूरेर्वचनैर्हृदयङ्गमैः।
चन्द्रस्येव करैः शुद्धैः, शीतलैः कुमुदाकरः ॥१७६६॥

अर्थ - जैसे चन्द्रमा की शुद्ध एव शीतल किरणों से रात्रिविकासी कमलो का सरोवर विकसित हो जाता है, वैसे ही आचार्यदेव के हृदयग्राही, मधुर एव हितकर वचन सुनते ही क्षपक का मन प्रसन्न हो जाता है, मन के भाव शुद्ध हो जाते हैं और वह व्रताचरण मे आत्मविश्वासपूर्वक स्थिर हो जाता है॥१७६६॥

क्षणेन दोषोपचयापसारिणः, समेत्य वाक्यानि तमोऽपहारिणः।
जडोऽपि सूरेः क्षपको विबुध्यते, महांसि भानोरिव नीरजाकरः ॥१७६७॥

अर्थ - जैसे रात्रि को दूर करने वाली एव अन्धकार को नष्ट करने वाली सूर्य की किरणों का स्पर्श प्राप्त

कर कमलों से व्याप्त सरोवर विबोध को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् खिल जाता है, वैसे ही क्षणभर में दोषों को दूर करने वाले और मन के अज्ञान अंधकार को हटा देने वाले आचार्य के मधुर वचनों को प्राप्त कर अल्पबुद्धि भी क्षपक अतिशयरूप से बोध को प्राप्त हो रत्नत्रय की आराधना में सावधान हो जाता है ॥१७६७॥

परीषहं प्रभवति संस्तरे स्थितो, निकर्तितुं परम-पराक्रम-क्रमः ।
निराकुलः कवचधरस्तपोधनो, रणाङ्गणे रिपुमिव कर्कशः भटः ॥१७६८॥

इति कवचः ॥

अर्थ - जैसे परम पराक्रमी अभेद्य कवच द्वारा सुरक्षित योद्धा युद्धभूमि में स्थित होकर अत्यन्त बलशाली शत्रुओं पर भी प्रहार करने में समर्थ होता है, वैसे ही आचार्य के उपदेशामृतरूप दृढ कवच-धारी क्षपक रूपी योद्धा निराकुल एव परम पराक्रमी होता हुआ संस्तर मे स्थिर होकर परीषह एव उपसर्ग रूपी कठिन शत्रुओं को भी जीतने में समर्थ होता है ॥१७६८॥

इस प्रकार सल्लेखना के चालीस अधिकारों मे से कवच नाम का पैंतीसवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ॥३५॥

३६. समता-अधिकार

इत्येवं क्षपकः सर्वान्, सहमानः परीषहान् ।
सर्वत्र निःस्पृहीभूतः, प्रयाति सम-चित्तताम् ॥१७६९॥

अर्थ - इस प्रकार (आचार्यदेव की कृपा से मन मे धैर्यरूपी दृढ कवच धारण करने वाला) क्षपक समस्त परीषहो को सहन करता हुआ सर्व विषय-कषाय, परिग्रह, शरीर एव सघ आदि मे अत्यन्त निस्पृह हो समता परिणामो को धारण करता है ॥१७६९॥

समस्त-द्रव्य-पर्याय-ममत्वासङ्ग-वर्जितः ।
निःप्रेम-राग-मोहोऽस्ति, सर्वत्र सम-दर्शनः ॥१७७०॥

अर्थ - वह क्षपक जीवादि समस्त द्रव्य उनके गुण एव द्रव्य और गुणो की समस्त पर्यायो में "ये मेरे सुख के साधनभूत हैं" इस प्रकार के ममत्व तथा आसक्ति भाव से रहित हो जाता है, और भी सर्वत्र राग, द्वेष एव मोह से रहित होता हुआ समता भाव धारण कर लेता है ॥१७७०॥

प्रियाप्रिय-पदार्थानां, समागम-वियोगयोः ।
विजहीहि त्वमौत्सुक्यं, दीनत्वमरतिरतिम् ॥१७७१॥

अर्थ - हे क्षपक ! तुम प्रिय अर्थात् इष्ट वस्तुओ के सयोग में उत्कण्ठा एवं रतिभावों को तथा अप्रिय/अनिष्ट पदार्थों के वियोग हेतु दीनता एव अरति भावो को छोड़ दो ॥१७७१॥

मित्रे शत्रौ कुले सङ्घे, शिष्ये साधर्मिके गुरौ ।
राग-द्वेषं पुरोत्पन्नं, विमुञ्चस्व प्रधीर्यते ! ॥१७७२॥

अर्थ - हे उत्कृष्ट बुद्धिधारक यते ! तुम मित्रों में, शत्रुओं में, कुल में, संघ में, शिष्यों में एवं साधर्मी जनों में दीक्षा के अथवा समाधिग्रहण के पूर्व जो रागद्वेषात्मक परिणाम रखते थे, उन्हें छोड़ दो ॥१७७२॥

कुर्याद्दिव्यादि-भोगानां, क्षपकः प्रार्थनां न तु।
उक्ता विराधना-मूलं, विषयेषु स्पृहाः यतः ॥१७७३॥

अर्थ - विषय-भोगो की अभिलाषा ही रत्नत्रय की/मोक्षमार्ग की/चारों आराधनाओं की विराधना का मूल है, ऐसा आगम मे कहा है अत हे क्षपकराज ! तुम देवो के एवं चक्रवर्ती आदि के दिव्य भोगों की अभिलाषा कदापि मत करना ॥१७७३॥

शब्दे रूपे रसे गन्धे, स्पर्शे साधो ! शुभेऽशुभे।
सर्वत्र समतामेहि, तथा मानापमानयोः ॥१७७४॥

समानो भव सर्वत्र, निर्विशेषो महामते !
राग-द्वेषोदये जन्तोरुत्तमार्थो विनश्यति ॥१७७५॥

अर्थ - हे साधो ! तुम इष्ट-अनिष्ट शब्दों मे, रूप में, रस मे, गन्ध मे, स्पर्श मे, मान मे तथा अपमान मे सर्वत्र ही सदा समता भाव धारण करो, क्योकि जीवों के उत्पन्न होने वाले राग-द्वेषरूप परिणाम ही उत्तमार्थ/रत्नत्रय/सम्यग् ध्यान/समाधिमरण को नष्ट कर देते है। यह पदार्थ बहुत उपकारी है एव उत्तम है अथवा यह पदार्थ मुझे कष्ट देता है इस प्रकार की विशेषताएँ राग-द्वेष को उत्पन्न करती हैं अत हे महामते ! तुम सर्व पदार्थों एव सर्व परिस्थितियों मे निर्विशेषता पूर्वक समता भाव धारण करो ॥१७७४-१७७५॥

गुर्वी यद्यपि पीडाऽस्ति, प्रकृष्टा मारणान्तिकी।
तथापि क्षपको याति, सर्वत्र सम-चित्तताम् ॥१७७६॥

अर्थ - यद्यपि उस क्षपक को अन्तिम समय मे मरण पर्यन्त अत्यधिक प्रकृष्ट पीड़ा होती है तथापि वह सर्वत्र समताभावो को धारण करता है ॥१७७६॥

प्रश्न - इस श्लोक का तात्पर्य अर्थ क्या है ?

उत्तर - इस देह से जीव का अनादिकालीन सम्बन्ध है। जीव ने भेदविज्ञान के अभाव मे अद्यावधि इस सम्बन्ध पर विचार नहीं किया। सुख-दुख, भूख एव प्यास आदि के वेदन शरीर के माध्यम से ही होते हैं अत इसने शरीर को ही आत्मा माना। किसी विशिष्ट पुण्य योग से समाधिमरण का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है, जीवन का अवसान अति निकट है। यद्यपि मरण समय जीव को असह्य पीड़ा होती है तथापि धैर्यरूप दृढ कवच-धारी क्षपक गुरु के उपदेश से भेदविज्ञान की प्रकृष्टता को प्राप्त कर मोहरहित होता हुआ समता भाव धारण कर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है।

एव भावित-चारित्रो, यावद्वीर्यं कलेवरे।
तावत्प्रवर्तते साधुरुत्थाय शयनादिषु ॥१७७७॥

अर्थ - इस प्रकार निर्यापकाचार्य के उपदेश से उत्तम चारित्र से भावित होता हुआ वह क्षपक जब तक शरीर में शक्ति रहती है तब तक उठने, बैठने एव सोने आदि की सर्व क्रियाओं मे स्वय प्रवृत्ति करता है ॥१७७७॥

क्षीण-शक्तेर्यदा चेष्टा, स्वल्पा भवति सर्वथा।
तदा देह-प्रहाणाय, यतते निःस्पृहाशयः॥१७७८॥

अर्थ - जब शक्तिहीन हो जाने पर उसकी शारीरिक चेष्टाएँ सर्वथा मन्द/अल्प पड़ जाती हैं तब निःस्पृह भाव युक्त होता हुआ क्षपक शरीर का त्याग करने हेतु प्रयत्नशील होता है॥१७७८॥

शरीर आदि की त्याज्यता

उपधिं संस्तरं शय्यां, पानं व्यावृत्तिकारिणः।
शरीरं मुञ्चते योगी, सम्यक्त्वारूढ-मानसः॥१७७९॥

अर्थ - सम्यक्त्वारूढ़ मानसयुक्त वह योगी क्षपक पीछी, कमण्डलु, सस्तर, शय्या, जल, वैयावृत्य करने वाले मुनिपरिकर एव शरीर को छोड देता है अर्थात् उन सबसे निरपेक्ष हो जाता है॥१७७९॥

निराकृत्य वचो-योगं, काय-योगं च सर्वथा।
स विशुद्धे मनोयोगे, स्थिरात्मा व्यवतिष्ठते॥१७८०॥

अर्थ - वह क्षीणकाय क्षपक काययोग अर्थात् शारीरिक क्रियाओ का एव वचनयोग अर्थात् वचन-प्रलाप का निराकरण कर विशुद्ध मनोयोग मे अर्थात् आत्मस्वरूप मे या पच परमेष्ठी के चिन्तन मे स्थिर-चित्त हो जाता है॥१७८०॥

समत्वमिति सर्वत्र, प्रपद्यामल-मानसः।
स मैत्री-करुणोपेक्षा-मुदिताः प्रतिपद्यते॥१७८१॥

अर्थ - इस प्रकार सब पदार्थों मे और सब जीवो में समता भाव धारण करने वाला वह क्षपक निर्मलचित्त होकर मैत्री, करुणा, उपेक्षा और मुदित अर्थात् मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एव माध्यस्थ्य भावनाओं को भाता है॥१७८१॥

मैत्री आदि भावनाओं का स्वरूप

जीवेषु सेव्या सकलेषु मैत्री, परानुकम्पा करुणा पवित्रा।
बुधैरुपेक्षा सुख-दुःख-साम्यं, गुणानुरागो मुदितावगम्या॥१७८२॥

अर्थ - बुद्धिमानो को सदा ही सकल जीवो मे मैत्री भाव, दीन-दुखी जीवो मे उत्कृष्ट एव पवित्र करुणा भाव, सुख-दुख में अथवा विपरीत आचरण करने वाले जीवों में माध्यस्थ्य अर्थात् समताभाव और गुणवान पुरुषो मे प्रमोद भाव रखना चाहिए॥१७८२॥

प्रश्न - उपर्युक्त चारो भावनाओं के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - मेरा आत्मा अनादि काल से घटीयन्त्र सदृश चारों गतियों में परिभ्रमण कर रहा है, इस बीच

सभी प्राणियों ने मेरा उपकार किया है अत: सभीजीव मेरे मित्र हैं। ऐसी भावना करना मैत्री भावना है अथवा सभी जीव सदा सुखी रहें, ऐसे भाव होना मैत्री भावना है।

असह्य शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक एव स्वाभाविक दुखो से दुखी जीवो को देखकर विचार आना कि अहो ! मिथ्यादर्शन, अविरति और कषायादि से उपार्जित अशुभ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुई नाना प्रकार की वेदनाओं को ये जीव विवश हो भोग रहे हैं, इनका दुख कैसे दूर हो ? इस प्रकार के भाव जाग्रत होना **कारुण्य भावना** है।

मुनिजन राग, रोष, भय, लोभ, माया एव मान आदि से रहित और विनयादि गुण सहित होते हैं। मुनि, गुरु तथा साधर्मी जनो के इस प्रकार के गुणों के चिन्तन से हृदय का आह्लादित हो उठना **प्रमोद या मुदिता भावना** है तथा सुख मे राग एव दुख में द्वेष न होना अथवा विपरीत चेष्टा करने वाले प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना **माध्यस्थ्य भावना** है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपो-वीर्य-निविष्ट-धी:।
प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां, मनो-वाक्कायकर्मभि: ॥१७८३॥

अर्थ - मैत्री आदि भावनाओ के बल से वह क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र अर्थात् वीतरागता, तप अर्थात् भोजन-पान का त्याग और वीर्य में मन, वचन एव काय द्वारा सम्यक्त्व आदि की विशिष्टता में अपनी बुद्धि लगाता है अर्थात् अपने परिणामों को अति उज्ज्वल करने की चेष्टा करता है॥१७८३॥

राग-द्वेष-क्रोध-मात्सर्य-मोदा:, येन त्यक्ता निर्जिताक्षेण सर्वे।
ध्यानं ध्यातुं योग्यता तस्य साधो:, सामग्रीतो याति कार्यं प्रसिद्धिम् ॥१७८४॥

इति समता।

अर्थ - जिस जितेन्द्रिय साधु ने राग, द्वेष, क्रोध, मात्सर्य एव हर्ष आदि सभी का त्याग कर दिया है, उस साधु मे ध्यान करने की योग्यता आ जाती है और साथ-ही-साथ यदि उसे ध्यान की सामग्री भी मिल जाती है तो तत्काल उसके ध्यानरूप कार्य की सिद्धि भी हो जाती है॥१७८४॥

इस प्रकार समता नामक अधिकार पूर्ण हुआ॥३६॥

विशेष - इस अधिकार की अन्तिम पाँच कारिकाएँ ध्यानविषयक प्रतीत होती हैं, जो विचारणीय हैं।

(९)

ध्यानादि अधिकार

शुक्लध्यान में प्रवृत्त होने की प्रेरणा

धर्मं चतुर्विधं ध्यात्वा, संसारासुख-भीरुक:।
शुक्लं चतुर्विधं ध्यानं, ध्यातुं प्रक्रमते यति: ॥१७८५॥

अर्थ - संसार के दुखों से भयभीत क्षपक चार प्रकार के धर्मध्यानों का ध्यान करने के बाद अब चार प्रकार के शुक्ल ध्यानों का ध्यान करने के लिए प्रवृत्त होता है ॥१७८५॥

प्रश्न - ध्यान किसे कहते हैं ? उसके भेद-प्रभेद कितने हैं ?

उत्तर - एक पदार्थ में मन का स्थिर होना ध्यान है। अप्रशस्त और प्रशस्त के भेद से ध्यान दो प्रकार का है। आर्तध्यान एव रौद्रध्यान के भेद से अप्रशस्त ध्यान दो प्रकार का है। ये दोनों ध्यान ससार के कारण हैं अत सर्वदा त्याज्य हैं।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से प्रशस्त ध्यान भी दो प्रकार का है। ये दोनों ध्यान नियमत: स्वर्ग एव मोक्ष के हेतु हैं। शुक्लध्यान तो साक्षात् मोक्ष का हेतु है किन्तु वह वर्तमान पचम काल में नहीं होता। इन चारों ध्यानों के पुन चार-चार भेद होते हैं, जिनका विशेष विवेचन क्रमश किया जा रहा है।

आर्त-रौद्र-द्वयं त्याज्यं, सर्वदा दुःख-दायकम्।
तेन विध्वस्यते ध्यानं, दुर्नयेनेव सन्नयः ॥१७८६॥

अर्थ - जैसे कुनयो से सुनय नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही अप्रशस्तध्यानो से धर्मध्यानादि प्रशस्त ध्यान नष्ट हो जाते हैं अत परीषह एव उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी क्षपक को दुख देने वाले आर्तध्यान और रौद्रध्यान इन दोनों को सर्वदा छोड़ देना चाहिए ॥१७८६॥

रौद्रं चतुर्विधं ध्यानं, ये चान्ते सन्ति केचन।
ते भेदा दूरतस्त्याज्या, विज्ञाय विधि-वेदिना ॥१७८७॥

अर्थ - आर्तध्यान और रौद्रध्यान के जो चार-चार भेद हैं उन्हे ध्यान की विधि एव उनके फल को जानने वाले सस्तरारूढ क्षपक को दूर से ही छोड़ देना चाहिए ॥१७८७॥

रौद्रध्यान के भेद

स्तेयासत्यवचो-रक्षा-षड्विधारम्भ-भेदतः।
कषाय-सहितं रौद्रं, ध्यानं ज्ञेयं समासतः ॥१७८८॥

अर्थ - कषाय सहित ध्यान को रौद्र ध्यान कहते हैं। रौद्र ध्यान का यह सक्षिप्त लक्षण है। चोरी का विचार, असत्यभाषण का चिन्तन, परिग्रह की रक्षा में तत्परता का भाव, षट्काय के जीवो के आरम्भ मे सलग्नता अर्थात् चौर्यानन्दी, मृषानन्दी, परिग्रहानन्दी एव हिंसानन्दी के भेद से रौद्र ध्यान चार प्रकार का है ॥१७८८॥

आर्तध्यान के भेद

प्रियायोगाप्रिय-प्राप्ति-परीषह-निदानतः।
कषाय-कलितं ध्यानमार्तं प्रोक्तं चतुर्विधम् ॥१७८९॥

अर्थ - प्रिय वस्तु के वियोग मे इष्टवियोगज, अप्रिय वस्तु के सयोग मे अनिष्टसयोगज, परीषह आने पर पीड़ाचिन्तन एव आगामी काल में भोगप्राप्ति की वाछाजन्य निदानबन्ध के भेद से आर्तध्यान भी चार प्रकार का है। यह आर्तध्यान भी कषायभावों से युक्त होता है ॥१७८९॥

रौद्रमार्तं त्रिधा त्यक्त्वा, सुगति-प्रतिबन्धकम्।
धर्म-शुक्ल-द्वये योगी, साम्यं कर्तुं प्रवर्तते ॥१७९०॥

अर्थ - उत्तम गतियो के प्रतिबन्धक इन आर्तध्यान एवं रौद्रध्यानों को मन, वचन एव काय से छोड़कर योगी अथवा क्षपक को समता भावो की स्थिरता के लिए धर्म-ध्यान एव शुक्ल ध्यानो में प्रवृत्त हो जाना चाहिए॥१७९०॥

प्रशस्त ध्यानों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा

ध्याने प्रवर्तते कांक्षन्-कषायाक्ष-निरोधनम्।
वश्यत्वं मनसो मार्गादभ्रंशं निर्जरा परम् ॥१७९१॥

अर्थ - कषायो और इन्द्रियो का प्रसार रोकने के लिए, चित्त को वश मे करने के लिए, रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए और अत्यधिक निर्जरा के लिए योगीजन धर्मध्यान एव शुक्लध्यान मे प्रवृत्त होते है॥१७९१॥

प्रश्न-किसका चित्त स्व-वश मे रह सकता है और प्रशास्तध्यान मे प्रवृत्त रहने को क्यो कहा गया है?

उत्तर - यहाँ कषाय और इन्द्रिय शब्दों से क्रोधादि कषायो मे एव स्पर्शादि इन्द्रियो के विषयो मे उपयोग की स्थिति है। जिसका चित्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप मे स्थिर रहता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियो के विषयो से उत्पन्न हुए उपयोग की ओर नहीं जाती और न उसमे कषायों की उत्पत्ति ही होती है तथा जो आत्महित रूप इष्ट विषय मे चित्त को बार-बार सलग्न करता है और विषय-कषायरूप अनिष्ट से चित्त को हटाता है उसका मन स्व-वश मे रहता है। क्षपक भी जानता है कि यदि मैं अशुभ ध्यान मे जुटा रहूँगा तो रत्नत्रय से च्युत हो जाऊँगा, अत वह शुभ ध्यान मे सलग्न रहने का सतत प्रयत्न करता है।

ध्यान का परिकर

एकाग्र-मानसश्चक्षुर्व्यावर्त्यं पर-वस्तुतः।
आत्मनि स्मृतिमाधाय, ध्यानं श्रयति मुक्तये ॥१७९२॥

अर्थ - पर वस्तु से दृष्टि हटाकर, मन को एकाग्र कर और अपनी आत्मा मे स्मृति अर्थात् बुद्धि को लगाकर मुनिजन मुक्तिप्राप्ति के लिए ध्यान का आश्रय लेते हैं॥१७९२॥

प्रश्न - ध्यान के इस परिकर को कैसे साधना चाहिए ?

उत्तर - जब तक दृष्टि इधर-उधर जाती रहती है तब-तक मन चचल ही रहता है, अत पर-वस्तुओ से हटा कर दृष्टि को नाक के अग्रभाग पर स्थिर करके, किसी एक परोक्ष वस्तुविषयक ज्ञान मे मन को जुटा कर श्रुतज्ञान से जाने हुए विषयो का स्मरण करते हुए आत्मा मे लीन हो जाना चाहिए, यही ध्यान ससार से छूटने का कारण है।

प्रत्याहृत्य मनोऽक्षाणि, विषयेभ्यो महाबलः।
प्रणिधानं विधत्तेऽसावात्मनि ध्यान-लालसः ॥१७९३॥

अर्थ - ध्यान के इच्छुक महाबलशाली मुनिजन मन एव इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा मे एकाग्र कर लेते हैं॥१७९३॥

मन को रोककर क्या करना चाहिए ?

ध्यायत्येकाग्र-चेतस्को, धर्म्यध्यानं चतुर्विधम्।
आज्ञापाय-विपाकानां, संस्थाया विषयं सुधीः॥१७९४॥

अर्थ - मन को रोक लेने वाले वे बुद्धिशाली मुनिराज एकाग्र चित्त से आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय एव सस्थानविचय नामक चार प्रकार के धर्म्यध्यानों का ध्यान करते हैं॥१७९४॥

प्रश्न - धर्मध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसमें स्वभावरूप अतिशयता विद्यमान होती है उसे वस्तु कहते हैं और जो वस्तु की वस्तुता को धारण करता है उसे धर्म कहते हैं अर्थात् धर्म शब्द वस्तु-स्वभाव का वाचक है। चैतन्यादि रूप स्वभाव की अतिशयता से ही जीवादि वस्तुएँ हैं। यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेष को कहते हैं अतः आज्ञा, अपाय, विपाक एव सस्थान आदि धर्म जिसमे ध्येयरूप होते है उसे धर्मध्यान कहते हैं।

प्रश्न - ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर - छह सहननो मे से आदि के तीन अर्थात् वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच एव नाराच ये तीन सहनन उत्तम कहे जाते हैं। इनमे से किसी एक सहनन वाले के एकाग्रचिन्ता-निरोध को ध्यान कहते हैं।

प्रश्न - चिन्तानिरोध का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - यहाँ चिन्ताशब्द चैतन्य का वाचक है। यह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थों को जानते हुए ज्ञान पर्यायरूप से वर्तन करता है अत वह परिस्पन्दन वाला है, इसका कुछ समय के लिए एक ही विषय मे प्रवृत्ति करना चिन्तानिरोध का अभिप्राय है।

प्रश्न - ध्येय किसे कहते है ?

उत्तर - ध्यान के अवलम्बनभूत पदार्थों को अथवा उनके विषयो को ध्येय कहते हैं। आत्मा, परमात्मा एव जिनेन्द्र देव के द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय है। ये नौ पदार्थ जीवाजीवात्मक हैं। फिर भी रागादि का निरोध करने मे निमित्त होते हैं। इस प्रकार ध्याता जिस-जिस वस्तु मे अपना मन एकाग्र करता है वह-वह वस्तु ध्यान का अवलम्बन होने से ध्येय बन जाती है तथा रागादि के अभाव मे वही ध्येय कर्मक्षय का निमित्त बन जाते हैं।

प्रश्न - धर्मध्यान कितने प्रकार का है और उनके लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - ध्येय के भेद से धर्मध्यान चार प्रकार का होता है। आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय एव सस्थान विचय। **आज्ञा विचय** - राग-द्वेषादि अठारह दोषों से रहित होने के कारण जिनेन्द्र ''अन्यथा वादी नहीं होते'' ऐसी दृढ़ श्रद्धापूर्वक आज्ञा के बल से प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणागम के विषयभूत पदार्थों का अर्थात् पचास्तिकाय, छह जीव निकाय तथा कालद्रव्यादि आज्ञा-ग्राह्य अन्य-अन्य पदार्थों का ध्यान करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

प्रश्न - जिनेन्द्राज्ञा का अवलम्बन क्यों लेना पड़ता है ?

उत्तर - बुद्धि की दुर्बलता होने से, अध्यात्म विद्या के ज्ञाता आचार्यों का विरह होने से, ज्ञेय पदार्थों की गहनता होने से, ज्ञानावरण कर्म की तीव्रता होने से और स्वयं को तो ज्ञान है किन्तु सिद्धान्त प्रतिपादित पदार्थ एव तत्त्व दूसरों को समझाने में हेतुभूत युक्तियों, हेतुओं एव उदाहरणों की प्राप्ति सम्भव न हो पाने से ''सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम मे जो तत्त्व जैसे कहे गये हैं, वैसे ही हैं अन्यरूप नहीं हैं'' इस प्रकार की आज्ञा ही अवलम्बनीय होती है।

प्रश्न - जिनेन्द्राज्ञा में ऐसी क्या प्रकर्षता है जो कर्मनिर्जरा एव कर्मक्षय तक का निमित्त बन जाती है?

उत्तर - भगवान् जिनेन्द्र की आज्ञा जगत् के लिए प्रदीप स्वरूप है, सुनिपुण है, अनादिनिधन है, जग-हितकारी है, अमूल्य है, अमित है, अजित है, महान् अर्थ से परिपूर्ण है, महानुभाव है, महान् विषयवाली है, निरवद्य है, अनिपुण एव अज्ञों के लिए दुर्ज्ञेय है तथा नय-भगो से प्रमाणागम से गहन है। ऐसी जिनेन्द्राज्ञा जगत् के जीवों द्वारा सेवित है। **अपाय विचय**- मार्ग दिखाई न देने से जैसे जन्मान्ध मनुष्य सन्मार्ग से दूर रहते हैं, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञप्रणीत मोक्षमार्ग से विमुख हो रहे हैं। ये बेचारे तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ पा रहे हैं। इन अज्ञानी प्राणियो का यह मिथ्यात्व एव अज्ञान कैसे दूर हो, इत्यादि प्रकार से विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। **विपाक विचय** - ज्ञानावरणादि कर्मों की बध, उदय, सत्त्व एव सक्रमण आदि अवस्थाओ का, उनके उदयागत फलो का एव किस द्रव्य-क्षेत्रादि से कौनसा कर्म फल देने के सम्मुख होता है, इन विषयो का चिन्तन करना विपाक विचय धर्मध्यान है। **संस्थान विचय** - तीन लोक का स्वभाव, आकार, स्वर्ग, नरक आदि की अवस्थिति एव इन सब के प्रमाणादि का चिन्तन करना सस्थानविचय धर्मध्यान है।

धर्मध्यानी एवं धर्मध्यान के लक्षण (चिह्न)

मार्दवार्जव-नैःसङ्ग्य-हेयोपादेय-पाटवम्।
ज्ञेयं प्रवर्तमानस्य, धर्मध्यानस्य लक्षणम्॥१७९५॥

अर्थ - मार्दव, आर्जव, नि सगपना और हेयोपादेय तत्त्व को समझने-समझाने की पटुता, ये सब धर्मध्यानी के तथा धर्मध्यान के लक्षण हैं॥१७९५॥

प्रश्न - मार्दवार्जवादि गुणो के क्या लक्षण हैं? और इन गुणों का धर्मध्यान से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर - जाति, कुलादि का अभिमान नहीं करना मार्दव गुण है। एक धागे के दोनों छोर पकड़ कर खींचने से जैसे उसमे सरलता प्राप्त हो जाती है, कुटिलता नहीं रहती, वैसे ही कुटिलता नहीं रहने अथवा परिणामों की सरलता को आर्जव कहते है। परिग्रह मे अनासक्ति, निर्लोभता एव लघुता को नि.सगत्वगुण कहते हैं और जिनमत के विवेचन द्वारा आस्रवादि हेय तत्त्व और आत्मा, सवर-निर्जरादि उपादेय तत्त्वो को समझाने में या स्वय समझने में प्रवीण होना धर्मध्यान के लक्षण या चिह्न हैं। जिसमें ये गुण होते हैं उसे धर्मध्यानी कहते हैं। अथवा मार्दवादि गुणो से युक्त जीवो के ही धर्मध्यान सम्भव है। मार्दवादि गुण कारण हैं और धर्मध्यान लक्ष्य है, अत. मार्दवादि गुणो में और धर्मध्यान मे कार्य-कारण भाव या लक्ष्य-लक्षणभाव है।

धर्मध्यान के अवलम्बन

वाचना-पृच्छनाम्नायानुप्रेक्षा-धर्मदेशनाः।
भवत्यालम्बनं साधोर्धर्मध्यानं चिकीर्षतः ॥१७९६॥

अर्थ - धर्मध्यान के इच्छुक साधु को वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा एव धर्मोपदेश ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय अवलम्बनभूत हैं अर्थात् इन स्वाध्यायरूप तपों के माध्यम से ही धर्मध्यान की सिद्धि सम्भव है॥१७९६॥

प्रश्न - वाचनादि स्वाध्याय के क्या लक्षण हैं तथा ये धर्मध्यान की सिद्धि में किस प्रकार सहायक होते हैं ?

उत्तर - सर्वज्ञप्रणीत एव ससारभीरु दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित शास्त्रो का स्वाध्याय करना **वाचना** है। आगमकथित विषय में शका उत्पन्न हो जाने पर अथवा ज्ञात तत्त्व की श्रद्धा दृढ करने हेतु प्रश्नात्मक चर्चा करना **पृच्छना** है। गाथा, श्लोक एव सूत्रादि कण्ठस्थ करने हेतु पुन पुन घोष करना **आम्नाय** है, वस्तु के अनित्यादि स्वभाव का चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा** है। सब अनुप्रेक्षाएँ एक समय में एकाश्रयरूप से रह सकती हैं अत. ये भी धर्मध्यान के अनुकूल हैं। धर्मध्यान में अन्तर्भूत होने से अनुप्रेक्षा शब्द यहाँ बीज स्वरूप है। आगे इसका विस्तृत विवेचन आचार्य स्वय करेगे। भव्य जीवो को हित का अर्थात् धर्म का उपदेश देना **धर्मोपदेश** नामक स्वाध्याय तप है।

जब तक वाचना एव पृच्छनादि रूप स्वाध्याय नहीं किया जावेगा तब तक धर्मध्यान की ध्येयरूप वस्तुओं का अर्थात् पचास्तिकाय, छह द्रव्य एव षट्काय जीवसमूह का ज्ञान या निर्णय नहीं हो सकता और निर्णय बिना, ध्येय वस्तु पर मन की एकाग्रता रूप ध्यान नहीं हो सकता अत वाचनादि स्वाध्याय को धर्मध्यान का अवलम्बन कहा है।

आज्ञा-विचय धर्मध्यान का स्वरूप

पञ्चास्तिकाय-षट्काय-काल-द्रव्याणि यत्नतः।
आज्ञा-ग्राह्याणि दक्षेण, विचार्याणि जिनाज्ञया ॥१७९७॥

अर्थ - जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एव आकाशास्तिकाय, इन पाँच अस्तिकाय द्रव्यों को, पाँच स्थावर काय और त्रसकाय इन छह जीव निकायो को, काल द्रव्य को, तथा अन्य कर्म-बन्ध, उदय तथा उसके फलभेदो को, अन्य और भी अतीन्द्रिय पदार्थों को जिनाज्ञानुसार जो दक्ष पुरुष अपने चिन्तन का विषय बनाते हैं उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं॥१७९७॥

प्रश्न - अस्तिकाय किसे कहते हैं और यहाँ सात तत्त्व ग्रहण क्यो नहीं किये गये हैं ?

उत्तर - अस्तिकाय में 'अस्ति' शब्द का अर्थ है विद्यमान अर्थात् 'है', और 'काय' शब्द का अर्थ है बहुत अर्थात् जो द्रव्य बहुतप्रदेशी हैं, उन्हे अस्तिकाय कहते हैं। एक जीव द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य और लोकाकाश ये असंख्यात प्रदेशी हैं, पुद्गलो मे कोई सख्यात प्रदेशी, कोई असख्यात प्रदेशी और कोई अनन्त

प्रदेशी भी होते हैं तथा आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी है। काल, द्रव्य तो है किन्तु बहुत प्रदेशी नहीं है। कालद्रव्य असख्यात हैं किन्तु प्रत्येक कालाणु एक-एक प्रदेश वाला ही है। इस प्रकार द्रव्य छह हैं।

जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमे से जीव तत्त्व, जीव द्रव्य में और अजीव तत्त्व पुद्गलादि पाँच अजीव द्रव्यों मे अन्तर्निहित हो जाता है। जीव एव अजीव के संयोग-वियोग से निर्मित शेष बन्धादि तत्त्व भी जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य में ही अन्तर्लीन हो जाते हैं अत: भिन्न रूप से नहीं कहे गये हैं।

अपाय विचय धर्मध्यान का लक्षण

कल्याण-प्रापकोपायश्चिन्तनीयो जिनागमे।
शुभाशुभ-विकल्पानामपाय: कर्मणां परम्॥१७९८॥

अर्थ - जिनागम मे कल्याण अर्थात् सुखप्राप्ति के जो उपाय दर्शाये गये है, उनका चिन्तन करना, अथवा शुभ-अशुभ कर्मों का अभाव कैसे हो या इनसे कैसे छूटें, ऐसा चिन्तन करना, अपाय विचय धर्मध्यान है॥१७९८॥

प्रश्न - कल्याण का क्या अर्थ है और वह कितने प्रकार का होता है तथा शुभाशुभ कर्मों के अपाय का चिन्तन करने से क्या लाभ है?

उत्तर - कल्याण का अर्थ है सुख। नि श्रेयस् एव अभ्युदय के भेद से यह सुख दो प्रकार का है। मोक्षसुख को नि श्रेयस् और देव-मनुष्यों के सुख को अभ्युदय सुख कहते हैं। शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध इष्टानिष्ट कल्पना से होता है। यही कल्पना रागद्वेष की जनक है और रागद्वेष ससार-परिभ्रमण का मूल कारण है, इनसे एव मिथ्यात्व, असयमादि से छूटने का तथा तीर्थंकर पद देने वाली दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओ का, सम्यक्त्व पुष्ट करने वाले नि शकित आदि अगो का और नि श्रेयस् सुख के कारणभूत रत्नत्रय की प्राप्ति के उपायो का चिंतन करना अपायविचय धर्मध्यान है। इस ध्यान से आत्मा सुखस्थानो को प्राप्त हो जाता है।

विपाकविचय धर्मध्यान का लक्षण

एकानेक-भवोपात्त-पुण्य-पापात्म-कर्मणाम्।
उदयोदीरणादीनि चिन्तनीयानि धीमताम्॥१७९९॥

अर्थ - बुद्धिमानो को जीवो के एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म एव पापकर्म के फल, उदय, उदीरणा, सक्रमण, बन्ध एव सत्त्व आदि का विचार करना चाहिए। ऐसा चिन्तन ही विपाकविचय धर्मध्यान कहा जाता है॥१७९९॥

प्रश्न - पुण्य-पाप कर्म के एव उदय-उदीरणादि के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - जिन कर्मों के उदय से देवगति आदि के सुख प्राप्त होते हैं उन्हें पुण्यकर्म और जिन कर्मों के उदय से नरकादि गतियो के दुख प्राप्त होते हैं उन्हे पापकर्म कहते हैं। इन कर्मों की दस अवस्थाएँ होती हैं। यथा- बन्ध, सत्त्व, उदय, उदीरणा, सक्रमण, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, निधत्ति और निकाचित।

बन्ध - द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भावों के आश्रय से कार्मण वर्गणारूप विस्रसोपचयों का दूध-पानी सदृश आत्मप्रदेशों से मिल जाना बध है।

सत्त्व - कर्मबन्ध से उदय आने के पूर्व समय पर्यन्त कर्मों का आत्मा के साथ स्थित रहना सत्त्व है।

उदय - द्रव्य-क्षेत्रादि के आश्रय से योग्य काल में क्रम से कर्मों का अनुभवन होना अथवा फल देना उदय है।

उदीरणा - असमय में अक्रम से कर्मों का फल देना उदीरणा है। अथवा जो कर्म उदय में नहीं आ रहा है, उसकी स्थिति को बलपूर्वक घटाकर कर्म को उदय में लाना उदीरणा है।

संक्रमण - एक कर्मप्रकृति का अपनी सजातीय अन्य प्रकृतिरूप बदलना सक्रमण है।

उपशम - कारणविशेष से कर्म की उदीरणा न हो सकना, उन्हे कुछ समय तक दबा कर रखना उपशम है।

अपकर्षण - कर्मों की स्थिति को घटा देना अपकर्षण है।

उत्कर्षण - कर्मों की स्थिति मे वृद्धि हो जाना उत्कर्षण है।

निधत्ति - जिन कर्मों मे उदीरणा और सक्रमण न हो सके वह कर्म निधत्ति है।

निकाचित - जिस कर्मप्रकृति में उदीरणा, सक्रमण, अपकर्षण एव उत्कर्षण ये चारो न हो सकें वह कर्मप्रकृति निकाचित है।

इस प्रकार कर्मों की नाना अवस्था विशेषो का चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

सस्थान विचय धर्मध्यान का लक्षण

ऊर्ध्वाध: सत्रिलोकस्था, द्रव्य-पर्याय-संस्थिती:।
विचिन्तयत्यनुप्रेक्षास्तत्रैवानुगतो यति: ॥१८०० ॥

अर्थ - द्रव्य-पर्यायो से खचित तथा क्रमश वेत्रासन, झल्लरी एव मृदग सदृश अधोलोक, मध्यलोक एव ऊर्ध्वलोक का चिन्तन करना सस्थान विचय धर्मध्यान है। इस ध्यान मे स्थित मुनिजन बारह भावनाओ का भी चिन्तन करते हैं। अर्थात् बारह-भावनाओं का चिन्तन करना भी सस्थान विचय धर्मध्यान है ॥१८०० ॥

बारह भावनाओं के नाम

अध्रुवाशरणैकान्य-जन्म-लोक-विसूचिका:।
आस्रव: संवरश्चिन्त्यो, निर्जरा-धर्म-बोधय: ॥१८०१ ॥

अर्थ - अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, लोक, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म एव बोधि इन बारह भावनाओ का भी चिन्तन करना चाहिए ॥१८०१ ॥

अनित्य भावना का विस्तृत विवेचन

डिण्डीर-पिण्ड-वल्लोक:, सकलोऽपि विलीयते।
समस्ता:सम्पदश्चात्र, स्वप्न-भूति-समागमा: ॥१८०२॥

अर्थ - यह सम्पूर्ण लोक डिडीरपिंड अर्थात् समुद्र के झाग सदृश नष्टस्वभावी है एव धन-वैभवरूप समस्त सम्पदाएँ स्वप्न मे प्राप्त सम्पदाओ के सदृश क्षणभगुर हैं॥१८०२॥

प्रश्न - सर्व सम्पदाएँ लोक मे अन्तर्निहित हैं अत लोक की अनित्यता से ही सर्व सम्पदाओं की अनित्यता सिद्ध हो जाती है फिर यहाँ उन्हे अलग से विनाशीक कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - समुदाय, अवयवात्मक ही होता है, अत अवयवो की अनित्यता के बिना समुदाय की अनित्यता का ज्ञान सुखपूर्वक नहीं हो पाता, इसलिए उन्हें अलग कहा गया है।

दृष्ट-नष्टानि सौख्यानि, स्फुरितानीव विद्युताम्।
बुद्बुदा इव नि:शेषा, नश्वरा: सन्ति गोचरा: ॥१८०३॥

अर्थ - इन्द्रियजन्य सर्व इष्ट सुख विद्युत् प्रकाश सदृश नष्ट होने वाले हैं और प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले स्थान एव उच्च पद आदि भी जल के बुलबुले के समान नश्वर हैं॥१८०३॥

प्रश्न - यहाँ इन्द्रियसुख, स्थान एव पद आदि को विनाशी कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - आत्मा नि सगस्वभावी है और अपने आत्मोत्थ सुख से लबालब परिपूर्ण अर्थात् भरा है, किन्तु इस अपने सहज सुख स्वभाव की श्रद्धा से रहित मिथ्यादृष्टिजीव अनादिकाल से इन्द्रियसुख के लम्पटी है। इन्द्रियसुख बाह्य सामग्री अर्थात् द्रव्य के एव इन्द्रियो के अधीन है। इनमे भी इन्द्रिय सुखो का मूल 'द्रव्य' है। यही कारण है कि कभी-कभी यह प्राणी द्रव्यप्राप्ति की अभिलाषा मे अथवा इन्द्रिय सुख की आसक्ति मे अपने प्राणो की भी बाजी लगा देता है तथा सुख-लम्पटी मनुष्य सैकडो वज्रपातो के पतन से होने वाले कष्टों को सहन करता है। इन क्षणभगुर सुखो से एव इस सुख के मूल धनादि रूप द्रव्यो से विमुख होने के उपाय दर्शाने हेतु आचार्यदेव ने इन्द्रियसुखो को विद्युत् प्रकाश सदृश क्षणक्षयी एव द्रव्यों को सर्वथा अनित्य कहा है।

जीव के आश्रयभूत राष्ट्र, देश, नगर, ग्राम एव गृह/भवनादि को स्थान कहते हैं, तथा इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, राष्ट्रपति पद, मत्री पद इत्यादि पद हैं। "यह मेरा स्थान है क्योकि मैं यहाँ रहता हूँ" और मैं चक्रवर्ती हूँ, नारायण हूँ, मत्री हूँ, वकील हूँ, डॉक्टर हूँ, सरपच हूँ, प्रधान हूँ, पुरुष हूँ अथवा पति हूँ, इस प्रकार के सकल्पो द्वारा इन स्थानो को और पदो को नित्य मानकर अभिमानादि करता है, किन्तु अनित्य स्वभावी होने से जब ये नष्ट हो जाते हैं तब अत्यन्त सक्लेशित होकर दुष्ट कर्मो का बन्ध करता है अत आचार्य इन्हें जल के बुलबुले सदृश अध्रुव कहकर सन्मार्ग दर्शन करा रहे है।

नानादेशागता: पान्था, नौगता इव बान्धवा:।
गत्वरा आश्रया: सर्वे, शारदा इव नीरदा: ॥१८०४॥

अर्थ - नदी से पार होने के लिए नाना देशो से आकर एक नाव में बैठने वाले पथिक जनों के समान

जीव के आश्रयभूत पिता, पति, पुत्र अथवा स्वामी, नौकर, सेवकादि सभी बान्धव एवं आश्रित जन शरद् ऋतु के मेघ सदृश अस्थिर अर्थात् नश्वर हैं॥१८०४॥

प्रश्न - बन्धुजनों को एवं आश्रयभूत स्वामी आदि को अनित्य कहने का क्या कारण है ?

उत्तर - जैसे नाव में बैठे हुए सब पथिक सदा, एक साथ, नाव में बैठे नहीं रह सकते, वैसे ही एक परिवार में रहने वाले पिता-पुत्र, स्त्री आदि एव स्वामी-सेवकादि सब शुभाशुभ परिणामों से बाँधे गये आयु कर्म के वशवर्ती हो देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति एव नरकगति रूप पर्याय ग्रहण करने के लिए यथास्थान चले जाते हैं और वहाँ की आयु पूर्ण होते पुन· अन्यगति में चले जाते हैं, इसी कारण बन्धुतादि को अनित्य कहा गया है।

छायानामिव पान्थानां, संवासो नश्वरोऽङ्गिनाम्।
चक्षुषामिव रागोऽत्र, न स्नेहो जायते स्थिरः ॥१८०५॥

अर्थ - जैसे मार्ग में चलते हुए पथिक का मार्ग-स्थित वृक्षों की छाया से किंचित् ही संयोग होता है, वैसे परिवारजनों से अल्पकालीन सयोग ही हो पाता है। अथवा जैसे प्रणय अर्थात् प्रेम-कलहादि से कुपित मनुष्यों के नेत्र किंचित् काल तक ही लालिमायुक्त दिखाई देते हैं वैसे ही प्रियजनों का स्नेह अल्पकाल तक ही रहता है, स्थिर नहीं रहता इसलिए उसे अनित्य कहा जा रहा है॥१८०५॥

संयोगो देहिनां वृक्षे, शर्वर्यामिव पक्षिणाम्।
आज्ञैश्वर्यादयो भावाः, परिवेषा इव स्थिराः ॥१८०६॥

अर्थ - जैसे जिस किसी वृक्ष पर पक्षियों का पारस्परिक सयोग रात्रि मे होता है और प्रातः समाप्त हो जाता है, वैसे ही परिवार जनों का सम्बन्ध अस्थिर है, तथा जैसे सूर्य या चन्द्र पर होने वाला परिवेश क्षणिक है, वैसे ही आज्ञा, ऐश्वर्य, आरोग्य, धन-वैभव एव प्रभुतादि भी क्षणिक हैं, अनित्य हैं॥१८०६॥

जीवानामक्ष-सामग्री, शंपेवास्ति चला चलम्।
विनश्वरमशेषाणां, मध्याह्न इव यौवनम् ॥१८०७॥

अर्थ - जीवों की इन्द्रियो की भोगसामग्री भी विद्युत्वत् चचल है। अर्थात् कभी इन्द्रियाँ यथावत् रहती हैं किन्तु पापोदय से भोगसामग्री नष्ट हो जाती है अथवा कभी नेत्रादि इन्द्रियाँ कमजोर अथवा नष्ट हो जाती हैं तथा मनुष्यों का यौवन भी मध्याह्नकाल के समान विनश्वर है॥१८०७॥

चन्द्रमा वर्धते क्षीण, ऋतुरेति पुनर्गतः।
नदीजलमिवातीतं, भूयो नायाति यौवनम् ॥१८०८॥

अर्थ - जैसे चन्द्रमा की कलाएँ क्षीण होकर पुन वृद्धिंगत हो जाती हैं, हेमन्त, शिशिर एव वसन्तादि ऋतुएँ भी जाकर पुन. लौट आती हैं वैसे हमारा प्यारा यौवन एक बार व्यतीत हो जाने पर उसी भवन में उसी प्रकार पुन. लौट कर नहीं आता जैसे नदीप्रवाह में गया हुआ जल फिर वापिस नहीं आता॥१८०८॥

धावते देहिनामायुरापगानामिवोदकम्।
क्षिप्रं पलायते रूपं, जलरूपमिवाङ्गिनाम् ॥१८०९॥

अर्थ - लोक में सब जीवो की आयु नदी के प्रवाह सदृश दौड़ रही है और शारीरिक रूप-लावण्य जल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब सदृश शीघ्र ही पलायमान हो जाता है॥१८०९॥

पौर्वाह्निकी यथा छाया, हीयते सुकुमारता।
पराह्निकी यथा छाया, सर्वदा वर्धते जरा॥१८१०॥

अर्थ - जैसे प्रात काल जैसे-जैसे सूर्य ऊपर आता जाता है वैसे ही शरीर या वृक्ष आदि की छाया घटती जाती है, वैसे ही ज्यो-ज्यो आयु बढ़ती है त्यो-त्यो शरीर की सुकुमारता आदि घटती जाती है। इसी प्रकार अपराह्नकाल मे जैसे छाया क्रमश बढती जाती है, वैसे ही ज्यों-ज्यो आयु अवसान की ओर बढ़ती है त्यों-त्यो एक बार प्रारम्भ हो जाने के बाद बुढापा बढता जाता है॥१८१०॥

प्रश्न - यदि दिन-प्रतिदिन वृद्धावस्था बढती है तो क्या हानि है ?

उत्तर - बढती हुई वृद्धावस्था मनुष्य की सुन्दरता, सुभगता, तारुण्य, शारीरिक शक्ति, ज्ञान एव तप को क्षीण करती जाती है। इतना ही नहीं, यह वृद्धावस्था दीनता की माता है, तिरस्कार की धाय है, मृत्यु की दूती है और भय की प्रिय सखी है। अर्थात् सब प्रकार की हानियों की मूल जड़ वृद्धावस्था ही है।

तेजो नश्यति जीवाना, निलिंप-धनुषामिव।
उत्क्लेश-नश्वरी बुद्धिर्दृष्ट-नष्टा प्रजायते॥१८११॥

अर्थ - जीवो के शरीर की कान्ति या तेज इन्द्रधनुष के सदृश नष्ट हो जाता है। जो बुद्धि वस्तुओ के यथार्थ स्वरूप को दर्शाने वाली है, नाना प्रकार के दुखो की खानरूपी कुगति को रोकने वाली है, चारित्र रूपी निधि को दिखाने के लिए दीपक के सदृश है एव मुक्तिरूपी वनिता की सखी है, वह भी देखते-देखते नष्ट हो जाती है॥१८११॥

बलं पलायते रूपमिव रथ्यागतं रजः।
जलानामिव कल्लोलो, वीर्यं नश्वरमङ्गिनाम्॥१८१२॥

अर्थ - (जीवो के शरीर की दृढ़ता को बल और उनके आत्मपरिणाम की दृढता को वीर्य कहते हैं।) जैसे मार्ग में धूल से रचा गया कोई आकार शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, वैसे जीवो का बल शीघ्र ही पलायमान हो जाता है और उनका वीर्य भी प्रचण्ड वायु के अभिघात से उठने वाली समुद्र की लहरों के सदृश नश्वर है॥१८१२॥

हिमपुञ्जा इवानित्या, भवन्ति स्व-जनादयः।
जन्तूनां गत्वरी कीर्तिः, सन्ध्या-श्रीरिव सर्वथा॥१८१३॥

अर्थ - स्वजन स्त्री-पुत्रादि एव भवन, विभूति, शय्या एव आसन आदि बर्फ के समूह के सदृश अध्रुव हैं और यश या कीर्ति भी आकाश में सुशोभित होने वाली सन्ध्या की लालिमा सदृश अनित्य है॥१८१३॥

इदं जगच्छारद-वारिदोपमं, न जानते नश्वरमङ्गिनः कथम्।
यमेन हन्तुं सकलाः पुरस्कृता, मृगाधिपेनेव मृगा बलीयसा॥१८१४॥

इति अनित्यः।

अर्थ - यह जगत् शरद ऋतु के मेघ सदृश नश्वर है। अहो ! ये प्राणिगण इस सत्य को क्यों नहीं जानते? जैसे बलशाली सिंह द्वारा हरिण केवल मारने के लिए पकड़े जाते हैं, वैसे ही संसारी-प्राणियों को मारने के लिए ही यमराज सामने आ रहा है। अर्थात् सभी के सामने मृत्यु मँडरा रही है॥१८१४॥

इस प्रकार अनित्य अनुप्रेक्षा पूर्ण हुई ॥१॥

अशरण अनुप्रेक्षा

कर्मोदये मतिर्याति, नोपायो विद्यतेऽङ्गिनाम्।
सुधा विषं तृणं शस्त्रं, बन्धुः शत्रुश्च जायते॥१८१५॥

अस्ति कर्मोदये बुद्धिरुपायमवलोकते।
विपक्षो जायते बन्धुः, शस्त्रं पुष्पं विषं सुधा॥१८१६॥

अर्थ - इस ससार में जीवो के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की हीनता अज्ञता लाती है जिससे हेय-उपादेय तत्त्व का विचार करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, उस अज्ञता का निवारण करने में शरणभूत कोई उपाय नहीं रहता। असातावेदनीय कर्मोदय से अमृत विष सदृश मारक, तृण शस्त्र सदृश घातक और बन्धुजन शत्रु सदृश बन जाते हैं। इससे विपरीत जब पुण्योदय आता है तब सम्पूर्ण पदार्थों को जानने में एव हेय-उपादेय को समझने मे समर्थ बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, दु ख एव कष्टादि को दूर करने का उपाय समझ में आ जाता है, मोक्षप्राप्ति के उपाय दृष्टिगोचर होने लगते हैं एव सातावेदनीय के उदय मे शत्रु बन्धु बन जाता है, शस्त्रप्रहार पुष्पहार और विष अमृत बन जाता है॥१८१५-१८१६॥

प्रश्न - बुद्धि कैसे उत्पन्न होती है और वह कितने प्रकार की है ?

उत्तर - मनुष्यो को मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से बुद्धि उत्पन्न होती है। स्वाभाविक एव आगमोत्पन्न के भेद से बुद्धि दो प्रकार की होती है। जिसके पास स्वाभाविक बुद्धि तो है किन्तु यदि उसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नहीं की है तो वह हितकारी धर्म को उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकता जिस प्रकार दृष्टिसम्पन्न पुरुष रूपादि को देखते हुए भी भाषा बिना उसे कह नहीं सकता। जिसके पास गुरुप्रदत्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझने की स्वाभाविक निजी बुद्धि नहीं है वह भी श्रुत का फल उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर पाता, जिस प्रकार अन्धा पुरुष अपने हाथ में स्थित दीपक का फल प्राप्त नहीं कर पाता। जिसके नेत्र बन्द हैं उसे दर्पण से क्या लाभ ? जो न दान देता है और न भोगता है उसे धन से क्या लाभ ? इसी प्रकार मन्दबुद्धि पुरुष को शास्त्र से क्या लाभ ? जिस महापुरुष के पास स्वाभाविक और आगमिक ये दोनों बुद्धियाँ होती हैं वही अपने इष्ट आत्महित को प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न - जिस कर्मोदय से बुद्धि नष्ट हो जाती है, उस ज्ञानावरण कर्म का बन्ध किस-किस कारण से होता है ?

उत्तर - ज्ञानी, ज्ञान एव ज्ञान के उपकरणो के प्रति द्वेष भाव रखने से, ज्ञान एव ज्ञान के साधनों को छिपाने से, प्रशसनीय ज्ञान में दूषण लगाने से, ईर्षावश किसी को ज्ञानदान न देने से, किसी के ज्ञान में बाधा डालने से

एवं प्रशस्त ज्ञान की प्रशंसा न करने से जीव ज्ञानावरण कर्म का बन्ध करते हैं तथा विद्यमान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेद वाला मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ज्ञानादि का निग्रह करने से, अकाल में स्वाध्याय करने से, दूसरों की इन्द्रियों का घात करने से एव अपनी इन्द्रियों की विशिष्टता का अभिमान करने से नष्ट हो जाता है।

प्रश्न - जीव ज्ञानावरण कर्म के उदय का और क्या-क्या फल भोगता है ?

उत्तर - जो पहले ज्ञानावरण कर्म का नीच कर्मबन्ध कर चुका है वह सम्यक्रूप से पदार्थ को अवग्रहित करने मे, ईहित करने मे, अवाय-रूप से निर्णय करने मे एव जाने हुए को धारण करने में असमर्थ रहता है अर्थात् उसे पदार्थों का अवग्रह, ईहा, अवाय एव धारणाजन्य ज्ञान नहीं हो पाता। ज्ञानावरण कर्मरूपी महामेघ से ढका हुआ वह जीव एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय एव असज्ञी पचेन्द्रिय पर्यायों को प्राप्त कर चिरकाल तक दुख भोगता है। सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य ज्ञानावरण कर्म के विशेष उदय की वशवर्तिता के कारण न हित को देखता है, न जानता है, न हित को जानने की इच्छा ही करता है, न पात्र को विधिपूर्वक दान देता है और न जिनेन्द्र की पूजनादिरूप षट्कर्म करता है। इस प्रकार वह पशु सदृश जीवन व्यतीत करता है। बुद्धिमात्र से प्राप्त करने योग्य अपने समीपवर्ती कल्याण को भी जब वह नहीं जान पाता तब सुदूरवर्ती एव शास्त्रो द्वारा जानने योग्य परलोक सम्बन्धी हित को कैसे जान सकता है ? ऐसे मनुष्यो का यह अज्ञानभाव महा भयकर अधकारमय गुफा के भीतर प्रवेश करने से, निरन्तर अगाधजल मे डूबे रहने से और चिरकाल तक जेलखाने में पड़े रहने से भी अधिक कष्टदायी होता है।

श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है किन्तु बुद्धिहीन मनुष्य साधन-सामग्री होते हुए भी उस हितकारी ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकता।

अर्थः पापोदये पुंसो, हस्त-प्राप्तोऽपि नश्यति।
दूरतो हस्तमायाति, पुण्य-कर्मोदये सति ॥१८१७॥

अर्थ - जीव के जब पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्म का उदय आता है तब उसके हाथ में आया हुआ भी धन नष्ट हो जाता है और पुण्य-कर्म का अर्थात् लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर देशान्तर आदि मे बहुत दूर भी स्थित धनादि वैभव बिना प्रयत्न किये हाथ मे आ जाता है॥१८१७॥

नरः पापोदये दोषं, यतमानोऽपि गच्छति।
गुण पुण्योदये श्रेष्ठं, यत्न-हीनोऽपि तत्त्वतः ॥१८१८॥

अर्थ - पाप अर्थात् अयश कीर्ति नाम कर्म के उदय से सम्यक् प्रयत्न करने वाला भी मनुष्य दोषी सिद्ध हो जाता है और पुण्य अर्थात् यश कीर्ति नामकर्म के उदय मे बिना प्रयत्न किये ही अथवा अयोग्य कार्य करते हुए भी यश एव कीर्ति को प्राप्त हो जाता है॥१८१८॥

पुण्योदये परां कीर्तिं, लभते गुण-वर्जितः।
पापोदयेऽश्नुते गुर्वीमकीर्तिं गुणवानपि ॥१८१९॥

अर्थ - गुणरहित भी कोई मनुष्य पुण्य कर्मोदय मे यश को प्राप्त हो जाता है और पाप के उदय में गुणवान् भी अत्यधिक अपयश को प्राप्त हो जाता है॥१८१९॥

जन्म-मृत्यु-जरातंके, दुःख-शोक-भयादिके।
दीयमाने विपक्षेण, निरुपक्रम-कर्मणा ॥१८२०॥

न कोऽपि विद्यते त्राणं, देहिनो भुवनत्रये।
न प्रविष्टोऽपि पातालं, मुच्यते कर्मणा जनः ॥१८२१॥

अर्थ - जिसका कोई प्रतिकार नहीं है ऐसे निधत्ति आदि विपक्षी सदृश कर्म का उदय आने पर जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग, शोक, दुख एवं भयादि दुख भोगने ही पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में तीनों लोकों के अन्तर्गत इस जीव का कोई भी रक्षक नहीं होता जिसकी वह शरण ग्रहण करे। स्वोपार्जित कर्मोदय में पाताल में प्रविष्ट कर जाने पर भी उन कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता ॥१८२०-१८२१॥

नग-दुर्गे क्षितौ शैले, लोकान्ते काननेऽम्बुधौ।
गतोऽपि कर्मणा जीवो, नोदीर्णेन विमुच्यते ॥१८२२॥

अर्थ - पहाड़ की गुफा, दुर्ग, भूमि, शिला, वन, समुद्र, यहाँ तक कि लोक के अन्त पर्यन्त चले जाने पर भी जीव, उदीरणा को प्राप्त हुए कर्म से नहीं छोड़ा जाता अर्थात् इन स्थानों पर भी कर्म अपना फल अवश्य देता है ॥१८२२॥

द्वि-चतुर्बहु-पादा ये, ते गच्छन्ति महीतले।
जले मीनाः खगा व्योम्नि, कर्म सर्वत्र सर्वदा ॥१८२३॥

अर्थ - दो पाये अर्थात् स्त्री-पुरुष आदि, चौपाये अर्थात् गाय, घोडा, बैल एव सिंह आदि पशु एवं अनेक पैर वाले सर्प आदि तो भूमि पर ही आते-जाते हैं, मगरमच्छ एव मछली आदि जल में जाते-आते हैं और पक्षी आकाश तक जाते हैं किन्तु यह कर्म तो सर्वत्र पहुँचता है अर्थात् इसकी गति अबाधरूप से सर्वत्र है ॥१८२३॥

अगम्या विषयाः सन्ति, रवि-चन्द्रानिलामरैः।
प्रदेशो विद्यते कोऽपि, नागम्यः कर्मणा पुनः ॥१८२४॥

अर्थ - इस जगत् मे कुछ ऐसे प्रदेश भी हैं जो सूर्य, चन्द्र, पवन एव देवों द्वारा भी अगम्य हैं अर्थात् वहाँ ये सूर्यादि नहीं जा सकते, किन्तु कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ कर्म की गति न हो ॥१८२४॥

न योधा रथ-हस्ताश्वा, विद्या-मन्त्रौषधादयः।
सामादयोऽपि चोपायाः, पान्ति कर्मोदयेऽङ्गिनाम् ॥१८२५॥

अर्थ - कर्म सर्वाधिक बलवान है। इसका उदय होने पर योधा, रथ, हाथी, घोड़ा, विद्या, मन्त्र, औषधि आदि एवं साम, दाम, दण्ड एव भेदादि कोई भी उपाय शरणभूत नहीं होते हैं ॥१८२५॥

प्रश्न - विद्या, मन्त्र, वीर्य एव बल किसे कहते हैं?

उत्तर - जिसके अन्त में स्वाहा होता है उसे विद्या कहते हैं। जिसके अन्त में स्वाहाकार नहीं होता,

उसे मंत्र कहते हैं। आत्मा की शक्ति विशेष को वीर्य एवं आहार तथा व्यायाम आदि से उत्पन्न शरीर की दृढ़ता को बल कहते हैं।

केनेहोदीयमानानां, कर्मणां ज्योतिषामिव।
निषेधः शक्यते कर्तुं, स्वकीये समये सति ॥१८२६॥

अर्थ - जैसे आकाश मे उदय होते हुए सूर्य, चन्द्र एव नक्षत्रादि को कोई रोक नहीं सकता, वैसे ही द्रव्य, क्षेत्रादि सहकारी कारणों के मिल जाने पर उदय में आते हुए कर्मों को इस जगत् में कोई भी नहीं रोक सकता॥१८२६॥

प्रतीकारोऽस्ति रोगाणां, कर्मणां न पुनर्जने।
कर्म मृद्नाति हस्तीव, लोकं मत्तो निरङ्कुशः ॥१८२७॥

अर्थ - मनुष्यो के पास रोगो के प्रतिकार हेतु औषधि आदि तो हैं किन्तु उदयागत कर्मों को रोकने का कोई प्रतिकार नहीं है। जैसे निरकुश मदोन्मत्त हाथी लोगों को या कमलिनी के वन को नष्ट कर देता है, वैसे ही कर्म सभी ससारी जीवो को मसल रहा है॥१८२७॥

प्रतीकारो न रोगाणां, कर्मणामुदये सति।
उपचारो ध्रुवं तेषामस्ति कर्म-शमे सति ॥१८२८॥

अर्थ - असातावेदनीय कर्म का उदय होने पर रोगों का प्रतिकार नहीं हो पाता। औषध एव पथ्यादि से जो रोग शमन होते हैं वे भी कर्मों का उपशम होने पर ही होते हैं। अर्थात् कर्म का उपशम न होने पर औषधि आदि लाभकारी नहीं होती॥१८२८॥

बल-केशव-चक्रेश-देव-विद्याधरादयः।
सन्ति कर्मोदये व्यक्तं, शरणं न शरीरिणाम् ॥१८२९॥

अर्थ - जीवो के कर्मों का तीव्र उदय आने पर बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती, विद्याधर एव देव भी शरण नहीं होते। यह स्पष्ट ही है॥१८२९॥

गच्छन्नुल्लङ्घते क्षोणीं, नरस्तरति नीरधिम्।
नातिक्रान्तुं पुनः कोऽपि, कर्मणामुदयं क्षमः ॥१८३०॥

अर्थ - चलता हुआ प्राणी भूमि को लाघ सकता है और समुद्र को भी भुजाओं से पार कर सकता है किन्तु उदयागत कर्म के फल का उल्लघन करने में कोई महाबली भी समर्थ नहीं है अर्थात् उदयागत कर्म का फल सभी को भोगना ही पड़ता है॥१८३०॥

मृग-मीनौ परौ जन्त्वोः, सिंह-मीन-गृहीतयोः।
जायते रक्षकः कोऽपि, कर्म-ग्रस्तस्य नो पुनः ॥१८३१॥

अर्थ - सिह द्वारा पकडे हुए हिरण का कोई अन्य पशु सम्भवतः रक्षक हो सकता है, तथा तिमिंगल

आदि महामत्स्य आदि के द्वारा पकड़ी हुई छोटी-छोटी मछलियों का भी कथंचित् कोई रक्षक हो सकता है किन्तु उदयागत कर्मग्रस्त जीव का कोई भी रक्षक नहीं है॥१८३१॥

जीव के शरणभूत पदार्थ कौनसे हैं ?

कर्म-नाशनसहानि जनानां, ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तपांसि।
नापहाय सति कर्मणि पक्वे, रक्षकानि खलु संति पराणि॥१८३२॥

इति अशरणम्॥

अर्थ - भव्य जीवों के लिए यदि कोई सच्चे शरणभूत हैं तो अपने-अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र एव तप ही हैं। ये दर्शन- ज्ञानादि ही दुखदाई कर्मों का नाश करने में समर्थ हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओ के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ उदयागत कर्म से ग्रसित जीव का रक्षक या सहायक या शरणभूत नहीं हो सकता। ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिए॥१८३२॥

इस प्रकार अशरण भावना पूर्ण हुई॥२॥

एकत्व भावना

करोति पातकं जन्तुर्देह-बान्धव-हेतवे।
श्वभ्रादिषु पुनर्दुःखमेकाकी सहते चिरम्॥१८३३॥

अर्थ - यह मोही प्राणी अपने शरीर के एव बन्धु-बान्धवो के पोषणार्थ पाप करता है किन्तु नरकादि दुर्गतियों मे चिरकाल पर्यन्त दुख अकेले ही भोगता है, वहाँ कोई भी बन्धुजन दुख भोगने में साथी नहीं होते हैं॥१८३३॥

वेदनां कर्मणा दत्तां, रोग-शोक-भयादिकाम्।
किं भुञ्जानस्य कुर्वन्ति, पश्यन्त्यो ज्ञातयोऽङ्गिनः॥१८३४॥

अर्थ - अपने मन, वचन एव काय योग से सचित कर्म, परिपाक काल मे रोग, शोक एव भयादि रूप फल देते हैं, जिसे परिवारजन प्रत्यक्ष देखते हुए भी क्या उसमे पाँती बाँटते हैं ? नहीं। वह वेदना अकेले उसी को भोगनी पड़ती है॥१८३४॥

प्रश्न - इस श्लोक का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर - इसका अर्थ है कि जीव परिवारादि के भरण-पोषण हेतु जो पापोपार्जित करता है, नरक मे उसका फल भोगते हुए उसका परिवार उसे प्रत्यक्ष नहीं देख पाता अत· उसमे पाँती कैसे बाँटे या प्रतिकार कैसे करे ? क्योंकि वहाँ उसका परिवार साथ में नहीं है, इसलिए वे कुछ नहीं कर सकते, जीव को स्वयमेव सारे दुख अकेले ही भोगने पड़ते हैं। इस पर आचार्यदेव श्लोक १८३४ में कहते हैं कि भाई ! मनुष्य पर्याय में तो सारे परिवार जन अपने स्त्री-पुत्रादि की वेदना प्रत्यक्ष देख रहे हैं, किन्तु क्या वे उसके भागीदार बन सकते हैं ? या तत्काल उसे वेदनादि से मुक्त कर सकते हैं ? नहीं, कदापि नहीं। क्योंकि स्वोपार्जित कर्मों का फल शुभ हो या अशुभ एकाकी ही भोगना पडता है।

एकाकी म्रियते जीवो, न द्वितीयोऽस्य कश्चन।
सहाया भोग-सेवायां, न कर्मफल-सेवने ॥१८३५॥

अर्थ - (जैसे जीव स्वोपार्जित कर्मफल स्वय ही भोगता है वैसे ही) अपनी आयु समाप्त होते जीव अकेला ही मरता है। अर्थात् परिवार का कोई भी सदस्य उसके मरण मे भागीदार नहीं होता। मनोहर वस्त्राभरण एव भोजनादि भोगों को भोगने मे तो परिवार का प्रत्येक सदस्य सहायक या भागीदार होता है किन्तु भोग-सामग्री एकत्र करने में जो पापोपार्जन किया है उन कर्मों का फल भोगने मे कोई भागीदार या सहायक नहीं होता ॥१८३५॥

प्रकारान्तर से एकत्व भावना

देहार्थ-बान्धवाः सार्धं, न केनापि भवान्तरम्।
वल्लभा अपि गच्छन्ति, कुर्वन्तोऽपि महादरम् ॥१८३६॥

स्वकीया देहिनोऽत्रैव, देहार्थ-स्वजनादयः।
स्वीकृताः सम्भ्रमेणापि, न कदाचिद् भवान्तरे ॥१८३७॥

अर्थ - शरीर, धन एव प्रिय बान्धव जन यद्यपि मरणासन्न अपने स्वजन का महान् आदर करते हैं, वे अत्यन्त प्रिय भी हैं किन्तु कोई भवान्तर अर्थात् परलोक मे साथ नहीं जाते। मरणासन्न व्यक्ति भी अपने शरीर, धन एव स्वजनादि को साथ ले जाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित है तो भी वे सब इसी लोक में रह जाते हैं, चाहते हुए भी वह पुरुष उन्हे साथ नहीं ले जा सकता, उसे सब कुछ छोड कर अकेले ही जाना पड़ता है ॥१८३६-१८३७॥

स्वकीयं परकीयं न, विद्यते भुवनत्रये।
नैकस्याटाट्यमानस्य, परमाणोरिवांशिनः ॥१८३८॥

अर्थ - जैसे पुद्गल रूप परमाणु अन्य परमाणु या स्कन्ध आदि के सम्बन्ध बिना तीन लोक मे सर्वत्र अकेला ही घूमता है, वैसे ही तीन लोक मे एकाकी परिभ्रमण करते हुए इस जीव के अपना या पराया कोई भी नहीं है, यह जीव अकेला ही है। 'ये मेरे है,' अथवा 'मेरे साथ ही जावेगे' ऐसी आशा रखना यह अज्ञानता का ही फल है ॥१८३८॥

जीव का सच्चा सहायक

भवान्तरं समं गत्वा, धर्मो रत्नत्रयात्मकः।
उपकारं परं नित्यं, पितेव कुरुतेऽङ्गिनः ॥१८३९॥

अर्थ - जैसे पिता सदैव पुत्र का उपकार करता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म सदैव जीव का परमोपकार करता है। इतना ही नहीं यह धर्म जीव के साथ परलोक में भी जाता है ॥१८३९॥

प्रश्न - धर्म किसे कहते हैं, यह जीव का क्या उपकार करता है और असहाय भावना के अधिकार मे इस सहाय रूप धर्म के कथन का क्या औचित्य है ?

उत्तर - जो दुर्गति जाने वाले जीवों को वहाँ से रोक कर इन्द्र एवं चक्रवर्ती आदि के उत्तम पदों में अथवा मोक्षपद में स्थापित कर देता है उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म जीव की रक्षा करता है; भय, शोक, रोग एवं विषादादि से रहित ऐसे राजेन्द्रों एवं देवेन्द्रों के उत्तम सुख तथा शत इन्द्र और तीन लोक से पूजित तीर्थंकर पद देकर जीवों का अनेक प्रकार से उपकार करता है। अन्त में जन्म, मरण, रोग, शोक, जरा, व्याधि एवं प्रिय-वियोग आदि सर्व दुखों से रहित अनुपम, अव्याबाध, उत्कृष्ट और शाश्वत सुख स्वरूप मोक्षपद देता है।

इस असहाय रूप एकत्व भावना में धन, गृह, स्त्री, पुत्र, पिता आदि सहयोगी जनों के प्रति अनादर भाव उत्पन्न कराया गया है। 'अब मेरा कोई सहाय नहीं है' इस प्रकार की उत्पन्न हुई चिन्ता से मुक्त करने हेतु आचार्य ने शाश्वत सहायरूप धर्म का समावेश इस भावना में किया है कि यह रत्नत्रय धर्म आत्मा का निजी धर्म है, आत्मा से अभिन्न है। मिथ्यात्व आदि के उदय से यह धर्म आच्छादित हो जाता है किन्तु मिथ्यात्व आदि के हटते ही पुन: प्रगट हो जाता है। यह धर्म कल्याणकारी मित्र सदृश है, परलोक में भी साथ जाता है क्योंकि यह अभ्युदय और मोक्षसुख को देने वाला है।

इस प्रकार रत्नत्रयरूप धर्म ही यथार्थ सहायक है ऐसी दृढ श्रद्धा उत्पन्न कराना ही इस कथन का औचित्य है।

प्रश्न - रत्नत्रय धर्म से तो मोक्षसुख ही प्राप्त होना चाहिए, उससे अभ्युदय सुख कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर - सरागी सयत जीवो के रत्नत्रयरूप शुभ परिणामों से पुण्य बध होता है। इसके अर्थात् सातावेदनीय, उच्चगोत्र एव अन्य भी पुण्य प्रकृतियों के उदय मे जीव को उत्तम मनुष्यगति, उत्तम जाति, उच्च गोत्र, उत्तम सहनन, शुभ सस्थान, पचेन्द्रियों की पूर्णता, पर्याप्तक अवस्था, नीरोग शरीर, दीर्घायु एव सुखावस्था प्राप्त होती है। धर्मानुबन्धी पुण्य के उदय से बुद्धि मुनिदीक्षा के अभिमुख होती है। मुनिदीक्षा लेकर भी बुद्धि निरतिचार व्रतपालन की ओर ही अग्रसर होती रहती है। जो आसन्न भव्य निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति रूप पुरुषार्थ में सफल हो जाते हैं वे तद्भव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, अथवा वही रत्नत्रय उन्हें अभ्युदय सुख प्राप्त कराता है।

भोगं रोगं धनं शल्यं, गेहं गुप्तिः स्त्रियो यथा।
बन्धुं च मन्यते बन्धं, साधुरेकत्व-वासितः ॥१८४०॥

अर्थ - जो साधु सदा एकत्व भावना को भाते हैं, वे भोगो को रोग सदृश दुखदायी, धन को शल्यवत् कष्टप्रद, घर एव स्त्रियों को कारागृह के सदृश और बन्धुजनों को बन्धरूप मानता है॥१८४०॥

बद्धस्य बन्धनेनेव, रागो यस्य न विग्रहे।
स करोत्यादरं साधुः, किमर्थेऽनर्थकारिणी ॥१८४१॥

अर्थ - जैसे बेडी या साकल से बँधे हुए मनुष्य को उस साँकल आदि मे प्रीति उत्पन्न नहीं होती, वैसे ही जिस साधु की शरीर में ही प्रीति नहीं है वह भला अनर्थकारी धन मे क्या प्रीति कर सकता है ? नहीं कर सकता ॥१८४१॥

प्रश्न - धन को अनर्थकारी क्यो कहा गया है ?

उत्तर - जो जिसका अनुपकार करता है उसे विवेकी पुरुष अनर्थकारी ही मानते हैं, अपना सच्चा सहायक कदापि नहीं मानते। उपार्जन एव रक्षण करने वाले को यह धन महान् दुख देता है। प्राणीगण धन के निमित्त (परस्पर में) एक दूसरे का घात तक कर देते हैं। धनान्ध व्यक्ति धन के अतिरिक्त देव, गुरु, माता-पिता, पत्नी, पुत्र एव मित्रादि किसी को कुछ नहीं मानता अत· आचार्यों ने धन को महाभयरूप कहा है और जो भयकारी है वह कभी कल्याणकारी नहीं हो सकता। धन की मूर्च्छा इस जीव को सप्तम नरक तक ले जाती है। इससे अधिक अनर्थकारी और कौन होगा? कोई नही।

बन्धन-तुल्यं चरण-सहायं, पश्यति गात्रं मथित-कषायः।
यो मुनिवर्यो जन-धन-सङ्गे, तस्य न रागः कृत-हित-भङ्गे ॥१८४२॥

इति एकत्वम्।

अर्थ - जिन्होने कषायो का मथन कर दिया है वे मुनिजन अपने शरीर को भी बन्धनरूप मानते हैं। इस शरीर को तो वे मात्र चारित्र-पालन मे ही सहायक मानते हैं। इस प्रकार जिन मुनिश्रेष्ठो का स्व शरीर में भी राग नहीं होता उनके हित का नाश करने वाले परिवार मे, धन मे एवं परिग्रह आदि में क्या राग होगा ? कदापि नहीं होगा। इस प्रकार अपने को सदा एकाकी मानना एकत्व भावना है॥१८४२॥

इस प्रकार एकत्व भावना का वर्णन समाप्त॥

अन्यत्व भावना

दुःख-व्याकुलितं दृष्ट्वा, किमन्योऽन्येन शोच्यते।
किं नात्मा शोच्यते जन्म-मृत्यु-दुःख-पुरस्कृतः॥१८४३॥

अर्थ - अहो ! महदाश्चर्य है कि इस ससार मे मोही प्राणी पति, पुत्रादि अन्य को दुख से व्याकुल देख कर स्वय शोक करते हैं ? स्वय की आत्मा जन्म-मरण के और नरकादि गतियो के दुख भोग रही है, उसका शोक क्यो नहीं करते?॥१८४३॥

प्रश्न - अन्यत्वानुप्रेक्षा का कथन प्रारम्भ करते ही 'अन्य के दुख देखकर दुखी क्यो होता है' ऐसा प्रसग क्यों ग्रहण किया गया ?

उत्तर - यह अज्ञानी प्राणी अनादि काल से चारो गतियो में असातावेदनीय कर्मोदय के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भावरूप सहकारी कारणो के मिलने से निरन्तर शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक, स्वाभाविक तथा क्षेत्रजादि अनेक आपदाएँ भोग चुका है, भोग रहा है और 'ये आपदाएँ पुन· मुझे दुख देने हेतु भविष्य में आयेगी', ऐसा जान रहा है फिर भी अपने दुखो को दूर करने का समीचीन पुरुषार्थ तो नहीं करता अपितु दूसरो को दुख से व्याकुल देख स्वय शोक करता है, इतना ही नहीं, उनकी आपत्तियो को दूर करने का सतत प्रयत्न करता रहता है, जो कदापि शक्य नहीं है, क्योंकि जिसने पूर्व में मन, वचन, काय से जो कर्मोपार्जित किये हैं उनका फल उसे भोगना ही पड़ेगा। सब इन्द्र, प्रतीन्द्र मिल कर भी उसके आगत कर्मफल का निवारण करने में असमर्थ हैं तब परिवार के शोक करने से उसका निवारण कैसे हो जायेगा? वह सुखी कैसे हो जायेगा? कदापि नहीं। इसलिए

आचार्यदेव अन्यत्वभावना के प्रारम्भ में ही उसे समझा रहे हैं कि दूसरों का दुख देख कर शोक करना व्यर्थ है। पर का दुख स्वात्मा से या अपने दुख से सर्वथा भिन्न है, उसका निवारण करना भी अशक्य है अत: अन्यत्वभावना के बल से अपना दुख-विनाश करने मे प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस् है।

संसारे भ्रममाणानामनन्ते कर्मणाङ्गिनः।
कः कस्यास्ति निजो मूढः, सज्जतेऽत्र जने-जने ॥१८४४॥

अर्थ - पच परावर्तन रूप ससार में कर्म-वशवर्तिता से परिभ्रमण करते हुए जीवों के कब, कौन, किसका शाश्वत स्वजन हुआ है ? अर्थात् कोई भी अपना मात्र स्वजन नहीं हुआ फिर भी मूढ़ जन व्यर्थ ही जन-जन मे 'यह मेरा है', 'यह मेरा है', ऐसा मानकर आसक्त होता रहता है ॥१८४४॥

प्रश्न - माता-पिता आदि बन्धुजन 'स्वजन' ही कहे जाते हैं। यह जगत्प्रसिद्ध बात है, इसका यहाँ निषेध क्यों किया जा रहा है ?

उत्तर - यह जगत्प्रसिद्ध बात मात्र एक पर्याय को दृष्टिगत रखकर कही जाती है और यह मेरा पिता, पुत्र, भाई, मामा, दास, सेवक एवं स्वामी है, इस प्रकार की मान्यता या आसक्ति केवल मोहाधीन जीवों के ही होती है। किसी के प्रति दया एव प्रीति तथा किसी के प्रति निर्दयता एव अप्रीतिरूप असमान व्यवहार मिथ्यात्वादि परिणामों से ही उत्पन्न होते हैं किन्तु जो सदा अन्यत्व भावना का चिन्तन करते हैं, जो राग-द्वेष रहित हैं तथा जिनका चारित्र सर्वत्र एकरूप रहता है उनका न कोई स्वजन होता है और न परिजन होता है, क्योंकि वस्तुतत्त्व तो मात्र अनन्यतारूप है उसमे कोई स्वजन है ही नहीं।

प्रकारान्तर से स्वजन-परिजन के भेद का अभाव

कालेऽतीतेऽभवत्सर्वः, सर्वस्यापि निजो जनः।
तथा कर्मानुभावेन, भविष्यति भविष्यति ॥१८४५॥

अर्थ - अतीत काल मे सभी प्राणियो के अनन्तानन्त सभी प्राणी स्वजन थे। अर्थात् सब जीवों की सब जीवों के साथ आत्मीयता बन चुकी है कोई जीव शेष नहीं रहा और कर्मोदय से भविष्य काल मे भी सब जीवों के सब जीव स्वजन होंगे ॥१८४५॥

प्रश्न - इस श्लोक द्वारा क्या कहा गया है ?

उत्तर - इस श्लोक मे यह कहा गया है कि अतीत काल में सभी जीव एक दूसरे के स्वजन बन चुके हैं और भविष्य में भी जब तक मोक्षप्राप्ति नहीं होती तब तक कर्मोदयसे जन्म-मरण करते हुए पुन सबके सब जीव स्वजन बनेगे। इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तब ''यही मेरा स्वजन है'' इस प्रकार का सकल्प मिथ्या है। 'वे मुझ से अन्य हैं और मैं भी उनसे सर्वथा अन्य हूँ' इस स्व-परविषयक अन्यत्व तत्त्व का चिन्तन करना ही श्रेयस्कर है।

सङ्गमोऽस्ति शकुन्तानां रात्रौ-रात्रौ तरौ-तरौ।
तथा-तथा तनूभाजां, जातौ-जातौ भवे-भवे ॥१८४६॥

अर्थ - जैसे प्रत्येक रात्रि मे वृक्ष-वृक्ष पर पक्षियो का समागम होता है वैसे ही ससारी जीवों का जाति-जाति अर्थात् योनियों के माध्यम से भव-भव में परिवार जनों का समागम होता रहता है॥१८४६॥

प्रश्न - इस दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से क्या सिद्ध किया जा रहा है ?

उत्तर - इस श्लोक का यह अभिप्राय है कि जैसे रात्रि मे आश्रय बिना रहने में असमर्थ पक्षीगण योग्य वृक्ष को देख कर बसेरा कर लेते हैं और प्रात उस वृक्ष को छोड़ देते हैं; रात्रि होते पुन· किसी वृक्ष का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक ससारी प्राणी वर्तमान पर्याय मे आयु कर्म के पुद्गल स्कन्ध पूर्ण रूप से गल जाने पर उस शरीर का आश्रय छोड़ देते हैं। बिना आश्रय रह नहीं सकते अत· नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते हैं, तब वे कर्मोदय से प्रेरित होकर शरीरग्रहण के योग्य किसी एक योनि में जाते हैं, वहाँ उन्हें जिनके अत्यन्त अपवित्र रज-वीर्य का आश्रय प्राप्त होता है उनमे माता-पिता का सकल्प कर लेते हैं और उन्हीं माता-पिता के रज-वीर्य का अन्य जो-जो प्राणी आश्रय लेते हैं, उनमे भाई-बहिन का सकल्प कर लेते हैं। वहाँ की आयु पूर्ण होते फिर किसी अन्य योनि का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, यही क्रम अनादि काल से चल रहा है क्योंकि जैसे वन मे पक्षियो के निवासयोग्य वृक्ष सुलभ हैं वैसे ही ससारी प्राणियो को स्वजन-वास भी सुलभ है।

अध्वनीना इवैकत्र, प्राप्य सङ्ग ततोऽङ्गिनः।
स्थानं निज निजं यान्ति, हित्वा कर्म-वशीकृताः॥१८४७॥

अर्थ - जैसे किसी नगर या ग्राम की धर्मशाला मे अथवा किसी वृक्ष की छाया में पथिकजन एकत्र होते हैं और वहाँ अपना भोजन-पानादि का व्यवहार भी करते हैं, पश्चात् वे सब उस धर्मशाला को छोडकर अपने-अपने देश चले जाते है, उसी प्रकार सभी बन्धु-बाँधवों का समागम होकर वे अपने-अपने कर्मानुसार प्राप्त हुई गतियो मे चले जाते हैं अर्थात् बिछुड जाते हैं॥१८४७॥

नाना-प्रकृतिके लोके, कस्य कस्तत्त्वतः प्रियः।
कार्यमुद्दिश्य सम्बन्धो, वालुका-मुष्टि-वज्जनः॥१८४८॥

अर्थ - जैसे बालूरेत स्वभावत तो कण-कणरूप अर्थात् भिन्न-भिन्न ही होती है, जलादि के सम्पर्क से कदाचित् मुट्ठी रूप बँध जाती है किन्तु जल सूखते ही पुन बिखर जाती है। वैसे ही इस लोक में नाना स्वभाव वाले मनुष्य हैं। ऐसे नाना स्वभाव-वालो मे स्वभावत अर्थात् स्वभाव से कौन किसको प्रिय है? क्योकि मित्रता तो समान शील वालो में ही होती है और सब बन्धु-बाधव समान शील वाले होते नहीं हैं तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है ? अपने-अपने कार्य का उद्देश्य लेकर ही सम्बन्ध स्थापित होते हैं और उद्देश्य पूर्ण हो जाने पर सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं॥१८४८॥

माता पोषयते पुत्रमाधारोऽयं भविष्यति।
मातरं पोषयत्येष, गर्भेऽहं विधृतोऽनया॥१८४९॥

अर्थ - वृद्धावस्था मे यह पुत्र मेरा आधार होगा, इस भावना से माता पुत्र का पालन करती है और इस माता ने मुझे गर्भ मे धारण किया था, यह सोचकर पुत्र माता का पालन करता है॥१८४९॥

शत्रुता-मित्रता-अपकार और उपकार से बंधे हैं

अमित्रं जायते मित्र-मुपकार-विधानतः।
तनूजो जायते शत्रुरपकार-विधानतः ॥१८५०॥

न कोपि देहिनः शत्रुर्न मित्रं विद्यते ततः।
जायते कार्यमाश्रित्य, शत्रुर्मित्रं विनिश्चितम् ॥१८५१॥

अर्थ - शत्रु होकर भी उपकार कर देने से मित्र हो जाता है और स्वयं का पुत्र भी अपकार अर्थात् माता-पिता की भर्त्सना, मारना, पीटना आदि दुर्व्यवहार करने से एक क्षण में शत्रु हो जाता है, अत इस ससार में यथार्थतः कोई किसी का शत्रु या परजन एव कोई किसी का मित्र या स्वजन नहीं है। उपकार या अपकाररूप कार्यों पर ही मित्रता या शत्रुता का व्यवहार निर्भर है। हे भव्य जीवो ! इससे यह निश्चय समझो कि मेरी आत्मा से ये सब ही पृथक् हैं॥१८५०-१८५१॥

शत्रु-मित्र के लक्षण

हितं करोति यो यस्य, स मतस्तस्य बान्धवः।
स तस्य भण्यते वैरी, यो यस्याहित-कारकः ॥१८५२॥

अर्थ - ससार में कोई किसी का स्वाभाविक बन्धु एव वैरी नहीं है। जो जिसका हित करता है वह उसका बन्धु माना जाता है और जो जिसका अहित करता है वह उसका वैरी माना जाता है॥१८५२॥

बन्धुओं में शत्रुता के लक्षण

कुर्वन्ति बान्धवा विघ्नं, धर्मस्य शिवदायिनः।
तीव्र-दुःखकरं घोरं, कारयन्त्यप्यसंयमम् ॥१८५३॥

अर्थ - मोक्ष मे शाश्वत सुख है। मोक्ष की प्राप्ति रत्नत्रय धर्म से ही होती है। हमारे जो इष्ट बन्धुजन रत्नत्रय रूप धर्मपालन मे विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करते रहते हैं और घोर तथा अत्यन्त तीव्र दुख देने वाले हिंसादि पापो में एव असयमादि की प्रवृत्तियो मे प्रेरित करते रहते हैं वे ही हमारे यथार्थ शत्रु हैं। ऐसा चिन्तन कर सबसे अपने को अन्य मानना चाहिए॥१८५३॥

बन्धुरं साधवो धर्मं, वर्धयन्ति शरीरिणः।
संसार-कारणं निन्द्यं, त्याजयन्त्यप्यसंयमम् ॥१८५४॥

साधवो बान्धवास्तस्माद्देहिनः परमार्थतः।
ज्ञातयः शत्रवो रौद्र-भवाम्भोधि-निपाततः ॥१८५५॥

अर्थ - साधुजन संसारी जीवो के उद्धार हेतु उनके महामनोहर रत्नत्रय धर्म की वृद्धि कराते हैं तथा जो निन्द्य है एव ससार का कारण है ऐसे मिथ्यात्व तथा असयम का त्याग कराते हैं अत साधुजन ही परमार्थत. स्वजन या बन्धु हैं। एक कुल-जाति मे उत्पन्न परिवार जन यथार्थतः शत्रु ही हैं, क्योकि वे बन्धुजन महाभयकर ससार-सागर मे गिराने वाले होते हैं॥१८५४-१८५५॥

प्रश्न - इन श्लोकों से क्या कहा गया है ?

उत्तर - इन श्लोकों द्वारा अपने से अन्य साधुजनों को बन्धु या मित्र और अपने से अन्य परिवार जनों को शत्रु कहा गया है। 'साधुजन हित मे प्रवृत्ति कराते हैं और अहित से निवृत्ति कराते हैं। ये इन्द्रियजन्य एव अतीन्द्रिय सुख के कारण हैं तथा नाना प्रकार के दुखो से भरे अपार ससार-सागर से पार उतारने वाले हैं' ऐसा चिन्तन करने से रत्नत्रय धर्म मे और धर्मोपदेशक साधुजनो के प्रति महान् आदर उत्पन्न होता है तथा रत्नत्रयधर्म में विघ्न करने वालो मे और जिसके ऊपर से उतरना दुष्कर है उस चार गतिरूपी घटीयन्त्र पर चढ़ाने वाले बन्धुजनो के प्रति अत्यन्त अनादर भाव उत्पन्न हो जाता है।

शरीरादात्मनोऽन्यत्वं, निस्त्रिंशस्येव कोशतः।
परवत्त (परतत्त्वं) न जानन्ति, मोहान्ध-तमसावृताः ॥१८५६॥

अर्थ - जैसे म्यान से तलवार पृथक् है वैसे ही शरीर से आत्मा पृथक् है, किन्तु जिनके ज्ञानरूपी नेत्र मोहरूपी अन्धकार से ढक गये हैं वे पुरुष इस अन्यत्वरूप श्रेष्ठ तत्त्व को नहीं जानते ॥१८५६॥

अनादिनिधनो ज्ञानी, कर्ता भोक्ता च कर्मणाम्।
सर्वेषां देहिनां ज्ञेयो, मतो देहस्ततोऽन्यथा ॥१८५७॥

अर्थ - सभी ससारी प्राणियो का आत्मा अनादिनिधन है, अर्थात् शाश्वत रहने वाला है, ज्ञानी है, कर्मों का कर्ता एव कर्म-फलो का भोक्ता है तथा शरीर इससे सर्वथा भिन्न स्वभाव वाला है अर्थात् शरीर शाश्वत नहीं है, नाशवान है, जड़ होने से अज्ञानी है अर्थात् कुछ जानता नहीं है। इस प्रकार आत्मा और शरीर का लक्षण सर्वथा भिन्न-भिन्न है ॥१८५७॥

पूर्वजन्म-कृत-कर्मनिर्मितं, पुत्र-मित्र-धन-बान्धवादिकम्।
न स्वकीयमखिलं शरीरिणो, ज्ञान-दर्शनमपास्य विद्यते ॥१८५८॥

इति अन्यत्वं।

अर्थ - ससारी जीवो के पुत्र, मित्र, धन तथा माता-पितादि बन्धु-जन आदि तो पूर्व जन्म मे उपार्जित कर्मों के फल से निर्मित हैं अत वे कोई भी स्वकीय नहीं हैं। यथार्थत जीव का अपना-अपना ज्ञान, दर्शन ही उनका स्वकीय है ॥१८५८॥

इस प्रकार अन्यत्व भावना का कथन पूर्ण हुआ ॥४॥

ससार अनुप्रेक्षा

मिथ्यात्व-मोहित-स्वान्तो, भवे भ्रमति दुर्गमे।
मार्गभ्रष्ट इवारण्ये भवेभारि-भयङ्करे ॥१८५९॥

अर्थ - जैसे हाथियो एव लुटेरों आदि शत्रुओ से युक्त भयकर जगल में पथिक मार्ग भूल कर इधर-उधर भटकता रहता है, वैसे ही ससार रूपी दुर्गम वन में मिथ्यात्व से मोहित मन वाले जीव अनादिकाल से भ्रमण कर रहे हैं ॥१८५९॥

प्रश्न - मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग जब ये चारों ससार-भ्रमण के कारण हैं तब यहाँ मात्र मिथ्यात्व को ही क्यों कहा गया है ?

उत्तर - मिथ्यात्व का ग्रहण असंयम आदि का उपलक्षण है क्योंकि जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ असंयम आदि भी अवश्यमेव हैं। अन्य बात यह है कि यह जीव अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण ही संसार रूपी अटवी में भटक रहा है। दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से यह मिथ्यात्व परिणाम होता है। इस परिणाम से युक्त जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। चार घातियाकर्म नाश कर देने वाले जिनेन्द्र देव के वचन जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने में दक्ष होते हैं और वे वचन प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से अविरुद्ध भी होते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव को उन कल्याणकारी वचनों पर एवं वचनो द्वारा कहे गये जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धान नहीं हो पाता अत: वह जीव अनन्त संसार में भ्रमण करता रहता है। एक बार सम्यग्दर्शन हो जाने के बाद असयमादि के साथ जीव अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक ही भ्रमण करता है, अत· यहाँ मिथ्यात्व को ही ससार-वन मे भटकने का कारण कहा गया है।

संसार रूपी महासमुद्र का स्वरूप

अनेक-दु:ख-पानीये, नाना-योनि-भ्रमाकुले।
अनन्तकाय-पाताले, विचित्रगति-पत्तने ॥१८६०॥

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोहादियादसि।
अनेक-जाति-कल्लोले, त्रस-स्थावर-बुद्बुदे ॥१८६१॥

जीव-पोतो भवाम्भोधौ, कर्म-नाविक-चोदित:।
जन्म-मृत्यु-जरावर्ते, चिरं भ्राम्यति सन्ततम् ॥१८६२॥

अर्थ - जिसमे अनेक प्रकार का तीव्र दुखरूपी जल भरा है, नाना अर्थात् चौरासी लाख योनि रूप भँवरों से व्याप्त है, अनन्तकाय साधारण वनस्पति रूप पातालो से युक्त है, जिसके तट पर विचित्र चार गतिरूप बेला पत्तन स्थित हैं, जो राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ एव मोहादि रूप भयकर मगरमच्छादि जलचर जीवों से भरा है, एकेन्द्रिय आदि अनेक जाति रूप तरगो से तरगित है, त्रस-स्थावर जीवरूप बुद्बुदो से भरपूर है अर्थात् जिसमे ऐसे बुद्बुदे उठ रहे हैं और जिसमे जन्म, मरण, जरा रूप आवर्त है ऐसे ससार रूपी भयावह समुद्र मे कर्मरूपी खेवटिया के द्वारा चलाया गया यह जीव रूपी जहाज चिरकाल से सतत भ्रमण कर रहा है॥१८६०, १८६१, १८६२॥

प्रश्न - अनन्तकाय किसे कहते है ?

उत्तर - अनन्त जीवों के काय अर्थात् शरीर को अनन्तकाय कहते हैं। अथवा "यह शरीर इसी जीव का है" ऐसा अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ नहीं है वह काय अनन्त है, क्योकि एक शरीर के आश्रित अनन्त जीव समान रूप से रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीव की है वह अनन्तकाय है।

प्रश्न - ससार को समुद्र की उपमा क्यो दी है ?

उत्तर - समुद्र जल से भरा रहता है, ससार दुखो से भरा हुआ है, समुद्र में भँवर उठती हैं, ससार में चौरासी लाख योनि रूप भँवर हैं, समुद्र में पाताल होते हैं, जिनमे प्रवेश करके निकलना कठिन होता है, संसार में अनन्तकाय निगोद रूप पाताल हैं उसमे भी प्रवेश करके निकलना कठिन है, समुद्र तट पर बेला-पत्तन होते हैं, ससार में चार गति रूप बेला-पत्तन हैं जहाँ जीव कुछ समय तक ठहर लेता है। समुद्र मगर-मत्स्यादि जलचर जीवों से भरा रहता है, ससार भी राग, द्वेष, मद, मोह एव लोभादि मगरमच्छों से भरा हुआ है, समुद्र तरगों से तरंगित होता रहता है ससार एकेन्द्रिय आदि अनेक जाति रूप तरगो से तरगित है, समुद्र में बुदबुदे उठते हैं, ससार मे त्रस-स्थावर जीव रूप बुद्बुदे उठते रहते हैं तथा समुद्र मे आवर्त उठते हैं, ससार में जन्म, मरण एव जरा रूप आवर्त हैं। जैसे समुद्र की सैर करने के लिए जहाज एव खेवटिया होता है जो घुमाता रहता है, वैसे ही ससार रूपी समुद्र में जीवरूपी जहाज को कर्मरूपी खेवटिया अनादिकाल से निरन्तर भ्रमण करा रहा है।

एक-द्वि-त्रि-चतु:-पञ्च-हृषीकाणामनन्तशः।
जातयः सकला भ्रान्ता, देहिना भ्रमता भवे ॥१८६३॥

अर्थ - ससार मे भ्रमण करते हुए इस जीव ने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पचेन्द्रिय जातियो को अनन्त बार प्राप्त किया है॥१८६३॥

गृह्णीते मुञ्चमानोऽङ्गी, शरीराणि सहस्रशः।
भ्रमति द्रव्य-संसारे, घटीयन्त्रमिवानिशम् ॥१८६४॥

अर्थ - जैसे घटी यन्त्र पूर्व जल का त्याग और दूसरे-दूसरे जल का ग्रहण करते हुए सतत घूमता रहता है वैसे ही द्रव्यससार मे पूर्व-पूर्व शरीरो को छोड़ते हुए और नवीन शरीरो को ग्रहण करते हुए जीव निरन्तर भ्रमण कर रहा है॥१८६४॥

प्रश्न - द्रव्यससार किसे कहते हैं और ससारभ्रमण के कितने भेद हैं ?

उत्तर - नाना प्रकार के शरीरो को द्रव्य कहते हैं, इन शरीरों को धारण कर जीव का ससार में जो भ्रमण होता है उसे द्रव्य-ससार कहते हैं। द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल-परिवर्तन, भव परिवर्तन एव भाव परिवर्तन के भेद से ससार भ्रमण पाँच प्रकार का है।

द्रव्य परिवर्तन

बहुसंस्थान-रूपाणि, चित्र-चेष्टा-विधायकः।
रङ्गस्थ-नट-वज्जीवो, गृह्णीते मुञ्चते भवे ॥१८६५॥

अर्थ - जैसे रगभूमि मे प्रविष्ट होने वाला नट अनेक प्रकार के रूपो को धारण करता है और नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है वैसे ही इस द्रव्य ससार मे भ्रमण करता हुआ यह जीव अनेक आकारादि रूप शरीरों को अनेक चेष्टाओं सहित पुन:पुन धारण करते एव छोडते हुए द्रव्य परिवर्तन करता है॥१८६५॥

प्रश्न - द्रव्य-परिवर्तन के कितने भेद हैं और उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर - द्रव्य परिवर्तन के दो भेद हैं। नोकर्म द्रव्य परिवर्तन और कर्मद्रव्य परिवर्तन।

नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन - किसी एक जीव ने एक समय में तीन शरीरों में से किसी एक विवक्षित शरीर के एव छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्‌गल ग्रहण किया और दूसरे समय में उस द्रव्य की निर्जरा कर दी। ग्रहण करते समय जीव के तीव्र, मध्यम या मन्द जैसे भाव रहे हों और उन गृहीत पुद्‌गलों में जैसा स्पर्श, रस, गन्ध एव वर्ण रहा हो वही विवक्षित है। उसके पश्चात् अनन्त बार अगृहीत को ग्रहण करके, अनन्तबार मिश्र को ग्रहण करके मध्य में गृहीत और अगृहीत को अनन्तबार ग्रहण करके वे पूर्व विवक्षित पुद्‌गल उसी जीव के उन्हीं भावों से जब नोकर्मरूप को प्राप्त होते हैं तब प्रारम्भ से उतने काल समुदाय को नोकर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

कर्मद्रव्य परिवर्तन - नोकर्मद्रव्य परिवर्तन करने वाले उसी जीवने जैसे स्पर्श, रस, गन्ध एव वर्णवाले जिस तीव्र, मध्यम एव मन्दभावो से अष्ट कर्मों के योग्य कर्म पुद्‌गल द्रव्य का समयप्रबद्ध रूप से एक समय में ग्रहण किया, पश्चात् एक समय अधिक एक आवली काल के पश्चात् द्वितीयादि समयों में उन्हे भोग कर छोड़ दिया। पश्चात् अनन्तबार अगृहीत, अनन्त बार मिश्र एवं अनन्तबार गृहीत को विधिविधान पूर्वक ग्रहण कर एवं छोड़ कर जब वही जीव उन्हीं भावो से और उसी प्रकार के स्पर्श-रसादि गुणो से युक्त उन्हीं कार्मण वर्गणाओ को ग्रहण करे तब प्रारम्भ से लेकर उतने काल समुदाय को कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं। तथा नोकर्मद्रव्य परिवर्तन और कर्मद्रव्य परिवर्तन के अनन्त-कालात्मक समूह को द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्र परिवर्तन

भूत्वा भूत्वा मृतो यत्र,जीवो मेऽयमनन्तशः।
अणुमात्रोऽपि नो देशो, विद्यते स जगत्त्रये ॥१८६६॥

अर्थ - तीन लोक में ऐसा कोई एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ मेरे इस जीव ने अनन्तबार जन्म ले-लेकर मरण न किया हो। अर्थात् अनेक अवगाहनाओ के साथ इस जीव ने क्षेत्र-परिवर्तन रूप ससार में परिभ्रमण किया है॥१८६६॥

प्रश्न - क्षेत्र परिवर्तन के कितने भेद हैं और उनका क्या स्वरूप है?

उत्तर - क्षेत्रपरिवर्तन के दो भेद हैं। स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन। **स्वक्षेत्र परिवर्तन** - एक जीव सर्वजघन्य अवगाहना के प्रदेशों का जितना प्रमाण है उतनी बार जघन्य अवगाहना को धारण कर पश्चात् क्रमश. एक-एक प्रदेश अधिक-अधिक की अवगाहनाओं को धारण करते-करते महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त अवगाहनाओं को जितने समय में धारण कर सके उतने काल-समुदाय को एक स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

परक्षेत्र परिवर्तन - सूक्ष्म निगोदियालब्ध्यपर्याप्तक जीव सर्वजघन्य प्रदेश वाला शरीर लेकर सुदर्शन मेरु के नीचे मध्य मे अचलरूप से स्थित लोक के इन अष्ट मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण कर एक श्वास के अठारहवे भाग तक जीवित रह कर मरा। वही जीव पुन. उसी अवगाहना को लेकर उसी स्थान पर दूसरी, तीसरी एवं चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण आकाश में जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं उतनी बार उसी क्रम से वहीं उत्पन्न हुआ और श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोग-भोग कर मरण को प्राप्त होता रहा। पश्चात् एक-एक प्रदेश के अधिक क्रम से जितने काल में सम्पूर्ण लोक को अपना जन्मक्षेत्र बना ले उतने काल समुदाय को एक परक्षेत्र-परिवर्तन कहते हैं और इन्हीं सब को क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

काल परिवर्तन

ये कल्पानामनन्तानां, समयाः सन्ति भो यते !।
जातो मृतः समस्तेषु, शरीरी तेष्वनेकशः ॥१८६७॥

अर्थ - हे यते ! अनन्त कल्पकालो के जितने समय हैं उन सभी समयो में यह जीव अनन्तबार उत्पन्न हुआ और अनन्तबार मरा॥१८६७॥

प्रश्न - काल परिवर्तन किसे कहते हैं?

उत्तर - उत्सर्पिणीकाल के प्रथम समय मे उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयु पूर्ण कर मरा। वही जीव पुन. दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय मे उत्पन्न हुआ और अपनी आयु पूर्ण कर मरा। वही जीव पुन तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय मे उत्पन्न हुआ और मरा। इसी क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी क्रम से अवसर्पिणी समाप्त की। अर्थात् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के बीस कोडाकोडी सागर के जितने समय हैं उनमें क्रमश उत्पन्न हुआ तथा इसी क्रम से मरण को प्राप्त हुआ। इसमें जितना काल लगा उतने काल समुदाय को एक काल परिवर्तन कहते हैं।

भव परिवर्तन

प्रदेशाष्टकमत्यस्य, शेषेषु कुरुते भवी।
उद्वर्तन-परावर्तं, सन्तप्ताप्स्विव तन्दुलाः ॥१८६८॥

अर्थ - जैसे उबलते हुए जल मे निक्षिप्त चावल ऊपर नीचे होते रहते हैं, वैसे ही जीव के आठ प्रदेश छोडकर शेष प्रदेश सदैव उद्वर्तन-परावर्तन करते रहते है अर्थात् ऊपर-नीचे होते रहते हैं॥१८६८॥

प्रश्न - इस श्लोक से क्या कहा जा रहा है ?

उत्तर - लोक असख्यातप्रदेशी है। लोक के मध्य में अर्थात् मध्यलोक के ठीक मध्य मे सुदर्शन मेरु स्थित है। इसके नीचे ठीक मध्य मे गौ के स्तन के आकार को लिये हुए अर्थात् लम्बाई, चौड़ाई एव ऊँचाई को लिये हुए दो के घनस्वरूप आठ प्रदेश सदा स्थिर रहते हैं। जीव भी लोक के प्रदेश प्रमाण असख्यातप्रदेशी है। इसके भी आठ प्रदेश सदैव स्थिर रहते हैं। केवली समुद्घात मे अर्थात् दण्ड समुद्घात के पूर्व केवली के और क्षेत्र परिवर्तन प्रारम्भ करने वाले सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव के आठ मध्य प्रदेश ज्यो का त्यो आकार लिये हुए लोक के आठ प्रदेशो पर स्थित होकर समुद्घात का एव क्षेत्र परिवर्तन का प्रारम्भ करते हैं। जीव के शेष प्रदेश चचल हैं अत वे उबलते हुए चावलो के सदृश ऊपर-नीचे होते रहते हैं। यह श्लोक का तात्पर्य अर्थ है।

प्रश्न - वे आठ प्रदेश ''दो के घन स्वरूप'' हैं, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - जिस सख्या मे दो का भाग देने पर एक शेष बचे उसे विषम राशि कहते हैं और जो राशि दो से भाजित करने पर पूर्ण विभक्त हो जाती है उसे सम राशि कहते हैं। जैसे एक कतार मे रखे हुए सात फलों मे विषमरूप चतुर्थ फल मध्यवर्ती होगा और यदि सम सख्यारूप आठ फल एक कतार मे रखे हैं तो आगे-पीछे के तीन-तीन फल छोडकर बीच के सम सख्या रूप दो फल मध्यवर्ती होगे।

आकाश द्रव्य के, लोक के, धर्म-अधर्म द्रव्य के और एक जीव द्रव्य के प्रदेश सम सख्यावाले हैं, अत दो प्रदेश मध्यवर्ती बने। दो का घन आठ होता है। यही घनात्मक आठ प्रदेश लोक के एव प्रत्येक जीव द्रव्य के अचल रहते हैं।

प्रश्न - भव परिवर्तन किसे कहते हैं ?

उत्तर - कोई एक जीव दस हजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी बार नरक सम्बन्धी दस हजार वर्ष की जघन्यायु से प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। पश्चात् एक-एक समय के अधिक क्रम से वहाँ की तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु को उसने क्रम से पूर्ण किया। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं उतनी बार तिर्यंचगति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त की जघन्यायु से तिर्यंचगति मे उत्पन्न हुआ। पश्चात् एक-एक समय के अधिक क्रम से वहाँ की तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु को उसने क्रम से पूर्ण किया। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार मनुष्यगति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त की जघन्यायु से मनुष्य गति में उत्पन्न हुआ। पश्चात् एक-एक समय के अधिक क्रम से वहाँ की तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु को उसने क्रम से पूर्ण किया। पश्चात् दस हजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी बार स्वर्ग सम्बन्धी दस हजार वर्ष की जघन्य आयु लेकर देवगति में उत्पन्न हुआ। पश्चात् एक-एक समय के अधिक क्रम से इकतीस सागर की आयु को पूर्ण किया, क्योंकि मिथ्यादृष्टि देव की आयु इकतीस सागर से अधिक नहीं होती।

इस क्रम से चारो गतियों में भ्रमण करने मे जितना काल लगे, उतने काल समुदाय को एक भव-परिवर्तन का काल कहते हैं, तथा इतने काल मे जितना भ्रमण किया जाय उसे भव परिवर्तन कहते हैं।

भाव परिवर्तन

असंख्यलोक-मानेषु, परिणामेषु वर्तते।
शरीरी भवसंसारे, कर्मभूप-वशीकृतः ॥१८६९॥

जघन्या मध्यमा वर्या, निविष्टाः स्थितयोऽखिलाः।
अतीतानन्तशः काले, भव-भ्रमण-कारिणा ॥१८७०॥

परिणामान्तरेष्वङ्गी, सर्वदा परिवर्तते।
वर्णेषु चित्र-रूपेषु, कृकलास इव स्फुटम् ॥१८७१॥

अर्थ - जीव के अध्यवसाय स्थान असख्यातलोक प्रमाण होते हैं अर्थात् लोकाकाश के असख्यात प्रदेशों को असंख्यात से गुणा करने पर जितनी राशि होती है उतने होते हैं। कर्मरूपी राजा के वशवर्ती हो यह जीव भव-ससार में उन्हीं असख्यातलोक प्रमाण अध्यवसाय रूप भावो में परावर्तन करता है।

कर्मों की जघन्य, मध्यम एव उत्कृष्ट तीनों प्रकार की कर्मस्थितियों को बाँधने में कारणभूत स्थिति बन्धाध्यवसान स्थान भी असख्यात लोक हैं। अतीतकाल मे इस जीव ने इन सब भवभ्रमणकारी परिणामों को अनन्तबार धारण किया है। जैसे कृकलास या सरड या गिरगिट नानाप्रकार के रग बदलता है वैसे ही यह ससारी जीव उपर्युक्त परिणामों में बदल-बदल कर प्रत्येक क्षण परिणमन करता रहता है। इसी को भाव परिवर्तन कहते हैं ॥१८६९-१८७०-१८७१॥

प्रश्न - भाव परिवर्तन का विस्तृत स्वरूप क्या है ?

उत्तर - कषाय और योग ये नवीन कर्मबन्ध मे कारण हैं। कषाय परिणामों के असख्यात भेद हैं, इन्हीं को कषाय बन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं। मनोवर्गणा आदि के अवलम्बन से आत्मप्रदेशों में कम्पन होकर कर्मग्रहण की जो शक्ति उत्पन्न होती है उसे योग कहते है। इसी के द्वारा जीव नित्य ही कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता रहता है। इस योगस्थान के भी असख्यात भेद हैं। आत्मा के जो परिणाम कर्मों की स्थिति में कारण हैं उन्हें स्थिति बन्धाध्यवसान स्थान कहते हैं और जो परिणाम अनुभाग मे कारण होते हैं उन्हे अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं।

श्रेणी के असख्यातवेभाग प्रमाण योग स्थानो के हो जाने पर एक अनुभाग बन्ध-अध्यवसाय स्थान होता है। असख्यात लोक प्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थानों के हो जाने पर एक स्थितिबन्ध अध्यवसाय स्थान होता है और असख्यात लोकप्रमाण स्थितिबन्ध अध्यवसाय स्थानो के हो जाने पर एक स्थिति स्थान होता है।

इसी क्रम से ज्ञानावरणादि सर्व मूल प्रकृतियो के एव उत्तर प्रकृतियों के समस्त स्थानों के पूर्ण हो जाने का नाम भाव-परिवर्तन है। यथा- पचेन्द्रिय, सज्ञी, पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि कोई जीव अपने योग्य ज्ञानावरण कर्म का सबसे जघन्य अन्त कोटाकोटिसागर प्रमाण स्थितिबन्ध करता है। उस जीव के उस स्थितिबन्ध के योग्य असख्यात-लोक प्रमाण कषायाध्यवसाय स्थान होते हैं, उनमें से सबसे जघन्यकषायाध्यवसाय स्थान में निमित्त असख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषाय-अध्यवसाय स्थान और सबसे जघन्य ही अनुभाग स्थान को प्राप्त उस जीव के उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है, फिर उसी स्थिति, उसी कषायस्थान और उसी अनुभाग स्थान को प्राप्त उस जीव के दूसरा योगस्थान होता है, जो पहले से असख्यात भाग वृद्धियुक्त होता है। इस प्रकार श्रेणी के असख्यातवेभाग प्रमाण योगस्थानों के समाप्त हो जाने पर पुन वही स्थिति और उसी कषायाध्यवसाय स्थान को प्राप्त उसी जीव के दूसरा अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना। इस प्रकार तीसरे आदि असख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानो के समाप्त हो जाने पर उसी स्थिति को प्राप्त उसी जीव के द्वारा दूसरा कषायाध्यवसाय स्थान होता है उसके भी अनुभाग अध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना। इस प्रकार तीसरे आदि कषायाध्यवसाय स्थानों के समाप्त होने पर वही जीव एक समय अधिक जघन्य स्थिति को बाँधता है, उसके भी कषायादि स्थान पूर्ववत् जानना। इसी प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से ज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर पूर्ववत् बाँधता है। इसी प्रकार सब मूलकर्मों की सब उत्तर प्रकृतियो की सब स्थितियो को उसी प्रकार से बाँधता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँचो मे से प्रत्येक परिवर्तन का काल अनन्त होते हुए भी क्रमश आगे-आगे इनमे अनन्तगुणा-अनन्तगुणा काल लगता है।

मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तकाल प्रमाण वाले इन परिवर्तनो को अनन्तानन्त बार भी कर लेता है। यह पच परावर्तनों का निरूपण मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा ही होता है, क्योकि जो जीव एक बार भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है वह अर्धपुद्गल परिवर्तन काल से अधिक ससार में नहीं रहता, नियमत. मोक्ष चला जाता है। नोकर्म

पुद्गल परिवर्तन का जितना काल है उतना ही काल अर्धपुद्गल परिवर्तन का है। केवलज्ञान का विषय होने से यह भी अनन्त रूप है।

संसार भय प्रदर्शन

आकाशे पक्षिणोऽन्योन्यं, स्थले स्थल-विहारिणः।
जले मीनाश्च हिंसन्ति, सर्वत्रापि भयं भवे ॥१८७२॥

अर्थ - ससार में सर्वत्र भय है, क्योंकि आकाश में उड़ने वाले छोटे पक्षियों को बड़े पक्षी त्रास देते हैं, या समान शक्ति वाले परस्पर में घात करते हैं। स्थल पर विचरण करने वाले हिरण एव चूहा आदि को सिंह तथा बिल्ली आदि मार कर खा जाते हैं तथा जल में मीन आदि परस्पर में घात करते हैं या एक दूसरे को निगल जाते हैं॥१८७२॥

शयालोर्मुखमभ्येत्य, व्याधारब्धो यथा शशः।
मन्वानो विवरं दीनः, प्रयाति यम-मन्दिरम् ॥१८७३॥

क्षुत्तृष्णादि-महाव्याध-प्रारब्धश्चेतनस्तथा।
अज्ञो दुःखकरं याति, संसार-भुजगाननम् ॥१८७४॥

अर्थ - जैसे खरगोश शिकारी (व्याध) द्वारा सताये जाने पर बिल समझकर अजगर के मुख में प्रवेश करता है, वह उस मुख को अपना शरण मानकर मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है, वैसे ही ये अज्ञानी जीव भूख-प्यास आदि व्याधो के द्वारा पीड़ित होने पर सुखप्राप्ति की आशा से अत्यन्त दुख के निमित्तभूत ससाररूपी अजगर के मुख मे प्रवेश करते हैं॥१८७३-१८७४॥

यावन्ति सन्ति सौख्यानि, लोके सर्वासु योनिषु।
प्राप्तानि तानि सर्वाणि, बहुबारं शरीरिणा ॥१८७५॥

अर्थ - लोकगत सब योनियो में जितने प्रकार के सुख हैं, उन सब सुखो को भी इस जीव ने अनन्त बार भोगा है॥१८७५॥

अवाप्यानन्तशो दुःखमेकशो लभते यदि।
सुखं तथापि सर्वाणि, तानि लब्धान्यनेकशः ॥१८७६॥

अर्थ - यह ससार का सुख भी अनन्त बार दुख भोग लेने के बाद कहीं एक बार प्राप्त होता है। अर्थात् अनन्त बार दुख, एक बार सुख, फिर अनन्त बार दुख, एक बार सुख, इस क्रम के कारण दुख भोगने का समय अधिक और सुखमय समय कम होता है। तथापि ससार के जो भी इन्द्रियजन्य सुख हैं उन सभी को भी यह जीव अनेक बार भोग चुका है॥१८७६॥

प्रश्न - ससार के कौन से सुख इस जीव ने अनेक बार भोगे हैं और कौन से ऐसे सुख हैं जो इसे अद्यावधि प्राप्त नहीं हुए ?

उत्तर - इस जीव ने देवगति के, भोगभूमि के, विद्याधरों के एव राजा-महाराजा आदि के सुख अनेक बार भोग लिये हैं, किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, पच अनुत्तर विमान-वासी, अनुदिश विमानवासी देव, सौधर्मेन्द्र, उसकी शची, उसके लोकपाल एव लौकान्तिक देव इनके सुख प्राप्त नहीं किए, क्योंकि इन स्थानों मे से कुछ स्थान आसन्नभव्यो को, कुछ स्थान सम्यग्दृष्टि को और कुछ स्थान तद्भव मोक्षगामी जीव को ही प्राप्त होते हैं।

स चतुर्भिस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनाक्षेण वर्जितः।
संसार-सागरेऽनन्ते, जायतेऽनन्तशोऽसुमान् ॥१८७७॥

अर्थ - इस जीव ने इस अनन्त संसार मे परिभ्रमण करते हुए कभी चार इन्द्रियों से, कभी तीन इन्द्रियो से, कभी दो इन्द्रियों से और कभी एक इन्द्रिय से रहित होकर एक-एक पर्याय में अनन्त-अनन्त बार जन्म लिया है अर्थात् अनन्त-अनन्त बार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय पर्यायों में जन्म लिया है ॥१८७७॥

प्रश्न - इन पर्यायों मे सबसे अधिक काल और सबसे कम काल किसका होता है?

उत्तर - संसारी जीव का सबसे अधिक काल एकेन्द्रिय पर्याय मे, उससे कम द्वीन्द्रिय में, उससे कम त्रीन्द्रिय मे और उससे भी कम चतुरिन्द्रिय पर्याय मे व्यतीत होता है।

विचक्षुर्बधिरो मूको, वामनः पामनः कुणिः।
दुर्वर्णो-दुःस्वरो मूर्खश्चुल्लश्चिपिट-नासिकः ॥१८७८॥

व्याधितो व्यसनी शोकी, मत्सरी पिशुनः शठः।
दुर्भगो गुण-विद्वेषी, वञ्चको जायते भवे ॥१८७९॥

क्षुधितस्तृषितः श्रान्तो, दुःखभार-वशीकृतः।
एकाकी दुर्गमे दीनो, हिण्डते भव-कानने ॥१८८०॥

अर्थ - यह जीव किसी पुण्योदय से मनुष्य भी हो गया तो अधा या बहरा, मूक अर्थात् गूंगा, या बौना, पगु, कुबड़ा, बदसूरत, कर्कश वाणी बोलने वाला, मूर्ख, चिडचिड़े स्वभाव वाला, चिपटी नाक वाला, दीर्घरोगी, व्यसनी, सदा शोक से सतप्त, मत्सरस्वभावी, चुगलखोर, शठ, दरिद्री या दुर्भग, गुणों से द्वेष करने वाला, छल-कपट स्वभाव वाला, हीन-दीन, दुखी एव पापमय अवस्थाओ को प्राप्त कर दुख पाता है। ससाररूपी भयानक अटवी मे दुखभार के वशवर्ती हुआ यह दीन-अनाथ प्राणी भूखा, प्यासा, थका-माँदा अकेला ही परिभ्रमण करता है अर्थात् मार्गभ्रष्ट पथिक सदृश मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वन मे असहाय होकर अकेला ही भ्रमण करता रहता है ॥१८७८-१८७९-१८८०॥

एकेन्द्रियेष्वयं जीवः, पञ्चस्वपि निरन्तरम्।
उत्थान-वीर्य-रहितो, दीनो बंभ्रमते चिरम् ॥१८८१॥

अर्थ - पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक एव वनस्पतिकायिक इन पाँच प्रकार के स्थावर की एकेन्द्रिय पर्यायो में यह जीव बल-वीर्य से रहित होता हुआ चिरकाल तक परिभ्रमण करता है अर्थात्

इन पर्यायों में इतनी भी शक्ति नहीं होती कि त्रसकाय की प्राप्ति के लिए परिणाम सम्हालने का प्रयत्न कर सकें ॥१८८१॥

चित्र-दुःख-महावर्तामिमां संसृति-वाहिनीम्।
अज्ञान-मिलितो जीवो, गाहते पाप-पाथसम् ॥१८८२॥

अर्थ - जिसमें अनेक प्रकार के दुखरूपी महाआवर्त उठ रहे हैं और पापरूपी जलप्रवाह से प्रवाहित हो रही है ऐसी ससाररूपी विशाल एवं भयानक नदी में यह अज्ञानी जीव बहता जा रहा है। अर्थात् उस नदी में डूबा रहता है ॥१८८२॥

इन्द्रियार्थाभिलाषारं, चञ्चलं योनिनेमिकम्।
मिथ्याज्ञान-महातुम्बं, दुःख-कीलक-यन्त्रितम् ॥१८८३॥

कषाय-पट्टिकाबद्धं, जरा-मरण-वर्तनम्।
संसार-चक्रमारुह्य, चिरं भ्राम्यति चेतनः ॥१८८४॥

अर्थ - यह ससार रूपी वाहन या चक्र इन्द्रिय विषयों की अभिलाषा रूपी आरो से युक्त है, कुयोनिरूपी नेमि अर्थात् हाल उस पर चढी हुई है, वह मिथ्याज्ञान रूपी महातुम्ब पर स्थित है, दुख रूपी महाकीलों से नियन्त्रित है, कषायरूपी दृढ़ पट्टिका से बद्ध है और जरा तथा मरण रूपी दो पहियों से युक्त है, ऐसे ससार रूपी चक्र पर चढ़कर यह चेतन प्राणी पराधीन हुआ हजारों जन्मरूपी विशाल मार्ग पर चिरकाल से परिभ्रमण कर रहा है ॥१८८३-१८८४॥

वहमानो नरो भारं, क्वापि विश्राम्यति ध्रुवम्।
न देह-भारमादाय, विश्राम्यति कदाचन ॥१८८५॥

अर्थ - भारवाही मनुष्य तो किसी क्षेत्र और काल मे कभी अपना भार उतार कर विश्राम कर लेता है किन्तु शरीर के भार को ढोने वाले ससारी प्राणी एक क्षण के लिए भी भारमुक्त होकर विश्राम नहीं पाते अर्थात् औदारिक, वैक्रियिक शरीर छूट जाने पर भी कार्मण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं ॥१८८५॥

बम्भ्रमीति चिरंजीवो, मोहान्ध-तमसावृतः।
संसारे दुःखित-स्वान्तो, विचक्षुरिव कानने ॥१८८६॥

अर्थ - जैसे अन्धा व्यक्ति जगल में भटकते हुए दुखी होता रहता है, वैसे ही ससार रूपी भयावह वन में यह जीव मोहरूपी अन्धकार से आवृत अर्थात् अन्धा होकर चिरकाल तक भटकता रहता है ॥१८८६॥

भीतः करोति दुःखेभ्यः, सुख-सङ्गम-लालसः।
अज्ञान-तमसाछन्नो, हिंसारम्भादि-पातकम् ॥१८८७॥

हिंसारम्भादि-दोषेण, गृहीत-नव-कल्मषः।
प्रदह्यते प्रविष्टोऽङ्गी, पावकादिव पावकम् ॥१८८८॥

अर्थ - अज्ञान अंधकार से आच्छादित यह मोही प्राणी दुखों से डरता है और सुखप्राप्ति की अभिलाषा करता है तथा उस अभिलाषा की पूर्ति हेतु हिंसा, झूठ, चोरी एव आरम्भ आदि पाप करता है। इस प्रकार वह हिंसा-आरम्भादि दोषों के कारण नये-नये असातावेदनीय, नीचगोत्र एव नरकायु आदि पाप प्रकृतियों का बन्ध करता है। जिसके फलस्वरूप वह कुगतियो मे प्रविष्ट हो अत्यधिक दुखों से उसी प्रकार जलता है, जिस प्रकार एक अग्नि से निकल कर दूसरी अग्नि मे प्रविष्ट होने वाला मूर्ख प्राणी सदा जलता रहता है॥१८८७-१८८८॥

गृह्णता मुञ्चता दारुणं कल्मषं, सौख्य-कांक्षेण जीवेन मूढात्मना।
भ्रम्यते संसृतौ सर्वदा दुःखिना, पावनं मुक्तिमार्गं ततोऽपश्यता॥१८८९॥

इति जन्मानुप्रेक्षा।

अर्थ - मूढ़ अज्ञानी जीव, जो कर्म उदय मे आकर फल दे चुकते हैं, उन्हे छोड़ देता है तथा कर्मफल भोगते समय होने वाले राग-द्वेष रूप परिणामो से एव भविष्य मे इन्द्रिय सुख की वाछा से दारुण नवीन पापकर्मों का बन्ध करता है। इस ग्रहण-मोचन मे सलग्न रहने के कारण वह परम-पावन रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को न जान पाता है और न देख पाता है, इसलिए बहुत भयकर दुखों से भरे ससार में भ्रमण कर सतप्त होता रहता है॥१८८९॥

इस प्रकार संसारानुप्रेक्षा पूर्ण हुई॥५॥

लोक भावना

सर्वे सर्वैः समं प्राप्ताः, सम्बन्धा जन्तुनाङ्गिभिः।
भवति भ्रमतः कस्य, तत्र तत्रास्य बान्धवाः॥१८९०॥

अर्थ - इस लोक मे सभी जीव सभी जीवो के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर चुके हैं। भ्रमण करते हुए इस जीव ने चारो गति सम्बन्धी नाना योनियों मे जहाँ-जहाँ जन्म लिया, वहीं-वहीं कौन-कौन इसका बन्धु-बाँधव नहीं हुआ ? अपितु सभी जीव अनेक बार बाँधव हो चुके हैं॥१८९०॥

माता सुता स्नुषा भार्या, सुता कान्ता स्वसा स्नुषा।
पिता पुत्रो नृपो दासो, जायतेऽनन्तशो भवे॥१८९१॥

अर्थ - ससार मे जो इस जन्म मे माता है, वही किसी भव में पुत्री हो जाती है, पुत्रवधू पत्नी हो जाती है, पुत्री पत्नी, और बहिन-पुत्रवधू बन जाती है। जो पूर्व भव में पिता था वह पुत्र, जो राजा था वह दास और जो दास था वह राजा बन जाता है। इस प्रकार का यह परिवर्तन अनन्तबार हो चुका है॥१८९१॥

वसन्ततिलका माता, भगिनी कमला च ते।
एकत्र धनदेवस्य, भार्या जाता भवे ततः॥१८९२॥

अर्थ - देखो ! अन्य भवों मे सम्बन्ध बदलने की तो बात ही क्या है ? किन्तु एक ही भव में धनदेव की माता वसन्ततिलका एव बहिन कमला, ये दोनो उसी धनदेव की पत्नियाँ हुईं॥१८९२॥

प्रश्न - माता और बहिन उसी भव में उसी की पत्नियाँ बन जाँय, भला यह कैसे सम्भव है ?

उत्तर - विषयभोगों से उपार्जित पापकर्मों के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। यदि एक शरीर भी धारण करने पर जीव नाना प्रकार के अपवादों और दुखों को प्राप्त होता है और अपनी मानसिक वेदना से उग्र पापबन्ध करता है तब विषयसेवन द्वारा पापकर्म उपार्जित करने वाला पापी पुरुष नाना शरीर धारण करने पर कैसे दुख नहीं पावेगा? अवश्य ही दुख प्राप्त करेगा। क्योंकि मदोन्मत्त एवं बलशाली हाथी द्वारा वेग से फेंकी हुई तीक्ष्ण तलवार जितना दुख नहीं देती, उससे भी अधिक दुख विषयभोग देते हैं, इसीलिए तत्त्वज्ञानी जन विषयों का त्याग कर देते हैं।

❋ धनदेव (अठारह नाते) की कथा ❋

मालवदेश की उज्जैनी नगरी में राजा विश्वसेन, सेठ सुदत्त और वसंततिलका वेश्या रहती थी। सेठ सुदत्त सोलह करोड़ द्रव्य का स्वामी था। उसने वसततिलका वेश्याको अपने घर में रख लिया। वह गर्भवती हुई और खाज, खाँसी, श्वास आदि रोगोने उसे घेर लिया। तब सेठने उसे अपने घरसे निकाल दिया। अपने घर में आकर वसततिलका ने एक पुत्र और एक पुत्रीको जन्म दिया। खिन्न होकर उसने रत्न कम्बल में लपेट कर कमला नाम की पुत्री को तो दक्षिण ओर की गलीमे डाल दिया। उसे प्रयाग का व्यापारी सुकेत ले गया और उसने उसे अपनी सुपुत्रा नामकी पत्नी को सौंप दिया तथा धनदेव पुत्र को उसी तरह रत्नकम्बल से लपेटकर उत्तर ओर की गली में रख दिया। उसे अयोध्यावासी सुभद्र ले गया और उसने उसे अपनी सुव्रता नाम की पत्नी को सौंप दिया। पूर्वजन्म मे उपार्जित पापकर्म के उदय से धनदेव और कमला का आपस में विवाह हो गया। एक बार धनदेव व्यापारके लिए उज्जैनी गया। वहाँ वसततिलका वेश्यासे उसका सम्बन्ध हो गया। दोनों के सम्बन्ध से वरुण नामका पुत्र हुआ। एक बार कमला ने श्री मुनिदत्त से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त पूछा। श्री मुनिदत्त ने सब सम्बन्ध बतलाया, जो इस प्रकार है।

उज्जैनी में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम काश्यपी था। उन दोनों के अग्निभूति और सोमभूति नामके दो पुत्र थे। वे दोनो परदेश से विद्याध्ययन करके लौट रहे थे। मार्ग मे उन्होंने जिनमति आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा तथा सुभद्रा आर्यिका को अपने श्वसुर जिनभद्र मुनिसे कुशलक्षेम पूछते हुए देखा। इस पर दोनो भाइयो ने उपहास किया। जवान की स्त्री बूढी और बूढ़े की स्त्री जवान, 'विधाता ने अच्छा उलट फेर किया है।' कुछ समय पश्चात् अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उज्जैनी मे ही वसन्तसेना की पुत्री वसततिलका हुई और अग्निभूति तथा सोमभूति दोनों मरकर उसके धनदेव और कमला नाम के पुत्र और पुत्री हुए। ब्राह्मण की पत्नी व्यभिचारिणी काश्यपी मरकर धनदेव के सम्बन्ध से वसततिलका के वरुण नाम का पुत्र हुई। इस कथा को सुनकर कमला को जातिस्मरण हो आया। उसने मुनिराज से अणुव्रत ग्रहण किये और उज्जैनी जाकर वसन्त-तिलका के घरमें घुसकर पालने में पड़े हुए वरुण को झुलाने लगी और उससे कहने लगी (१) मेरे पति के पुत्र होने से मेरे पुत्र हो। (२) मेरे भाई धनदेव के पुत्र होने से तुम मेरे भतीजे हो। (३) तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अत· तुम मेरे भाई हो। (४) धनदेव के छोटे भाई होने से तुम मेरे देवर हो। (५) धनदेव मेरी माता वसंततिलका का पति है, इसलिए धनदेव मेरे पिता हैं। उसके भाई होने से तुम मेरे काका हो। (६) मैं वेश्या वसंततिलका की

सौत हूँ अत: धनदेव मेरा पुत्र है। तुम उसके भी पुत्र हो, अत: तुम मेरे पौत्र हो। यह छह नाते बच्चे के साथ हुए। आगे-(१) बसंततिलका का पति होने से धनदेव मेरा पिता है। (२) तुम मेरे काका हो और धनदेव तुम्हारा भी पिता है, अत: वह मेरा दादा है। (३) तथा वह मेरा पति भी है। (४) उसकी और मेरी माता एक ही है; अत: धनदेव मेरा भाई है। (५) मै वेश्या वसततिलका की सौत हूँ और उस वेश्या का वह पुत्र है; अत: मेरा भी पुत्र है। (६) वेश्या मेरी सास है, मैं उसकी पुत्रवधू हूँ और धनदेव वेश्या का पति है; अत: वह मेरा श्वसुर है। ये छह नाते धनदेव के साथ हुए। आगे-(१) मेरे भाई धनदेव की पत्नी होने से वेश्या मेरी भावज है। (२) तेरे मेरे दोनो के धनदेव पिता है और वेश्या उनकी माता है; अत वह मेरी दादी है। (३) धनदेव की और तेरी भी माता होने से वह मेरी भी माता है। (४) मेरे पति धनदेव की भार्या होने से वह मेरी सौत है। (५) धनदेव मेरी सौत का पुत्र होने से मेरा भी पुत्र कहलाया। उसकी स्त्री होने से वह वेश्या मेरी पुत्रवधू है। (६) मैं धनदेव की स्त्री हूँ और वह उसकी माता है, अत वह मेरी सास है। इन अठारह नातों को सुनकर वेश्या एव धनदेव आदि को भी सब बातें ज्ञात हो जाने से जातिस्मरण हो आया और उन्हे वैराग्य हो गया।

संसारे जायते यस्मिन्नृपोऽपि खलु किङ्करः।
कीदृशी क्रियते तत्र, रति-निन्दा-निधानके ॥१८९३॥

अर्थ - जिस ससार मे निश्चय से राजा भी किंकर हो जाता है, निन्दा के भण्डार स्वरूप इस ससार से प्रेम किस प्रकार किया जाता है ? अर्थात् जो बुद्धिमान् और विवेकी हैं वे ससार से प्रेम नहीं करते, वैराग्य धारण कर लेते है॥१८९३॥

विदेहाधिपती राजा, तेजो-रूप-कुलाधिकः।
जातो वर्च्चो-गृहे कीटः, सुभोगः पूर्व-कर्मभिः ॥१८९४॥

अर्थ - विदेह देश का राजा सुभोग तेज, रूप एव कुल से अधिक होते हुए भी अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से प्रेरित हो अपने ही भवन के विष्ठागृह मे स्थित विष्ठा में कीड़ा हुआ अर्थात् जब राजादि श्रेष्ठ पुरुषो की भी ऐसी हीन दशा हो जाती है तब अन्य जीवो की क्या कथा !॥१८९४॥

❋ सुभोग राजा की कथा ❋

विदेह देशकी मिथिला नगरीमें राजा सुभोग राज्य करता था, उसकी रानी मनोरमा और पुत्र देवरति था, एक दिन मिथिलाके उद्यानमे देवगुरु नामके अवधिज्ञानी आचार्य सघ सहित आये। राजा उनके दर्शनके लिये गया। धर्मोपदेश सुननेके अनतर राजा ने प्रश्न किया कि मैं आगामी भवमे कौनसी पर्याय धारण करूगा? मुनि ने कहा - राजन् ! सुनो, पापकर्मो के उदय से आप विष्ठा मे कीडा होओगे। मुनिराजने मरणकालकी निकटता एव उसके चिह्न भी बताये। राजा उदास हो महलमें लौट आया। क्रमश मृत्युके चिह्न जैसे बताये थे वैसे प्रगट होने लगे जिससे मुनिके वचनो पर पूर्ण विश्वास हुआ। उसने पुत्र देवरति को बुलाकर मुनिके मुखसे सुना हुआ आगामी भवका हाल बताकर कहा कि हे पुत्र ! मैं मरणकर विष्ठागृह में पचरग का कीड़ा होवूंगा। उस निंद्य पर्याय मे रहना सर्वथा अनुचित है अत. तुम उस कीडे को मार देना। मुनिराजके कथनानुसार राजा की निश्चित समयपर मृत्यु हो जाती है और वह विष्ठाका कीडा बनता है। देवरति उसको देखकर मारना चाहता है किन्तु

कीड़ा विष्ठा समूह में घुस जाता है। अनतर किसी एक दिन देवरति किसी ज्ञानी मुनिसे अपने पिताके कीड़ा होना आदिका वृत्तात कहकर पूछता है कि हे पूज्यवर! पिताकी इच्छानुसार उनकी इस निंद्य पर्यायको नष्ट करने के लिये मैंने प्रयत्न किया किन्तु वह कीड़ा तो विष्ठामे-भीतर भीतर घुसता है सो क्या कारण है ? मुनिराजने कहा यह ससारी मोहीप्राणी जहाँ जिस पर्यायमें जाता है वहाँ उसी में रमता है, यही मोह की विचित्र लीला है, इस पर्यायबुद्धि के कारण ही आजतक जीवों का कल्याण नहीं हुआ है। इत्यादि, अनेक प्रकारसे देवरतिको वैराग्यप्रद उपदेश दिया जिससे राजाने भोगों से विरक्त हो जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

देवो महर्द्धिको भूत्वा, पवित्र-गुण-विग्रहः।
गर्भे वसति वीभत्से, धिक्संसारमसारकम् ॥१८९५॥

अर्थ - यह जीव पुण्योदय से पवित्र गुणो से सहित, सप्त धातु रहित दिव्य वैक्रियिक शरीर तथा अणिमा-महिमादि अष्ट महा ऋद्धियों से सम्पन्न वैमानिक देव होकर भी आयु पूर्ण होने के पश्चात् घिनावने गर्भ में आकर नौ मास तक मस्तक नीचे और पैर ऊपर कर निवास करता है। हाय! इस असार ससार को धिक्कार है, धिक्कार है॥१८९५॥

प्रश्न - देव कितने प्रकार के होते हैं और उनकी ऋद्धियों के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी एव वैमानिक के भेद से देव चार प्रकार के होते हैं। इनमें से वैमानिक देवों की ऋद्धियाँ अधिक प्रभावशाली होती हैं।

अणिमाऋद्धि - दिव्यबल, वीर्य, विक्रम, शरीर और आयु वाले देव अणिमा ऋद्धि द्वारा अपने वैक्रियिक शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म बना सकते हैं। **महिमा** - शरीर बहुत बडा बना सकते हैं। **लघिमा** - अर्कतूलवत् हल्का शरीर निर्माण कर सुदूर तक ऊपर उठ सकते हैं। **गरिमा** - पर्वत से भारी शरीर बनाकर बड़ों-बडो को रोक सकते हैं। **प्राप्ति** - अपने स्थान पर रहकर अर्थात् पृथ्वी पर खड़े रह कर सुदूरवर्ती सुमेरु की चोटी के अग्रभाग का स्पर्श कर सकते है। **प्राकाम्य** - इच्छानुसार हजारो रूप बना सकते हैं अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, काष्ठ और प्राणियो के शरीर में भी प्रवेश कर उन्हीं के सदृश हो जाते हैं। **ईशत्व** - ऐश्वर्य एव प्रभावशाली होकर बिना प्रयत्न के देवो और मनुष्यो का स्वामित्व कर सकते हैं। **वशित्व** - सबको अर्थात् चपल स्वभावी मृगो को भी अपने वश में कर सकते हैं।

देव इन ऋद्धियो के अतिरिक्त और भी अनेक विशेषताओं से युक्त हुआ करते हैं, किन्तु आयु समाप्त होते ही मनुष्य भव में आकर माता के वीभत्स गर्भालय में पड़े रहते हैं, अत ज्ञानीजन ससार के किसी भी पदार्थ से स्नेह नहीं करते।

यत्र खादति पुत्रस्य, जनन्यपि कलेवरम्।
तत्रत्रामुत्र वा बन्धौ, शत्रुत्वे कोऽस्ति विस्मयः॥१८९६॥

अर्थ - जहाँ माता भी अपने पुत्र के शरीर को खा जाती है वहाँ इस लोक या परलोक में यदि बन्धुजन शत्रु बन जाते हैं, तो इसमे क्या आश्चर्य है?॥१८९६॥

बन्धू रिपू रिपुर्बन्धुर्जायते कार्यतस्ततः।
यतो रिपुत्व-बन्धुत्वे, संसारे न निसर्गतः ॥१८९७॥

अर्थ - संसार में अपने-अपने कार्यवश बन्धुजन शत्रु और शत्रुजन बन्धु बन जाते हैं अतः यह निश्चित मानो कि इस संसार में बन्धुत्व और शत्रुत्व स्वाभाविक नहीं हैं॥१८९७॥

वक्रेण विमला-हेतोः, सुदृष्टिर्विनिपातितः।
निजाङ्गनाङ्गजो भूत्वा, जातिस्मरो बत॥१८९८॥

अर्थ - सुदृष्टि नामक रत्नपारखी अपनी पत्नी विमला के निमित्त अपने सेवक वक्र के द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमला के ही गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ। वहाँ उसे जातिस्मरण हो गया। अर्थात् उसे ज्ञान हो गया कि मैं अपनी पत्नी के गर्भ में अपने ही वीर्य से पैदा होने वाला पुत्र हूँ॥१८९८॥

❋ सुदृष्टि सुनारकी कथा ❋

उज्जैन मे सुदृष्टि नामका एक सुनार था। वह जवाहरातके जेवर बनानेमे बड़ा निपुण था। उसकी पत्नी विमला दुराचारिणी थी। अपने ही घर में रहने वाले विद्यार्थी वक्र से उसका अनुचित सबध था। विमला ने एक दिन उस यार से कहकर अपने पति सुदृष्टि को मरवा डाला। वह मरकर उसी विमला के गर्भ में आया, यथासमय पुत्र हुआ और क्रमश बडा हो गया। किसी दिन उस उज्जैन नगरी के राजा प्रजापाल की पट्टदेवी सुप्रभा का मूल्यवान रत्नहार टूट गया। अनेक सुनारो के पास उसे भेजा गया, किन्तु कोई भी उस हार को ठीकसे बना नहीं पाया। अन्तमें उसी विमलाके यहाँ वह हार पहुँचा। उसके पुत्र ने जैसे ही हार देखा, वैसे उसको जातिस्मरण होगया। उसने हार तो बना दिया, किन्तु उस दिनसे वह अत्यत उदास रहने लगा। राजाको हार ठीक हो जानेसे बडी प्रसन्नता हुई, अत उसने उस सुनारपुत्र को बुलाकर पूछा कि-इस हारको कोई बना नहीं पा रहा था, तुमने कैसे बनाया ? तब उसने एकातमे अपने पूर्वभवसे अब तक का सारा वृत्तात सुनाया। राजा प्रजापाल आश्चर्यचकित हो गया, उसे इस विचित्र भव परम्परा को देखकर वैराग्य हुआ। सुनारपुत्र तो पहले से ही उदास हो चुका था, उसका मन ग्लानिसे भरा था कि अहो ! यह कैसा परिवर्तनशील ससार है ! जहाँ स्वयकी पत्नी से पतिका जन्म पुत्र रूपसे होता है । धिक् ! धिक् ! मोहतम को ! इसप्रकार विचार कर उसने भी अपना कल्याण किया।

श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा, कृत्वा मानेन पातकम्।
सूकरो मण्डलः पाणो, शृगालो जायते बकः॥१८९९॥

अर्थ - श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर अपनी जाति का मान कर नीच गोत्रकर्म का बन्ध करता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य आयु पूर्ण होने पर सूकर, कुत्ता, चाण्डाल, सियार और बगुला हो जाता है अर्थात् जो उच्च पर्याय मे था वही नीच से भी नीच पर्याय प्राप्त कर लेता है॥१८९९॥

निन्दां दारिद्र्यमैश्वर्यं, पूजामभ्युदयं स्तुतिम्।
स्त्रैणं पौंस्नं चिरं जीवः, षण्ढत्वं प्रतिपद्यते॥१९००॥

अर्थ - यह जीव कर्माधीन होने के कारण किसी एक अवस्था में सदा स्थिर नहीं रहता। कभी निन्दा

का पात्र बनता है, कभी दरिद्री तो कभी ऐश्वर्यवान् होता है, कभी पूजा-आदर, वैभव एव प्रशसा प्राप्त करता है तथा चिरकाल कभी स्त्री, कभी पुरुष और कभी नपुसक होता रहता है॥१९००॥

निर्दोषमपि निःपुण्यं, सदोषं मन्यते जनः।
सदोषमपि पुण्याढ्यं, निर्दोषं पुरुषः पुनः॥१९०१॥

अर्थ - इस लोक में पुण्यहीन मनुष्य निर्दोष होने पर भी सदोष सिद्ध कर दिये जाते हैं और पुण्यवान् मनुष्य सदोष होते हुए भी निर्दोष सिद्ध हो जाते हैं॥१९०१॥

निसर्गतः कोपि समेऽपि वल्लभो, विचेष्टतेऽन्योऽसुमतामवल्लभः।
समानरूपे सति चन्द्रिकोदये, प्रियो हि पक्षो धवलः प्रियोऽपरः॥१९०२॥

अर्थ - जैसे दोनों पक्षों में चन्द्र की चाँदनी का समान उदय होने पर भी लोग कृष्ण पक्ष से द्वेष और शुक्ल पक्ष से प्रेम करते हैं, वैसे ही स्वभाव से समान होते हुए भी कोई व्यक्ति तो जीवों को प्रिय लगता है और कोई अप्रिय लगता है॥१९०२॥

विचिन्त्य मानं जगतो विचेष्टितं, विचित्ररूपं भयदायि दुर्गमम्।
करोति वैराग्यमनन्यगोचरं, दुरीहितं पूर्वमिवोदयं गतम्॥१९०३॥

अर्थ - इस प्रकार जगत् की विचित्र चेष्टाओ का और अत्यन्त दुख तथा भय देने वाले अहकार का चिन्तन करने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति वैराग्यभाव को प्राप्त हो जाता है। उनका वैराग्य जन-साधारण के अगोचर, अत्यन्त कठिन और ऐसा दृढ़ होता है मानों पूर्व से प्राप्त किया हो एव अभ्यासयुक्त हो॥१९०३॥

लोक-स्वभावं चपलं दुरन्तं, दुःखानि दातुं सकलानि शक्तम्।
निरीक्षमाणा न बुधा रमन्ते, भयङ्करं व्याघ्रमिवानिवार्यम्॥१९०४॥

इति लोकानुप्रेक्षा।

अर्थ - जिसको रोकना दुर्निवार ही नहीं किन्तु अशक्य है ऐसे भयकर व्याघ्र को देखकर जैसे उसमे प्रीति नहीं होती अपितु भय ही उत्पन्न होता है, वैसे ही स्वभाव से चचल, दुरन्त और सब प्रकार के दुख देने मे समर्थ ऐसे लोक को देखने वाले ज्ञानीजन उसमें अनुराग नहीं करते अपितु भयभीत होते हुए वैराग्य धारण कर लेते हैं॥१९०४॥

इस प्रकार लोकभावना का वर्णन पूर्ण हुआ।

अशुचि भावना

अशुभाः सन्ति निःशेषाः, पुंसां कामार्थ-विग्रहाः।
शुभोऽत्र केवलं धर्मो, लोकद्वय-सुखप्रदः॥१९०५॥

अर्थ - दोनों लोकों में सुख देने वाला मात्र धर्म ही शुभ एव पवित्र है। कामभोग, धन तथा सब मनुष्यो के शरीर अशुभ हैं॥१९०५॥

धनकी अशुभता

अर्थो मूलमनर्थानां, निर्वाण-प्रतिबन्धकः।
लोकद्वये महादोषं, दत्ते पुंसां दुरुत्तरम् ।।१९०६।।

अर्थ - धन सब अनर्थों की जड़ है, मोक्षमार्ग का प्रतिबन्धक है और यह धन पुरुषों को दोनों लोकों में महादोष देता है अर्थात् धन प्राप्त कर मनुष्य व्यसनो में फँस जाता है उससे वह इस लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक मे कष्ट प्राप्त करता है।।१९०६।।

काम पुरुषार्थ की अशुभता

निन्द्य-स्थान-भवाः कामा, भीमा लाघव-हेतवः।
दुःखप्रदा द्वये लोके, स्वल्प-कालाः सुदुर्लभाः ।।१९०७।।

अर्थ - ये कामभोग निन्द्यस्थान से उत्पन्न होते है, भयकर है, आत्मा को लघु-हीन करने में कारण हैं, दोनों लोको मे दुखदायी हैं, अल्पकालीन हैं और बडी कठिनाई से प्राप्त होते हैं।।१९०७।।

मांसलिप्ता सिराबद्धा कुथितास्थिदलाचिता।
सता कायकुटी कुत्स्या कुथितैर्विविधैर्भृता।। १९०८।।

अर्थ - यह मानव-शरीररूपी झोपडी मास रूपी मिट्टी से लीपी गई है, शिराओरूपी छाल से बाँधी गई है, कुत्सित अस्थिरूप पत्तो से छाई हुई है और अनेक घिनावनी एव अपवित्र वस्तुओ से भरी हुई है अत सज्जनो द्वारा ग्लानि करने योग्य ही है।।१९०८।।

निसर्ग-मलिनः कायो, धाव्यमानो जलादिभिः।
अङ्गार इव नायाति, स्फुट शुद्धिं कदाचन।।१९०९।।

अर्थ - जैसे कोयलो को जलादि से धोने पर भी वे श्वेत नहीं होते, वैसे ही स्वभाव से मलिन यह शरीर जलादि से धोने पर भी कभी शुद्धि को प्राप्त नहीं होता है।।१९०९।।

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्य, सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम्।
अमेध्य-मिश्राणि पुनःशरीर, न तानि मेध्य विदधात्यमेध्यम् ।।१९१०।।

अर्थ - अपवित्र शरीर पवित्रजलादि को शीघ्र ही अपवित्र कर देता है। जल स्वय अपवित्र नहीं है किन्तु अपवित्र शरीरादि के स्पर्श या मिश्रित होने पर अपवित्र हो जाता है। पवित्र जल शरीर को पवित्र नहीं बना पाता किन्तु अपवित्र शरीर पवित्र जल को अवश्यमेव अपवित्र कर डालता है।।१९१०।।

अमेध्य-निर्मितो देहः, शोध्यमानो जलादिभिः।
अमेध्यैर्विविधैः पूर्णो, न कुम्भ इव शुद्ध्यति।।१९११।।

अर्थ - जैसे विविध मल, मूत्र, थूक आदि से भरा हुआ घट बाहर जलादि पवित्र पदार्थों से धोये जाने पर भी शुद्ध नहीं होता, वैसे ही अपवित्र माँस, मज्जा एव हड्डी आदि से निर्मित यह शरीर जलादि से धोये जाने पर भी शुद्ध नहीं होता।।१९११।।

पवित्र पदार्थ का निर्देश

भवन्ति जल्लौषधयो मुनीन्द्रा, धर्मेण देवाः प्रणमन्ति सेन्द्राः।
यतस्ततो नास्ति ततः प्रशस्तः, कल्याण-विश्राणन-कल्पवृक्षः ॥१९१२॥

इति अशुच्यनुप्रेक्षा।

अर्थ - जिस कारण से धर्म द्वारा अपवित्र शरीरधारी मनुष्य भी पूज्य हो जाता है, उस कारण से रत्नत्रय धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ प्रशस्त या पवित्र नहीं है। धर्म सम्पूर्ण सुख-परम्परा को देने वाला कल्पवृक्ष है। सब देवों सहित इन्द्र भी धर्ममूर्ति मुनीन्द्रों की वन्दना तथा सेवा करता है। इस पवित्र रत्नत्रय धर्म द्वारा महामुनिराज जल्लौषधि आदि ऋद्धियों से सम्पन्न हो जाते हैं अर्थात् रत्नत्रय धर्म का पालन करने से अनेक मुनिराजों के शरीर का नैसर्गिक मल भी औषधिरूप परिणत हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि इस जगत् में सबसे अधिक पवित्र या प्रशस्त या शुद्ध या पावन या शुचि मात्र रत्नत्रय धर्म ही है॥१९१२॥

इस प्रकार अशुचि भावना पूर्ण हुई ॥७॥

आस्रव भावना

ससार-परिभ्रमण का कारण

दुःखोदके भवाम्भोधौ, कषायेन्द्रियवार्चरैः।
आस्रवः कारणं ज्ञेयं, भ्रमतो भव-भागिनः ॥१९१३॥

अर्थ - यह संसाररूपी समुद्र दुखरूपी जल से परिपूर्ण एव कषाय और इन्द्रिय रूपी जलचर जीवों से भरा हुआ है। इसमें परिभ्रमण का कारण आस्रव है, ऐसा जानना चाहिए॥१९१३॥

प्रश्न - ससार-परिभ्रमण का कारण तो कर्म है, यहाँ आस्रव को क्यो कहा जा रहा है ?

उत्तर - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और प्रमादादि आस्रव के कारण हैं, आस्रव कर्मबन्ध का कारण है और कर्मोदय का फल जीव के ससार-परिभ्रमण का कारण है अत· यहाँ आस्रव को ही बन्ध का कारण कह दिया गया है।

कर्मास्रवति जीवस्य, संसारे विषयादिभिः।
सलिलं विविधैः रन्ध्रैः, पोतस्येव पयोनिधौ ॥१९१४॥

अर्थ - जैसे समुद्र मे स्थित छिद्रयुक्त नाव या जहाज मे जल आता है वैसे ही ससार रूपी समुद्र में स्थित जीवो के स्पर्शादि पचेन्द्रियों के विषयों द्वारा कर्म आते हैं॥१९१४॥

कर्म-सम्बन्धता आता, राग-द्वेषाक्त-चेतसः।
स्नेहाभ्यक्त-शरीरस्य, रजो-राशिरिवानिशम् ॥१९१५॥

अर्थ - जैसे तेल की मालिश सहित शरीर पर सतत धूल या मिट्टी की तह जमती जाती है, वैसे ही राग-द्वेष में आसक्त चित्त वाले जीवों की आत्मा के प्रदेशों पर स्थित विस्रसोपचयरूप पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप परिणत हो जाते हैं॥१९१५॥

अदृश्यैश्चक्षुषा दृश्यैः, स्थूलैः सूक्ष्मैश्च पुद्गलैः।
विविधैर्निचितो लोकः, कुम्भो धूमैरिवाभितः ॥१९१६॥

अर्थ - जैसे कोई घट धुएँ द्वारा चारों ओर से भर दिया जाता है, वैसे ही यह लोक सर्वत्र कर्मरूप परिणमन करने योग्य नेत्रो से अदृश्यमान, सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धो से और दृश्यमान एवं अदृश्यमान बादर पुद्गल स्कन्धो से ठसाठस भरा हुआ है॥१९१६॥

मिथ्यात्वाव्रत-कोपादि-योगानत्रास्रवान्विदुः।
मिथ्यात्वमर्हदुक्तानां, पदार्थानामरोचनम् ॥१९१७॥

अर्थ - मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग ये आस्रव हैं अर्थात् जिन कारणो से पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप परिणत होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदि को आस्रव कहते हैं। इनमें से अर्हन्त भगवान् द्वारा कहे गये अनन्त द्रव्यात्मक जीवादि पदार्थों में अर्थात् सात तत्त्व और छह द्रव्यादि मे श्रद्धान नहीं होना मिथ्यात्व नामका आस्रव है॥१९१७॥

हिसादयो मता दोषाः, पञ्चाप्यव्रत-संज्ञकाः।
कोपादयः कषायाः स्यूः, राग-द्वेष-द्वयात्मकाः ॥१९१८॥

अर्थ - हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों को असंयम कहते है। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय भाव अनेक प्रकार के होते हैं, इनमें से माया और लोभ का राग मे तथा क्रोध और मान का द्वेष मे अन्तर्भाव हो जाता है, अत कषाय को द्वयात्मक कहा है॥१९१८॥

प्रश्न - पाँच पापो के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - कषाययुक्त परिणामो से प्राणियो के प्राणों का नाश करना **हिंसा** है। प्राणियो को पीडा देने वाला अप्रशस्त वचन बोलना **असत्य** पाप है। बिना दी हुई या बिना पूछे अन्य की वस्तु ग्रहण करना **चोरी** पाप है। चारित्र-मोहनीय कर्मोदय की वशवर्तिता से रागाविष्ट होकर स्त्री-पुरुषो मे परस्पर स्पर्शनादि की इच्छा उत्पन्न होना **मैथुन** पाप है और चेतन, अचेतन और मिश्र पदार्थो मे और अपने राग-द्वेषादि रूप परिणामो मे ममत्वबुद्धि होना **परिग्रह** पाप है।

राग और द्वेष का माहात्म्य

जानन्तं कुथिते काये, रागो रञ्जयते कथम्।
बान्धवं कुरुते द्वेष्यं, द्वेषो हि क्षणतः कथम् ॥१९१९॥

अर्थ - अहो आश्चर्य है कि राग के अयोग्य और अशुचि शरीर के स्वभाव को जानने वाले पुरुषो को भी यह रागभाव वीभत्स एव घृणास्पद शरीर मे कैसे रजायमान कर देता है, तथा यह द्वेष्य भाव अपने भाई, पिता और पुत्र के प्रति भी क्षणमात्र मे कैसे द्वेषभाव उत्पन्न करा देता है अर्थात् यह राग-द्वेष जिस शरीरादि से द्वेष करना चाहिए था उस पर तो राग कराता है और जिन बन्धु-बान्धवो पर राग या प्रीति भाव होना चाहिए उनमें द्वेष करा देता है॥१९१९॥

कल्मषं कार्यते घोरं, सद्दृष्टिरपि यैर्जनः।
रागद्वेष-विपक्षांस्तान्धिक् संज्ञा-गौरवात्मनः ॥१९२०॥

अर्थ - सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी जिनके दोष से घोर पाप कर बैठता है उन राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को, चारों संज्ञाओं को, ऋद्धि आदि गारवों को, इन्द्रियों को और मद आदिकों को धिक्कार है॥१९२०॥

विषयेष्वभिलाषो यः, पुरुषस्य प्रवर्तते।
न ततो जायते सौख्यं, पातकं बध्यते परम्॥१९२१॥

अर्थ - पचेन्द्रियों के स्पर्शनादि मनोहर विषयों में पुरुष की जो अभिलाषा उत्पन्न होती है वह सुखप्राप्ति के लिए नहीं होती, अपितु उस अभिलाषा के निमित्त से वह कर्मबन्ध ही करता है॥१९२१॥

इन्द्रियार्थ-सुखे येन, मानुष्यं प्राप्य योज्यते।
भस्मार्थं प्लोषते काष्ठं,महामौल्यमसौ स्फुटम्॥१९२२॥

अर्थ - जैसे कोई मूर्ख मनुष्य राख/भस्म के लिए महामूल्यवान् हरिचन्दन का काष्ठ अर्थात् लकड़ी जला देता है, वैसे ही मूढ मनुष्य इन्द्रिय-विषय भोगो मे रत रहकर अर्थात् इन्द्रियसुख के अर्थ निश्चयत· महादुर्लभ मनुष्य पर्याय को उन विषयसुखो में लगाकर नष्ट कर देता है॥१९२२॥

प्रश्न - मनुष्य पर्याय को मूल्यवान् और विषयसुखों को तुच्छ क्यो कहा जा रहा है?

उत्तर - धर्म पुरुषार्थ एव मोक्ष पुरुषार्थ द्वारा इस मनुष्य पर्याय से अतीन्द्रिय एव अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है अत मनुष्य पर्याय को महामूल्यवान् कहा गया है। इन्द्रियविषय रसीले ज्ञात होते हैं तथा आनन्द भी उत्पन्न करते हैं किन्तु विष से सस्कारित किये गये भोजन के सदृश विषय-भोगो को भोगने के पश्चात् अत्यन्त भयकर परिणाम प्राप्त होता है अर्थात् जिसका चचल चित्त विषयसुख में आसक्त रहता है, वह विषयो की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के अनिष्ट कार्य और पापाचरण करता है, जिसके फलस्वरूप कुयोनियो में जन्म लेकर दुख ही दुख भोगता है अत इन्हे तुच्छ कहा गया है।

नृत्वे योऽक्ष-सुखं मूढो, धर्मं मुक्त्वा निषेवते।
लोष्ठं गृह्णात्यसौ मुक्त्वा, रत्नद्वीपेऽनघं मणिम्॥१९२३॥

अर्थ - जैसे कोई मूर्ख मनुष्य उत्कृष्ट रत्नों की खान स्वरूप रत्नद्वीप जाकर रत्नों को छोड़कर लोष्ठ या लकड़ी या मिट्टी के ढेलो का सचय करता है, वैसे ही विषयाभिलाषी मूढ़ मनुष्य, उत्तम नर पर्याय प्राप्त कर भी धर्म को छोड़ देता है और इन्द्रियविषयो के सचय एव सेवन मे सलग्न रहता है॥१९२३॥

यो नृत्वे सेवते भोगं, हित्वा धर्ममकल्मषम्।
असौ विमुच्य पीयूषं, विषं गृह्णाति नन्दने॥१९२४॥

अर्थ - जैसे कोई मनुष्य नन्दन वन में जाकर भी अमृत को छोड़कर विष पीता है, वैसे ही मनुष्य-पर्याय प्राप्त कर भी मूढ़ मानव निर्दोष धर्म को छोड़ भोगों का सेवन करता है॥१९२४॥

योग शब्द का अर्थ

योग: कर्मास्रवं दुष्टो, मनो-वाक्काय-लक्षण: ।
यथा भुक्तो दुराहारो, विदधाति व्रणास्रवम् ॥११२५ ॥

अर्थ - जैसे अपथ्य/खोटा आहार घाव मे पीप पैदा करता है, वैसे ही मन, वचन और काय की पाप प्रवृत्ति या अशुभ चेष्टारूप योग कर्मयोग्य पुद्गल स्कन्धों को कर्मरूप परिणमाते हैं अर्थात् पापास्रव कराते हैं॥११२५॥

शुभाशुभ कर्मास्रव के कारण

आस्रवं कुरुते योगो, विशुद्ध: पुण्य-कर्मणाम् ।
विपरीत: परं सद्य: सेवित: पापकर्मणाम् ॥११२६ ॥

अर्थ - विशुद्ध अर्थात् शुभ चेष्टारूप योग सातावेदनीय आदि शुभ कर्मास्रवो को करता है और इससे विपरीत अर्थात् मन, वचन एव काय की अशुभ-चेष्टारूप से सेवित योग तत्क्षण पापकर्मों का आस्रव करता है॥११२६॥

प्रश्न - शुभाशुभ आस्रव कितने प्रकार से हो सकता है ?

उत्तर - कृत, कारित और अनुमोदना अर्थात् स्वय करना, दूसरों से कराना एव करते हुए की अनुमोदना करना। मन, वचन तथा काय, इन तीन प्रकार की शुभाशुभ चेष्टा रूप योग, शुभाशुभ कर्मास्रव में कारण होता है।

प्रश्न - मन, वचन, काय की शुभ चेष्टाएँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर - अनुकम्पा, दया, दान और पूजा आदि के भाव होना मन की शुभ चेष्टा है। हित, मित, प्रिय एव धर्म सापेक्ष वाणी बोलना वचन की शुभ चेष्टा है और वैयावृत्य करना, परोपकार पूजाभिषेक और तीर्थयात्रा आदि करना शरीर की शुभ चेष्टाएँ हैं। इन शुभ चेष्टाओ से सातावेदनीय, देवगति, देवायु एव उच्चगोत्रादि पुण्य कर्मों का आस्रव होता है।

प्रश्न - अनुकम्पा किसे कहते हैं, वह कितने प्रकार की है और किस-किस पर की जाती है ?

उत्तर - अनुग्रह से दयार्द्र चित्त वाले के दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का जो भाव होता है उसे अनुकम्पा कहते हैं। अथवा वैर भाव के त्यागपूर्वक सब जीवों पर अनुग्रह, मैत्रीभाव, या माध्यस्थभाव और शल्य रहित वृत्ति अनुकम्पा है।

धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा एव सर्वानुकम्पा के भेद से यह तीन प्रकार की होती है।

धर्मानुकम्पा - जिन्होने नौ कोटि से असयम का त्याग किया है, मन एवं इन्द्रियों का दमन किया है, उग्र कषाय तथा उसके कारणो का त्याग किया है, दिव्य भोगों में भी दोषों को देखकर दृढ़ विरागता को अपनाया है और नि:सगता को अपनाया है, तथा जो मान-अपमान, सुख-दुख, लाभ-अलाभ, तृण-स्वर्ण,

संयोग-वियोग एवं शत्रु-मित्र में समता भाव रखते हैं, उत्तम क्षमादि दस धर्मों में लीन रहते हैं तथा संसाररूपी महासमुद्र में डूब जाने के भय से रात्रि में भी अल्प निद्रा लेते हैं ऐसे मुनिराज, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक एव क्षुल्लिका के प्रति जो अनुकम्पा उत्पन्न होती है उसे धर्मानुकम्पा कहते हैं।

प्रश्न - इस अनुकम्पा का क्या फल है ?

उत्तर - इस अनुकम्पा से प्रेरित होकर विवेकीजन उन मुनिराजों या पात्रों के योग्य आहार-पान, औषधि तथा वसतिका आदि सयम के साधन प्रदान करते हैं, अपनी शक्ति को न छिपाकर उनके उपसर्ग और दोषों को दूर करते हैं, "हमें आज्ञा दीजिए" इस प्रकार का निवेदन कर सेवा करते हैं, मार्ग से भ्रष्ट होने वालो को सन्मार्ग दिखाते हैं, सघ का सयोग प्राप्त होने पर 'अहो ! हम विशिष्ट पुण्यशाली हैं' ऐसा विचार कर प्रसन्न होते हैं। सभाओं में उनके गुणानुवाद गाते हैं, उन्हें गुरु समान सम्मान देते हैं, उनके गुणों का स्मरण करते हुए बार-बार समागम प्राप्त करने की वांछा रखते हैं, उनके आगमन की प्रतीक्षा करते हैं और दूसरो के द्वारा उनके गुणों की प्रशसा सुनते हैं। इस प्रकार अनुकम्पा में तत्पर मनुष्य सेवा आदि कार्य स्वय करते हैं, अन्य से कराते हैं और करते हुए की अनुमोदना कर महा सातिशय पुण्यास्रव करते हैं।

प्रश्न - मिश्रानुकम्पा के पात्र कौन हैं ?

उत्तर - जो महान् पाप के मूल हिंसादि पापों से निवृत्त हैं, सन्तोष और वैराग्य गुण सम्पन्न हैं, विनीत हैं, दिग्विरति, देशविरति एव अनर्थदण्डविरति को धारण किये हुए हैं, तीव्र दोष वाले भोग-उपभोग का त्याग कर शेष भोगोपभोग की सामग्री का परिमाण किये हुए हैं, पापों से भयभीत रहते हैं, जो विशिष्ट देश-काल में सर्व सावद्य का त्याग करते हैं अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं और पर्व के दिनों में सर्वारम्भ का त्याग कर उपवास करते हैं उन सयमासयमियो के प्रति जो अनुकम्पा उत्पन्न होती है वह मिश्रानुकम्पा है। इस मिश्रानुकम्पा से भी जीव पुण्यास्रव करते हैं।

अथवा, मिथ्यात्व से सदोषी अन्य धर्मावलम्बी कष्टदायक तपस्या करने वाले विनयी तपस्वियों के प्रति होने वाली अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा है।

प्रश्न - सर्वानुकम्पा का क्या लक्षण है ?

उत्तर - जो स्वभावत: मार्दव गुण से सम्पन्न हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि आदि सभी प्राणियों के प्रति उत्पन्न होने वाली अनुकम्पा सर्वानुकम्पा कही जाती है। इसके अतिरिक्त जिनके अवयव कट गये हैं, जो बाँधे गये हैं, पीटे जा रहे हैं, खोये हुए हैं, रोके हुए हैं और भूखादि से अति व्याकुल हैं, ऐसे निरपराध या अपराधी मनुष्यों को देखकर तथा मासादि के लिए पशुओं एवं पक्षियो का वधादि होते देखकर या पशुओं आदि का परस्पर का हिंसात्मक घात-प्रतिघात देखकर, रोग से पीड़ित प्राणी को देखकर, गुरु, पुत्र, पिता, माता या स्त्री आदि के सहसावियोग से दुखी जनों को चिल्लाते हुए देखकर, अपने अंगों को शोक से पीटते हुए, अर्जित धन के नष्ट हो जाने से दीन हुए तथा धैर्य, शिल्पादि विद्या और व्यवसाय से रहित गरीबों को देखकर उनके दुख को अपना ही दुख मानकर कम्पित हो उठना अनुकम्पा है। उपकार की अपेक्षा किये बिना ही ऐसे जीवो की शान्ति का उपाय करना आवश्यक कर्तव्य है। जैसे माता पुत्र के लिए सदैव शुभ होती है, वैसे ही अनुकम्पा सभी प्राणियों के लिए शुभप्रदा है।

उपसंहार

कुदर्शनावृत्त-कषाय-योगैर्जीवो भवे मज्जति कर्म-पूर्णः।
दुरापपारे विवरैरनेकैः, पोतः पयोधाविव वारि-पूर्णः ॥१९२७॥

इत्यास्रवानुप्रेक्षा।

अर्थ - जैसे अनेक छिद्रो द्वारा जिसमें जल भर चुका है ऐसी नौका दुरन्त समुद्र में डूब जाती है, वैसे ही मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योगो द्वारा आये हुए कर्मभार से युक्त जीव भवसागर में डूब जाता है॥१९२७॥

इस प्रकार आस्रवानुप्रेक्षा पूर्ण हुई ॥८॥

संवर-अनुप्रेक्षा

सवर करने की विधि

मिथ्यात्वमास्रव-द्वारं, पिधत्ते तत्त्व-रोचनम्।
संयमासंयमं सद्यो, गृहीत्वारमिवाररे ॥१९२८॥

अर्थ - जैसे द्वार को बन्द कर अर्गला, सॉकल या कुन्दादि लगाकर बाहर से आने वाले चोरादि को रोक दिया जाता है वैसे ही सम्यग्दर्शन, मिथ्यात्व आस्रव द्वार को और देशसयम एव सकलसयमरूप व्रतो को ग्रहण कर विवेकी जीव अविरति नामक आस्रव द्वार को शीघ्र ही बन्द कर देते हैं॥१९२८॥

कषाय-तस्कराः रौद्राः, दया-दम-शमायुधैः।
शक्यन्ते रक्षितु दिव्यैरायुधैरिव-तस्कराः ॥१९२९॥

अर्थ - जैसे दिव्य शस्त्रो द्वारा चोर एव डाकुओ को भगाकर धन-जन की रक्षा करना शक्य है वैसे ही दया, दम और शम इन तीन शस्त्रों द्वारा ही कषायरूपी क्रूर डाकुओं को रोकना शक्य है॥१९२९॥

प्रश्न - दया, दम और शम किसे कहते है, यहाँ मात्र कषायो को जीतने का उपदेश क्यो दिया गया है तथा कौनसी कषाय किस भाव से जीती जा सकती है ?

उत्तर - सब प्राणियो पर आर्द्र परिणाम होना **दया** है। कषायो के दोषो का विचार कर चित्त का निग्रह करना **दम** है और कषाय-वेदनीय कर्म को उदय अवस्था को प्राप्त न होने देना शम अर्थात् उपशम है। सब कर्मबन्ध की स्थिति कषाय से ही बॅधती है अत कर्मबन्ध का मूल कारण कषाय है। जिसने कषाय को जीत लिया उसने मानों सबको जीत लिया, इसीलिए कषायों को जीतने का उपदेश दिया गया है।

क्रोध के दोषों को जानने से, क्रोधादि में निमित्तभूत पदार्थों से अपना बचाव करने से और क्षमादि परिणामों से क्रोध को, मार्दवभाव धारण करके मान को, आर्जवभावों की उत्कर्षता से माया को और सन्तोष भावों द्वारा लोभ कषाय को जीतना चाहिए।

इन्द्रियाश्वा नियम्यन्ते, वैराग्य-खलिनैर्दृढैः।
उत्पथ-प्रस्थिताः दुष्टास्तुरगाः खलिनैरिव ॥१९३०॥

अर्थ - जैसे कुमार्ग में जाने वाले दुष्ट घोड़ों को कठोर लगाम द्वारा वश में किया जाता है, वैसे ही कुगति में ले जाने वाले दुष्ट इन्द्रियरूपी घोड़ों पर वैराग्यरूपी दृढ़ लगाम द्वारा नियन्त्रण किया जाता है॥१९३०॥

नाक्षसर्पा निगृह्यन्ते, भीषणाश्चल-मानसैः।
दंदशूका इव ग्राह्या, विद्या-संवाद-वर्जितैः ॥१९३१॥

अर्थ - जैसे विषापहार मन्त्र, विद्या एवं औषधि से रहित मनुष्य विषैले सर्प को वश में नहीं कर सकता, वैसे ही जिसका मन चचल है वह मनुष्य इन्द्रियरूपी भयकर सर्प को निगृहीत नहीं कर सकता॥१९३१॥

अप्रमाद-कपाटेन, जीवे योग-निरोधनम्।
क्रियते फलकेनेव, पोते जल-निरोधनम्॥१९३२॥

अर्थ - जैसे फलक या कपाट या लकड़ी के पटिये द्वारा नाव में आने वाला जल रोका जाता है, वैसे ही अप्रमाद रूपी कपाट या पटिये के द्वारा अशुभ परिणाम रूपी आस्रवो का निरोध किया जाता है। इसी निरोध को सवर कहते हैं॥१९३२॥

प्रश्न - प्रमाद कितने और कौन-कौन से हैं तथा इनके प्रतिपक्षी अप्रमाद रूप कपाट कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - प्रमाद पन्द्रह प्रकार के हैं। यथा-भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और राष्ट्रकथा रूप चार विकथायें, क्रोधादि चार कषाये, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और स्नेह।

सत्य वचन, अनुभय वचन, स्वाध्याय एवं ध्यान की एकाग्रता ये विकथा प्रमाद के प्रतिपक्षी हैं अर्थात् इनमें सलग्न रहने से विकथाओ को अवसर प्राप्त नहीं होता। क्षमा, मार्दव, आर्जव एवं सन्तोष भाव क्रमश क्रोधादि चारों कषायों के प्रतिपक्षी हैं।

राग-द्वेष के कारणभूत इन्द्रियो के विषय हैं, अत इन्द्रियविषयो से रहित क्षेत्र में रहना, ज्ञान के बल से मन को एकाग्र रखना, इन्द्रिय-विषयो के निमित्त राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और रागद्वेष के कारण अन्य दोष उत्पन्न होते हैं, उन दोषो का स्मरण करना तथा विषयो की सहज उपलब्धि मे भी आदर भाव न होना, ये सब इन्द्रिय नामक प्रमाद के विरोधी हैं। जैसे निर्भय योद्धा रणागण मे शत्रुओं को जीत लेता है वैसे ही सावधानता से वर्तन करने वाला विरक्त साधु इन्द्रियों को जीत लेता है।

अपने खोटे आचरणों से उत्पन्न दोषों का स्मरण कर शोक करना, निद्रा के दोषो का चिन्तन, रत्नत्रय के प्रति वृद्धिंगत अनुराग, संसार से भय और अनशन, अवमौदर्य तथा रसपरित्याग रूप तप ये सब अप्रमाद निद्रा नामक प्रमाद के विरोधी हैं।

ये सब बन्धु-बान्धव अस्थिर हैं, इनके निमित्त से अनेक प्रकार के आरम्भ-परिग्रह की आकुलता होती है जिससे नरकादि कुगतियों के भयकर दुख भोगने पड़ते हैं तथा ये बन्धुगण धर्म में विघ्न उपस्थित करने वाले

हैं, इत्यादि। इस प्रकार का चिन्तनरूप अप्रमाद स्नेह प्रमाद का प्रतिपक्षी है। अर्थात् ऐसे चिन्तन से स्नेह प्रमाद का नाश हो जाता है। इस प्रकार दृढ वैराग्यवान् साधुजन अप्रमादरूपी ढाल हाथ में लेकर प्रमाद रूपी शत्रुओं से लड़ते हैं। इस ढाल के कारण प्रमादजन्य आस्रव रुक जाता है और सवर हो जाता है।

कर्मभिः शक्यते भेत्तुं, न चारित्रं कदाचन।
सम्यग्गुप्ति-परिक्षिप्तं, विपक्षैरिव पत्तनम् ॥१९३३॥

अर्थ - जैसे प्रबल भी शत्रु की सेना परिखा आदि से सुरक्षित नगर को नष्ट नहीं कर पाती, वैसे ही चारित्र मोहनीय कर्मरूपी सबल भी शत्रु सेना द्वारा सम्यग्गुप्तिरूपी परिखा से सुरक्षित चारित्ररूपी नगर कदाचित् भी नष्ट नहीं किया जा सकता है॥१९३३॥

प्रश्न - गुप्तियाँ कौन-कौन सी हैं और वे आत्मा का क्या उपकार करती हैं ?

उत्तर - मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के भेद से गुप्तियाँ तीन प्रकार की हैं। ये तीनों सबल गुप्तियाँ क्षणमात्र मे आस्रवो को निरस्त कर आत्मा को सवर से सयुक्त कर देती हैं, क्योंकि ये तीनो गुप्तियाँ परम सवर का सर्वोत्कृष्ट हेतु हैं।

गुण-बन्धनमारुह्य, संयतः समिति-प्लवम्।
हिंसादि-मकराग्रस्तो, जन्माम्भोधि विलङ्घते॥१९३४॥

अर्थ - प्रमादरहित साधु सम्यक्त्वादि गुणरूप बन्धन से युक्त दृढ़ समिति रूप नाव पर आरूढ होकर, हिसादि पाप रूपी मगरमच्छो से अछूते रहते हुए ही भयावह ससार समुद्र को पार कर जाते हैं॥१९३४॥

द्वारपाल इव द्वारे, यस्यास्ति हृदये स्मृतिः।
दूषयन्ति न त दोषा, गुप्तं पुरमिवारयः॥१९३५॥

अर्थ - जैसे सबल शत्रु भी सुरक्षित नगर को नष्ट नहीं कर सकते, वैसे ही द्वार पर खड़े द्वारपाल के सदृश जिसके हृदय में वस्तुतत्त्व की स्मृति सजग है उस साधु के हृदय को सर्व दोष मिल कर भी दूषित नहीं कर सकते॥१९३५॥

न यस्यास्ति स्मृतिश्चित्ते, स दोषैर्ग्रस्यते स्फुटम्।
असहायोऽखिलैः क्षिप्रं, विचक्षुरिव वैरिभिः॥१९३६॥

अर्थ - जैसे शत्रुओं के मध्य खडा असहाय एव अन्धा मनुष्य शत्रुओं के द्वारा शीघ्र ही पकड़ लिया जाता है, वैसे ही जिस साधु के हृदय मे समीचीन वस्तुतत्त्व की स्मृति नहीं रहती, अथवा जो साधु तत्त्व-चिन्तन में स्थिर नहीं रह पाता वह शीघ्र ही तथा नियमत दोषो द्वारा ग्रसित कर लिया जाता है॥१९३६॥

ज्ञान-दर्शन-चरित्र-सम्पदं, पूर्णतां नयति स व्रती स्फुटम्।
यो विमुञ्चति परीषहारिभिर्बाधितोऽपि न कदाचन स्मृतिम्॥१९३७॥

इति संवरानुप्रेक्षा।

अर्थ - जो मुनिजन परीषहरूपी शत्रुसमूह से पीड़ित होने पर भी कभी तत्त्व की स्मृति को अर्थात् तत्त्वचिन्तन को नहीं छोड़ता वह निश्चयत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी सम्पदा को अर्थात् चार आराधनाओं को पूर्णरूपेण प्राप्त कर कर्मों का संवर कर देता है ॥१९३७॥

इस प्रकार संवर अनुप्रेक्षा का वर्णन पूर्ण हुआ ॥९॥

निर्जरा-अनुप्रेक्षा

निर्जरा के लिए तप आवश्यक है

यो मुनिर्यदि शुद्धात्मा, सर्वथा कर्म-संवरम्।
करोति निर्जरा-कांक्षी, सिद्ध्ये विविधं तप: ॥१९३८॥

अर्थ - जो शुद्धात्मा मुनि सर्वथा कर्मसवर करने में उद्यमी होता है वह निर्जरा का आकाक्षी होता हुआ मोक्षप्राप्ति के लिए विविध प्रकार के तपश्चरण करता है, क्योंकि तप निर्जरा का कारण है ॥१९३८॥

न कर्म-निर्जरा जन्तोर्जायते तपसा विना।
सञ्चितं क्षीयते धान्यमुपयोगं विना कुत: ॥१९३९॥

अर्थ - जैसे संचित किया हुआ धान्य उपयोग में लाये बिना अर्थात् भोजनादि के काम में लिये बिना घटता नहीं है, अर्थात् समाप्त नहीं होता, वैसे ही तप के बिना संवर मात्र से कर्मों का क्षय नहीं होता अत· निर्जरा के लिए तप करना आवश्यक है ॥१९३९॥

पूर्वस्य कर्मण: पुंसो, निर्जरा द्विविधा मता।
आद्या विपाकजा तत्र, द्वितीया त्वविपाकजा ॥१९४०॥

अर्थ - जीव के पूर्व सचित कर्मों की निर्जरा दो प्रकार की होती है, एक विपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा ॥१९४०॥

दोनों निर्जराओं के लक्षण

नानाविधानि कर्माणि, गृहीतानि पुराभवे।
फलानीव विपच्यन्ते, कालेनोपक्रमेण च ॥१९४१॥

अर्थ - आम्रादि फल जैसे समय पाकर वृक्ष की डाल पर ही पक जाते हैं और कोई असमय में प्रयोग द्वारा पाल में रखकर शीघ्र पका लिये जाते हैं, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्म काल-क्रमानुसार एव अक्रम से अर्थात् दोनों विधियों से निर्जीर्ण होते हैं ॥१९४१॥

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मण:।
तपसा क्रियमाणेन, कर्म-निर्जीर्यतेऽखिलम् ॥१९४२॥

अर्थ - कर्मों की जो निर्जरा समय पाकर होती है वह मात्र उदयावली में आये हुए कर्म-निषेकों की ही होती है किन्तु तपश्चरण द्वारा अखिल कर्म निर्जीर्ण अर्थात् नष्ट हो जाते हैं ॥१९४२॥

प्रश्न - इस श्लोक का तात्पर्य अर्थ क्या है?

उत्तर - पूर्वबद्ध पुद्गल स्कन्धों के अवयवों का जीवप्रदेशो से अलग होना निर्जरा है। अथवा प्राचीन कर्मों का एकदेशरूप से झडना या क्षय होना या नष्ट होना निर्जरा है। निर्जरा के दो भेद हैं-द्रव्य निर्जरा एवं भावनिर्जरा। भावनिर्जरा के भी दो भेद हैं - सविपाक निर्जरा एव अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा - कर्मबन्ध के पश्चात् आबाधाकाल व्यतीत हो जाने के तुरन्त बाद ही कर्मों का प्रवाहक्रम से एक-एक निषेक रूप उदय मे आकर तथा फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाना सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा सभी ससारी जीवो के होती है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि हों या सम्यग्दृष्टि हों, तपश्चरण मे प्रवृत्त हों अथवा भोगो में सलग्न हो, सभी के कर्म उदयपंक्ति मे प्रवेश कर तथा अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं। यह सविपाक निर्जरा अल्प होती है, क्योकि सब कर्मों की स्थिति भिन्न-भिन्न रहती है। द्रव्य-क्षेत्र, काल एव भावरूप सहकारी कारण सबको अतिशीघ्र प्राप्त नहीं हो पाते अत सब कर्म एक साथ उदय मे आकर फल देकर नष्ट नहीं होते है। जो उदय मे आता है वही फल देकर नष्ट होता है, अन्य नहीं।

अविपाक निर्जरा - जो कर्म अभी उदय के योग्य नहीं हैं उनको तपस्या द्वारा हठात् उदीर्ण करके अर्थात् उदयावली मे लाकर असमय मे निर्जीर्ण कर देना अविपाक निर्जरा है। सजातीय अन्य प्रकृति रूप कर्मों मे सक्रमण करा कर नष्ट कर देना भी अविपाक निर्जरा है, क्योकि अनेक कर्मप्रकृतियाँ सजातीय कर्मों मे सक्रमित होकर परमुख से नष्ट हो जाती हैं। जैसे क्षपक श्रेणी मे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाये सज्वलन कषाय मे सक्रमित होकर नष्ट कर दी जाती हैं।

इस अविपाक निर्जरा का हेतु बहिरग और अन्तरग तप है। इन तपो मे भी धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान रूप तप ही निर्जरा का परमोत्कृष्ट कारण है। यह निर्जरा मोक्षमार्ग मे परम सहायक होती है। इस प्रकार दोनो प्रकार की निर्जरा का स्वरूप दर्शाना ही इस श्लोक का तात्पर्य अर्थ है।

निर्जरा में तपश्चरण का माहात्म्य

अनिर्दिष्ट-फल कर्म, तपसा दह्यते परम्।
सस्यं हुताशनेनेव, बहुभेदमुपार्जितम् ॥१९४३॥

अर्थ - जैसे गेहूँ, चावल, मूँग, मोठ आदि बहुत भेद वाला एकत्र किया हुआ धान्य का समूह अग्नि द्वारा भस्मसात् हो जाता है, वैसे ही जिन कर्मों ने अभी तक जीव को फल नहीं दिया वे कर्म तपरूपी अग्नि से भस्मसात् हो जाते हैं अर्थात् तपश्चरण द्वारा फल दिये बिना ही कर्मों की निर्जरा हो जाती है॥१९४३॥

तपसा-दीयमानेन, नाश्यते कर्म-सञ्चय:।
आशुशुक्षणिना क्षिप्रं, दीप्तेनेव तृणोत्कर: ॥१९४४॥

अर्थ - जैसे जाज्वल्यमान अग्नि द्वारा तृणों का समूह अर्थात् घास का ढेर शीघ्र ही जल जाता है, वैसे ही मुनिजन द्वारा ग्रहण किया हुआ तप कर्मसमूह को क्षणमात्र मे नष्ट कर देता है॥१९४४॥

स्वयं पलायते कर्म, तपसा विरसी-कृतम्।
रजोऽवतिष्ठते कुत्र, नीरसे स्फटिकेऽश्मनि ॥१९४५॥

अर्थ - तपश्चरण द्वारा शक्तिहीन किया हुआ कर्म स्वय पलायमान हो जाता है सो यथार्थ ही है, क्या स्नेह अर्थात् चिकनाई से रहित स्फटिक पाषाण पर कहीं धूल ठहर सकती है ? अपितु नहीं ठहर सकती ; उसी प्रकार समीचीन तप करने पर कर्म नहीं ठहर पाता, निर्जीर्ण हो जाता है ॥१९४५॥

तपसा ध्मायमानोऽङ्गी, क्षिप्रं शुद्ध्यति कर्मभिः।
पाषाणः पावकेनेव, कानकः सकलैर्मलैः ॥१९४६॥

अर्थ - कनक पाषाण जैसे अग्नि द्वारा तपाये जाने पर समस्त मलों का त्याग कर शुद्ध स्वर्ण हो जाता है, ससारी जीव वैसे ही तपरूपी अग्नि द्वारा तपाये जाने पर कर्ममल को त्याग कर शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है॥१९४६॥

मोक्षः संवर-हीनेन, तपसा न जिनागमे।
रविणा शोष्यते नीरं, प्रवेशे सति किं सरः ॥१९४७॥

अर्थ - जिनागम मे सवर बिना केवल तप से ही सब कर्मों के विनाशरूप मोक्ष नहीं कहा, सो ठीक ही है। देखो ! जिस सरोवर में सीर द्वारा नवीन जल प्रविष्ट हो रहा है, वह सरोवर क्या सूर्य द्वारा सुखाया जा सकता है ? कदापि नहीं॥१९४७॥

दर्शन-द्विपमधिष्ठितो बुधो, लब्ध-बोध-सचिवस्तपः शरैः।
कर्म-शत्रुमपहत्य संवृतः, सिद्धि-सम्पदमुपैति शाश्वतीम् ॥१९४८॥

इति निर्जरा।

अर्थ - (जिसने सवर रूपी कवच धारण किया है), जो सम्यक्त्व रूपी हाथी पर सवार है, सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञान रूपी मन्त्री जिसके साथ है ऐसा सयमधारी मुनिरूपी राजा तपोमय बाणो के द्वारा कर्मरूपी शत्रुओ की समस्त सेना को पराजित कर शाश्वत और अनुपम मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है॥१९४८॥

इस प्रकार निर्जरा की परम उपादेयता, निर्जरा के भेद-विभेद एव निर्जरा के हेतु आदि का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार निर्जरा अनुप्रेक्षा का कथन पूर्ण हुआ ॥१०॥

धर्म-अनुप्रेक्षा

धर्म का गुणानुवाद

मोक्षावसान-कल्याण-भाजनेन शरीरिणा।
आर्हतो भावना-धर्मो, भावतः प्रतिपद्यते ॥१९४९॥

अर्थ - मोक्षप्राप्ति पर्यन्त जो-जो कल्याण-परम्परा प्राप्त होती हैं, उन सबका भाजन अर्थात् स्वामी जीव है और वे कल्याण रूप सर्व परम्पराएँ जिनेन्द्रोपदिष्ट धर्म के सहयोग से ही प्राप्त होती हैं अत· प्रत्येक प्राणी को भावपूर्वक रत्नत्रय धर्म धारण करना चाहिए॥१९४९॥

यशस्वी सुभगः पूज्यो, विश्वास्यो धर्मतः प्रियः।
सुसाध्यः सोऽन्य-कार्येभ्यो, मनो-निर्वृति-कारकः ॥१९५०॥

अर्थ - मनुष्य को धर्म के माहात्म्य से ही यश प्राप्त होता है, धर्मात्मा मनुष्य सबको प्रिय लगता है, पूज्य होता है, सुन्दर होता है और सबका विश्वासपात्र होता है। यह धर्म मनोनिर्वृत्ति का कारण है, अर्थात् मन को आह्लादित करता है और अन्य जो अर्थ एव कामादि पुरुषार्थ हैं उनसे यह धर्म-पुरुषार्थ सुसाध्य है, अर्थात् सरल है॥१९५०॥

धर्मः सर्वाणि सौख्यानि, प्रदाय भुवनेऽङ्गिनम्।
निधत्ते शाश्वते स्थाने, निर्बाध-सुख-सङ्कुले ॥१९५१॥

अर्थ - इस ससार मे जीव को धर्म ही सभी सुखों का देने वाला है। यह धर्म, ससार के सभी सुख देकर अन्त में बाधा रहित सुखो से परिपूर्ण शाश्वत स्थान मोक्षसुख भी देता है॥१९५१॥

ते धन्या ये नरा धर्मं, जैनं सर्व-सुखाकरम्।
निरस्त-निखिल-ग्रन्थाः, प्रपन्नाः शुद्ध-मानसाः ॥१९५२॥

अर्थ - सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर परिग्रहो के त्यागी और शुद्ध मन वाले वे महापुरुष ही धन्य हैं जिन्होंने समस्त सुखो के पुज स्वरूप जैनधर्म को प्राप्त किया है॥१९५२॥

ये च वीर्येन्द्रियाश्वेभ्यो, नीता विषय-कानने।
धर्ममार्गं प्रपद्यन्ते,ते धन्या नर-पुङ्गवाः ॥१९५३॥

अर्थ - जो विषय रूपी वन मे इन्द्रियरूपी घोडो के द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर कुमार्ग पर चलते हुए भी जिनेन्द्रोपदिष्ट मोक्षमार्ग रूपी धर्ममार्ग पर चलने लगते हैं वे नर-धन्य हैं॥१९५३॥

प्रश्न - इसमे किसे धन्य कहा गया है ?

उत्तर - जैसे किसी दुष्ट घोड़े द्वारा भयकर अटवी में पटक दिये जाने पर भी जो सुरक्षित, नगर के मार्ग का अन्वेषण कर उस पर चल पडते हैं वे पुरुष श्रेष्ठ पुरुषार्थी माने जाते हैं। वैसे ही इस उत्तम मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके भी जो इन्द्रिय विषय रूपी घोड़े से उतर कर अर्थात् मनलुभावन विषयो के मध्य फँसकर भी जो महान् आत्माएँ उन्हें छोड कर जिनदीक्षा के माध्यम से रत्नत्रय धर्म की आराधना में सलग्न हो जाते हैं वे पुरुष श्रेष्ठ और धन्य कहे गये हैं, क्योकि वे विषयो के मधुर स्वाद का आस्वादन लेकर भी उनके त्याग में समर्थ हुए हैं।

अहो ! द्वेषेण रागेण, लोके क्रीडति सर्वदा।
वीतरागे निरास्वादे, बोधिर्धर्मेऽति-दुर्लभा ॥१९५४॥

अर्थ - अहो ! इस ससार में प्राय सभी प्राणी सर्वदा राग और द्वेष में रत होते हुए उन्हीं में क्रीड़ा कर रहे हैं, ऐसी स्थिति मे निःस्वाद वीतराग धर्म में प्रीति होना अति दुर्लभ है॥१९५४॥

तदीयं सफलं जन्म, तदीयं वृत्तमुज्ज्वलम्।
जन्म-मृत्यु-जराकारि-कर्मास्रव-निरोधकम् ॥१९५५॥

अर्थ - जन्म, मरण और जरा के कारणभूत तथा दुख देने में समर्थ ऐसे कर्मद्वार को अर्थात् आस्रवों को रोकने वाला चारित्र जिसका उज्ज्वल एव निर्दोष है, इस संसार में उसी का मनुष्य-जन्म सफल है ॥१९५५॥

यथा यथा विवर्धन्ते, निर्वेद-प्रशमादयः।
प्रयात्यासन्नतां पुंसः, सिद्धि-लक्ष्मीस्तथा तथा ॥१९५६॥

अर्थ - मनुष्य में जैसे-जैसे निर्वेद अर्थात् वैराग्य, उपशम, दया एव चित्त की निग्रहता आदि वृद्धिंगत होते जाते हैं, वैसे-वैसे सिद्धिरूपी लक्ष्मी निकट आती जाती है ॥१९५६॥

द्वादशात्मक-तपोरयन्त्रितं, तत्त्वबोध-रुचि-वृत्त-नेमिकम्।
धर्मचक्रमनवद्यमार्हतं, विष्टपे विजयतामनश्वरम् ॥१९५७॥

इति धर्मानुप्रेक्षा।

अर्थ - भगवान् जिनेन्द्र का धर्मचक्र जगत् में जयवन्त हो, क्योंकि यह धर्मचक्र तत्त्वरुचि अर्थात् सम्यग्दर्शन रूपी तुंबा अर्थात् नाभि से सुशोभित है, तत्वज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी दृढ़ पहियों से युक्त है, वृत्त अर्थात् उज्ज्वल चारित्ररूपी नेमि अर्थात् हाल इसके ऊपर चढ़ी हुई है और बारह प्रकार के तप अथवा बारह अग रूपी आरो से नियन्त्रित है ॥१९५७॥

इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रय धर्म जीवो को परम कल्याणकारी है, अनुपम है, महामगल स्वरूप है, परमशान्तिदायक है, आत्मस्वरूपात्मक है और कल्पवृक्ष के सदृश महान फलदायक है। ऐसा चिन्तन करना धर्म-अनुप्रेक्षा है।

इस प्रकार धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन पूर्ण हुआ ॥११॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

बोधि आदि की क्रमशः दुर्लभता

धर्मे भवति सम्यक्त्व-ज्ञान-वृत्त-तपोमये।
दुर्लभा भ्रमतो बोधिः, संसारे कर्मतोऽङ्गिनः ॥१९५८॥

अर्थ - कर्म के वशवर्ती हो ससार परिभ्रमण करने वाले जीव के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एव सम्यक् तप रूप धर्म में बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति अति दुर्लभ है ॥१९५८॥

मनुष्य पर्याय की दुर्लभता

संसारे देहिनोऽनन्ते, मानुष्यमतिदुर्लभम्।
समिला-युग-साङ्गत्वं, पयोधाविव दुर्गमे ॥१९५९॥

अर्थ - जैसे अपार जलराशि से भरे समुद्र के पूर्वभाग मे समिला अर्थात् दो लकड़ी और अपरभाग मे युग अर्थात् जुवा डाल देने पर बहते-बहते दोनों का मिल जाना और उन लकड़ियों का जुवा के छिद्र में स्वयमेव प्रवेश कर जाना अतिदुर्लभ है, वैसे ही इस अनन्त अपार संसार में अर्थात् चौरासी लाख योनि एव एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुलों में मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना अतिदुर्लभ है ॥१९५९॥

मनुष्य पर्याय की दुर्लभता का कारण

प्राचुर्यं गर्ह्य-भावानां, महत्त्वं जगतोऽङ्गिनाम्।
विधत्ते योनि-बाहुल्यं, मानुष्यं जन्म-दुर्लभम्॥१९६०॥

अर्थ - ससार में जीवों के अशुभ भावों की अत्यधिक प्रचुरता है, इन अशुभ भावों से कुयोनियों की प्राप्ति होती है अत: इन कुयोनियों के मध्य मनुष्य पर्याय की प्राप्ति अतिदुर्लभ है॥१९६०॥

प्रश्न - मनुष्य-पर्याय की दुर्लभता किसकी अपेक्षा कही गई है ?

उत्तर - **क्षेत्र की अपेक्षा** - इस लोक का प्रमाण तीन सौ तैंतालीस घन राजू है। इस प्रमाण वाले सर्वलोक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि तिर्यंच जीव तिलमें तेल सदृश सर्वत्र भरे हैं। लोक के मध्य में एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है। उसमें विकलेन्द्रियादि जीवों की बहुलता होती है। इसी मे नारकियो का क्षेत्र छह राजू और देवों का क्षेत्र सात राजू है किन्तु मनुष्यों का क्षेत्र अढ़ाई द्वीप अर्थात् मात्र पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है।

संख्या की अपेक्षा - तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय जीव अनन्तानन्त हैं। विकलेन्द्रिय, असज्ञी एव सज्ञी जीव असख्यातासख्यात हैं। नारकी असख्यात हैं, देव भी असख्यात हैं किन्तु मनुष्य मात्र सख्यात हैं, अत मनुष्यपर्याय की प्राप्ति अतिदुर्लभ है।

अन्य वस्तुओं की भी दुर्लभता

देशो जाति: कुलं रूपमायुर्नीरोगता मति:।
श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा, नृत्वे सत्यपि दुर्लभम्॥१९६१॥

अर्थ - दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त होने पर भी जिनधर्मयुक्त देश, जाति, कुल, रूप, आयु, नीरोगता, बुद्धि, धर्मश्रवण, ग्रहण एव श्रद्धा ये उत्तरोत्तर अतिदुर्लभ हैं॥१९६१॥

प्रश्न - देश, कुल एव जाति आदि की उत्तरोत्तर दुर्लभता क्यो है?

उत्तर - **देश की दुर्लभता** - पुण्योदय से मनुष्य पर्याय प्राप्त हो जाने पर भी जिनोपदिष्ट जिनधर्म मे दक्ष मनुष्यो से भरपूर देश प्राप्त होना अतिदुर्लभ है, क्योकि पाँचम्लेच्छखण्ड क्रिया धर्म से रहित हैं। अढ़ाई द्वीप में भी छियानवे अन्तर्द्वीप और शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसोक एव सिंहलादि अनेक देश धर्मज्ञ मनुष्यो से रहित हैं।

जाति और कुल की दुर्लभता - नीच कुल और नीच जाति की सर्वत्र बहुलता है, क्योकि अज्ञ प्राणी पर निन्दा, आत्मप्रशसा एवं गुण और गुणीजनो की निन्दा करके नीच गोत्र का बन्ध किया करते हैं। गुणों में और गुणीजनों मे अनुराग तथा अपने कुल-जाति की निरभिमानता कम देखी जाती है अत: उत्तम कुल-जाति की प्राप्ति दुर्लभ है।

रूप की दुर्लभता - सुन्दर रूप मिलना भी दुर्लभ है। कारण कि चारित्र-मोहनीय कर्मोदय से अज्ञ प्राणी छह काय को बाधा पहुँचाने वाले कार्यों मे निरन्तर लगे रहते हैं, उनके रूपादि की शोभा विनष्ट करते

रहते हैं जिससे अशुभकर्म का बन्ध अधिक होता है जिसके फलस्वरूप जीव विरूप होते हैं। प्रशस्त रूप नामकर्म के बन्ध का कारण दयार्द्र परिणाम हैं जो अल्प जीवों में पाये जाते हैं अत: रूप की दुर्लभता है।

दीर्घायु की दुर्लभता - अविवेकपूर्ण आरम्भ सारम्भ से एवं कषाय से प्राय· अज्ञ प्राणी जीवो को मारते रहते हैं एवं उनकी आयु का घात करते रहते हैं अत; अल्पायु जीवों की बहुलता है। कदाचित् ही अहिंसा व्रत पालन करते हैं अत दीर्घायु की प्राप्ति दुर्लभ है।

नीरोगता की दुर्लभता - अज्ञ प्राणी सतत परजीवों को संताप देने में तत्पर एवं उत्साहित रहते हैं अत सदैव रोगी रहते हैं। पर-सन्ताप को दूर करने, वैयावृत्त्य करने और गुरुजनों की सेवा आदि करने के परिणाम होना दुर्लभ है अत नीरोगता की प्राप्ति दुर्लभ है।

समीचीन बुद्धि की दुर्लभता - समीचीन ज्ञान एव ज्ञानियों को दूषण लगाने से, उनसे डाह तथा मात्सर्य करने से, उनके ज्ञानाराधन में विघ्न डालने से, उनकी आसादना करने से, आचार्यों की वाणी का विपरीत प्रचार-प्रसार करने से तथा चक्षुआदि इन्द्रियों की घात कर देने से मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का जाड्य कर्मबन्ध होता है। जिसका उदय होने पर यह जीव अतिमन्दबुद्धि वाला होता है। लक्षावधिसे भी अधिक जन्मों के बाद जब कभी इस जीव के मति-श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम होने योग्य शुभ परिणाम होते हैं तब कदाचित् विवेक को उत्पन्न करने वाली बुद्धि उत्पन्न होती है अत· उत्तम बुद्धि की प्राप्ति अतिदुर्लभ है।

धर्मश्रवण की दुर्लभता - करोड़ो, असख्य भवो के बाद विवेकपूर्ण बुद्धि प्राप्त हो जाने पर भी धर्मश्रवण दुर्लभ है। कारण कि रागद्वेष से रहित, सच्चे ज्ञान के प्रकाशन द्वारा दुर्भेद्य मोहान्धकार का उन्मूलन करने वाले और सब जीवो पर दया करने वाले मुनिजनो की प्राप्ति दुर्लभ है। यदि प्राप्ति हो भी जाय तो तीव्र मिथ्यात्व के उदय से या गुणीजनो मे द्वेषभाव उत्पन्न हो जाने से या मिथ्याज्ञान की प्राप्ति से या दुराग्रह से या 'मैने जो जाना है वही सत्य है' ऐसी धारणा बन जाने से या आलस्य से या ये मुनिराज स्व-परोद्धार मे दक्ष है ऐसा परिज्ञान न होने से अथवा अन्य भी ऐसे अनेक कारणो से मुनिजनो के समीप जाने से धर्म-श्रवण से वचित रहना पड़ता है। कदाचित् मुनिजनों की सभा मे पहुँच ही गये तो निद्रा के झोके आ जाने से, किसी लेन-देन की विशेष स्मृति आ जाने से, गप्पाष्टक या नि सार वार्तालाप में उपयोग लग जाने से, मूर्खों के वचन सुनने से अथवा विनययुक्त व्यवहार न करने से भी धर्मश्रवण दुर्लभ है। पापकर्म का उपशम होना, उपदेश देने वाले मुनिजनों का समागम, विनयपूर्वक प्रश्न करने की दक्षता एव प्रशस्त वचन बोलने वाले गुरु का समागम विशिष्ट पुण्योदय में होता है इसलिए भी धर्मश्रवण दुर्लभ है।

धर्मग्रहण की दुर्लभता - यदि कदाचित् उपयोगपूर्वक धर्म सुन भी लिया तो उसको ग्रहण अर्थात् धारण कर लेना दुर्लभ है क्योंकि श्रुतज्ञानावरणकर्म के उदय से उपदेश का अभिप्राय समझने की पात्रता नहीं होना एवं गुरुमुख से पूर्व में कभी न सुना हुआ उपदेश सुनने एव समझ लेने पर भी उसमें मन की एकाग्रता दुष्कर होने से धारणा में नहीं रह पाने से भी ग्रहण दुर्लभ है। श्रुतज्ञान का क्षयोपशम प्राप्त होना, जीवादि तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन ग्रहण कर पाना, मन का लगना तथा वक्ता का वचन सौष्ठव ये सभी दुर्लभ होने से भी धर्मज्ञान का ग्रहण दुर्लभ है।

श्रद्धा की दुर्लभता - धर्मज्ञान की धारणा स्थायी हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप स्वरूप आत्म-परिणाम ही धर्म है, यही धर्म अभ्युदय एव मोक्षसुख देता है ऐसी श्रद्धा होना दुर्लभ है क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म का उदय होने से दृढ़ श्रद्धान नहीं हो पाता है। सम्यग्दर्शन कभी देशनादि पाँचलब्धियों के बिना नहीं होता। पाँच लब्धियों मे भी करणलब्धि का होना अति-आवश्यक है, किन्तु यह लब्धि सुलभ नहीं है। कभी, क्वचित् किसी जीव को ही प्राप्त होती है, सर्वदा नहीं।

इस प्रकार उत्तरोत्तर दुर्लभ ऐसी वस्तुओ की प्राप्ति मुझे हो चुकी है, अब धर्माचरण में प्रमादी होना उचित नहीं है। ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है।

देशादिष्वपि लब्धेषु, दुर्लभा बोधि-रञ्जसा।
कुपथाकुलिते लोके, रागद्वेष-वशीकृते ॥१९६२॥

अर्थ - देश-कुल एव मनुष्य भव आदि के प्राप्त हो जाने पर भी रागद्वेष के वशवर्ती हुए तथा मिथ्यामार्ग से भरे हुए इस लोक मे जिनदीक्षा रूप या रत्नत्रय की पूर्णतारूप या समाधिमरण रूप अथवा धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप बोधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है॥१९६२॥

इत्थं यो दुर्लभां बोधिं, लब्ध्वा तत्र प्रमाद्यति।
रत्न-पर्वतमारुह्य, ततः पतति नष्ट-धीः ॥१९६३॥

अर्थ - इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दुर्लभ बोधि को प्राप्त कर जो मुनि उसमें प्रमाद करता है, मूर्खबुद्धि वह, मानों रत्नो के पर्वत पर चढकर उससे नीचे गिरता है॥१९६३॥

नष्टा प्रमादतो बोधिः, संसारे दुर्लभा भवेत्।
नष्टं तमसि सद्रत्नं, पयोधौ लभ्यते कथम् ॥१९६४॥

अर्थ - प्रमादवश यदि एक बार बोधि नष्ट हो गई तो इस ससार मे उसका पुन प्राप्त होना महादुर्लभ होगा। अन्धकार मे समुद्र के मध्य गिरा हुआ रत्न कैसे मिल सकता है ? अपितु नहीं मिल सकता॥१९६४॥

विपुल-सुखफलानां, कल्पने कल्पवल्लीं,
भव-सरण-तरूणां कल्पने या कुठारी।
भवति मनसि शुद्धा, सा स्थिरा शुद्ध-बोधिः,
फलममलमलम्भि प्राणितव्यस्य तेन ॥१९६५॥

इति बोधिः।

अर्थ - विपुल सुखरूपी फलो को देने के लिए जो कल्पलता के समान है और ससाररूपी वन के वृक्षो को काटने के लिए जो कुल्हाडी के समान है ऐसी यह शुद्ध बोधि जिसके मन में स्थिरता को प्राप्त हो जाती है उस महामुनि के बोधि द्वारा मोक्षरूपी निर्दोष फल प्राप्त हो गया समझना चाहिए॥१९६५॥

इस प्रकार बोधिदुर्लभ भावना पूर्ण हुई॥१२॥

बारह भावनाओं का उपसंहार

द्वादशापीत्यनुप्रेक्षा, धर्मध्यानावलम्बनम्।
नालम्बनं विना चित्तं, स्थिरतां प्रतिपद्यते ॥१९६६॥

अर्थ - ये अनित्याशरण आदि बारह भावनाएँ धर्मध्यान का अवलंबन हैं, क्योंकि आलम्बन के बिना मन स्थिरता को प्राप्त नहीं हो पाता ॥१९६६॥

प्रश्न - यहाँ अवलम्बन किसके लिए और क्यों आवश्यक है ?

उत्तर - यहाँ धर्मध्यान का वर्णन चल रहा है। द्वादशानुप्रेक्षाएँ धर्मध्यान का अवलम्बन हैं। ध्यान को ध्येय की आवश्यकता होती है तथा ध्यान की प्रथम अवस्था चिन्तनरूप होती है और चिन्तन अवलम्बन के बिना सम्भव नहीं है अत. ध्यान के इच्छुक मुनिगण इन अनुप्रेक्षाओं के द्वारा चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करते हैं।

धर्मध्यान के अन्य अवलम्बन

आलम्बनैर्भृतो लोको, ध्यातु-कामस्य योगिनः।
यदेवालोकते सम्यक्, तदेवालम्बनं मतम् ॥१९६७॥

अर्थ - ध्यान के इच्छुक मुनिजनों के लिए यह सर्वलोक आलम्बनों से भरा पडा है। योगीजन जिस किसी भी पदार्थ को सम्यक्तया अर्थात् निर्विकार भाव से और ममत्वभाव से रहित होकर देखते हैं एव चिन्तन करते हैं वही पदार्थ उनके ध्यान का अवलम्बन बन जाता है ॥१९६७॥

इस प्रकार धर्मध्यान का कथन पूर्ण हुआ।

शुक्लध्यान का कथन

धर्मध्यानमतिक्रान्तो, यदा भवति शुद्ध-धीः।
शुद्ध-लेश्यस्तदा ध्यानं, शुक्लं ध्यायति सिद्धये ॥१९६८॥

अर्थ - जब शुद्ध बुद्धि वाला योगी धर्मध्यान को पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्धलेश्या के साथ शुक्लध्यान को ध्याता है ॥१९६८॥

गद्य द्वारा शुक्लध्यान के नाम आदि

पृथक्त्व-वितर्क-वीचारैकत्व-वितर्कावीचार-सूक्ष्मक्रिया-समुच्छिन्न क्रियाणि त्र्येक-योग-काययोगायोग-ध्येयानि-चत्वारि शुक्लानि यथार्थानि ॥१९६९॥

अर्थ - शुक्लध्यान का प्रथम पाया पृथक्त्व वितर्कवीचार है। यह प्रथम शुक्लध्यान मनोयोगादि तीनों योगो द्वारा ध्याया जाता है। एकत्व अवितर्क वीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान है, जो तीनों योगों में से किसी भी एक योग द्वारा ध्याया जाता है। इसका तीसरा पाया सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती है जो काययोग द्वारा ध्याया जाता है और चतुर्थ पाया समुच्छिन्न क्रिया है जो अयोगी जिन द्वारा सम्पन्न होता है।

यह शुक्लध्यान शुक्ललेश्या वालों को ही होता है तथा इसमे उत्तरोत्तर अपूर्व-अपूर्व और अत्यन्त पवित्र परिणाम होते जाते हैं। यह ध्यान आत्मा के साथ लगे हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म रूपी मल को नष्ट कर देता है अर्थात् आत्मा को शुद्ध कर देता है अत: 'शुक्ल ध्यान' इस सार्थक नाम वाला है ''शुचि-गुणयोगात् शुक्ल'' इति ॥१९६९॥

प्रथम शुक्लध्यान का शब्दार्थ एव स्वामी

वितर्को भण्यते तत्र, श्रुतध्यान-विचक्षणै:।
अर्थ - व्यञ्जन-योगानां, वीचार: संक्रमो बुधै: ॥१९७०॥

तत्र द्रव्याणि सर्वाणि, ध्यायता पूर्व-वेदिना।
भेदेन प्रथमं शुक्लं, शान्तमोहेन लभ्यते ॥१९७१॥

अर्थ - (प्रथम शुक्लध्यान के नाम मे तीन पद है, 'पृथक्त्व, वितर्क और वीचार) ध्यान में विचक्षण बुद्धिमान पुरुषो ने अनेकपने को पृथक्त्व, अर्थ एव श्रुत को वितर्क तथा अर्थों के, व्यञ्जनों के और योगों के परिवर्तन को वीचार कहा है। चौदह पूर्वों के पारगामी मुनिराजो द्वारा जीवादि सभी द्रव्यो को ध्याया जाता है, इन द्रव्यो को ध्याते हुए उपशान्त मोह वाले मुनि के पहला शुक्लध्यान होता है ॥१९७०-१९७१॥

प्रश्न - इस ध्यान मे परिवर्तन कितने प्रकार से होता है और इसके नाम की सार्थकता क्या है?

उत्तर - प्रथम शुक्लध्यान मे तीन प्रकार से परिवर्तन होते हैं। विषय परिवर्तन, योग परिवर्तन और वचन अर्थात् वाक्यपरिवर्तन। इन तीनो प्रकार के परिवर्तनो का होना ही वीचार शब्द का अर्थ है।

इस शुक्लध्यान मे मुनिराज जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्मादि किसी द्रव्य का या किसी पदार्थ का चिन्तन करते-करते उसे छोडकर किसी अन्य पदार्थ के चिन्तन मे एकाग्र हो जाते हैं। किसी विवक्षित आगम वाक्य का अवलम्बन लेते हैं, पश्चात् उसे छोडकर किसी अन्य वाक्य का अवलम्बन ले लेते हैं, इसी प्रकार वे मुनिराज तीन योगो मे से किसी एक योग से युक्त हो ध्यान करते हैं। पश्चात् उसे छोड किसी अन्य योग से युक्त हो जाते हैं। इस प्रकार इस ध्यान मे अर्थ, व्यञ्जन और योग इन तीनो का परिवर्तन होता है किन्तु यह परिवर्तन बुद्धिपूर्वक नहीं होता। इस परिवर्तन को ही **वीचार** कहते हैं।

इस ध्यान मे श्रुतज्ञान का, श्रुत मे कथित अर्थ का एव शब्दात्मक द्रव्यश्रुत का अवलम्बन लिया जाता है अत इस ध्यान को वितर्क युक्त कहा जाता है। इस प्रकार के अनेकपनेसे, वीचार से एव वितर्क से इसका 'पृथक्त्व वितर्क वीचार' यह सार्थक नाम रखा गया है।

द्वितीय शुक्लध्यान का स्वरूप एवं स्वामी

ध्यायता पूर्व-दक्षेण, क्षीणमोहेन साधुना।
एकं द्रव्यमभेदेन, द्वितीयं ध्यानमाप्यते ॥१९७२॥

अर्थ - (इस ध्यान मे अर्थसक्रमण, योगसक्रमण एव शब्दसक्रमण में से एक भी नहीं होता) इस ध्यान का ध्याता किसी एक योग का आश्रय लेकर किसी विवक्षित एक ही द्रव्य का अभेद रूप से चिन्तन करते हैं।

इस ध्यान के स्वामी क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान में दक्ष साधु हैं। अर्थात् यह ध्यान वे महात्मा ही कर सकते हैं, अन्य नहीं॥१९७२॥

प्रश्न - दूसरे शुक्लध्यान का शब्दार्थ क्या है और दोनों ध्यानों के कार्य क्या-क्या हैं?

उत्तर - यहाँ एकत्व का अर्थ एकरूपता है, श्रुत का अवलम्बन लिया जाता है अत वितर्क है एवं परिवर्तन रहित होने से अवीचार है, अत· इसका सार्थक नाम एकत्व वितर्कावीचार है।

प्रथम शुक्लध्यान के द्वारा दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म को नष्ट किया जाता है, और यह दूसरा शुक्लध्यान रत्नो की दीपशिखावत् अकम्प, अडोल एव बदलाहट से रहित होता है। यह ध्यान किसी एक योग तथा किसी एक श्रुतवाक्य के आश्रय से प्रवृत्त होता है। इसके स्वामी क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती योगीश्वर हैं, वे बारहवें गुणस्थान के अन्तसमय में इस ध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों को नष्ट कर देते हैं।

तृतीय शुक्लध्यान का स्वरूप एव स्वामी

सर्वभाव-गतं शुक्लं, विलोकित-जगत्त्रयम्।
सर्वसूक्ष्मक्रियो योगी, तृतीयं ध्यायति प्रभुः॥१९७३॥

अर्थ - सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायगत तथा तीन लोक के विलोकन में समर्थ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती नामका तीसरा शुक्ल ध्यान है। इस ध्यान के स्वामी तेरहवे गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली जिनेन्द्र हैं॥१९७३॥

प्रश्न - इस ध्यान का अन्वर्थ नाम क्या है, इसका कार्य क्या है और इसके स्वामी कौन हैं?

उत्तर - इस ध्यान मे सूक्ष्म क्रिया का अप्रतिपात है अर्थात् अभाव है अर्थात् इस ध्यान मे एक मात्र काययोगरूप सूक्ष्म क्रिया का अस्तित्व पाया जाता है अत इसका सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती यह अन्वर्थ नाम है।

आशय यह है कि यह शुक्लध्यान वितर्क और वीचार से रहित है। यह ध्यान तेरहवें गुणस्थान में भी तब होता है जबकि देश-देश का विहार एव दिव्यध्वनि रूप क्रियाएँ समाप्त होकर बाह्य क्रियारूप योग निरोध हो जाता है। इसमें श्वासोच्छ्वासादि क्रिया सूक्ष्म रह जाती है अर्थात् यहाँ केवल सूक्ष्मकाय-योग क्रिया का अस्तित्व रहता है। मनोवर्गणा के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाला मनोयोग और वचनवर्गणा के अवलम्बन से होने वाला वचनयोग नहीं होता। यह शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्य-विशेषात्मक धर्मों से युक्त छह द्रव्यो को एक साथ प्रकाशित करता है अत सर्वगत है।

प्रश्न - सर्वगत लक्षण तो केवलज्ञान का है, तब क्या केवलज्ञान को ध्यान कहते हैं ?

उत्तर - ध्यान का लक्षण " . एकाग्रचिन्ता-निरोधो ध्यानम्. . . . " किया गया है। इस लक्षणात्मक वाक्य में "चिन्ता" शब्द ज्ञान सामान्य का वाचक है, अत· ज्ञान की निश्चलता ही ध्यान है, यह सिद्ध हुआ। केवलज्ञान सर्वथा निश्चल ही है इसलिए सयोगकेवली भगवान का यह सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपात नामक ध्यान केवलज्ञानमूलक है। केवलज्ञान को ध्यान कहने का मूल कारण भी यही है। ज्ञान की

निश्चलता सब ज्ञानोपयोगों में साधारण है अत: ध्यान का यह लक्षण भी सभी ज्ञानोपयोगों में घटित हो जाता है। इसी कारण जैसे केवलज्ञान को ध्यान कहा है, वैसे ही श्रुतज्ञान एव कुश्रुतज्ञान को तथा मतिज्ञान एवं मति-अज्ञान को भी ध्यान कहते हैं।

समुच्छिन्नक्रिया या व्युपरत क्रिया नामक चतुर्थ शुक्लध्यान का स्वरूप एवं स्वामी

अयोगकेवली शुक्लं, सिद्धि-सौधमियासया।
चतुर्थं ध्यायति ध्यानं, समुच्छिन्न-क्रियो जिन: ॥१९७४॥

अर्थ - जिनकी काययोगरूप समस्त क्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं और जो सिद्धिरूप प्रासाद को प्राप्त करने वाले हैं वे अयोग केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रिया नामक चतुर्थ शुक्लध्यान को ध्याते हैं ॥१९७४॥

प्रश्न - इस ध्यान के नाम की सार्थकता, इसके स्वामी एव कार्य क्या हैं ?

उत्तर - इस ध्यान मे सम्पूर्ण योगरूप क्रिया नष्ट हो जाती है अत इसका समुच्छिन्न क्रिया या व्युपरत क्रिया सार्थक नाम है। अयोग केवली जिन इस चतुर्थ शुक्ल ध्यान के स्वामी हैं। ये अयोग केवली भगवान् औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरो को नष्ट करते हुए ही इस अन्तिम ध्यान को ध्याते हैं। इस ध्यान में अघातिया कर्मों की पिच्चासी प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार समस्त अठारह हजार शीलों के स्वामी और चौरासी लाख उत्तर गुणो से परिपूर्ण वे अयोगीजिन सर्व कर्मभार से रहित होकर अष्टम ईषत् प्राग्भार नामा पृथिवी अर्थात् सिद्धशिला से कुछ कम एक योजन ऊपर जाकर सिद्धलोक मे सदा-सदा के लिए विराजमान हो जाते हैं और वहाँ निर्द्वन्द्व, अव्याबाध एव अनन्त सुख मे मग्न रहते हैं।

प्रश्न - इस ध्यान मे क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर - इस ध्यान मे मनोयोग, वचनयोग, प्राण, अपान, श्वास एव उच्छ्वास का प्रचार तथा काययोग सम्बन्धी हलन-चलन क्रिया का व्यापार नष्ट हो जाता है अत यह ध्यान अक्रिय है। यह ध्यान समस्त कर्मों को नष्ट किए बिना समाप्त नहीं होता अत. यह अनिवर्ति है। इस ध्यान से सब कर्मों का आस्रव रुक जाता है अत इसे निरुद्ध योग कहते हैं। इस निरुद्धयोग से शैलेशीभाव रूप यथाख्यात चारित्र उत्पन्न हो जाता है अत इस ध्यान को शैलेशी भी कहते हैं। इस ध्यान का प्रादुर्भाव योगनिरोध के पश्चात् ही होता है।

इस प्रकार शुक्लध्यान का वर्णन पूर्ण हुआ।

ध्यान का माहात्म्य

इत्थं यो ध्यायति ध्यानं, गुणश्रेणिगत: शुभम्।
निर्जरां कर्मणामेष, क्षपक: कुरुते पराम् ॥१९७५॥

अर्थ - इस प्रकार वह क्षपक गुणश्रेणी को प्राप्त हो प्रशस्त शुक्ल ध्यान को ध्याता है और उस ध्यान के बल से कर्मों की महान् निर्जरा करता है ॥१९७५॥

तपस्यवस्थितं चित्रं, चिरं निर्ध्यान-संवरम्।
ध्यानेन संवृत: क्षिप्रं, जयति क्षपक: स्फुटम् ॥१९७६॥

अर्थ - चिरकाल तक अनेक प्रकार के अनशनादि तप से युक्त किन्तु ध्यानरूप संवर से रहित मुनि को ध्यान रूप संवर करने वाला क्षपक मुनि शीघ्र ही जीत लेता है। अर्थात् पूर्वकोटि काल तक संवर रहित चारित्र एवं तप करने वाले मुनि से एक अन्तर्मुहूर्त मात्र ध्यानरूप संवर से युक्त मुनि श्रेष्ठ है॥१९७६॥

आयुधं योगिनो ध्यानं, कषाय-समरे परम्।
निर्ध्यानः संस्तरे युद्धे, निरस्त्र-भट-सन्निभः॥१९७७॥

अर्थ - जैसे युद्ध क्षेत्र में बिना अस्त्र के कोई भी योधा शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे ही सस्तर में स्थित समाधि का इच्छुक क्षपक ध्यान रूप शस्त्र के बिना कषाय रूप या कर्मरूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि कषायो का नाश करने वाली समरभूमि मे योगीरूप सुभट का सर्वोत्कृष्ट शस्त्र ध्यान ही है॥१९७७॥

कषाय-संयुगे ध्यानं, मुमुक्षोः कवचो दृढः।
ध्यान-हीनस्तदा युद्धे, निःकङ्कट-भटोपमः॥१९७८॥

अर्थ - जैसे कवच रहित सुभट युद्धक्षेत्र मे शत्रु के शस्त्रप्रहार से अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वैसे ही ध्यान रूप कवच से रहित क्षपक रूपी योद्धा कषाय शत्रु के शस्त्र प्रहार को नहीं रोक सकता, क्योकि कषायरूप शत्रु से युद्ध करने के लिए मुमुक्षुमुनि को यह ध्यान दृढ़ कवच के सदृश है॥१९७८॥

ध्यानं करोत्यवष्टम्भं, क्षीण-चेष्टस्य योगिनः।
दण्डः प्रवर्तमानस्य, स्थविरस्येव पावनः॥१९७९॥

अर्थ - जैसे चलनक्रिया मे असमर्थ वृद्ध पुरुष को गमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे ही क्षीणकाय योगी के ध्यान सहायक होता है अर्थात् शरीर क्षीण हो जाने से जो क्षपक देववन्दनादि षड़ावश्यको द्वारा कर्मनिर्जरा आदि करने मे असमर्थ है वह ध्यान द्वारा कर्मनिर्जरा कर लेता है अत ध्यान उसका सहायक है॥१९७९॥

बलं ध्यानं यतेर्धत्ते, मल्लस्येव घृतादिकम्।
समोऽपुष्टेन मल्लेन, ध्यान-हीनो यतिर्मतः॥१९८०॥

अर्थ - जैसे घी-दूधादि पदार्थ मल्ल पुरुष के बल को दृढ़ करते हैं, वैसे ही ध्यान, क्षपक की शक्ति को दृढ़ करता है। जैसे दूधादि न पीने वाला अपुष्ट अर्थात् कमजोर मल्ल अखाड़े में हार जाता है, वैसे ही ध्यानविहीन क्षपक कषायों से हार जाता है॥१९८०॥

वज्रं रत्नेषु गोशीर्षं, चन्दने च यथा मतम्।
श्रेयं मणिषु वैडूर्यं, यथा ध्यानं व्रतादिषु॥१९८१॥

अर्थ - जैसे रत्नो में हीरा श्रेष्ठ रत्न है, चन्दनो मे गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ है और मणियों मे वैडूर्यमणि श्रेष्ठ है, वैसे ही क्षपक के लिए व्रत, संयम एवं तप आदि में ध्यान श्रेष्ठ है॥१९८१॥

कषाय-व्यसने मित्रं, कषाय-व्याल-रक्षणम्।
कषाय-मारुते गेहं, कषाय-ज्वलने ह्रदः ॥१९८२॥

अर्थ - यह ध्यान, कषाय रूप कष्ट के समय में मित्र सदृश है, कषाय रूप जगली श्वापदों से रक्षा करने वाला है, ध्यान, कषाय रूप आँधी, तूफान एव वायु से बचाने के लिए गर्भगृह के सदृश है तथा यह ध्यान कषायरूप अग्नि को शान्त करने के लिए सरोवर सदृश है॥१९८२॥

कषायार्कातपे छाया, कषाय-शिशिरेऽनलः।
कषायारिभये त्राणं, कषाय-व्याधि-भेषजम्॥१९८३॥

अर्थ - यह ध्यान, कषायरूप सूर्य के आतप से बचाने के लिए छाया सदृश है, कषायरूप शिशिर ऋतु सम्बन्धी शीत की बाधा को नष्ट करने के लिए अग्नि सदृश है, कषाय रूप शत्रु से रक्षा करने वाला है तथा कषाय रूप रोग की औषधि है॥१९८३॥

तोयं विषय-तृष्णायामाहारो विषय-क्षुदि।
जायते योगिनो ध्यानं, सर्वोपद्रव-सूदनम्॥१९८४॥

अर्थ - यह ध्यान विषय तृष्णा को शान्त करने के लिए मिष्टजल के सदृश है तथा विषयरूप क्षुधा की बाधा उत्पन्न हो जाने पर यतिजन यह ध्यानरूप आहार ही ग्रहण करते हैं। अधिक क्या कहे ? योगीजनो के समस्त उपद्रवो को शान्त करने वाला यह ध्यान ही है, ऐसा निश्चय करो॥१९८४॥

सस्तरारूढ एव ध्यानरत क्षीणकाय क्षपक की सजगता के चिह्न

आराधनाववबोधार्थं, योगी व्यावृत्ति-कारणम्।
तदा करोति चिह्नानि, निश्चेष्टो जायते यदा॥१९८५॥

अर्थ - सस्तरारूढ क्षपक शरीर की कृशता के कारण जब मन, वचन एव काय से निश्चेष्ट जैसा हो जाता है तब स्वय अथवा निर्यापकाचार्य द्वारा पूछे जाने पर अपनी आराधना की सलग्नता का बोध कराने के लिए आगे कहे जाने वाले सकेत करता है॥१९८५॥

हुङ्काराङ्गुलि-नेत्रभ्रूमूर्धकम्पाञ्जलि-क्रियाः।
यथा संकेतमव्यग्रः, क्षपकः कुरुते सुधीः॥१९८६॥

अर्थ - निर्यापकाचार्य द्वारा सावधानी पूछी जाने पर ज्ञानवान् किन्तु क्षीणकाय क्षपक अपनी जाग्रति अर्थात् सावधानी का सकेत हुकार से, अगुलि से, हाथ उठाकर या भौंहे उठाकर या मस्तक हिलाकर या हाथ की पाँचो अगुलियाँ उठा कर करता रहता है॥१९८६॥

संकेतवन्तः परिचारकास्ते, चेष्टा-विशेषेण विदन्ति साधोः।
आराधनोद्योगमवेत-शास्त्रा, धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलन्तम्॥१९८७॥

इति ध्यानम्।

अर्थ - जैसे धूम के द्वारा, जाज्वल्यमान अग्नि का ज्ञान हो जाता है वैसे ही संकेत समझने में विलक्षण बुद्धि वाले एवं शास्त्र के ज्ञाता निर्यापकाचार्य एवं परिचारक साधु समुदाय क्षपक द्वारा किये जाने वाले संकेत विशेषो से उसकी आराधना के उद्योग की सावधानी समझ लेते हैं॥१९८७॥

इस प्रकार ध्यान का अधिकार पूर्ण हुआ॥३७॥

३८. लेश्या-अधिकार

इत्थं समत्वमापन्नः, शुभध्यान-परायणः।
आरोहति गुणश्रेणीं, शुद्ध-लेश्यो महामनाः॥१९८८॥

अर्थ - इस प्रकार समता भाव को प्राप्त एव प्रशस्त ध्यान मे परायण वह महामना साधु शुद्ध अर्थात् पीत या पद्म या शुक्ल लेश्या युक्त होता हुआ गुणश्रेणी का आरोहण करता है अर्थात् अधिक-अधिक विशुद्धि को वृद्धिंगत करता है॥१९८८॥

लेश्या के भेद

बाह्याभ्यन्तर-भेदेन, द्वेधा लेश्या निवेदिता।
शुभाशुभ-विभेदेन, पुनर्द्वेधा जिनेश्वरैः॥१९८९॥

अर्थ - जिनेन्द्रदेव के द्वारा लेश्या के दो भेद कहे गये हैं, बाह्यलेश्या और अभ्यन्तर लेश्या, अर्थात् द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। उन दोनो के पुन शुभ और अशुभ के भेद से दो-दो भेद होते हैं॥१९८९॥

कृष्णा नीला च कापोती, तिस्रो लेश्या विगर्हिताः।
धीरो वैराग्यमापन्नः, स्वैरिणीरिव मुञ्चते॥१९९०॥

अर्थ - कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या, ये तीन लेश्यायें गर्हित अर्थात् अप्रशस्त हैं। जैसे धीर-वीर पुरुष दुराचारिणी स्वच्छन्द स्त्री का त्याग कर देते हैं, वैसे ही वैराग्य को प्राप्त धीर क्षपक इन तीन अशुभ लेश्याओं का त्याग कर देता है॥१९९०॥

तेजः पद्मा तथा शुक्ला, तिस्रो लेश्याः प्रियङ्कराः।
निर्वृत्तिमिव गृह्णाति, निर्बाध-सुखदायिनीम्॥१९९१॥

अर्थ - पीत, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्यायें प्रियकर अर्थात् प्रशस्त हैं। जैसे हितेच्छु पुरुष निर्बाध सुख देने वाली मुक्ति को ग्रहण करते हैं, वैसे ही क्षपक तीन शुभ एव प्रशस्त लेश्याओं को ग्रहण करता है॥१९९१॥

प्रश्न - लेश्या किसे कहते हैं, वे कितनी हैं, उनके भेद-प्रभेद और लक्षण क्या हैं तथा उनके परिणामों की तरतमता का क्रम क्या है ?

उत्तर - कषाय से अनुरजित योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म

और शुक्ल के नाम वाली ये लेश्यायें छह हैं। द्रव्य और भाव के भेद से ये दो प्रकार की होती हैं। द्रव्य लेश्या शरीर के काले-गोरे वर्णरूप होती है और भाव लेश्या मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से प्राणियों के जो संस्कार बन जाते हैं, उस रूप होती है अर्थात् मिथ्यात्व आदि के कारण जीव के जो शुभाशुभ भाव होते हैं वह भाव लेश्या है। शुभ और अशुभ के भेद से भाव लेश्या दो प्रकार की है। इनमें से प्रारम्भ की तीन अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत अशुभ हैं और पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन शुभ हैं। अशुभ लेश्याओं में परिणामों की तरतमता रूप हानि-वृद्धि तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूप से होती है। जैसे कापोतलेश्या तीव्र है, नील लेश्या तीव्रतर है और कृष्ण लेश्या तीव्रतम है। इसी प्रकार शुभ लेश्याओं में यह कषाय परिणामों की तरतमता मन्द, मन्दतर और मन्दतम रूप से होती है। जैसे पीतलेश्या मन्द, पद्मलेश्या मन्दतर और शुक्ल लेश्या मन्दतम है। परिणामों की तरतमता एक उदाहरण द्वारा समझी जा सकती है।

छह व्यापारी व्यापार हेतु देशान्तर जा रहे थे। मार्ग भूल जाने से जगल में भटक रहे थे, क्षुधा से भी पीड़ित थे, अनायास आम्रफलों से युक्त एक विशाल वृक्ष दिखाई दिया, उसे देखते ही उन छह पथिकों के भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम बनते हैं। यथा-जो पथिक फलो से लदे वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर फल खाना चाहता है उसके परिणाम कृष्ण लेश्या जन्य हैं। जो स्कन्ध से वृक्ष काट कर फल खाना चाहता है उसके परिणाम नील लेश्या के हैं, जो मात्र फल युक्त एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके परिणाम कापोत लेश्या के है, जो फल युक्त उपशाखा या आम्र का गुच्छा तोड़कर फल खाना चाहता है, उसके परिणाम पीतलेश्याजन्य हैं, जो मात्र फल तोड कर ही खाना चाहता है उसके परिणाम पद्मलेश्या जन्य हैं और जो पथिक नीचे भूमि पर गिरे हुए फल उठाकर अपनी क्षुधा शान्त करना चाहता है, उसके परिणाम शुक्ल लेश्या जन्य हैं। सभी पथिक थके हुए थे, सभी भूखे थे और उन सबने वृक्ष भी एक साथ देखा था किन्तु उनके परिणाम भिन्न-भिन्न हो रहे थे।

प्रश्न - दृष्टान्तर्गत छह लेश्याओ से युक्त पुरुषो के चिह्न क्या-क्या हैं?

उत्तर - जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय से युक्त हैं, निर्दय एव कलहप्रिय हैं, दुराग्रही हैं, दुष्ट हैं, सतत वैरभाव रखने वाले है और मद्य-मासादि के सेवन में आसक्त रहते हैं उन्हें कृष्णलेश्या परिणाम वाले जानना चाहिए।

जो मायावी, छली-कपटी, घमण्डी, विषयलम्पटी, आलसी, बुद्धिहीन, अधिक निद्रालु, धन-धान्य मे आसक्त एव नाना प्रकार के आरम्भ और परिग्रहों में मोहित रहने वाले हैं, वे नीललेश्या परिणाम वाले होते हैं।

जो शोक एव भय से युक्त होते हैं, बात-बात में रूसते हैं, लड़ाई हो जाने पर तत्काल मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं, पर की निन्दा और अपनी प्रशसा करते रहते हैं, पर का तिरस्कार करते हैं, कषाय के आवेग में हानि-लाभ भी नहीं देखते हैं और अपनी प्रशसा सुनकर मन-मन आह्लादित होते रहते हैं, वे कापोतलेश्या के परिणाम वाले होते हैं।

जो सर्वत्र समदृष्टि रहते हैं, कृत्य-अकृत्य एव हित-अहित का विवेक रखते हैं और दया, दान तथा पूजा में रत रहते हैं, उन्हें पीत लेश्या के परिणाम वाले जानना चाहिए।

जो त्यागशील, क्षमाशील, भद्र प्रकृति, साधुओं की सेवा, पूजा और दानादि में रत रहते हैं उन्हें पद्मलेश्या के परिणाम वाले जानना चाहिए और जो सर्वक्षेत्र एवं सर्वजनों में समता भाव रखते हैं, निदान नहीं करते तथा इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करते वे शुक्ललेश्या युक्त होते हैं। इनमें कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें त्याज्य हैं एव पीतादि तीन शुभ लेश्यायें ग्राह्य हैं।

लेश्याओं की शुद्धि का निर्देश

कुरुष्व सुख-हेतूनां, सल्लेश्यानां विशोधनम्।
यत्सङ्गानामशेषाणां, सर्वथापि विवर्जनम्॥१९९२॥

अर्थ - हे क्षपकराज ! लेश्या अर्थात् परिणामविशुद्धि में परिग्रह ही बाधक होता है अत: सर्व परिग्रह का सर्वथा त्याग कर तुम सुखदायक शुभ लेश्याओं की विशुद्धि करो अर्थात् आगे-आगे परिणाम अधिक निर्मल बनाने का पुरुषार्थ करो॥१९९२॥

लेश्यानां जायते शुद्धिः, परिणाम-विशुद्धितः।
विशुद्धिः परिणामानां कषायोपशमे सति॥१९९३॥

अर्थ - यह नियम है कि परिणामों की विशुद्धि से लेश्याओं की विशुद्धि होती है और परिणाम विशुद्ध तब होते हैं जब कषायें उपशमित होती हैं॥१९९३॥

मन्दी भवन्ति जीवस्य, कषायाः सङ्ग-वर्जने।
कषाय-बहुलः सर्वं, गृह्णीते हि परिग्रहम्॥१९९४॥

अर्थ - जो बाह्य परिग्रह का त्याग करता है उसकी कषायें मन्द होती हैं, क्योंकि जिसकी कषायें तीव्र होती हैं वही सर्व परिग्रह को ग्रहण करता है॥१९९४॥

वृद्धि-हानी कषायाणां, सङ्ग-ग्रहण मोक्षयोः।
अग्निनामिव काष्ठादि-प्रक्षेपण-निरासयोः॥१९९५॥

अर्थ - जैसे ईंधन डालने से अग्नि वृद्धिंगत होती है और ईंधन न डालने से या निकाल लेने से अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही परिग्रह के ग्रहण या सचय करने से कषायें वृद्धिगत होती हैं और परिग्रह का त्याग कर देने से कषायें मन्द हो जाती हैं॥१९९५॥

कषायो ग्रन्थ-सङ्गेन, क्षोभ्यते तनुधारिणाम्।
प्रशान्तोपि ह्रदादीनां, पाषाणेनेव कर्दमः॥१९९६॥

अर्थ - जैसे सरोवर में नीचे दबा हुआ भी कीचड पत्थर डालने से क्षुभित होता हुआ ऊपर आ जाता है, वैसे ही परिग्रह के सम्पर्क से या ग्रहण करने से संसारी प्राणियों के सत्तास्थित या उपशमित भी कषायें उदय में आ जाती हैं या तीव्र हो जाती हैं॥१९९६॥

अन्तर्विशुद्धितो जीवो, बहिर्ग्रन्थं विमुञ्चति।
अन्तरामलिनो बाह्यं, गृह्णीते हि परिग्रहम्॥१९९७॥

अर्थ - अन्तरंग की विशुद्धि से अर्थात् कषायों की मन्दता होने पर यह जीव नियमतः बाह्य परिग्रह छोड़ देता है क्योंकि अन्तरंग में मलिनता होने पर ही जीव बाह्य परिग्रहों को ग्रहण करता है।।१९९७।।

अन्तर्विशुद्धितो जन्तोः, शुद्धिः सम्पद्यते बहिः।
बाह्यं हि कुरुते दोषं, सर्वमान्तर-दोषतः।।१९९८।।

अर्थ - जीवो के अन्तरग की विशुद्धि होने पर नियमत बाह्य विशुद्धि हो जाती है क्योंकि अन्तरग दूषित होने पर जीव सर्व बाह्य दोष करता है। अर्थात् कषायो की मन्दता रूप निर्मल परिणाम होने पर बाह्य हिंसा-झूठादि दोष होना सम्भव नहीं हैं किन्तु यदि अभ्यन्तर परिग्रह की आसक्ति से मलिन है तो शरीर और वचन सम्बन्धी मलिनता होगी ही होगी।।१९९८।।

ससङ्गस्याङ्गिनः कर्तुं, लेश्या-शुद्धिर्न शक्यते।
अन्तराशोध्यते केन, तुष-युक्तोऽपि तन्दुलः।।१९९९।।

अर्थ - परिग्रही मनुष्य के लेश्याओं की शुद्धि होना शक्य नहीं है, क्या बाह्य छिलके से युक्त चावल की अभ्यन्तर ललाई रूप मलिनता किसी के भी द्वारा दूर करना शक्य है ? नहीं।।१९९९।।

लेश्या के आश्रय से आराधक के भेद

शुक्ललेश्योत्तमांशं, यः प्रतिपद्य विपद्यते।
उत्कृष्टाराधना तस्य, जायते पुण्य-कर्मणः।।२०००।।

अर्थ - जो क्षपक शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अशो को प्राप्त कर अर्थात् तत् रूप परिणत होकर मरण करता है वह पुण्यात्मा उत्कृष्ट आराधक होता है अर्थात् उसकी आराधना उत्कृष्ट होती है।।२०००।।

शेषांशान् शुक्ललेश्यायाः, पद्मायाश्च तथा श्रितः।
म्रियते मध्यमा तस्य, साधोराराधना मता।।२००१।।

अर्थ - शुक्ललेश्या के शेष मध्यम और जघन्य अशो का तथा पद्मलेश्या के उत्कृष्ट, मध्यम एव जघन्य अशो का आश्रय लेकर सन्यास मरण करने वाले क्षपक की मध्यम आराधना होती है अर्थात् वह मध्यम आराधक होता है।।२००१।।

तेजो-लेश्यामधिष्ठाय, क्षपको यो विपद्यते।
जघन्याराधना तस्य, वर्णिता पूर्व-सूरिभिः।।२००२।।

अर्थ - पूर्वाचार्यों ने कहा है कि जो क्षपक पीत लेश्या मे स्थित होकर सन्यास मरण करता है उसकी जघन्याराधना होती है अर्थात् वह जघन्य आराधक होता है।।२००२।।

प्रतिपद्य तपोवाही, यो यां लेश्यां विपद्यते।
तल्लेश्ये जायते स्वर्गे, तल्लेश्यः स सुरोत्तमः।।२००३।।

अर्थ - जो तपस्वी क्षपक जिस-जिस लेश्या से परिणत होकर मरण करता है, वह उसी लेश्या वाले स्वर्ग मे उसी लेश्या का धारक उत्तम देव होता है।।२००३।।

सर्व-लेश्या-विनिर्मुक्तः, प्राणांस्त्यजति यो यतिः।
आयुषो बन्धनेनैव, मुक्तो याति स निर्वृतिम् ॥२००४॥

अर्थ - जो क्षपक सम्पूर्ण लेश्याओं से रहित होकर प्राणविसर्जन करता है वह सदा के लिए आयुबन्धन से मुक्त हो जाता है और परम निर्वाण मोक्ष को प्राप्त करता है ॥२००४॥

शुद्धतमा गुणवृद्धि-गरिष्ठा, भव्य-शरीरि-निवेशित-चेष्टाः।
दूर-निवारित-संसृति-वेश्या, कस्य सुखं जनयन्ति न लेश्याः ॥२००५॥

इति लेश्याः।

अर्थ - शुभ लेश्यायें क्षपक के गुणों की वृद्धि करने में प्रधान हैं, भव्य जीवों की चेष्टाओं को शान्त करने वाली हैं एव दूर से ही ससार रूपी वेश्या को रोकने वाली हैं। ऐसी लेश्यायें किसे सुख उत्पन्न नहीं करतीं ? अपितु सभी को सुख देती हैं ॥२००५॥

इस प्रकार लेश्या नामा अधिकार पूर्ण हुआ ॥३८॥

३९. आराधना फलाधिकार

आराधना रूपी ध्वजग्रहण का अधिकारी

अविघ्नेन विशुद्धात्मा, लेश्या-शुद्धिमधिष्ठितः।
प्रवर्तित-शुभ-ध्यानो, गृह्णात्याराधना-ध्वजाम् ॥२००६॥

अर्थ - इस प्रकार आहारादि के त्याग से ध्यान पर्यन्त सर्व कार्य जिसने निर्विघ्नता से सम्पन्न कर लिये हैं, जो लेश्या की शुद्धि से युक्त है एव शुभ ध्यान मे प्रवृत्त है, ऐसे क्षपक मुनिराज ही आराधनारूपी ध्वजा को ग्रहण करते हैं ॥२००६॥

आराधना देवी का माहात्म्य

ददाति चिन्तितं सौख्यं, छिनत्ति भव-पादपम्।
इत्थमाराधना देवी, भव्येनाराध्यते सदा ॥२००७॥

अर्थ - जो मनोवाछित फल देती है और ससाररूपी वृक्ष को काटती है ऐसी आराधना देवी की आराधना भव्य जीवों के द्वारा सदा की जाती है ॥२००७॥

यैरेषाराधना देवी, सिद्धि-सौध-प्रवेशिनी।
आराधिता न तैर्लाभः, को लब्धो भुवनत्रये ॥२००८॥

अर्थ - सिद्धिप्रासाद मे प्रवेश कराने वाली इस आराधना देवी का आराधन जिनके द्वारा नहीं किया जाता है उनके द्वारा तीन लोक में क्या प्राप्त किया जाता है? अर्थात् मनुष्य भव प्राप्त करने का उसे क्या लाभ हुआ? कुछ भी नहीं ॥२००८॥

यथाख्यात-विधिं प्राप्ता, विशुद्ध-ज्ञान-दर्शनाः।
दहन्ति घाति-दारूणि, केचिद्ध्यान-कृशानुना ॥२००९॥

अर्थ - कोई चरमशरीरी क्षपक मुनिराज यथाख्यात चारित्र की विधि प्राप्त कर शुद्ध सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त हो ध्यान रूपी प्रचण्ड अग्नि के द्वारा घातिया रूप दारुण कर्मों को अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एव अन्तराय को जला देते हैं अर्थात् सर्वज्ञ और वीतरागी बन जाते हैं॥२००९॥

त्यजन्त्याराधका देहं, ध्यायन्तो भुवनत्रयम्।
द्रव्य-पर्याय-सम्पूर्णं, केवलालोक-लोकितम् ॥२०१०॥

अर्थ - केवलज्ञान द्वारा द्रव्य और पर्यायो से परिपूर्ण इस तीन लोक को जानते हुए वे भव्यात्मा आराधक मुनिराज ध्यान की एकाग्रता पूर्वक अपना शरीर छोड देते हैं अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले जाते हैं॥२०१०॥

रत्नत्रय-कुठारेण, छित्वा संसार-काननम्।
भवन्ति सहसा सिद्धा, नृ-सुरासुर-वन्दिताः ॥२०११॥

अर्थ - वे आराधक क्षपक मुनिराज रत्नत्रय रूपी कुठार द्वारा ससार रूपी वन को काट कर मनुष्यों, देवेन्द्रो और असुरो से वन्दित होते हुए शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं॥२०११॥

आराध्याराधनामेवमुत्कृष्टां धूत-कल्मषाः।
भूत्वा केवलिनः सिद्धाः, सन्ति लोकाग्र-वासिनः ॥२०१२॥

अर्थ - इस प्रकार उत्कृष्ट आराधना द्वारा कर्मों को नष्ट कर वे आराधक क्षपक मुनिराज केवलज्ञानी होकर लोकाग्रवासी सिद्ध परमेष्ठी हो जाते हैं॥२०१२॥

मध्यम आराधना का फल

अवशेषित-कर्माणः, पवित्रागम-मातृकाः।
काम-कोपादि-हास्यादि-मिथ्यादर्शन-मोचिनः ॥२०१३॥

सुख-दुःख-सहा वृत्त-ज्ञान-दर्शन-संस्थिताः।
संवृत्ताः ससमाधाना, शुभध्यान-परायणाः ॥२०१४॥

विधायाराधनां देवीं, मध्यमां मुक्त-विग्रहाः।
शुद्ध-लेश्यान्विता देवाः, सन्त्यनुत्तर-वासिनः ॥२०१५॥

अर्थ - किन्तु जिनके कर्म अभी शेष हैं और जो आगम श्रद्धालु अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं वे क्षपक मुनिराज मिथ्यात्व को नष्ट करके, क्रोधादि कषायो का और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और काम अर्थात् तीनों वेदों का मथन करके, अष्ट-प्रवचन मातृका अर्थात् पाँच समिति तथा तीन गुप्तियों द्वारा भली प्रकार सवर करके, सुख-दुख में समता रखते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में स्थित रहते हैं। संवृत्त

और समाधान बुद्धि युक्त एवं शुभध्यान अर्थात् धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में सलग्न, मध्यम आराधना देवी के आराधक वे मुनिराज शरीर छोड़कर अनुत्तर विमानवासी देव हो जाते हैं॥२०१३-२०१४-२०१५॥

प्रश्न - अनुत्तर विमानों के नाम, वहाँ के जीवों की सज्ञा, अवगाहना एवं आयु आदि क्या है और वहाँ पर कौन उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नाम वाले अनुत्तर विमान पाँच हैं। इनमें शुक्ल लेश्याधारी और एक हाथ की अवगाहना वाले अहमिन्द्रों का निवास है। ये नियमत: सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। सर्वार्थसिद्धिवासी अहमिन्द्रों की जघन्योत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर प्रमाण होती है तथा विजयादि चार विमानवासियों की जघन्य आयु बत्तीस सागर और उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर प्रमाण होती है। सर्वार्थसिद्धि वाले एक भवावतारी होते हैं और विजयादि विमानवासी अधिक-से-अधिक दो भव लेते हैं। इस प्रकार शुक्ल लेश्या के साथ मध्यम आराधना करने वाले क्षपक मुनि पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होकर दिव्य सुखों का अनुभव करते हैं।

सुखं साप्सरसो देवा:, कल्पगा निर्विशन्ति यत्।
ततोऽनन्त-गुणं स्वस्थं, लभन्ते लवसत्तमा: ॥२०१६॥

अर्थ - कल्पवासी देव अपनी देवागनाओं के साथ जो सुख भोगते हैं उससे अनन्तगुणा स्वस्थ सुख लवसत्तमदेव अर्थात् अहमिन्द्र देवो को प्राप्त होता है॥२०१६॥

प्रश्न - देवागनाओ के अभाव में अहमिन्द्रदेव कल्पवासी देवो से अधिक सुखी कैसे हो सकते हैं?

उत्तर - सोलह स्वर्गों तक कामेच्छा जाग्रत रहती है अत कल्पवासी देवो के अन्य ऋद्धियों के साथ-साथ देवागनाएँ भी रहती हैं, किन्तु अहमिन्द्रो को देवागनाओ के अभाव में भी उनसे अनन्तगुणा सुख प्राप्त होता है क्योकि अहमिन्द्रों की कामेच्छा जाग्रत नहीं रहती और विषयो की चाहरूपी दाह भी अल्प होती है अत वे स्वय मे तृप्त, स्वस्थ और सुखी रहते हैं।

विशुद्ध-दर्शन-ज्ञाना:, सयथाख्यात-संयमा:।
शश्वन्निर्मल-लेश्याका, वर्धमान-तपो-गुणा: ॥२०१७॥

अदीन-मनसो मुक्त्वा, कचारमिव विग्रहम्।
देवेन्द्र-चरम-स्थानं, प्रपद्यन्ते बुधार्चिता: ॥२०१८॥

अर्थ - जो क्षपक विशुद्ध ज्ञान, दर्शन एव (उपशान्त कषाय सम्बन्धी) यथाख्यात चारित्र में लीन रहते हैं, सदा निर्मल अर्थात् शुक्ललेश्या को धारण करने वाले हैं, वर्धमान तप गुणों से सयुक्त हैं एव बुद्धिमानों द्वारा पूज्य हैं वे श्रेष्ठ आराधक क्षपक दीन भावों से रहित होते हुए कचरे के समान शरीर को छोड कर देवेन्द्र के चरम पद को अर्थात् सोलहवें स्वर्ग के देवेन्द्र पद को प्राप्त कर लेते हैं॥२०१७-२०१८॥

वर्य-रत्नत्रयोद्योगा:, कषायाराति-मर्दिन:।
सन्ति लौकान्तिका देवा, देहोद्योतित-पुष्करा: ॥२०१९॥

अर्थ - जो क्षपक उत्तम रत्नत्रय के लिए महान् उद्योग करते हैं एवं कषाय रूपी शत्रुओं का मर्दन कर देते हैं वे मुनिराज अपने शरीर की विपुल कान्ति से स्वर्ग को व्याप्त कर देने वाले लौकान्तिक देव होते हैं॥२०१९॥

ऋद्धयः सन्ति या लोके, यानीन्द्रिय-सुखानि च।
क्षपकास्तानि लप्स्यन्ते, सर्वाण्येष्यत्यनेहसि॥२०२०॥

अर्थ - इस ससार मे जितनी ऋद्धियाँ हैं एव जितने भी इन्द्रियसुख हैं उन सबको भद्र परिणामी क्षपक मुनि आगामी काल मे प्राप्त कर लेगा॥२०२०॥

जघन्य-आराधना का फल

जघन्याराधनां देवीं, तेजो-लेश्या-परायणाः।
आराध्य क्षपकाः सन्ति, सौधर्मादिषु नाकिनः॥२०२१॥

अर्थ - (मध्यम आराधना करने वाले क्षपक की शुक्ल या पद्म लेश्या होती है।) पीतलेश्या वाले क्षपक मुनि जघन्य रूप से आराधना देवी की आराधना करके सौधर्मादि स्वर्गों मे देव होते हैं, भवनत्रिक मे जन्म नहीं लेते॥२०२१॥

बहुनात्र किमुक्तेन, यत्सारं भुवनत्रये।
आराध्याराधनां देवी, लभन्ते तन्मनीषिणः॥२०२२॥

अर्थ - बहुत अधिक कहने से क्या लाभ ? तीन लोक मे जो-जो सारभूत पदार्थ हैं एव सुख हैं, बुद्धिमान क्षपक मुनि उन सबको आराधना देवी की आराधना करके ही प्राप्त कर लेते हैं॥२०२२॥

भुक्त्वा भोगं च्युताः सन्तो भूत्वा भुवि नरोत्तमाः।
विहाय महतीं भूतिं, भूत्वा सिध्यन्ति साधवाः॥२०२३॥

अर्थ - सस्तरारूढ़ आराधक क्षपक स्वर्ग जाते हैं, वहाँ के दिव्य भोग भोग कर स्वर्ग से च्युत हो मनुष्यो मे भी उत्तम अर्थात् चक्रवर्ती, बलभद्रादि हो यहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं, पश्चात् उसे भी त्याग कर जिनदीक्षा ग्रहण कर चारो आराधनाओ की आराधना करते हुए मोक्ष चले जाते हैं॥२०२३॥

धृति-स्मृति-मति-श्रद्धा-वीर्य-संवेग-भागिनः।
परीषहोपसर्गाणां, जेतारो विजितेन्द्रियाः॥२०२४॥

सयथाख्यातचारित्राः, पवित्र-ज्ञान-दर्शनाः।
विशोध्य मलिनां लेश्यां, शुद्ध-ध्यान-विवर्धिनः॥२०२५॥

शुक्ललेश्याङ्गनाश्लिष्टा, ध्वस्त-निःशेष-कल्मषाः।
भवन्ति सहसा सिद्धा, भुवनोत्तम-वन्दिताः॥२०२६॥

अर्थ - धृति, स्मृति, बुद्धि, श्रद्धा, शक्ति एव सवेग गुणो से सम्पन्न, उपसर्ग और परीषहों के विजेता,

यथाख्यात चारित्रधारी, पवित्र सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान से युक्त, अशुभ लेश्याओं के शोधक, विशुद्ध ध्यान को वृद्धिंगत करने वाले तथा शुक्ल लेश्या रूपी स्त्री से आलिंगित क्षपक मुनिराज सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर शीघ्र ही तीन लोक में उत्तम और तीन लोक से वंदित सिद्ध परमेष्ठी बन जाते हैं अर्थात् मोक्ष चले जाते हैं ॥२०२४, २०२५, २०२६॥

इस प्रकार प्रशस्त एवं शुभ लेश्या पूर्वक समाधि करने का महान् और श्रेष्ठ फल प्रदर्शित किया। अर्थात् शुभ लेश्याधारी चार आराधनाओं की आराधना करने वाले क्षपक स्वर्ग या मोक्ष जाते हैं, इस उत्तम फल की प्राप्ति का उपाय कहा गया है।

आराधना की विराधना का फल

इत्थं संस्तरमापन्ना, रौद्रार्त-वशवर्तिनः।
रत्नत्रयं विशोध्यापि, भूयो भ्रश्यन्ति केचनः ॥२०२७॥

आर्तरौद्र-परः साधुर्यो, मुञ्चन्ति कलेवरम्।
एतां दुःखप्रदामेष, देव-दुर्गतिमृच्छति ॥२०२८॥

अर्थ - इस प्रकार संस्तर पर आरूढ़ होकर और रत्नत्रय को निर्मल करके भी कोई-कोई क्षपक कर्मों की गुरुता या वशवर्तिता से आर्तरौद्र ध्यान पूर्वक रत्नत्रय रूप आराधना से भ्रष्ट हो जाते हैं और जो साधु आर्त-रौद्र ध्यान पूर्वक अपना शरीर छोड़ते हैं वे उन खोटे ध्यानो के कारण दुखदायी देवदुर्गति को प्राप्त होते हैं अर्थात् सुदेवत्व प्राप्त नहीं कर पाते ॥२०२७-२०२८॥

चिराभ्यस्त-चरित्रोऽपि, कषायाक्ष-वशीकृतः।
मृत्युकाले ततः सद्यो, यदि भ्रश्यति संयतः ॥२०२९॥

अवसन्नो यथाछन्दो, यः पार्श्वस्थः कुशीलकः।
संसक्तश्च तदा किं न, स भ्रश्यति कुमानसः ॥२०३०॥

अर्थ - जिसने चिरकाल तक उत्तम चारित्र-पालन का अभ्यास किया है ऐसा संयत क्षपक भी जब मृत्युकाल मे भूख-प्यास आदि वेदना के कारण कषायों एवं इन्द्रियों के आधीन हो कर शीघ्र ही चारित्र तथा समाधि से भ्रष्ट हो जाता है तब जो नित्य ही अवसन्न, यथाछन्द, पार्श्वस्थ, कुशील और संसक्त इन भ्रष्ट साधुओ मे से कोई है, वह क्या समाधि से च्युत नहीं होगा? अवश्य होगा ॥२०२९, २०३०॥

देवदुर्गति प्राप्त करने वाले अवसन्नादि साधुओ का स्वरूप

अशुद्ध-मनसो वश्याः, कषायेन्द्रिय-विद्विषाम्।
पूज्यात्यासना-शीला, नीचा माया-निदानिनः ॥२०३१॥

धर्मकार्य-पराधीनाः, पाप-सूत्र-परायणाः।
सङ्घ-कृत्ये ममानेन, किं कृत्यमिति वादिनः ॥२०३२॥

सर्व-व्रतातिचारस्थाः, सुखास्वादन-लालसाः।
अनाराधित-चारित्राः, पर-चिन्ता-कृतोद्यमः ॥२०३३॥

इहलोक-क्रियोद्युक्ताः, परलोक-क्रियालसाः।
मोहिनः शबलाः क्षुद्राः, संक्लिष्टा दीन-वृत्तयः ॥२०३४॥

आलोचनामनाधाय, ये म्रियन्ते कुबुद्धयः।
त्रिदिवे निन्दिताचारा, दुर्भगाः सन्ति ते सुराः ॥२०३५॥

अर्थ - जो अशुद्ध मन वाले होते हैं, कषाय और इन्द्रियरूपी शत्रुओं के वशीभूत रहते हैं, पूज्य पुरुषों की अर्थात् तीर्थंकर गणधर, घोर तपस्वी एव आचार्य आदि की आसादना करने के स्वभाव वाले हैं, नीच हैं, मायाचार करने में तत्पर रहते हैं, प्रत्येक धर्मकार्य पराधीन होकर करते हैं, अर्थात् षड़ावश्यक क्रियाएँ विनय एव वैयावृत्त्यादि आचार्यादि के भय से करते हैं, स्वयं की रुचि से नहीं करते, पापसूत्रपरायण होते हैं अर्थात् वैद्यकशास्त्र, काव्य, नाटक, चोर-विद्या एव कामशास्त्र आदि के पढ़ने-पढ़ाने में चतुर होते हैं, सघ में वैयावृत्त्यादि का कोई कार्य उपस्थित हो जाने पर यही उत्तर देते हैं कि मुझे इससे क्या प्रयोजन है, मैं इसमें कुछ भी सहयोग नहीं करूँगा इत्यादि, महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों में भी अतिचार लगाते हैं, सुखिया स्वभावी होने से सुखद शय्या तथा स्वादु भोजन मे लम्पटी होते हैं, सलग्नतापूर्वक चारित्र की आराधना नहीं करते अपितु गृहस्थादि की चिन्ता में सलग्न रहते हैं, इस लोक सबधी अर्थात् लोकरजना, देश, राज्य, पचायत, गृहस्थ एव देह सम्बन्धी क्रियाओं मे तो तत्पर रहते हैं किन्तु परलोक सम्बन्धी निर्दोष व्रतपालन तथा समीचीन ज्ञानवृद्धिजन्य कार्यों मे प्रमादी होते हैं, मोही, शिथिलाचारी, क्षुद्र, सक्लिष्ट परिणामी और याचकों के सदृश दीनवृत्ति वाले होते हैं। कुबुद्धिशाली ऐसे भ्रष्ट मुनि अपने दोषो की आलोचना किये बिना ही मरण कर स्वर्ग मे दासकर्म और वाहनादि नीच कार्य करने वाले एव अप्रिय अर्थात् दुर्भगदेव होते हैं॥२०३१ से २०३५ पर्यन्त॥

प्रश्न - अवसन्न मुनियो का क्या स्वरूप है?

उत्तर - जैसे कीचड़ में फँसे हुए और मार्गभ्रष्ट को द्रव्यावसन्न कहते हैं, वैसे ही जिसका चारित्र अशुद्ध होता है उसे भावासन्न कहते हैं। ऐसे साधु उपकरण अर्थात् पीछी-कमण्डलु आदि मे और वसतिका में आसक्ति रखते हैं, ससार शोधने मे, विहार करने की भूमि के शोधन मे, स्वाध्याय में, गोचरी की शुद्धता मे, ईर्या आदि समितियों की शुद्धि में, स्वाध्याय काल का ध्यान रखने मे एव स्वाध्याय-समाप्तिकाल का ध्यान रखने में प्रमादी रहते हैं, छह आवश्यकों मे आलस्य करते हैं, इन्हें अवसन्न मुनि अन्य मुनिराजों की अपेक्षा अधिक करते हैं, किन्तु मन से नहीं करते, वचन और काय से ही करते हैं।

प्रश्न - यथाछन्द साधु का क्या स्वरूप है?

उत्तर - जो बात या जो क्रिया आगम में नहीं कही गई है उसे जो साधु अपनी इच्छानुसार कहते हैं या उसका प्रवर्तन करते-कराते हैं उन्हें यथाछन्द कहते हैं। इनका प्रतिपादन एव क्रिया उत्सूत्री ही होती है। जैसे वर्षाकाल में जल धारण करना एव वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करना असयम है, छुरा तथा कैंची आदि से केश काटने की प्रशसा करते हुए यह कहना कि केशलोंच करने से आत्म-विराधना होती है, पृथ्वी पर सोने से तृणों

में रहने वाले जीवों को बाधा होती है, सचित्त तृणपुञ्ज पर बैठने से भी भूमिशय्या मूलगुण का पालन हो जाता है, उद्दिष्ट भोजन में कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षा हेतु पूरे ग्राम में भ्रमण करने से जीव निकायों की महती विराधना होती है, गृहस्थों के घर के पात्रों में भोजन करने में कोई दोष नहीं है क्योंकि कर-पात्र में आहार करने वाले को परिशातन दोष लगता है तथा आजकल आगमानुसार आचरण करने वाले साधु हैं ही नहीं, इत्यादि। इसी प्रकार की अन्य भी आगमविरुद्ध विसंगतियों का प्रचार-प्रसार करने वाले साधु यथाछन्द अर्थात् स्वच्छन्द कहे जाते हैं। इनसे जिनागम का अत्यधिक विलोप होता है और निर्दोष मोक्षमार्ग अत्यन्त दूषित हो जाता है। पत्थर की नाव के सदृश आगमविरोधी ऐसे साधु स्वय संसार समुद्र में डूबते हैं और अन्य को भी डुबोते हैं।

प्रश्न - पार्श्वस्थ साधुओ का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - जैसे कोई पथिक मार्ग को देखते हुए भी उस मार्ग से न जाकर उसी के समीपवर्ती अन्य मार्ग से जाता है तो उसे मार्ग पार्श्वस्थ कहते हैं, वैसे ही जो सयम का निरतिचार मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करते किन्तु सयम के पार्श्ववर्ती मार्ग पर चलते हैं; ये मुनि न तो एकान्त से असयमी होते हैं और न निरतिचार सयमी होते हैं अत इन्हे पार्श्वस्थ कहते हैं। ये शय्याधरों के यहाँ नित्य ही आहार ग्रहण करते हैं।

प्रश्न - शय्याधर किसे कहते हैं ?

उत्तर - वसतिका बनाने वाले, वसतिका का जीर्णोद्धार कराने वाले और 'आप यहाँ ठहरो' ऐसा कह कर वसतिका दान देने वाले, इन तीनों को शय्याधर कहते हैं। आगम मे शय्याधरो के यहाँ आहार करने का निषेध है। जो आहार करने के पहले या आहार करने के बाद दाता की स्तुति या प्रशसा करते हैं, उत्पादन एव एषणा दोषो से दूषित आहार करते हैं, नित्य एक ही वसतिका मे रहते हैं, एक ही क्षेत्र मे रहते हैं, एक ही सस्तर पर सोते हैं, गृहस्थों के घरों मे जाकर बैठ जाते हैं, गृहस्थो के उपकरणो का उपयोग करते हैं, प्रतिलेखना किए बिना ही वस्तु को ग्रहण कर लेते हैं, या दुष्टतापूर्वक प्रतिलेखना करते हैं, सुई, कैंची, नाखून-कतरनी, छुरी, कान का मैल निकालने की सींक या साधन आदि सामग्रियाँ पास मे रखते हैं, क्षारचूर्ण, सुरमा, नमक, घी एव नाना प्रकार के तेल आदि बिना कारण ग्रहण करते हैं या अपने पास रखते हैं वे पार्श्वस्थ साधु हैं।

जो इच्छानुसार लम्बा-चौडा सस्तरा बिछाते हैं और रात्रि भर मनमाना सोते हैं वे उपकरण-वकुश साधु है, जो दिन में सोते हैं वे देह-वकुश हैं, ये दोनो भी पार्श्वस्थ हैं। जो बिना कारण पैरादि धोते हैं, तेल-मर्दन करते हैं, वस्त्रों को धोते हैं झटकते है, सुखाते हैं एव रगवाते है, गण के माध्यम से उपजीविका करते हैं, तीन अथवा पॉच मुनियो की ही सेवा में तत्पर रहते है वे सब पार्श्वस्थ साधु हैं और जो अपनी सुखशीलता के कारण बिना प्रयोजन अयोग्य का सेवन करते रहते हैं वे साधु तो सर्वथा पार्श्वस्थ ही होते हैं।

प्रश्न - कुशील मुनि का क्या स्वरूप है ? और वे कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर - जिनका खोटा आचरण लोक-प्रसिद्ध हो जाता है, उन्हे कुशील मुनि कहते हैं। ये अनेक प्रकार के होते हैं, यथा-कौतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्त कुशील, आजीव कुशील, कक्क कुशील, कुहन कुशील, सम्मूर्च्छन कुशील, प्रतापन कुशील और सामान्य कुशील आदि।

१. कौतुक कुशील - जो औषधि, विलेपन एव विद्या के प्रयोगों द्वारा राजद्वार में कौतुक दिखाकर लोकप्रियता सम्पादित करते हैं, उन्हे कौतुक कुशील कहते हैं।

२ भूतिकर्म कुशील - यहाँ भूति शब्द उपलक्षण है। अभिमत्रित किये हुए धूल, श्वेत सरसों, पुष्प, फल एव जल आदि के द्वारा किसी का रक्षण करने वाले को या किसी को वशमें करने वाले को भूतिकर्म कुशील कहते हैं।

३. प्रसेनिका कुशील - जो अगुष्ठ प्रसेनिका, अक्षर प्रसेनिका, शशि प्रसेनिका, सूर्य प्रसेनिका एवं स्वप्न प्रसेनिका आदि विद्याओ के द्वारा मनुष्यो का मनोरजन करते है, वे प्रसेनिका कुशील हैं।

४ अप्रसेनिका कुशील - जो विद्या, मन्त्र एव औषध प्रयोग द्वारा असयमी जनों की चिकित्सा करते हैं वे अप्रसेनिका कुशील हैं।

५ निमित्त कुशील - जो अष्टाग निमित्तो को जान कर लोगों को इष्टानिष्ट बताते हैं, वे निमित्त कुशील हैं।

६ आजीव कुशील - जो अपने कुल एव जाति आदि को प्रकाशित करके भिक्षादि प्राप्त करते हैं, वे आजीव कुशील हैं अथवा जो किसी के द्वारा उपद्रव होने पर दूसरो की शरण ग्रहण करते हैं अथवा अनाथालय आदि मे जाकर अपनी चिकित्सा कराते है, वे भी आजीव कुशील हैं।

७. कक्व कुशील - जो विद्याप्रयोग आदि के द्वारा दूसरो का द्रव्यादि हरण करने में एव दम्भ-प्रदर्शन मे तत्पर रहते हैं वे कक्व कुशील हैं।

८. कुहन कुशील - जो इन्द्रजालादि के द्वारा लोगो को आश्चर्य उत्पन्न करते हैं वे कुहन कुशील साधु हैं।

९ सम्मूर्च्छन कुशील - जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प और फलो को तत्काल उत्पन्न करके बता देते है एव गर्भ स्थापना करवाते हैं वे सम्मूर्च्छन कुशील है।

१० प्रतापन कुशील - जो त्रस जाति के कीट आदि का, वृक्षो आदि का, पुष्प एव फलादि का तथा गर्भ का विनाश करवाते हैं और शाप देते हैं, अन्य भी हिंसा आदि के काम करते हैं वे प्रतापन कुशील साधु हैं।

११ अन्य सामान्य कुशील - जो क्षेत्र, स्वर्ण, चौपाये आदि परिग्रह स्वीकार करते हैं, कन्द एव हरे फल खाते हैं, कृत, कारित, अनुमोदना से युक्त आहार, उपधि तथा वसतिका का सेवन करते हैं, स्त्रीकथा मे लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आस्रव के अधिकरणों मे सदा लगे रहते हैं, धृष्ट हैं, प्रमादी है और विकारयुक्त चेष्टा करते हैं वे सब कुशील हैं।

प्रश्न - ससक्त साधुओ का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - जो पचेन्द्रियो के विषयो में आसक्त रहते हैं, ऋद्धि-गारव, सात गारव और रस गारव में लीन रहते हैं, स्त्रियो के प्रति रागरूप परिणाम रखते हैं, गृहस्थो के प्रेमी होते हैं तथा चारित्रप्रेमी साधुओं के साथ

चारित्रप्रेमी और चारित्र से प्रीति न रखने वालों के साथ चारित्र अप्रेमी, इस प्रकार जो नट के सदृश अनेक रूप धारण करते हैं वे संसक्त मुनि होते हैं। ये मुनि पार्श्वस्थ के ससर्ग से पार्श्वस्थ, कुशील के ससर्ग से कुशील और स्वच्छन्द के संसर्ग से स्वय भी स्वच्छन्द हो जाते हैं।

क्षपक साधुओं का मरणसमय सन्मार्ग से च्युत होने का कारण

सङ्घ-कृत्ये निरुत्साहा:, किमनेन ममेति ये।
ते भवन्ति सुराम्लेच्छा, वाद्य-वादि-दिवौकसाम् ॥२०३६॥

अर्थ - सुखिया स्वभाव आदि के कारण जो साधु संघ के कार्यों में निरुत्साही रहते हुए कहते हैं कि सघस्थ साधुओ की वैयावृत्त्य आदि से तथा अन्य भी कार्यों से मुझे क्या प्रयोजन है ? मैं कुछ भी कार्य नहीं करूँगा, इत्यादि। सन्मार्ग से च्युत होते हुए ऐसे साधु मरण कर स्वर्ग तो जाते हैं किन्तु वहाँ देवसभा में वाद्य बजाने वाले एव गीत गाने वाले होते हैं॥२०३६॥

प्रश्न - इस श्लोक का तात्पर्य अर्थ क्या है ?

उत्तर - इसका तात्पर्य अर्थ यह है कि जो मुनि यहाँ सघ के कार्यों से दूर रहते हैं तथा वैयावृत्त्य आदि का अवसर उपस्थित होने पर मुख छिपाते फिरते हैं कि यह कार्य मुझे न करना पड़े। 'मुझे इससे क्या' ऐसा मान कर जो सघ के सभी कार्यों मे अनादरभाव रखते हैं, वे मुनि मरण कर स्वर्ग में नीच चाण्डाल जैसे देवों मे उत्पन्न होते हैं अर्थात् सौधर्मादि कल्पो के अन्त में बसने वाले चाण्डाल जाति के देव होते हैं, ये जैसे मुनिपर्याय में वैयावृत्त्यादि कार्यों से दूर रहते थे उसी के फलस्वरूप यहाँ देवसभा से दूर रहते हैं, इन्हे सभा में प्रवेश नहीं मिलता।

कन्दर्पभावना[1]-शीला:, कन्दर्पा: सन्ति नाकिन:।
निन्द्या: किल्विषिका: सन्ति, मृता: किल्विष-भावना: ॥२०३७॥

अभियोग्य-क्रियासक्ता, आभियोग्या: सुरा मृता:।
आसुरी-भावना: कृत्वा, मृत्वा सन्त्यसुरा: पुन: ॥२०३८॥

सम्मोह-भावनोद्युक्ता:, सम्मोहास्त्रिदशा मृता:।
विराधकै: पराप्येवं, प्राप्यते देव-दुर्गति: ॥२०३९॥

अर्थ - कन्दर्प भावना स्वभाव वाले क्षपक मरण कर स्वर्ग मे कन्दर्प जाति के देव होते हैं। किल्विष भावना से युक्त क्षपक मरण कर किल्विषिक जाति के निन्दनीय देव होते हैं। जो क्षपक या साधु आभियोग्य अर्थात् दास क्रियाओ मे लगे रहते हैं वे मरण कर आभियोग्य जाति के देव होते हैं तथा आसुरी भावना में तत्पर रहने वाले भ्रष्ट साधु मरण कर असुरकुमार जाति के देव होते हे। सम्मोहन भावना मे सलग्न रहने वाले साधुजन मरण कर सम्मोह अर्थात् दुदुगजाति के देव होते हैं। (कामविकार के आधिक्य से ये देव देवियो के साथ सदैव कामसेवन करते रहते हैं।) मरण काल में रत्नत्रय की एवं चारो आराधनाओं की विराधना करने वाले साधु इसी प्रकार की अन्य भी देवदुर्गति को अर्थात् हीन देवपर्याय को प्राप्त होते हैं॥२०३७, २०३८, २०३९॥

---

१ कन्दर्पी आदि भावनाओं के लक्षण भक्तप्रत्याख्यानमरण के भावना नामक दसवें अधिकार में श्लोक १८८ से हैं। वहाँ द्रष्टव्य हैं।

इत्थं विराध्य ये जीवा, म्रियन्ते संयमादिकम्।
तेषां बालमृतिस्तस्याः, फलं पूर्वत्र[1] वर्णितम् ॥२०४०॥

अर्थ - इस प्रकार संयम या रत्नत्रय या समाधि आदि की विराधना करके जो जीव मरते हैं, उनका वह मरण बालमरण कहलाता है, उस बालमरण का फल पूर्व में बता दिया गया है ॥२०४०॥

विराध्य ये विपद्यन्ते, सम्यक्त्वं नष्ट-बुद्धयः।
ज्योतिर्भावन-भौमेषु, ते जायन्ते वितेजसः ॥२०४१॥

अर्थ - जो नष्टबुद्धि सम्यक्त्व की विराधना करके मरण करते हैं, वे भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिषियों मे भी हीन जाति के देव होते हैं ॥२०४१॥

दर्शन-ज्ञान-हीनास्ते, प्रच्युता देव-लोकतः।
संसार-सागरे घोरे, बंभ्रमन्ति निरन्तरम् ॥२०४२॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित वे जीव देवलोक से च्युत होकर घोर ससार सागर मे चिरकाल तक परिभ्रमण करते हैं ॥२०४२॥

ये मृता मुक्त-सम्यक्त्वाः, कृष्णलेश्यादि-भाविताः।
तथा लेश्या भवाम्भोधौ, ते भ्रमन्ति दुरुत्तरे ॥२०४३॥

अर्थ - जिनका अन्त करण कृष्ण, नील या कापोत लेश्या से भावित है और जो सम्यक्त्वरूपी रत्न को छोड चुके हैं वे साधु मरण कर उसी प्रकार की लेश्या से युक्त हो ससार रूपी भयकर समुद्र में चिरकाल तक परिभ्रमण करते रहते है ॥२०४३॥

निवेशयन्ती भुवनाधिपत्ये, मनीषितं कामदुधेव धेनुः।
आराधिता कि न ददाति पुसामाराधना सिद्धि-वधू-वयस्या ॥२०४४॥

इति फलम्।

अर्थ - सम्यग्दर्शन आदि चार प्रकार की आराधना के आराधक मुनियों को यह आराधनादेवी तीन लोक के स्वामित्व मे स्थापित करती है। समीचीन रीत्या आराधित यह आराधना मनोवाछित फल प्रदान करने के लिए कामदुधा धेनु/गाय है। सिद्धि रूपी वधू की सखी यह आराधना मनुष्य को क्या फल नहीं देती ? अर्थात् अभ्युदय एव नि श्रेयस सभी सुखो को देती है ॥२०४४॥

इस प्रकार आराधनाफल नाम का अधिकार पूर्ण हुआ ॥३९॥

---

१ बालबालमरण नामक दूसरे अधिकार में श्लोक ५८ से।

४०. आराधक त्याग नामक अन्तिम अधिकार प्रारम्भ

मृतकशरीर के विसर्जन की व्यवस्था

एवं कालगतस्यास्य, बहिरन्त-निवासिनः।
त्यजन्ति यत्नतो गात्रं, वैयावृत्य-कराः स्वयम् ॥२०४५॥

अर्थ - इस प्रकार नगर आदि के बाहर या भीतर निवास करने वाले क्षपक का मरण हो जाने पर उसके शरीर को वैयावृत्य करने वाले परिचारक मुनि स्वय ही सावधानी पूर्वक यथास्थान ले जाकर छोड़ देते हैं ॥२०४५॥

प्रश्न - क्षपक का शव ले जाने वाले साधु कैसे होते हैं ?

उत्तर - जो मुनिराज शारीरिक सामर्थ्य से सहित, धैर्यशाली एव निर्भय हों तथा जिन्होंने अनेक बार सल्लेखना विधि देखी हो या कराई हो ऐसे मुनिगण क्षपक के मृत शरीर को ले जाकर किसी उचित और प्रासुक भूमि पर छोड़ आते हैं।

शव को स्वयं विसर्जित करने का और अन्तिम विधि में प्रयत्नशील रहने का कारण

साधूनां स्थितिकल्पोऽयं, वर्षासु ऋतु-बन्धयोः।
समस्तैः साधुभिर्यत्नाद्यन्निरूप्या निषद्यका ॥२०४६॥

अर्थ - यह साधुओं का स्थितिकल्प है कि वर्षायोग के प्रारम्भ और अन्त मे तथा ऋतु के प्रारम्भ मे सर्व साधुओं को प्रयत्न पूर्वक निषद्या का प्रतिलेखन एव दर्शन करना चाहिए ॥२०४६॥

प्रश्न - निषद्या किसे कहते है, स्थितिकल्प कौन-कौन से हैं और अपने शरीर मे भी निरीहवृत्ति धारण करने वाले मुमुक्षु साधुगण स्वय मृतक शरीर को ले जाने का पुरुषार्थ क्यो करते हैं ?

उत्तर - जिस स्थान पर क्षपक के शरीर का विसर्जन किया जाता है उस स्थल को निषद्या कहते हैं।

मरणकण्डिका के पाँचवे सुस्थितादि अधिकार के श्लोक ४३६ से ४३८ मे दश स्थितिकल्प कहे गये हैं। यथा - अचेलकल्व[१], उद्दिष्ट[२]शय्यात्याग, उद्दिष्ट आहार[३]त्याग, राजपिण्ड[४]त्याग, कृतिकर्म[५] प्रवृत्त, वृतारोपण[६]अर्हत्व, जेष्ठत्व[७], प्रतिक्रम[८], मासैक[९]वासिता और [१०]पर्या। यहाँ इन सब के लक्षण भी लिखे हुए हैं।

मूलाराधना गाथा १९६७ मे 'मासेव वासिता' पद के स्थान पर 'वासावासे एव उडुबधे' पद आया है। प आशाधर जी ने अपनी टीका में 'वासावासे' पद का अर्थ किया है कि - वर्षासु चतुर्मास्यामेकत्र। वासे प्रतिपद्यमाने चातुर्मासिकयोगप्रारम्भ इत्यर्थः। उडुबधे ऋतु-प्रारम्भे, पडिलिहिदव्वा यदि विशेष·। 'उक्त च' श्लोक में भी इसी की पुष्टि की गई है कि -

श्रवणाना स्थिति कल्पो, मासे मासे तथर्तुबन्धे वा।
प्रतिलेख्यैषा नियत, निषद्यका सर्व-सयमिभि· ॥

अर्थात् वर्षायोग-स्थापन के प्रारम्भ में और ऋतु के प्रारम्भ में सर्व साधुओं को नियमतः निषद्या का प्रतिलेखन एवं दर्शन करना चाहिए। इस प्रकार निषद्यादर्शन साधुओं का आवश्यक कर्तव्य बन गया। इसी कारण मुमुक्षु साधुगण शव को स्वय स्थापित कर निषद्या-निर्माण के लिए प्रयत्न करते हैं।

निषद्या का लक्षण

निषद्या नातिदूरस्था, विविक्ता प्रासुका घना।
कर्तव्यास्ति परागम्या, बाल-वृद्ध-गणोचिता ॥२०४७॥

अर्थ - निषद्या नगर आदि से न अति दूर हो और न अति निकट हो, जन-कोलाहल से दूर अर्थात् एकान्त में हो, प्रासुक हो, ठोस भूमि पर हो, मिथ्यादृष्टि जीवों के अगम्य हो एव बाल-वृद्ध साधु समुदाय वहाँ तक सरलता से पहुँच सके, ऐसे स्थान पर हो॥२०४७॥

निषद्या की दिशा

वसतेर्नैऋते भागे, दक्षिणे पश्चिमेऽपि वा।
निषद्यका स्थिता या सा, प्रशस्ता परिकीर्तिता ॥२०४८॥

अर्थ - जो निषद्या क्षपक की वसतिका से दक्षिण-पश्चिम के कोण में अर्थात् नैऋत्य दिशा में या दक्षिण दिशा मे या पश्चिम दिशा में स्थित हो वह प्रशस्त कही गई है॥२०४८॥

निषद्या का दिशानुसार फल

सर्वस्यापि समाधानं, प्रथमायां तथान्यत:।
आहार: सुलभोऽन्यस्यां, भवेत्सुख-विहारिता ॥२०४९॥

अर्थ - जहाँ क्षपक की समाधि हुई है उस वसतिका से निषद्या स्थल यदि नैऋत्य दिशा मे हो तो सर्वसघ को समाधि का लाभ होता है। यदि निषद्या दक्षिण दिशा मे हो तो सघ को आहार का लाभ सुलभ होता है और यदि निषद्या पश्चिम दिशा में होगी तो सघ का विहार सुखपूर्वक होगा तथा उपकरणो का भी लाभ होगा॥२०४९॥

तदभावेऽनलाशायां, वायव्यायां हरेर्दिशि।
निषद्यकोत्तरस्यां वा, मतेशानस्य वा दिशि ॥२०५०॥

क्रमेण फलमेतासु, स्पर्धा राटिश्च जायते।
भेदश्चापि तथा व्याधिरन्यस्यप्यपकर्षणम् ॥२०५१॥

अर्थ - उपर्युक्त दिशाओं मे निषद्या बनाने योग्य स्थान प्राप्त न हो और यदि वह निषद्या आग्नेय दिशा में, वायव्य दिशा में, पूर्व दिशा मे, उत्तर दिशा मे अथवा ईशान दिशा मे बना ली जाएगी तो हानि होगी। इसका क्रमानुसार फल यह है कि यदि निषद्या आग्नेय मे होगी तो सघ मे स्पर्धा उत्पन्न हो जाएगी। अथवा 'मैं ऐसा हूँ' 'तुम ऐसे हो' इत्यादि रूप से सघर्ष बढ़ जाएगा। वायव्य दिशा में होने से कलह होगा, पूर्व दिशा में निषद्या होने से सघ मे फूट पड़ जाएगी अर्थात् सघभेद हो जाएगा, उत्तर दिशा में निषद्या होने से व्याधि प्रकोप और ईशान दिशा में निषद्या होने से सघ मे परस्पर खींचातानी हो जाएगी॥२०५०-२०५१॥

प्राणान्त हो जाने पर तत्काल करणीय कर्तव्य

यदैव म्रियते काले, त्यजनीयस्तदैव सः।
अवेलायां विधातव्या, छेद-बन्धन-जागरा: ॥२०५२॥

अर्थ - जिस समय साधु का मरण हो उसके शव को उसी समय ले जाना चाहिए, यदि मरण अवेला अर्थात् रात्रिआदि में हो तो शव के अंगूठे को छेद देना चाहिए या बाँध देना चाहिए और रात्रि भर जागरण करना चाहिए॥२०५२॥

जागरण करने वाले साधु

भीरु-शैक्ष-गणि-ग्लान-बाल-वृद्ध-तपस्विन:।
अपाकृत्यापार-धीरा, जितनिद्रा: प्रजाग्रति॥२०५३॥

अर्थ - डरपोक मुनि, शिक्षक मुनि, आचार्य, रोगी मुनि, बाल मुनि, वृद्ध मुनि एव तपस्वी मुनि शव के समीप जागरण न करे। इनके अतिरिक्त जो साधु अपार धैर्यशाली और निद्रा-विजयी हैं वे ही जागरण करने के पात्र हैं॥२०५३॥

बन्धन-छेदन करने वाले साधु

कृतकृत्या गृहीतार्था, महाबल-पराक्रमा:।
हस्ताङ्गुष्ठादि-देशेषु, बन्धं छेदं च कुर्वते॥२०५४॥

अर्थ - जिन्होने पूर्व मे अनेक बार क्षपक की सेवा की है एव आगम के अर्थ को जो भली प्रकार जानते हैं, महाबलशाली हैं और पराक्रमी हैं, ऐसे साधु मृतक क्षपक के हाथ या पैर के अगुष्ठ या अगुली को छेद देते हैं या बाँध देते हैं॥२०५४॥

छेदन एवं बन्धन का कारण

विधीयते न यद्येवं, तदा काचन देवता।
कलेवरं तदादाय, विधत्ते भीषण-क्रिया॥२०५५॥

अर्थ - यदि यह छेदने या बाँधने की क्रिया न की जाय तो कोई भी मनोविनोदी व्यन्तर आदि देव उस मृतक देह में प्रविष्ट होकर भयकर चेष्टाएँ कर सकता है॥२०५५॥

प्रश्न - देव शव में प्रविष्ट होकर क्या भयकर चेष्टाएँ करता है और उन चेष्टाओं से क्या हानि है?

उत्तर - शव के शरीर में प्रविष्ट होकर वह देव उस शव को दौड़ा सकता है, क्रीड़ा करा सकता है, आहार-पान की याचना करा सकता है, रुला सकता है, हँसा सकता है तथा बाधा देने वाली अन्य भी अनेक चेष्टाएँ करा सकता है, जिन्हें देखकर कोई भी बालमुनि एव भीरु स्वभाव वाले मुनि भयभीत होकर भाग सकते हैं, चिल्ला सकते हैं, अस्वस्थ हो सकते हैं एवं मरण को भी प्राप्त हो सकते हैं, जिससे धर्म की तथा सघ की निन्दा होती है,अत: असमय में मरने वाले क्षपक के शरीर मे छेदने या बाँधने की क्रिया करना आवश्यक है।

क्षपक के उपचार हेतु लाये हुए उपकरणों की व्यवस्था

यस्योपकरणं किञ्चित् कृत्वा याञ्चां यदाहृतम्।
कृत्वा सम्बोधनं सर्वं, तत्तस्यार्प्यं विधानतः ॥२०५६॥

अर्थ - क्षपक की समाधि मे साधक कुछ पदार्थ तैयार किए एव कराये जाते हैं और कुछ माग कर लाये जाते हैं। समाधि हो जाने के बाद जो-जो पदार्थ जिन-जिन से लाये गये हैं वे उन-उन को यह कहकर कि "ये वस्तुएँ अब सघ मे उपयोगी नहीं हैं अत आप वापिस ले जाइए" स्वय दे देनी चाहिए॥२०५६॥

प्रश्न - इस श्लोक मे उपकरणो के प्रति क्या आदेश दिया जा रहा है ?

उत्तर - समाधि-साधन मे सहयोगी जिन उपकरणो या पदार्थों का सग्रह किया जाता है, उनमे कुछ उपकरण तो वसतिका से सम्बद्ध होते है जो वहीं कराये जाते हैं और कुछ गृहस्थ से सम्बद्ध होते हैं जो माग कर लाये जाते हैं। उनमे से (उपयोग में लाये गये) वस्त्र, चटाई एव लघुशका आदि के पात्र तो त्याज्य होते हैं अत उन्हे फेक देना चाहिए, किन्तु जो बर्तन आदि गृहस्थ से माग कर लाये गये थे वे नियमानुसार उन्हें वापिस कर देने चाहिए। श्लोक मे यही आदेश दिया गया है।

आर्यिका के शव-विसर्जन की विधि

प्रसिद्धो यदि संन्यासे, स्थान-रक्षार्यिका यदि।
विपन्ना विधिना कार्या, तदानीं शिविकोत्तमा ॥२०५७॥

अर्थ - यदि भक्तप्रत्याख्यान मरण करने वाली विख्यात या स्थान की रक्षिका आर्यिका हो तो उसका शव ले जाने के लिए विधिपूर्वक कार्य करके उत्तम शिविका अर्थात् विमान बनाना चाहिए॥२०५७॥

संस्तरेण समं बद्ध्वा, मृतकं विधिना दृढम्।
विधायोत्थान-रक्षार्थं, ग्रामस्य विमुखं शिरः ॥२०५८॥

अर्थ - पश्चात् उस शव को विधिपूर्वक सस्तर सहित शिविका मे रखकर दृढ बॉधना चाहिए, भूत-प्रेतादि के वशीभूत हो यदि शव उठकर भागे तो ग्राम की ओर न जावे, इस उद्देश्य से शव का मस्तक या पीठ ग्राम की ओर और मुख निषद्या स्थान की ओर होना चाहिए ॥२०५८॥

क्षिप्रमादाय गच्छन्ति, वीक्षितेनाध्वना पुरा।
निवर्तनमवस्थानं, त्यक्त्वा पूर्वावलोकनम् ॥२०५९॥

अर्थ - उस शिविका को ले जाते समय पूर्व मे देखे हुए मार्ग से शीघ्र जाना चाहिए, न मार्ग मे रुकना चाहिए और न पीछे मुड कर देखना चाहिए, अपितु आगे का मार्ग देखते हुए ही जाना चाहिए॥२०५९॥

पुरो गन्तव्यमेकेन, गृहीत-कुश-मुष्टिना।
पूर्वावलोकन-स्थान-निवर्तन-विवर्जिना ॥२०६०॥

अर्थ - उस शव-विमान के आगे एक मुट्ठी में कुश अर्थात् डाभ लेकर किसी एक मनुष्य को पूर्व मे

देखे हुए स्थान की ओर चलना चाहिए। उसे भी न तो मार्ग में रुकना चाहिए और न पीछे ही देखना चाहिए॥२०६०॥

कृत्यस्तत्र समस्तेन, संस्तर: कुश-धारया।
अच्छिन्नया सकृद्देशे, वीक्षिते सम-पातया॥२०६१॥

अर्थ - कुश लेकर आगे गये हुए पुरुष को पूर्व निर्धारित निषद्या स्थान पर पहुँच कर मुट्ठी के कुश से लगातार एक समान कुश डालते हुए एक संस्तर बनाना चाहिए जो सर्वत्र सम हो, कहीं नीचा, ऊँचा या टेढ़ा न हो॥२०६१॥

स चूर्णै: केशरैर्वापि, कुशाभावे विधीयते।
समान: सर्वतोऽच्छिन्नो, धीमता विधिना सकृत्॥२०६२॥

अर्थ - यदि कुश उपलब्ध न हो सके तो चावल के अथवा मसूर के चूर्ण से या प्रासुक शुद्ध केशर से किसी विशेष बुद्धिमान मनुष्य को विधि के अनुसार छिद्र रहित एव चारो ओर से सम संस्तर बनाना चाहिए॥२०६२॥

शव-स्थापित भूमि और संस्तर की विषमता का फल

आदौ मध्येऽवसाने च, विषमो यदि जायते।
आचार्यो वृषभ: साधुर्मृत्युं रोगमथाश्नुते॥२०६३॥

अर्थ - यदि शवस्थापित भूमि अथवा सस्तर उपरिम भाग में विषम होगा तो आचार्य का, मध्य भाग मे विषम होगा तो किसी श्रेष्ठ मुनि का और यदि नीचे की ओर विषम होगा तो किसी सामान्य साधु का मरण होगा अथवा उन्हे कोई रोग होगा॥२०६३॥

चिता पर शव-स्थापन हेतु दिशा निर्धारण

ग्रामस्याभिमुखं कृत्वा, शिरस्त्याज्यं कलेवरम्।
उत्थान-रक्षणं कर्तुं, मस्तकं क्रियते तथा॥२०६४॥

अर्थ - जिस दिशा मे ग्राम हो उस ओर शिर या पीठ करके शव को चिता पर स्थापित करना चाहिए। ग्राम की रक्षा हेतु शिर ग्राम की ओर करने का विधान कहा गया है कि यदि किसी कारण से शव उठकर भागे तो ग्राम की ओर न जावे॥२०६४॥

प्रश्न - शव विसर्जन विधि मे अन्य कोई विशेषता है?

उत्तर - प्राचीन काल मे मुनिजन वन मे रहते थे, वहाँ सल्लेखना-रत क्षपक मुनि की समाधि हो जाने पर वैयावृत्य करने वाले धैर्य एव बल के सामर्थ्य से युक्त साधु क्षपक के शव को स्वय निषद्या पर्यन्त ले जाते थे। निषद्या वसतिका से नैऋत्य में या दक्षिण में या पश्चिम में होती थी। शव का मस्तक या पृष्ठभाग ग्राम की ओर होता था। शव-स्थापित भूमि पर सस्तर होता था। पं आशाधर जी के कथनानुसार मृतक क्षपक का मस्तक से पैर पर्यन्त माप लेकर केशर या चूर्ण द्वारा तीन रेखाएँ त्रिकोण रूप में बनाकर चिता बनानी चाहिए।

शव स्थापित भूमि, सस्तर और रेखाएँ एकदम सम होने चाहिए। प. आशाधर जी के मतानुसार ये रेखाएँ ऊपर विषम होने से आचार्य का मरण या रोग, मध्य मे विषम होने से एलाचार्य को रोग और नीचे विषम होने से साधुओ को रोग होता है।

आर्यिका के शव-विसर्जन की जो विधि कही गई है प आशाधर जी ने वही विधि ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका एव व्रती के लिए भी कही है।

प्रश्न - वर्तमान मे साधु के शव को मुनिजन क्यो नहीं ले जाते ?

उत्तर - वर्तमान मे साधुजन नगर या ग्राम के मध्य श्रावको के बीच मन्दिर या धर्मशाला आदि मे निवास करते हैं। यहाँ भक्तप्रत्याख्यान सन्यासपूर्वक मरण तो होता है किन्तु श्रावकगण ही काष्ठ का विमान बनवा कर उसमे साधु के शव को स्थापित कर लेते है। पश्चात् पूर्व निर्दिष्ट निषद्या स्थान पर्यन्त विधिवत् ले जाते हैं और विधिवत् ही चिता पर स्थापित कर दाह सस्कार कर देते हैं तथा उस स्थान पर छतरी या चबूतरा बनवा कर चरण स्थापित कर प्रशस्ति लिख देते हैं।

प्रश्न - क्षपक की समाधि हो जाने बाद उनकी पीछी आदि को कहाँ रखते हैं ?

उत्तर - अमितगति आचार्य महाराज ने इस विषय मे कुछ नहीं लिखा किन्तु मूलाराधना गाथा १९८६ मे कहा गया है कि वे साधुजन निषद्या मे उस शव का स्थापन पीछी सहित ही करते हैं। गाथा १९८७ में पीछी रखने का कारण कहा गया है कि यदि क्षपक ने सम्यक्त्व की विराधना पूर्वक मरण कर देव पर्याय प्राप्त की है तो वह देव पीछी सहित अपना शरीर देखकर पुन सावधान हो जाएगा कि मैं पूर्वभव मे मुनि था। इसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु वर्तमान मे जहाँ क्षपक-शव का दाह-सस्कार करते हैं, वहीं कहीं समीपवर्ती वृक्ष की शाखा पर पीछी और कमण्डलु दोनो बॉध कर टॉग देते हैं।

जघन्य आदि नक्षत्रो में क्षपक का मरण होने पर उसके फल का विवेचन

शान्तिर्भवति सर्वेषामृक्षेल्पे क्षपके मृते।
मध्यमे मृत्युरेकस्य, जायते महति द्वयोः ॥२०६५॥

अर्थ - क्षपक का मरण यदि अल्प अर्थात् जघन्य नक्षत्र मे होता है तो सघ एव समाज सभी के लिए कल्याणकारी होता है। यदि मरण मध्यम नक्षत्र में होता है तो सघ मे एक का मरण और होता है तथा यदि महानक्षत्र मे मरण होता है तो दो का मरण होता है॥२०६५॥

प्रश्न - जघन्य, मध्यम एव उत्कृष्ट नक्षत्रो के क्या लक्षण हैं और वे कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - अमितगति आचार्य ने इस विषय का स्पर्श नहीं किया किन्तु मूलाराधना गाथा १९८९ की टीका मे प आशाधर जी कहते हैं कि जो नक्षत्र पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं, उन्हें जघन्य कहते हैं ऐसे नक्षत्र छह हैं। भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति, ज्येष्ठा और शताभिषा। इनमे से किसी एक नक्षत्र या उसके अश में क्षपक का मरण होता है तो सबका कल्याण होता है।

जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं, उन्हें मध्यम नक्षत्र कहते हैं, ऐसे नक्षत्र पन्द्रह हैं। यथा-अश्विनी,

कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वा भाद्रपद और रेवती। इनमें से किसी एक नक्षत्र या उसके अश में मरण होने पर सघस्थ किसी एक मुनि का मरण होता है।

जो नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते हैं, उन्हें उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं ऐसे नक्षत्र छह हैं। यथा- रोहणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढ़ा और उत्तराभाद्रपद। इनमें से किसी एक नक्षत्र या उसके अश में क्षपक का मरण होने पर अन्य दो मुनियो का मरण और होता है।

मध्यम एव उत्कृष्ट नक्षत्रों में क्षपक का मरण होने पर संघ की रक्षा का उपाय

महन्मध्यम-नक्षत्रे, मृते शान्तिर्विधीयते।
यत्नतो गण-रक्षार्थं, जिनार्चा-करणादिभिः ॥२०६६॥

अर्थ - मध्यम एव उत्कृष्ट नक्षत्रो मे यदि क्षपक का मरण होता है तो सघ की रक्षा के लिए प्रयत्नपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा आदि करा कर शान्ति की जाती है॥२०६६॥

प्रश्न - जिनेन्द्रदेव की पूजा-अर्चा से ही शान्ति हो जाती है अथवा अन्य भी कोई उपाय है?

उत्तर - सघ की रक्षा हेतु शिवकोट्याचार्य ने मूलाराधना ग्रन्थ में गाथा १९९० एव १९९१ मे जो प्रतिपादित किया है वह द्रष्टव्य है। इन दोनो गाथाओ की दोनों टीकाओ मे कहा गया है कि यदि क्षपक का मरण मध्यम नक्षत्र मे होता है तो सघ के रक्षणार्थ तृणो का एक पुतला बना कर मृतक के समीप स्थापित कर तीन बार उच्च स्वर से घोषणा करे कि इस नक्षत्रदोष से जो एक अन्य मुनिराज का मरण होने वाला था वे मुनिराज अब चिरकाल तक जीवित रह कर तपस्या करें क्योंकि मैंने उनके स्थान पर यह दूसरा शव स्थापित कर दिया है। यह एक पुतला देने का विधान है।

उत्कृष्ट नक्षत्र मे क्षपक का मरण होने पर तृण के दो पुतले शव के साथ स्थापित कर तीन बार उच्च स्वर से घोषणा करे कि इस नक्षत्रदोष से जो अन्य दो मुनिराजो का मरण होने वाला था वे दोनों मुनिराज अब चिरकाल तक जीवित रह कर तपस्या करे क्योंकि मैंने उन दोनों के स्थान पर यह दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है।

जिनेन्द्रदेव की अर्चा एव पूजा के साथ उपर्युक्त प्रक्रिया सघ की रक्षा का उपाय है।

प्रश्न - यदि समय पर कुश या तृण न मिले तो क्या करना चाहिए?

उत्तर - पुतला बनाने के लिए यदि तृण उपलब्ध न हो सके तो ईंट-पत्थर आदि के चूर्ण से या केशर-चावल के चूर्ण से या भस्म से शव के निकट ऊपरी भाग मे 'का' अक्षर एव निचले भाग मे 'य' अक्षर अर्थात् 'काय' शब्द लिखकर दूसरे या तीसरे शव को स्थापित करने का नियोग पूर्ण करना चाहिए।

अथवा जिस स्थान पर क्षपक का शव स्थापित करना है उस स्थान पर पहले चावल आदि के चूर्ण से ऊपर 'का' और नीचे 'य' लिख कर पश्चात् उस पर शव स्थापित करना चाहिए।

शव-विसर्जन के पश्चात् करने योग्य कर्त्तव्य

सम्पद्यतां नोऽपि विनान्तरायमाराधनैवेति गणेन कार्यः।
वपुर्विसर्गः क्षपकाधिवासे, पृच्छा च तस्मिन्नधिदेवतानाम् ॥२०६७॥

अर्थ - 'हमें भी इसी प्रकार बिना विघ्न बाधा के आराधना की प्राप्ति हो' इस भावना से संघ एक कायोत्सर्ग करे तथा क्षपक की वसतिका के अधिष्ठाता देवता से उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छा से सघ इस स्थान पर बैठना चाहता है॥२०६७॥

समाधिमरण के पश्चात् सघ का कर्त्तव्य

उपवासमनध्यायं, कुर्वन्तु स्वगण-स्थिताः।
अनध्यायं मृतेऽन्यस्मिन्नुपवासो विकल्प्यते ॥२०६८॥

अर्थ - अपने सघ के साधु का स्वर्गवास होने पर उस दिन उपवास करना चाहिए और स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। दूसरे सघ के साधु का मरण होने पर स्वाध्याय तो नहीं ही करना चाहिए, उपवास भजनीय है; करे अथवा न भी करे॥२०६८॥

गत्वा सुख-विहाराय, सङ्घस्य विधि-कोविदैः।
द्वितीयेऽह्नि तृतीये वा, द्रष्टव्यं तत्कलेवरम् ॥२०६९॥

अर्थ - क्षपक के शरीर को स्थापित करने के दूसरे या तीसरे दिन निषद्या स्थल पर जाकर बुद्धिमान साधुजन क्षपक के शव को देखे कि सघ का विहार सुखपूर्वक होगा या नहीं ? ॥२०६९॥

यावन्तो वासरा गात्रमिदं तिष्ठत्यविक्षतम्।
शिवं तावन्ति वर्षाणि, तत्र राज्ये विनिश्चितम् ॥२०७०॥

अर्थ - जितने दिनो तक वह शव गीदड आदि पशुओ एव पक्षियो से सुरक्षित रहता है अर्थात् क्षत-विक्षत नहीं होता उतने वर्षों तक उस राज्य मे नियमत सुख-शान्ति रहती है॥२०७०॥

आकृष्य नीयते यस्यां, तदङ्ग-श्वापदादिभिः।
विहर्तुं युज्यते तस्यां, सङ्घस्य ककुभि स्फुटम् ॥२०७१॥

अर्थ - (क्षपक के कलेवर को अथवा उसके किसी अग को पक्षी आदि जिस दिशा में ले जाते है उस दिशा मे क्षेम-कुशलता रहती है अत) क्षपक का कलेवर अथवा उसके अग जगली पशु-पक्षियों द्वारा खींच कर जिस दिशा मे ले जाये गये हो उसी दिशा में सघ को विहार करना चाहिए॥२०७१॥

क्षपक की गति का अनुमान ज्ञान

यदि तस्य शिरो दन्ता, दृश्येरन्नग-मूर्धनि।
तदा कर्म-मलान्मुक्तो, ज्ञेयः सिद्धिमसौगतः ॥२०७२॥

अर्थ - यदि क्षपक का सिर और दाँत पर्वत के शिखर पर दिखाई दें तो वह कर्ममल से छूट कर सिद्धिभवन अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिए॥२०७२॥

वैमानिक: स्थलं यातो,ज्योतिष्को व्यन्तर: समम्।
गर्तां च भावनस्तस्य, गतिरेषा समासत: ॥२०७३॥

अर्थ - यदि क्षपक का मस्तक उन्नत भूमिभाग पर दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना, यदि समभूमि पर दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर देव हुआ जानना और यदि कहीं गड्ढे में दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना। इस प्रकार क्षपक की यह गति सक्षेप में कही गई है॥२०७३॥

इदं विधानं जिननाथ-देशितं, ये कुर्वते श्रद्दधते च भक्तित:।
आदाय कल्याण-परम्परामिमे, प्रयान्ति निष्ठामपनीतकल्मषाम्॥२०७४॥

इति आराधकाङ्गत्याग:।

अर्थ - इस प्रकार क्षपक के समाधिमरण की तथा उसके मृत शरीर के क्षेपण आदि की सर्व विधि जिनेन्द्र देव द्वारा कही गई है। जो महामना इन समस्त विषयो की श्रद्धा करते हैं एव सम्पूर्ण आराधना विधि को भक्तिपूर्वक स्वय सम्पन्न करते हैं, वे कल्याण परम्परा को अर्थात् उत्तम मनुष्य और देवों के सुखो को प्राप्त कर अन्त में सर्व कर्ममलों को नष्ट कर सिद्धालय में निवास करते हैं अर्थात् मोक्ष चले जाते हैं॥२०७४॥

इस प्रकार आराधक अंग/शव त्याग नामक चालीसवाँ अधिकार सम्पूर्ण हुआ॥४०॥

आराधक मुनिजनों की स्तुति

भगवन्तोत्र ते शूराश्चतुर्द्धाराधनां मुदा।
सङ्घ-मध्ये प्रतिज्ञाय, निर्विघ्नां साधयन्ति ये॥२०७५॥

अर्थ - जिन्होंने सघ के मध्य प्रतिज्ञा करके चार प्रकार की आराधना को हर्षपूर्वक निर्विघ्न पूर्ण किया है या करते हैं, वे शूरवीर एव पूज्य हैं॥२०७५॥

ते धन्या ज्ञानिनो धीरा, लब्ध-नि:शेष-चिन्तिता:।
यैरेषाराधना देवी, सम्पूर्णा स्ववशी-कृता॥२०७६॥

अर्थ - जिन्होंने इस आराधना महादेवी को सर्व प्रकार से अपने वश में करके अपने चिन्तित सम्पूर्ण सयम और तप को प्राप्त कर लिया है, वे धीर-वीर एव ज्ञानी मुनिजन धन्य हैं॥२०७६॥

किं न तैर्भुवने प्राप्तं, वन्दनीयं महोदयै:।
लीलयाराधना प्राप्ता, यैरेषा सिद्धि-सम्फली॥२०७७॥

अर्थ - जिन महानुभावो ने सिद्धिफल को देने वाली इस आराधना महादेवी को लीलामात्र में प्राप्त कर लिया है, उन महापुरुषो ने इस लोक मे कौन से वन्दनीय श्रेष्ठ पद को प्राप्त नहीं कर लिया? अपितु सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कर लिया है, क्योंकि सर्ववन्दनीय पदों मे सिद्ध पद महावन्दनीय पद है॥२०७७॥

निर्यापकाचार्य की प्रशंसा

धन्या महानुभावास्ते, भक्तित: क्षपकस्य यै:।
ढौकिताराधना पूर्णा, कुर्वद्भि: परमादरम्॥२०७८॥

अर्थ - वे निर्यापक महानुभाव भी धन्य हैं, जिन्होने क्षपक को परमादर देते हुए भक्तिपूर्वक उसकी आराधना सम्पन्न कराई है॥२०७८॥

निर्यापकों को प्राप्त होने वाला फल

परस्य ढौकिता येन, धन्यस्याराधनाङ्गिनः।
निर्विघ्ना तस्य सा पूर्णा, सुखं सम्पद्यते मृतौ॥२०७९॥

अर्थ - जो निर्यापक, अन्य महाधन्य क्षपक की आराधना सम्पन्न कराते हैं, मरणकाल मे उन मुनियों की चार आराधनाएँ नियमत सुख-शान्ति पूर्वक निर्विघ्न पूर्ण होती हैं॥२०७९॥

तीर्थ रूप क्षपक मुनि के दर्शन करने वालों की प्रशंसा

स्नान्ति क्षपक-तीर्थे ये, कर्म-कर्दम-सूदने।
पाप-पङ्केन मुच्यन्ते, धन्यास्तेऽपि शरीरिणः॥२०८०॥

अर्थ - कर्मरूपी कीचड़ को दूर करने वाले क्षपकरूप तीर्थ में जो भव्य जीव स्नान करते हैं, अर्थात् उनका दर्शन-वन्दन करते है वे धन्य है, क्योकि वे भी पापरूप कीचड़ से छूट जाते हैं॥२०८०॥

क्षपक के तीर्थ रूप होने का समर्थन

पर्वतादीनि तीर्थानि, सेवितानि तपोधनैः।
जायन्ते यदि सत्तीर्थं, कथं न क्षपकस्तदा॥२०८१॥

अर्थ - जहाँ तपस्वी जन तपस्या करते है, अर्थात् जिस पर्वत पर या नदी के तट आदि पर स्थित होकर साधुजन ध्यान करते हैं, आतापनादि योग धारण करते हैं एव उत्कृष्ट श्रुत, अवधि और मन पर्ययादि ज्ञान प्राप्त करते हैं यदि वे भी तीर्थ माने जाते हैं तब भक्तप्रत्याख्यान सन्यास रूप महातपस्वी क्षपक मुनिराज सत्तीर्थ कैसे नहीं हैं ? अवश्य ही है॥२०८१॥

वन्दमानोऽश्नुते पुण्यं, योगिनां प्रतिमा यदि।
भक्तितो न तपो-राशिस्तदानी क्षपकः कथम्॥२०८२॥

अर्थ - देखिये ! यदि प्राचीन मुनिराजों की प्रतिमाओ की वन्दना करने वालों को पुण्य की प्राप्ति होती है तो वर्तमान मे विद्यमान तप की राशि स्वरूप क्षपक की भक्ति एव वन्दना करने वाले भव्य जीवों को पुण्योपार्जन कैसे नहीं होगा ? अवश्य ही होगा॥२०८२॥

क्षपक की वन्दना का फल

सेव्यते क्षपको येन, शक्तितो भक्तितः सदा।
तस्याप्याराधना देवी, प्रत्यक्षा जायते मृतौ॥२०८३॥

अर्थ - जो भव्य जीव अपनी-अपनी शक्ति के आनुसार क्षपक की वन्दना, नमस्कार, पूजा एव तीव्र भक्तिपूर्वक वैयावृत्य करता है उसे अपने मरणकाल में क्षपक के सदृश आराधना देवी प्रत्यक्ष में प्रगट हो जाती है अर्थात् भक्तिपूर्वक क्षपक की वन्दना एव वैयावृत्य करने वालों का मरण समाधिपूर्वक ही होता है॥२०८३॥

प्रकृत का उपसंहार एवं आगे किये जाने वाले कथन की सूचना

भक्तत्याग: सवीचारो, विस्तरेणेति वर्णित:।
अधुना तमवीचारं, वर्णयामि समासत: ॥२०८४॥

इति भक्तत्याग:।

अर्थ - इस प्रकार यहाँ तक सवीचार अर्थात् विचार पूर्वक किये जाने वाले भक्तप्रत्याख्यान का विस्तार पूर्वक वर्णन किया, अब आगे अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरण का संक्षेप से वर्णन करते हैं॥२०८४॥

प्रश्न - भक्तप्रत्याख्यान मरण के कितने भेद हैं और सवीचार भक्तप्रत्याख्यान का क्या लक्षण है?

उत्तर - भक्तप्रत्याख्यान मरण के दो भेद हैं। सवीचार भक्त-प्रत्याख्यान और अवीचार भक्त-प्रत्याख्यान। जिनकी आयु अभी शीघ्र समाप्त होने वाली नहीं है और जो कुछ कारण विशेष से समाधि के लिए उपस्थित हो रहे हैं वे ज्ञानी मुनिजन क्रमश. कषाय एव आहार को कृश करते हुए जो विधि ग्रहण करते हैं, उसे सवीचार भक्त त्याग कहते हैं। यहाँ तक इसका सविस्तार वर्णन किया गया है।

(१०)

अवीचार भक्तत्याग, इंगिनी एवं प्रायोपगमनाधिकार

अवीचार भक्त प्रत्याख्यान का लक्षण एव भेद

भक्तत्यागोस्त्यवीचारो, निश्चेष्टस्य दुरुत्तरे।
सहसोपस्थिते मृत्यौ, योगिनो वीर्य-धारिण: ॥२०८५॥

अर्थ - जिसका रोक सकना कठिन है और जो दूर करने के सामर्थ्य के बाहर है ऐसे भयकर रोग या उपसर्ग के निमित्त अकस्मात् मरण उपस्थित हो जाने पर वीर्यसम्पन्न साधुजन तत्काल जिस मरण को स्वीकार कर लेते हैं उसे अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं॥२०८५॥

निरुद्धं प्रथमं तत्र, निरुद्धतरमूचिरे।
द्वितीयं तु तृतीय च, निरुद्धतममुत्तमा: ॥२०८६॥

अर्थ - गणधरादि उत्तम ऋषियों ने अवीचार भक्तप्रत्याख्यान के तीन भेद कहे हैं। पहला निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध॥२०८६॥

निरुद्ध अवीचार भक्तप्रत्याख्यान का कथन

निरुद्धं कथितं तस्य, रोगातङ्कादि-पीडितम्।
जङ्घाबल-विहीनो य:, पर-सङ्घ-गमनाक्षम: ॥२०८७॥

अर्थ - रोग एवं आतक आदि से पीड़ित और जंघाबल हीन हो जाने से अर्थात् पैरों में चलने की शक्ति न होने से दूसरे सघ में जाने मे असमर्थ, जो साधु भक्तत्याग करते हैं उनके निरुद्ध नामक अवीचार भक्त प्रत्याख्यान होता है॥२०८७॥

यावदस्ति बलं वीर्यं, स्वयं तावत् प्रवर्तते।
क्रियमाणोपकारस्तु, तदभावे गणेन सः॥२०८८॥

अर्थ - जब तक उस साधु मे बल-वीर्य रहता है तब तक वह अपनी आवश्यक आदि क्रियाओं में स्वय प्रवृत्ति करता है अर्थात् तब तक अपने सघ मे रहते हुए भी किसी से परिचर्या नहीं कराता, किन्तु शक्ति क्षीण हो जाने पर अपने सघ के द्वारा परिचर्या कराता हुआ रत्नत्रय मे प्रवृत्ति करता है॥२०८८॥

सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितीरितम्।
अपरः प्रक्रमः सर्वः, पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते॥२०८९॥

अर्थ - इस प्रकार अपने ही सघ मे रह कर जो समाधिमरण किया जाता है वह निरुद्ध अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहलाता है, इसमे भी क्रम एव विधि वही है जो सवीचार भक्तप्रत्याख्यान के प्रकरण में कही गयी है॥२०८९॥

प्रश्न - निरुद्ध मरण और अवीचार किसे कहते हैं ?

उत्तर - पैरो मे चलने की शक्ति न होने से अथवा रोगपीडित हो जाने से जो अपने ही सघ मे निरुद्ध अर्थात् रुका रहता है, अन्य सघ मे नहीं जा सकता उसे निरुद्ध मुनि कहते हैं और ऐसे मुनि के मरण को निरुद्ध मरण कहते हैं। इसमें स्वगण का त्याग कर परगण में जाने की विधि नहीं होती तथा इसमे अनियत विहारादि की विधि नहीं होती अत इसे अवीचार कहते हैं। ये मुनि स्वगण में रहकर ही आचार्य के चरणमूल मे दीक्षा से अद्यावधि पर्यन्त हुए अपराधो की आलोचना कर अपनी निन्दा एव गर्हा करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं और प्रायश्चित्त लेते हैं। जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरो की सहायता बिना अपने रत्नत्रय रूप निर्मल आचरण मे तत्पर रहते हैं, जब स्वय प्रवृत्ति करने मे अत्यन्त असमर्थ हो जाते हैं तब दूसरो से सहायता लेकर रत्नत्रय रूप चारो आराधनाओ का पालन करते हैं।

प्रकाशमप्रकाशं च, स्व-गणस्थमिति द्विधा।
जन-ज्ञात मतं पूर्वं, जनाज्ञातं परं पुनः॥२०९०॥

अर्थ - अपने गण मे स्थित होकर जो निरुद्ध अवीचार भक्तत्याग नामक समाधिमरण किया जाता है वह दो प्रकार का है प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप। जो जनसमुदाय द्वारा जान लिया जाता है वह प्रकाशरूप है और जो जनता को ज्ञात नहीं किया जाता वह अप्रकाशरूप है॥२०९०॥

द्रव्य क्षेत्रं बलं कालं, ज्ञात्वा क्षपक-मानसम्।
अप्रकाशं मतं हेतावन्यत्राऽपि सतीदृशे॥२०९१॥

इति निरुद्धं।

अर्थ - द्रव्य, क्षेत्र, शारीरिक शक्ति, काल एवं क्षपक के मनोबलादि कारणों को दृष्टि मे रखकर अप्रगट भक्तप्रत्याख्यान होता है अर्थात् उपर्युक्त कारणों में से कोई भी कारण अनुकूल न हो तो साधु की सल्लेखना जनता में प्रगट नहीं की जाती॥२०९१॥

प्रश्न - द्रव्य, क्षेत्रादि की अनुकूलता का विचार किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर - क्षपक की वसतिका योग्य है या नहीं, एकान्त में है या नहीं, समाधि योग्य साधक उपकरण उपलब्ध होंगे या नहीं, परिवार के मनुष्य विवेकवान् और सहनशील स्वभाव वाले हैं या नहीं, क्षेत्र निरापद अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों की बहुलता वाला तो नहीं है, राजा अनुकूल अर्थात् धर्मात्मा है या नहीं ? क्षपक का शारीरिक बल इस सल्लेखना रूपी ध्वजा-पताका का भार उठाने योग्य है या नहीं, काल कैसा है, तीक्ष्ण गर्मी का या सर्दी का समय है या वर्षायोग का समय है तथा क्षपक का स्वय का मानस दृढ़, धैर्य युक्त एवं भूख-प्यास आदि की वेदना सहन करने मे उत्साहित है या नहीं और क्षपक के बन्धुगण सल्लेखना के पक्ष मे हैं या नहीं? इसी प्रकार की अन्य बातो का विचार करके देखना चाहिए। यदि उपर्युक्त बातों की अनुकूलता उपलब्ध नहीं हो रही है तो "हमारे इस साधु ने आहार आदि का त्याग कर सल्लेखना धारण की है" यह बात जनता के समक्ष प्रगट नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार निरुद्ध अवीचार भक्तप्रत्याख्यान के कथन का प्रकरण पूर्ण हुआ।

निरुद्धतर अवीचार भक्तप्रत्याख्यान का विवेचन

निरुद्धतर अवीचार भक्त त्याग का लक्षण

जलानल-विष-व्याल-सन्निपात-विसूचिकाः।
हरन्ति जीवितं साधोर्भानूस्रा इव तामसम्॥२०९२॥

अर्थ - जैसे सूर्य की किरणें अन्धकार का हरण कर लेती हैं, वैसे ही जल, अग्नि, विष, जगली क्रूर पशु आदि द्वारा किया हुआ उपसर्ग एव सन्निपात तथा विसूचिका आदि भयकर रोगादि मे से कोई भी कारण साधु के प्राण तत्काल हरण कर लेता है॥२०९२॥

यावन्न क्षीयते वाणी, यावदिन्द्रिय-पाटवम्।
यावद्धैर्य बलं चेष्टा, हेयादेय-विवेचनम्॥२०९३॥

तावद्वेदनया ज्ञात्वा, ह्रियमाणं स्व-जीवितम्।
आलोचनां गुरोः कृत्वा, धीरा मुञ्चन्ति विग्रहम्॥२०९४॥

अर्थ - जल-अग्नि आदि का उपसर्ग उपस्थित हो जाने पर अथवा सन्निपात आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाने पर जब तक साधक की बोलने की शक्ति नष्ट नहीं होती, जब तक इन्द्रियो की अपने विषय ग्रहण की चतुरता या सक्रियता क्षीण नहीं होती, तीव्र वेदना के कारण उनका धैर्य, बल एव चेष्टा नष्ट नहीं होती तथा हेय-उपादेय की बुद्धि क्षीण नहीं होती और वेदनादि के कारण आयु क्षीण होती दिखाई देती है, तब तक वे धीर-वीर मुनिराज गुरु के निकट अथवा निकटवर्ती आचार्यादि के सम्मुख अपने दोषो की सम्यक् आलोचना करके

वसति, संस्तर, आहार, उपधि, परिचारक एव अपने शरीर से भी ममत्व का त्याग कर रत्नत्रय की आराधना में संलग्न होते हुए शरीर छोड़ देते हैं॥२०९३-२०९४॥

स्वगणस्थमिति प्राज्ञैर्निरुद्धतरमीरितम्।
अवशेषो विधिस्तस्य, ज्ञेयः पूर्वत्र दर्शितः॥२०९५॥

इति निरुद्धतरम्।

अर्थ - इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरुद्ध अपने सघ मे स्थित रहते हुए ही मरण के उपर्युक्त कारणों में से कोई भी कारण अकस्मात् उपस्थित हो जाने पर जो सल्लेखना ग्रहण की जाती है, प्राज्ञजन उसे निरुद्धतर अवीचार भक्तत्याग मरण कहते हैं। इस मरण की शेष विधि पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही है॥२०९५॥

प्रश्न - निरुद्ध एव निरुद्धतर इन दोनों भक्तत्याग मरणों मे क्या अन्तर है ?

उत्तर - निरुद्ध और निरुद्धतर ये दोनो अवीचार भक्तत्याग मरण अपने सघ में रह कर ही होते हैं। इनमें निरुद्ध अवीचार भक्तत्याग में जघा बल घट जाने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से परसघ में जाने के लिए असमर्थ हुए साधु के समाधिग्रहण का कोई कारण उपस्थित हो जाने पर क्रमश आहार का त्याग करते हुए वे आचार्य के निकट आलोचना करके प्रायश्चित्त लेते हैं और शक्ति क्षीण हो जाने पर ही परिचर्या कराते हैं। उसके पूर्वतक वे अपनी चर्या अपने आप ही करते हैं। निरुद्धतर अवीचार भक्तत्याग में अचानक ही कोई अनिवारित उपसर्ग या भयकर रोगादि आ जाने पर जो भी आचार्य आदि निकट हो उनके सम्मुख अपने दोषो की आलोचना, निन्दा एव गर्हा करके शीघ्रता पूर्वक चतुराहार का आजीवन को त्याग कर शरीर छोड़ देते हैं।

निरुद्धतम या परम निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप

यदा संक्षिप्यते वाणी, व्याधि-व्याल-विषादिभिः।
तदा शुद्ध-धियः साधोर्निरुद्धतममिष्यते॥२०९६॥

अर्थ - जब व्याधि या क्रूर पशु-पक्षियो द्वारा घोर उपसर्ग या विषादि के द्वारा वाणी एव इन्द्रियो आदि की शक्ति समाप्तप्राय होने लगती है तब निर्मल बुद्धिधारी मुनिराज का निरुद्धतम अवीचार भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है॥२०९६॥

हरन्ती जीवितं दृष्ट्वा, वेदनामनिवारणाम्।
जिनादीनां पुरो धीरः, करोत्यालोचनां लघु॥२०९७॥

अर्थ - जिसका रोकना अशक्य है ऐसी भयकर वेदना द्वारा अपना जीवन हरण होते देख धीर-वीर साधु जिनेन्द्र के समक्ष अर्थात् जिनेन्द्रदेव को अपने हृदय कमल पर विराजमान कर अपने दोषों की शीघ्र ही आलोचना कर लेते हैं॥२०९७॥

आराधना-विधिः पूर्वं, कथितो विस्तरेण यः।
अत्रापि युज्यमानोऽसौ, द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः॥२०९८॥

अर्थ - श्रुतपारगामी आचार्यों द्वारा आराधना की जो विधि पूर्व मे विस्तार पूर्वक कही गई है, वही विधि इस निरुद्धतम-अवीचार भक्तत्याग मरण में भी यथायोग्य जाननी चाहिए॥२०९८॥

प्रश्न - अवीचार या अविचार का क्या अर्थ है और इस अवीचार मरण के तीन भेद करने का क्या कारण है ?

उत्तर - इस मरण के नाम में अवीचार और अविचार इन दोनों शब्दों का प्रयोग आया है। ये दोनों एकार्थवाची हैं। इन दोनों का अर्थ है विचार नहीं करपाना या सोच नहीं पाना। अर्थात् इस मरण में सोच-विचार का अधिक अवसर प्राप्त नहीं हो पाता है। आयु को ह्रास की ओर उन्मुख देखकर इस मरण का वरण कर लिया जाता है। इसमें मरण की सम्भावना शीघ्र, शीघ्रतर और शीघ्रतम होती है अत· इस मरण के निरुद्ध, निरुद्धतर और निरुद्धतम ये तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनों के लक्षण ऊपर कहे जा चुके हैं।

अल्प समय में शीघ्रतापूर्वक मरण करने वालों को भी आराधना की सिद्धि हो जाती है

आराध्याराधना-देवीं, आशुकारं मृतावपि।
केचित्सिध्यन्ति जायन्ते, केचिद्वैमानिकाः सुराः ॥२०९९॥

अर्थ - इस प्रकार चार आराधनारूप देवी की सहसा शीघ्रता पूर्वक आराधना करने वाले आराधक मुनिराजों में कोई-कोई तो कर्मों को तत्क्षण नष्ट कर सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं और कोई-कोई वैमानिक देव हो जाते हैं॥२०९९॥

प्रमाणं काल-बाहुल्यमस्य नाराधना-विधेः।
तीर्णा मुहूर्त-मात्रेण, बहवो भव-नीरधिम् ॥२१००॥

अर्थ - बहुत अधिक काल में ही आराधना की विधि सम्पन्न हो पाती है ऐसा नहीं है, क्योंकि बहुत से मुनिराज एक मुहूर्त मात्र मे आराधनाओ का आराधन कर ससार-समुद्र को पार कर गये हैं॥२१००॥

प्रश्न - एक मुहूर्त जैसे अल्पकाल में आराधनाओं की सम्यक् आराधना कर मुक्ति की प्राप्ति कैसे सम्भव है?

उत्तर - कर्मों को नष्ट करने या उच्चगति को प्राप्त करने के लिए परिणामो की विशुद्धि ही अपेक्षित है, कालप्रमाण की बहुलता अपेक्षित नहीं है। बारह वर्ष पर्यन्त रत्नत्रय की या समाधि की साधना-विधि चलती रहे किन्तु यदि परिणामो मे विशुद्धि की उद्भूति न हो पावे तो उच्चगति या मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है, किन्तु परिणामों की विशुद्धि के साथ अल्पकाल मे आराधित आराधनाएँ भी मोक्ष पद की प्राप्ति करा देती हैं।

सिद्धो विवर्धनो राजा, चिरं मिथ्यात्व-भावितः।
वृषभ-स्वामिनो मूले, क्षणेन धुत-कल्मषः ॥२१०१॥

इति निरुद्धतमम्।

अर्थ - अनादि मिथ्यादृष्टि विवर्धन नाम का राजा भगवान वृषभदेव के पादमूल में अर्थात् समवसरण में बोध को प्राप्त हो कर अर्थात् दीक्षा लेकर मोक्ष चला गया॥२१०१॥

❀ विवर्द्धन की कथा ❀

इस अवसर्पिणीकालके चतुर्थकालके प्रारंभमें आदि तीर्थंकर वृषभनाथने जिन-दीक्षा ग्रहणकर तपस्या

द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया था। उनके राज्य-अवस्थाके पुत्र भरत थे, जो एकसौ एक भाइयोंमें सर्वज्येष्ठ पुत्र थे। महापुण्योदयसे राजा भरत की आयुधशालामें चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। सपूर्ण छह खडोको जीतकर भरत षट्खंडाधिपति चक्रवर्ती हुए; उनके हजारों पुत्र हुए। उनमें विवर्द्धनकुमार को आदि लेकर कई पुत्र मूक हुए थे- बोलते नहीं थे। किसी दिन चक्रवर्ती उन्हें लेकर समवशरणमें भगवान् आदिनाथके दर्शनार्थ गये। समवशरण सभामें बैठकर दिव्यध्वनि सुनते ही वे सब कुमार विरक्त हुए। दिव्यध्वनिमे अपने पूर्वभवोंको सुनकर वैराग्यसे ओतप्रोत होकर तत्काल प्राप्त हुई शक्तिके द्वारा अर्थात् गूगापन नष्ट हो जानेपर उन्होने आदि प्रभुसे जिनदीक्षा ग्रहण की, इसतरह उनको लेश्याकी अत्यत विशुद्धि प्राप्त हुई। छठे-सातवे गुणस्थानोमें परिवर्तित होते हुए उन्होंने मुहूर्त प्रमाण कालमे ही शुक्लध्यानको प्राप्त किया। क्षपक श्रेणी मे क्रमश आरोहण कर घातिया कर्मोंको नष्ट किया तथा अघातिया कर्मोंको भी नष्ट कर सिद्धपद पाया। इसतरह अत्यत अल्पकालमे उन्होने शाश्वत सुखको पाया था। अत· भव्य जीवोंको चाहिए कि कालको न देखे कि अब अल्पकाल ही रह गया है कैसे आत्मकल्याण करे? इत्यादि, जब आत्मबोध हो तभी वैराग्य धारणकर आत्महित कर लेना चाहिए।

भक्तप्रत्याख्यानमरण के उपसंहार की और इंगिनीमरण कथन की सूचना

प्रोक्ता भक्त प्रतिज्ञेति, समास-व्यास-योगत:।
इदानीमिङ्गिनीं वक्ष्ये, जन्म-कक्ष-कुठारिकाम्॥२१०२॥

अर्थ - इस प्रकार मेरे द्वारा सक्षेप एव विस्तार से भक्तप्रतिज्ञामरण का सक्षेप एव विस्तार से वर्णन किया गया है। अब जन्म रूप वन को काट फेंकने के लिए जो कुठार के सदृश है, उस इगिनीमरण का वर्णन करूँगा॥२१०२॥

उक्तो भक्तप्रतिज्ञाया, विस्तारो यत्र कश्चन।
इङ्गिनीमरणेप्येष, यथायोग्यं विबुध्यताम्॥२१०३॥

अर्थ - भक्तप्रतिज्ञामरण मे आराधना की जो विधि कही गई है वह इगिनीमरण में भी यथायोग्य जाननी चाहिए॥२१०३॥

इगिनीमरण की विधि एव उसके स्वामी का कर्तव्य

प्रव्रज्या-ग्रहणे योग्यो, योग्यं लिङ्गमधिष्ठित:।
कृत-प्रवचनाभ्यासो, विनयस्थ: समाहित:॥२१०४॥

निष्पाद्य सकलं संङ्घं, इङ्गिनीगत-मानस:।
श्रितिस्थो भावित-स्वान्त:, कृत-सल्लेखना-विधि:॥२१०५॥

अर्थ - जो दीक्षा ग्रहण करने योग्य है वह निर्ग्रन्थ लिग धारण कर श्रुत का अभ्यास अर्थात् आगम मे अवगाहन करता है। विनय गुण मे स्थित वह साधु समता परिणाम से अपने सघ को मुनियों के आचरण की साधना में योग्य बना कर तदनन्तर स्वय अपने मन को इगिनीमरण साधन के योग्य दृढ़ करता है।

पश्चात् उत्तरोत्तर शुभ परिणामो की श्रेणी पर आरोहण करता है, कन्दर्पादि भावनाओं के त्यागपूर्वक

तपोभावना एव श्रुतादि उत्तम भावनाओं से अपने मन को भावित करता है तथा अपने शरीर के साथ-साथ कषायों को भी कृश करता है॥२१०४-२१०५॥

संस्थाप्य गणिनं सङ्घे, क्षमयित्वा त्रिधाखिलम्।
यावज्जीवं वियोगार्थी, दत्वा शिक्षां प्रियङ्करम्॥२१०६॥

कृतार्थतां समापन्नो, हर्षाकुलित-मानसः।
निर्यातो गणतः सूरिर्गुण-शील-विभूषितः॥२१०७॥

अर्थ - पश्चात् वे विशिष्ट आचार्य, संघ में अपने स्थान पर अन्य किसी योग्य शिष्य को स्थापित कर समस्त सघ को मन, वचन और काय से स्वय क्षमा करते हैं और क्षमा मांगते हैं। पश्चात् बाल-वृद्ध मुनियों से भरपूर अपने चतुर्विध संघ को अत्यन्त हितकारी एव प्रियकारी उत्तम उपदेश देते हैं तथा संघ के समक्ष जीवन पर्यन्त के लिए (सघ से) अलग होने की इच्छा व्यक्त करते हैं। 'मैंने अद्यावधि करने योग्य सब कर्त्तव्य कर लिया' इस कृतकृत्यता के अनुभव से और इगिनीमरण जैसे महान् समाधिमरण को धारण करने की उत्सुकता से अत्यन्त हर्षित होते हुए गुण एव शील से विभूषित वे महान् आचार्य मुनिसघ से बाहर निकल जाते हैं॥२१०६-२१०७॥

निःक्रम्य स्थण्डिलादौ स, विविक्ते बहिरन्तरे।
भू-शिला-संस्तर-स्थायी, स्वं निर्यापयति स्वयम्॥२१०८॥

योग्यं पूर्वोदितं कृत्वा, संस्तरं स्थण्डिले तृणैः।
पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा, शिरो दिशि करोति सः॥२१०९॥

अर्थ - सघ से निकल कर वे महामुनि एकान्त स्थान मे जो बाहर-भीतर से प्रासुक हो ऐसे स्थडिल अर्थात् सम उन्नत और कठोर स्थान पर पहुँचते हैं, वहाँ वे भूमिसस्तर या शिलारूप सस्तर का आश्रय लेते हैं। उस समय मात्र शरीर ही उनका सहायक होता है। पश्चात् वे पूर्वकथित अर्थात् भक्त प्रत्याख्यान विधि मे सस्तर का जो स्वरूप कहा जा चुका है उसी के अनुसार ग्राम या नगर से स्वय याचना द्वारा लाये हुए छिद्र रहित, गाँठ एव कण्टक रहित, जन्तु रहित, मृदु, शरीर की स्थिरता हेतु एव प्रतिलेखना के योग्य तृण का समूह अर्थात् घास उस स्थडिल पर स्वय यत्नपूर्वक बिछाते हैं। यहाँ 'यत्नपूर्वक' का अर्थ है कि प्रकाशयुक्त, विस्तीर्ण, छिद्ररहित, बिलरहित एव निर्जन्तु कठोर भूमि पर वह तृण इस प्रकार बिछाते हैं जो समय-समय पर अलग किया जा सके, संस्तर भूमि का प्रतिलेखन किया जा सके एवं वह तृण भी झाड़-फटकार कर स्वच्छ किया जा सके।

पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मस्तक करने योग्य तथा अपने शरीर प्रमाण ही उस तृण सस्तर की सरचना करते हैं। पश्चात् अपने शरीर के अवयवों अर्थात् मस्तक तथा हाथ-पैर आदि का पीछी से सम्मार्जन करते हैं॥२१०८-२१०९॥

भाव-शुद्धिमधिष्ठाय, लेश्या-शुद्धि-विवर्धितः।
कर्म-विध्वंसनाकांक्षी, मूर्धन्यस्त-कर-द्वयः॥२११०॥

विधायालोचनामग्रे, जिनादीनामदूषणम्।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपसां कृत-शोधनः ॥२१११॥

अर्थ - इगिनीमरण के और कर्मों को नष्ट करने के इच्छुक वे महा-मुनिराज अपने भावों की शुद्धि करते हुए एव पीतादि शुभ लेश्या रूप विशुद्धि को वृद्धिगत करते हुए दोनो हाथ जोड़कर मस्तक पर रखते हैं और जिनेन्द्रदेव को साक्षी करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र एव सम्यक् तपमें लगे हुए अतिचारों की निर्दोष आलोचना करके अपने दोषो का शोधन करते हैं॥२११०-२१११॥

यावज्जीवं त्रिधाहारं, प्रत्याख्याय चतुर्विधम्।
बाह्यमाभ्यन्तरं ग्रन्थमपाकृत्य विशेषतः ॥२११२॥

अर्थ - वे मुनिराज मन, वचन और काय से जीवन पर्यन्त के लिए चारो प्रकार के आहार का त्याग करके समस्त बाह्य एव अभ्यन्तर परिग्रह को भी विशेषरूप से त्याग देते हैं॥२११२॥

परीषहोपसर्गाणां, कुर्वाणो निर्जयं परम्।
गाहमानः परां शुद्धिं, धर्मध्यान-परायणः ॥२११३॥

अर्थ - धैर्य रूपी धन के धनी वे क्षपक मुनिराज परीषह और उपसर्गों पर उत्कृष्ट रूप से विजय प्राप्त करते हुए एव परम विशुद्धि रूप भावों में अवगाहन करते हुए उत्तम धर्मध्यान में सलग्न रहते हैं॥२११३॥

प्रश्न - श्लोक २१०३ मे कहा गया था कि 'भक्तप्रतिज्ञामरण में आराधना की जो विधि कही गई है वह इगिनी मरण में भी जानना' उपर्युक्त कथित श्लोक २१०४ से २११३ पर्यन्त अर्थात् ग्यारह श्लोकों मे भक्तप्रतिज्ञा की विधि कैसे घटित होती है ?

उत्तर - वर्तमान काल मे भक्तप्रत्याख्यानमरण सम्भव है और प्रशस्त भी है। इस मरण का सविस्तार विवेचन करने हेतु आचार्यदेव ने इसे चालीस अधिकारो मे विभाजित किया है। यथा- [1]अर्ह, लिंग[2], शिक्षा[3], विनय[4], समाधि[5], अनियत[6]विहार, परिणाम[7], उपधि[8]त्याग, श्रिति[9], भावना[10], सल्लेखना[11], दिक्[12], श्रमण[13], अनुशिष्टि[14], परगणचर्या[15], मार्गणा[16], सुस्थित[17], उपसर्पण[18], निरूपण[19], प्रतिलेखन[20], पृच्छा[21], एकसग्रह[22], आलोचना[23], गुणदोष[24], शय्या[25], सस्तर[26], निर्यापक[27], प्रकाशन[28], हानि[29], प्रत्याख्यान[30], क्षामण[31], क्षपणा[32], अनुशिष्टि[33], सारणा[34], कवच[35], समता[36], ध्यान[37], लेश्या[38], फल[39] और शवत्याग[40]।

इन अधिकारों में से यथायोग्य अधिकार इगिनीमरण की विधि में भी ग्रहणयोग्य (श्लोक २१०३) कहे गये हैं। यथा-श्लोक २१०४ मे अर्ह, लिग, शिक्षा, विनय और समाधि इन पाँच अधिकारों का संकेत है। श्लोक २१०४ में श्रिति, भावना और सल्लेखना अधिकारों का सकेत है। श्लोक २१०६ और २१०७ में दिक्, क्षमणा, अनुशिष्टि और परगणचर्या अर्थात् संघत्याग का सकेत है। श्लोक २१०८ और २१०९ में शय्या एव सस्तर अधिकारो का सकेत है। श्लोक २११० और २१११ में लेश्या तथा आलोचना का सकेत है। श्लोक २११२ में प्रत्याख्यान अधिकार का और श्लोक २११३ मे कवच, समता एव ध्यान अधिकारों का सकेत है। अर्थात् इगिनीमरण की विधि में भी उपर्युक्त चालीस अधिकारो में से बीस अधिकार ग्राह्य हैं। यह 'यथायोग्य' पद का अर्थ है।

इंगिनीमरण करने वाले क्षपक की क्रियाविधि एवं धैर्य आदि का विवेचन

निषद्योत्थाय नि:शेषामात्मन: कुरुते क्रियाम्।
विहरन्नुपसर्गेऽसौ, प्रसाराकुञ्चनादिकम्॥२११४॥

अर्थ - इंगिनीमरण ग्रहण करने वाले महामुनि उपसर्ग रहित अवस्था में अपनी उठने-बैठने आदि की सर्व क्रियाविधि एव शरीर को फैलाने तथा सिकोड़ने आदि की सर्व प्रक्रिया स्वय करते हैं॥२११४॥

स्वयमेवात्मन: सर्वं, प्रतिकर्म करोति स:।
आकांक्षति महासत्त्व:, परतोऽनुग्रहं न हि॥२११५॥

अर्थ - वे महाधैर्यशाली मनोबलयुक्त मुनिराज प्रतिष्ठापना समिति पूर्वक शौचादि क्रियाएँ एव खड़े होना, गमन करना तथा हाथ-पैर आदि सहलाने की क्रियाएँ स्वय करते हैं। पर की सेवा, सहायता और अनुग्रह कदाचित् भी नहीं चाहते॥२११५॥

देव-मानव-तिर्यग्भ्य:, सम्पन्नमति-दारुणम्।
उपसर्गं महासत्त्व:, सहतेऽसौ निराकुल:॥२११६॥

अर्थ - वे महाधैर्यशाली अर्थात् उत्तम सहननधारी सम्पन्नमति मुनिराज देवकृत या मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत दारुण उपसर्ग आ जाने पर उसका प्रतिकार नहीं करते अपितु उसे निराकुल भाव से सहन कर लेते हैं॥२११६॥

दु:शील-भूत-वेताल-शाकिनी-ग्रह-राक्षसै:।
न सम्भीषयितुं शक्यो, भीमैरपि कथञ्चन॥२११७॥

अर्थ - जिनका दर्शन एव विक्रिया अत्यन्त भयकर है और जो खोटे स्वभाव वाले हैं ऐसे भूत, वेताल, शाकिनी, ग्रह एव राक्षसो के द्वारा भी वे भयभीत अथवा विचलित नहीं किये जाते हैं॥२११७॥

त्रिदशैर्विक्रियावद्भिश्चेतश्चोरणकारिणीम्।
प्रदर्श्य महतीमृद्धिं, लोभ्यमानो न लुभ्यति॥२११८॥

अर्थ - चित्त को नाना प्रकार से आकर्षित करने वाली अतुल ऋद्धिरूप विक्रिया दिखाकर अनेक देव एव देवागनाएँ उन्हें लुभाना चाहें तो भी वे मुनिराज उनके लोभ मे नहीं आते अर्थात् सयम से च्युत नहीं होते॥२११८॥

सम्पद्यतेऽखिलास्तस्य, दु:खाय यदि पुद्गला:।
तथापि जायते जातु, ध्यान-विघ्नो न धीमत:॥२११९॥

अर्थ - यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुख देने रूप परिणत होकर उन्हें दुख देना चाहे तो भी वे उन बुद्धिशाली महामुनिराज के ध्यान में विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकते॥२११९॥

सुखाय यदि लभ्यन्ते, सर्वे पुद्गल-सञ्चयाः।
तथापि धीरधीर्नासौ, ध्यानतश्चलति स्फुटम्॥२१२०॥

अर्थ - यदि लोक का समस्त सचित पुद्गल सुख देने रूप परिणत होकर उन्हे सुखी करना चाहे तो भी धीर बुद्धिवाले वे मुनिराज अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते॥२१२०॥

उपेक्षते विनिक्षिप्तः, सचित्त-हरितादिषु।
उपसर्ग-शमे भूयो, योग्यं स्थानमियर्त्ति सः॥२१२१॥

अर्थ - किसी क्रूर व्याघ्र आदि के द्वारा हरित-सचित्त तृणों से व्याप्त प्रदेश में डाल दिये जाने पर भी वे मुनिराज उपसर्ग सहन करते हुए शान्त चित्त से वहीं स्थित रहते हैं। यदि उपसर्ग दूर हो जाता है तो सावधानीपूर्वक तृणरहित भूमि प्रदेश मे आ जाते हैं॥२१२१॥

परीषहोपसर्गाणामेवं विषहनोद्यतः।
मनो-वाक्काय-गुप्तोऽसौ, निःकषायो जितेन्द्रियः॥२१२२॥

अर्थ - वे मुनिराज परीषह एव उपसर्गों को सहन करने में सदा उद्यमशील रहते हैं, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एव कायगुप्ति का पालन करते हैं, कषायभाव से रहित होते हैं और जितेन्द्रिय होते हैं॥२१२२॥

इहामुत्र सुखे दुःखे, जीविते मरणे सुधीः।
सर्वथा निःप्रतीकारश्चतुरङ्गे प्रवर्तते॥२१२३॥

अर्थ - चार आराधनाओ मे ही प्रवर्तन करने वाले वे बुद्धिशाली क्षपक मुनिराज इसलोक-परलोक में, सुख-दुख में तथा जीवन और मरण मे सर्वथा राग-द्वेष रहित होते हैं॥२१२३॥

वाचना-पृच्छनाम्नाय-धर्म देशन-वर्जिताः।
धीरः सूत्रार्थयोः सम्यग्ध्यायत्येकाग्रमानसः॥२१२४॥

अर्थ - स्वाध्याय के पाँच भेदो मे से वाचना, पृच्छना, आम्नाय एव धर्मोपदेश का त्याग कर वे धीर-वीर मुनिराज सतत एकाग्र मन से सूत्र और उनके अर्थ का भली प्रकार मात्र चिन्तन करते हैं अर्थात् सतत अनुप्रेक्षारूप स्वाध्याय मे ही सलग्न रहते हैं॥२१२४॥

एवमष्टसु यामेसु, निर्निद्रो ध्यान-लालसः।
भवन्ती हठतो निद्रां, न निषेत्यत्यसौ पराम्॥२१२५॥

अर्थ - इस प्रकार ध्यान के इच्छुक वे मुनिराज दिन-रात्रि के आठो पहर निद्रारहित रहते हैं। यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो भी नहीं सोते अथवा कदाचित् अल्प निद्रा ले लेते हैं, बहुत अधिक नहीं सोते॥२१२५॥

स्वाध्याय-काले विक्षेपाद्यन्तास्तस्य न च क्रियाः।
ध्यानं श्मशान-मध्येऽपि, कुर्वाणस्य निरन्तरम्॥२१२६॥

अर्थ - अन्य साधुओं के सदृश उन क्षपक मुनिराज का न तो स्वाध्याय काल ही नियत होता है और न उन्हें प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होता है क्योंकि उनके वाचना आदि स्वाध्याय नहीं है। वे श्मशान के मध्य भी सतत ध्यान कर सकते हैं॥२१२६॥

यथोक्तं कुरुते सर्वमावश्यकमतन्द्रितः।
विधत्ते स द्वयं कालं, उपधि-प्रतिलेखनम्॥२१२७॥

अर्थ - दिन रात्रि में सामायिक आदि जो-जो आवश्यक क्रियाएँ करने का विधान है वे सब क्रियाएँ वे अवश्य करते हैं और दोनों सन्ध्याओ में पीछी, कमण्डलु एव सस्तर आदि का प्रतिलेखन भी करते हैं॥२१२७॥

सहसा स्खलने जाते, मिथ्याकारं करोति सः।
आशी-निषद्यका-शब्दौ, विनिःक्रान्ति-प्रवेशयोः॥२१२८॥

अर्थ - आवश्यक क्रियाओ मे यदि कभी स्खलित हो जाते हैं या अतिचार आदि लग जाते हैं तो 'मिच्छा मे दुक्कड' मेरा दोष मिथ्या हो या 'मैंने गलत किया' ऐसे शब्द बोलते हैं, तथा कहीं वन, गुफा या वन्दनादि कार्य के लिए जाते समय और प्रवेश करते समय आसही-निसही शब्दों का उच्चारण भी करते हैं॥२१२८॥

पादयोः कण्टके भग्ने, रजईक्षणयोर्गते।
तूष्णीमास्ते स्वयं धीरो, परेणोद्धरणेऽपि सः॥२१२९॥

अर्थ - इन मुनिराज के पैरों में यदि काँटा लग जाता है या आँख में धूल आदि चली जाती है तो मौन रहते हैं, स्वय भी उसे दूर नहीं करते, यदि कोई अन्य उसे दूर करता है तब भी वे मौन ही रहते हैं॥२१२९॥

नाना-विधासु जातासु, लब्धिष्वेष महामनाः।
न किञ्चित्सेवते जातु, विरागी-भूत-मानसः॥२१३०॥

अर्थ - नाना प्रकार के कठोर तपश्चरण से यदि उन्हें विक्रिया, आहारक, क्षीरास्रव या चारण आदि ऋद्धियो की उपलब्धि हो जाती है तो विरागयुक्त मानस वाले वे महामना कभी भी उन ऋद्धियों का किञ्चित् भी सेवन नहीं करते॥२१३०॥

वेदनानां प्रतीकारं, क्षुदादीनां च धीर-धीः।
न जातु कुरुते किञ्चिन्मौनव्रतमवस्थितः॥२१३१॥

अर्थ - वे धीर बुद्धिधारी मुनिराज मौनव्रत का पालन करते हुए ही अवस्थित रहते हैं। रोगादि से होने वाली वेदना का एवं भूख, प्यास, गर्मी एवं सर्दी आदि का कभी कदाचित् भी प्रतिकार नहीं करते, धैर्यपूर्वक सहन करते हैं॥२१३१॥

उपदेशोऽन्य-सूरीणामिङ्गिनी-मरणेऽपि सः।
त्रिदशैर्मानुषैः पृष्टो, विधत्ते धर्मदेशनाम्॥२१३२॥

अर्थ - किन्हीं अन्य आचार्यों का मत है कि इंगिनीमरण मे सलग्न क्षपक देवों एवं मनुष्यों द्वारा पूछे जाने पर धर्मोपदेश देते हैं॥२१३२॥

इङ्गिनी-मरणेऽप्येवमाराध्याराधनां बुधा:।
केचित्सिध्यन्ति केचिच्च, सन्ति वैमानिका: सुरा:॥२१३३॥

अर्थ - इस प्रकार उपर्युक्त विधिपूर्वक इगिनी नामक समाधिमरण में चार आराधनाओं की आराधना करने वाले बुद्धिशाली क्षपक मुनियो में अपने-अपने परिणामों के अनुसार कोई तो सिद्धगति प्राप्त कर लेते हैं और कोई वैमानिक देव हो जाते हैं॥२१३३॥

इङ्गिनी-मृति सुखानुषङ्गिणीं, निर्मलां कषाय-नाश-कौशलाम्।
पूजिता भजन्ति विघ्न-वर्जितां, ये नरा भवन्ति तेऽजरामरा:॥२१३४॥

इति इङ्गिनी-मरणम्।

अर्थ - यह इगिनीमरण स्वर्ग एव अपवर्ग के सुखो को देने वाला है, निर्मल है एव कषायों को नष्ट करने मे कुशल है। जो योगिराज इस मरण को स्वय विन्घरहित पूजते है, अर्थात् धारण करते हैं वे अजर-अमर अर्थात् मोक्ष पद प्राप्त कर लेते है॥२१३४॥

इस प्रकार इंगिनीमरण का वर्णन सम्पूर्ण हुआ॥

इंगिनीमरण के उपसंहार की एवं प्रायोपगमन मरण के विवेचन की प्रतिज्ञा

इङ्गिनीमरणं प्रोक्तं, समास-व्यास-योगत:।
प्रायोपगमनं वक्ष्ये, व्यासेन विधिनाधुना॥२१३५॥

अर्थ - इस इगिनीमरण का सक्षेप एव विस्तार से विधिपूर्वक कथन किया। अब आगे प्रायोपगमनमरण की विधि का सक्षेप से कथन करूँगा॥२१३५॥

दोनों मरणो की विधि सामान्यत समान है

इङ्गिनीमरणेऽवाचि, प्रक्रमो यो विशेषत:।
प्रायोपगमनेऽप्येष, द्रष्टव्य: श्रुत-पारगै:॥२१३६॥

अर्थ - श्रुत के पारगामी गणधरादि देवों ने इगिनीमरण की जो विधि कही है विशेष रूप से वही विधि प्रायोपगमन मरण की देखी है अर्थात् कही है॥२१३६॥

संस्तर: क्रियते नात्र, तृण-काष्ठादि-निर्मित:।
स्वकीयमन्यदीयं च, वैयावृत्त्यं न विद्यते॥२१३७॥

अर्थ - इस मरण में तृणशय्या एव काष्ठादि की शय्या का निषेध है, क्योंकि इसमें स्वयं अपने से और दूसरों से भी सभी प्रकार की वैयावृत्य करने और कराने का निषेध है॥२१३७॥

करोत्येनं ततो योगी, कृत-सल्लेखना-विधिः।
उच्चार-प्रस्रवादीनां, ततो नास्ति निराक्रिया ॥२१३८॥

अर्थ - कषाय के साथ-साथ जिसने अपना शरीर भी उत्तम प्रकार से कृश कर लिया है, अर्थात् जिसका अस्थि-चर्म मात्र शेष रह गया है इस कारण ऐसे योगी को मल-मूत्रादि का निराकरण नहीं होता अर्थात् प्रायोपगमन संन्यास धारण करने वाला योगी मल-मूत्र भी नहीं करता ॥२१३८॥

पृथ्वी-वाय्वग्निकायादौ, निक्षिप्तस्त्यक्त-विग्रहः।
आयुः पालयमानोऽसावुदासीनोऽवतिष्ठते ॥२१३९॥

अर्थ - यदि कोई देव, मनुष्य या पशु आदि उन्हें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति या त्रसादि जीव-निकायों में फेंक देता है या डाल देता है तो शरीर से ममत्व त्याग कर वे अपनी आयु के समाप्त होने तक उसी स्थिति मे वहीं पड़े रहते हैं ॥२१३९॥

गन्ध-प्रसून-धूपाद्यैः, क्रियमाणेऽप्युपग्रहे।
त्यक्त-देह-तयोदास्ते, स स्व-जीवित-पालकः ॥२१४०॥

अर्थ - प्रायोपगमन सन्यासधारी की यदि कोई गन्ध, पुष्प या धूप आदि से पूजा करता है तब भी शरीर से ममत्व त्याग कर देने वाले वे योगिराज उस पूजा-सत्कार से उदास ही रहते हैं अर्थात् जैसे उपसर्ग आदि करने वाले पर कोप नहीं करते वैसे ही पूजक पर प्रसन्न नहीं होते और न उन्हें रोकते ही हैं। दोनों अवस्थाओ मे समान रूप से उदासीन रहते हैं ॥२१४०॥

यत्र निक्षिपते देहं, निःस्पृहः शान्त मानसः।
ततश्चलयते नासौ, यावज्जीवं मनागपि ॥२१४१॥

अर्थ - शरीर से नि स्पृह और शान्त मन वाले वे योगिराज प्रायोपगमन सन्यास ग्रहण के समय अपने शरीर को जिस स्थान पर और जिस अवस्था मे स्थित करते हैं यावज्जीवन वे वैसे ही स्थित रहते हैं, किंचित् भी हिलते-डुलते नहीं हैं ॥२१४१॥

इत्युक्तं निःप्रतीकारं, प्रायोपगमनं जिनैः।
नियमेनाचलं ज्ञेयमुपसर्गे पुनश्चलम् ॥२१४२॥

अर्थ - इस प्रकार प्रायोपगमन मरण सर्वथा प्रतीकार रहित होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। निश्चय से तो यह मरण अचल ही होता है अर्थात् नियम से शरीर की हिलने-डुलने आदि की क्रिया से रहित होता है, किन्तु उपसर्ग अवस्था में मनुष्यादि के द्वारा चलायमान किये जाने पर चल भी होता है अर्थात् इस मरण में स्वय-कृत शरीर-चचलता नहीं है, सर्वथा अकम्प, अचल और अडोल ही रहते हैं ॥२१४२॥

उपसर्ग-हतः कालमन्यत्र कुरुते यतः।
ततो मतं चलं प्राज्ञैरुपसर्गमृते स्थिरम् ॥२१४३॥

अर्थ - यदि उपसर्ग द्वारा उठाकर अन्यत्र फेंक दिये जाते हैं और वहाँ उनका मरण हो जाता है तो प्राज्ञ पुरुषों द्वारा शरीर की चलता मानी गई है, अन्यथा एक स्थान पर शरीर की स्थिरतापूर्वक ही मरण होता है अर्थात् उपसर्ग के कारण स्थानान्तर होते हैं अन्यथा नहीं। एक बार जहाँ जिस आसन से स्थित हो जाते हैं, मरण पर्यन्त वैसे ही स्थिर रहते हैं॥२१४३॥

प्रायोपगमनं केचित्, कुर्वते प्रतिमा-स्थिताः।
प्रपद्याराधनां देवीमिङ्गिनीमरणं परे॥२१४४॥

इति प्रायोपगमनम्।

अर्थ - कोई मुनिराज कायोत्सर्ग धारण कर प्रायोपगमन मरण करते हैं अर्थात् प्रायोपगमन सन्यास धारण कर चार आराधनाओं की आराधना पूर्वक समाधि करते हैं और कोई मुनिराज इगिनीमरण धारण कर आराधना देवी की आराधना करते हुए समाधि करते हैं॥२१४४॥

इस प्रकार प्रायोपगमन मरण का वर्णन पूर्ण हुआ।

इस प्रकार पण्डितमरण के तीन भेदों मे से भक्त प्रत्याख्यान का वर्णन अतिविस्तार पूर्वक और इगिनी तथा प्रायोपगमन विधि का सक्षेप मे किया है।

अनायास महान् उपसर्ग आदि आ जाने पर भी महामुनि पण्डितमरण में उत्साह रखते हैं

उपसर्गे सति प्राप्ते, दुर्भिक्षे च दुरुत्तरे।
कुर्वन्ति मरणे बुद्धिं, परीषह-सहिष्णवः॥२१४५॥

अर्थ - जिसका निवारण करना अशक्य है ऐसा घोर उपसर्ग आ जाने पर तथा महा भयकर अकाल पड़ जाने पर परीषहों को सहन करने मे समर्थ योगीश्वर पण्डितमरण पूर्वक समाधिमरण करने में ही अपनी बुद्धि लगाते हैं॥२१४५॥

इसी के समर्थक दृष्टान्त

कोशलो धर्मसिहोऽर्थं, ससाध श्वास-रोधतः।
कोष्णतीरे पुरे धीरो, हित्वा चन्द्रश्रियं नृपः॥२१४६॥

अर्थ - कौशलाधिपति धर्मसिंह नाम के धीर-वीर राजा ने कोष्णतीर नामक नगर के निकट अपनी पत्नी चन्द्रश्री का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की, पश्चात् श्वासनिरोध द्वारा समाधिमरण साध कर पण्डितमरण किया॥२१४६॥

❋ धर्मसिंह मुनि की कथा ❋

दक्षिण देशमें कोष्ठा तीर (कौशलगिरि) नगर के राजा वीरसेन और रानी वीरमती से दो पुत्र, पुत्री, हुए पुत्र का नाम चन्द्रभूति और पुत्री का नाम चन्द्रश्री था। चन्द्रश्री का विवाह कौशल देश के राजपुत्र धर्मसिंहसे हुआ। दोनोंका समय सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा। धर्मसिंह अत्यंत धर्मप्रिय था, विशाल राज्यका संचालन

करते हुए भी मुनियोंको आहारदान तथा जिनपूजा वह अवश्य करता था। किसी दिन दमधर मुनिराजसे धर्मोपदेश सुनकर धर्मसिंह नरेशने जिनदीक्षा ग्रहण की और तपस्या करने लगे। रानी चंद्रश्रीको बहुत दुःख हुआ। भाई चन्द्रभूति बहिनको दुःखी देखकर धर्मसिंह मुनिको जबरन चन्द्रश्रीके पास ले आया किन्तु धर्मसिंह पुनः वनमें गये और तपस्यामें लीन हुए। कुछ दिन इसी प्रकार व्यतीत हुए। चन्द्रभूतिने किसी दिन वनविहार करते हुए उन मुनिको देखा। मुनिराजने भी अपनी तरफ आते हुए उस अपने सालेको देखकर पहिचान लिया। उन्होंने सोचा कि यह मुझे तपस्या से च्युत करेगा। जहाँ मुनि तपस्या कर रहे थे, वहाँ वनमें पासमें एक हाथीका कलेवर पड़ा था, धीरवीर मुनि धर्मसिंह उसी में घुस गये। उन्होंने चार प्रकारके आहारका एवं सपूर्ण कषायभावों का त्यागकर सन्यास ग्रहण किया तथा तत्काल श्वासका निरोधकर प्राण छोड़े। इसतरह उन्होंने क्षणमात्रमें उत्तमार्थको साधा और स्वर्गमें जाकर देवपद पाया। वे महामुनि हम सबके लिए समाधिप्रद होवें।

सुतार्थं पाटलीपुत्रे, मातुलेन कदर्थितः।
जग्राहर्षभसेनोऽर्थं, वैखानस-मृतिं श्रितः ॥२१४७॥

अर्थ - पाटलीपुत्र नगर में रहने वाले ऋषभसेन सेठ ने दीक्षा ग्रहण करली थी। अपनी पुत्री के दुख के कारण अपने ही मामा अर्थात् श्वसुर द्वारा उपसर्ग किये जाने पर उन मुनिराज ने श्वास का निरोधकर सल्लेखना पूर्वक पण्डितमरण किया था ॥२१४७॥

❋ वृषभसेनमुनि की कथा ❋

पाटलीपुत्र नगरीमे वृषभदत्त वृषभदत्ता सेठ सेठानी रहते थे। उनके पुत्रका नाम वृषभसेन था, वह सर्वगुणसम्पन्न, कलाओमे प्रवीण एव अत्यत धर्मात्मा था। उसका विवाह अपने मामाकी पुत्री धनश्रीके साथ हुआ था। किसी एक दिन दमधर नामके मुनिके समीप धर्मोपदेश सुनकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण की, इससे धनश्री रात दिन दु खी रहने लगी, धनश्रीका दु ख पिता धनपतिसे देखा नहीं गया। वह मुनि वृषभसेनको उठाकर घर ले लाया और उसे अनेक कपट द्वारा गृहस्थ बना दिया। कुछ दिन बाद अवसर पाकर वृषभसेन पुन मुनि बन गये। दुष्ट धनपति पुन हठात् उनको घर पर लाया और क्रोधमें आकर उन्हें साँकलसे बाँध दिया। मुनिने देखा कि यह मुझे पुन. विवश कर रहा है, मेरी सयमनिधि लूटेगा। उन्होंने श्वासोच्छ्वास का निरोधकर आराधना पूर्वक सन्यास द्वारा प्राणत्याग किया और स्वर्गमें जाकर वैमानिक महर्द्धिक देवपद प्राप्त किया। इसप्रकार वृषभसेन मुनिराज ने ऐसी विषम स्थिति में भी आत्मकल्याण किया।

नृपे हते हि चोरेण, यति-लिङ्ग-मुपेयुषा।
आचार्यः सङ्घ-शान्त्यर्थं, शस्त्र-ग्रहणतो मृतः ॥२१४८॥

अर्थ - मुनिवेषधारी एक चोर ने आचार्य को नमस्कार करते हुए राजा को मार दिया। उस दुर्घटना के निमित्त से सघ पर आने वाली महती आपत्ति को दूर करने के लिए आचार्य ने शस्त्र द्वारा अपना घात कर समाधिमरण कर लिया था ॥२१४८॥

यतिवृषभ आचार्य की कथा

श्रावस्ती नगरीका राजा जयसेन था, उसके पुत्रका नाम वीरसेन था। उस नगरीमें शिवगुप्त नामका बौद्ध

भिक्षु रहता था। वह निर्दय, मांसभक्षी तथा कपटी था। राजा जयसेन बौद्ध धर्म पर विश्वास करता था। अतः उसने शिवगुप्तको अपना गुरु बना लिया था। एक दिन यतिवृषभ आचार्य सघसहित उस नगरीके बाह्य उद्यानमें आये। प्रजाजनोंको उनके दर्शनार्थ जाते देखकर राजा भी कौतूहलवश उद्यानमें गया, वहाँपर आचार्यश्री मिष्ट वाणी मे कल्याणप्रद उपदेश दे रहे थे; उपदेश तात्त्विक एव तर्कपूर्ण था, उसे सुनते ही राजा जैनधर्म का श्रद्धालु हो गया। उस दिनसे उसने बुद्धकी उपासना छोड़ दी। इससे बौद्ध भिक्षु शिवगुप्त को बड़ा क्रोध आया। उसने राजाको बहुत समझाया, किंतु वह राजा की जैनधर्म की श्रद्धा को नष्ट नहीं कर सका, तब उसने पृथिवीपुरी नामकी नगरीमें बौद्धधर्मी राजा सुमतिके पास जाकर जयसेन राजाका जैन होनेका समाचार कहा। सुमति राजाने जयसेन के पास पत्र भेजकर उसको पुन बौद्ध बनने को कहा, किन्तु जयसेन नरेश ने स्वीकार नहीं किया। सुमतिका कोप बढ़ता गया। उसने गुप्त रूपसे जयसेनको मारनेका जाल रचा। उस दुष्टने नौकरोंसे पूछा कि कोई ऐसा वीर है जो जयसेन को मार सकता हो। तब हिमारक नामके एक व्यक्तिने इस कार्यको करना स्वीकार किया। वह दुष्ट हिमारक श्रावस्तीमें आकर कपटसे उन्हीं यतिवृषभ आचार्यके समीप मुनि बन गया। राजा जयसेन प्रतिदिन दर्शनार्थ आया करता था। एक दिन राजा अपने नियमानुसार दर्शनार्थ आया, आचार्यके निकट धर्मचर्चा आदि करके नमस्कार कर जाने लगा कि मुनिवेषधारी उस दुष्ट हिमारक ने राजा को शस्त्र से मार दिया और स्वय तत्काल भाग गया।

आचार्य इस आकस्मिक घटना को देखकर चिन्तित हो उठे। राजाकी मृत्युसे सघ पर आनेवाली घोर आपत्तिसे बचानेका उन्हे अन्य उपाय नहीं दिखा। अत उन्होंने सामने की दीवार पर लिख दिया कि "यह अनर्थ किसी ने जैनधर्मके द्वेषसे किया है"। लिखने के तत्काल बाद उन्होंने सन्यास धारण कर वहाँ पर पड़े उसी शस्त्रसे अपना घातकर प्राणत्याग कर दिया।

जयसेन राजाके पुत्र वीरसेनको अपने पिताकी मृत्युके समाचार मिले। वह उस स्थानपर आकर देखता है तो राजाके निकट आचार्यको भी दिवगत हुए देखकर आश्चर्यचकित हुआ। इधर-उधर देखते हुए उसकी नजर दीवार पर पड़ी और पूर्वोक्त पक्ति पढ़ते ही उसे समझमें आ गया कि यह सब घटना किसप्रकार हुई है। वीरसेनका हृदय आचार्य यतिवृषभकी भक्तिसे भर आया। उसको पहलेसे जैनधर्म पर श्रद्धा थी अब और अधिक दृढ़ हो गयी। इस प्रकार यतिवृषभ आचार्यने क्षणमात्रमे आराधनापूर्वक समाधिको सिद्ध कर लिया था।

शस्त्र-ग्रहणतः स्वार्थः, शकटालेन साधितः।
कुतोऽपि हेतुतः क्रुद्धे, नन्दे सति महीपतौ ॥२१४९॥

अर्थ - किसी कारण से नन्द राजा के क्रोधित हो जाने पर शकटाल नामक मुनिराज ने शस्त्र घात द्वारा समाधिमरणरूप अपना स्वार्थ सिद्ध किया था॥२१४९॥

❋ शकटाल मुनि की कथा ❋

पाटलीपुत्र नामकी नगरीमे राजा नद राज्य करता था। उसके दो मत्री थे, एक का नाम शकटाल और दूसरेका नाम वररुचि। शकटाल जैन सरल स्वभावी नीतिप्रिय था, इससे विपरीत वररुचि था। दोनोंका आपसमे

विरोध था। एक दिन पद्मरुचि नामके यतिराजसे धर्मोपदेश सुनकर शकटाल मत्रीने जिनदीक्षा ग्रहण की। जैन सिद्धांत का अध्ययन कर उन यतिराजने संपूर्ण तत्त्वोका समीचीन ज्ञान प्राप्त किया। किसी दिन शकटाल मुनि आहारार्थ राजमहल पधारे। आहार करके लौट रहे थे कि वररुचिने उन्हें देखा। वररुचि शकटालसे अत्यत द्वेष रखता था अत: मौका देख उसने राजा नंद से कहा कि, देखो, यह नग्न ढोंगी साधु महल में जाकर क्या-क्या पाप कर आया है, इत्यादि अनेक तरहसे राजाको कुपित किया, राजाने शकटाल मुनिको मार डालनेकी आज्ञा दी। कर्मचारी मुनिकी तरफ आ रहे थे, उन्हें शस्त्रास्त्र सहित आवेशमें आते देखकर शकटाल मुनिने निश्चय किया कि ये घोर उपद्रव करने वाले हैं अत· उन्होंने तत्काल चतुराहारका त्याग एव रागद्वेषकषाय का त्यागकर सन्यास ग्रहण किया और शस्त्र द्वारा प्राणत्याग कर स्वर्गारोहण किया।

पंडितमरण के कथन का उपसंहार एवं बालपंडितमरण के कथन की प्रतिज्ञा

अकारि पण्डितस्येति, सप्रपञ्चा निरूपणा।
इदानीं वर्णयिष्यामि, मरणं बालपण्डितम् ॥२१५०॥

इति पण्डितमरणम्।

अर्थ - इस प्रकार भेद-प्रभेद सहित पडितमरण का सविस्तार कथन किया, अब आगे बालपडित मरण का सक्षिप्त विवेचन करूँगा ॥२१५०॥

इस प्रकार पण्डितमरण का कथन पूर्ण हुआ ॥

(११)

बालपण्डित मरणाधिकार

बालपंडितमरण का लक्षण

संयतासंयतो जीव:, सम्यग्दर्शन-भूषित:।
यत्तस्य मरणं प्रोक्तं, श्रुतज्ञैर्बालपण्डितम् ॥२१५१॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन से विभूषित जो जीव पचमगुणस्थानवर्ती - सयतासयत भी है, श्रुतज्ञै. अर्थात् गणधरादि देवो द्वारा उसके मरण को बालपण्डित मरण कहागया है ॥२१५१॥

देशसयम रूप धर्म का लक्षण

पञ्चधाणुव्रतं प्रोक्तं, त्रिधा प्रोक्तं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्धा च, धर्मो देशयतेरयम् ॥२१५२॥

अर्थ - पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये बारह प्रकार के व्रत ही देशसयमी का धर्म कहा गया है। अर्थात् पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत यह देशसंयमी श्रावक का धर्म है ॥२१५२॥

बारह व्रतों के नाम

हिंसामसूनृतं स्तेयं, परनारी-निषेवणम्।
विमुञ्चतो महालोभं, पञ्चधाणुव्रतं मतम्॥२१५३॥

अर्थ - हिंसा, झूठ, चोरी, परनारी-सेवन और महालोभ का त्याग करना, अर्थात् हिंसादि पाँच पापों का स्थूलरूप से त्याग करना पाँच अणुव्रत हैं॥२१५३॥

दिग्देशानर्थदण्डानां, त्यागस्त्रेधा गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतमिति प्राज्ञैश्चतुर्भेदमुदाहृतम्॥२१५४॥

भोगोपभोग-संख्यानं,सामायिकमखण्डितम्।
संविभागोऽतिथीनां च, प्रोषधोपोषित-व्रतम्॥२१५५॥

अर्थ - दिशा अर्थात् दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रतों के त्याग रूप तीन गुणव्रत कहे गये हैं तथा प्राज्ञ पुरुषो के द्वारा सामायिक शिक्षाव्रत, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग सख्यान और अतिथिसविभाग के भेद से शिक्षाव्रत चार प्रकार के कहे गये हैं॥२१५४-२१५५॥

सहसोपस्थिते मृत्यौ, महारागे दुरुत्तरे।
स्व-बान्धवैरनुज्ञातौ, याति सल्लेखनामसौ॥२१५६॥

अर्थ - बारह व्रतधारी श्रावक सहसा मरण उपस्थित हो जाने पर या महाभयानक रोग हो जाने पर अपने बन्धु-बान्धवों से अनुज्ञा लेकर सल्लेखना धारण करता है॥२१५६॥

विधायालोचनां सम्यक्, प्रतिपद्य च संस्तरम्।
म्रियते यो गृहस्थोऽपि, तस्योक्तं बालपण्डितम्॥२१५७॥

अर्थ - सल्लेखना का इच्छुक वह श्रावक, आचार्य या मुनिराज के समक्ष अपने ग्राह्य व्रतो में लगे हुए दोषो की भली प्रकार आलोचना करता है, फिर चटाई आदि का यथायोग्य सस्तर ग्रहण करता है, इस प्रकार जो गृहस्थ नियमपूर्वक मरण करता है वह **बालपंडितमरण** कहा जाता है॥२१५७॥

प्रोक्तो भक्तप्रतिज्ञायाः, प्रक्रमो यः सविस्तरम्।
अत्रापि स यथायोग्यं, द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः॥२१५८॥

अर्थ - श्रुतपारगामी आचार्यों ने भक्तप्रत्याख्यान में जो विधि विस्तारपूर्वक कही है, वही सब विधि यथायोग्य इस बालपण्डितमरण मे भी जानना चाहिए॥२१५८॥

बालपण्डितमरण का फल

येन देशयतिना निषेव्यते, बालपण्डित-मृतिर्निराकुला।
भोग-सौख्य-कमनीयतावधिः, कल्पवासि-विबुधःस जायते॥२१५९॥

अर्थ - इस प्रकार जो देशव्रती श्रावक आदि निराकुलता पूर्वक इस बालपण्डित मरण को ग्रहण करते

हैं वे भोग, सौख्य और सुन्दरता की चरम सीमा को स्पर्श करने वाले ऐसे सौधर्मादि कल्पोपपन्न वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं॥२१५९॥

एकदा शुभमना विपद्यते, बालपण्डित-मृतिं समेत्य यः।
स प्रपद्य नर-देव-सम्पदं, सप्तमे भवति निर्वृतो भव॥२१६०॥

इति बालपण्डितम्।

अर्थ - जो शुभमना अर्थात् विशुद्ध परिणाम वाला देशव्रती एक बार या एक भव में भी बाल-पण्डितमरण को ग्रहण कर लेता है वह उत्तम मनुष्य एव देव सम्बन्धी अभ्युदय सुखों को भोग कर सातवें भव में मोक्ष चला जाता है॥२१६०॥

प्रश्न - पण्डितमरण पद के पूर्व बाल शब्द क्यो आया है? इसका लक्षण क्या है और इसके स्वामी कौन-कौन हैं?

उत्तर - बालपण्डित में बाल शब्द का अभिप्राय है कि यह जीव पूर्ण सयमी नहीं है और पडित शब्द इसलिए है कि उसके सम्यक्त्व सहित एकदेश सयम है। इन जीवो के मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी एव अप्रत्याख्यान कषायों का उदय नहीं रहता, शेष प्रत्याख्यानादि का उदय होता है। पहली प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा पर्यन्त के सब जीव अर्थात् ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका एव प्रतिमाधारी सभी ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी और व्रती श्रावक-श्राविकाएँ इस मरण के स्वामी हैं। ये सभी सम्यग्दृष्टि जीव पचम गुणस्थान मे वर्तन करते हुए आहार एव कषायभावो का त्याग करते हुए जो मरण करते हैं उसे बालपडितमरण कहते हैं।

प्रश्न - आर्यिका का कौनसा मरण होता है?

उत्तर - स्त्रियों के लिंग का विवेचन करते हुए शिवकोटि आचार्य कहते हैं कि-

इत्थीवि य जं लिंगं, दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तत्थ होदि हु लिंगं, परित्तमुवधिं करेंतीए॥८०॥

अर्थात् आर्यिकाओं के औत्सर्गिक और क्षुल्लिकादि श्राविकाओं के आपवादिक लिंग होता है। भक्तप्रत्याख्यानमरण के समय भी उनके यही औत्सर्गिक लिंग होता है। **वसुनन्दी आचार्य** ने अपनी टीका मे प्रश्न उठाया है कि **स्त्रीणां उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते ?** अर्थात् स्त्रियो के औत्सर्गिक लिंग कैसे कहा ? तब आप ही उत्तर देते हैं कि **अल्पं परिग्रहं कुर्वत्याः**। परिग्रह अल्प कर देने से आर्यिकाओं के भी औत्सर्गिक लिग होता है। अर्थात् ममत्व भाव न होते हुए भी पर्यायजन्य विवशता से वे एक साड़ी रखती हैं और मरण के समय उसका भी त्याग कर देती हैं। अत उनके औत्सर्गिक लिंग कहा गया है। इस कथन से सिद्ध होता है कि एक साड़ी होते हुए भी अर्थात् सयमासयम गुणस्थान होते हुए भी उनका रत्नत्रय अथवा परिणाम विशुद्धि ऐलक-क्षुल्लकादि से उत्कृष्ट है। आर्यिकाओं के कौनसा मरण होता है ? इसका स्पष्ट विवेचन कहीं आगम में अद्यावधि मेरे देखने में नहीं आया अत· विद्वज्जनो द्वारा यह विषय चिन्तनीय है।

(१२)

पंडित-पंडित मरणाधिकार

बालपंडितमरण का उपसंहार और पंडित-पंडित मरण के कथन की प्रतिज्ञा

एवं समासतोऽवाचि, मरणं बालपण्डितम्।
अधुना कथयिष्यामि, मृत्युं पण्डितपण्डितम्।।२१६१।।

अर्थ - इस प्रकार सक्षेप से बालपंडितमरण का कथन किया है अब पण्डित-पण्डितमरण का विवेचन करूँगा।।२१६१।।

क्षपक श्रेणी के लिए पुरुषार्थ

अप्रमत्तगुणस्थाने, वर्तमानस्तपोधनः।
आरोढुं क्षपकश्रेणीं, धर्मध्यानं प्रपद्यते।।२१६२।।

अर्थ - अप्रमत्त नामक सातवे गुणस्थान मे वर्तन करने वाले मुनिराज क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने की इच्छा से धर्मध्यान धारण करते हैं।।२१६२।।

धर्मध्यान का बाह्य परिकर

अनुज्ञाते समे देशे, विविक्ते जन्तु-वर्जिते।
ऋज्वायत-वपुर्यष्टिः, कृत्वा पर्यंक-बन्धनम्।।२१६३।।

अर्थ - क्षेत्र के स्वामी से अथवा वहाँ के अधिष्ठाता देव से आज्ञा लेकर तपस्वीजन जीव-जन्तुरहित, एकान्त, रम्य, पवित्र और सम प्रदेश मे अपनी शरीर यष्टि को अथवा रीढ की हड्डी को एकदम सीधा रख कर पर्यंकासन से ध्यान करते हैं।।२१६३।।

वीरासनादिकं बद्ध्वा, समपादादिकां स्थितिम्।
आश्रित्य वा सुधीः शय्यामुत्तान-शयनादिकम्।।२१६४।।

अर्थ - अथवा वे बुद्धिशाली मुनिजन वीरासनादि आसनों से स्थित होकर या दोनों पैरों को समान कर कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडे होकर या उत्तान अर्थात् सीधे सोकर या एक पार्श्व से लेटकर ध्यान करते हैं।।२१६४।।

पूर्वोक्त-विधिना ध्याने, शुक्ललेश्यः प्रवर्तते।
योगी प्रवचनाभिज्ञो, मोहनीय-क्षयोद्यतः।।२१६५।।

अर्थ - शास्त्रों के अर्थात् अग और पूर्वों के ज्ञाता तथा मोहनीय कर्म का क्षय करने में उद्यत वे मुनिराज पूर्वोक्त प्रकार से स्थित एव शुक्ल लेश्या में सलग्न हो ध्यान करते हैं।।२१६५।।

मोहनीय कर्मप्रकृतियों के क्षय का क्रम

पूर्वं संयोजनान्हन्ति, तेन ध्यानेन शुद्ध-धीः।
मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वं, त्रितयं क्रमतस्ततः॥२१६६॥

अर्थ - वे शुद्ध बुद्धिधारी मुनिराज उत्तम धर्म ध्यान द्वारा सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों की विसंयोजना करके उन्हें नष्ट करते हैं। तदनन्तर मिथ्यात्व, मिश्र एव सम्यक्त्व, दर्शनमोहनीय की इन तीन प्रकृतियों को क्रमश. नष्ट करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं॥२१६६॥

प्रश्न - क्षायिक सम्यक्त्व तो चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त के किसी भी गुणस्थान में हो सकता है तब फिर यहाँ सातवे गुणस्थान मे ही उसकी प्राप्ति का क्रम क्यो कहा जा रहा है ?

उत्तर - श्लोक २१६२ में आचार्यदेव ने "आरोढु क्षपकश्रेणीं" पद द्वारा यह निर्णय दे दिया है कि जो अप्रमत्तसंयत मुनि, क्षपक-श्रेणी चढ़ने को उद्यमशील हैं उनके क्षायिक सम्यक्त्व की बात कही जा रही है।

प्रश्न - क्षायिक सम्यक्त्व किसे होता है और उसे प्राप्त करने का क्या क्रम है ?

उत्तर - क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती कर्मभूमिज किसी सम्यग्दृष्टि मनुष्य के केवली या श्रुतकेवली के पादमूल मे होता है। यह क्षायिक सम्यक्त्व मिथ्यात्व से या सासादन से या मिश्र से नहीं होता, मात्र सम्यक्त्व से होता है। सम्यक्त्व में भी प्रथमोपशम या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व से न होकर मात्र वेदक सम्यक्त्व से होता है। वेदक सम्यक्त्वी कर्मभूमिज मनुष्यों मे भी द्रव्यस्त्रीवेदी एव द्रव्य नपुसकवेदियों को नहीं होता, मात्र द्रव्यपुरुषवेदी को होता है, द्रव्यपुरुषवेदियों मे भी सर्वप्रथम अध.करण करता है, पश्चात् अपूर्वकरण करता है, पश्चात् अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरण में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों प्रकृतियो की विसयोजना करता है।

प्रश्न - विसयोजना किसे कहते हैं ?

उत्तर - अनन्तानुबन्धी चतुष्क के स्कन्धो का प्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषायो तथा नोकषायों मे सक्रमित करने का नाम विसयोजना है।

इस प्रकार विसयोजना द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषाय का सत्ता से नाश करता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल तक विश्राम करता है। पश्चात् पुन अध करणादि तीनो करण करता है, इनमें से अन्तिम अनिवृत्तिकरण मे मिथ्यात्व का द्रव्य मिश्र प्रकृति मे और मिश्र प्रकृति का द्रव्य सम्यक्त्व प्रकृति मे सक्रमित कर क्रम से इन दोनों प्रकृतियो को नष्ट करता है, इसके पश्चात् सम्यक्त्व प्रकृति को स्वमुख से नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

क्षपकश्रेणी आरोहण

आरुह्य क्षपकश्रेणीमपूर्वकरणो यतिः।
भूत्वा प्रपद्यते स्थानमनिवृत्तिगुणाभिधम्॥२१६७॥

अर्थ - क्षायिक सम्यक्त्वी होने के बाद अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती साधु क्षपकश्रेणी पर आरोहण करता

है। इसमे क्रमश. अध करण अर्थात् सातिशय अप्रमत्तगुणस्थान तथा अपूर्वकरण नामक आठवें गुण-स्थान को प्राप्त करता है। (इसे अपूर्वकरण इसलिए कहते हैं कि उसने इस प्रकार के परिणाम नीचे के गुणस्थानों में कभी भी प्राप्त नहीं किये) उसके पश्चात् वह साधु नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त करता है॥२१६७॥

सूक्ष्म-साधारणोद्योत-स्त्यानगृद्धि-त्रयातपान्।
एकाक्ष-विकलाख्यानां, जातिं तिर्यग्द्वयं मुनिः॥२१६८॥

स्थावरं नारक-द्वन्द्वं, षोडश प्रकृतीरिमाः।
प्लोषते प्रथमं तत्र, शुक्लध्यान-कृशानुना॥२१६९॥

अर्थ - नौवे गुणस्थान में वह साधु निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, सूक्ष्म, साधारण, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये चार जातियाँ, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, स्थावर, नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी इन सोलह कर्मप्रकृतियो को पृथकृत्व वितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान रूप अग्नि के द्वारा नष्ट कर देता है॥२१६८-२१६९॥

कषायान्मध्यमानष्टौ, षंढवेदं निकृन्तति।
स्त्रीवेदं क्रमतः षट्क, हास्यादीनां ततः परम्॥२१७०॥

अर्थ - तदनन्तर उसी गुणस्थान मे क्रमश मध्य की आठ कषायो अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एव लोभ को तत्पश्चात् नपुसक वेद को, पश्चात् स्त्रीवेद को, तदनन्तर हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह नोकषायों को नष्ट करता है॥२१७०॥

पुंवेदं क्रमतश्छित्त्वा, शुक्लध्यान-महासिना।
क्रोधं संज्वलनं मानं, मायां संज्वलनाभिधाम्॥२१७१॥

अर्थ - पुन उसी नौवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान रूपी तीक्ष्ण तलवार से पुरुषवेद को काट कर क्रमश सज्वलन क्रोध, मान एव माया का क्षय करता है। (पश्चात् सज्वलन लोभ को बादरकृष्टि द्वारा कृश करता है)॥२१७१॥

प्रश्न - इस अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में कौन-कौन से कर्मों की कितनी प्रकृतियों का क्षय करता है तथा इन प्रकृतियों के क्षय की सक्षिप्त विधि क्या है ?

उत्तर - इस गुणस्थान मे दर्शनावरणकर्म की तीन, मोहनीय की बीस और नामकर्म की तेरह, इस प्रकार कुल छत्तीस प्रकृतियों का क्षय करता है। उनके क्षय का क्रम इस प्रकार है-

मध्यवर्ती आठो कषाये अप्रशस्त हैं अत इनका पहले क्षपण करना आवश्यक है। इन आठो कषायो के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एव अनुभाग इन चारो को सज्वलन कषायों मे सक्रमित कर इन्हें परमुख से क्षय करता है। पश्चात् अनिवृत्तिकरण के काल में जब संख्यातवाँ भाग शेष रहता है तब निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि इन तीन को एव नामकर्म की उपर्युक्त तेरह प्रकृतियों को अपनी-अपनी जाति में सक्रमित कर परमुख से क्षय करता है। पश्चात् स्त्री वेद और नपुसकवेद के द्रव्य को पुरुष वेद में देकर उन दोनों का क्षय करता है।

पश्चात् पुरुषवेद एवं हास्यादि छह कषायों का द्रव्य क्रोध संज्वलन में क्षेपण कर क्षय करता है। इसी प्रकार क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में, मान के द्रव्य को माया सज्वलन में तथा माया के द्रव्य को लोभ सज्वलन में सक्रमित कर क्रोध, मान और माया का क्षय करता है। अन्त में बादरकृष्टि के द्वारा लोभ संज्वलन को कृश करके सूक्ष्मलोभ रूप में करता है।

सूक्ष्मलोभ-गुणस्थाने, सूक्ष्मलोभं निशुम्भति।
प्राप्नोति संयमं शुद्धं, तदा तदभिधानकम् ॥२१७२॥

अर्थ - लोभ की बादरकृष्टि के अनन्तर लोभ की सूक्ष्मकृष्टि का अनुभव करने वाले मुनिराज जब सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थान का आश्रय लेते हैं तब उनको सूक्ष्मसाम्पराय नामक चारित्र की प्राप्ति होती है॥२१७२॥

क्षीणासु लोभकृष्टिसु, नष्ट-कषायो यदा यतिर्भवति।
एकत्वमवीचारं, सवितर्कं ध्यानमश्नुते स तदा ॥२१७३॥

अर्थ - जब सज्वलनलोभ की सूक्ष्मकृष्टि भी नष्ट हो जाती है तब वे यति एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान को ध्याते हैं॥२१७३॥

तेन ध्यानेन तदा स-यथाख्यातेन शेष-घातीनि।
भव-कारणानि युगपत्, प्रणिहन्ति मुनीश्वरस्तूर्णम् ॥२१७४॥

अर्थ - उस एकत्ववितर्क ध्यान तथा यथाख्यात चारित्र द्वारा वे महामुनीश्वर ससारभ्रमण के कारणभूत शेष घातिया कर्मों को एक साथ अर्थात् युगपत् नष्ट कर देते हैं॥२१७४॥

मोहनीये हते शेषं, घातिकर्म-कदम्बकम्।
तृणराज इवाशेष-सूचीबन्धे प्रणश्यति ॥२१७५॥

अर्थ - जैसे ताड़वृक्ष की मस्तक सूची अर्थात् ऊपर का शाखाभार टूट जाने पर पूरा ताड़वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे ही समस्त मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर शेष घातिया कर्मों का समूह भी नष्ट हो जाता है॥२१७५॥

तीन घातिया कर्म नष्ट होने का क्रम

सूक्ष्मलोभ-गुणस्थाने, सूक्ष्मलोभं निशुम्भति।
स निद्रा-प्रचले क्षीण-मोहस्योपान्तिमे ततः ॥२१७६॥

पञ्चज्ञानावृतीस्तत्र-चतस्रो दर्शनावृतीः।
पञ्च विघ्नानसौ हन्ति, चरमांशे चतुर्दश ॥२१७७॥

अर्थ - सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्मलोभ को नष्ट कर वे मुनिराज बारहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। इस गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों को एवं

चरमसमय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों को एक साथ नष्ट कर देते हैं ॥२१७६-२१७७॥

तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश

हुत्वैकत्ववितर्काग्नौ, घाति-कर्मेन्धनं सुधीः।
दर्शकं सर्व-भावानां, केवलज्ञानमश्नुते ॥२१७८॥

अर्थ - इस प्रकार वे महाबुद्धिशाली तपोधन एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान रूपी अग्नि मे घातिया कर्मरूपी ईंधन को भस्मसात् करके समस्त द्रव्य और उनकी अनन्तानन्त पर्यायों को जानने-देखने वाले केवलज्ञान एवं केवलदर्शन को प्राप्त कर लेते हैं ॥२१७८॥

अनन्तमप्रतीबन्धं, निःसंकोचमनिन्द्रियम्।
निःक्रमं केवलज्ञानं, निःकषायमकल्मषम् ॥२१७९॥

कर-स्थितमिवाशेषं, लोकालोकं विलोकते।
युगपत्तेन बोधेन, योगी विश्वप्रकाशिना ॥२१८०॥

अर्थ - अनन्त प्रमाण वाला होने से अथवा कभी नष्ट न होने के कारण केवलज्ञान अनन्त है, व्याघात से रहित अथवा रुकावट से रहित होने के कारण अप्रतिबन्ध है, सकोच-विस्तार रहित है, इन्द्रियाधीन न होने से अनिन्द्रिय है, क्रम रहित होने से अथवा युगपत् जानने वाला होने से निक्रम है, यह ज्ञान असहाय है अत केवल है, कषाय एव पापो से रहित होने के कारण नि·कषायमकल्मषम् है, ऐसे विश्वप्रकाशी केवलज्ञान के द्वारा सयोगी भगवान हाथ में रखे हुए पदार्थ के सदृश अशेष लोकालोक को युगपत् जानते हैं ॥२१७९-२१८०॥

अनन्तं दर्शनं, ज्ञानं, सुखं वीर्यमनश्वरम्।
जायते तरसा तस्य, चतुष्टयमखण्डितम् ॥२१८१॥

अर्थ - उन सयोग केवली अरहन्त-भगवन्तो के शीघ्र ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य ये अखडित एव अविनश्वर चतुष्टय उत्पन्न हो जाते हैं ॥२१८१॥

सयोगकेवली अरहन्तों की प्रक्रिया

ततो वेदयमानोऽसौ, शेषाघाति-चतुष्टयम्।
कुर्वाणो जनतानन्दं, भ्रमत्येष सुरार्चितः ॥२१८२॥

विवर्धमान-चारित्रो, ज्ञान-दर्शन-भूषितः।
शेष-कर्म-विघाताय, योग-रोधं करोति सः ॥२१८३॥

अर्थ - वे सयोग केवली भगवान् शेष बचे चार अघातिया कर्मों का वेदन करते हुए, चतुर्निकाय देवो द्वारा पूजित होते हुए और अपनी दिव्यध्वनि द्वारा आर्यखण्ड की जनता को आनन्द प्रदान करते हुए विहार करते हैं। तदनन्तर विवर्धमान दर्शन, ज्ञान एव चारित्र से विभूषित वे सयोगी जिन शेष कर्मों का नाश करने के लिए योगनिरोध करते हैं ॥२१८२-२१८३॥

प्रश्न - योगनिरोध मे क्या करते हैं ?

उत्तर - अघातिया कर्मों को नष्ट करने के लिए सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्यवचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग, इन सात योगों का निग्रह प्रारम्भ करते हैं अर्थात् योगनिरोध में इन योगों के व्यापार को रोकते हैं।

समुद्घात कब और क्यों करते हैं ?

आयुषा सदृशं यस्य, जायते कर्मणां त्रयम्।
स निरस्त-समुद्घातः, शैलेश्यं प्रतिपद्यते ॥२१८४॥

अर्थ - जिन सयोगी जिन के नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म के समान ही होती है वे सयोगी जिन समुद्घात किये बिना ही शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् अठारह हजार शीलों के आधिपत्य को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् चौदहवें अयोग केवली नामक गुणस्थान में आ जाते हैं॥२१८४॥

यदायुषोऽधिकं कर्म जायते त्रितयं परम्।
समुद्घातं तदाभ्येति, तत्समीकरणाय सः ॥२१८५॥

अर्थ - किन्तु जिनकी आयुस्थिति कम होती है और नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है वे सयोगी जिन उन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिए समुद्घात क्रिया अवश्य करते हैं॥२१८५॥

यः षण्मासावशेषायुः, केवलज्ञानमश्नुते।
अवश्यं स समुद्घातं, याति शेषो विकल्प्यते ॥२१८६॥

अर्थ - अनुभूयमान मनुष्यायु छह मास शेष रहने पर जो केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे अवश्यमेव समुद्घात करते हैं। शेष सयोगकेवली समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते। उनके लिए कोई नियम नहीं है॥२१८६॥

अन्तर्मुहूर्त-शेषायुर्यदा भवति संयमी।
समुद्घातं तदा धीरो, विधत्ते कर्म-धूतये ॥२१८७॥

अर्थ - सयोग केवली की आयु स्थिति जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है तब वे धीर-वीर सयमी भगवान् कर्मों की स्थिति का ह्रास करने के लिए समुद्घात करते हैं॥२१८७॥

समुद्घात क्रिया से कर्मस्थिति का ह्रास होने का हेतु

प्रविकीर्णं यथा वस्त्रं, विशुष्यति न संवृतम्।
तथा कर्मापि बोद्धव्यं, कर्म-विध्वंस-कारिभिः ॥२१८८॥

अर्थ - कर्मों का नाश कर देने वाले जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जैसे गीला वस्त्र फैला देने पर वह जितने शीघ्र सूख जाता है, उतने शीघ्र इकट्ठा करके रखा हुआ वस्त्र नहीं सूखता, कर्मों की भी वैसी ही दशा जानना अर्थात् आत्मप्रदेश फैला देने से सम्बद्ध कर्मरज की स्थिति बिना भोगे ही घट जाती है॥२१८८॥

समुद्घाते कृते स्नेह-स्थिति-हेतुर्विनश्यति।
क्षीण-स्नेहं ततः शेषमल्पीयः स्थिति जायते॥२१८९॥

अर्थ - वहाँ स्थितिबन्ध का कारण मात्र स्नेहगुण है। समुद्घात करने पर वह स्निग्धता नष्ट हो जाती है, स्नेहगुण क्षीण होते ही तीनों कर्म अल्पस्थिति वाले हो जाते हैं॥२१८९॥

प्रश्न - कर्मों की स्थिति किस प्रकार घटती है ?

उत्तर - समुद्घात द्वारा कर्मस्थिति घटने के दो हेतु दिये गये हैं, एक दृष्टान्त है कि जैसे धोकर निचोड़ा हुआ गीला वस्त्र यदि फैला दिया जाता है तो वह शीघ्र सूख जाता है और निचोड़ कर यदि वैसे-का-वैसा रख दिया जाता है तो देर से सूखता है। यही स्थिति तीनों अघातिया कर्मों की है।

दूसरे हेतु मे कर्म परमाणुओ के बन्ध का मूल कारण उन परमाणुओं मे रहने वाला स्निग्ध गुण है। यह अभ्यन्तर कारण है अर्थात् आत्मप्रदेश फैला देने से आत्मा के साथ बँधे हुए तीनों अघातिया के कर्मपरमाणु भी उसी रूप में फैल जाते हैं जिससे उनका स्निग्धगुण क्षीण हो जाता है और कारण क्षीण होते ही कार्यरूप स्थितिबन्ध भी क्षीण हो जाता है।

केवलीसमुद्घात में आत्मप्रदेश फैलने का क्रम

दण्डं कपाटकं कृत्वा, प्रतरं लोकपूरणम्।
चतुर्भिः समयैर्योगी, तावद्भिश्च, निवर्तते॥२१९०॥

अर्थ - सयोगकेवली जिन चार समयों मे दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करके क्रमश चार ही समयों मे उन आत्मप्रदेशो को सकुचित कर लेते हैं॥२१९०॥

प्रश्न - सयोगी जिन केवली समुद्घात क्यों और किस प्रक्रिया से करते हैं ?

उत्तर - आयु की स्थिति अन्तर्मुहूर्त और शेष कर्मों की स्थिति अधिक रहने पर उन्हें आयु की स्थिति के बराबर करने के लिए सयोगी जिन केवली समुद्घात करते हैं।

वे जिनेन्द्र पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन मुद्रा मे स्थित होते हैं।

कायोत्सर्ग आसन स्थित जिनेन्द्र के आत्मप्रदेश समुद्घात के प्रथम समय मे दण्डाकार होते हैं, जो मूल शरीर के प्रमाण चौड़े और कुछ कम चौदह राजू प्रमाण लम्बे होकर लोक में ऊपर से नीचे तक फैल जाते हैं, किन्तु जो जिनेन्द्र पद्मासन विराजमान हैं उनके आत्मप्रदेश शरीर से तिगुने चौड़े होकर दण्डाकार फैलते हैं। दूसरे समय मे वे आत्मप्रदेश कपाटाकार अर्थात् जैसे किवाड़ बाहल्य अर्थात् मोटाई में कम होकर भी लम्बाई-चौड़ाई मे बड़े रहते हैं वैसे ही उन जिनेन्द्र के आत्मप्रदेश मोटाई में कम, लम्बाई कुछ कम चौदह राजू और चौड़ाई दोनों पार्श्वभागों में सात राजू रूप फैलते हैं। विशेष इतना जानना चाहिए कि पूर्वाभिमुख स्थित जिनेन्द्र के

आत्मप्रदेश दक्षिण-उत्तर सात राजू चौड़े और उत्तराभिमुख स्थित जिनेन्द्र के आत्मप्रदेश जैसे लोकाकाश की पूर्व-पश्चिम चौड़ाई सात, एक, पाँच और एक राजू प्रमाण है वैसे ही हानि-वृद्धिरूप फैलते हैं। तीसरे समय में वे आत्मप्रदेश प्रतराकार हो जाते हैं अर्थात् मोटाई में भी वातवलयों के अतिरिक्त समस्त लोक में फैल जाते हैं। इस प्रकार दण्डाकार में लम्बे, कपाटाकार में चौड़े और प्रतराकार मे मोटाई रूप से आत्मप्रदेश फैलते हैं। चतुर्थ समय में वे आत्मप्रदेश वातवलयों तक फैल कर सर्व लोक को व्याप्त कर लेते हैं जिसे लोकपूरण कहते हैं। इसके अनन्तर ही इनका संकोच होता है अत· पाँचवें समय में पुन· प्रतराकार, छठे समय में कपाटाकार सातवें समय में दण्डाकार और आठवें समय में मूलशरीर प्रमाण हो जाते हैं। इस प्रकार समुद्घात में कुल आठ समय लगते हैं।

प्रश्न - समुद्घात में कौन-कौन से योग होते हैं ?

उत्तर - समुद्घात मे दण्डाकार के समय औदारिक काययोग, दूसरे कपाटाकार समय में औदारिक मिश्रयोग, तीसरे प्रतराकार, चौथे लोकपूरण तथा सकोच करते हुए पाँचवें समय के प्रतराकार में ऐसे तीन समयों मे कार्मण काययोग होता है। सकोच रूप कपाटाकार मे औदारिक मिश्र योग और दण्डाकार मे औदारिक काययोग होता है। इस प्रकार विस्तार-सकोच दोनों दण्डाकारों के समय औदारिक काययोग, दोनों कपाटाकारों के समय औदारिक मिश्र काययोग तथा दोनों प्रतराकार और लोकपूरण के समय कार्मण काययोग होता है।

सिद्धिवधू को प्राप्त करने का उद्यम

वेद्यायुर्नाम-गोत्राणि, समानानि विधाय सः।
प्राप्तुं सिद्धिवधूं धीरो, विधत्ते योग-रोधनम्॥२१९१॥

अर्थ - इस प्रकार नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति आयुकर्म की स्थिति के बराबर करके सिद्धिवधू को प्राप्त करने के लिए वे धीर जिनेन्द्र योगों का निरोध करते हैं॥२१९१॥

प्रश्न - पूर्व में ही कहा जा चुका है कि

विवर्धमान-चारित्रो, ज्ञान-दर्शन-भूषितः।
शेषकर्म-विघाताय, योगरोधं करोति सः॥२१८३॥

अर्थात् ज्ञान-दर्शन के साथ वृद्धिंगत चारित्र वाले वे सयोगी जिन शेष कर्मों का नाश करने के लिए योगनिरोध करते हैं। उपर्युक्त श्लोक २१९१ में भी यही कहा गया है कि सिद्धिवधू की प्राप्ति के लिए वे सयोगी जिन योगनिरोध करते हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर - केवलज्ञान हो जाने के बाद सयोगी अरहन्त जिन देश-देश मे विहार करते हैं एव दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश देते हैं जिसके लिए समोसरण की रचना होती है, इत्यादि बाह्य क्रिया रूप योगों के निरोध की सूचना श्लोक २१८३ मे दी गई है। जैसे आदिनाथ भगवान ने चौदह दिन पूर्व, अजितनाथ से पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थंकरों ने एक मास पूर्व और महावीर भगवान ने दा दिन पूर्व योगनिरोध किया था। चौदहवे गुणस्थान मे प्रवेश करने हेतु जो योगनिरोध होता है उसकी सूचना उपर्युक्त श्लोक २१९१ में दी गई है, इन दोनों में यही अन्तर है।

योगनिरोध का क्रम

स्थूली मनो-वचो-योगौ, रुणद्धि स्थूल-कायतः।
सूक्ष्मेण काययोगेन, स्थूलयोगं च कायिकम्॥२१९२॥

सूक्ष्मौ मनो-वचो-योगौ, रुन्द्धे कर्मास्रवैर्जिनः।
सूक्ष्मेण काययोगेन, सेतुनेव जलास्रवम्॥२१९३॥

अर्थ - सर्वप्रथम स्थूल काययोग मे स्थित होकर वे केवली जिन बादर अर्थात् स्थूल वचनयोग और स्थूलमनोयोग को रोकते हैं, पश्चात् सूक्ष्म काययोग में स्थित होकर स्थूलकाययोग को रोकते हैं। उसी प्रकार सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचन योग को रोक कर सूक्ष्म काययोग में स्थित होते हैं। उस समय उनके ईयापथ आस्रव भी रुक जाता है, मात्र सूक्ष्म काययोग से किंचित् कर्म उस प्रकार आता है जिस प्रकार जल को बाँध देने वाले बधा मे किंचित् सा छिद्र रह जाने पर किंचित् जल आता है॥२१९२-२१९३॥

प्रश्न - योग किसे कहते हैं और एक समय मे एक जीव के कितने योग होते हैं ?

उत्तर - पुद्‌गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन और काययुक्त के कर्म और नोकर्म वर्गणाओ को ग्रहण करने की शक्ति विशेष को योग कहते हैं। योग का यह सामान्य लक्षण है। अथवा मन, वचन और काय वर्गणा के निमित्त से आत्मप्रदेशो मे जो परिस्पन्दन होता है उसे योग कहते हैं। अथवा जीवप्रदेशो का जो सकोच-विकोच अथवा परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है वह योग है। अथवा मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से आत्मप्रदेशो मे जो परिस्पन्दन होता है उसे योग कहते हैं। एक समय मे एक जीव के एक ही योग होता है।

प्रश्न - यदि आत्मप्रदेशो का परिस्पन्दन ही तीनो योगो का लक्षण है तो तीनो योग एक साथ एक ही समय मे होने चाहिए, एक समय में एक योग नहीं ?

उत्तर - जीव प्रत्येक समय मे अनेक कर्मवर्गणाओं को और नोकर्मवर्गणाओ को ग्रहण करता रहता है किन्तु उनमे जिस समय जिस वर्गणा के अवलम्बन से आत्मप्रदेश सकम्प होते हैं उस समय उसी वर्गणा के नाम वाला योग होता है। जैसे यदि मनोवर्गणा के अवलम्बन से कम्पन हुआ है तो उस समय मनोयोग ही होगा। अत एक जीव के एक समय मे एक ही योग होता है।

प्रश्न - योगनिरोध का क्या कार्य है ?

उत्तर - जीव की योगशक्ति को उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा कृश करते-करते नष्ट कर देना, यह योगनिरोध का कार्य है। सयोग केवली गुणस्थान के अन्त समय मे यह योगशक्ति पूर्णत· नष्ट हो जाती है। तब वे अयोगकेवली नाम वाले चौदहवे गुणस्थान में प्रवेश कर जाते हैं।

सूक्ष्मकाययोगी के होने वाला आस्रव एवं ध्यान

लेश्या-शरीर-योगाभ्यां, सूक्ष्माभ्यां कर्म-बन्धकः।
शुक्लं सूक्ष्मक्रियं ध्यानं, कर्तुमारभते जिनः॥२१९४॥

अर्थ - वे सयोगी जिन सूक्ष्म लेश्या के द्वारा सूक्ष्म काययोग से सातावेदनीय रूप ईर्यापथ आस्रव करके उसी कर्म प्रकृति का बन्ध करते हैं और सूक्ष्मक्रिया अप्रतिघाती शुक्ल का प्रारम्भ करते हैं॥२१९४॥

प्रश्न - सूक्ष्मक्रिया अप्रतिघाती नामक तीसरे शुक्लध्यान का प्रारम्भ करते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर - तीसरे पाये का प्रारम्भ इसलिए कहा गया है कि सूक्ष्म-काययोग में स्थित होने के पूर्व तेरहवें गुणस्थान के शेष सम्पूर्ण काल में और समुद्घात काल में भी यह शुक्लध्यान नहीं होता, इसका प्रारम्भ यहीं होता है।

सूक्ष्म काययोग का विनाशादि

सूक्ष्मक्रियेण रुद्धोऽसौ, ध्यानेन सूक्ष्म-विग्रहः।
स्थिरीभूत-प्रदेशोऽस्ति, कर्मबन्ध-विवर्जितः॥२१९५॥

अर्थ - उस सूक्ष्मक्रिया अप्रतिघाती शुक्ल ध्यान द्वारा सूक्ष्मकाययोग का निरोध कर सातावेदनीय जन्य ईर्यापथ आस्रव रूप कर्मबन्ध से भी रहित होते हुए वे अयोगी जिनेन्द्र अपने आत्मप्रदेशों मे ही स्थिर हो जाते हैं॥२१९५॥

अयोगीजिन की उदयगत कर्मप्रकृतियाँ

अयोगोऽन्यतरद्वेद्यं, नरायुर्नृ-द्वय त्रसम्।
सुभगादेय-पर्याप्तं, पञ्चाक्षोच्च-यशांसि सः॥२१९६॥

बादरं तीर्थकृत्वैतास्तीर्थकारी त्रयोदश।
न परो वेदयते साधुस्तदानीं द्वादश स्फुटम्॥२१९७॥

अर्थ - साता और असाता मे से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी (यहाँ इसका उदय नहीं रहता। इसके द्रव्य का स्तिबुक सक्रमण मनुष्यगति मे हो जाता है), त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, पचेन्द्रिय जाति, उच्चगोत्र, यश. कीर्ति, बादर और तीर्थंकर, इन तेरह कर्मप्रकृतियो का उदय-तीर्थंकरो के होता है किन्तु जो तीर्थंकर नहीं हैं, सामान्य अयोग-केवली हैं उनके नियमत बारह प्रकृतियो का ही उदय रहता है॥२१९६-२१९७॥

प्रश्न - अयोगकेवली के चरम समय में ग्यारह प्रकृतियों का उदय कैसे कहा गया है ?

उत्तर - जिन आचार्यों के मत से मनुष्यगत्यानुपूर्वी का क्षय चौदहवे गुणस्थान के द्विचरमसमय मे हो जाता है और यदि वे तीर्थंकर नहीं हैं तो उनके मात्र ग्यारह प्रकृतियों का ही उदय रहता है।

शरीर नष्ट करने का उद्यम

देह-त्रितय-बन्धस्य, ध्वंसायायोगकेवली।
समुच्छिन्न-क्रियं ध्यानं, निश्चलं प्रतिपद्यते॥२१९८॥

अर्थ - अयोगी जिन परम औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों को नष्ट करने के लिए समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती अपर नाम व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक निश्चय शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हैं॥२१९८॥

उस ध्यान के काल का प्रमाण

मात्रा-पञ्चक-कालेन, तेन ध्यानेन वर्तते।
प्रकृतीनामपक्वानां, द्वासप्ततिमसौ समम् ॥२१९९॥

अर्थ - अ इ उ ऋ लृ इन पाँच ह्रस्व मात्राओं के उच्चारण में जितना काल लगता है उतना ही काल इस चतुर्थ शुक्ल ध्यान का एव उतना ही काल चौदहवें गुणस्थान का है। इतने अल्पकाल वाले ध्यान के द्वारा ही वे अयोगी जिन उस गुणस्थान के उपान्त्य अर्थात् द्वि-चरम समय में अपक्व रूप अर्थात् अनुदय रूप बहत्तर प्रकृतियो का बिना उदीरणा किये युगपत् क्षय कर देते हैं॥२१९९॥

बहत्तर प्रकृतियों के नाम

शरीरं पञ्चधा तत्र, पञ्चधा देह-बन्धनम्।
संघात: पञ्चधा षोढा, संस्थानममर-द्वयम् ॥२२००॥

अङ्गोपाङ्ग-त्रिसंख्यानं, षोढा संहनन-क्षणे।
पञ्च वर्णा रसा: पञ्च गन्ध-स्पर्शा द्विधाष्टधा ॥२२०१॥

क्षीयते गुरुलघ्वादि-चतुष्कं द्वे नभो-गती।
शुभ-द्वयं स्थिर-द्वन्द्वं, प्रत्येकं सुस्वर-द्वयम् ॥२२०२॥

अनादेयायशो निर्माणे, चापूर्णानि दुर्भगम्।
वेद्यमन्यतरत्तस्य, द्वासप्ततिरुपान्तिमे ॥२२०३॥

अर्थ - औदारिक आदि पाँच शरीर, औदारिक बन्धन आदि पाँच बन्धन, औदारिक शरीर सघात आदि पाँच सघात, समचतुरस्र आदि छह सस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर-अगोपाग, वैक्रियक शरीर अगोपाग, आहारक शरीर अगोपाग ये तीन, वज्रवृषभनाराच आदि छह सहनन, शुक्ल-कृष्णादि पाँच वर्ण, मधुर आदि पाँच रस, सुगन्ध, दुर्गन्ध, स्निग्ध, रुक्ष आदि आठ स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात और उच्छ्वास यह चतुष्क, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, सुस्वर, दुस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति, निर्माण, अपर्याप्त, दुर्भग, साता-असाता मे से कोई एक वेदनीय और नीच गोत्र, इन बहत्तर प्रकृतियो का उपान्त्य समय मे क्षय करते हैं॥२२०० से २२०३ तक॥

चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में नष्ट होने वाली प्रकृतियाँ

अन्तिमे समये हत्वा, प्रकृती: स त्रयोदश।
वन्द्यमान: सदाऽयोग:, प्रयाति पदमव्ययम् ॥२२०४॥

अर्थ - अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियो को नष्ट करके सबके द्वारा वदनीय ऐसे वे अयोगी जिन मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं॥२२०४॥

प्रश्न - अन्तिम समय में नष्ट होने वाली तेरह प्रकृतियाँ कौन-कौनसी हैं ?

उत्तर - पूर्व में श्लोक २११६-२११७ में कथित ही तेरह प्रकृतियाँ हैं। यथा-साता-असाता में से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्य गति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, पंचेन्द्रिय जाति, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, बादर और तीर्थंकर ये तेरह प्रकृतियाँ है।

प्रश्न - मनुष्यगत्यानुपूर्वी का उदय तो विग्रह गति में आता है और चौदहवें गुणस्थान के चरम समय में उदयगत-प्रकृतियाँ ही नष्ट होती हैं तब मनुष्यगत्यानुपूर्वी का यहाँ नष्ट होना अर्थात् तेरह प्रकृतियों का यहाँ नष्ट होना कैसे सम्भव है?

उत्तर - मनुष्यगत्यानुपूर्वी का उदय मात्र विग्रहगति मे ही होता है यह सत्य है, किन्तु मनुष्यगत्यानुपूर्वी प्रकृति का बन्ध मनुष्यगति के साथ ही होता है, क्योंकि बन्ध की अपेक्षा इन दोनों प्रकृतियों मे अविनाभावी सम्बन्ध है। इन आचार्यदेव की दृष्टि बन्ध के इस अविनाभावी सम्बन्ध पर रही है अत. इन्होने चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय मे बहत्तर का और चरम समय में उपर्युक्त तेरह प्रकृतियों का नाश स्वीकार किया है।

प्रश्न - कुछ आचार्यों ने चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय में तिहत्तर और चरम समय में बारह प्रकृतियो का नाश होना स्वीकार किया है, इसमे क्या कारण है ?

उत्तर - सयोग केवली भगवान् के पिच्यासी प्रकृतियों की सत्ता रहती है जो अयोगकेवली अर्थात् चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय तक यथावत् पाई जाती है। इनमें से मनुष्यगत्यानुपूर्वी प्रकृति सहित अनुदय रूप तिहत्तर प्रकृतियो का क्षय चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम मे और उदयरूप बारह प्रकृतियो का क्षय चरम समय में स्वीकार किया है, इसका कारण यह है कि चौदहवें गुणस्थान मे मनुष्यगति प्रकृति का स्वमुख उदय रहता है और मनुष्यगत्यानुपूर्वी का परमुख उदय रहता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्यगत्यानुपूर्वी प्रकृति का द्रव्य चौदहवे गुणस्थान के चरम समय मे सत्ता में नहीं रहता। इस बात पर दृष्टि रखने वाले आचार्यों ने मनुष्यगत्यानुपूर्वी का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय मे स्वीकार कर तिहत्तर प्रकृतियों का क्षय होना कहा है। इस प्रकार इस विषय मे दृष्टिभेद से दो मत हैं।

प्रश्न - परमुख-उदय का क्या भाव है ?

उत्तर - परमुख-उदय का भाव है स्तिबुक सक्रमण अर्थात् अनुदयरूप सक्रमण द्वारा सक्रमित हो जाना। मनुष्यगत्यानुपूर्वी प्रकृति चौदहवे गुणस्थान मे अनुदय रूप प्रकृति है अत इसका द्रव्य उदयरूप मनुष्यगति प्रकृति मे स्तिबुक सक्रमण द्वारा सक्रमित हो सत्ता से समाप्त हो जाता है अत: यहाँ तिहत्तर का और चरमसमय में बारह प्रकृतियों का क्षय कहा गया है।

नामकर्म-क्षयात्तस्य, तेजो-बन्धः प्रलीयते।
औदारिक-वपुर्बन्धो, न सत्यायुः क्षये सति ॥२२०५॥

एरण्डबीजवज्जीवो, बन्ध-व्यपगमे सति।
ऊर्ध्वं याति निसर्गेण, शिखेव विषमार्च्चिषः ॥२२०६॥

अर्थ - उनके नामकर्म का क्षय हो जाने से तैजस शरीर बन्धन का क्षय हो जाता है और आयु कर्म का क्षय हो जाने से औदारिक शरीर बन्धन का भी क्षय हो जाता है। इस प्रकार जैसे बन्धनमुक्त एरण्ड का बीज

और पवन आदि के झकोरे से रहित अग्नि की ज्वाला स्वभावत. ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही बन्धनमुक्त जीव ऊर्ध्वगमन ही करता है॥२२०५-२२०६॥

आवेशेनाशुगमिव, सम्पूर्णेन नियोजितः।
अलाबुरिव निर्लेपो, गत्वा मोक्षेऽवतिष्ठते॥२२०७॥

अर्थ - अथवा जैसे पूर्वके आवेग से नियोजित आशुगामी अर्थात् कुम्हार का चक्र गमन करता है अथवा मिट्टी के लेप से रहित तूम्बी जल के ऊपर आती है, वैसे ही कर्मलेप से रहित जीव स्वभावत: ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष में अवस्थित हो जाता है॥२२०७॥

ध्यान-प्रयुक्तो यात्यूर्ध्वमात्मावेगेन पूरितः।
तथा प्रयत्न-मुक्तोऽपि, स्थातुकामो न तिष्ठति॥२२०८॥

अर्थ - जैसे वेग से पूरित होकर दौड़ने वाला पुरुष ठहरने की इच्छा करते हुए भी ठहर नहीं पाता, वैसे ही ध्यान प्रयोग के आवेग से पूरित आत्मा प्रयत्न के बिना ही ऊपर की ओर जाता है॥२२०८॥

यथानल-शिखा नित्यमूर्ध्वं याति स्वभावतः।
तथोर्ध्वं याति जीवोऽपि, कर्म-मुक्तो निसर्गतः॥२२०९॥

अर्थ - जैसे अग्नि की ज्वाला स्वभावत ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही कर्मों से मुक्त आत्मा स्वभावत ऊर्ध्वगमन ही करता है॥२२०९॥

यात्यविग्रहया गत्या, निर्व्याघातः शिवास्पदम्।
एकेन समयेनासौ, न मुक्तोऽन्यत्र तिष्ठति॥२२१०॥

अर्थ - कर्मो का क्षय होते ही वह मुक्त जीव अन्यत्र कहीं नहीं ठहरता, अपितु मोड़े रहित गति से बिना किसी विघ्न बाधा के एक ही समय मे मोक्षस्थान में जाकर विराजमान हो जाता है॥२२१०।

विच्छिद्य ध्यान-शस्त्रेण, देह-त्रितय-बन्धनम्।
सर्व-द्वन्द्व-विनिर्मुक्तो, लोकाग्रमधिरोहति॥२२११॥

अर्थ - इस प्रकार ध्यानरूप तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा औदारिक, तैजस एव कार्माण शरीरो के बन्धनों को छेद कर सर्वद्वन्द्व अर्थात् सर्व विभाव भावों से रहित होते हुए वे भगवान् लोकाग्र मे आरोहण कर जाते हैं॥२२११॥

ईषत्प्राग्भार-संज्ञायां, धरित्र्यामुपरि स्थिताः।
त्रैलोक्याग्रेऽवतिष्ठन्ति, ते किञ्चिन्न्यून-योजने॥२२१२॥

अर्थ - सर्वार्थसिद्धि विमान से ऊपर ईषत्प्राग्भार नाम की एक पृथिवी है, उस पृथिवी से कुछ कम एक योजन ऊपर जाकर वे भगवान् तीन लोक के अग्रभाग पर अवस्थित हो जाते हैं॥२२१२॥

प्रश्न - ईषत्प्राग्भार पृथिवी का क्या स्वरूप है और इस पृथिवी से कुछ कम एक योजन ऊपर जाकर वे भगवान् अवस्थित हो जाते हैं, ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर - सर्वार्थसिद्धि नामक अन्तिम स्वर्ग विमान के ध्वजदण्ड से बारह योजन ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी है। इसका ईषत्प्राग्भार नाम है, इसका मध्य बाहल्य अर्थात् मोटाई आठ योजन प्रमाण है, आगे दोनों ओर क्रमश: हीन होता गया है, जो अन्त में अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण अतिसूक्ष्म रहकर दोनों छोरो से उपरिम वातवलयों से स्पर्शित है। इस प्रकार यह पृथिवी ऊपर को उठे हुए विशाल और गोल छत्र के आकार को धारण करने वाली तथा चन्द्राभा सदृश उज्ज्वल है। इसका विस्तार अढ़ाईद्वीप के विस्तार प्रमाण अर्थात् पैंतालीस लाख योजन है। इसके ऊपर तीन वातवलय हैं, उन तीनो में प्रथम घनोदधिवातवलय की मोटाई दो कोस, दूसरे घनवातवलय की एक कोस और तीसरे तनुवातवलय की मोटाई कुछ (४२५ धनुष) कम एक कोस अर्थात् एक हजार पाँच सौ पिचहत्तर धनुष है। सिद्धशिला, मोक्षशिला एवं सिद्धालय आदि इसके अनेक नाम हैं। इस कुछ कम एक कोस विस्तार वाले तनुवातवलय के मात्र पाँच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग मे सिद्ध भगवान् विराजमान हैं अत· कहा गया है कि मोक्षशिला से कुछ कम एक योजन ऊपर जाकर सिद्ध भगवान बिराजते हैं।

*

सिद्ध भगवान् का इससे आगे न जाने का कारण

न धर्माभावत: सिद्धा, गच्छन्ति परतस्तत:।
धर्मो हि सर्वदा कर्ता, जीव-पुद्गलयोर्गते: ॥२२१३॥

अर्थ - लोकाग्र के आगे धर्मद्रव्य का अभाव है अत सिद्ध प्रभु आगे नहीं जाते, क्योंकि गमन करते जीव और पुद्गल के गमन मे धर्मद्रव्य ही सहायक होता है॥२२१३॥

निष्ठिताशेष-कृत्यानां, गमनागमनादय:।
व्यापारा जातु जायन्ते, सिद्धानां न सुखात्मनाम् ॥२२१४॥

अर्थ - सम्पूर्ण कार्यों के कर चुकने के कारण निष्ठितकृत्य एव अनन्त सुख का अनुभव करने वाले सिद्ध भगवान् के गमनागमन आदि की क्रियाएँ कभी भी नहीं होती हैं॥२२१४॥

कर्मभि: क्रियते पातो, जीवानां भव-सागरे।
तेषामभावतस्तेषां, पातो जातु न विद्यते ॥२२१५॥

अर्थ - ससार-सागर में कर्मों के निमित्त से ही जीवो का पतन होता है, सिद्ध जीवो के इन कर्मों का अभाव हो चुका है, अत वे कभी ससार मे लौट कर नहीं आते॥२२१५॥

क्षुधा-तृष्णादयस्तेषां, न कर्माभावतो यत:।
आहाराद्यैस्ततो नार्थस्तत्प्रतीकार-कारिभि: ॥२२१६॥

अर्थ - उन सिद्ध जीवो के जिस कारण से कर्मों का अभाव है उसी कारण से उनके भूख, प्यास एव रोग आदि की वेदनाएँ नहीं होतीं और उन वेदनाओ के अभाव मे वेदना का प्रतिकार करने वाले आहार, जल एव औषधि आदि से भी उन्हे कोई प्रयोजन नहीं होता॥२२१६॥

सिद्धों के सुख का प्रमाण

यत्सर्वेषां ससौख्यानां, भुवनत्रय-वर्तिनाम्।
ततोऽनन्तगुणं तेषां, सुखमस्त्यविनश्वरम्॥२२१७॥

अर्थ - उन सिद्धों को अनन्त और शाश्वत सुख प्राप्त है। उनका यह सुख त्रिकालवर्ती तीनों लोकों के इन्द्र, चक्रवर्ती आदि सभी सुखी जीवों के सम्पूर्ण सुख से अनन्तगुणा है॥२२१७॥

सिद्धों का आकार आदि

अन्त्य-विग्रह-संस्थान-सदृशाकृतयः स्थिराः।
सुख-दुःख विनिर्मुक्ता, भाविनं कालमासते॥२२१८॥

अर्थ - अन्तिम शरीर के सस्थान के सदृश आकार वाले वे सिद्ध परमेष्ठी उस आकार से विचलित न होने के कारण स्थिर हैं एव सासारिक सम्पूर्ण सुख-दु खो से निर्मुक्त हैं। वे अनन्त स्वरूप भविष्य काल पर्यन्त इसी प्रकार अर्थात् उनके आत्मप्रदेश घनात्मक आकार स्वरूप ही रहेगे॥२२१८॥

तेषां कर्म-व्यपायेन, प्राणाः सन्ति दशापि नो।
न योगाभावतो जातु, विद्यते स्पन्दनादिकम्॥२२१९॥

अर्थ - कर्मों का अभाव हो जाने से सिद्ध जीवों के दस प्रकार के प्राण भी नहीं हैं और तीनो योगो का अभाव हो जाने से उनके कभी स्पन्दन अर्थात् हलन-चलन भी नहीं होता॥२२१९॥

न कर्माभावतो भूयो, विद्यते विग्रहग्रहः।
शरीरं श्रयते जीवः, कर्मणा कलुषी-कृतः॥२२२०॥

अर्थ - कर्मों का अभाव हो जाने से सिद्ध जीव पुन शरीर ग्रहण नहीं करते, क्योकि कर्मों से कलुषित जीव ही कर्मकृत शरीर धारण करते हैं। बिना कर्मनिमित्त के शरीर-ग्रहण नहीं होता॥२२२०॥

सिद्धालय में ठहरे रहने का निमित्त

अधर्म-वशतः सिद्धास्तत्र तिष्ठन्ति निश्चलाः।
सर्वदाप्युपकर्तासौ, जीव-पुद्गलयोः स्थितेः॥२२२१॥

अर्थ - सिद्ध जीव अधर्म द्रव्य की वशवर्तिता अर्थात् निमित्त से ही सिद्धालय में सदा काल निश्चल अवस्थित रहते हैं, क्योकि ठहरते हुए जीव और पुद्गलो की स्थिति का उपकारक अधर्म द्रव्य ही माना गया है अर्थात् जैसे जीव का स्वभाव चैतन्य है, वैसे स्थिति जीव का स्वभाव नहीं है। इसी कारण श्लोक में ''अधर्मवशत '' पद दिया गया है॥२२२१॥

लोक-मूर्धनि तिष्ठन्ति, काल-त्रितय-वर्तिनम्।
जानाना वीक्षमाणास्ते, द्रव्य-पर्याय-विस्तरम्॥२२२२॥

अर्थ - तीनो काल मे होने वाले समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों के विस्तार को जानते और देखते हुए वे सिद्ध परमेष्ठी सदाकाल लोक के मस्तक पर अवस्थित रहते हैं॥२२२२॥

युगपत्केवलालोको, लोकं भासयतेऽखिलम्।
घनावरण-निर्मुक्तः, स्व-गोचरमिवांशुमान्॥२२२३॥

अर्थ - जैसे मेघावरण से रहित सूर्य अपने प्रकाश में जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युगपत् प्रकाशित करता है, वैसे ही सिद्ध परमेष्ठी का केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप प्रकाश समस्त लोकालोक को युगपत् जानते-देखते हैं॥२२२३॥

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-विवर्जिताः।
ते नमस्यास्त्रिलोकस्य, धुन्वते कल्मषं स्मृताः॥२२२४॥

अर्थ - राग, द्वेष, अहकार, क्रोध, लोभ एव मोहादि दोषों से रहित वे सिद्ध परमेष्ठी त्रिकालवर्ती महापुरुषों के द्वारा नमस्करणीय हैं एव जीवो के द्वारा स्मृत होने पर उनके पाप नष्ट करने वाले हैं॥२२२४॥

जन्म-मृत्यु-जरा-रोग-शोकान्तकादि-व्याधयः।
विध्याता सकलास्तेषां, निर्वाण-शर-वारिभिः॥२२२५॥

अर्थ - उन सिद्ध प्रभु की जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक एव पीड़ा आदि सर्व व्याधियाँ निर्वाणरूपी बाण की जलधाराओ से शान्त हो चुकी हैं॥२२२५॥

सिद्धों के सुखों का कथन

शारीरं मानसं सौख्यं, विद्यते यज्जगत्त्रये।
तद्योगाभावतस्तेषां, न मनागपि जायते॥२२२६॥

अर्थ - तीन लोक मे जितना भी शारीरिक एवं मानसिक सुख है, उस सुख का किंचित् अश भी सिद्ध जीवो को नहीं होता, क्योकि उनके मनयोग, वचनयोग एव काययोग का अभाव हो चुका है, अत उन्हें अनन्त, स्वाभाविक, शाश्वत और आत्मोत्थ सुख ही होता है॥२२२६॥

जानतां पश्यतां तेषां, विबाधा-रहितात्मनाम्।
सुखं वर्णयितुं केन, शक्यते हत-कर्मणाम्॥२२२७॥

अर्थ - लोकालोक को जानने-देखने वाले, ससार की सम्पूर्ण बाधाओ से रहित एव समस्त कर्मों को नष्ट कर देने वाले सिद्ध परमेष्ठियो के शाश्वत सुख का वर्णन कौन कर सकता है? अपितु कोई नहीं कर सकता॥२२२७॥

भोगिनो मानवा देवा, यत्सुखं भुञ्जतेऽखिलम्।
तन्नैषामात्मनीनस्य, सुखस्यांशोऽपि विद्यते॥२२२८॥

अर्थ - भोगभूमिज जीव, मनुष्यों में चक्रवर्ती तथा देवो मे देवेन्द्र और अहमिन्द्रादि अखिल इन्द्रियज सुख भोगते हैं वह सुख सिद्धों के आत्मोत्थ-स्वाधीन सुख का अंश मात्र भी नहीं है॥२२२८॥

रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्दैर्यत्सेवितैःसुखम्।
तदैतदीय-सौख्यस्य, नानन्तांशोऽपि जायते॥२२२९॥

अर्थ - देवेन्द्र एव चक्रवर्ती आदि रूप, गन्ध, रस, स्पर्श एवं शब्दों का इन्द्रियों द्वारा उत्तम विषयों का सेवन कर जो प्राप्त करते हैं, वह सुख सिद्धों के आत्मोत्थ शाश्वत सुख का अनन्तवाँभाग भी नहीं होता है॥२२२९॥

काल-त्रितय-भावीनि, यानि सौख्यानि विष्टपे।
सिद्धैक-क्षण-सौख्यस्य तानि यान्ति न तुल्यताम्॥२२३०॥

राग-हेतु पराधीनं, सर्वं वैषयिकं सुखम्।
स्वाधीनेन विरागेण, सिद्ध-सौख्येन नो समम्॥२२३१॥

अर्थ - सब तिर्यंचो, मनुष्यों एवं देवो को तीनों कालों मे जो-जितना भी सुख इस जगत् मे है वह सब सुख सिद्धो के एक क्षण के सुख तुल्य भी नहीं है, क्योंकि संसारी जीवों का सुख राग का कारण है, पराधीन है और पचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होने वाला है, वह स्वाधीन एव विरागसम्पन्न सिद्ध प्रभु के सुख के साथ कदापि समानता को प्राप्त नहीं हो सकता॥२२३०-२२३१॥

अनिन्द्रियसुख का लक्षण

अक्षयं निर्मलं स्वस्थं, जन्म-मृत्यु-जरातिगम्।
सिद्धानां स्थावरं सौख्यमात्मनीनं जनार्चितम्॥२२३२॥

अर्थ - सिद्धो का सुख कभी नष्ट नहीं होता अत· अक्षय है, भाव कर्मरूपी मल का अभाव हो जाने से निर्मल है, जन्म, मृत्यु और जरारूपी रोगों का अभाव हो जाने से स्वस्थ अर्थात् आरोग्य है, शाश्वत है, आत्मा से ही समुत्पन्न है और सर्व ससारी प्राणियो द्वारा अर्चित है॥२२३२॥

सिद्ध परमेष्ठी के गुण आदि

कर्माष्टक-विनाशेन, ते गुणाष्टक-वेष्टिताः।
सन्तिष्ठन्ते स्थिरीभूताः भुवनत्रय-वन्दिताः॥२२३३॥

अर्थ - अष्ट कर्म नष्ट हो जाने से सिद्ध परमेष्ठी अष्ट गुण युक्त हैं, उनके सर्व आत्मप्रदेश अचल एव स्थिर अर्थात् हलन-चलन से रहित होने के कारण स्थिरीभूत हैं और तीन लोक के जीवो द्वारा सदैव वन्दित हैं॥२२३३॥

प्रश्न - सिद्ध परमेष्ठी के आठ गुण कौन-कौनसे हैं और किन कर्मों के अभाव से प्रगट हुए हैं?

उत्तर - सिद्ध परमेष्ठी का ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो जाने से केवलज्ञान या अनन्तज्ञानगुण, दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जाने से केवलदर्शन या अनन्त दर्शन गुण, वेदनीय कर्म के अभाव से अव्याबाध गुण, मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से सम्यक्त्व गुण, आयु कर्म नष्ट हो जाने से अवगाहनत्व गुण, नामकर्म नष्ट हो जाने से सूक्ष्मत्वगुण, गोत्र कर्म नष्ट हो जाने से अगुरुलघुगुण और अन्तराय कर्म नष्ट हो जाने से अनन्त-वीर्यगुण प्रकट हो जाते हैं अत वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाधत्व, सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व और अनन्त वीर्य, इन आठ गुणों से युक्त होते हैं।

संसारार्णवमुत्तीर्णा, दुःख-नक्र-कुलाकुलम्।
ये सिद्धि-सौधमापन्नास्ते सन्तु मम सिद्धये ॥२२३४॥

अर्थ - मानसिक एव शारीरिक अनेक प्रकार के दुख रूपी मगरमच्छों के समूह से व्याप्त ऐसे संसार रूपी समुद्र को पार कर जो सिद्धि रूपी प्रासाद को प्राप्त कर चुके हैं, वे सिद्ध भगवन्त मुझे सिद्धि प्रदान करें॥२२३४॥

इस प्रकार सिद्ध परमेष्ठियों का वर्णन पूर्ण हुआ।

पण्डितपण्डितमरण के कथन का उपसंहार

भवति पण्डित-पण्डित-मृत्युना, सपदि सिद्धि-वधूर्वशवर्तिनी।
विमल-सौख्य-विधान-पटीयसी, सुभगतेव गुणेन निरेनसा ॥२२३५॥

इति पण्डितपण्डितम्।

अर्थ - जैसे निर्दोष गुणों द्वारा सुभगता अर्थात् सर्वजनप्रियता प्राप्त होती है वैसे ही इस परमश्रेष्ठ पण्डित पण्डित मरण द्वारा विमल सुख उत्पन्न करने मे निपुण ऐसी सिद्धि रूपी वधू वशीभूत हो जाती है॥२२३५॥

इस प्रकार पण्डित-पण्डित-मरण का वर्णन पूर्ण हुआ।

आराधनाओं का फल

आराधना जन्मवतश्चतुर्धा, निषेव्यमाणा प्रथमे प्रकृष्टा।
भवे तृतीये विदधाति मध्या, सिद्धिं जघन्या खलु सप्तमे सा ॥२२३६॥

अर्थ - जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र एव सम्यक् तपरूप चार आराधनाओ का उत्कृष्ट रूप से सेवन करते हैं, वे उसी भव से मुक्त हो जाते हैं। जो मध्यम रूप से सेवन करते हैं वे तृतीयभव मे और जो जघन्य रूप से उक्त आराधनाओ का सेवन करते हैं, वे सातवें भव मे मुक्त हो जाते हैं॥२२३६॥

ग्रन्थकर्ता आचार्य अमितगति जी आराधनाओं का कथन करने वाले इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हुए ग्रन्थरचना के फल की याचना करते हैं

आराधनैषा कथिता समासतो, ददातु सिद्धिं मम मन्दमेधसः।
अबुध्यमानैरखिलं जिनागमं, न शक्यते विस्तरतो हि भाषितुम् ॥२२३७॥

अर्थ - सम्पूर्ण जिनागम के ज्ञाता महान् आचार्य भी इन आराधनाओ का सविस्तार वर्णन करने मे समर्थ नहीं हैं तब मुझ जैसे मन्दबुद्धि वाले सविस्तार वर्णन कैसे कर सकते हैं? अतः मेरे द्वारा यह आराधना सक्षेप से कही गई है। यह सक्षेप मे किया गया ही मेरा कथन मुझ मन्दबुद्धि को मोक्ष प्रदान करे॥२२३७॥

ग्रन्थकार द्वारा लघुता विज्ञापन

विशोध्य सिद्धान्त-विरोधि-बद्धं, ग्राह्या श्रुतज्ञैः शिवकारिणीयम्।
पलालमत्यस्य न किं पवित्रं, गृह्णाति सस्यं जनतोपकारि ॥२२३८॥

अर्थ - अल्पश्रुतज्ञानी होने के कारण यदि कुछ सिद्धान्तविरुद्ध लिखा गया हो तो उसे आगम-विज्ञ

सज्जन इस कल्याणकारी एव मुक्तिप्रदायिनी आराधना की विवेचना को शुद्ध करके ही ग्रहण करें अर्थात् पढ़ें, पढ़ावें या सुनें, सुनावे। ठीक है, जगत् में चतुर मनुष्य क्या पलाल का त्याग कर उपकारी और पवित्र धान्य ग्रहण नहीं करते ? अपितु करते ही हैं॥२२३८॥

आराधना देवी का स्तव

आराधना भगवती कथिता स्वशक्त्या, चिन्तामणिर्वितरितुं बुधचिन्तितानि।
अह्नाय जन्मजलधिं तरितुं तरण्डं, भव्यात्मनां गुणवती ददतां समाधिम्॥२२३९॥

अर्थ - इस भगवती आराधना को मैंने अपनी शक्त्यनुसार कहा है। यह आराधना मुनिजनों को चिंतित वस्तु-मोक्ष देने के लिए चिन्तामणि सदृश है और जन्मरूपी समुद्र को शीघ्र ही पार करने के लिए नौका सदृश है। यह गुणवती आराधना भव्य जीवो को समाधि प्रदान करें॥२२३९॥

करोति वशवर्तिनीस्त्रिदश-पूजिताः सम्पदो।
निवेशयति शाश्वते, यतिमते पदे पावने॥
अनेक भव-सञ्चितं हरति कल्मषं जन्मिनाम्।
विदग्ध-मुख-मण्डनी, सपदि सेविताराधना॥२२४०॥

मरणकण्डिका समाप्ता।

अर्थ - यह आराधना विद्वद्जनों के मुख-मडन को अलकार सदृश है, भव्य जीवों द्वारा सेवित है, देवो द्वारा पूजित है, मुक्ति रूपी सम्पदा को वश करने वाली है, शाश्वत एव पवित्र जैनमत मे प्रवेश कराती है और जीवो के अनेक भवों मे सचित किये हुए पापो का नाश करती है॥२२४०॥

इस प्रकार यह मरणकण्डिका ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

आचार्य अमितगति विरचित सस्कृत पद्यमय इस ग्रन्थ का प्रश्नोत्तर सहित भाषानुवाद स २०५८ वैशाख कृष्णा प्रतिपदा सोमवार दि ९/४/२००१ को प्रात काल समाप्त हुआ। मेरे लेखन मे यदि सिद्धान्त विरुद्ध कुछ भी स्खलन हुआ हो तो गुरुजन एव विद्वज्जन सशोधन कर ही ग्रहण करें।

मुमुक्षु भव्य जीवो के आराधना सम्बन्धी अज्ञान अधकार को दूर करता हुआ यह ग्रन्थ भूमण्डल पर चिरकाल तक स्थायी रहे।

॥ जैनं जयति शासनम्॥ ॥ ॐ शान्तिः॥ ॥ **भद्रं भूयात्॥**

卐 卐 卐

ꖦ आराधना-स्तवन ꖦ

बन्धुः स्वर्गापवर्ग-प्रभव-सुखफल-प्रापणे कर्मवल्ली।
नाना-बाधा-विधायि-प्रचित-कलिमल-क्षालने-जह्नुकन्या ॥
रागद्वेषादि-भावि-व्यसन-घनवनच्छेदने छेदनी या।
सारामाराधनासौ, वितरतु तरसा शाश्वतीं वो विभूतिम् ॥१॥

अर्थ - यह आराधना स्वर्ग एव मोक्ष में उत्पन्न उत्तम सुखरूप फल प्राप्त कराने के लिए बधुजन सदृश है, अनेक प्रकार की विघ्न बाधाओं को उत्पन्न करने वाले पापरूपी कीचड़ को धोने के लिए गगा नदी के सदृश है, तथा रागद्वेषादि से उत्पन्न हुए सकट रूप सघन वन को काटने के लिए कुल्हाड़ी सदृश है, ऐसी यह रमणीक आराधना, आप लोगों को शीघ्र ही शाश्वत विभूति प्रदान करे॥१॥

यामासाद्याव-नम्र-त्रिदशपति-शिरो-घृष्ट-पादारविन्दाः।
सद्यः कुन्दावदात-स्थिर-परमयशःशोधिताशेषदिक्काः॥
जायन्ते जन्तवोऽमी जन-जनित-मुदः केवलज्ञान-भाजो।
भूयादाराधना सा भव-भय-मथनी भूयसे श्रेयसे वः॥२॥

अर्थ - जिस आराधना को धारण करके ये ससारी भव्य प्राणी देवो के नम्रीभूत मस्तक द्वारा स्पर्शित हैं चरण-कमल जिनके ऐसे अर्थात् देवों द्वारा वन्दनीय हो जाते हैं, जो कुन्द पुष्प के सदृश उज्ज्वल है, स्थिर है और समस्त दिशाओ को शुद्ध करने वाला है ऐसे परम यश के स्वामी हो जाते हैं, लोगो को आनन्द उत्पन्न करने वाले एव केवलज्ञान को भी प्राप्त करने वाले हो जाते हैं, ऐसी ससार के भय को नष्ट करने वाली यह आराधना तुम सब के विशाल कल्याण के लिए हो॥२॥

यामाराध्याशु गन्ता शकलित-विपदः पञ्चकल्याण-लक्ष्मीम्।
प्राप्यां पुण्यैरपापां त्रिभुवनपतिभिर्निर्मितां भक्तिमद्भिः॥
सम्यक्त्व-ज्ञान-दृष्टि-प्रमुख-गुणमणि-भ्राजितां यान्ति मुक्तिं।
सा वन्द्या हृद्य-विद्यैर्विलसतु हृदये सर्वदाराधना वः॥३॥

अर्थ - ससारी भव्य प्राणी जिसकी आराधना करके विपत्तियो को नष्ट कर पचकल्याणक रूप लक्ष्मी शीघ्रता से प्राप्त कर चुके हैं, भक्तिमान एव पुण्यशाली ऐसे त्रैलोक्याधिपति देवेन्द्रों और नरेन्द्रो द्वारा जो प्राप्त करने योग्य है, श्रेष्ठ विद्याओं से युक्त महापुरुषों द्वारा जो वन्दनीय है और जिसके प्रसाद से भव्य जीव निर्दोष सम्यक्त्व, ज्ञान एव दर्शन आदि प्रमुख गुण रूपी मणियों से अलकृत ऐसी मुक्ति को भी प्राप्त कर लेते हैं, वह उत्तमोत्तम आराधना आप लोगो के हृदय में सदा शोभायमान हो॥३॥

या सौभाग्यं विधत्ते, भवति भव-भिदे भक्तितः सेव्यमाना।
या छिन्ते मोह-दैत्यं, भुवन-भवभृतां साध्वसं ध्वंसयन्ती॥
यां वानासाद्य देही, भ्रमति भव-वने भूरि-भावाद्रिरौद्रे।
सा भद्राराधना वो भवतु भगवती वैभवोद्भावनाय॥४॥

अर्थ - जो सौभाग्य प्रदान करती है, भक्तिपूर्वक सेवित किये जाने पर संसार का छेद कर देती है, मोहरूपी दैत्य को पछाड़ देती है, ससारी जीवों के भय को नष्ट कर देती है और जिसे प्राप्त न कर सकने से यह जीव अद्यावधि विकार भावरूप भयानक पर्वतों से युक्त इस संसाररूपी वन में अद्यावधि भ्रमण कर रहा है ऐसी वह महाकल्याणकारी भगवती आराधना आपके अनेक वैभव उत्पन्न करने वाली हो॥४॥

या काम-क्रोध-लोभ-प्रभृति-बहुविध-ग्राह-नक्रावकीर्णा।
संसारापार-सिन्धोर्भव-मरण-जरावर्त-गर्तादुपेत्य ॥
गच्छत्युत्तीर्य सिद्धिं सपदि भव-भृत: शाश्वतानन्त-सौख्यम्।
भव्यैराराधनानौर्गुणगण-कलिता नित्यमारुह्यतां सा॥५॥

अर्थ - यह संसार रूप अपार समुद्र काम, क्रोध तथा लोभ आदि बहुत प्रकार के ग्राह और नक्ररूप क्रूर जलचर जन्तुओं से व्याप्त है एव इसमें जन्म, मरण तथा जरारूप आवर्तों के गर्त हैं, संसारी जीव अनादि काल से इन गर्तों में गिरे पड़े हैं, इन गर्तों से निकालने का सामर्थ्य मात्र आराधना रूप नौका मे है, यह नौका गुणसमूह से भरी हुई है और भव्य जीवों को शीघ्र ही इन दुखमय गर्तों से निकाल कर शाश्वत-आनन्द तथा सुख रूप सिद्धि प्राप्त करा देती है अत· ऐसी नौका पर भव्य जीव नित्य ही आरोहण करें। अर्थात् इस उत्तम आराधना को धारण करें॥५॥

या मैत्री ख्याति-कान्ति-द्युति-मति-सुगति-श्री-विनीत्यादि-कान्ताम्।
संयोज्योपार्जनीयामवहित-मतिभिर्मुक्तिकान्तां युनक्ति॥
मुक्ताहाराभिरामा मम मद-शमनी सम्यगाराधनाली।
भूयान्नेदीयसी सा विमलित-मनसां साधयन्तीप्सितानि॥६॥

अर्थ - यह भगवती आराधना, सेवा करने वाले अपने भव्य सेवक जनों का मैत्री, यश, कान्ति, शोभा, सुबुद्धि, सुगति, सम्पत्ति एव नम्रता आदि रूप उत्तम अनेक स्त्रियो के साथ समागम करा देती है और अन्त मे अवश्यमेव प्राप्त करने योग्य ऐसी मुक्ति रूपी स्त्री का भी मिलन करा देती है। यह सम्यगाराधना मोतियो की माला सदृश सुन्दर है, मेरे मद को शान्त करने वाली है अत: निर्मल मन वाले भव्यो के इच्छित पदार्थों का साधन करती हुई यह आराधना रूप उत्तम सखी सदैव मेरे समीप रहे॥६॥

स्वान्तस्था या दुरापा नियमित-करणा सृष्ट-सर्वोपकारा।
माता सर्वाश्रमाणां भव-मथन-पराऽनङ्ग-सङ्गापहारा॥
सत्या चित्तापहारी बुध-हित-जननी ध्वस्त-दोषाकर-श्री:।
दद्यादाराधना सा सकलगुणवती नीरजा व: सुखानि॥७॥

अर्थ - अत्यन्त दुर्लभ यह भगवती आराधना भव्य जीवों के मन में स्थित हो जाने पर उनकी इन्द्रियो को नियन्त्रित करती है, उनका सब प्रकार से उपकार करती है, यह आराधना देवी ब्रह्मचर्यादि समस्त गुणरूपी आश्रमो की माता है, भव का मथन करने वाली है, काम एव परिग्रह का तिरस्कार करने वाली है, सत्यस्वरूपा है, सताप की अपहर्त्री है, बुधजनों के हित को उत्पन्न करने वाली है, दोषों के समूह की विध्वसिनी है, सकलगुणो की खान है और पाप रहित है, ऐसी आराधना आपके लिए सर्व सुख प्रदान करे॥७॥

उद्यद्-दु:खागदुर्गं गुरु-दुरित-दवं दग्धुमग्नीयमाना।
हर्तुं मोहान्धकारं कवलित-निखिला तिग्मरश्मीयमाना।
नि:शेषं वस्तु-दातुं भव-भृदभिमतं कामधेनूयमाना।
निर्बाधा या विधत्तामिमितगति-सुखं शीघ्रमाराधना व: ॥८॥

अर्थ - अति उत्तुंग दुखरूपी पर्वतों से घिरे हुए पापरूपी भयकर वनको भस्म करने के लिए यह आराधना अग्नि सदृश है, मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य तुल्य है और भव्य जीवों को वाछित फल देने के लिए कामधेनु सदृश है, ऐसी निर्बाध अमित ज्ञान से गर्भित यह उत्तमोत्तम आराधना आप लोगों को अनुपम सुख प्रदान करे॥८॥

श्वभ्र-भूमि-ज्वलद्वह्निर्याऽविच्छिन्न-जलोद्गति:।
अद्य न: शरणं सास्तु,रत्नत्रय-विशुद्धिता॥९॥

अर्थ - नरक भूमि रूप प्रज्वलित अग्नि को शान्त करने के लिए अविच्छिन्न मेघधारा सदृश और रत्नत्रय से निर्मल यह आराधना हमको आज शरणभूत हो॥९॥

यैषा कुद्दालिका शाता, तिर्यग्दु:खाङ्कुरोद्धृता।
अद्य न: शरणं सास्तु, रत्नत्रय-विशुद्धिता॥१०॥

अर्थ - तिर्यंचगति के दुखरूपी अकुरों को उखाड फेकने के लिए कुदाली सदृश यह आराधना हमारे लिए आज शरणभूत हो॥१०॥

मर्त्य-चिन्तित-लाभाय, यैषा कल्पद्रुमायते।
अद्य न: शरणं सास्तु, रत्नत्रय-विशुद्धिता॥११॥

अर्थ - मनुष्यो को चिंतित पदार्थ प्रदान करने के लिए कल्पवृक्ष तुल्य मानी गई ऐसी यह रत्नत्रय से शुद्ध निर्मल आराधना आज हमारे लिए शरणभूत हो॥११॥

दूतिका हूतये येयं, महर्धिक-सुर-श्रिय:।
अद्य न: शरणं सास्तु, रत्नत्रय-विशुद्धिता॥१२॥

अर्थ - महाऋद्धिधारी देवों की लक्ष्मी को आमन्त्रित करने के लिए अर्थात् बुलाने के लिए जो दूती सदृश है ऐसी यह रत्नत्रय से विशुद्ध आराधना आज हमारे लिए शरणभूत हो॥१२॥

मुक्ति-दाने क्षमा यास्ति, विरतिर्भव-संतते:।
अद्य न: शरणं सास्तु, रत्नत्रय-विशुद्धिता॥१३॥

अर्थ - जो मुक्ति प्रदान करने मे समर्थ है, भव-परम्परा को नष्ट करने वाली ऐसी यह रत्नत्रय से विशुद्ध आराधना आज हमें शरणभूत हो॥१३॥

एषैव परमो धर्म, एषैव परमं तप:।
एषैवार्हद्वचो वाच्यमेषैव ध्यान-सङ्गति: ॥१४॥

अर्थ - यह आराधना ही उत्कृष्ट धर्म है, यही उत्कृष्ट तप है, जिनेश्वर ने दिव्यध्वनि द्वारा इसका ही कथन किया है और यही आराधना ध्यानप्राप्ति में कारण है॥१४॥

एषैव परमो लाभ, एषैव परमं मतम्।
एषैव परमं तत्त्वमेषैव परमा गतिः॥१५॥

अर्थ - इस आराधना की प्राप्ति ही सर्वोत्कृष्ट लाभ है, यही उत्तम मत है, यही उत्तम तत्त्व है और यही परम गति है॥१५॥

एतस्या दुर्लभं ब्रूहि, त्रिलोके कतमत्सुखम्।
अतः शरणमेवैका, भवतान्मे भवे-भवे॥१६॥

अर्थ - जिस किसी भी महापुरुष को इस आराधना की प्राप्ति हुई है उसे कौनसा सुख दुर्लभ है? अत· मुझे भी यह आराधना भव-भव मे शरणभूत हो॥१६॥

या सर्वज्ञ-हिमाचलादपसृता, शील-प्रवाहात्मिका।
या सर्वर्द्धि-समर्थितैर्गणधरैराराधिता निर्मला॥
या दुर्वार-भवासुखाहत-नृणां, निर्वापणी स्वर्धुनी।
सा वः पाप-विशोधनाय शुभदा, भूयात्सदाराधना॥१७॥

अर्थ - इस आराधना रूपी गगा की उत्पत्ति सर्वज्ञरूपी हिमाचल से हुई है, यह शीलरूप जलप्रवाह से युक्त है, ऋद्धिधारी गणधर देवों द्वारा मान्य है, निर्मल है और दुर्वार ससार के दुखो से पीडित पुरुषों के लिए आनन्ददायक है। ऐसी यह उत्तमोत्तम आराधनारूपी गगा आप सबके पापरूप मैल की शुद्धि के लिए हो और सदा पुण्यदायक हो॥१७॥

या सज्ज्ञान-समृद्धि-नाल-कलिता, सम्यक्त्व-सत्कर्णिका।
या चारित्र-पलाश-सञ्चय-चिता द्वेधा तपो-भासुरा।
या भव्योत्तम-षट्पदैः परिवृता, नैःसंग्ययपद्माकुला।
सा वोऽस्याद्भवतापमुज्ज्वल-गुणैराराधना पद्मिनी॥१८॥

अर्थ - यह आराधना सम्यग्ज्ञान की समृद्धि के लिए नालदण्ड है, सम्यक्त्वरूपी कर्णिका से युक्त है, तेरह प्रकार के पत्र-समूह वाली है, बाह्य और अभ्यन्तर इन दो प्रकार के तप से प्रफुल्लित है, भव्यजीव रूप भ्रमरो से वेष्टित है और निष्परिग्रहता रूपी कमलो से व्याप्त है, ऐसी यह आराधनारूपी पद्मिनी उज्ज्वल गुणों द्वारा आप सब आराधको का भव-सन्ताप हरण करे॥१८॥

या सर्वास्रव-रोधिनी कलिमलं, दूरं निरस्याङ्गजं।
सैद्धं चारु-पदं नयेद्-गुणवतो, भव्यात्मनो वाञ्छितम्॥
चक्रेशादि-सुखं सुरैरभिनुतं, संयोज्य संन्यस्यतां॥
सा वः स्यान्मुनि-हंस-सेवित-रसा, देवापगाराधना॥१९॥

अर्थ - यह आराधना रूपी गगा नदी, समस्त आस्रवों को रोकने वाली है, शारीरिक एवं आत्मा मे उत्पन्न रागादि मलों को दूर कर गुणज्ञ भव्य जीवों को सुन्दर एव इष्ट ऐसा सिद्धिपद देती है, सल्लेखना-धारक महापुरुषों को देवों द्वारा नमस्करणीय पद देती है तथा चक्रवर्ती आदि के सुख देती है, मुनिजनरूप हंसों द्वारा सेवित ऐसी यह आराधनारूपी गगा आपको भी प्राप्त हो ॥१९॥

या शीलोज्ज्वल-पुष्प-गन्ध-सुभगा, सद्ध्यान-सत्पल्लवा।
भास्वद्दर्शन-सम्भवा वर-तपः, पत्रोच्चयेनाञ्चिता॥
सम्यग्वृत्त-लसन्महाफलवती, भव्यालि-झङ्कारिता।
सा वो मानस-भूतले प्रसरतादाराधना-वल्लरी॥२०॥

अर्थ - यह आराधनारूपी उत्तम लता सम्यग्दर्शन रूपी उत्तम बीज से उत्पन्न हुई है, उत्कृष्ट तपरूपी पत्रसमूह से भरी हुई है, धर्मध्यान शुक्लध्यान रूप पल्लवों से युक्त है, शीलरूपी श्वेत, उज्ज्वल एव सुगन्धित पुष्पों से मनोहर है, भव्यरूपी भ्रमरों की झकार से व्याप्त है और सम्यक् चारित्ररूपी महाफल देने वाली है। ऐसी यह आराधना रूपी पवित्र बेल आपकी मानस भूमि पर अवश्य फैले॥२०॥

या श्रीमत् श्रुत-शील-नीर-कलिता, निर्वाण-दान-क्षमा।
या पुण्याम्बुधितारिणी शुचितया, रङ्ग-त्तरङ्गाकुला॥
या निर्धूय कलेवराणि महतः, संस्थापयेत् सत्सुखे।
सा वो मङ्गल-मातनोतु नितरामाराधना-स्वर्धुनी॥२१॥

अर्थ - यह आराधनारूपी गगा श्रुतज्ञान और शीलरूप जल से भरी है, मोक्ष देने में समर्थ है, पुण्यरूपी समुद्र को प्राप्त होती है, पवित्र है, ध्यानरूपी तरगों से व्याप्त है और सत्पुरुषों के औदारिक आदि शरीरों को नष्ट करके उन्हें मोक्षसुख में स्थापित करती है, ऐसी आराधना रूपी गगा तुम्हारा मगल करे॥२१॥

या मोहासुर-सङ्ग-लब्ध-विजया, सर्वार्थ-सम्पादनी।
शूराणामसमाधि-नाशन-धिया, कार्ति-त्रयाणां सताम्॥
या दुर्वार-महोपसर्ग-मथनी, सिद्धि-प्रियाणां सती।
सा वः पातु भवाटवीं प्रतिगतानाराधना-त्र्यम्बिका॥२२॥

अर्थ - यह आराधना रूपी अबिका देवी, मोहासुर को पराजित कर विजयी हुई है, इसकी भक्ति करने वाले पुरुषों को सर्व इष्ट पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। यह देवी परीषहसहिष्णु शूरवीर मुनियों का दुख दूर कर उन्हें समाधि की प्राप्ति करा देती है और सिद्धिप्रिय मुनिजनो के दुर्वार महोपसर्ग का नाश करने वाली है। ऐसी यह आराधना अम्बिका ससाररूपी वन में भटकते हुए आप लोगों की रक्षा करे॥२२॥

या शुद्ध्यष्टक-चारु-मौक्तिक-फलैर्मध्यस्थ-दिङ्नायकः।
भास्वद्-बोध-विचित्र-सूत्र-रचितैश्चारित्र-सल्लक्षणैः॥
श्रीमद्-गुप्ति-समुज्ज्वलैर्विरचिता, दोषोग्र-रोगापहा।
सा वस्तिष्ठतु वक्षसीह सुतरामाराधना-कण्ठिका॥२३॥

अर्थ - यह आराधना कण्ठ में पहने जाने वाले मुक्ताहार के सदृश है, जिसमें षोड़शकारण भावना रूप मोती पिरोये गये हैं, मध्य में दशलक्षण धर्मरूप रत्नों की रचना है, सम्यग्ज्ञानरूपी धागे से इसकी रचना हुई है और जिसमें चारित्र और उत्तम गुप्तिरूप ऐसे विशिष्ट मोती डाले गये हैं, जो दोष रूपी उग्रज्वर आदि रोगों को नष्ट करते हैं, ऐसी यह आराधना रूपी कण्ठिका आपके वक्षस्थल पर शोभायमान हो ॥२३॥

या निःशेष-परिग्रहेभ-दलने, दुर्वार-सिंहायते।
या कुज्ञान-तमो-घटा-विघटने, चण्डांशु-रोचीयते ॥
या चिन्तामणिरेव चिन्तित-फलैः संयोजयन्ती-जनान्।
सा वः श्री वसुनन्दियोगि-महिता, पायात्सदाराधना ॥२४॥

अर्थ - यह आराधना सर्व परिग्रह रूपी हाथियों का घात करने के लिए सिंह के सदृश है, अज्ञान अन्धकार रूप घटा-टोप का विघटन करने के लिए सूर्य की प्रचण्ड किरण सदृश है और आराधक मनुष्यो को चिन्तित फल देने के लिए चिन्तामणि तुल्य है, ऐसी यह वसुनन्दी आचार्य द्वारा पूजित आराधना आपकी सदा रक्षा करे ॥२४॥

या संसार-महोदधेः प्रतरणी, नौरेव भव्यात्मनाम्।
या दुःख-ज्वलनावलीढ-वपुषां, निर्वापणी स्वर्धुनी ॥
या चिन्तामणिरेव चिन्तित-फलैः, संयोजयन्ती जनान्।
सा निःश्रेयस-हेतुरस्तु भवतामाराधना देवता ॥२५॥

अर्थ - भव्य जीवो को ससार-समुद्र से पार करने के लिए यह उत्तमोत्तम आराधना नौका सदृश है, दुख रूप अग्नि की ज्वालाओं से वेष्टित अर्थात् जलते हुए जीवो को सुख, शान्ति एव शीतलता प्रदान करने के लिए स्वर्ग-गगा के समान है और मनोवाछित फलो से मनुष्यो को सयुक्त करने वाली है, ऐसी यह आराधना देवी आपको मोक्ष देने मे कारण बने ॥२५॥

या पुण्यास्रव-मूर्तिरेक-पदवी, स्वर्गालयारोहिणाम्।
या मार्ग-त्रय-वर्तिनीति विदिता, निर्धूत-नाना-रजाः ॥
यस्याः सद्गुरु-पर्वतः प्रभव इत्याहु पुरा-वेदिनः।
सा वः पाप-मलानि गालयतु खल्वाराधना-स्वर्धुनी ॥२६॥

अर्थ - यह आराधना पुण्यास्रव की मूर्ति सदृश है, स्वर्गारोहण करने वालो को मार्ग सदृश है, रत्नत्रय स्वरूप होने से लोग इसे त्रिमार्गणा कहते हैं, इसकी सेवा करने से नाना प्रकार के पातक नष्ट हो जाते हैं तथा यह आराधना देवी सद्गुरु रूपी पर्वत से प्रगट हुई है ऐसा प्राचीन आचार्य कहते हैं। ऐसी यह आराधना गगा तुम्हारे पाप-मलो को गलाये ॥२६॥

या सर्वज्ञ-हिमाचलात्प्रगलिता, पुण्याम्बु-पूर्णा शुचिः।
या सज्ज्ञान-चरित्र-लोचन-धरैर्मूर्ध्ना गणीन्द्रैर्धृता ॥
या कर्मानल-घर्म-पीडित-मुनीन्द्रेभावगाह-क्षमा।
सा वो मङ्गलमातनोतु भगवत्याराधना-स्वर्धुनी ॥२७॥

अर्थ - यह आराधना गंगा सर्वज्ञ रूपी हिमाचल से उत्पन्न हुई है, पुण्यरूप जल से आपूर्ण है, निर्मल है, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप विशिष्ट नेत्रों को धारण करने वाले गणधर देवों ने इसे अपने मस्तक पर धारण किया है और कर्मरूप अग्नि से सन्तप्त मुनिजन रूपी हाथी जिसमें नित्य अवगाहन करते हैं ऐसी यह आराधना रूपी स्वर्गगंगा आपका मंगल करे॥२७॥

या पुण्याम्बुधि-पूरणी कलि-मल-प्रक्षालनैकोद्यमा।
या निर्धूय कलेवराणि विमली-कर्तुं क्षमाराधकान्॥
यामासाद्य मुनीभ-यूथ-पतयो, निर्वान्त्यपक्वात्मिकाम्।
सा वोऽन्तर्मल-दाहमाशु निहतादाराधना-स्वर्धुनी॥२८॥

अर्थ - यह आराधना रूपी नदी पुण्य रूपी समुद्र को पूरित करती है। पाप को धोने में समर्थ है, आराधक मुनिजनों के औदारिक आदि तीन शरीरो को नष्ट करके आत्मा को निर्मल बनाने में सक्षम है और इस आराधना का आश्रय प्राप्त कर मुनि रूप हाथी समुदाय के अधिपति भी अपनी आत्मा को अपक अर्थात् निर्मल एव पवित्र कर लेते हैं, ऐसी आराधना रूपी नदी अन्त स्थित कर्ममल-दाह को नष्ट करे॥२८॥

या संसार-महाविषापहरणे, सन्मन्त्र-विद्यायते।
या कर्मावृतताटवी-प्रदहने, दावानलोर्वीयते॥
या दुर्मोह-तमो-घटा-विघटने, चण्डांशु-रोचीयते।
सा वः पाप-मलानि हंतु, रुचिरा, रत्नत्रयाराधना॥२९॥

अर्थ - जो ससार रूपी तीव्र विष का हरण करने के लिए उत्तम विद्या के सदृश है, कर्म वल्ली रूपी वन को जलाने के लिए दावाग्नि के सदृश है एव मिथ्या मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्यकिरण सदृश है, ऐसी यह मनोहर तथा रत्नत्रय स्वरूप आराधना आपके पाप-मलों को नष्ट करे॥२९॥

धर्माराम-महातरोः फलवती, या पुण्य सन्मञ्जरी।
मुक्ति-श्री-ललनाभिसारण-पटु-र्मृष्टाक्षरा शम्फली॥
स्वर्गाग्र-प्रविभासि-सौध-शिखरारोहैकनिःश्रेणिका।
सा वः पातु पवित्र-मूर्तिरमला, रत्नत्रयाराधना॥३०॥

अर्थ - यह आराधना धर्मरूपी बगीचे के वृहद् वृक्ष की फल-युक्त उत्तम मजरी है, मुक्तिरूपी सुन्दरी को अभिशरण करने की प्रवृत्ति करने वाली स्पष्ट तथा मधुर वाणी बोलने वाली सखी है और स्वर्ग के अग्रभाग पर सुशोभित मोक्षरूप प्रासाद के उपरिम भाग मे आरोहण करने के लिए नसैनी सदृश है, ऐसी पवित्र एव निर्दोष रत्नत्रय स्वरूप आराधना आपकी रक्षा करे॥३०॥

या सदृष्टि-रुचि-प्रभा-स्वर-तनुः, सज्ज्ञान-नेत्रोज्ज्वला।
सच्चारित्र-विभूषणा शुचि-तपः,शीलौघ-माल्याम्बरा॥
मुक्ति-श्रीवर-कामिनी-प्रिय-सखी, पुष्पेषु-विद्वेषिणी।
सा धीरैरभिवन्दिता मम हृदिस्तान्नित्यमाराधना॥३१॥

अर्थ - यह आराधना सम्यग्दर्शन रूप कान्ति से सुन्दर है, सम्यग्ज्ञान रूप उज्ज्वल नेत्रवाली है, सच्चारित्ररूप आभूषण से युक्त है, पवित्र तप एवं शील समुदायरूप माला और वस्त्रों से सुसज्जित मुक्ति रूपी सुन्दर स्त्री की प्रिय सखी है, मदन से द्वेष करती है तथा बुधजनों से वन्दित है, ऐसी यह आराधना देवी मेरे हृदय मे नित्य ही निवास करे॥३१॥

या शुद्ध्यष्टक-युक्त-दर्शन-दलं, ज्ञानोल्लसत्कर्णिकम्।
चारित्रोज्ज्वल-दीर्घ-नालममलं, शीलोल्लसत्केसरम्॥
मुक्ति-श्री-ललना-निवास-कमलं, धत्ते गुणैर्निर्मितम्।
सा मे हृत्सरसि स्फुटं विकसतादाराधना पद्मिनी॥३२॥

इति आराधना स्तवनम् समाप्तम्॥

अर्थ - अष्ट प्रकार की शुद्धि से सयुक्त सम्यक्त्व ही जिसका दल है, सम्यग्ज्ञान जिसकी कर्णिका है, चारित्र रूप उज्ज्वल नाल है, निर्मल शील समुदाय ही केसर है और मोक्षरूपी लक्ष्मी का निवासस्थल है, ऐसे कमलो को धारण करने वाली, गुणो से समुत्पन्न यह आराधना रूपी कमलिनी मेरे हृदयरूप सरोवर में विकसित रहे॥३२॥

इस प्रकार आराधना स्तवन पूर्ण हुआ॥

卐 णक्खत्त-वण्णणं 卐

तं जधा। अस्सिणी-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदि सादि-णक्खत्ते रत्ते कालं करेदि॥१॥

नक्षत्र गुणों का वर्णन

अर्थ - क्षपक यदि अश्विनी नक्षत्र मे सस्तर ग्रहण करता है तो स्वातिनक्षत्र के उदित रहते रात्रि मे उसका मरण होगा॥१॥

भरणि-णक्कत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा रेवदि-णक्खत्ते पच्चूसे मरदि॥२॥

अर्थ - क्षपक यदि भरणी नक्षत्र में सस्तर ग्रहण करता है तो रेवती नक्षत्र मे प्रात काल उसका समाधिमरण होगा॥२॥

कित्तिग-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा उत्तरफागुणि-णक्खत्ते मज्झण्हे मरदि॥३॥

अर्थ - क्षपक यदि कृतिका नक्षत्र में सस्तर ग्रहण करता है तो उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में मध्याह्न काल मे उसका मरण होगा॥३॥

रोहिणी-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा सवण-णक्खत्ते अद्धरत्ते मरदि॥४॥

अर्थ - क्षपक यदि रोहिणी नक्षत्र में सस्तर ग्रहण करता है तो श्रवण नक्षत्र के उदित रहते अर्धरात्रि मे उसका मरण होगा॥४॥

मियसिर-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा पुव्वफग्गुण-णक्खत्ते मरदि ॥५॥

अर्थ - क्षपक यदि मृगशिरा नक्षत्र में सस्तर ग्रहण करता है तो पूर्वाफाल्गुनि में उसका मरण होगा ॥५॥

अद्दा-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा उत्तर-दिवसे मरदि। जदि ण मरदि तदा तह्मि पुरोगदे णक्खत्ते मरिस्सदि ॥६॥

अर्थ - क्षपक यदि आर्द्रा नक्षत्र में शय्या ग्रहण करता है तो दूसरे दिन मरण होगा। यदि न हुआ तो आगे के नक्षत्र में उसकी मृत्यु होगी अथवा पुन· वही आर्द्रा नक्षत्र आने पर मृत्यु होगी।

पुणवसु-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा अस्सणि-णक्खत्ते अवरण्हे मरदि ॥७॥

अर्थ - क्षपक यदि पुनर्वसु नक्षत्र में सस्तर ग्रहण करता है तो अश्विनी नक्षत्र के उदित रहते अपराह्न बेला में उसका मरण होगा ॥७॥

पुस्स-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा मियसिर-णक्खत्ते मरदि ॥८॥

अर्थ - क्षपक यदि पुष्य नक्षत्र मे शय्या ग्रहण करता है तो मृगशिरा नक्षत्र में उसका मरण होगा ॥८॥

असलिस-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा चित्त-णक्खत्ते मरदि ॥९॥

अर्थ - क्षपक यदि आश्लेषा नक्षत्र मे शय्या ग्रहण करता है तो चित्रा नक्षत्र में उसका मरण होगा ॥९॥

मघ-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा तद्दिवसे मरदि। जदि ण मरदि तदा तह्मि पुरोगदे णक्खत्ते मरदि ॥१०॥

अर्थ - क्षपक यदि मघा नक्षत्र में शय्या ग्रहण करता है तो उसी दिन उसका मरण होगा। यदि उस दिन मरण नहीं हुआ तब पुन उसी नक्षत्र के आने पर मरण होगा ॥१०॥

पुव्वफग्गुणि-णक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा धणिट्ठा-णक्खत्ते दिवसे मरदि ॥११॥

अर्थ - क्षपक यदि पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र में शय्या ग्रहण करता है तो धनिष्ठा नक्षत्र के उदित रहते दिन मे उसका मरण होगा ॥११॥

उत्तरफग्गुणि-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा मूल-णक्खत्ते पयोसे मरदि ॥१२॥

अर्थ - क्षपक यदि उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे शय्या ग्रहण करता है तो मूल नक्षत्र के उदित रहते सायकाल में उसका मरण होगा ॥१२॥

हत्थ-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा भरणि-णक्खत्ते दिवसे मरदि ॥१३॥

अर्थ - क्षपक यदि हस्त नक्षत्र मे सस्तर ग्रहण करता है तो भरणी नक्षत्र के उदित रहते दिन मे उसका मरण होगा ॥१३॥

चित्ता-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा मियसिर-णक्खत्ते अद्धरत्ते मरदि ॥१४॥

अर्थ - क्षपक यदि चित्रा नक्षत्र में सस्तर ग्रहण करता है तो मृगशिरा नक्षत्र में अर्धरात्रि को मरण होगा ॥१४॥

सादि-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा रेवदि-णक्खत्ते पभादे मरदि ॥१५॥

अर्थ - क्षपक यदि स्वाति नक्षत्र में शय्या ग्रहण करता है तो रेवती-नक्षत्र में प्रभात बेला में मरण होगा॥१५॥

विसाह-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा असिलेसा णक्खत्ते मरदि॥१६॥

अर्थ - क्षपक यदि विशाखा नक्षत्र में शय्या ग्रहण करता है तो आश्लेषा नक्षत्र में मरण होगा॥१६॥

असिलेसा-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा पुव्वभद्द-णक्खत्ते दिवसे मरदि॥१७॥

अर्थ - क्षपक यदि आश्लेषा नक्षत्र में शय्या ग्रहण करता है तो पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के उदित रहते दिन मे मरण होगा॥१७॥

मूल-णक्खत्ते जदि संस्थारं गिण्हदि तदा जेट्ठा-णक्खत्ते पमाद-बेलाए मरदि॥१८॥

अर्थ - क्षपक यदि मूल नक्षत्र मे शय्या ग्रहण करता है तो ज्येष्ठा नक्षत्र मे प्रभात बेला में उसका मरण होगा॥१८॥

पुव्वासाढ-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा मियसिर-णक्खत्ते पदोस-बेलाए मरदि॥१९॥

अर्थ - पूर्वाषाढा नक्षत्र में यदि क्षपक शय्या ग्रहण करता है तो मृगशिरा नक्षत्र पर पूर्वरात्रि के समय उसका मरण होगा॥१९॥

उत्तरासाढ-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा तद्दिवसे चेव अहवा भद्दपद-णक्खत्ते अवरण्हे मरदि॥२०॥

अर्थ - क्षपक यदि उत्तराषाढ़ानक्षत्र मे शय्या ग्रहण करता है तो उसी दिन अथवा भाद्रपद नक्षत्र में अपराह्न वेला मे उसका मरण होगा॥२०॥

सवण-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा उत्तरभद्दपद-णक्खत्ते तद्दिवसे कालं करेदि॥२१॥

अर्थ - क्षपक यदि श्रवण नक्षत्र मे शय्या ग्रहण करता है तो उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे ही अर्थात् उसी दिन मरण होगा॥२१॥

धणिट्ठा-णक्खत्ते जदि संथार गिण्हदि तदा तद्दिवसे कालं करेदि, जदि तद्दिवसे कालं ण करेदि तदा पुण-तद्दिवसे चेव आगदे मरदि॥२२॥

अर्थ - क्षपक यदि धनिष्ठा नक्षत्र में शय्या ग्रहण करता है तो उसी दिन मरण होगा। यदि उसी दिन मरण न हुआ तो पुन जब वही नक्षत्र आवेगा तब मरण होगा॥२२॥

सदभिस-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा जेट्ठा-णक्खत्ते अत्थवण-बेलाए मरदि॥२३॥

अर्थ - क्षपक यदि शतभिषा नक्षत्र मे शय्या ग्रहण करता है तो ज्येष्ठा नक्षत्र पर सूर्यास्त की बेला मे उसका मरण होगा॥२३॥

पुव्वभद्दपद-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा पुण्णवसु-णक्खत्ते रत्तिं मरदि॥२४॥

अर्थ - क्षपक यदि पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र मे सस्तर ग्रहण करता है तो पुनर्वसु नक्षत्र पर रात्रि में उसका मरण होगा॥२४॥

उत्तरभद्दपद-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा दिवसे वहमाणे वा पुण-रादि वा मरदि ॥२५॥

अर्थ - क्षपक यदि उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में शय्या ग्रहण करता है तो उसी दिन, दिन में या उसी रात्रि में मरण होगा ॥२५॥

रेवति-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा मघ-णक्खत्ते मरदि ॥२६॥

अर्थ - रेवती नक्षत्र में शय्या ग्रहण करने पर मघा नक्षत्र में मरण होगा ॥२६॥

मूल-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तदा जेट्ठ-णक्खत्ते मरदि ॥२७॥

सम्मत्तं णक्खत्त वण्णणं।

अर्थ - मूल नक्षत्र में सस्तर धारण करने वाले क्षपक का मरण ज्येष्ठा नक्षत्र मे प्रात: होगा ॥२७॥

इस प्रकार नक्षत्र गुण वर्णन पूर्ण हुआ।

卐 प्रशस्ति 卐

श्रीदेवसेनोऽजनि माथुराणां, गणी यतीनां विहितप्रमोद:।
तत्त्वावभासी निहित-प्रदोष:, सरोरुहाणामिव तिग्मरश्मि: ॥१॥

अर्थ - देवसेन नामके आचार्य माथुर सघ के यतिजनो के श्रेष्ठ आचार्य थे और सब मुनिजनो को आनन्द प्रदान करने वाले थे। जैसे सूर्य कमलो को विकसित करता है, रात्रि का विनाश करता है और पदार्थों को दिखाता है, वैसे ही वे देवसेन आचार्य स्वय दोषरहित थे, अन्य मुनिजनो को दोष रहित करते थे और भव्य जीवो को जीवादितत्त्वो का स्वरूप दिखाते थे ॥१॥

धृत-जिन-समयोऽजनि महनीयो, गुणमणि जलधेस्तदनुयतिर्य:।
शम यम निलयोऽमितगतिसूरि:, प्रदलित मदन: पद-नत-सूरि: ॥२॥

अर्थ - देवसेनाचार्य के शिष्य जैनमत की प्रभावना करने वाले अमितगति नामके एक आचार्य हुए है, जो गुणो के समुद्र थे तथा शम एव व्रतो के आधार थे और मदन का विनाश करने वाले थे, उन्हे बडे-बडे विद्वान् भी नमस्कार करते थे ॥२॥

सर्व-शास्त्र जलराशि पारगो, नेमिषेण मुनि-नायकस्तत:।
सोऽजनिष्ट भुवने तमोपह:, शीत-रश्मिरिव यो जनप्रिय: ॥३॥

अर्थ - इसके अनन्तर इस माथुर सघ में चन्द्रमा सदृश लोकप्रिय और अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले नेमिषेण नामक एक आचार्य हुए हैं, जो सर्व शास्त्र-समुद्र के पारगामी थे ॥३॥

माधवसेनोऽजनि मुनिनाथो, ध्वंसित-माया-मदन-कदर्थ:।
तस्य गरिष्ठो गुरुरिव शिष्यस्तत्त्व-विचार-प्रवणमनीष: ॥४॥

अर्थ - नेमिषेणाचार्य के शिष्य माधवसेनाचार्य हुए हैं। इन्होंने निन्दनीय माया को और मदन को विनष्ट कर दिया था। ये अपने गुरु के अथवा वृहस्पति के समान चतुर थे और इनकी बुद्धि तत्त्वों के चिन्तन में अत्यन्त प्रवीण थी ॥४॥

शिष्यस्तस्य मनीषिणोऽमितगतिर्मार्गत्रयालम्बिनीम् ।
एनां कल्मष-मोषिणीं भगवतीमाराधनां स्थेयसीम् ।।
लोकानामुपकारकोऽकृत-सतीं, विध्वस्त-तापांहृदः ।
पद्यः सत्त्व निषेवितस्य विमलां, गङ्गां हिमाद्रेरिव ।।५ ।।

अर्थ - माधवसेन आचार्य के शिष्य मनीषी अमितगति आचार्य हुए हैं। इन्होंने इस भगवती आराधना की रचना की है। यह भगवती आराधना रत्नत्रय मार्ग का अवलम्बन करने वाली है, पाप का नाश करने वाली है, ससारताप का हरण करने वाली है और गगा नदी के सदृश है। लोक का उपकार करने वाली जैसे गगा नदी हिमाद्रि से उत्पन्न हुई है वैसे ही यह भगवती आराधना रूपी गगा अमितगति आचार्य रूपी हिमाचल से उत्पन्न हुई है ।।५ ।।

आराधनैषायदकारि पूर्णा-मासैश्चतुर्भिर्नतदस्ति-चित्रम् ।
महोद्यमानां जिनभक्तिकानां, सिध्यन्ति कृत्यानि न कानि सद्यः ।।६ ।।

अर्थ - आचार्यश्री के द्वारा यह ग्रन्थ मात्र चार मास में रचा गया है किन्तु इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि महाप्रयत्नशाली जिनभक्त कौन से कार्य सिद्ध नहीं कर सकते हैं ? अपितु सभी कार्य सिद्ध कर लेते हैं ।।६ ।।

स्फुटी-कृता पूर्व-जिनागमादियं मया जने यास्यति गौरवं परं ।
प्रकाशितं किं न विशुद्ध-बुद्धिना, महार्घतां गच्छति दुग्धतो घृतम् ।।७ ।।

अर्थ - पूर्व जिनागम का अर्थात् शिवकोटि आचार्य रचित भगवती आराधना ग्रन्थ का आधार लेकर मैंने यह ग्रन्थ रचा है। जैसे दूध से निकाला गया घृत मूल्यवान् एव आदरणीय होता है, वैसे ही पूर्व जिनागम के आधार को लेकर रचा गया मेरा यह ग्रन्थ विद्वज्जनों में आदरणीय होगा ।।७ ।।

यावत् तिष्ठति पाण्डुकम्बलशिला, देवाद्रि-मूर्ध्नि-स्थिरा ।
यावत् सिद्धिधरा त्रिलोक-शिखरे, सिद्धैः समाध्यासिता ।।
तावत् तिष्ठतु भूतले भगवती, विध्वंसयन्ती तमः ।
सा चैषा श्रम-दुःखनोदरपरा, चन्द्रप्रभेवोज्ज्वला ।।८ ।।

अर्थ - जब तक मेरु शिखर पर पाण्डुकम्बल शिला स्थित रहे, जब तक सिद्धों से अधिष्ठित सिद्ध-शिला त्रैलोक्य के शिखर पर बिराजमान रहे तब तक चन्द्रकान्ति के समान उज्ज्वल श्रम-दुख का परिहार करने वाली एव अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने वाली यह भगवती आराधना इस ससार में स्थिर रहे ।।८ ।।

प्रशस्ति पूर्ण ।।

स २०५८ वैशाख शुक्ला एकादशी दि ३-५-२००१, गुरुवार को ग्रन्थलेखन पूर्ण हुआ।

卐 卐 卐

卐 श्लोकानुक्रमणिका 卐

उद्धृत कथा-सूची